प्रकाशक
इंडियन प्रेस, (पब्लिकेशन्स) लिमिटेड,
प्रयाग।

मुद्रक
अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच।

निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता की अनेक संस्कृत और भाषा टीकायें प्रसिद्ध हैं। उनमें से ज्ञानेश्वर महाराजकृत भावार्थ-दीपिका नामक व्याख्या, जो पुरानी मराठी भाषा में लिखी है, दक्षिण में अत्युच्च श्रेणी में गिनी जाती है। यह ग्रन्थ साहित्य की दृष्टि से अनुपम है तथा सिद्धान्त की दृष्टि से भी अनोखा है। इसमें गीता के प्रत्येक श्लोक का केवल भाव ही दिया है पर सम्पूर्ण व्याख्यान अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति से भरा हुआ है। इस ग्रन्थ की यही विशेषता है। इसमें शङ्कर-मतानुसार शुद्धाद्वैत मानते हुए साथ ही भक्ति का अत्यन्त सुरस, अत्यन्त प्रेमयुक्त और अत्यन्त हृदयङ्गम निरूपण किया है। संस्कृत में श्रीमद्भागवत जितनी मधुर है हिन्दी में तुलसीकृत रामायण जितनी ललित है उतनी ही मनोहर मराठी में यह ज्ञानेश्वरी है। इसके प्रणेता श्रीज्ञानेश्वर महाराज महाराष्ट्र के प्रमुख सन्तों में से एक हैं। वे मराठी के आदि कवि समझे जाते हैं यह ग्रन्थ उन्होंने अपनी अवस्था के पन्द्रहवें वर्ष में लिखा है। इसी से उनकी लोकोत्तर बुद्धि और सामर्थ्य की कल्पना हो सकती है।

ज्ञानेश्वर महाराज का जन्म शक ११९७ [संवत् १३३२] में हुआ था। उनके पिता विट्ठल पन्त अत्यन्त वैराग्यशील थे। उन्होंने अनेक बार अपनी पत्नी से संन्यास-दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी पर उनके कोई पुत्र न था, इस कारण उसने न दी। एक समय जब उनकी स्त्री दुश्चित्त थी तब उन्होंने कहा कि मैं गङ्गा को जाता हूँ। स्त्री के मुँह से जाइए शब्द निकल गया। उसको आज्ञा समझकर विट्ठल पन्त ठेठ काशी को चले गये और वहाँ संन्यास-दीक्षा ले श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य हो गये। श्रीरामानन्द स्वामी काशी में विख्यात थे। सन्त कबीर इन्हीं के शिष्य समझे जाते हैं।

एक बार श्रीरामानन्द स्वामी ने रामेश्वर को जाते हुए आलन्दी में मुकाम किया। वहाँ और स्त्रियों के समान विट्ठल पन्त की स्त्री ने भी उन्हें नमस्कार किया और स्वामीजी ने उसे "पुत्रवती

भव" कहकर आशीर्वाद दिया। यह सुन कर विट्ठल पन्त की स्त्री हँसी। स्वामीजी के कारण पूछने पर उसने अपनी कथा कही। उसका वर्णन सुनकर स्वामीजी ने निश्चय किया कि इसका पति विट्ठल पन्त है। स्त्री रहते हुए पुत्र सन्तान न होते हुए और स्त्री की सम्मति न रहते हुए, संन्यास लेना उचित नहीं है, यों समझ कर स्वामीजी ने विट्ठल पन्त को फिर गृहस्थाश्रम लेने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा मान विट्ठल पन्त ने गृहस्थाश्रम स्वीकारा। अनन्तर उनके चार सन्तानें हुईं। प्रथम निवृत्तिनाथ [शक ११९५], फिर ज्ञानेश्वर महाराज [११९७], फिर सोपानदेव, और अन्त में मुक्ताबाई नामक एक कन्या हुई। ये सब बालक अपनी बाल्यावस्था से ही ज्ञान योग और भक्ति के निवास ही जान पड़ते थे। एक बार रास्ता भूलकर निवृत्तिनाथ भटकते हुए अञ्जनी पर्वत पर एक गुहा में चले गये। वहाँ श्रीगैनीनाथ तप कर रहे थे। निवृत्तिनाथ उनके चरणों पर गिर पड़े और श्रीगैनीनाथ को भी उस कोमल बालक को देख आनन्द हुआ। अधिकारी देख उन्होंने उसे ब्रह्मोपदेश किया। तदनन्तर निवृत्तिनाथ ने वही ज्ञान ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई को दे उन्हें कृतार्थ किया। इस प्रकार इन बालकों को उस छोटी-सी अवस्था में सम्प्रदाय-दीक्षा भी प्राप्त हो गई। विट्ठल पन्त संन्यासी से गृहस्थ हुए थे। यह शास्त्रविहित-धर्म न था। इसलिए इन बालकों की उपनयन-विधि के लिए ब्राह्मण राजी न होते थे। विट्ठल पन्त ने चाहे जो प्रायश्चित्त करना स्वीकार किया परन्तु ब्राह्मणों ने निर्णय किया कि इस दोष के लिए कोई प्रायश्चित्त ही नहीं, केवल देहान्त प्रायश्चित्त है। यह सुन कर विट्ठल पन्त ने प्रयाग की त्रिवेणी में अपना देह अर्पण कर गृहस्थाश्रम लेने के समय जैसे गुरु की आज्ञा शिरसा मान्य की थी वैसे ही ब्राह्मणों के प्रति भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की। उस समय निवृत्तिनाथ केवल दस वर्ष के थे। प्रयाग से लौटे तो उनके भाई-बन्धों ने उन्हें अपने घर न आने दिया और उनकी सम्पत्ति का भाग भी उन्हें न दिया। अतः उन्हें भिक्षा-वृत्ति का आश्रय लेना पड़ा। उपनयन के लिए श्रीनिवृत्तिनाथ अधिक उत्सुक न थे। वे विरक्त थे केवल ब्रह्मरूप थे परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की सम्मति थी कि वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा होनी चाहिए। ब्राह्मण के लिए उपनयन आवश्यक है, अतएव शास्त्रानुसार उपनयन विधि करनी चाहिए। इसलिए चारों भाई-बहन पैठण गये परन्तु ब्राह्मणों

ने यह निर्णय किया कि संन्यासी के लड़कों का उपनयन शास्त्रानुकूल नहीं है। पर जब ज्ञानेश्वर महाराज ने योग-सिद्धि के कई चमत्कार दिखाये, तब ब्राह्मणों ने उनकी लोकोत्तर सामर्थ्य देखकर उन्हें एक शुद्धि-पत्र लिख दिया कि ये चारों बालक अवतारी पुरुष हैं—इन्हें प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। श्रीज्ञानेश्वर के पैठन के चमत्कारों में से भैंसे के मुख से वेदोच्चार कराना और श्राद्ध के लिए मूर्तिमान् पितरों को बुलवाना अत्यन्त प्रसिद्ध है। तदनन्तर चारों भाई बहन आलन्दी गये। वहाँ भी कई चमत्कार हुए। वहाँ उनका काल निरन्तर वेदान्तचर्चा, कीर्तन पुराण, भजन इत्यादि सत्कर्मों में जाता था। वे भागवत योगवासिष्ठ, गीता इत्यादि अध्यात्म-ग्रन्थों का निरूपण करते और संसार को परमार्थ-मार्ग का उपदेश करते थे। इसी काल [शक १२१२] में महाराज ने गीता पर भाष्य लिखा। यही ज्ञानेश्वरी या भावार्थ-दीपिका नाम से प्रसिद्ध है। इस समय महाराज की अवस्था केवल १५ वर्ष की थी। अन्य सब चमत्कार छोड़ दीजिए, केवल इसी एक बात का विचार कीजिए कि जिस अवस्था में प्रायः अत्यन्त बुद्धिमान् लड़का भी किसी साधारण विषय पर ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता उस अवस्था में अध्यात्म विषय पर ऐसा ग्रन्थ लिखना, जो आज छः सौ वर्षों के बाद भी शिरोधार्य है, कितना बड़ा चमत्कार है। ज्ञानेश्वरी के समान ओज से भरा हुआ, आत्मानुभव के प्रकाश से जगमगाता हुआ, प्रेम और भक्तिरस से लबलबाता हुआ दूसरा ग्रन्थ मिलना कठिन है। काव्यदृष्टि से देखिए चाहे भावदृष्टि से—ज्ञानेश्वरी की कक्षा में रखने के योग्य थोड़े ही ग्रन्थ मिलेंगे। ज्ञानेश्वरी के अनन्तर महाराज ने अमृतानुभव नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने स्वतन्त्ररूप से सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्र का निरूपण किया है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त मनोहर और उच्च श्रेणी का है। इसके सिवाय महाराज ने और भी कुछ ग्रन्थ और अनेक पद अभङ्ग इत्यादि रचे हैं जिनसे उनके अलौकिक ज्ञान, अलौकिक सामर्थ्य और अलौकिक भक्ति की कल्पना हो सकती है। तदनन्तर ज्ञानेश्वर महाराज तीर्थयात्रा के लिए निकले। अनेक क्षेत्रों में उनके अनेक चमत्कार हुए। जब काशी में पहुँचे तब वहाँ मुद्गलाचार्य नामक एक सत्पुरुष एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे। उनके लिए ब्राह्मणों का समुदाय इकट्ठा हुआ था और यज्ञ के समय अग्रपूजा का सम्मान

किसे दिया जाय, इस विषय पर वाद मच रहा था। अन्त में मुद्गलाचार्य ने एक हथिनी की सूँड में एक पुष्पमाला दी और यह ठहराया कि जिसके कण्ठ में हथिनी माला डालेगी उसी की अग्रपूजा की जावेगी। हथिनी ने उस समुदाय भर में श्रीज्ञानेश्वर के कण्ठ में माला पहना दी। महाराज की अग्रपूजा हुई और काशीविशेश्वर ने यज्ञ का पुरोडाश उनके हाथ से ग्रहण किया। तदनन्तर ज्ञानेश्वर उत्तर के सब तीर्थ कर द्वारका से मारवाड़ होते हुए पण्ढरपुर पहुँचे। अनेक स्थलों में उनके चमत्कार हुए जिनका अत्यन्त वर्णन स्थानसङ्कोच के कारण नहीं किया जा सकता। हर जगह महाराज ने ज्ञानोपदेश किया और संसार को परमार्थ का मार्ग दिखाया। श्रीविट्ठल का दर्शन कर सब भाई-बहन आलन्दी लौट आये और अन्त तक वहीं रहे।

एक बार वहाँ चाङ्गदेव नामक योगी उनसे मिलने के लिए बाघ पर सवार होकर आ रहे थे। उनको देखने के लिए महाराज अपने भाई-बहन सहित एक दीवार पर जा बैठे और चाङ्गदेव का गर्व हरण करने के उद्देश से उन्होंने उस दीवार को चलने की आज्ञा दी। दीवार चलने लगी। यह देखकर चाङ्गदेव लज्जित हो गया। उनके ऐसे कई चमत्कार प्रसिद्ध हैं।

शक १२१८ में श्रीज्ञानेश्वर समाधिस्थ हुए। उस समय वे २१ वर्ष के थे। उन्होंने जीवित समाधि ली। इन्द्रायणी नदी के तीर पर महाराज ने एक गुफा तैयार करवाई। कार्तिक वदी ११ को सब सन्तों ने मिल कर भजन किया द्वादशी को सबने पारण किया। त्रयोदशी को श्रीज्ञानेश्वर ने तुलसीपत्र और बिल्वपत्र का आसन तैयार किया और समाधि में बैठने के लिए उद्यत हुए। श्रीविट्ठल ने स्वयं उनके ग्रन्थों की स्तुति की और उनके गले में एक फूलों का हार पहनाया। ज्ञानेश्वर ने उन्हें नमन किया। अन्य सब सन्तों ने महाराज का वन्दन किया और महाराज समाधिस्थान की प्रदक्षिणा कर सब सन्तों के जयघोष के बीच, भीतर घुसे। एक हाथ श्रीविट्ठल ने और दूसरा श्रीनिवृत्तिनाथ ने पकड़ कर उन्हें आसन पर बैठाया और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। इस प्रकार महाराज ने अपने अवतार कार्य की समाप्ति की; तथापि उनकी समाधि नित्य है। उसकी स्फूर्ति सर्वदा जागृत है, और संसार को सत्यमार्ग में प्रवृत्त करने के लिए समर्थ है।

ज्ञानेश्वरी के द्वारा महाराज ने संसार पर अनन्त उपकार किये हैं। जैसे इसमें उत्तम व्यवहार, उत्तम नीति, उत्तम धर्म, उत्तम ज्ञान प्रतिपादन किया है वैसे इसकी भाषा और काव्य भी अत्यन्त रमणीय है। इसे पढ़ कर अध्यात्म विचार करनेहारा पाठक कितना सुखी होता है, इसके अध्यात्म-तत्त्वों का विवरण देख मुमुक्षुओं को कैसा समाधान होता है, वैसे ही इसकी गम्भीर भाषा, उदात्त विचार और उपमा दृष्टान्तादि अलङ्कारों को देख केवल साहित्य के प्रेमी पाठकों का हृदय भी आनन्द से भर जाता है।

इस ग्रन्थ में किस किस अध्याय में किस-किस विषय का वर्णन है यह महाराज ने अनेक स्थलों में कहा है। अन्त में महाराज कहते हैं कि गीता त्रिकाण्डात्मक श्रुति है। पहले अध्याय में अर्जुन का विषाद और दूसरे में सांख्ययोग के बयान के पश्चात् तीसरे अध्याय में कर्मकाण्ड का निरूपण है, तथा चौथे से बारहवें के मध्य तक देवताकाण्ड और वहाँ से पन्द्रहवें के अन्त तक ज्ञानकाण्ड का बयान है। उसी सम्यक् ज्ञान के दृढ़ होने के लिए सोलहवें अध्याय में देवा-सुर-सम्पत्ति कही है और प्रसङ्गा नुसार सत्रहवें में तीन प्रकार की श्रद्धा का वर्णन किया गया है। अठारहवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज के ग्रन्थावलोकन से ज्ञात होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ में प्रायः श्रीशङ्कराचार्य के मत को ही माना है। परन्तु अद्वैत मत के साथ वे भक्ति का भी प्रतिपादन करते हैं। यही उनमें विशेषता है। अठारहवें अध्याय [११५०—५१] में महाराज ने स्पष्ट कहा है कि चन्दन के सङ्ग जैसे सुगन्ध रहती है, चन्द्रमा के सङ्ग जैसे चन्द्रिका रहती है वैसे ही अद्वैत-ज्ञान के सङ्ग भक्ति भी अवश्य रहती है, सातवें अध्याय के श्लोक १६ और १७ में कहा है कि चार प्रकार के भक्तों में भगवान् को ज्ञानी भक्त ही सबसे अधिक प्रिय है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ज्ञानी भक्त शरीर और कर्म के वश भक्त प्रतीत होता है परन्तु उसे आत्मानुभव होने के कारण वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है। प्रश्न है कि जब ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होती है तो फिर भक्ति की क्या आवश्यकता है? परन्तु श्रुति का सिद्धान्त यही है कि भक्ति के बिना अखण्ड परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'

इस श्रुति का भी अर्थ यही है ।

ज्ञान से सच्चिदानन्द-स्वरूप की सत्ता और चित्ता की प्रतीति होती है पर आनन्दघनता के लिए भक्ति की ही आवश्यकता है। इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान से मोक्ष होती है, तथापि केवल ज्ञान से उपाधि का नाश नहीं होगा। अतएव उपाधि के नाश के लिए भी भक्ति की आवश्यकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान स्थिर होता है, और निदिध्यासन योग की रीति से ही सिद्ध होता है परन्तु योग में भी समाधि के व्युत्थान का सम्भव है। अतः सन्तत समाधि-सुख का अनुभव लेने के लिए भक्ति आवश्यक है।

भक्ति का स्वरूप शुद्ध प्रेम है। नारद ने कहा है कि "सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा" अर्थात् आत्मस्वरूप में परम प्रेम का नाम भक्ति है, तथा प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय कहा है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ईश्वर की सहजस्थिति का ही नाम भक्ति है। जिस अकारक प्रकाश से विश्व की स्थिति या अस्थिति है, जिस प्रकाश से अन्तरिक वासनानुसार जगत् की प्रतीति होती है उसे भक्ति कहते हैं [१८-१११२ १७]; एवं चन्द्र से जैसे चन्द्रिका भिन्न नहीं है, वैसे ही भक्ति भी आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, तथा चन्द्रिका जैसे भिन्न-सी जान पड़ती है वैसे ही भक्ति भी भिन्न-सी समझनी चाहिए। छठे अध्याय के दसवें श्लोक की व्याख्या में [१११ से १२० तक] महाराज ने इसी भिन्न-रूप भक्ति का वर्णन किया है।

भक्ति तीन प्रकार की कही है:—(१) तस्यैवाहं, अर्थात् हनुमान् जी के समान निज को ईश्वर का दास इत्यादि समझना; (२) ममैवासौ, अर्थात् यशोदा इत्यादि के समान ईश्वर में वात्सल्यादि भाव रखना और (३) स एवाहं, अर्थात् गोपिका प्रभृति के समान ईश्वर से एक हो जाना। आत्म-प्रेम सबसे अधिक होता है। उसी आत्म स्वरूप परमात्मा में अनिर्वचनीय प्रेम का नाम ही अत्यन्त श्रेष्ठ भक्ति है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने जहाँ तहाँ, विशेषतः अठारहवें अध्याय के श्लोक ५५ की व्याख्या में इसी भक्ति का वर्णन किया है। उसे पृथक् समझने और पृथक् वर्णन करने की तात्पर्य शुष्क ज्ञानशुद्धि से नहीं है।

यह ज्ञानेश्वरी का अनुवाद मैंने, जहाँ तक हो सका, मूल को न छोड़ते हुए किया है। मराठी का अनुवाद होने के कारण, तथा मेरी मातृभाषा भी मराठी होने के कारण और हिन्दी भाषा में मेरा यह पहला ही प्रयत्न होने के कारण, इसकी भाषा में कई त्रुटियाँ होंगी। उनके लिए विद्वज्जन क्षमा करेंगे। त्रुटियों की सूचना हो और भाग्य से यदि दूसरी आवृत्ति छापने का अवसर प्राप्त हो तो उस समय अनुसार किया जावेगा।

यह अल्प सेवा श्रीज्ञानेश्वर महाराज के चरणों में समर्पित है।

रघुनाथ माधव भगाड़े

वक्तव्य

हिन्दी-ज्ञानेश्वरी के प्रथम संस्करण में भाषा-विषयक अनेक दोष थे। अनेक सज्जनों ने मुझे उन दोषों की सूचना देने की कृपा की। उनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इस संस्करण में, जहाँ तक हो सका, उन दोषों का सुधार किया गया है तथापि अनेक त्रुटियाँ रह गई होंगी। आशा है कि पाठक उनके लिए क्षमा करेंगे और हंस-क्षीर-न्यायानुसार गुण ही का ग्रहण करेंगे।

श्रीज्ञानेश्वरार्पणमस्तु।

रघुनाथ माधव भगाड़े

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	अर्जुनविषाद	१
	सांख्ययोग	२१
	कर्मयोग	५०
	ब्रह्मार्पणयोग	७०
	संन्यासयोग	८८
	अभ्यासयोग	१०२
	ज्ञानविज्ञानयोग	१३९
	अक्षरब्रह्मयोग	१५१
	राजविद्याराजगुह्ययोग	१७१
	विभूतिविस्तारयोग	२०६
	विश्वरूपदर्शनयोग	२३४
	भक्तियोग	२८७
	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग	३०३
	गुणत्रयविभागयोग	३५०
	पुरुषोत्तमयोग	३६९
	दैवासुरसम्पद्विभागयोग	४१४
	श्रद्धात्रयविभागयोग	४९४
	मोक्षसंन्यासयोग	४६२

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

ज्ञानेश्वरी

पहला अध्याय

हे ओंकार! हे वेदों से ही वर्णनीय आदिरूप! आपको नमस्कार है। स्वयं आप ही अपने को जाननेहारे हे आत्मरूप! आपका जय-जयकार हो। (१) हे देव, मैं निवृत्ति का दास निवेदन करता हूँ, सुनिए, आप ही सकल अर्थ और बुद्धि के प्रकाशित करनेहारे गणेश हैं। (२) ये जो अखिल वेद हैं वही आपकी सुन्दर मूर्ति है। और वेद के अक्षर आपका निर्दोष शरीर हैं। (३) स्मृतियाँ आपके अवयव हैं। शरीर के भाव देखिए तो अर्थ की सुन्दरता आपके लावण्य की पुति है। (४) अठारह पुराण आपके मणि-भूषण हैं, प्रमेय रत्न हैं और पद रचना उनका कुन्दन है। (५) उत्तम-पद-लालित्य आपका रँगा हुआ वस्त्र है, जिसमें साहित्यशास्त्र ही उज्ज्वल और महीन ताना-बाना है। (६) इसलिए, काव्य और नाटक, जिनको पढ़ते ही आनन्द आश्चर्य होता है, रुनझुन करनेवाली आपकी क्षुद्रघंटियाँ हैं। और काव्य नाटकों का अर्थ उन घंटियों की ध्वनि है। (७) अनेक प्रकार के तत्त्वार्थ और उनकी कुशलता अच्छी तरह देखने पर उन तत्त्वार्थों के उत्तम पद उन काव्यादि घंटियों के बीच चमकनेवाले रत्न मालूम होते हैं। (८) व्यासादि ऋषियों की बुद्धि मेखला-सी सुहाती है, और उसका तेज उस मेखला के पल्लव का चमचमाना-सा चमकता है। (९) देखिए जो षट्दर्शन कहलाते हैं वही आपकी भुजाएँ हैं और जो भिन्न भिन्न मत हैं वही आपके शस्त्र हैं। (१०) तर्कशास्त्र फरसा है, न्यायशास्त्र अंकुश है, और वेदान्त अत्यन्त सुरस मोदक जैसा शोभता है। (११) एक हाथ में जो आप ही आप टूटा हुआ दन्त है सो वार्तिककारों के व्याख्यान से [illegible] किए हुए बौद्ध मत का संकेत है (१२) [illegible] जो वरदायक कर कमल है जो सहज ही [illegible]

सूचक है और धर्म की मर्यादा आपका अभय कर है। (१३) देखिए, जिसमें महासुख का परमानन्द है वह अत्यन्त निर्मल विवेक आपकी लम्बी सूँड है। (१४) उत्तम संवाद आपके सम और शुभ्रवर्ण दन्त हैं, और हे देव, हे विघ्नराज! ज्ञान-दृष्टि आपके सूक्ष्म नेत्र हैं। (१५) दोनों मीमांसाएँ दोनों कानों के स्थान में दिखाई देती हैं ज्ञानामृत मद है और ज्ञानवान् मुनि उसका सेवन करनेवाले भ्रमर जान पड़ते हैं। (१६) तत्त्वार्थ प्रकाशमान प्रवाल हैं, द्वैत और अद्वैत निकुम्भ हैं, और दोनों का जिस स्थान में एकीकरण होता है वही आपका मस्तक शोभता है। (१७) वेद और उपनिषद्, जो उत्तम ज्ञानामृत से युक्त हैं सो, आपके मस्तक पर रक्खे हुए मुकुट में पुष्पों के समान शोभा देते हैं। (१८) अकार आपके दोनों चरण हैं, उकार विशाल उदर है और मकार मस्तकाकार महामण्डल है। (१९) ये तीनों जहाँ एक होते हैं वहाँ वेद समाविष्ट हैं। उसी आदि-बीज ओंकार को मैं श्रीगुरु की कृपा से नमस्कार करता हूँ। (२०) तदनन्तर जो अपूर्व वाणी में विलास करनेहारी, चातुर्य-मय और कलाओं में प्रवीण, विश्वमोहिनी सरस्वती है उसे नमस्कार करता हूँ। (२१) जिनके कारण मैं इस संसाररूपी जल के पार हुआ वे मेरे सद्गुरु मेरे हृदय में हैं, इसलिए विवेक पर मेरा विशेष प्रेम है। (२२) जैसे आँख में अञ्जन लगाने से दृष्टि फैलती है और देखते ही भूमि में गड़ा हुआ द्रव्य दिखाई देता है, (२३) अथवा जैसे चिन्तामणि के हाथ लगने से सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं वैसे ही श्री-निवृत्ति के कारण मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए हैं। (२४) इसलिए जो बुद्धिमान् हैं उन्हें चाहिए कि गुरु-सेवा करें और कृतार्थ हों। जड़ में पानी सींचने से जैसे सब शाखा-पत्रों की पुष्टि होती है (२५) अथवा, त्रिभुवन में जितने तीर्थ हैं उन सबका पुण्य जैसे समुद्र के स्नान से प्राप्त हो जाता है, किंवा अमृत-रस के स्वाद से जैसे सब रसों का आस्वाद मिल जाता है (२६) उसी न्यायानुसार मैं बारंबार श्रीगुरु की ही वन्दना करता हूँ, क्योंकि सब अभिलाष और मनोरुचि के पूर्ण करनेहारे वही हैं। (२७) अब इस गहन कथा को श्रवण कीजिए जो सकल कथाओं की जन्म-भूमि है और जो विवेक-रूपी वृक्षों का एक अपूर्व बगीचा है, (२८) अथवा यह कथा सब सुखों की नींव है, सिद्धान्त-रत्नों का भाण्डार है, अथवा नवरसरूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है, (२९) अथवा यह खुला हुआ परम-धाम है, सब विद्याओं की मूल-भूमि है और अशेष शास्त्रों का आश्रय

है, (३०) अथवा सब धर्मों की मातृभूमि, सज्जनों का प्रेमास्पद, सर स्वती के लावण्य-रत्नों का भाण्डार है, (३१) अथवा सरस्वती स्वयं व्यास महामुनि की बुद्धि में प्रवेश कर तीनों जगतों में इस कथारूप से प्रकट हुई है। (३२) इसलिए यह कथा सब काव्यों में श्रेष्ठ है, तथा सब ग्रंथों के महत्त्व की जड़ है। इसी से सब रसों को सुरसता प्राप्त हुई है। (३३) और भी सुनिए। शब्दलक्ष्मी इसी से शास्त्रवती हुई है और आत्मज्ञान की कोमलता इसी में दुगुनी बढ़ी हुई है। (३४) चातुर्य्य ने इसी से चतुराई सीखी है, सिद्धान्त इसी से रुचिर बने हैं और सुख के सौभाग्य की वृद्धि इसी से हुई है। (३५) माधुर्य्य की मधुरता शृङ्गार की सुरूपता और योग्य वस्तु की श्रेष्ठता इसी कथा में उत्तम दिखाई देती है। (३६) कलाओं को इसी से कौशल्य प्राप्त हुआ है, पुण्य का प्रताप इसी से बढ़ा हुआ दिखाई देता है। इसी के कारण जनमेजय के पाप सहज लीला से ही नष्ट हो गये। (३७) और पल भर सुनिए। रङ्गों की सुरङ्गता इसी से बढ़ी है, तथा गुणों को सुगुणता का दीप्त बल इसी कथा में प्राप्त हुआ है। (३८) सूर्य्य के प्रकाश से जगमगाता त्रिलोक जैसे प्रकाशित दिखाई देता है वैसे ही व्यास मुनि की बुद्धि से आच्छादित जगत् शोभा दे रहा है। (३९) अथवा उत्तम खेत में बोया हुआ बीज जैसे मनमाना फैलता है, वैसे ही इस भारती कथा में सब विषय सुशोभित हो रहे हैं। (४०) अथवा नगर में बसने से जैसे मनुष्य चतुर हो जाता है, वैसे ही व्यास मुनि की वाणी के प्रकाश से सब जगत् ज्ञानमय हो गया है। (४१) जैसे यौवन के समय स्त्रियों के शरीर में लावण्य की शोभा विशेष प्रकट होती है, ४२) अथवा वसन्त-ऋतु आते ही वन-शोभा की खानि पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खुल जाती है, (४३) अथवा जैसे सोने का पाँसा देखने में साधारण होता है, परन्तु अलङ्कार बनने पर उसकी उत्तमता प्रकट होती है (४४) वैसे ही व्यास मुनि के वचनों से अलङ्कृत होने के कारण इस कथा को अत्यन्त उत्तमता प्राप्त हुई है, और यही जान कर इतिहास ने इसे आश्रय दिया है। (४५) नहीं नहीं, पूर्ण प्रतिष्ठा के हेतु स्वयं नम्रता स्वीकार कर सब पुराण इस आख्यानरूप से महाभारत में आकर जगत् में प्रसिद्ध हुए हैं। (४६) इसलिए जो बात महाभारत में नहीं है वह तीनों लोकों में नहीं है। इसी कारण कहा जाता है कि जगत्त्रय व्यास का उच्छिष्ट है। (४७) इस प्रकार जगत् में जो सुरस कथा है, और जो परमार्थ की जन्म-

भूमि है, उसे वैशम्पायन मुनि नृपराज जन्मेजय से कहते हैं। (४८) ऐसी जो उत्तम, अद्वितीय, पवित्र, उपमा-रहित और परम-कल्याण-कारक कथा है उसे सुनिए। (४९) श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सङ्ग जो संवाद किया वह गीताख्य विषय भारतरूपी कमल की पूर्ति है (५०) अथवा वेदरूपी समुद्र का मन्थन करके व्यास की बुद्धि ने यह अपार नवनीत निकाला है (५१) और वही फिर ज्ञानरूपी अग्नि की विचाररूपी ज्वाला में तपाने से परिपक्व हो घृत की सुगन्ध को प्राप्त हुआ है। (५२) विरक्तों को जिसकी इच्छा करनी चाहिए, सन्तों को जिसका सदा अनुभव करना चाहिए, पहुँचे हुए पुरुषों को सोऽहंभाव से जहाँ रममाण होना चाहिए, (५३) भक्तों को जिसका श्रवण करना चाहिए, और जो तीनों लोकों में परमपूज्य है, ऐसी यह कथा भीष्मपर्व में कही गई है। (५४) इसे भगवद्गीता कहते हैं। ब्रह्मा और शंकर ने इसकी प्रशंसा की है। सनकादिक इसका प्रेम से सेवन करते हैं। (५५) जैसे चकोर पक्षी के बच्चे शरत्काल की चाँदनी के कोमल अमृत-कणों को अन्तःकरणपूर्वक चुन लेते हैं। (५६) वैसे ही श्रोताओं को चित्त में स्थिरता धारण कर इस कथा का अनुभव करना चाहिए। (५७) इस कथा का संवाद शब्द के बिना करना चाहिए, इसे इन्द्रियों को मालूम न होते भोगना चाहिए, और शब्दोच्चार के पहले ही इसका सिद्धान्त जान लेना चाहिए। (५८) भ्रमर जैसे पुष्प का पराग ले जाते हैं, परन्तु कमलों के दल को इससे कुछ खबर नहीं होती वैसी ही रीति इस ग्रन्थ के सेवन करने की है। (५९) जैसे अपना स्थान न छोड़ते, चन्द्रोदय होते ही आलिङ्गन-प्रेम का उपभोग केवल कुमुदिनी ही जानती है, (६०) वैसे ही जिसका अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है वही इस कथा का सम्मान करना जानता है। (६१) अहो! श्रवण करने के निमित्त में अर्जुन की पंक्ति के योग्य आप सब सन्त कृपा कर सुनिए। (६२) मैं जो इस प्रकार निर्भयता से कहता हूँ और आपके चरणों से विनती करता हूँ, उसका कारण यह है कि हे प्रभो! आपका हृदय गम्भीर है। (६३) जैसे माता पिता का यह स्वभाव ही रहता है कि बालक यद्यपि तोतले शब्द बोले तथापि वे सन्तुष्ट होते हैं, (६४) वैसे ही आप सज्जनों ने मेरा अङ्गीकार किया और मुझे अपनाया है, तो फिर मुझे यह प्रार्थना करने की आवश्यकता ही क्या है कि मेरी त्रुटियाँ क्षमा की जावें? (६५) परन्तु अपराध दूसरा ही है; वह यह कि मैं गीता के अर्थ का आकलन

किया चाहता हूँ और उसे सुनने की आपसे प्रार्थना किया चाहता हूँ। (६६) मेरे चित्त में वृथा धैर्य उपजा है, जिससे मैं यह नहीं विचारता कि यह बात कितनी कठिन है। सूर्य के तेज के सामने भला खद्योत की क्या शोभा है? (६७) जैसे एक टिटहरी अपनी चोंच में पानी भर कर समुद्र का माप करने के लिए तैयार हुई थी वैसे ही मैं भी गीता का महत्त्व न जानते उसका अर्थ करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। (६८) सुनिए आकाश का आच्छादन करना हो तो उससे अधिक बड़ा हुए बिना न हो सकेगा इसलिए विचार कर देखने से यह अर्थ अशक्य जान पड़ता है। (६९) इस गीतार्थ का महत्त्व स्वयं शंकर ने वर्णन किया है। जब भवानी ने कुतूहल से प्रश्न किया (७०) तब शंकर ने कहा—हे देवि! जैसे तुम्हारा स्वरूप नित्य नूतन दिखाई देता है, वैसे गीतातत्त्व भी सदा नवीन ही है। (७१) यह वेदार्थसमुद्र जिस सोये हुए पुरुष के घर्राटे का शब्द है उसी सर्वेश्वर ने स्वयं इसे कथन किया है। (७२) जो ऐसा अगाध है, जहाँ वेद भी स्तब्ध हो जाते हैं, वहाँ मैं छोटा-सा मतिमन्द क्या पदार्थ हूँ? (७३) इस अपार वस्तु का आकलन कैसे किया जा सकता है? सूर्य का तेज कौन उज्ज्वल कर सकता है? मशक की मुट्ठी में गगन किस प्रकार समा सकता है? (७४) परन्तु इस विषय में मुझे एक आधार है। उसी की बदौलत मैं धैर्य से बोल रहा हूँ। वह यह है कि श्रीगुरु मेरे अनुकूल हैं, (७५) नहीं तो मैं तो मूर्ख हूँ। यद्यपि मैंने अविवेक का काम किया है तथापि आप सन्तों का कृपारूप दीपक तो प्रकाशित है। (७६) लोहे को सुवर्ण बनाने की सामर्थ्य पारस में है, अमृत-सिद्धि से मृत मनुष्य को भी जीवन का लाभ हो सकता है, (७७) सिद्धि-सरस्वती प्रकट हो तो गूँगे को भी वाणी फूटती है इन बातों में क्या आश्चर्य है? यह वस्तु की सामर्थ्य है। (७८) किंवा कामधेनु जिसकी माता है उसे क्या कुछ दुर्लभ है? अतएव मैं इस ग्रन्थ के विवरण करने का साहस करता हूँ (७९) तथा विनती करता हूँ कि जो कुछ न्यून हो उसे पूर्ण कर दीजिए और जो कुछ अधिक हो सो छोड़ दीजिए। (८०) अब सुनिए। आप जैसी शक्ति देंगे वैसा ही मैं बोलूँगा। जैसे काठ का पुतला सूत्र के अधीन हो नाचता है, (८१) वैसे ही मैं आप साधुओं का अनुगृहीत तथा आज्ञापालक हूँ। आप अपने ही इच्छानुसार मुझे अलंकृत कीजिए। (८२) तब श्रीगुरु बोले—अरे, इतना कहने की कुछ

भूमि है, उस वैशम्पायन मुनि नृपराज जनमेजय से कहते हैं। (४८) ऐसी जो उत्तम, अद्वितीय, पवित्र, उपमा-रहित और परम-कल्याण-कारक कथा है उसे सुनिए। (४९) श्रीकृष्ण ने अर्जुन के संग जो संवाद किया वह गीतारूप विषय भारतरूपी कमल की धूलि है (५०) अथवा वेदरूपी समुद्र का मन्थन करके व्यास की बुद्धि ने यह अपार नव नीत निकाला है (५१) और वही फिर ज्ञानरूपी अग्नि की विचाररूपी ज्वाला में तपाने से परिपक्व हो घृत की सुगन्ध को प्राप्त हुआ है। (५२) विरक्तों को जिसकी इच्छा करनी चाहिए, सन्तों को जिसका सदा अनुभव करना चाहिए, पहुँचे हुए पुरुषों को सोऽहंभाव से जहाँ रममाण होना चाहिए (५३) भक्तों को जिसका श्रवण करना चाहिए, और जो तीनों भुवनों में परमपूज्य है, ऐसी यह कथा भीष्मपर्व में कही गई है। (५४) इसे भगवद्गीता कहते हैं। ब्रह्मा और शंकर ने इसकी प्रशंसा की है। सनकादिक इसका प्रेम से सेवन करते हैं। (५५) जैसे चकोर पक्षी के बच्चे शरत्काल की चाँदनी के कोमल अमृत कणों को अन्तःकरणपूर्वक चुन लेते हैं। (५६) वैसे ही श्रोताओं को चित्त में उत्सुकता धारण कर इस कथा का अनुभव करना चाहिए। (५७) इस कथा का संवाद शब्द के बिना करना चाहिए, इसे इन्द्रियों को मालूम न होते भोगना चाहिए, और शब्दोच्चार के पहले ही इसका सिद्धान्त जान लेना चाहिए। (५८) भ्रमर जैसे फूल का पराग ले जाते हैं, परन्तु कमलों के दल को इससे कुछ संवेदना नहीं होती वैसी ही रीति इस ग्रन्थ के सेवन करने की है। (५९) जैसे अपना स्थान न छोड़ते, चन्द्रोदय होते ही आलिङ्गन-प्रेम का उपभोग केवल कुमुदिनी ही जानती है, (६०) वैसे ही जिसका अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है वही इस कथा का सम्मान करना जानता है। (६१) अहो! श्रवण करने के विषय में अर्जुन की पंक्ति के योग्य आप सब सन्त कृपा कर सुनिए। (६२) मैं जो इस प्रकार निर्भयता से कहता हूँ और आपके चरणों से विनती करता हूँ, उसका कारण यह है कि हे प्रभो! आपका हृदय गम्भीर है। (६३) जैसे माता-पिता का यह स्वभाव ही रहता है कि बालक यद्यपि तोतले शब्द बोले तथापि वे सन्तुष्ट होते हैं, (६४) वैसे ही आप सज्जनों ने मेरा अङ्गीकार किया और मुझे अपनाया है, तो फिर मुझे यह प्रार्थना करने की आवश्यकता ही क्या है कि मेरी त्रुटियाँ क्षमा की जावें? (६५) परन्तु अपराध दूसरा ही है; वह यह कि मैं गीता के अर्थ का आकलन

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ ॥ ४ ॥

तथा यहाँ और भी शस्त्रास्त्र में प्रवीण और क्षात्रधर्म में निपुण बड़े बड़े वीर आये हैं (९६) जो बल, योद्धा और पुरुषार्थ में भीम और अर्जुन के समान हैं। उनका मैं प्रसंगानुसार कुतूहल से वर्णन करता हूँ। (९७) ये वीर महायोद्धा युयुधान राजा, विराट् राजा और श्रेष्ठ महारथी द्रुपद राजा हैं। (९८)

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गव ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा ॥६॥

ये देखिये चेकितान हैं, ये धृष्टकेतु हैं, ये पराक्रमी काशिराज हैं, ये नृपश्रेष्ठ उत्तमौजा और शैब्य हैं। (९९) देखिए, ये कुन्तीभोज हैं। ये युधामन्यु हैं और देखिए, ये पुरुजित् आदि सब राजा हैं। (१००) दुर्योधन ने और भी कहा—हे द्रोण देखिए, यह सुभद्रा के हृदय को आनन्द देनेवाला उसका पुत्र अभिमन्यु है, जो मानों दूसरा अर्जुन ही हो (१) तथा ये सब द्रौपदी के पुत्र और अनेक महारथी वीर एकत्रित हैं जिनकी गिनती भी नहीं हो सकती। (२)

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जय' ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अब प्रसंगानुसार हमारे दल में जो मुख्य प्रसिद्ध वीर और योद्धा हैं उनका वर्णन करता हूँ—(३) आप जिनमें मुखिया हैं उन प्रमुख वीरों में से पहचान के लिए एक दो के नाम लेता हूँ (४) ये गङ्गानन्दन भीष्म हैं जो प्रताप में तेजस्वी सूर्य के समान हैं। ये शत्रु-रूपी हाथी का सिंह के समान नाश करनेवाले वीर कर्ण हैं। (५) ये एक एक ऐसे हैं कि जिनके संकल्पमात्र से इस विश्व की उत्पत्ति या संहार हो सकता है। ये एक कृपाचार्य ही क्या इस विषय में समर्थ नहीं हैं? (६) ये

आवश्यकता नहीं है। कथा की ओर अपना ध्यान दो। (८३) यह वचन सुनकर निवृत्ति के दास अत्यन्त आनन्दित हो बोले कि मन को स्थिर करके सुनिए। (८४)

धृतराष्ट्र उवाच—

> धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
> मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

पुत्र-प्रेम से मोहित हो धृतराष्ट्र पूछने लगे कि हे सञ्जय! कुरुक्षेत्र की कथा कहो। (८५) जिसे धर्म का स्थान कहते हैं वहाँ, मेरे पुत्र और पाण्डव युद्ध के निमित्त गये हैं। (८६) इस समय तक वे आपस में क्या कर रहे हैं? (८७)

सञ्जय उवाच—

> दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
> आचार्य्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
> पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य्य महतीं चमूम्।
> व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

सञ्जय ने कहा—प्रथम पाण्डवों की सेना ऐसी क्षुब्ध हो गई कि जैसे महाप्रलय के समय कृतान्त ने मुँह फैलाया हो। (८८) वह अत्यन्त सघन सेना एकदम भभक उठी, जैसे कालकूट विष क्षुब्ध होकर सब दूर छा जाय तो उसे कौन शमन कर सकता है? (८९) अथवा जैसे बड़वा-नल प्रलय-काल की वायु से पुष्ट होकर समुद्र का शोषण करता है और उससे आकाश तक प्रदीप्त हो जाता है (९०) वैसे ही यह दुर्धर सेना नाना प्रकार के व्यूहों से रची हुई मुझे उस समय भयानक दिखाई दी। (९१) उसे देखकर दुर्योधन ने उसका इस तरह तिरस्कार किया कि जैसे सिंह हाथियों के समूह की परवा नहीं करता। (९२) फिर वह द्रोण के पास आया और उनसे कहने लगा कि देखो, पाण्डवों का दल कैसा चमक रहा है। (९३) बुद्धिमान् द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने इस सेना में चारों ओर अनेक व्यूह रचे हैं जो मानों चलते हुए पहाड़ी किले ही हैं। (९४) देखिए, आपने जिस शिष्य को अपनी विद्या का आश्रयस्थान बनाया है उसी ने इस सेनारूपी समुद्र का विस्तार किया है। (९५)

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ ॥ ४ ॥

तथा यहाँ और भी शस्त्रास्त्र में प्रवीण और क्षात्रधर्म में निपुण बड़े बड़े वीर आये हैं (९६) जो बल, प्रौढ़ता और पुरुषार्थ में भीम और अर्जुन के समान हैं। उनका मैं प्रसंगानुसार कुतूहल से वर्णन करता हूँ। (९७) ये वीर महायोद्धा युयुधान राजा, विराट् राजा और श्रेष्ठ महारथी द्रुपद राजा हैं। (९८)

धृष्टकेतुश्चेकितान' काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गव ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्य्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा ॥६॥

ये देखिये चेकितान हैं, ये धृष्टकेतु हैं, ये पराक्रमी काशिराज हैं, ये नृपश्रेष्ठ उत्तमौजा और शैब्य हैं। (९९) देखिए, ये कुन्तीभोज हैं। ये युधामन्यु हैं और देखिए, ये पुरुजित् आदि सब राजा हैं। (१००) दुर्योधन ने और भी कहा—हे द्रोण देखिए, यह सुभद्रा के हृदय को आनन्द देनेवाला उसका पुत्र अभिमन्यु है, जो मानों दूसरा अर्जुन ही हो, (१) तथा ये सब द्रौपदी के पुत्र और अनेक महारथी वीर एकत्रित हैं जिनकी गिनती भी नहीं हो सकती। (२)

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जय' ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अब प्रसंगानुसार हमारे दल में जो मुख्य प्रसिद्ध वीर और योद्धा हैं उनका वर्णन करता हूँ—(३) आप जिनमें मुखिया हैं उन प्रमुख वीरों में से पहचान के लिए एक दो के नाम लेता हूँ (४) ये गङ्गानन्दन भीष्म हैं जो प्रताप म तेजस्वी सूर्य के समान हैं। ये शत्रु-रूपी हाथी का सिंह के समान नाश करनेवाले वीर कर्ण हैं। (५) ये एक एक ऐसे हैं कि जिनके संकल्पमात्र स इस विश्व की उत्पत्ति या संहार हो सकता है। ये एक कृपाचार्य ही क्या इस विषय में समर्थ नहीं हैं? (६) ये

आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थ की ओर अच्छी ध्यान दो। (८३) यह वचन सुनकर निवृत्ति के दास अत्यन्त आनन्दित हो बोले कि मन को स्थिर करके सुनिए। (८४)

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

पुत्र-प्रेम से मोहित हो धृतराष्ट्र पूछने लगे कि हे सञ्जय! कुरुक्षेत्र की कथा कहो। (८५) जिसे धर्म का स्थान कहते हैं वहाँ, मेरे पुत्र और पाण्डव युद्ध के निमित्त गये हैं। (८६) इस समय तक वे आपस में क्या कर रहे हैं? (८७)

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

सञ्जय ने कहा—प्रथम पाण्डवों की सेना ऐसी क्षुब्ध हो गई कि जैसे महाप्रलय के समय कृतान्त ने मुँह फैलाया हो। (८८) वह अत्यन्त सघन सेना एकदम भभक उठी; जैसे कालकूट विष क्षुब्ध होकर सब हुए छा जाय तो उसे कौन शमन कर सकता है? (८९) अथवा जैसे बड़वा नल प्रलय-काल की वायु से पुष्ट होकर समुद्र का शोषण करता है और उससे आकाश तक प्रदीप्त हो जाता है, (९०) वैसे ही यह दुर्धर सेना नाना प्रकार के व्यूहों से रची हुई मुझे उस समय भयानक दिखाई दी। (९१) उसे देखकर दुर्योधन ने उसका इस तरह तिरस्कार किया कि जैसे सिंह हाथियों के समूह की परवा नहीं करता। (९२) फिर वह द्रोण के पास आया और कहने लगा कि देखो, पाण्डवों का दल कैसा भभक रहा है। (९३) बुद्धिमान् द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने इस सेना में चारों ओर अनेक व्यूह रचे हैं जो मानों चलते हुए पहाड़ी किले ही हैं। (९४) देखिए, आपने जिस शिष्य को अपनी विद्या का आश्रयस्थान बनाया है उसी ने इस सेनारूपी समुद्र का विस्तार किया है। (९५)

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

फिर दुर्योधन ने सब सेनापतियों से कहा कि अब अपनी अपनी सेना तैयार करो, जो अक्षौहिणियाँ जिसके अधीन हैं उसको उन्हें रण-भूमि में लाना चाहिए, और जो जो महारथी हैं उनको अपनी अपनी सेनाएँ बाँट लेनी चाहिए। (२१ २२) और उन्हें अपने अधीन रख भीष्म की आज्ञा में रहना चाहिए फिर उसने द्रोण से कहा कि आप सब सेना की देख-रेख रखिए (२३) और इस भीष्म की रक्षा कीजिए। इसे मेरे समान मानिए, क्योंकि हमारे दल की स्थिति इसी पर निर्भर है। (२४)

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

राजा के इस वचन से सेनापति भीष्म को संतोष हुआ और उसने सिंह के समान गर्जना की। (२५) वह अद्भुत सिंहनाद दोनों सेनाओं के बीच गरजा और उसकी प्रतिध्वनि ऐसी उठी की वहाँ समा न सकी। (२६) इतने में उस प्रतिध्वनि के समान ही भीष्मदेव ने अपनी वीरवृत्ति की सामर्थ्य से अपना दिव्य शंख फूँका। (२७) ये दोनों नाद एकत्र हुए तब सब त्रैलोक्य बहिरा-सा हो गया ऐसा जान पड़ा मानो आकाश ही टूटकर गिर पड़ा हो। (२८) संपूर्ण वायु मण्डल गरज उठा, समुद्र उछलने लगा और सब चराचर क्षुब्ध हो काँप उठे। (२९) उस महाघोष की गर्जना पहाड़ों की गुफाओं में घूम रही थी इतने में सेनाओं में मारू बाजे बजने लगे। (१३०)

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

वे बाजे बजाये गये जो भयानक और कर्कश थे और जिन्हें सुनकर बहादुरों को भी प्रलयकाल-सा जान पड़ता था। (३१) नौबतें निशान शंख, झाँझें और रणसींगे बजने लगे और बड़े बड़े योद्धाओं के भयानक रणशब्दों का कोलाहल होने लगा। (३२) वे आवेश से ताल ठोकने लगे तथा जोर जोर से एक दूसरे को लड़ाई के लिए ललकारने लगे। जहाँ हाथी ऐसे बेकाबू हो गये कि रोके नहीं जा सकते

वीर किसकी हैं। देखिए, ये अश्वत्थामा हैं। कृतान्त भी मन में इनका डर रखता है। (७)

> अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
> नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

समितिंजय, सोमदत्ति इत्यादि और भी बहुत से वीर हैं जिनके बल का अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। (८) ये शस्त्रविद्या में प्रवीण हैं और मन्त्रविद्या के मूर्तिमान अवतार हैं। सब शस्त्रविद्या इन्हीं के कारण जगत् में प्रसिद्ध हुई है। (९) जगत् में इनके समान मल्ल नहीं हैं। इनमें पूर्ण प्रताप है। तथापि सबने प्राणों समेत मेरा ही अनुसरण किया है। (११०) पतिव्रता का हृदय जैसे पति के सिवा किसी वस्तु का स्पर्श नहीं करता वैसे ही इन उत्तम योद्धाओं का मन मेरी ओर खिंचा हुआ है। (११) ये ऐसे उत्तम और निःसीम स्वामिभक्त हैं कि हमारे कार्य के सामने अपने प्राणों को भी कुछ नहीं समझते। (१२) ये सब युद्ध का चातुर्य जानते हैं और अपनी कला से कीर्ति को जीतते हैं। बहुत क्या कहूँ, क्षत्रिय-धर्म इन्हीं से प्रसिद्ध हुआ है। (१३) ऐसे सब प्रकार से पूर्ण वीर हमारे दल में हैं। इनकी गणना क्या करूँ? ये अनगिनती हैं। (१४)

> अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
> पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

सिवाय इसके जो क्षत्रियों में श्रेष्ठ है, जो जगत् में अत्यन्त श्रेष्ठ योद्धा है, उस भीष्म को हमारे दल के सेनापतित्व का अधिकार है। (१५) इसके बल का आश्रय पाकर यह सेना दुर्ग के समान फैली है। इसके सामने तीनों लोक अल्प दिखाई देते हैं। (१६) देखिए, समुद्र एक तो पहले ही दुर्गम होता है, और फिर उसमें जैसे बड़वानल सहकारी हो जावे; (१७) अथवा प्रलयकाल की अग्नि और महावात इन दोनों का जैसे संयोग हो जावे, वैसा ही हाल गंगासुत के सेनापति होने से इस सेना का दिखाई देता है। (१८) अब इससे कौन भिड़ सकता है? इसकी तुलना में यह पाण्डवों की सेना जिसका सेनापति यह बलाढ्य भीमसेन है, सचमुच अल्प दिखाई देती है। (१९) इतना कहकर वह स्तब्ध हो गया। (१२०)

महाशंख बजाया। (४८) यह प्रलयकाल के मेघ के समान गंभीरता से गड़गड़ा रहा था। इतने में युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख फूँका। (४९) नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक शंख फूँके जिनके निनाद से यम भी घबरा उठा। (१५०)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रादिक, महाबाहु काशिराज इत्यादि वहाँ जो अनेक राजा उपस्थित थे (५१) तथा अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, अपराजेय सात्यकी, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी (५२) विराट इत्यादि राजा और जो मुख्य सैनिक वीर थे उन सबने अनेक शंख लगातार बजाये। (५३) उस महाघोष के धक्के से शेष, कूर्म एकाएक घबरा कर भूमि का भार छोड़ने की चेष्टा करने लगे। (५४) उस समय तीनों लोक कम्पित होने लगे। मेरु और मान्दार डगमगाने लगे और समुद्र का जल कैलास तक उछलने लगा। (५५) पृथ्वीतल ऐसा जान पड़ता था मानों उलट ही हो आकाश मानों टूटा पड़ता था और नक्षत्रों की वर्षा हो रही थी। (५६) सत्यलोक में हल्ला हो गया कि सृष्टि डूब गई, देव निराश्रित हो गये, (५७) दिन रहते ही सूर्य छिप गया, मानों [illegible] हो रहा हो। इस प्रकार तीनों लोकों में हाहाकार मच [illegible] यह देखकर आदि-नारायण विस्मय से कहने लगे कि ऐसा [illegible] जावे। तब उन्होंने उस अद्भुत आवेग को रोक [illegible] का बचाव हुआ नहीं तो कृष्णादिकों के महा[illegible] ही प्रलय हो आ पहुँचा था। (६०) यद्यपि [illegible] की प्रतिध्वनि हो रही थी उसने [illegible] कर दिया। (६१) जैसे हाथियों के समूह का [illegible] ही उस समूह का विदारण कर डालता है वैसे [illegible] का हृदय करती थी। (६२) त्योंही के

थे (३३) वहाँ डरपोकों की क्या कथा ? जो कच्चे थे वे तो कचरे के समान उड़ते थे। यह दृश्य देखकर कृतान्त भी डर से सूख गया। (३४) कई पक्षों के प्राण खड़े खड़े निकल गये, अच्छे अच्छों के दाँत मिच गये और बड़े बड़े विरुदवाले काँपने लगे। (३५) ऐसी अद्भुत वाद्यध्वनि सुनकर ब्रह्मा भी व्याकुल हो गये और देव कहने लगे कि आज हमारा प्रलयकाल आ पहुँचा। (३६)

> ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
> माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
> पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
> पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
> अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
> नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

यह कोलाहल देखकर स्वर्ग में जब यह हाल हुआ तब पाण्डवों के दल में क्या हो रहा था ? (३७) जो मानों विजयश्री का सारभूत अथवा सूर्य के तेज का भाण्डार है जिसमें गरुड़ की बराबरी करनेवाले चार घोड़े जुते हैं, (३८) अथवा जो सपक्ष मेरु पर्वत के समान दिखाई देता है वह रथ वहाँ शोभा दे रहा था। उसके तेज से चारों दिशाएँ भर गई थीं। (३९) जिस रथ का सारथी वैकुण्ठ का राजा था उसके गुणों का मैं क्या वर्णन करूँ। (४०) अर्जुन के ध्वजस्तंभ पर हनुमान् विराजे हैं। वह स्वयं मूर्तिमान् शङ्कर हैं और श्रीकृष्ण उसके सारथी हैं। (४१) उस प्रभु का नवल अचरज देखिए कि वह पार्थ का सारथीपन कर रहा है, (४२) तथा सेवक को पीछे रख आप आगे को खड़ा है। उसने सहज-लीला से अपना पाञ्चजन्य शंख फूँका। (४३) उसका महाघोष गम्भीरता से गरजने लगा। सूर्य उदय होते ही जैसे नक्षत्रों का लोप हो जाता है, (४४) वैसे यह महाघोष होते ही कौरव-सेना में जो रणवाद्य चहुँ ओर गरज रहे थे वे न जाने कहाँ लुप्त हो गये। (४५) फिर देखिए अर्जुन ने भी बड़ी गर्जना के साथ देवदत्त नामक शङ्ख बजाया। (४६) उस समय दोनों अद्भुत ध्वनियाँ इकट्ठी मिलते ही सब ब्रह्माण्ड मानों टूक टूक होने लगा। (४७) तब भीमसेन को भी आवेश चढ़ा और उसने महाकाल के समान क्रुद्ध हो पौण्ड्र नामक

महाशंख बजाया। (४८) वह प्रलयकाल के मेघ के समान गंभीरता से गड़गड़ा रहा था। इतने में युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख फूँका। (४९) नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक शंख फूँके जिनके निनाद से यम भी घबरा उठा। (१५०)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रादिक, महाबाहु काशिराज इत्यादि जहाँ जो अनेक राजा उपस्थित थे (५१) तथा अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, अपराजित सात्यकी, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी, (५२) विराट इत्यादि राजा और जो मुख्य सैनिक वीर थे उन सबने अनेक शंख लगातार बजाये। (५३) उस महाघोष के धक्के से शेष, कूर्म एकाएक घबरा कर भूमि का भार छोड़ने की चेष्टा करने लगे। (५४) उस समय तीनों लोक कम्पित होने लगे। मेरु और मान्दार डगमगाने लगा और समुद्र का जल कैलास तक उछलने लगा। (५५) पृथ्वीतल ऐसा जान पड़ता था कि मानों उलटा ही हो, आकाश मानों टूटा पड़ता था और नक्षत्रों की वर्षा हो रही थी। (५६) सत्यलोक में हल्ला हो गया कि सृष्टि डूब गई, देव निराश्रित हो गये, (५७) दिन रहते ही सूर्य छिप गया, मानों प्रलयकाल ही छा रहा हो। इस प्रकार तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। (५८) यह देखकर आदि-नारायण विस्मय से कहने लगे कि ऐसा न हो कि अन्त ही हो जावे। तब उन्होंने उस अद्भुत आवेश को खींच लिया। (५९) इससे जगत् का बचाव हुआ नहीं तो कृष्णादिकों के महाशंख बजाना आरम्भ करते ही प्रलय ही आ पहुँचा था। (१६०) यद्यपि वह घोष बन्द हो गया तथापि उसकी जो प्रतिध्वनि हो रही थी उसने कौरवों की सेना का विध्वंस कर दिया। (६१) जैसे हाथियों के समूह के बीच घिरा हुआ सिंह सहज ही उस समूह का तिरस्कार कर डालता है वैसे ही वह प्रतिध्वनि कौरवों के हृदयों का छेदन करती थी। (६२) ज्योंही वे

उसकी गर्जना सुनते त्योंही खड़े खड़े गिर पड़ते थे और एक दूसरे को सचेत रहने की सूचना करते थे। (६३)

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२१॥

तब जो बल से पूर्ण महारथी वीर थे उन्होंने सेना को फिर से जमा किया (६४) और वे बड़ी तैयारी के साथ आगे बढ़े तथा दुगुने आवेश से लड़ाई करने लगे। उस सेना से तीनों लोक क्षुब्ध हो गये। (६५) फिर धनुर्धारी वीरों ने बाणों की ऐसी लगातार वर्षा की कि मानों वे प्रलयकाल के अनिवार्य मेघ ही हों। (६६) यह देखकर अर्जुन को मन से संतोष हुआ और उसने आवेश से सब सेना की ओर दृष्टि फेंकी, (६७) और सब कौरवों को युद्ध के लिए तैयार देखकर उसने भी लीला से धनुष उठाया। (६८)

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाच—
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

और श्रीकृष्ण से कहा—हे देव! अब रथ जल्दी से आगे बढ़ाकर दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो, (६९)

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

जिससे मैं क्षणभर इन सब सैनिक वीरों को देख लूँ जो युद्ध के लिए उद्यत हैं। (७०) क्योंकि यहाँ आये तो सभी हैं परन्तु मुझे यह देखना चाहिए कि मुझे किसके साथ लड़ना योग्य है। (७१) क्योंकि कौरव प्रायः उतावले और दुःस्वभाव रहते हैं, पराक्रम बिना युद्ध की अभिलाषा रखते हैं; (७२) युद्ध की तो इच्छा रखते हैं परन्तु युद्ध के समय धैर्यवान् नहीं होते। राजा से इतना कहकर संजय और बोले कि (७३)

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

सुनिए, अर्जुन के ऐसा कहते ही श्रीकृष्ण ने रथ आगे बढ़ाया और दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दिया। (७४)

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

और जहाँ भीष्म-द्रोणादिक भावशार सामने ही खड़े थे और अन्य भी बहुत-से राजा लोग थे (७५) वहीं रथ ठहरा कर अर्जुन शीघ्रता से उस समस्त सेना को देखने लगा (७६) और फिर बोला—"हे देव! देखिए देखिए, ये सब अपने ही कुल के श्रेष्ठ जन हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्ण के मन में क्षण भर विस्मय हुआ। (७७) वे मन में कहने लगे कि न जाने इसके मन में यह क्या आया है! परन्तु क्या आश्चर्य है (७८) इस प्रकार उन्हें होनहार बात का स्मरण हुआ। वे सहज ही उसका अंतरात्मा जान गये, परन्तु उस समय स्तब्ध हो रहे और कुछ न बोले। (७९) वहाँ अर्जुन ने अपने सब पितृ, पितामह, गुरु, भ्राता और मातुलों की ओर देखा। (८०) अपने इष्ट-मित्र कुमार जन भी देखे। वे सब युद्ध के लिए आये हुए वीरों में उपस्थित थे। (८१) मित्रगण, श्वशुर और अन्य सगे सम्बन्धी, कुमार और नाती आदि को अर्जुन ने वहाँ उपस्थित देखा। (८२) जिनका उसने उपकार किया था अथवा संकट के समय जिनकी रक्षा की थी वही नहीं बाल सब बड़े छोटे (८३) गोत्रज दोनों सेनाओं में युद्ध के लिए सम्मुख देख पड़े। (८४)

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

उसकी गर्जना सुनते त्योंही लड़े लड़े गिर पड़ते थे और एक दूसरे को सचेत रहने की सूचना करते थे। (६३)

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

तब वा बल से पूर्ण महारथी वीर में उन्होंने सेना को फिर से जमा किया, (६४) और वे बड़ी तैयारी के साथ आगे बढ़े तथा दुगुने आवेश से लड़ाई करने लगे। उस सेना से तीनों लोक क्षुब्ध हो गये। (६५) उन धनुर्धारी वीरों ने बाणों की ऐसी लगातार वर्षा की कि मानों वे प्रलयकाल के अनिवार्य मेघ ही हों। (६६) यह देखकर अर्जुन के मन से संतोष हुआ और उसने आवेश से सब सेना की ओर दृष्टि फेंकी (६७) और सब कौरवों को युद्ध के लिए तैयार देखकर उसने भी लीला से धनुष उठाया। (६८)

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

और श्रीकृष्ण से कहा—हे देव! अब रथ जल्दी से आगे बढ़ाकर दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो (६९)

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

जिससे मैं क्षणभर इन सब सैनिक वीरों को देख लूँ जो युद्ध के लिए उद्यत हैं। (७०) क्योंकि यहाँ आये तो सभी हैं परन्तु मुझे यह देखना चाहिए कि मुझे किसके साथ लड़ना योग्य है। (७१) क्योंकि कौरव प्रायः बदमाश और दुःस्वभाव रहते हैं, पराक्रम बिना युद्ध की अभिलाषा रखते हैं (७२) युद्ध की तो इच्छा रखते हैं परन्तु युद्ध के समय धैर्यवान् नहीं होते। राजा से इतना कहकर संजय और बोले कि (७३)

सञ्जय उवाच—

> एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
> सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

सुनिए, अर्जुन के ऐसा कहते ही श्रीकृष्ण ने रथ आगे बढ़ाया और दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दिया। (७४)

> भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
> उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
> तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
> आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
> श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
> तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

और जहाँ भीष्म-द्रोणादिक नातेदार सामने ही खड़े थे और अन्य भी बहुत-से राजा लोग थे (७५) वहीं रथ ठहरा कर अर्जुन शीघ्रता से उस समग्र सेना को देखने लगा (७६) और फिर बोला—"हे देव ! इधर देखिए ये सब अपने ही कुल के गोत्र जन हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्ण के मन में क्षण भर विस्मय हुआ। (७७) वे मन में कहने लगे कि न जाने इसके मन में यह क्या आया है ! परन्तु क्या आश्चर्य है (७८) इस प्रकार उन्हें होनहार बात का स्मरण हुआ। वे सहज ही सबका अंतरात्मा जान गए परन्तु उस समय स्तब्ध हो रहे और कुछ न बोले। (७९) वहाँ अर्जुन ने अपने सब पितृ, पितामह, गुरु, भ्राता और मातुलों की ओर देखा। (१८०) अपने इष्ट-मित्र, कुमार जन भी देखे। वे सब युद्ध के लिए आये हुए वीरों में उपस्थित थे। (८१) मित्रगण, श्वशुर और अन्य सगे सम्बन्धी, कुमार और नाती आदि को अर्जुन ने वहाँ उपस्थित देखा। (८२) जिनका उसने उपकार किया था, अथवा संकट के समय जिनकी रक्षा की थी वहाँ वहीं सब बड़े छोटे (८३) आदि सब दोनों सेनाओं में युद्ध के लिए उद्युक्त देख पड़े। (८४)

> कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

> दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

तब उसके अन्तःकरण में गद्गद मच गई और प्यार ही प्यार पैदा उत्पन्न हुए। इस अपमान के कारण वीरवृत्ति उस छोड़कर चली गई। (८५) जो स्त्रियाँ उत्तम कुल की होती हैं और सद्गुणी और सौन्दर्य-सम्पन्न होती हैं व अपने तेज के कारण अपने पति के साथ अन्य स्त्री का सहवास नहीं सह सकतीं। (८६) नूतन स्त्री की इच्छा से कामीजन जैसे अपनी स्त्री को भूल जाता है और वह नूतन स्त्री के योग्य न हो तो भी भ्रम से उसका अनुसरण करता है (८७) अथवा तप के बल से संपत्ति प्राप्त होते ही जैसे बुद्धि का भ्रंश हो जाता है और फिर उस तप करनेहार को वैराग्य की सिद्धि प्राप्त नहीं होती (८८) वैसे ही उस समय अर्जुन का हाल हुआ। अन्तःकरण में दया को स्थान देने से, वहाँ जो पुरुष-वृत्ति थी वह भी चली गई। (८९) देखिए, मंत्रज्ञ मंत्रोच्चार में भूल करे तो जैसे उसे भूत-संचार हो जाता है वैसे ही अर्जुन को उस समय महामोह ने गाँठ लिया। (९०) इस कारण उसका धैर्य चला गया तथा हृदय में करुणा उत्पन्न हुई मानों सोमकान्त मणि को चन्द्रकिरणों का स्पर्श हुआ हो। (९१) इस प्रकार अर्जुन अत्यन्त दया से मोहित और दुःखयुक्त होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा (९२) कि "हे देव! सुनिए मैं इस समुदाय की ओर देखता हूँ तो यहाँ सब अपना गोत्रवर्ग ही पाता हूँ। (९३) यह सही है कि ये सब संग्राम के लिए उद्यत हैं, परन्तु हमें यह संग्राम करना कैसे उचित है। (९४) इनसे युद्ध का नाम लेते ही न जाने क्यों मैं अपनी ही सुध भूल गया हूँ। मेरा मन और बुद्धि स्थिर नहीं है। (९५) देखिए, शरीर काँपता है, जीभ सूखती है और सब अवयवों में शिथिलता उपज रही है। (९६) सब शरीर पर रोमांच खड़े हुए हैं और अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न हुआ है।" यह कहते हुए उसके जिस हाथ में गांडीव धनुष था वह ढीला पड़ गया। (९७) और पकड़ छूट जाने के कारण बिना जाने धनुष उसके हाथ से गिर पड़ा। इस प्रकार मोह ने उसके हृदय को व्याप लिया। (९८) आश्चर्य है कि जो हृदय वज्र से भी कठिन, दुर्धर और अत्यन्त भयकारक था

उससे भी यह स्नेह बलवान् हो गया ! (९) जिसने युद्ध में शंकर का पराजय किया निवात और कवच का नाम निशान मिटा दिया, उस अर्जुन को मोह ने क्षण भर में ग्रस लिया। (१००) जैसे भ्रमर चाहे जिस काठ को मनमाना छेद डालता है परन्तु एक कोमल-सी कली के बीच पकड़ा जाता है, (१) और वहाँ चाहे प्राण छोड़ दे पर उस कमलदल को चीरने की बात कभी उसके चित्त में नहीं आती वैसे ही कोमलता के वश होते हुए स्नेह भी तोड़ना कठिन है। (२) सञ्जय बोले, हे राजा ! सुनिए, यह आदि पुरुष की माया ब्रह्मदेव के भी वश में नहीं आती। अतएव क्या आश्चर्य कि अर्जुन को भी भ्रम हो गया ! (३) सुनिए, तदन्तर अर्जुन अपने सब स्वजनों को देखकर युद्ध का अभिमान भूल गया। (४) उसके चित्त में न जाने कैसे सदयता उत्पन्न हुई और वह कहने लगा—हे कृष्ण ! अब यहाँ ठहरना भी न चाहिए। (५) इन सबके वध करने का विचार मन में आते ही मेरा मन अत्यन्त व्याकुल होता है और मुँह से शब्द नहीं निकलता। (६)

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इन कौरवों का वध किया जाय तो युधिष्ठिरादि का भी क्यों न किया जाय! ये भी तो सब हमारे गोत्रज हैं। (७) इसलिए नाश हो इस युद्ध का ! यह मुझे नहीं भाता। इस महापाप से मुझे क्या लेना-देना है ? (८) हे देव! अनेक प्रकार से विचार कर देखने से मालूम होता है कि इनसे संग्राम करने से बुराई ही होगी, किन्तु इसे टाल देने से कुछ लाभ होगा। (९)

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

विजय-वृत्ति से मुझे कुछ काम नहीं है। इस तरह के राज्य को लेकर क्या करना है ? (११०) इन सबका वध करके जो राज्यभोग प्राप्त होंगे उनका नाश हो। (११) ऐसा सुख न मिलते कोई भी संकट आवे तो सहना चाहिए, वरन् इन लोगों के लिए प्राण भी अर्पण करना चाहिए। (१२) परन्तु यह बात कि इनका घात हो और फिर हम राज्य

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

तब उसके अन्तःकरण में गड़बड़ मच गई और आप ही आप कृपा उत्पन्न हुई। इस अपमान के कारण वीरवृत्ति उसे छोड़कर चली गई। (८५) जो स्त्रियाँ उत्तम कुल की होती हैं और सद्गुणी और सौन्दर्य-सम्पन्न होती हैं वे अपने तेज के कारण अपने पति के साथ अन्य स्त्री का सहवास नहीं सह सकतीं। (८६) नूतन स्त्री की इच्छा से कामीजन जैसे अपनी स्त्री को भूल जाता है और वह नूतन स्त्री के योग्य न हो तो भी भ्रम से उसका अनुसरण करता है, (८७) अथवा तप के बल से संपत्ति प्राप्त होते ही जैसे बुद्धि का भ्रंश हो जाता है और फिर *उस तप करनेवाले को वैराग्य की सिद्धि प्राप्त नहीं होती, (८८)* वैसे ही उस समय अर्जुन का हाल हुआ। अन्तःकरण में कृपा को स्थान देने से वहाँ की पुरुष-वृत्ति अवस्था ही चली गई। (८९) देखिए, मंत्रज्ञ मंत्रोच्चार में भूल कर तो जैसे उसे भूत-संचार हो जाता है वैसे ही अर्जुन को उस समय महामोह ने गाँठ लिया। (१९०) इस कारण उसका धैर्य चला गया तथा हृदय में करुणा उत्पन्न हुई मानों सोमकान्त मणि को चन्द्रकिरणों का स्पर्श हुआ हो। (९१) इस प्रकार अर्जुन अत्यन्त कृपा से मोहित और दुःखयुक्त होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा (९२) कि "हे देव! सुनिए मैं इस समुदाय की ओर देखता हूँ तो यहाँ सब अपना गोत्रवर्ग ही पाता हूँ। (९३) यह सही है कि ये सब संग्राम के लिए उद्यत हैं, परन्तु हमें यह संग्राम करना कैसे उचित है। (९४) इनसे युद्ध का नाम लेते ही न जाने क्यों मैं अपनी ही सुध भूल गया हूँ। मेरा मन और बुद्धि स्थिर नहीं है। (९५) देखिए शरीर काँपता है, जीभ सूखती है और सब अवयवों में शिथिलता उत्पन्न रही है। (९६) सब शरीर पर रोमांच खड़े हुए हैं और अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न हुआ है।" यह कहते हुए उसके जिस हाथ में गांडीव धनुष था वह ढीला पड़ गया। (९७) और पकड़ छूट जाने के कारण बिना जाने धनुष उसके हाथ से गिर पड़ा। इस प्रकार मोह ने उसके हृदय को व्याप्त लिया। (९८) आश्चर्य है कि जो हृदय वज्र से भी कठिन, दुर्धर और अत्यन्त [illegible] था

उससे भी यह स्नेह बलवान् हो गया! (१९) जिसने युद्ध में शंकर का पराजय किया, निवात और कवच का नाम निशान मिटा दिया, उस अर्जुन को मोह ने क्षण भर में ग्रस लिया। (२००) जैसे भ्रमर चाहे जिस काठ को मनमाना छेद डालता है परन्तु एक कोमल-सी कली के बीच पकड़ा जाता है, (१) और वहाँ चाहे प्राण छोड़ दे पर उस कमलदल को चीरने की बात कभी उसके चित्त में नहीं आती, वैसे ही कोमलता के वश होते हुए स्नेह भी तोड़ना कठिन है। (२) सञ्जय बोले हे राजा! सुनिए, यह आदि पुरुष की माया महादेव के भी वश में नहीं आती। अतएव क्या आश्चर्य कि अर्जुन को भी भ्रम हो गया! (३) सुनिए, तदन्तर अर्जुन अपने सब स्वजनों को देखकर युद्ध का अभिमान भूल गया। (४) पता नहीं चित्त में न जाने कैसे सदयता उत्पन्न हुई और वह कहने लगा—हे कृष्ण! अब यहाँ ठहरना भी न चाहिए। (५) इन सबके वध करने का विचार मन में आते ही मेरा मन अत्यन्त व्याकुल होता है और मुँह से शब्द नहीं निकलता। (६)

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥३१॥

इन कौरवों का वध किया जाय तो युधिष्ठिरादि का भी क्यों न किया जाय! ये भी तो सब हमारे गोत्रज हैं। (७) इसलिए नाश हो इस युद्ध का! यह मुझे नहीं भाता। इस महापाप से मुझे क्या लेना-देना है? (८) हे देव! अनेक प्रकार से विचार कर देखने से मालूम होता है कि इनसे संग्राम करने से बुराई ही होगी किन्तु इस टाल देने से कुछ लाभ होगा। (९)

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३॥

विजय-वृत्ति से मुझे कुछ काम नहीं है। इस तरह के राज्य को लेकर क्या करना है? (२१०) इन सबका वध करके जो राजभोग प्राप्त होंगे उनका नाश हो! (११) ऐसा सुख न मिलते कोई भी संकट आवे तो सहना चाहिए, वरन् इन लोगों के लिए प्राण भी अर्पण करना चाहिए। (१२) परन्तु यह बात कि इनका घात हो और फिर हम राज्य

पुत्र मारें, मेरा मन स्वप्न में भी ग्रहण नहीं कर सकता। (१३) यदि मन में इन प्रेमी जनों का अहित-चिन्तन करना है तो हमने जन्म ही क्यों लिया? यह जीवन किनके लिए रखना चाहिए? (१४) कुल के सब लोग पुत्र की इच्छा करते हैं, वह क्या इसी के लिए कि उससे अपने गोत्र का नाश हो? (१५) यह बात मन में ही कैसे आ सकती है? अपना मन वज्र के समान कठोर क्योंकर बना लिया जाय? हो सके तो इनका भला ही करना चाहिए, (१६) हम जो कुछ कमावें उस सबका उपभोग इन्हें देना चाहिए, यह जीवन इनके उपकार में लगाना चाहिए। (१७) हमको सब दिगन्त के राजाओं का पराजय करके निज कुल का संतोष करना चाहिए (१८) उसी के ये सब लोग हैं। परन्तु कर्म कैसा विपरीत है कि देखिए, ये सब युद्ध के लिए उद्यत हुए हैं, (१९) और अपनी स्त्रियाँ, पुत्र, द्रव्य, भाण्डार छोड़कर शस्त्राग्र पर अपने प्राण रक्खे खड़े हैं! (२२०) इन स्वजनों को कैसे मारूँ? इनमें से किस पर शस्त्र चलाऊँ? अपने ही हृदय का घात किस प्रकार कर लूँ? (२१)

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥

आप नहीं जानते, ये कौन कौन हैं? उस ओर भीष्म-द्रोण हैं, जिनके हम पर अनेक असाधारण उपकार हैं। (२२) इस ओर साले, श्वशुर, मातुल और ये सब भ्राता पुत्र, नाती और इष्ट खड़े हैं। (२३) सुनिए, ये सब हमारे अत्यन्त ही पास के सगे सहोदरे हैं। इसलिए इनके वध की बात मुँह पर लाना भी पाप है। (२४)

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

ये चाहे कुछ भी करें, चाहे हमें अभी और यहीं पर मार डालें, परन्तु अपने मन में इनका घात सोचना हमारे लिए अयोग्य है। (२५) यद्यपि त्रैलोक्य का भी निष्कण्टक राज्य मिले तथापि यह अनुचित बात मैं न करूँगा। (२६) यदि आज यहाँ ऐसा कर डालूँ तो मेरा कौन *मान* लेगा? हे कृष्ण! आप ही कहिए, आपको मैं किस प्रकार मुँह दिखा सकूँगा। (२७)

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

यदि इन गोत्रजों का वध करूँ तो मैं पापों का आश्रय हो जाऊँगा और फिर आप जो मुझे प्राप्त हुए हैं सो हाथ से चले जायेंगे। (२८) कुल के घात से होनेवाले पाप जब आ लगते हैं तब आप किसे और कहाँ दिखाई देते हैं? (२६) जैसे बाग में प्रबल अग्नि का संचार देखकर कोयल वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरती। (३०) अथवा सरोवर को कीचड़ से भरा देखकर चकोर पक्षी वहाँ नहीं रहते—उसका तिरस्कार कर चले जाते हैं—(३१) वैसे ही, हे देव, यदि मेरे पुण्यरूपी बल का नाश हो जाय तो मुझसे आपको कपट माया-जाल से फँसाते न बनेगा। (३२)

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए मैं यह कृत्य नहीं करता। मैं इस युद्ध में शस्त्र ही नहीं पकड़ता। अनेक रीति से यह कर्म बुरा ही दिखाई देता है। (३३) आपसे वियोग हो तो फिर कहिए हमें क्या रह गया? हे कृष्ण! आप के बिना हमारा हृदय दुःख से विदीर्ण हो जायेगा। (३४) इसलिए अर्जुन ने कहा कि कौरवों का वध हो और हमें भोग प्राप्त हों यह बात अनहोनी ही रहने दो। (३५)

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि ये लोग अभिमान-मद से भूलकर संग्राम के लिए आये हैं तथापि हमें तो अपना हित जानना चाहिए? (३६) ऐसा कैसे किया जाय, कि अपने स्वजनों को हमीं मार डालें। जान-बूझ कर कालकूट विष क्यों खाना चाहिए? (३७) अजी, मार्ग से चलते चलते यदि अकस्मात् सिंह सामने आ जाय तो उसे टाल देने में ही लाभ है। (३८) कहिए, प्रकाश छोड़ किसी अँधेरे कुएँ का आश्रय करने में हे देव! क्या लाभ है? (३६) अथवा, जैसे सामने अग्नि देखकर यदि कोई उसे एक ओर छोड़ कर अपना बचाव न करे तो वह उसे पल भर में चहुँओर से घेर कर भस्म कर सकती है (४०) वैसे ही यह जान कर कि ये प्रत्यक्ष पाप

जगा ही चाहते हैं, युद्ध में हमें क्यों प्रवृत्त होना चाहिए ? (४१) और भी अर्जुन उस समय कहने लगा, हे देव ! सुनिए, इस पाप का महत्त्व मैं आपसे वर्णन करता हूँ। (४२)

> कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
> धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

जैसे लकड़ी पर लकड़ी रगड़ने से ऐसी अग्नि निकलती है कि जो प्रदीप होते ही सब लकड़ी को जला डालती है, (४३) वैसे ही गोत्रजों में यदि परस्पर मत्सर के कारण वध हो तो जो घोर पाप होता है उससे कुल का ही नाश हो जाता है। (४४) इस पाप से कुल का धर्म लुप्त हो जाता है और कुल में अधर्म का संचार ही रहता है। (४५)

> अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
> स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

तब सारासार विवेक कौन करे ? कौन किस बात का आचरण करे ? विधि और निषेध सब नष्ट हो जाते हैं। (४६) जिस प्रकार हाथ का दिया लो जाय और अँधेरे में चलना हो तो समान भूमि पर भी ठिठकना पड़ता है, (४७) वैसे ही कुल का क्षय हो तो सनातन धर्म चला जाता है। फिर पाप के सिवाय क्या रह जाता है ? (४८) यम और नियम बन्द हो जाते हैं, इन्द्रियाँ स्वतन्त्र बर्तने लगती हैं कुल-स्त्रियों में व्यभिचार होने लगता है, (४९) उत्तम अधमों में व्यवहार करने लगते हैं, ब्राह्मण शूद्रादि वर्णाश्रमों मिल जाते हैं और जाति-धर्म का समूल उच्छेद हो जाता है। (२५०) जैसे चौरस्ते पर फेंके हुए बलि पर कौए चारों ओर से झपट्टा मारते हैं वैसे ही कुल में चारों ओर से महापापों का प्रवेश हो हो जाता है। (५१)

> सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
> पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

और फिर सब कुल को और कुल का घात करनेवालों को नरक प्राप्त होता है। (५२) देखिए, सब वंशवृद्धि जब इस प्रकार पतित हो जाती है तब पूर्व-पुरुष भी स्वर्ग से नीचे गिरते हैं। (५३) जहाँ नित्य स्नान सन्ध्यादि क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं और नैमित्तिक क्रिया भी लुप्त हो

जाती है वहाँ कौन किसे तिलांजलि देता है ? (५४) तो फिर पितृ क्या करेंगे ? स्वर्ग में कैसे रहेंगे ? इसलिए वे भी अपने कुलवालों के पास आ जाते हैं। (५५) जैसे साँप नखाग्र में काटे तो भी मस्तकपर्यन्त व्याप लेता है, वैसे ही इस पाप से ब्रह्मलोक तक पहुँचे हुए पूर्वज भी सब डूब जाते हैं। (५६)

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

हे देव ! और भी सुनिए, इसमें एक और महापाप लगता है। वह यह है कि कुसंग के कारण लोकाचार भी नष्ट हो जाता है। (५७) जैसे दैववशात् अपने घर में आग लगे तो वह प्रज्वलित हो दूसरे घरों को भी जला डालती है, (५८) वैसे ही उस कुल की संगति में जो जो लोग बरतते हैं उन्हें भी उसके निमित्त पीड़ा सहनी पड़ती है। (५९) इस प्रकार अर्जुन ने कहा कि अनेक पापों के कारण वह सब कुल केवल महा घोर नरक भोगता है, (२६०) और वहाँ पतन होने पर फिर उसका कल्पान्त में भी छुटकारा नहीं होता। कुल नाश से ऐसा अधःपात होता है। (६१) हे देव ! यह बात बहुत कुछ कान से सुनते हैं परन्तु अभी तक त्रास नहीं उपजता। यह हृदय वज्र का है, क्या किया जाय ? देखिए, (६२) जिस बात के लिए राज्य सुख की इच्छा की जाय वह क्षण में नाश होनेवाली है, यह जान कर भी दोष नहीं छोड़े जाते। (६३) हमने इन सब श्रेष्ठ जनों को मारने के लिए अपनी दृष्टि के सामने खड़ा किया है, कहिए तो भला हमारे पास किस बात की कमी है ? (६४)

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

अतएव अतःपर जीते रहने की अपेक्षा यही अच्छा है कि शस्त्रों का त्याग करके इन्हीं के बाण सहें। (६५) फिर चाहे जो हो, मृत्यु भी आ

लगा ही चाहते हैं, युद्ध में इसे क्यों प्रवृत्त होना चाहिए ? (४१) और भी अर्जुन उस समय कहने लगा, हे देव ! सुनिए, इस पाप का महत्त्व मैं आपसे वर्णन करता हूँ। (४२)

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

जैसे लकड़ी पर लकड़ी रगड़ने से ऐसी अग्नि निकलती है कि जो प्रदीप होते ही सब लकड़ी को जला डालती है, (४३) वैसे ही गोत्रजों में यदि परस्पर मत्सर के कारण वध हो तो जो घोर पाप होता है उससे कुल का ही नाश हो जाता है। (४४) इस पाप से कुल का धर्म लुप्त हो जाता है और कुल में अधर्म का संचार ही रहता है। (४५)

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

तब सारासार विवेक कौन करे ? कौन किस बात का आचरण करे ? विधि और निषेध सब नष्ट हो जाते हैं। (४६) जिस प्रकार हाथ का दिया बुझा कर और अँधेरे में चलना हो तो समान भूमि पर भी ठोकर खाना पड़ता है, (४७) वैसे ही कुल का क्षय हो तो सनातन धर्म चला जाता है। फिर पाप के सिवाय क्या रह जाता है ? (४८) यम और नियम बन्द हो जाते हैं, इन्द्रियाँ स्वतन्त्र वर्तने लगती हैं कुल-स्त्रियों में व्यभिचार होने लगता है, (४९) उत्तम अधमों में व्यवहार करने लगते हैं, ब्राह्मण शूद्रादि वर्णान्तर्में मिल जाते हैं और जाति-धर्म का समूल उच्छेद हो जाता है। (२५०) जैसे चौरस्ते पर फेंके हुए बलि पर कौए चारों ओर से झपट्टा मारते हैं वैसे ही कुल में चारों ओर से महापापों का प्रवेश हो हो जाता है। (५१)

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

और फिर सब कुल को और कुल का घात करनेवालों को नरक प्राप्त होता है। (५२) देखिए, जब वंशादि सब इस प्रकार पतित हो जाती है तब पूर्व-पुरुष भी स्वर्ग से नीचे गिरते हैं। (५३) जहाँ नित्य स्नान सन्ध्यादि क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं और नैमित्तिक क्रिया भी लुप्त हो

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच—

स तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन ॥१॥

सञ्जय ने राजा से कहा—सुनिए, पार्थ वहाँ शोक से व्याकुल हो रोने लगा। (१) अपना सब कुल देखकर उसे अपूर्व स्नेह उपजा। उससे उसका चित्त किस प्रकार विपन्न गया ? (२) जैसे लवण को पानी स्पर्श करे अथवा बादल वायु से फट जाय वैसे ही (यद्यपि वह धैर्ययुक्त था तथापि) उसका हृदय विपन्न गया। (३) इसलिए वह कृपा के वश हो गया और ऐसा म्लान दिखाई देने लगा मानों राजहंस कीचड़ में फँसा हो। (४) इस प्रकार उस पाण्डु के पुत्र अर्जुन को महामोह से ग्रस्त देखकर श्रीशार्ङ्गधर श्रीकृष्ण क्या बोले ? (५)

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

उन्होंने कहा—हे अर्जुन! प्रथम यह देखो कि क्या तुम्हें इस स्थान में ऐसा करना उचित है ? तुम हो कौन और यह कर क्या रहे हो ? (६) क्यों तुम्हें क्या हुआ है ? किस बात की कमी पड़ी है ? कौन-सा काम बाकी रह गया है ? किस कारण खेद करते हो ? (७) तुम तो कभी अनुचित बातों को चित्त में नहीं लाते। कभी धीरज नहीं छोड़ते। तुम्हारा नाम सुनते ही अपयश दूर के पार भाग जाता है। (८) तुम शूरता के आश्रय हो। क्षत्रियों के राजा हो। तुम्हारी शूरता के तीनों लोकों में प्रशंसा है। (९) तुमने युद्ध में शंकर को पराजित किया, निवात और कवच का निशान मिटा दिया और मित्र को गन्धर्वों के गान का विषय बना लिया है। (१०) तुम्हारी तुलना में त्रैलोक्य भी छोटा दिखाई देता है। हे पार्थ! तुम्हारा पौरुष इतना निर्मल है। (११) वही तुम आज यहाँ वीरवृत्ति का त्याग कर मुँह नीचा कर रोते हुए बैठे हो! (१२)

जाय तो भी भला, परन्तु यह पाप हम नहीं चाहते। (६६) इस प्रकार अर्जुन ने अपने सब कुल को देखकर यह ठहराया कि राज्य केवल नरक भोग है। (६७)

संजय उवाच—

> एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
> विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि उस समय रणभूमि पर अर्जुन इस प्रकार बोला। (६८) और अत्यन्त उदास हो गया, अनिवार्य शोक से मोहित हो गया और रथ से नीचे कूद पड़ा। (६९) जैसे कोई राजकुमार स्थान-भ्रष्ट होने के कारण सर्वथा मानहीन हो जाता है, अथवा सूर्य राहु से ग्रस्त होने के कारण निस्तेज हो जाता है, (२७०) किंवा महासिद्धि के मोह से पराजित होने के कारण तपस्वी भ्रष्ट हो जाता है और फिर काम उसे वश कर दीन कर देता है, (७१) वैसे ही अर्जुन रथ को त्याग देने पर दुःख से कातर दिखाई देने लगा। (७२) उसने धनुष-बाण छोड़ दिये, उसका धैर्य जाता रहा और उसकी आँखों में आँसू आ गये। संजय ने कहा—हे राजा! सुनिए, यह बात हुई। (७३) अब इस पर वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण अर्जुन को दुःख-युक्त देखकर किस प्रकार परमार्थ का निरूपण करते हैं। (७४) वह सम्पूर्ण कथा आगे कहता हूँ, कुतूहल से सुनिए। (२७५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ।

―――

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच—

> स तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
> विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन ॥१॥

सञ्जय ने राजा से कहा—सुनिए, पार्थ वहाँ शोक से व्याकुल हो रोने लगा। (१) अपना सब कुल देखकर उसे अपूर्व स्नेह उपजा। उससे उसका चित्त किस प्रकार पिघल गया ! (२) जैसे लवण को पानी स्पर्श करे अथवा बादल वायु से फट जाय वैसे ही (यद्यपि वह धैर्ययुक्त था तथापि) उसका हृदय पिघल गया। (३) इसलिए वह कृपा के वश हो गया और ऐसा म्लान दिखाई देने लगा मानों राजहंस कीचड़ में फँसा हो। (४) इस प्रकार उस पाण्डु के पुत्र अर्जुन को महामोह से ग्रस्त देखकर श्रीशार्ङ्गधर श्रीकृष्ण क्या बोले ? (५)

श्रीभगवानुवाच—

> कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
> अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

उन्होंने कहा—हे अर्जुन ! प्रथम यह देखो कि क्या तुम्हें इस स्थान में ऐसा करना उचित है ? तुम हो कौन और यह कर क्या रहे हो ? (६) कहो तुम्हें क्या हुआ है ? किस बात की कमी पड़ी है ? कौन-सा काम बाकी रह गया है ? किस कारण खेद करते हो ? (७) तुम तो कभी अनुचित बातों को चित्त में नहीं लाते। कभी धीरज नहीं छोड़ते। तुम्हारा नाम सुनते ही अपयश दूर के पार भाग जाता है। (८) तुम शूरता के आश्रय हो। क्षत्रियों के राजा हो। तुम्हारी शूरता के तीनों लोकों में प्रतिष्ठा है। (९) तुमने युद्ध में शङ्कर को पराजित किया, निवात कवच का निशान मिटा दिया और निज को गन्धर्वों के गीत का विषय बना लिया है। (१०) तुम्हारी तुलना में त्रैलोक्य भी अल्प दिखाई देता है। हे पार्थ ! तुम्हारा पौरुष इतना निर्मल है। (११) वही तुम आज यहाँ वीरवृत्ति का त्याग कर मुँह नीचा कर रोते हुए बैठे हो ! (१२)

विचार करो कि क्या तुमको—अर्जुन को—करुणा से दीन हो जाना चाहिए ? कहो कभी अन्धकार ने सूर्य का ग्रास किया है ? (१३) अथवा वायु कभी मेघों से डरता है ? अमृत की क्या कभी मृत्यु होती है ? और देखो, क्या ईंधन कभी आग को जला सकता है ? (१४) अथवा से कभी पानी पिघलता है ? किसी पदार्थ के संसर्ग से कभी कालकूट मरा है ? अथवा कहो कभी दादुर ने साँप को डसा है ? (१५) सिंह के साथ गीदड़ लड़ सके—ऐसी बराबरी कभी हुई है ? परन्तु ये बातें आज तुम सच कर बता रहे हो। (१६) इसलिए हे अर्जुन ! अब भी इस अयोग्य बात को चित्त में मत आने दो और जल्दी से मन में धीरज धर सावधान हो जाओ। (१७) यह मूर्खता छोड़ दो। धनुष-बाण लेकर उठो। संग्राम के समय करुणा किस काम का ? (१८) अजी तुम ज्ञानी हो तो विचार क्यों नहीं करते ? कहो, युद्ध के समय क्या सदयता उचित है ? (१९) यह प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश करती है, और इससे परलोक भी हाथ नहीं आता। इस प्रकार जगन्निवास श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा। (२०)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

उन्होंने यह और भी कहा कि हे अर्जुन ! शोक मत करो पूर्ण धीरज धरो और इस खेद का त्याग करो। (२१) तुम्हें यह बात उचित नहीं है। तुमने जो कुछ संपादन किया है। वह भी इससे नष्ट हो जायगा। अब भी तो अपने हित का विचार करो। (२२) इस संग्राम के अवसर पर करुणा उपयोगी नहीं है ये लोग क्या इसी समय तुम्हारे सगे संबंधी हो गये ? (२३) यह बात क्या तुम पहले नहीं जानते थे ? अथवा इन गोत्रियों की तुम्हें पहचान नहीं थी ? नाहक क्यों तूल खींचते हो ? (२४) आज का युद्ध क्या तुम्हारे जन्म भर में नवीन है ? तुममें आपस में युद्ध के लिए निमित्त सदा ही बना रहता है। (२५) फिर इसी समय क्या हो गया ? मैं नहीं जानता कि यह करुणा क्यों उत्पन्न हुई है ? परन्तु हे अर्जुन ! तुम यह बुरा कर रहे हो। (२६) मोह रखने से यह फल होगा कि तुमने जो कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह चली जायगी और ऐहिक के साथ पारलौकिक हित में भी अन्तर पड़ेगा। (२७) हृदय की दुर्बलता भलाई का हेतु नहीं होती। संग्राम के समय यह क्षत्रियों के

लिए अधःपात का हेतु होती है। (२८) इस प्रकार उस कृपावन्त श्रीकृष्ण ने नाना प्रकार से समझाया। उनकी बातें सुनकर पाण्डुसुत अर्जुन कहने लगा (२९)—

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

हे देव! सुनिए, इतना कहने का कारण नहीं है। प्रथम आप ही इस संग्राम का विचार कर देखिए। (३०) यह युद्ध नहीं प्रमाद है। इसमें प्रवृत्त होना पाप दिखाई देता है। यह हमारे हाथ से श्रेष्ठ जनों का खुल्लम खुल्ला उच्छेद हो रहा है। (३१) देखिए, माता-पिता की पूजा करनी चाहिए। सब प्रकार से उन्हें सन्तोष देना चाहिए, तो फिर अपने ही हाथ से उनका वध क्योंकर करना चाहिए? (३२) हे देव! साधुवृन्दों को नमन करना चाहिए, अथवा हो सके तो उनकी पूजा करनी चाहिए। यह छोड़कर स्वयं अपनी वाणी से उनकी निन्दा क्योंकर करनी चाहिए? (३३) और ये तो हमारे कुलगुरु हैं, हमारे लिए नित्य नियम-पूर्वक पूजनीय हैं। भीष्म और द्रोण के मुझ पर अनेक उपकार हैं। (३४) हे देव! जिनसे हमारा मन स्वप्न में भी वैर नहीं रख सकता उनकी मैं प्रत्यक्ष हत्या कैसे कर सकता हूँ? (३५) इसकी अपेक्षा यह जीवन नष्ट हो जाय तो कुछ हानि नहीं। आज इन सबों को ऐसा क्या हो गया है कि हमने जो कुछ शस्त्रविद्या इनसे सीखी है उसकी प्रतिष्ठा इन्हीं के वध से की जाय? (३६) मैं अर्जुन, द्रोण का बनाया हुआ हूँ। उन्होंने मुझे धनुर्वेद सिखाया है। तो उनके उपकार से अनुगृहीत हो क्या उनका वध करूँ? (३७) जिसकी कृपा से वर का लाभ हो उसी से मन में विरोध रखने के लिए क्या मैं भस्मासुर हूँ? (३८)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

हे देव! सुनते हैं कि समुद्र गम्भीर होता है परन्तु वह गम्भीरता ऊपरी ही होती है। पर द्रोण की बात पूछिए तो क्षोभ उसके मन में भी नहीं आता। (३९) यह जो ऊपर विस्तृत आकाश है उसका भी माप हो सकेगा परन्तु द्रोण का हृदय अत्यन्त अगाध और गम्भीर है। (४०)

चाहे अमृत भी बिगड़ जाय, काल के वश हो मन भी फूट जाय परन्तु क्षुब्ध करने का प्रयत्न करने से भी द्रोण की मनोवृत्ति अस्थिर नहीं होती। (४१) स्नेह के विषय में माता अग्रगण्य समझी जाती है परन्तु इस द्रोणाचार्य में मूर्तिमती कृपा भरी है। (४२) यह कारुण्य का मूलस्थान है, समस्त गुणों की खान है, विद्या का अपार सागर है। (४३) इस प्रकार यह श्रेष्ठ है। इसके अलावा हम पर कृपावन्त है। फिर कहिए इसकी हत्या का चिंतन हम कैसे कर सकेंगे? (४४) ऐसे श्रेष्ठ जनों का रण में वध किया जाय और फिर हम सुख से राज्य भोगें, यह बात जन्म भर हमारे मन में न आवेगी। (४५) यह बात इतनी दुर्धर है कि इससे भी बड़े बड़े राज-भोग मिलते हों तो न मिलें, चाहे भीख माँगनी पड़े, (४६) अथवा देशत्याग हो जाय किंवा पर्वतों की गुफाओं में रहना पड़े तो भी भला परन्तु इन लोगों पर शस्त्र चलाना उचित नहीं। (४७) हे देव! नये धार लगाये हुए बाणों से इनके हृदयों में प्रहार कर रक्त में डूबे हुए राज्योपभोग ढूँढे जायें (४८) तो उन्हें प्राप्त करके क्या लाभ होगा? रक्त में लिप्त होने से उनका उपभोग कैसे किया जायगा? अतएव यह युक्ति मुझे नहीं भाती। (४९) इस प्रकार उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा। परन्तु यह बात श्रीकृष्ण के मन को न भाई। (५०) यह जानकर अर्जुन न डरा और फिर कहने लगा—क्या देव मेरे शब्दों की ओर चित्त नहीं देते? (५१)

> न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
> यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
> यानेव हत्वा न जिजीविषाम—
> स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

मेरे जी में था सो मैं स्पष्ट कर कहा चुका। इस पर भला क्या है सो आप जानें। (५२) देखिए जिनसे वैर की बात सुनते ही हमें प्राण छोड़ देना चाहिए वही लोग यहाँ संग्राम के निमित्त खड़े हैं। (५३) अब इनका वध करें, अथवा इन्हें छोड़कर चले जायँ? इन दोनों बातों में भली कौन-सी है मैं नहीं जानता। (५४)

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
> पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कौन-सी बात उचित है सो मुझे विचार करने पर भी जान नहीं पड़ती, क्योंकि मोह से मेरा चित्त व्याकुल हो गया है। (४५) अँधेरा छा जाने से जैसे नेत्रों का तेज चला जाता है और पास रक्खी हुई वस्तु भी दिखाई नहीं देती (४६) वैसे ही, हे देव! मेरा हाल हो गया है, क्योंकि मेरा मन भ्रम से ग्रस्त हो गया है और मैं अपना हित नहीं जान सकता। (४७) इसलिए हे श्रीकृष्ण, आप जो ठीक समझते हों सो बताइए क्योंकि आप हमारे मित्र और हमारे सर्वस्व हैं। (४८) आप ही हमारे गुरु, भ्राता और पिता हैं। आप हमारे इष्ट देवता हैं और आप ही आपत्काल में सदा हमारी रक्षा करनेवाले हैं। (४९) गुरु कभी शिष्य को दूर करना नहीं जानता। समुद्र नदी का त्याग क्योंकर कर सकता है? (५०) अथवा हे कृष्ण! सुनिए, माता बालक को छोड़कर चली जाय तो वह कैसे जी सकता है? (५१) इसी प्रकार, हे देव! हमारे लिए सब तरह से आप ही एक हैं। मैंने जो कुछ कभी कहा वह यदि आपको मान्य न हो (५२) तो हे पुरुषोत्तम, जो उचित हो और हमारे धर्म के विरुद्ध न हो सो हमें बताइए। (५३)

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धम्
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

यह सब कुछ देखकर मेरे मन में जो शोक उत्पन्न हुआ है वह आपके उपदेश के सिवाय किसी बात से न जावेगा। (५४) संपूर्ण पृथ्वी का राज्य भी प्राप्त हो सकेगा अथवा इन्द्र का श्रेष्ठ पद भी मिल सकेगा परन्तु यह मन का मोह न मिटेगा। (५५) जैसे अग्नि में भुना हुआ बीज उत्तम खेत में भी बोया जाय तो, चाहे जितना सींचो, नहीं उगता, (५६) अथवा आयुष्य-पूर्ण हो गया हो तो औषधि कुछ काम नहीं आती और एक भगवन्नामसाधन ही उपयोगी होता है (५७) वैसे ही राज्यभोग-समृद्धि से मेरी बुद्धि उत्तेजित नहीं होती। हे कृपानिधि, आपकी करुणा ही हमारे जीवन का रहस्य है। (५८) अर्जुन जब इस प्रकार बोला

तब एक बार मोह ने उसे छोड़ दिया, परन्तु फिर से उसको लहर ने उसे घेर लिया। (६९) मैं समझता हूँ कि यह केवल लहर नहीं और ही कुछ था। उसे महामोहरूपी कालसर्प ने ग्रस लिया था। (७०) उस सर्प ने ऐसा अवसर देखकर कि अर्जुन के हृदयकमल में करुणा भर गई है, उसके मर्मस्थान में डस लिया, इस कारण उसकी लहरें बंद नहीं होती थीं। (७१) ऐसा कठिन समय जानकर श्रीहरिरूपी बाजीगर जो दृष्टि से ही विष का नाश कर सकते हैं, दौड़कर आ पहुँचे (७२) और उस व्याकुल अर्जुन के पास खड़े हुए और अब अपनी कृपा से सहज ही उसकी रक्षा करनेवाले हैं (७३) यह जान कर मैंने अर्जुन का मोह-रूपी साँप से ग्रस्त होना बयान किया। (७४) उस समय अर्जुन भ्रम से ऐसा आच्छादित हो गया था जैसे मेघ के परदे से सूर्य ढँक जाता है। (७५) वैसे ही अर्जुन दुःख से भी ऐसा जर्जर हो गया था मानों ग्रीष्मकाल में कोई पर्वत दावानल से भुन गया हो। (७६) इसलिए सहज ही जो नीलवर्ण हैं और कृपारूपी अमृत से सजल हैं वे श्रीगोपाल-रूपी महामेघ आ पहुँचे। (७७) उनके सुन्दर दाँतों का तेज मानों बिजुली का चमकना है और गम्भीर वाचा गर्जना की सामग्री है। (७८) अब ये उदार मेघ कैसी वर्षा करेंगे और उससे अर्जुन-रूपी पर्वत कैसा ठण्डा होगा और फिर कैसा ज्ञानरूपी नूतन अंकुर फूटेगा, (७९) सो क्या मन के समाधान के हेतु सुनिए। (८०)

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

तदनन्तर सञ्जय कहने लगे—हे राजा! अर्जुन फिर शोक से व्याकुल हो क्या बोला (८१) सो सुनिए। उसने श्रीकृष्ण से खेदयुक्त होकर कहा कि अब आप मुझसे आग्रहपूर्वक न कहें। मैं निश्चय से इनके साथ सर्वथा युद्ध न करूँगा। (८२) ऐसा एक बार बोला और फिर स्तब्ध हो रहा तब उसे देखकर श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ। (८३)

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

वे अपने मन में कहने लगे कि इसने इस समय क्या आरम्भ किया है। यह कुछ भी नहीं समझता। क्या किया जाय? (८४)

जब यह किस प्रकार समझेगा, कैसे धीरज धरेगा? जैसे मान्त्रिक मार्गों की परीक्षा करता है (८५) अथवा रोग असाध्य देखकर वैद्य अमृत के समान दिव्य और कठिन समय में उपयोग में लाई जाने वाली औषधि की योजना करता है। (८६) वैसे ही श्रीकृष्ण उन दोनों सेनाओं के बीच उस उपाय का विचार करने लगे जिससे अर्जुन मोह को छोड़ दे। (८७) इसी मतलब से वे क्रोधयुक्त हो बोले। परन्तु जैसे माता के कोप में प्रेम भरा रहता है (८८) अथवा औषधि की कड़वाहट में अमृत व्याप्त रहता है और वह ऊपर से नहीं दीखता परन्तु गुणरूप से प्रकट होता है, (८९) वैसे ही श्रीकृष्ण ऊपर से देखने में तो क्रोधयुक्त परन्तु भीतर से अत्यन्त सुरस वचन बोले। (९०)

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

वे अर्जुन से कहने लगे—आज यह जो तुमने बीच ही में मचा रक्खा है उससे हमें आश्चर्य होता है। (९१) तुम ज्ञानी कहलाते हो परन्तु अज्ञान नहीं छोड़ते; और सिखापन देने लगो तो बहुत कुछ नीति की बातें कहते हो। (९२) जन्मान्ध मनुष्य पागल हो जाय तो जैसे इधर-उधर मनमाना दौड़ता है वैसा ही हमें तुम्हारा चातुर्य दिखाई देता है। (९३) हमें बारम्बार यही विस्मय होता है कि तुम निज को तो जानते नहीं परन्तु इन कौरवों का शोक किया चाहते हो। (९४) क्यों हे अर्जुन! इस त्रिभुवन का पालन क्या तुम्हीं से होता है? यह बात क्या झूठ है कि यह विश्व-रचना अनादि है? (९५) जगत् में जो कहावत है कि यहाँ एक ही वस्तु समर्थ है तथा उसी से सब प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं सो क्या मिथ्या है? (९६) तो क्या सच बात ऐसी है कि ये जन्म-मृत्यु तुम्हीं ने बनाये हैं? और ये क्या तुम्हीं से नाश पावेंगे? (९७) तुम भ्रममूलक अहंकार से यदि इन कौरवों का घात चित्त में न लाओगे तो कहो क्या ये चिरंजीव हो जायँगे? (९८) अथवा क्या तुम्हीं एक मारनेवाले हो और यह सब जग मरनेवाला है? इस प्रकार का भ्रम कभी चित्त में मत आने दो। (९९) यह सब जगत् अनादि काल से सिद्ध है। उत्पन्न होना और नष्ट होना उसका स्वभाव ही है। फिर कहो शोक क्यों करना

चाहिए ? (१००) परन्तु मूर्खता के कारण तुम यह नहीं समझते। जो चिन्ता न करनी चाहिए सो करते हो और तुम्हीं हमें नीति बताते हो। (१) देखो, जो विवेकी होते हैं वे उत्पत्ति और नाश दोनों बातों का शोक नहीं करते। कारण—यह भ्रान्ति है। (२)

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

हे अर्जुन ! सुनो। इस संसार में हम, तुम और ये सब राजा-गण इत्यादि (३) सदा ऐसे ही रहेंगे अथवा निश्चय से नाश को प्राप्त होवेंगे ये दोनों ही बातें ठीक नहीं। उत्पत्ति अथवा नाश जो दिखाई देता है सो माया के कारण से। वास्तव में जो परब्रह्म है वह अविनाशी ही है। (४-५) जैसे वायु से जब पानी हिलता और तरङ्गाकार होता है तब कहाँ और किसकी उत्पत्ति होती है ? (६) और जब वायु का स्फुरण बन्द हो जाता है और पानी आप ही स्थिर हो जाता है तब किस वस्तु का लय हो जाता है, विचारो तो सही। (७)

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

सुनो शरीर एक है परन्तु अवस्था-भेद से अनेक मालूम होता है। यह प्रमाण प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। (८) अथवा जैसे प्रथम बाल्यावस्था दिखाई देती है, और फिर तारुण्य के समय उसका नाश हो जाता है, परन्तु हर एक अवस्था के साथ देह का नाश नहीं होता (९) वैसे ही चैतन्य के ये शरीर बदलते जाते हैं। यह बात जो जानता है उसे भ्रान्ति का दुःख नहीं हो सकता। (११०)

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

इस विषय में अज्ञान का कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के अधीन होता है। इन्द्रियाँ अन्तःकरण को आकर्षित करती हैं इस कारण उसे भ्रम होता है। (११) इन्द्रियाँ विषय का सेवन करती हैं इस कारण सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। इन विषयों के सङ्ग द्वारा वे चित्त को मोह में डुबाती हैं। (१२) विषयों में कभी स्थिरता नहीं

रहती, इससे उनमें कभी दुःख और कभी सुख दिखाई देता है। (१३) देखो, निन्दा और स्तुति में शब्द-विषय व्याप्त है। उससे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा द्वेषाद्वेष उत्पन्न होते हैं। (१४) मृदुता और कठिनता दोनों गुण स्पर्शविषयक हैं। ये त्वगिन्द्रिय के संग से सन्तोष और खेद के हेतु होते हैं। (१५) वैसे ही भयानक और सुन्दर रूप के विषय हैं। ये नेत्रों के द्वारा सुख-दुःख उपजाते हैं। (१६) सुगन्ध और दुर्गन्ध गन्धविषय का भेद है। यह घ्राणेन्द्रिय के संग से सन्तोष और दुःख उत्पन्न करता है। (१७) वैसे ही रस विषय दो प्रकार का है, और सुख और दुःख उत्पन्न करता है। अतएव विषयों का संग च्युति का कारण है। (१८) देखो, इन्द्रियों के अधीन होने से सरदी और गरमी लगती है और मनुष्य सुख-दुःख के अधीन हो जाता है। (१९) इन्द्रियों का स्वभाव ही है कि उन्हें विषयों के सिवाय कभी कुछ भी रम्य नहीं जान पड़ता। (१२०) और ये विषय कैसे हैं? जैसे रोहिणी का जल अथवा स्वप्न में दिखाई दिया हुआ हाथी। (२१) वे इस प्रकार अनित्य हैं, इसलिए हे धनुर्धर! उनका त्याग करो और कभी उनका संग न करो। (२२)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

ये विषय जिन्हें वश नहीं करते उन्हें सुख-दुःख नहीं होता तथा उन्हें गर्भवास का संग नहीं प्राप्त होता। (२३) हे पार्थ! जो इन इन्द्रियों के हाथ नहीं लगता वह सब या नित्यरूप समझो। (२४)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

हे अर्जुन! अब सुनो, मैं और एक बात सुनाता हूँ, जो विचारवान् लोग जानते हैं। (२५) इस जगद्रूप उपाधि में सर्वव्यापी चैतन्य गुप्त है। तत्त्वज्ञानी सदा उसी का स्वीकार करते हैं। (२६) पानी और दूध जैसे एक ही में मिला रहता है पर राजहंस उसे अलग कर देता है, (२७) अथवा जैसे बुद्धिमान् लोग सोने को आग में तपाकर हीन सोने से शुद्ध सोना अलग कर लेते हैं, (२८) अथवा चतुराई से दही का मन्थन करने से निदान में जैसे नवनीत हाथ लगता है, (२९) अथवा भूसे सहित बीज की पछोरनी करने से जैसे घनीभूत धान्य

रह जाता और भूसी उड़ जाती है, (१३०) वैसे ही विचार करने से ज्ञानियों की दृष्टि में प्रपञ्च असत्य हो सहज ही छूट जाता और केवल तत्त्व ही रह जाता है। (३१) इसलिए अनित्य वस्तु में उनकी सत्यबुद्धि नहीं रहती। उन्हें सत् और असत् दोनों का निर्णय ज्ञात रहता है। (३२)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

सार और असार का विचार कर देखो तो असारता भ्रम है और सार सहज ही नित्य है। (३३) जिससे इस त्रैलोक्य का विस्तार हुआ है उसके नाम, रूप, आकार, चिह्न कुछ भी नहीं है। (३४) जो सब दा सर्वव्यापी है, जन्म-मरण से रहित है, उसका नाश करने जाय तो कदापि नहीं हो सकता। (३५)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

और यह जो सब शरीर मात्र है वह स्वभावतः नाशवन्त है। इसलिए, हे पाण्डुकुँवर ! युद्ध करो। (३६)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

तुम देहाभिमान रखकर और शरीर की ओर दृष्टि देकर कहते हो कि मैं मारक और ये मरनेवाले हैं। (३७) परन्तु हे अर्जुन। तुमने तत्त्व नहीं जाना। यदि यथार्थतः विचारोगे तो तुम वध करनेवाले नहीं और ये वध्य भी नहीं हैं। (३८)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जैसे जो कुछ स्वप्न में दिखाई देता है वह स्वप्न में ही सत्य होता है, जागने पर देखो तो कुछ भी नहीं रहता, (३९) वैसे ही इस माया

कोमानो। तुम्हें व्यर्थ भ्रम हो रहा है। जैसे परछाईं पर शस्त्र से किया हुआ घाव देह को नहीं लगता, (१४०) अथवा जैसे भरे हुए घड़े का पानी उंडेलने से उसमें दिखाई देनेहारा सूर्य का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है परन्तु उसके साथ सूर्य का नाश नहीं होता, (४१) अथवा मठ के भीतर का आकाश मठ के ही आकार का हो जाता है परन्तु वही मठ के नाश होते ही जैसे आप ही आप अपने निजी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, (४२) वैसे ही शरीर का नाश होने से आत्मस्वरूप का नाश सर्वथा नहीं हो सकता। इसलिए अपने ऊपर भ्रान्ति का आरोपण मत करो। (४३)

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे कोई अपना जीर्ण वस्त्र छोड़ दे और नया पहने वैसे ही आत्मा एक छोड़ दूसरे शरीर का स्वीकार करता है। (४४)

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह आत्मा उत्पत्ति-रहित और नित्य है, उपाधि-रहित और अत्यन्त शुद्ध है। इसलिए शस्त्रादि से उसका छेदन नहीं हो सकता; (४५) प्रलय के जल में यह डूब नहीं सकता अग्नि से जल नहीं सकता और वायु की महाशोषण-शक्ति भी इसके विषय समर्थ नहीं होती। (४६) हे अर्जुन! यह तीनों कालों में अबाध्य है, अचल है, शाश्वत है, सतत है और सदा परिपूर्ण है। (४७)

> अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
> तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

कभी समुद्र में न समाते पीछे नहीं हटता, (७५) वैसे ही—जिसके स्वरूप से मिलते ही योगीश्वरों की बुद्धि तद्रूप हो जाती है तथा जिसका विचार करने से वे कभी पुनर्जन्म नहीं पाते, (७६)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

जो सर्वत्र सब देहों में है; जिसका घात करना चाहो तो भी नहीं हो सकता उस जगद्रूप केवल चैतन्य की ओर ध्यान दो। (७७) सब घटनायें उसी के स्वभाव से होती हैं। फिर कहो क्या तुम्हें शोक करना उचित है? (७८) हे पार्थ! न जाने क्यों तुम्हारे चित्त में यह बात नहीं जमती? हमें तो हर तरह से सोचते तुम्हारा शोक करना गौण दिखाई देता है। (७९)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तुम अब भी क्यों नहीं विचारते? यह क्या चिन्तन कर रहे हो? मनुष्य का जो तारक है उस स्वधर्म को क्या तुम भूल गये? (१८०) यदि इन कौरवों का नाश हो जाय अथवा तुम्हीं का कुछ हो जाय अथवा इस युग का भी अन्त हो जाय (८१) तथापि एक स्वधर्म अवश्य बच रहेगा। वह कभी त्याज्य नहीं हो सकता। उसका त्याग करने से तुम्हें जो दया उत्पन्न हुई है उससे क्या तुम तर सकोगे? (८२) हे अर्जुन, तुम्हारे चित्त में यद्यपि दया उत्पन्न हुई है तथापि युद्ध के समय वह अनुचित है। (८३) अजी, गौ का दूध हो तथापि पथ्य नहीं समझा जाता। और यदि वह नवज्वर में दिया जाय तो विष के बराबर है। (८४) वैसे ही दूसरे का कर्म करने से स्वहित का नाश होता है। इसलिए सावधान रहो। (८५) वृथा क्यों व्याकुल होते हो? स्वधर्म की ओर देखो जिसका आचरण करने से किसी काल में भी दोष नहीं लगता। (८६) जैसे रास्ते से चलने में कभी अपाय नहीं होता, अथवा दीपक के आधार से चलने से ठोकर नहीं पड़ता (८७) उसी प्रकार हे पार्थ! स्वधर्म का आचरण करने से सहज ही सब कामनाओं की पूर्ति होती है। (८८) इसलिए देखो तुम क्षत्रियों को संग्राम के सिवाय और कुछ भी उचित नहीं है, (८९) निष्कपट होकर,

आमने-सामने खड़े हो, एक दूसरे पर प्रहार कर युद्ध करना ही तुम्हें उचित है। प्रत्यक्ष बात अधिक विस्तार कर क्या बताई जाय ? (१६०)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! यह युद्ध नहीं तुम्हारा भाग्य ही सामने खड़ा है, अथवा सकल धर्म का निधान ही प्रकट हुआ है। (६१) अजी, यह क्या युद्ध कहा जाय कि इस रूप से मूर्तिमान् स्वर्ग ही तुम्हारे प्रताप से प्रकट हुआ है ? (६२) अथवा तुम्हारे गुणों की प्रतीति से साभिलाष हो कीर्ति ही तुमसे स्वयंवर करने के लिए आई है ? (६३) क्षत्रियों ने बहुत पुण्य किया हो तब कहीं ऐसे संग्राम का लाभ होता है। जैसे मार्ग में चलते-चलते अकस्मात् चिन्तामणि मिल जाय (६४) अथवा जमुहाई लेते समय मुँह खोलते ही अकस्मात् अमृत आ पड़े वैसे ही तुम्हें यह संग्राम प्राप्त हुआ है। (६५)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अब यदि इसका त्याग करो और अनहोनी बात का शोक करते बैठो तो स्वयं अपनी ही हानि करनेवाले होंगे। (६६) यदि आज इस रण में शस्त्र का त्याग करोगे तो यह कहा जावेगा कि पूर्वजों का सम्पादन किया हुआ यश तुम्हीं ने खो दिया, (६७) एवं प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश होगा, जगत् निन्दा करेगा और महापाप तुम्हारी खोज करते चले आवेंगे। (६८) जैसे पतिविहीन स्त्री सर्वदा अपमान पाती है वैसी ही दशा स्वधर्म बिना इस जीवित की हो जाती है। (६९) अथवा रण में जो शव छोड़ दिया जाता है उसे जैसे चहुँ ओर से गीदड़ नोच खाते हैं, वैसे ही स्वधर्महीन मनुष्य को महापाप वश में कर लेते हैं। (१००)

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

इसलिए यदि स्वधर्म का त्याग करोगे तो पाप को प्राप्त होगे और अपकीर्ति कल्पान्त तक भी न मिटेगी। (१) ज्ञानी मनुष्य को तभी तक जीना चाहिए जब तक अपयश नहीं लग पाता। तो फिर कहो यहाँ से

हे किरीट! यह तर्कशास्त्र की दृष्टि से दिखाई नहीं देता, योगियों के ध्यान को इसकी भेंट की उत्कण्ठा लगी रहती है, (४८) मन को यह सदा दुर्लभ है, यह साधनों से यह प्राप्त नहीं होता। हे अर्जुन! यह पुरुषों में श्रेष्ठ तथा अपरंपार है। (४६) यह गुणत्रय विरहित है, अनादि है, विकार-रहित है अवस्था से परे है। परन्तु सब पदार्थमात्र इसी का रूप है। (१५०) हे अर्जुन! इसे इस प्रकार जान लो। यह समझ लो कि सर्वत्र यही आत्मा है। फिर तुम्हारा सब शोक सहज ही चला जायगा। (५१)

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा यदि यह न मानो, यदि जगत् को नाशवन्त मानो तथापि हे अर्जुन, शोक करना उचित नहीं है। (५२) क्योंकि जैसे गङ्गा के जल का प्रवाह अखण्ड है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और क्षय सर्वदा है। (५३) जैसे गङ्गाजल उद्गम में अखण्डित है समुद्र से भी सदा मिला हुआ बना है और बीच में भी प्रवाह में बहता हुआ दिखाई देता है, (५४) वैसे ही प्राणिमात्र में ये तीनों अवस्थायें सर्वदा एक के अनन्तर एक आती ही रहती हैं, कभी रुकती नहीं। (५५) इसलिए इस सब जगत् के विषय तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अनादि काल से सृष्टिक्रम स्वभावतः ऐसा ही चला आता है। (५६) अथवा हे अर्जुन! संसार को जन्म-मृत्यु के अधीन देखकर यदि तुम यह बात न मानो (५७) तो भी तुम्हें शोक करने का कारण नहीं है, क्योंकि जन्म और मृत्यु कभी टल नहीं सकते। (५८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जो उपजता है वह नष्ट होता है, और जो नष्ट हुआ है सो फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह संसार घटिकायन्त्र के समान चक्कर खा रहा है। (५९) अथवा सूर्योदय और सूर्यास्त जैसे आप ही आप निरन्तर होते रहते हैं वैसे ही जन्म-मरण भी संसार में अनिवार्य हैं। (६०) महाप्रलय के समय त्रैलोक्य का भी नाश हो जाता है परन्तु उससे कुछ आदि अन्त का नाश नहीं होता। (६१) यदि तुम यह बात मानते हो तो खेद क्यों करते हो? हे धनुर्धर! क्या जान-बूझ कर

अज्ञानी बनते हो ? (६२) हे अर्जुन ! एक बात और है। अनेक प्रकार से विचार करने पर तुम्हें ज्ञात होगा कि दुःख करने के लिए तो गुञ्जाइश ही नहीं है। (६३)

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

ये जो सब प्राणी हैं सो उत्पत्ति के पूर्व निराकार रहते हैं और फिर जन्म लेने पर आकार को प्राप्त होते हैं। (६४) उनका जब नाश हो जाता है तब निश्चय से वे कुछ दूसरे नहीं बन जाते प्रत्युत अपनी पूर्व-स्थिति को ही प्राप्त होते हैं। (६५) यह जो बीच की स्थिति दिखाई देती है सो किसी निद्रित मनुष्य के स्वप्न के समान है। यह सब आकार ब्रह्मस्वरूप पर माया के कारण दिखाई देता है। अथवा वायु का स्पर्श होने से जल जैसे तरंग रूप से दिखाई देता है, अथवा सुवर्ण जैसे दूसरे के इच्छानुसार अलङ्कार-रूप से प्रकट होता है, (६७) वैसे ही यह सब संसार माया से हुआ जानो। आकाश में दिखाई देनेवाले अभ्रपटल के समान (६८) जिसका मूल ही नहीं है उसके लिए तुम क्यों शोक करते हो ? उस एक चैतन्य की ओर ध्यान दो जो अक्षय है, (६९) जिसकी अभिलाषा करने से सन्त विषयों से छूट जाते हैं जिसके लिये वे विरक्त और वनवासी बन जाते हैं (१७०) और जिसकी ओर दृष्टि देकर मुनीश्वर ब्रह्मचर्यादि व्रत और तप किया करते हैं, (७१)

आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

जिस अंतःकरण निश्चल कर निहारने से कोई संसार की सब खटपट भूल जाते हैं, (७२) जिसके गुणानुवाद गाते-गाते किसी को चित्त में उपरति उत्पन्न होकर निरन्तर निस्सीम निमग्नता प्राप्त हो जाती है, (७३) जिसका श्रवण करते करते कोई शान्ति प्राप्त कर लेते हैं और देहाभिमान से छूट जाते हैं जिसके अनुभव के बल कोई तद्रूप हो जाते हैं, (७४)—जैसे नदी का समग्र प्रवाह समुद्र में मिलता है तथा

कभी समुद्र में न समाते पीछे नहीं हटता, (७५) वैसे ही—जिसके स्वरूप से मिलते ही योगीश्वरों की बुद्धि तद्रूप हो जाती है तथा जिसका विचार करने से वे कभी पुनर्जन्म नहीं पाते, (७६)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

जो सर्वत्र सब देहों में है; जिसका घात करना चाहो तो भी नहीं हो सकता उस जगद्रूप केवल चैतन्य की ओर ध्यान दो। (७७) सब घटनाएँ उसी के स्वभाव से होती हैं। फिर कहो क्या तुम्हें शोक करना उचित है? (७८) हे पार्थ! न जाने क्यों तुम्हारे चित्त में यह बात नहीं जमती? हमें तो हर तरह से सोचते तुम्हारा शोक करना अयोग्य दिखाई देता है। (७९)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तुम अब भी क्यों नहीं विचारते? यह क्या चिंतन कर रहे हो? मनुष्य का जो तारक है उस स्वधर्म को क्या तुम भूल गये? (१८०) यदि इन कौरवों का नाश हो जाय, अथवा तुम्हीं को कुछ हो जाय अथवा इस युग का भी अन्त हो जाय (८१) तथापि एक स्वधर्म अवश्य पाय रहेगा। वह कभी त्याज्य नहीं हो सकता। उसका त्याग करने से तुम्हें जो दया उत्पन्न हुई है उससे क्या तुम तर सकोगे? (८२) हे अर्जुन, तुम्हारे चित्त में यद्यपि दया उत्पन्न हुई है तथापि युद्ध के समय वह अनुचित है। (८३) अजी, गौ का दूध हो तथापि पथ्य नहीं समझा जाता। और यदि वह नवज्वर में दिया जाय तो विष के बराबर है। (८४) वैसे ही दूसरे का कर्म करने से स्वहित का नाश होता है। इसलिए सावधान रहो। (८५) वृथा क्यों व्याकुल होते हो? स्वधर्म की ओर देखो जिसका आचरण करने से किसी काल में भी दोष नहीं लगता। (८६) जैसे रास्ते से चलने में कभी अपाय नहीं होता, अथवा दीपक के आधार से चलने से ठोकर नहीं पड़ता, (८७) वैसे प्रकार हे पार्थ! स्वधर्म का आचरण करने से सहज ही सब कामनाओं की पूर्ति होती है। (८८) इसलिए देखो, तुम क्षत्रियों को संग्राम के सिवाय और कुछ भी उचित नहीं है, (८९) निष्कपट होकर,

सामने-सामने खड़े हो, एक दूसरे पर प्रहार कर युद्ध करना ही तुम्हें उचित है। अस्तु बात अधिक विस्तार कर क्या बताई जाय ? (१९०)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! यह युद्ध नहीं तुम्हारा भाग्य ही सामने खड़ा है, अथवा सकल धर्म का निधान ही प्रकट हुआ है। (९१) अजी, यह क्या युद्ध कहा जाय कि इस रूप से मूर्तिमान स्वर्ग ही तुम्हारे प्रताप से प्रकट हुआ है ? (९२) अथवा तुम्हारे गुणों की प्रतीति से साभिलाष हो कीर्ति ही तुमसे स्वयंवर करने के लिए आई है ? (९३) क्षत्रियों ने बहुत पुण्य किया हो तब कहीं ऐसे संग्राम का लाभ होता है। जैसे मार्ग में चलते-चलते अकस्मात् चिन्तामणि मिल जाय (९४) अथवा जमुहाई लेते समय मुँह खोलते ही अकस्मात् अमृत आ पड़े वैसे ही तुम्हें यह संग्राम प्राप्त हुआ है। (९५)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अब यदि इसका त्याग करो और अनहोनी बात का शोक करते बैठो तो स्वयं अपनी ही हानि करनेवाले होंगे। (९६) यदि आज इस रण में शस्त्र का त्याग करोगे तो यह कहा जायेगा कि पूर्वजों का सम्पादन किया हुआ यश तुम्हीं ने खो दिया, (९७) एवं प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश होगा, जगत् निन्दा करेगा और महापाप तुम्हारी खोज करते चले आयेंगे। (९८) जैसे पतिविहीन स्त्री सर्वत्र अपमान पाती है वैसी ही दशा स्वधर्म बिना इस जीवित की हो जाती है। (९९) अथवा रण में जो शव छोड़ दिया जाता है उसे जैसे चहुँ ओर से गीदड़ नोच डालते हैं, वैसे ही स्वधर्महीन मनुष्य को महापाप वश में कर लेते हैं। (२००)

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

इसलिए यदि स्वधर्म का त्याग करोगे तो पाप को प्राप्त होगे और अपकीर्ति कल्पान्त तक भी न मिटेगी। (१) ज्ञानी मनुष्य को तभी तक जीना चाहिए जब तक अपयश नहीं लग पाता। सो फिर कहो यहाँ से

क्यों हटना चाहिए ? (१) तुम तो मत्सररहित हो—सदय अन्तःकरण से पीछे फिरोगे, परन्तु तुम्हारा इस प्रकार जाना इन सबों के मन में न आयेगा। (२) ये चारों ओर से तुम्हें घेर लेंगे, तुम पर बाण पर बाण छा देंगे। तब हे पार्थ सदयता से तुम्हारा छुटकारा न होगा। (४) इस पर भी यदि इस प्राण-संकट से बड़े कष्ट से छुटकारा हो जाय, तथापि इस प्रकार जीना मरण से भी बुरा है। (५)

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

तुम एक बात और नहीं विचारते। तुम यहाँ युद्ध की तैयारी से आये हो और यदि दयालुता से पीछे फिरोगे (६) तो हे अर्जुन! कहो क्या तुम्हारी इस दयालुता को ये दुर्जन वैरी पहिचानेंगे ? (७)

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

ये तो कहेंगे 'गया भी गया अर्जुन हमसे डर कर भाग गया।' कहो भला यह ऐसा दोष लगना क्या भली बात है ? (८) हे धनुर्धर! लोग बहुत कष्ट करके और अपने प्राण भी अर्पण करके कीर्ति बढ़ाने की चेष्टा करते हैं (९) वह कीर्ति तुम्हें अनायास ही प्राप्त हुई है। यह आकाश जैसा अनुपम है (२१०) वैसी ही तुम्हारी कीर्ति निःसीम और अनुपम है। तुम्हारे उत्तम गुण तीनों लोकों में (११) नाना देशों के राजगण्य भाट हो बखान करते हैं जिन्हें सुनकर यम इत्यादि भी डर उठते हैं। (१२) देखो, तुम्हारी महिमा ऐसी घनी तथा गङ्गा जैसी निर्मल है कि उसे देखकर सब जगत् के महायोद्धा स्तब्ध हो गये हैं। (१३) ऐसी तुम्हारी अद्भुत शूरता की महिमा सुनकर ये सब कौरव अपने प्राणों पर उदार हुए हैं। (१४) जैसे सिंह की गर्जना उन्मत्त हाथी को प्रलय-सी मालूम होती है वैसे ही इन कौरवों को तुम्हारा डर लग रहा है। (१५) हे अर्जुन! पर्वत जैसे वज्र को अथवा सर्प जन गरुड़ को वैसे ही सब ये कौरव तुम्हें मानते हैं। (१६) यदि तु[illegible]कर पीछे फिरोगे तो यह श्रेष्ठता चली जायगी और हीनता [illegible] (१७) और ये लोग तुम्हें भागते भागने न देंगे, पकड़ [illegible] करेंगे और तुम्हारे मुँह पर अगणित कुवाच्य बोलेंगे।

(१८) फिर उस समय हृदय को विदीर्ण होने देने की अपेक्षा अभी शौर्य से युद्ध क्यों न करना चाहिए ? इसमें जीत हो तो पृथ्वी का राज्य प्राप्त होगा, (१९)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अथवा यहाँ लड़ते लड़ते जीवन समाप्त हो जाय तो अनायास स्वर्ग का सुख प्राप्त होगा। (२२०) इसलिए हे किरीटी ! इस विषय में कुछ आगे-पीछे न देखो। अब धनुष लेकर उठो और जल्दी से युद्ध करो। (२१) देखो, स्वधर्माचरण करने से पूर्वकृत पाप का नाश हो जाता है। तुम्हारे चित्त में पाप के विषय में क्या भ्रम उत्पन्न हुआ है ? (२२) नौका के सहाय से कभी मनुष्य डूबता है ? अथवा सीधे मार्ग से जाने से कभी ठिठकता है ? परन्तु कदाचित् उसे चलना ही न आता हो तो ऐसा भी संभव हो सकता है, (२४) तथा विष मिलाकर पिया जाय तो दूध से भी मृत्यु हो सकती है। वैसे ही फल की आशा के कारण स्वधर्म से भी दोष प्राप्त होता है। (२४) इसलिए हे पार्थ, फल की आशा को छोड़ क्षत्रियधर्मानुसार युद्ध करने से कभी पाप नहीं होता। (२५)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख के समय सन्तोष न मानना चाहिए तथा दुःख के समय खेद भी न मानना चाहिए, और लाभ और हानि मन में न लानी चाहिए। (२६) युद्ध में विजय होगी अथवा देह का नाश होगा इन आगामी बातों की पहले से ही चिन्ता न करनी चाहिए। (२७) हमें जो उचित है उस स्वधर्म से व्यवहार करते समय जो कुछ फल हो सो शान्ति से सह लेना चाहिए। (२८) मन इतना दृढ़ हो जाय तो सहज ही पाप न लगेगा। इसलिए अब भ्रम छोड़ युद्ध करो। (२९)

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अभी तक मैंने तुम्हें संक्षिप्त रीति से अपरोक्ष ज्ञानयोग बतलाया। अब बुद्धियोग बतलाता हूँ सो सुनो। (२३०) जिस मनुष्य को बुद्धि

योग प्राप्त हो जाय उसे कर्मबन्ध की पीड़ा कभी नहीं होती। (३१) जैसे वज्रकवच पहनने से शस्त्रों की वर्षा सहकर मनुष्य विजय प्राप्त कर अबाधित रहता है, (३२)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

वैसे ही बुद्धियोग से उसके ऐहिक सुख का नाश न होते मोक्ष भी हाथ लगता है। इस बुद्धियोग से पूर्व में किया हुआ कर्म निर्मल हुआ देख पड़ता है (३३) कर्म के आधार से मनुष्य व्यवहार करता है परन्तु कर्म के फल की ओर दृष्टि नहीं देता। जैसे मन्त्रज्ञ को भूतबाधा नहीं होती (३४) वैसे ही जिन्हें सुबुद्धि की पूर्ण प्राप्ति हो गई है उन्हें यह सर्वदा रहनेवाली उपाधि बद्ध नहीं कर सकती। (३५) जिस बुद्धि में पुण्य और पाप का सञ्चार नहीं होता, जो अत्यन्त सूक्ष्म और निश्चल रहती है, और जिसे त्रिगुणों का लेप नहीं लग सकता (३६) वह बुद्धि हे अर्जुन! पूर्वपुण्य से यदि अल्प भी हृदय में प्रकाशित होती तब संसाररूपी पाप का भय से नाश कर देती है। (३७)

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

जैसे दीपक की ज्योति छोटी-सी रहती है परन्तु अत्यन्त प्रकाश प्रकट करती है उसी प्रकार इस सद्बुद्धि को अल्प मत समझो। (३८) हे पार्थ! विचारवान् मनुष्यों को सब प्रकार से इस सद्बुद्धि की अपेक्षा करनी चाहिए। क्योंकि सद्वासना चराचर में दुर्लभ है। (३९) जैसे अन्य पत्थरों के समान पारस बहुतेरा नहीं मिलता, अथवा अमृतबिन्दु कभी दैवयोग से ही प्राप्त होता है, (२४०) वैसे ही परमात्मा में जिसका पर्यवसान होता है वह सद्बुद्धि दुर्लभ है। गंगा को सर्वदा जैसे समुद्र (४१) वैसे जिसे ईश्वर के सिवाय और कुछ प्राप्तव्य नहीं है ऐसी हे अर्जुन! संसार में एक ही बुद्धि है। (४२) दूसरी जो बुद्धि है, जिससे विकार उत्पन्न होते हैं वह दुर्बुद्धि है। उसमें निरन्तर अविचारी लोग रमण करते हैं। (४३) इसलिए हे पार्थ! उन्हें स्वर्ग, संसार, अथवा नरक यही गति प्राप्त होती है, परन्तु आत्म-सुख कभी दिखाई नहीं देता। (४४)

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

वे वेद के आधार से बोलते हैं, केवल कर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं, परन्तु कर्म के फल से प्रीति रखते हैं (४५) वे कहते हैं कि संसार में जन्म लेना चाहिए, यज्ञादिक कर्म करना चाहिए, और मनोहर स्वर्ग का सुख भोगना चाहिए। (४६) हे अर्जुन ! इन दुर्बुद्धियों का ऐसा मत है कि संसार में इसके सिवाय और कुछ सुख नहीं है। (४७)

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

देखो, वे काम के अधीन होकर तथा केवल भोग की ओर चित्त दे कर्म करते हैं। (४८) वे अनेक प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं, विधि को नहीं टालते और निपुणता से धर्म का आचरण करते हैं; (४९)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

परन्तु वे यही एक बुरा करते हैं कि मन में स्वर्ग की कामना रखते हैं और यज्ञ का भोक्ता जो ईश्वर है उसे भूल जाते हैं। (२५०) जैसे कपूर का ढेर लगाया जाय और फिर उसमें आग लगा दी जाय, अथवा मिष्टान्न बनाकर जैसे उसमें कालकूट विष मिला दिया जाय, (५१) दैवयोग से मिला हुआ अमृत का घड़ा जैसे लात से ढकेल दिया जाय; वैसे ही ये लोग हाथ लगे हुए धर्म का, फल की आशा से नाश कर डालते हैं। (५२) श्रम करके यदि पुण्य-सम्पादन करते हैं तो फिर संसार की चाह क्यों चाहिए ? परन्तु क्या किया जाय यह बात इन अज्ञानियों लोगों की समझ में ही नहीं आती। (५३) रॉंधने वाली जैसे पराम रसोई बनाकर मोल से बेचे वैसे ही ये अविवेकी लोग धर्म को खो देते हैं, (५४) इस हे पार्थ ! देखो वेद के अर्थवाद में निमग्न हुए लोगों के मन सब दा दुर्बुद्धि ही रहती है। (५५)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यह निश्चय जानो कि वेद तीनों गुणों से वेष्टित हैं। उपनिषदादि सात्त्विक हैं, (४६) और हे धनुर्धर दूसरे भाग जिनमें कर्मादिकों का वर्णन किया गया है और जो केवल स्वर्ग की सूचना करते हैं, सो रज-तमात्मक हैं। (४७) इसलिए वेद सुख-दुःख के ही हेतु हैं। इनमें अपना अन्तःकरण मत लगने दो। (४८) तीनों गुणों का त्याग करो, अहङ्कार और ममता छोड़ दो और एक अन्तर्यामी आत्मसुख को मत भूलो। (४६)

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

यद्यपि वेदों ने बहुत कुछ कहा हो, अनेक भेदों की सूचना की हो, तथापि हमको वही लेना चाहिए जो अपना हित हो। (२६०) सूर्य का उदय होते ही सभी रास्ते साफ़ दिखाई देने लगते हैं, परन्तु कहो भला, मनुष्य क्या एकदम उन सभी रास्तों से चलता है? (६१) अथवा, यद्यपि सारा का सारा पृथ्वीतल जलमय हो जाय तथापि जैसे उसमें से मनुष्य अपने इच्छानुसार ही ग्रहण करता है, (६२) वैसे ही जो ज्ञानी होते हैं वे वेदार्थ का विचार करते हैं और उस इष्ट वस्तु का स्वीकार करते हैं जो शाश्वत है। (६३)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

इसलिए हे पार्थ! इसी प्रकार तुम्हें भी स्वकर्म करना उचित है। (६४) खूब विचार कर देखने पर हमारे ध्यान में यही आता है कि तुम्हें अपना कर्तव्य-कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। (६५) परन्तु कर्म के फल की आशा नहीं रखनी चाहिए और निषिद्ध कर्म की ओर प्रवृत्त न होना चाहिए। किन्तु हेतु-रहित हो सत्कर्म का आचरण करना चाहिए। (६६)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योगयुक्त होकर फल का संग छोड़ दो और फिर मन लगाकर कर्म करो। (६७) परन्तु यदि आरम्भ किया हुआ कर्म दुर्दैव से

सिद्ध हो जाय तो उसके विषय अधिक सन्तोष भी मत मानो, (६८) अथवा यदि किसी कारण से वह कर्म सिद्ध न होते हुए रह जाय तो असन्तोष से क्षुब्ध भी मत हो। (६९) कर्म करते करते यदि सिद्ध हो जाय तो निःसन्देह भला ही हुआ, परन्तु न भी सिद्ध हो तो सफल ही हुआ-सा समझो। (२७०) जितना कुछ कर्म उत्पन्न होता है उतना सब ईश्वर को समर्पण किया जाय तो सहज ही परिपूर्ण हुआ-सा समझना चाहिए। (७१) ऐसी जो भले-बुरे कर्म के विषय मनोधर्म की समानता होती है उसी योगस्थिति की श्रेष्ठ जन प्रशंसा करते हैं। (७२)

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

हे अर्जुन! जहाँ मन और बुद्धि की एकता होती है, और जहाँ चित्त की समता रहती है, वहीं योग का सार है। (७३) हे पार्थ! इस बुद्धि-योग का अनेक रीति से विचार करने से कर्मयोग की योग्यता कम दिखाई देती है। (७४) परन्तु कर्म का आचरण किया जाय तभी यह योग सिद्ध होता है क्योंकि कर्मोत्तर स्थिति ही स्वभावतः योग की स्थिति है। (७५) इसलिए हे अर्जुन! श्रेष्ठ बुद्धि-योग में स्थिर रहो और मन से फल की आशा का तिरस्कार करो। (७६) जो बुद्धि-योग में युक्त हुए हैं वे ही संसार के पार गये हैं और वे ही संसार और स्वर्ग-सम्बन्धी पाप-पुण्यों से छूटे हैं। (७७)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

वे कर्म में व्यवहार करते हैं, परन्तु कर्म के फल की इच्छा उन्हें स्पर्श नहीं करती। हे अर्जुन! उनका जन्म-मरण भी नष्ट हो जाता है; (७८) और फिर हे धनुर्धर! वे बुद्धि-योग-युक्त जन आनन्द से भरा हुआ अविनाशी स्थान पाते हैं। (७९)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

तुम ऐसे तभी होगे जब इस मोह को छोड़ दोगे और जब तुम्हारे मन में वैराग्य का सञ्चार होगा। (२८०) तब निर्दोष और अगाध आत्मज्ञान उपजेगा जिससे तुम्हारा मन आप ही आप निरिच्छ हो जायगा। (८१) उस समय और किसी वस्तु का जानना अथवा पिछली किसी बात का स्मरण करना दूर रह जायगा। (८२)।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

और तुम्हारी मति जो इन्द्रियों की संगति से फैलती है वह जब पुनः आत्मस्वरूप में स्थिर हो जावेगी, (८३) जब बुद्धि केवल समाधि-सुख में निश्चल होगी, तब तुम्हें सम्पूर्ण योग की स्थिति प्राप्त होगी। (८४)

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

तब अर्जुन ने कहा—हे देव! मैं इसी विषय में कुछ पूछा चाहता हूँ। (८५) श्रीकृष्ण बोले—हे किरीटी! तुम जो चाहो सन्तोष और आनन्द के साथ पूछो। (८६) यह वचन सुनकर पार्थ ने पूछा—हे श्रीकृष्ण! स्थितप्रज्ञ की क्या व्याख्या है? वह कैसे पहचाना जाता है सो कहिए। (८७) जिसे स्थिरबुद्धि कहते हैं और जो अखण्ड समाधि सुख का उपभोग लेता है वह किन लक्षणों से जाना जाता है? (८८) हे देव! हे लक्ष्मीपति! वह किस स्थिति में रहता है, किस रूप से शोभता है, सो कहिए। (८९) तब परब्रह्म के अवतार, षड्गुणों के अधिष्ठान श्रीनारायण क्या बोले? (२९०)

श्री भगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

उन्होंने कहा—हे अर्जुन! सुनो, मन में जो अभिलाषा प्रबल होती है वही आत्मसुख में विघ्न करती है। (९१) जो पुरुष सर्वदा

तृप्त है, जिसका अन्तःकरण ज्ञान से पूर्ण है, जिस काम की संगति विषयों में पतन कराती है (९२) वह काम जिसका सर्वथा चला जाता है, जिसका मन आत्मसन्तोष में ही मग्न रहता है उस पुरुष को स्थित प्रज्ञ जानो। (९३)

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह: ।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

अनेक दु:ख प्राप्त होने से भी जिसके चित्त में विकलता नहीं उपजाती और जो सुख की आशा में नहीं फँसता (९४) उसमें हे अर्जुन! काम और क्रोध नहीं रहते और उस पहुँचे हुए पुरुष को कभी भय भी नहीं होता। (९५) इस प्रकार जो निःसीम है, जो संसार का त्याग कर भेद-रहित हो गया है, उसे स्थिर-बुद्धि जानो। (९६)

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो सर्वदा समान रहता है, जैसे पूर्णचंद्र प्रकाश देते समय ऐसा भेद नहीं रखता कि यह अधम है और यह उत्तम है (९७) वैसे ही जिसकी अखण्ड समता है, जिसमें सब भूत मात्र के विषय में सदया है, और जिसके चित्त में किसी समय भी अन्तर नहीं होता, (९८) कोई अच्छी बात प्राप्त हो तो जो उसके सन्तोष के वश नहीं होता, तथा किसी बुरी बात से जो दु:ख के हाथ नहीं आता, (९९) ऐसा जो हर्ष और शोक से रहित और आत्मज्ञान से पूर्ण हो उसे, हे धनुर्धर! प्रज्ञायुक्त जानो। (१००)

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश: ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अथवा जैसे कछुआ मौज से अपने अवयव फैलाता है किंवा अपने इच्छानुसार आप ही उन्हें सिकोड़ लेता है, (१) वैसे ही इन्द्रियाँ जिसके अधीन हो आज्ञा पालन करती हैं उसी की प्रज्ञा स्थिरता को प्राप्त हुई है। (२)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन: ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

हे अर्जुन! एक और कुतूहल सुनो। जो योग-साधन करनेहारे नियम-साधन करके विषयों का त्याग करते हैं, (३) श्रवणादि इन्द्रियों का संयमन करते हैं, परन्तु रसना का निग्रह नहीं करते उन्हें विषय सहस्रधा आ लिपटते हैं। (४) ऊपर-ऊपर के पत्ते तोड़िए और जड़ को पानी दीजे जाइए तो उस वृक्ष का नाश कैसे होगा? (५) वह जल के बल से जैसा अधिक विस्तार से फैलता जाता है वैसे ही मन में रसना के द्वारा विषय पुष्ट होते जाते हैं। (६) दूसरे इन्द्रियों के विषय जैसे हठ से छूट सकते हैं वैसे रस-विषय का संयमन हठ से नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना यह जीवन भी नहीं रह सकता। (७) परन्तु हे अर्जुन! जब साधक साक्षात्कार के द्वारा परब्रह्म रूप हो जाता है तब इस रसना का नियमन आप ही आप हो जाता है। (८) उस समय जब सोऽहंभाव का अनुभव प्रकट होता है तब शरीर के व्यवहार बन्द हो जाते हैं और इन्द्रिय विषयों को भूल जाते हैं। (९)

> यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
> इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे अर्जुन! साधारणतः ये विषय निरन्तर यत्न से साधना के पीछे लगनेवालों के भी हाथ नहीं आते। (१०) अभ्यास जिनकी रक्षा दे रहा है, यम नियमों की जिनके चारों ओर बागुर लगी है, और जो मन को सर्वदा मुट्ठी में रक्खे हुए हैं, (११) वे भी इन इन्द्रियों से व्याकुल हो जाते हैं। ऐसा इनका प्रताप है। भूत जैसे मन्त्रज्ञ को भुलाता है (१२) वैसे ऋद्धि सिद्धि के मिस से साधकों को ये विषय ही प्राप्त हो जाते हैं, और इन्द्रियों का स्पर्श होते ही वे उन्हें वश कर लेते हैं, (१३) मन उस विषय-समुदाय में लग जाता है और अभ्यास में शिथिल हो रहता है। इन्द्रियों की शक्ति इतनी दृढ़ है। (१४)

> तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
> वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिए हे पार्थ, सुनो। सब विषयों की इच्छा छोड़ कर जो इन्द्रियों का सच्चा दमन करता है (१५) उसी को योगनिष्ठा का हेतु जानो। उसका अन्तःकरण विषय-सुख में नहीं फँसता (१६) वह सर्वदा आत्मज्ञान से युक्त हो रहता है और अपने हृदय में मेरा ध्यान

नहीं मूझता। (१७) यों चाहे कोई बाहरतः विषय छोड़ दे परन्तु यदि मन में विषय रह जायें तो उसे आदि से अन्त तक संसार ही रहता है। (१८) जैसे विष का लेशमात्र खाने से उसका शरीर भर में विस्तार हो जाता है और निश्चय से जीवन का नाश हो जाता है, (१९) वैसे ही विषय की आशङ्का मन में रहने से कुल विचार-समूह का नाश हो जाता है। (३२०)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

हृदय में यदि विषयों का स्मरण बना रहे तो वैराग्यशील मनुष्य को भी उनकी प्रीति होती है और इस प्रीति से मूर्त्तिमान् अभिलाष अर्थात् काम प्रकट होती है। (२१) जहाँ काम उपजता है वहाँ क्रोध पहले ही आ जाता है और क्रोध के साथ अविचार रक्खा ही हुआ है। (२२) अविचार प्रकट होते ही जैसे प्रचण्ड वायु से ज्योति बुझ जाती है वैसे ही स्मृति का नाश हो जाता है। (२३) और, सूर्यास्त होने पर रात्रि जैसे सूर्य्य के तेज को ग्रस लेती है वैसी ही दशा प्राणियों की—स्मृति का भ्रंश हो जाने पर—होती है। (२४) फिर जो कुछ अज्ञानान्धकार रह जाता है उसमें मनुष्य सर्वथा डूब जाता है। उस समय बुद्धि व्याकुल हो जाती है। (२५) जैसे जन्मान्ध को कभी दौड़कर भागना पड़े तो वह शीघ्रता से इधर उधर दौड़ता है वैसे ही, हे धनुर्धर! बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है, (२६) एवं जब स्मृतिभ्रंश होता है तब बुद्धि बिलकुल अड़ जाती है और सब ज्ञान उन्मूल हो जाता है। (२७) तात्पर्य यह कि जीव के नाश से जैसी दशा शरीर की होती है वैसी ही बुद्धि के नाश से मनुष्य की होती है। (२८) इसलिए हे अर्जुन। जैसे छोटी-सी चिनगारी ईंधन में लग जाय तो वह बढ़ कर त्रिभुवन का नाश करने के लिए काफी हो सकती है, (२९) वैसे ही यदि मन विषयों को ध्यान में भी लाय तो उपयुक्त पतन मनुष्य को ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचता है। (३३०)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

इसलिए सब विषयों को मन से सर्वथा निकाल देना चाहिए। फिर राग और द्वेष का सहज ही नाश हो जावेगा। (३१) हे पार्थ! एक बात और सुनो। राग-द्वेष नष्ट हो जायँ तो इन्द्रियों को विषयों के सेवन से कुछ बाधा नहीं हो सकती। (३२) आकाश में रहनेवाला सूर्य अपने किरणरूपी हाथों से इस जगत् का स्पर्श करता है तो क्या वह उसके संसर्ग-दोष से लिप्त हो जाता है? (३३) इसी तरह जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों से उदासीन है, जो आत्मप्रीति में ही निमग्न है, जो काम और क्रोध से रहित हो रहता है। (३४) उसे विषयों में भी आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं जान पड़ता। तो फिर विषय क्या हैं और किसे क्या बाधा करेंगे? (३५) यदि जल में जल डूब सके अथवा अग्नि से अग्नि जल सके तभी वह पहुँचा हुआ पुरुष विषय-सुख से डूब सकेगा। (३६) अतएव यह निश्चय जानो कि जो केवल आप ही सर्वरूप हो रहता है उसकी बुद्धि अचल रहती है। (३७)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

देखो, जहाँ चित्त में निरन्तर प्रसन्नता है वहाँ इन सब संसार दुःखों का प्रवेश नहीं हो सकता। (३८) जैसे, जिसके पेट से अमृत का प्रवाह उत्पन्न हो उसे कभी भूख और प्यास का डर नहीं रहता (३९) वैसे ही यदि हृदय प्रसन्न हो तो दुःख कहाँ का हो और कहाँ रहे? उस समय बुद्धि अपने आप परमात्मा के स्वरूप में जा बसती है। (२४०) जैसे वायुरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक कभी कम्प नहीं जानता वैसे ही जिसकी बुद्धि स्थिर है वह आत्मस्वरूप के योग में निश्चल हो रहता है। (४१)

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिसके अन्तःकरण में इस योग का विचार नहीं है उसे विषयों के गुणों के वशीभूत समझो। (४२) हे पार्थ! उसकी बुद्धि कभी सर्वथा स्थिर नहीं रहती और उसे स्थिरता की इच्छा भी कभी नहीं उपजती। (४३) हे अर्जुन! निश्चलता की भावना यदि मन में न उपजेगी तो उसे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी? (४४) जैसे पापियों

के पास मोक्ष कभी नहीं बसता वैसे ही जहाँ शान्ति का उद्गम नहीं है वहाँ सुख कभी भूलकर भी नहीं जाता। (४५) देखो, जो बीज अग्नि में भूना गया है वह यदि उग सके तभी अशान्त मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है। (४६) अतएव मन का नियमन न करना ही सब दुःखों का कारण है। इसलिए इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। (४७)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

जो मनुष्य इन्द्रिय जो जो कहें सो सो करते हैं वे इस विषय-रूपी समुद्र में से तर जायँ तो भी तरे न समझना चाहिए। (४८) जैसे नाव तीर पर लग कर भी यदि तूफान में पड़ जाय तो टला हुआ संकट फिर आ घेरता है, (४९) वैसे ही पहुँचा हुआ मनुष्य भी यदि कुतूहल से इन्द्रियों का लालन करे तो उसे इस संसार-सम्बन्धी दुःखों ने घेर ही लिया जानो। (२५०)

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए हे धनञ्जय! अपनी इन्द्रियाँ यदि अपने अधीन हो जायँ तो इससे अधिक सार्थक और क्या है? (५१) देखो, कछुआ जैसे अपने ही इच्छानुसार अपने अवयव फैलाता है अथवा अपनी ही इच्छा से आप ही आप उन्हें सिकोड़ लेता है, (५२) वैसे ही इन्द्रिय जिसके वश होकर आज्ञा मानते हैं उसकी बुद्धि स्थिरता को पहुँची समझो। (५३) अब हे अर्जुन! पहुँचे हुए मनुष्य का एक और गूढ़ लक्षण बताता हूँ सो सुनो। (५४)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

देखो, जिस विषय में सकल प्राणिमात्र अज्ञान में रहते हैं उस विषय में जिसे ज्ञान है और जिस विषय में सब प्राणिगण जागृत हैं उस विषय में जो निद्रित है, (५५) हे अर्जुन! उसी को पराशिरहित स्थिर-बुद्धि और गम्भीर मुनीश्वर समझो। (५६)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

हे पार्थ! वह एक प्रकार से और भी पहचाना जा सकता है। जैसे समुद्र में निरन्तर निश्चलता रहती है—(५७) वर्षाकाल में यद्यपि सम्पूर्ण नदियों के प्रवाह पूर्ण हो उससे आ मिलते हैं तथापि जैसे वह किञ्चित् भी नहीं बढ़ता और अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, (५८) अथवा ग्रीष्म-काल में सब नदियाँ सूख जाती हैं तथापि जैसे वह कुछ न्यून नहीं होता—(५९) वैसे ही ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति होने से उस पहुँचे हुए पुरुष की बुद्धि चञ्चल नहीं होती और उनके न प्राप्त होने से उसे अधीरता नहीं व्यापती। (६०) कहो, क्या सूर्य के घर दिया लगाने से प्रकाश होता है और न लगाने से क्या वह अँधेरे में रहता है? (६१) ऐसे ही वो ऋद्धि सिद्धि के आने-जाने का स्मरण भी नहीं करता, उसी का अन्तःकरण महासुख में निमग्न रहता है। (६२) जो अपने घर की सुन्दरता के आगे इन्द्रभवन को भी तुच्छ समझता है उसे भीलों की पत्तों की मड़ैयों से कैसे आनन्द मिलेगा? (६३) जो अमृत को भी नाम रखता है वह जैसे दलिया कभी नहीं पीता वैसे ही आत्मसुख का अनुभव लेनेवाला ऋद्धि-सिद्धि का उपभोग कभी नहीं करता। (६४) हे पार्थ! यह चमत्कार देखो जहाँ स्वर्ग के सुख की भी परवा नहीं है वहाँ ऋद्धि-सिद्धि क्या चीज है? वह तो केवल साधारण ही है। (६५)

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

ऐसा जो आत्मज्ञान से सन्तुष्ट हो जो परमानन्द से पुष्ट हो, उसी को सदा स्थिरप्रज्ञ जानो। (६६) वह अहङ्कार को छोड़, सकल मनोरथों का त्याग कर, जगत् में कामाकार हो सञ्चार करता है। (६७)

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इस निःसीम ब्रह्मस्थिति का जिन निष्काम कर्मों का अनुभव होता है वे बिना यत्न के परब्रह्मपद को पहुँच जाते हैं। (६८) जिस स्थिति के कारण ज्ञान-स्वरूप में मिलते समय ज्ञानियों के चित्त में देहान्त का व्याकुलतारूपी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, (६९) वही यह स्थिति जगमीपति श्रीकृष्ण ने अर्जुन से बयान की। इस प्रकार सञ्जय ने राजा से निवेदन किया। (३७०) श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन ने मन में कहा कि यह युक्ति हमारे हित की हुई। (७१) देव ने सब कर्म मात्र का निषेध किया इससे मेरा युद्ध करना भी टल गया। (७२) इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचनों से अर्जुन चित्त में प्रसन्न हुआ और अब आशङ्का-सहित उत्तम प्रश्न करेगा। (७३) वह सुन्दर संवाद मानों सब धर्मों का उत्पत्तिस्थान है, अथवा विवेकरूपी अमृत का अमर्याद समुद्र है। (७४) इस संवाद का निरूपण स्वयं सर्वज्ञनाथ श्रीकृष्ण करेंगे और वह कथा मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव बयान करूँगा। (३७५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः।

———

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच—

> ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
> तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

फिर अर्जुन ने कहा—हे देव, हे कृपानिधि! आपके वचन मैंने सभी भाँति सुने। (१) आपने कहा कि उस आत्मस्वरूपी में कर्म और कर्ता रहते ही नहीं, हे श्रीअनन्त! यह यदि आपका निश्चित मत हो (२) तो हे श्रीहरि! मुझे युद्ध के लिए प्रोत्साहन दे इस महाघोर कर्म में डालते हुए आपको संकोच क्यों नहीं होता? (३) अभी, आप ही सब कर्म का सर्वथा निषेध करते हैं, तो मुझसे ऐसा हिंसक कर्म क्यों कराते हैं? (४) हे श्रीहृषीकेश! आप ही विचार कर देखिए कि आप लेशमात्र भी कर्म को भला नहीं समझते और मुझसे इतनी बड़ी हिंसा कराते हैं! (५)

> व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
> तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

हे देव! आप ही यदि यों कहें तो हम अज्ञानी लोग क्या करें? सम्पूर्ण विवेक की बातों का अन्त ही हुआ कहना चाहिए! (६) अभी उपदेश ऐसा सम्मिश्र हो तो अपभ्रंश और कैसा रहता है? फिर हमारा आत्मज्ञान का मनोरथ पूर्ण हो चुका! (७) यदि वैद्य पथ्य बता दे और फिर आप ही विष देवे तो कहिए रोगी कैसे जियेगा? (८) जैसे कोई अन्धे को बांके टेढ़े रास्ते में ले जाय, अथवा बन्दर को कोई मद्य पिला दिया जाय वैसे ही हमें आपका उत्तम उपदेश प्राप्त हुआ है। (९) मैं पहले से ही अज्ञानी हूँ, ऊपर से मोह के वश हुआ हूँ; इसलिए हे श्रीकृष्ण! मैंने आपकी सम्मति पूछी (१०) तो आपकी एक एक बात विलक्षण ही दिखाई देती है। आपके उपदेश में पक्षपात

मालूम पड़ता है। शरणागत की क्या ऐसी दशा की जाती है? (११) हम तन-मन-प्राण से आपके वचनों पर विश्वास रक्खें और आप यदि ऐसा करें तो हो चुका। (१२) इस प्रकार आप बोध करेंगे तो हमारी बड़ी भलाई करेंगे! इसमें ज्ञान की क्या आशा है? (१३) ज्ञान की तो बात ही गई परन्तु उलटी एक बात और यह हो गई कि मेरा मन जो स्थिर था सो और क्षुब्ध हो गया। (१४) परन्तु हे श्रीकृष्ण! यदि इस मिस से आप मेरा मन देखते हों तो आपकी लीला अतर्क्य है। (१५) विचार करने से भी मुझे यह निश्चय नहीं जान पड़ता कि आप मुझे ठगते हैं कि गूढ़ भाषा में परमार्थ ही बताते हैं। (१६) इसलिए हे देव! सुनिए, ऐसा भावार्थ न कहिए। मुझे स्पष्ट भाषा में ज्ञान बताइए। (१७) ऐसी निश्चयात्मक बात कहिए कि मैं यद्यपि अत्यन्त मतिमन्द हूँ तथापि मली माँति समझ सकूँ। (१८) देखिए, ओषधि रोग को हटानेवाली तो हो ही, परन्तु वह जैसे मधुर तथा रुचिर भी हो, (१९) वैसा ही सद्भाव से भरा हुआ तथा उचित तत्त्व बताइए, परन्तु इस तरह बताइए कि मेरे चित्त को बोध हो जाय। (२०) हे देव! आपके समान गुरु होते हुए मैं अपनी इच्छा की तृप्ति क्यों न कर लूँ? लज्जा किसकी करूँ? आप तो मेरी माता हैं। (२१) अभी दैवयोग से कामधेनु का गोरस प्राप्त हो जाय तो फिर क्या मनोरथों की कमी करनी चाहिए? (२२) यदि चिन्तामणि हाथ लग जाय तो कामना करने में कौन-सा सङ्कट है? मनमानी इच्छा क्यों न की जाय? (२३) देखिए, यदि कोई अमृत के समुद्र के किनारे जा पहुँचे और फिर भी प्यास से व्याकुल रहे तो उसने वहाँ जाने का श्रम ही क्यों किया? (२४) वैसे ही हे श्रीकमलापति अनेक जन्मान्तर से आपकी उपासना करते करते दैवयोग से आज आप हमारे हाथ लगे हैं। (२५) तो हे परेश! अपनी इच्छा भर आपसे क्यों न माँग लें? हे देव! आज हमारे मन के लिए सुदिन उदय हुआ है! (२६) देखिए, आज मेरी सब इच्छाओं का जीवन और पुण्य सफल हो चुका और सब मनोरथों का विजय हो चुका। (२७) क्योंकि, हे परम-कल्याणनिधि! हे सकल देवों में श्रेष्ठ! आज आप हमारे अधीन हुए हैं। (२८) जैसे माता का स्तनपान करने के लिए बालक को कभी कुअवसर नहीं होता (२९) वैसे ही हे देव हे कृपानिधि! मैं आपसे अपने इच्छानुसार पूछता हूँ। (३०) अतएव ऐसी एक निश्चयात्मक बात कहिए, जो परलोक में तो हितकारी हो और आचरण के भी योग्य हो। (३१)

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

यह सुनकर श्री अच्युत विस्मित हो कहने लगे—हे अर्जुन ! आत्मज्ञान और कर्म का अभिप्राय हमने संक्षेप से बताया था। (३२) क्योंकि बुद्धि योग का वर्णन करते हुए ज्ञानमार्ग का बयान हमने प्रसङ्गानुसार किया था। (३३) वह बात तुमने नहीं जानी। इसलिए तुमको वृथा कष्ट हुआ। अब सुनो। ये दोनों योग मैंने ही कहे हैं। (३४) हे वीरश्रेष्ठ ! इस संसार में ये दोनों अनादिसिद्ध मार्ग मुझसे ही प्रकट हुए हैं। (३५) एक को ज्ञानयोग कहते हैं, जिसका ज्ञानी आचरण करते हैं और जिससे ज्ञान होते ही ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। (३६) दूसरा कर्मयोग कहलाता है जिसमें निपुण हो साधकजन अवश्यमेव मोक्ष प्राप्त करते हैं। (३७) वैसे तो ये मार्ग दो हैं, परन्तु अन्त में एक हो जाते हैं। जैसे बने हुए भोजन से निदान में एक तृप्ति ही होती है, (३८) अथवा जैसे पूर्व पश्चिम बहती हुई नदियाँ प्रवाह में भिन्न दिखाई देती हैं परन्तु समुद्र में मिलने से निदान में एक ही हो जाती हैं, (३९) वैसे ही ये दोनों मार्ग एक ही हेतु की सूचना करते हैं। परन्तु इनकी उपासना साधकों की योग्यता पर निर्भर है। (४०) देखो उड़ान मारते ही पक्षी फल से झूम जाता है परन्तु मनुष्य उस तक उसी वेग से कैसे पहुँच सकता है ? (४१) वह धीरे-धीरे इस डाल पर से उस डाल पर होता हुआ, किसी काल में निश्चय से पहुँचेगा। (४२) वैसे ही ज्ञानी जन विहङ्गम-मार्ग से ज्ञान का आश्रय करके तत्काल मोक्ष को अपने अधीन करते हैं, (४३) और अन्य योगी कर्म के आधार से वेदविहित स्वकर्माचरण करते हुए योग्य काल में पूर्णता को पहुँचते हैं। (४४)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

वस्तुतः उचित कर्म का आरम्भ न करते कर्महीन मनुष्य सिद्धि के तुल्य निश्चय से नहीं हो सकता। (४५) हे अर्जुन ! यह कहना, कि निहित कर्म का त्याग करने से ही निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है, व्यर्थ और मूर्खता है। (४६) कहो, पार जाने का जहाँ संकट उपस्थित है वहाँ नाव का त्याग कैसे किया जा सकता है ? (४७) अथवा तृप्ति की इच्छा हो तो

रसोई क्योंकर न बनाई जाय, अथवा बनी हुई हो तो क्योंकर न खाई जाय ? (४८) जब तक निरिच्छता उत्पन्न नहीं होती तब तक व्यापार होता ही रहता है और सन्तुष्टता प्राप्त होते ही सहज में बन्द हो जाता है। (४९) इसलिए हे पार्थ ! सुनो, जिसको नैष्कर्म्य अथवा परमहंसपद की इच्छा हो उसे उचित कर्म बिलकुल त्याज्य नहीं है। (५०) इसके अलावा, "कर्म ऐसा है कि अपने इच्छानुसार करने से होता है और छोड़ देने से छूट जाता है" (५१) यह उक्ति भी व्यर्थ और स्वच्छन्द है। अनुभव करके देखो तो निश्चित रूप से जान लोगे कि छोड़ने से कर्म नहीं छूटता। (५२)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

जब तक माया का आश्रय है तब तक यह समझना कि मैं कर्म का त्याग तथा ग्रहण कर सकता हूँ केवल अज्ञान है, क्योंकि यह चेष्टा स्वभावतः गुणों के अधीन रहती है। (५३) देखो, जितने कुछ विहित कर्म हैं उन्हें यद्यपि कोई छोड़ दे तथापि क्या इन्द्रियों के स्वभाव छूट सकते हैं ? (५४) कानों का श्रवण करना क्या बन्द हो सकता है, अथवा क्या नेत्रों का प्रकाश चला जा सकता है ? यह नासारन्ध्र क्या बन्द हो सूँघ नहीं सकता ? (५५) अथवा प्राण और अपान वायु की गति बन्द हो सकती है ? बुद्धि क्या सङ्कल्प-विकल्प-रहित हो सकती है ? या क्षुधा-तृषा इत्यादि इच्छाओं का नाश हो सकता है ? (५६) सोना और जागना बन्द हो सकता है ? अथवा क्या पाँव चलना भूल सकते हैं ? और तो क्या, जन्म-मरण बन्द हो सकते हैं ? (५७) ये बातें यदि बन्द नहीं हो सकतीं, तो त्याग किस के लिए किया जा सकता है ? सारांश, मायाधीन मनुष्यों के कर्म का त्याग नहीं हो सकता। (५८) कर्म पराधीनता के कारण प्रकृतिगुणों के हेतु उपजता है। इसलिए मन में यह समझना व्यर्थ है कि मैं कर्म करता हूँ या मैं कर्म का त्याग कर सकता हूँ। (५९) देखो, रथ में बैठो तो यदि निश्चल भी बैठो, तथापि परतंत्र होकर चलायमान हो घूमना पड़ता है (६०) अथवा वायु से उड़ा हुआ सूखा पत्ता जैसे चलित होता और चेतन्य-रहित हो आकाश में घूमता है, (६१) वैसे ही प्रकृति के आधार से और कर्मेन्द्रियों के विकार से निष्काम पुरुष भी निरन्तर व्यापार करता है। (६२) अतएव जब तक प्रकृति का सङ्ग है तब तक कर्म का त्याग नहीं हो सकता। इस पर भी जो कहते हों कि हम कर सकते हैं उनका केवल आग्रह ही है। (६३)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो उचित कर्म छोड़ देते हैं और फिर कर्मेन्द्रिय-प्रवृत्ति का दमन करके कर्मविमुक्त हुआ चाहते हैं (६४) उनसे कर्मत्याग नहीं हो सकता। क्योंकि उनके मन में कर्म करने की अभिलाषा रह जाती है। जो ऊपर की दिखावट है वह सचमुच विडंबना है। (६५) हे पार्थ! यह निस्सन्देह सत्य समझो कि ऐसे पुरुष सर्वदा विषयासक्त रहते हैं। (६६) हे धनुर्धर! अब ध्यान दो, हम तुम्हें प्रसंगानुसार निरिच्छ मनुष्य का लक्षण बतलाते हैं। (६७)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जिसका अंतःकरण निश्चल रहता है, जो परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहता है और बाहर जैसा लोकाचार हो वैसा आचरण करता है, (६८) वह इन्द्रियों को आज्ञा नहीं करता विषयों का भय नहीं रखता और जो उचित कर्म जिस समय करना अवश्य हो, उसका त्याग नहीं करता। (६९) कर्मेन्द्रियाँ कर्म में व्यापार करती हों तथापि वह उनका नियमन नहीं करता, परन्तु कभी उनके विकारों के अधीन नहीं होता। (७०) वह किसी भी कामना के वश नहीं होता और मोह-मल में लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से नहीं भीगता (७१) वैसे ही, पानी में सूर्य-बिम्ब के समान, वह संसार में रहता है और सबके समान दिखाई देता है (७२) परन्तु सामान्यतः देखने से ही वह साधारण मनुष्य के समान दिखाई देता है। अन्यथा विचार कर देखने से भी उसकी स्थिति जानी नहीं जा सकती। (७३) ऐसे लक्षणों से जो चिह्नित हो उसी को मुक्त और आशापाश-रहित समझो। (७४) हे अर्जुन! जगत् में जिसकी विशेष कीर्ति होती है, ऐसा योगी वही है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम ऐसे ही योगी बनो। (७५) मन का नियमन करो और अंतःकरण में निश्चल रहो फिर चाहे कर्मेन्द्रिय सुख से व्यापार करती रहें। (७६)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

अतः जब कर्मरहित होने की सम्भावना नहीं हो सकती तो फिर विचार करो कि निषिद्ध कर्मों का आचरण क्यों किया जाय ? (७७) इसलिए जो जो उचित हो और अवसर से प्राप्त हुआ हो उस कर्म का, फल हेतु छोड़कर, आचरण करो। (७८) हे पार्थ ! एक और कुतूहल है जो तुम नहीं जानते। वह यह कि कर्म ही अपने आप कर्म की मुक्ति का कारण होता है। (७९) देखो, वर्णाश्रम के आचार से जो स्वकर्म का आचरण करते हैं वे उस चेष्टा के द्वारा निश्चय से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। (८०)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

स्वधर्म को ही नित्ययज्ञ समझो। इसलिए उसका आचरण करने से पाप का संचार नहीं होता। (८१) जब स्वधर्म छूट जाता है और कुकर्म की प्रवृत्ति होती है तभी संसार का बन्धन होता है। (८२) इसलिए जो स्वधर्म का आचरणरूपी अखण्ड यज्ञ करता है उसको कर्मबन्धन नहीं हो सकता। (८३) यह संसार जो कर्म से बँधा है और प्रकृति को भूल जाता है उसका कारण यह है कि वह नित्ययज्ञ करना भूलता है। (८४) अब हे पार्थ ! मैं इस विषय में तुमसे एक कथा कहता हूँ। जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि इत्यादि की रचना की (८५)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

तब उस समय संपूर्ण प्राणियों के साथ ही नित्ययज्ञ भी उत्पन्न किया, परन्तु गूढ़ होने के कारण उन्होंने उस यज्ञ को नहीं पहचाना। (८६) अतः प्रजागण ने ब्रह्मदेव की विनती की कि हे देव ! हमें यहाँ क्या आश्रय है। तब उन कमलज-जन्मा ब्रह्मदेव ने प्राणियों से कहा कि (८७) हमने तुम्हारी वर्णव्यवस्था के अनुसार स्वधर्म की रचना की है। इसकी उपासना करो तो तुम्हारे मनोरथ सहज ही पूरा होंगे। (८८) तुम चाहे व्रत नियम आदि मत करो, शरीर को पीड़ा न दो, तीर्थ के लिए दूर कहीं न जाओ, (८९) योगादिक साधन, किसी कामना के लिए आराधन, और तान्त्रिक अनुष्ठान न करो; (९०) दूसरे देवताओं को न भजो· ये बातें बिलकुल कुछ भी न करो किन्तु बिना कष्ट के स्वधर्मरूपी यज्ञ का यजन करो। (९१) इसका निष्काम चित्त से अनुष्ठान करो। जैसे पतिव्रता पति की सेवा करती है

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो उचित कर्म छोड़ देते हैं और फिर कर्मेन्द्रिय-प्रवृत्ति का दमन करके कर्मनिर्मुक्त हुआ चाहते हैं (६४) उनसे कर्मत्याग नहीं हो सकता। क्योंकि उनके मन में कर्म करने की अभिलाषा रह जाती है। जो ऊपर की दिखावट है वह सचमुच विडंबना है। (६५) हे पार्थ! यह निस्सन्देह सत्य समझो कि ऐसे पुरुष सदा विषयासक्त रहते हैं। (६६) हे धनुर्धर! अब ध्यान दो, हम तुम्हें प्रसंगानुसार निरिच्छ मनुष्य का लक्षण बतलाते हैं। (६७)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जिसका अंतःकरण निश्चल रहता है, जो परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहता है और बाह्यतः जैसा लोकाचार हो वैसा आचरण करता है, (६८) वह इन्द्रियों को आज्ञा नहीं करता विषयों का भय नहीं रखता और जो उचित कर्म जिस समय करना अवश्य हो, उसका त्याग नहीं करता। (६९) कर्मेन्द्रियाँ कर्म में व्यापार करती हों तथापि वह उनका नियमन नहीं करता परन्तु कभी उनके विकारों के अधीन नहीं होता। (७०) वह किसी भी कामना के वश नहीं होता और मोह-मल में लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से नहीं भीगता (७१) वैसे ही, पानी में सूर्य-बिम्ब के समान, वह संसार में रहता है और सबके समान दिखाई देता है (७२) परन्तु सामान्यतः देखने से ही वह साधारण मनुष्य के समान दिखाई देता है। अन्यथा विचार कर देखने से भी उसकी स्थिति जानी नहीं जा सकती। (७३) ऐसे लक्षणों से जो चिह्नित हो उसी को मुक्त और आशापाश-रहित समझो। (७४) हे अर्जुन! जगत् में जिसकी विशेष कीर्ति होती है, ऐसा योगी वही है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम ऐसे ही योगी बनो। (७५) मन का नियमन करो और अंतःकरण में निश्चल रहो, फिर चाहे कर्मेन्द्रिय सुख से व्यापार करती रहें। (७६)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

अतः जब कर्मरहित होने की सम्भावना नहीं हो सकती तो फिर विचार करो कि निषिद्ध कर्मों का आचरण क्यों किया जाय ? (७७) इसलिए जो जो उचित हो और अवसर से प्राप्त हुआ हो उस कर्म का, फल हेतु छोड़कर, आचरण करो। (७८) हे पार्थ! एक और रहस्य है जो तुम नहीं जानते। वह यह कि कर्म ही अपने आप कर्म की मुक्ति का कारण होता है। (७९) देखो, वर्णाश्रम के आचार से जो स्वधर्म का आचरण करते हैं वे उस चेष्टा के द्वारा निश्चय से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। (८०)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

स्वधर्म को ही नित्ययज्ञ समझो। इसलिए उसका आचरण करने से पाप का संचार नहीं होता। (८१) यह स्वधर्म जब छूट जाता है और कुकर्म की प्रवृत्ति होती है तभी संसार का बन्धन होता है। (८२) इसलिए जो स्वधर्म का आचरणरूपी अखण्ड यज्ञ करता है उसको कर्मबन्धन नहीं हो सकता। (८३) यह संसार जो कर्म से बँधा है और प्रकृति को भूल जाता है उसका कारण यह है कि वह नित्ययज्ञ करना भूलता है। (८४) अब हे पार्थ! मैं इस विषय में तुमसे एक कथा कहता हूँ। जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि इत्यादि की रचना की (८५)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

तब उस समय संपूर्ण प्राणियों के साथ ही नित्ययज्ञ भी उत्पन्न किया, परन्तु गूढ़ होने के कारण उन्होंने उस यज्ञ को नहीं पहचाना। (८६) अतः प्रजागण ने ब्रह्मदेव की विनती की कि हे देव! हमें यहाँ क्या आश्रय है। तब उन कमल-जन्मा ब्रह्मदेव ने प्राणियों से कहा कि (८७) हमने तुम्हारी वर्णव्यवस्था के अनुसार स्वधर्म की रचना की है। इसकी उपासना करो तो तुम्हारे मनोरथ सहज ही पूरे होंगे। (८८) तुम चाहे व्रत नियम आदि मत करो, शरीर को पीड़ा न दो, तीर्थ के लिए दूर कहीं न जाओ (८९) योगादिक साधन, किसी कामना के लिए आराधन, और तान्त्रिक अनुष्ठान न करो, (९०) दूसरे देवताओं को न भजो, ये बातें बिलकुल कुछ भी न करो किन्तु बिना कष्ट के स्वधर्मरूपी यज्ञ का यजन करो। (९१) इसका निष्काम चित्त से अनुष्ठान करो। जैसे पतिव्रता पति की सेवा करती है

(९२) वैसे ही स्वधर्मरूपी यज्ञ ही एक तुम्हारा सेव्य है। सत्यलोकनायक ब्रह्मदेव ने और भी कहा (९३) कि हे प्रजागण ! स्वधर्म की उपासना करोगे तो यह तुम्हारी कामधेनु बनेगा और कभी तुम्हारा त्याग न करेगा। (९४)

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

जब इस स्वधर्म की सेवा से सम्पूर्ण देवताओं को सन्तोष होगा तब वे तुम्हारे इष्ट देव पूरा करेंगे। (९५) स्वधर्म का आदर करने से सब देवतागण निश्चय ही तुम्हारा योग-क्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु का पालन) करेंगे। (९६) और जब आपस में ऐसा प्रेम उपजेगा कि तुम देवों का भजन करो और देव तुम पर सन्तुष्ट हों (९७) तब तुम जो कुछ करना चाहोगे सो आप ही सिद्ध हो जायगा, मन की कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी (९८) वाचासिद्धि प्राप्त होगी तुम आज्ञाकर्ता बनोगे और महाऋद्धि तुम्हारी आज्ञा मानेगी। (९९) जैसे वनशोभा, फल-भार और लावण्य-सहित सदा वसन्त ऋतु के द्वार का आश्रय करती है (१००)

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

वैसे ही मूर्तिमान् दैव ही सुख सहित तुम्हारी खोज करता हुआ चला आवेगा। (१) इस प्रकार निरिच्छ हो एक स्वधर्म में ही लगे हुए बर्ताव करने से तुम संपूर्ण उपभोगों से संपन्न हो जाओगे। (२) अन्यथा सकल संपत्ति हाथ लगने पर जो विषयों के स्वाद से लुब्ध हो उन्मत्त इन्द्रियों की आज्ञा में चलता है, (३) जो यज्ञ से सन्तुष्ट किये हुए देवताओं की दी हुई संपत्ति से परमेश्वर स्वधर्म की पूजा नहीं करता (४) जो अग्नि में हवन नहीं करता, देवताओं की पूजा नहीं करता यथा-काल ब्राह्मणों को भोजन नहीं देता, (५) गुरुभक्ति से विमुख होता है, अतिथि का सत्कार नहीं करता और अपनी जाति को संतोष नहीं देता (६) ऐसा जो स्वधर्म-कर्मरहित, संपत्ति के कारण साभिमान और केवल भोगों में निमग्न होता है (७) उसे ऐसा बड़ा अपाय प्राप्त होता है कि जिससे हाथ की संपूर्ण संपत्ति चली जाती है और प्राप्त किये हुए भोगों का उपभोग भी नहीं मिल सकता। (८) जैसे आयुष्य बीते हुए शरीर में जीवात्मा नहीं रहता

अथवा अभागे के घर में जैसे लक्ष्मी नहीं रहती (६) वैसे ही स्वधर्म का लोप हो जाय तो सब सुख का आश्रयस्थान ही टूट जाता है। जैसे दीपक बुझते ही प्रकाश का लोप हो जाता है (११०) वैसे ही प्रजेश ने कहा—हे प्रजागण! यह सत्य वचन सुनो कि जब निज की धर्मवृत्ति छूट जाती है तब वहाँ स्वतन्त्रता निवास नहीं करती। (११) इसलिए जो स्वधर्म का त्याग करेगा उसे काल दण्ड देगा, और उसे चोर समझ कर उसका सर्वस्व हर लेगा। (१२) फिर सबके सब दोष उसे चारों ओर से घेर लेंगे। जैसे रात्रि के समय भूत श्मशान को घेर लेते हैं (१३) वैसे ही तीनों भुवनों के दुःख और नाना प्रकार के पाप और सम्पूर्ण दरिद्रता उस पुरुष में निवास करती है। (१४) हे प्राणिगण! जब उस उन्मत्त की ऐसी दशा होती है तो वह कल्पान्त तक रोने-पीटने से भी कदापि नहीं छूटती। (१५) इसलिए आत्मवृत्ति न छोड़ो इन्द्रियों को बहकने मत दो। (१६) पानी जलचरों को त्याग दे तो जैसे तत्काल उनकी मृत्यु होती है, वैसे ही दशा स्वधर्म को भूलनेवाले की भी होती है। [इसलिए स्वधर्म को भूल न जाना।] (१७) अतएव हम बारबार कहते हैं कि तुम सबको अपने अपने उचित कर्मों में तत्पर होना चाहिए। (१८)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

देखो, जो प्राप्त की हुई सम्पत्ति का निष्काम बुद्धि से विहित कर्मानुष्ठान में उपयोग करता है, (१९) गुरु, गोत्र और अग्नि की पूजा करता है, तथा समय ब्राह्मणों की सेवा करता है, पितरों के हेतु श्राद्धादिक यज्ञों का यजन करता है, (१२०) और इस उचित यज्ञ-क्रिया से यज्ञ में हवन कर सहज ही जो कुछ हवन-सामग्री शेष रह जाय (२१) उसका अपने घर में कुटुम्बियों के साथ सुख के साथ भोजन करता है; उसके सब पापों का वह यज्ञशेष नाश करता है। (२२) वह यज्ञ में बचे हुए अन्न का भोजन करता है इसलिए, जैसे अमृत का सेवन किये हुए पुरुष से महारोग दूर भागते हैं, वैसे ही पाप उसके समीप नहीं जाते। (२३) अथवा जैसे ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य को भ्रान्ति का लेश भी नहीं छू सकता वैसे ही उस यज्ञावशिष्ट के भोजन करनेवाले को पाप वश में नहीं कर सकते। (२४) इसलिए स्वधर्म से जो कुछ सम्पादन किया जाय उसका व्यय स्वधर्मानुसार ही करना चाहिए और फिर जो बचे उसका सन्तोष से उपभोग करना चाहिए। (२५) हे पार्थ!

इसके सिवाय और किसी रीति से बचना उचित नहीं। ऐसी यह आद्य-कथा भी मुरारि ने कही। (२६) जो देह को ही आत्मा मानते हैं और विषयों को भोग्य समझते हैं तथा इसके सिवाय और कुछ नहीं जानते, (२७) जो यह न जानकर कि सब जगत् यज्ञ की सामग्री है, भूल से तथा केवल अहङ्कार-बुद्धि ही से इसका उपभोग किया चाहते हैं। (२८) और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार भले भले भोजन बनवाते हैं वे पापी-गण पापों का सेवन करते हैं। (२९) यह सब सम्पत्ति केवल हवन की सामग्री समझनी चाहिए और उसे स्वधर्मरूपी यज्ञ के द्वारा ही परमेश्वर को अर्पण करना चाहिए। (१३०) यह न करके मूर्ख लोग केवल अपने लिए नाना प्रकार के भोजन बनाते हैं। (३१) जिस अन्न से यज्ञ सिद्ध होता है और परमेश्वर सन्तुष्ट होता है वह सामान्य अन्न नहीं है। इसलिए (३२) इसे साधारण अन्न न समझ कर ब्रह्मरूप समझना चाहिए, क्योंकि यह सकल जगत् के जीवन का हेतु है। (३३)

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्न से सम्पूर्ण प्राणिमात्र की वृद्धि होती है और अन्न का सर्वत्र पर्जन्य उपजाता है। (३४) पर्जन्य का जन्म यज्ञ से होता है और यज्ञ को कर्म प्रकट करता है।

> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्म का उत्पत्तिस्थान वेदरूप ब्रह्म है। (३५) और वेदों को परात्पर अविनाशी ब्रह्म उत्पन्न करता है, एवं यह सब चराचर ब्रह्म के अधीन है। (३६) परन्तु हे सुभद्रापति! कर्म की मूर्ति जो यज्ञ है वहीं श्रुति का निरन्तर निवास है। (३७)

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे धनुर्धर! यह यज्ञसम्बन्धी आदिपरम्परा हमने तुम्हें संक्षेप से कह सुनाई, (३८) अब जो उन्मत्त पुरुष इस संसार में सर्वथा उचित स्वधर्मरूपी यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता, (३९) और जो कुकर्म के द्वारा इन्द्रियों के

उपयोगी होता है उसे पातकों की राशि और भूमि का केवल भारभूत जानो। (१४०) उसका सकल जन्म और कर्म अत्यन्त निष्फल जानो। जैसे अकालिक आये हुए मेघ, (४१) अथवा बकरी के गले के थन व्यर्थ हैं वैसा ही स्वधर्मानुसार आचरण न करनेहारे का जीवन जानो। (४२) इसलिये हे पाण्डव ! सुनो स्वधर्म किसी को न छोड़ना चाहिए। सम्पूर्ण भावों से इसी एक की सेवा करनी चाहिए। (४३) अजी, यदि शरीर है तो उसके साथ कर्तव्य सहज ही प्राप्त है, तो फिर अपना उचित धर्म क्यों छोड़ा जाय (४४) हे सव्यसाची ! मनुष्यदेह पाकर जो कर्म का आलस करते हैं उन्हें मूढ़ समझना चाहिए। (४५)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

देखो, देहधर्म उपस्थित रहते भी कर्म से वही एक पुरुष लिप्त नहीं होता जो निरन्तर आत्म-स्वरूप में रमण करता है। (४६) वह आत्मबोध से सन्तुष्ट हो जाता है इसलिए कृतार्थ ही बैठता है, और सहज ही कर्म के संग से मुक्त हो जाता है। (४७)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

जैसे तृप्ति होने पर उसके सब साधन आप ही आप मन्द हो जाते हैं, वैसे ही स्वरूपानन्द प्राप्त होने पर कर्म भी नहीं रहते। (४८) हे अर्जुन ! मन को जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तभी तक साधनों के आचरण की आवश्यकता है। (४९)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तुम सर्वदा सब कामनाओं से रहित होकर उचित स्वधर्म का आचरण करो। (१५०) जिन्होंने निष्काम बुद्धि से स्वधर्म का आचरण किया है उन्हें संसार में परमायत कैवल्यपद प्राप्त हुआ है। (५१)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

देखो जनक इत्यादि सत्पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का त्याग न करते मोक्षपद को पहुँचे हैं। (५३) इसलिए हे पार्थ! कर्म की आस्था आवश्यक है। इससे एक प्रकार का और उपयोग होगा। वह यह है कि हमें कर्म का आचरण करते देखकर संसार को नसीहत मिलेगी और अनायास उसके दुःख टल जायँगे। (५४) देखो, जो कृतार्थ हो चुके हैं और जिन्हें निष्कामता प्राप्त हो चुकी है उन्हें भी लोगों के लिये कर्तव्य बाकी रह जाता है। (५५) अन्धे को रास्ते से ले जानेवाला नेत्रवान् मनुष्य भी जैसे उसी जैसा चलता है वैसे ही अज्ञानी लोगों के लिए धर्म का ज्ञान आचरण द्वारा प्रकट करना चाहिए। (५६) क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो अज्ञानी लोग क्या जान सकेंगे? उन्हें इस मार्ग का किस प्रकार ज्ञान होगा? (५७)

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

संसार में श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं उसी को सब सामान्य जन धर्म समझते हैं और वैसा ही आचरण करते हैं। (५८) यह बात स्वाभाविक है। इसलिए सन्तों को भी कर्म का त्याग न करके उसका विशेषतः आचरण करना पड़ता है। (५९)

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

अब दूसरों की बातें क्या कहूँ? हे किरीटी! देखो मैं भी इसी मार्ग से चलता हूँ (६०) क्या मुझ पर कुछ संकट पड़ा है? अथवा यदि यह समझा जाय कि मैं कोई एक इच्छा रख कर धर्म का आचरण करता हूँ, (६१) तो तुम्हें तो मालूम है कि मैं इतना समर्थ हूँ कि पूर्णता के विषय संसार में मुझसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। (६२) मैंने अपने मरे हुए गुरुपुत्र को जीवित कर लिया। इस प्रकार मेरा माहात्म्य तुमने देखा है। पर वही मैं कुछ इच्छा न रखते भी, कर्म का आचरण करता हूँ। (६३)

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

हम स्वधर्म का इस प्रकार आचरण करते हैं जैसा कि कोई साभिलाष मनुष्य करता है और वह इसलिए कि जिससे (६४) इन प्राणिमात्रों से, जो केवल हमारे अधीन रहते हैं, भूल न हो जाय। (६५)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि हम पूर्णकाम हो अपनी महास्थिति में रहेंगे तो सब प्रजा का किस प्रकार निभाव होगा ? (६६) हमारे आचरण का मार्ग देखकर अपने आचरण की रीति सीखने का जो इन लोगों का लोकाचार है सो सब नष्ट हो जावेगा। (६७) अतएव विशेषतः जो संसार में समर्थ और सर्वज्ञता सम्पन्न है उसे कर्म का त्याग करना उचित नहीं। (६८)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

देखो, कामुक मनुष्य फल की आशा से जैसा आचरण करता है। निरिच्छ पुरुष को भी कर्म में वैसा ही प्रेम होना चाहिए। (६९) क्योंकि, हे पार्थ ! इस सब लोकस्थिति की बारम्बार और हर तरह से रक्षा करना आवश्यक है। (७०) इसलिए कर्ममार्ग के आधार से चलना चाहिए, तथा संसार को भी सन्मार्ग में लगाना चाहिए, परन्तु लोगों की दृष्टि में अलौकिक नहीं बनना चाहिए। (७१)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

जिस बालक के लिए स्तनपान करना भी कठिन है वह पक्वान्न का भोजन कैसे कर सकता पकाम ? इसलिए, हे धनुर्धर ! जैसे उसे पकान्न देना उचित नहीं (७२) वैसे ही कर्म के विषय जिनका अधिकार नहीं है उनसे नैष्कर्म्यता की श्रेष्ठता की बातें करना हँसी में भी उचित नहीं। (७३) उन्हें सत्कर्मता ही बताना चाहिए। उसी एक बात की प्रशंसा करनी चाहिए। इतना ही नहीं वरन् निष्कर्म लोगों को उस सत्कर्म का आचरण भी करके बताना चाहिए। (७४) वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के हेतु कर्म का व्यवहार करने से उन्हें कर्मजन्य नहीं लगता। (७५) राजा-रानी-वेषधारी बहुरूपिये पुरुष-स्त्री भाव मन में नहीं रखते केवल लोगों की दृष्टि ही भरम देते हैं। (७६)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

हे धनुर्धर! देखो, यदि दूसरे का बोझा अपने सिर लिया जाय तो क्या वह भारी न लगेगा? (७७) वैसे ही प्रकृति के धर्म से जो भले-बुरे कर्म उपजते हैं मूर्ख लोग बुद्धि के भ्रम के कारण निज को ही उनका कर्ता समझते हैं। (७८) ऐसे जो अहङ्कार से भरे हुए, केवल देह को आत्मा समझनेवाले मूर्ख हैं उन पर इस गहन परमार्थ को प्रकट करना उचित नहीं। (७९) अब सम्प्रति तुम्हें एक हितकारी बात बताते हैं, हे अर्जुन! ध्यान देकर सुनो। (१८०)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

जिसके कारण कर्म उत्पन्न होते हैं वह देह-भाव जिन तत्त्वज्ञानियों का नष्ट हो जाता है। (८१) वे देह का अभिमान छोड़ कर और गुण और कर्म के परे हो देह में प्रकृति के साक्षी हो व्यवहार करते हैं। (८२) इसलिए यद्यपि वे शरीर धारण करते हैं तथापि कर्म से बद्ध नहीं होते, जैसे कि प्राणियों की चेष्टा से सूर्य लिप्त नहीं होता। (८३)

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

संसार में कर्म से वही लिप्त होता है जो गुणों के भ्रम के वश हो जाता है और प्रकृति के अधीन हो व्यवहार करता है, (८४) और इन्द्रिय-गण गुणों के आधार से जो अपने अपने व्यापार करते हैं तद्रूपी पराया कर्म जो बलात् आप ही अङ्गीकार करता है। (८५)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अतएव तुम सब उचित कर्मों का आचरण कर उन्हें मुझे अर्पण करो परन्तु चित्त की वृत्ति आत्मा के स्वरूप में लगा रक्खो। (८६) और चित्त में कभी इस अभिमान का प्रवेश न होने दो कि यह कर्म है, मैं कर्ता हूँ अथवा अमुक फल के हेतु मैं इस कर्म का आचरण करूँगा। (८७) शरीर के अधीन मत हो, कामना सब छोड़ दो और फिर अवसर से प्राप्त हुए सब भोग भोगो। (८८) अब अपना धनुष हाथ में लेकर रथ पर चढ़ो और समाधान-पूर्वक वीरवृत्ति का स्वीकार करो (८९) संसार में कीर्ति

पैलाओ, स्वधर्म का सम्मान बढ़ाओ और पृथ्वी को इस बोझ से मुक्त करो। (१९०) अब हे पार्थ! निःशङ्क हो जाओ और इस संग्राम में चित्त दो। इसके सिवाय इस समय और कुछ उचित नहीं है। (९१)

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

हे धनुधर! यह मेरा निश्चित मत अत्यन्त आदर के साथ स्वीकारेंगे और श्रद्धापूर्वक उसका आचरण करेंगे (९२) उन्हें भी, यद्यपि वे कर्मों में व्यवहार करते हों तथापि, कर्म-रहित समझो। अतएव यह उपदेश निश्चय से आचरण करने के योग्य है। (९३)

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्यथा, यह भी निश्चय जानो कि जो प्रकृति के अधीन हो इन्द्रियों को दुलारा कर मेरे मत का अनादर करके त्याग कर देते हैं, (९४) जो उसे सामान्य समझते हैं, उसकी अवज्ञा करते हैं, अथवा ऐसी बक करते हैं कि यह स्तुति वाक्य है (९५) वे मोह की मदिरा से मतवाले अथवा विषयरूप विष से सने हुए अथवा अज्ञानरूप कीचड़ में फँसे हुए हैं। (९६) मृत मनुष्य के हाथ में रक्खा हुआ रत्न जैसा वृथा है, अथवा जन्मान्ध को जैसे प्रकाश प्रमाणित नहीं होता, (९७) अथवा चन्द्र का उदय जैसे कौवे को उपयोगी नहीं होता, वैसे ही यह विवेक मूर्ख मनुष्य को नहीं भाता। (९८) उसी प्रकार हे पार्थ! जो इस परमार्थ से विमुख हैं उनसे सम्भाषण तो न करना चाहिए। (९९) क्योंकि वे इसे नहीं मानते और इसकी निन्दा भी करने लगते हैं। कहो प्रकाश क्या पतङ्गों से सहा जाता है? (२००) पतङ्ग दीपक को आलिङ्गन देता है तो जैसे उसकी अवश्य ही मृत्यु हो जाती है वैसे ही विषयों के आचरण से आत्मनाश हो जाता है। (१)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ये इन्द्रिय एक ऐसी वस्तु है जिनको मदार दबकर कुतूहल से लालन करना ज्ञानी मनुष्य को कभी उचित नहीं। (२) अजी, क्या सर्प के साथ

कोई खेल सकता है ? अथवा क्या व्याघ्र का सहवास निभ सकता है ? कहो, क्या हलाहल विष पीने से पच सकता है ? (३) देखो खेलते खेलते यदि आग लग जाय तो वह भड़क उठती है और फिर सँभाली नहीं सँभलती, वैसे ही इन्द्रियों का लालन करना अच्छा नहीं होता। (४) इसके अतिरिक्त हे अर्जुन ! इस पराधीन शरीर के लिए अनेक प्रकार के विषय भोग क्यों सम्पादन किये जावें ? (५) अनेक आयास करके, रात और दिन सम्पूर्ण सम्पत्ति मिलाकर क्या हम लोगों को इस देह का ही प्रतिपाल करते रहना चाहिए ? (६) सब तरह से कष्ट करके सकल समृद्धि सम्पादन की जाय वह क्या इसलिये कि स्वधर्म छोड़ इस शरीर का पोषण हो ? (७) तो फिर जब ये पञ्चभूतों का समूह अन्त में पञ्चतत्त्व में मिल जायगा उस समय हमें हमारे किये हुए कष्ट का फल खोजने कहाँ मिलेगा ? (८) अतएव केवल शरीर के पोषण को स्पष्ट हानि ही समझो। इसमें चित्त लगाना उचित नहीं। (९)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

साधारणतः इन्द्रियों के इच्छानुसार विषयों को पोषण करने से सचमुच चित्त में सन्तोष उत्पन्न होता है। (२१०) परन्तु वह मानों साधुरूपी चोर की संगति है, जो जब तक नगर की सीमा नहीं छूटती तब तक ही स्वस्थ रहता है (११) हे तात ! विष की मधुरता आरम्भ में चित्त में प्रीति उत्पन्न करती है परन्तु परिणाम पूछो तो प्राण हर लेती है। (१२) देखो, इन्द्रियों में जो काम है वह सुख की दुराशा लगा देता है, जैसे बनसी में लगा हुआ मांस मीन को भुला देता है। (१३) जैसे काँटा आच्छादित होने के कारण मीन यह नहीं जान सकता कि उस बनसी में लगे हुए मांस के भीतर प्राणहारक काँटा है (१४) वैसी ही दशा अभिलाष के कारण मनुष्य की होती है। विषयों की आशा रखने से मनुष्य क्रोधाग्नि के अधीन हो जाता है। (१५) जैसे बहेलिया मृग को मारने के लिए जान-बूझ कर अपने निशान के सामने घेर लाता है (१६) वैसा ही हाल इन विषयों का है। इसलिए हे पार्थ ! इनका संग तुम्हें उचित नहीं। काम और क्रोध दोनों को घातक समझो। (१७) अतएव इनका आश्रय भी न करना चाहिए। मन में इनका स्मरण भी न रखना चाहिए। एक आत्मवृत्ति की आर्द्रता मात्र कभी नष्ट न होने देना चाहिए। (१८)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अभी, अपना स्वधर्म यद्यपि कठिन भी हो तथापि उसी का आचरण करना भला है। (१६) अन्य पराया आचार देखने में कितना ही अच्छा हो तथापि आचरण करनेवाले को चाहिए कि अपने ही धर्म का आचरण करे। (२२०) शूद्र के घर सब अच्छे अच्छे पकान्न हों तो क्या दरिद्री ब्राह्मण को खा लेना चाहिए ? (२१) ऐसी अनुचित बात क्यों की जाय ? जो वस्तु ग्रहण करने के योग्य नहीं है उसकी इच्छा क्यों करनी चाहिए ? अथवा इच्छा भी हो तो उसे क्यों पूर्ण करना चाहिए ? (२२) लोगों के मनोहर महल देखकर अपने बने बनाये फूस के झोपड़े क्यों ढाह डालने चाहिए ? (२३) और रहने दो, अपनी स्त्री यद्यपि कुरूपा हो तथापि वैसे उसी को भोगना भला है (२४) वैसे ही स्वधर्म कितना भी कठिन हो, आचरण के लिए दुर्घट हो, तथापि परलोक में वही सुखकारी होता है। (२५) अभी, शक्कर और दूध मधुरता में प्रसिद्ध हैं परन्तु कृमि-दोषवाले के विरुद्ध हैं। वह उन्हें कैसे पी सकता है ? (२६) इस पर भी यदि पिये तो उसका आग्रह ही है। क्योंकि, हे धनुर्धर ! परिणाम में वह हितकारी नहीं होता। (२७) इसलिए यदि अपना हित विचारना हो तो दूसरों को जो विहित है और हमारे लिए अनुचित है, उसका आचरण कदापि न करना चाहिए। (२८) इस स्वधर्म का अनुष्ठान करते करते यदि जीवित का नाश हो जाय तो भी वह दोनों लोकों में बहुत श्रेष्ठ समझा जाता है। (२६) इस प्रकार जब सम्पूर्ण देवों के मुकुटमणि शार्ङ्गपाणि बोले तब अर्जुन कहने लगा कि हे देव ! एक विनती है। (२३०) यह जो कुछ आपने कहा सो मैंने सब सुन लिया, परन्तु अब कुछ अपने इच्छानुसार पूछता हूँ। (३१)

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

हे देव ! ऐसा क्यों होता है कि ज्ञानियों की भी स्थिति बिगड़ जाती है और वे सन्मार्ग को छोड़ अन्य मार्ग से चलते हुए दिखाई देते हैं ? (३२) जो सर्वज्ञ होते हैं और ये उपाय भी जानते हैं वे भी किस गुण के

कारण अपना धर्म छोड़कर परधर्म का व्यभिचार करते हैं? (३३) बीज और भूसे की छाँट जैसे अन्धा नहीं कर सकता वैसे ही क्या भर नेत्रवान् मनुष्य भी क्यों भूल जाता है? (३४) जो पास बनाया सङ्ग छोड़ देते हैं वे पुनः सङ्ग करते हुए भी तृप्त नहीं होते; वनवासी भी नगर में आ रहते हैं, (३५) छिप करके सब तरह से पापों को टाला देते हैं परन्तु बलात्कार से फिर उन्हीं पापों में लग जाते हैं, (३६) जो जिस बात से घृणा करता है वही जी से लग बैठती है, और उसे टाला देने का यत्न करने से वह फिर उसे खोज लेती है, (३७) ये बातें किसी जबरदस्त गुण के आग्रह से होती हुई दिखाई देती हैं। वह कौन-सा गुण है? हे हृषीकेश! बतलाइए। (३८)

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

तब जो हृदय-कमल को सुख देनेवाले हैं, योगी निरिच्छ होते हुए भी जिनके लिए सकाम होते हैं, वे पुरुषोत्तम बोले—सुनो, (३९) ये काम और क्रोध हैं जिनके पास दयारूपी पूँजी नहीं रहती। ये काल की जगह माने जाते हैं। (२४०) ये ज्ञानरूपी धन के सर्प हैं, विषयरूपी घोड़े के बाघ हैं, भजन मार्ग के घात करनेवाले डोम हैं। (४१) ये देहरूपी किले के पत्थर हैं इन्द्रिय-नगर के कोट हैं। संसार में इनका अज्ञान इत्यादिरूपी गदर मच रहा है। (४२) ये मन के रजोगुण से उत्पन्न हुए हैं सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति के बने हुए हैं, और इनका पालीपन अविद्या ने किया है। (४३) ये रजोगुण से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु तमोगुण के बड़े प्यारे हैं इसलिए तमोगुण ने इन्हें अपना पद अर्थात् भूल और मोह प्रदान किया है। (४४) मृत्युरूपी नगर में ये श्रेष्ठ समझे जाते हैं, क्योंकि ये जीवन के शत्रु हैं। (४५) इन्हें खाने की इच्छा हो तो यह संसार इनके एक कौर के लिए भी बस नहीं होता। आशा इनका व्यापार चलाती है। (४६) जिसे चौदहों भुवन कुतूहल से मुट्ठी में दबाने के लिए थोड़े मालूम होते हैं वह भ्रान्ति इनकी प्यारी छोटी बहिन है। (४७) यह भ्रान्ति तीनों लोकरूपी रसोई का खेल खेलते खेलते उसे सहज ही खा जाती है। इसके दासीपन के बल से तृष्णा जीवन धारण करती है। (४८) और तो क्या, मोह इन्हें मानता है, तथा अहङ्कार इन्हें आधिपत्य दे भेंट देता है, जिससे यह सब

संसार को अपने इच्छानुसार नचाता है। (४९) सत्य का गुदा निकालने हारे और उसमें असत्यरूपी भुस भरनेहारे दम्भ को इन्होंने संसार में बसाया है। (२५०) इन्होंने पतिव्रता शान्ति को लूट कर मिथ्यामती माया को सिंगारा है और उससे साधुओं के समूहों को भ्रष्ट करवाया है। (५१) इन्होंने विवेक का आश्रय-स्थान तोड़ डाला है, वैराग्य का चमड़ा उधेड़ डाला है, और उपशम का जीते जी गला मरोड़ डाला है। (५२) इन्होंने सन्तोषरूपी वन काट डाला है, धैर्यरूपी क़िले गिरा दिये हैं, और आनन्दरूपी रोपे उखाड़ कर फेंक दिये हैं। (५३) इन्होंने ज्ञान के पौधे नोच डाले हैं, सुख का नाम मिटा दिया है और अन्तःकरण में त्रिविध तापों की आग उत्पन्न कर दी है। (५४) इन्होंने जब से शरीर धारण किया है तब से ये हृदय से ही लगे हुए हैं परन्तु खोजने से ये ब्रह्मादि देवों को भी हाथ नहीं लगते। (५५) ये चैतन्य के पास ज्ञान की पंक्ति में बैठे हैं, इसलिए महाप्रलय करने के लिये प्रवृत्त होते हैं और किसी के रोके नहीं रुकते। (५६) ये मछलियों को बिना पानी के डुबाते हैं, बिना अग्नि के जलाते हैं और न बोलते मार लेते हैं। (५७) ये बिना शस्त्र के मारते हैं, बिना डोरी के बाँधते हैं, और ज्ञानियों का भी शर्तिया नाश करते हैं। (५८) ये बिना कीचड़ के गाड़ देते हैं, बिना पाश के फँसाते हैं, तथा बलवत्ता में कोई इनका सामना नहीं कर सकता। (५९)

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे चन्दन की जड़ में साँप लिपटा हुआ रहता है अथवा गर्भ जैसे गर्भवेष्टन की खोल से ढँका रहता है, (२६०) अथवा प्रकाश के बिना सूर्य, धूम के बिना अग्नि, मल के बिना दर्पण जैसे कभी नहीं रहता, (६१) वैसे ही इनके बिना ज्ञान हमने अकेला नहीं देखा। जैसे बीज भूसे से ढका हुआ उत्पन्न होता है। (६२)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

वैसे ही ज्ञान यद्यपि शुद्ध है तथापि काम-क्रोध से आच्छादित है, इसलिए वह अगाध हो बैठा है। (६३) पहले इन काम-क्रोधों को जीतना चाहिए तब ज्ञान हाथ आवेगा। तब तक राग-द्वेष के पराभव

की सम्भावना नहीं होती। (९४) इनके मारने के लिए शरीर में जो बल लगाया जाय वह आग में ईंधन जैसा इन्हीं का सहायक हो जाता है। (९५)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तथा और जो जो इस तरह के उपाय किये जायँ वे सब इन्हीं के सहायक हो जाते हैं। इसलिए संसार में इन्होंने दृढ़ योगियों को भी जीत लिया है। (९६) ऐसे सङ्कट में भी एक उपाय उत्तम है। वह यदि तुम्हें अनुकूल हो तो बतलाता हूँ। (९७)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इनका पहला घोंसला इन्द्रियाँ हैं। यहीं से प्रवृत्ति कर्म उत्पन्न करती है। प्रथम उन इन्द्रियों को सर्वथा पराजित कर छोड़ो। (९८)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

ऐसा करने से मन की दौड़ बन्द हो जायगी और बुद्धि का छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकार इन पापियों का ठाँव मिट जायेगा। (९९)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

ये दोनों यदि अन्तःकरण से निकाल दिये जायँ तो निश्चय से इनका नाश हो जाता है, जैसे किरण न हो तो मृगजल नहीं रह सकता। (१००) अतः यदि राग और द्वेष का नाश हो जाय तो ब्रह्म-रूपी स्वराज्य हाथ आता है, और मनुष्य आप ही आत्मसुख भोगता है। (७१) यही गुरु और शिष्य की गुप्त बात है। यही जीव और ब्रह्म की भेंट है, यहाँ स्थिर होकर रहो, यहाँ से कभी मत चलो। (७२) हे राजा! सुनो सम्पूर्ण सिद्धों के राजा, देवी लक्ष्मी के नाथ और देवों के देव ने इस प्रकार उपदेश किया। (७३)

अब वे अनन्त फिर एक पुरातन कथा कहेंगे और फिर पाण्डुपुत्र अर्जुन प्रश्न करेगा। (७४) उस संवाद की योग्यता अथवा रसिकता की श्रेष्ठता से श्रोतागणों को श्रवणसुख का सुकाल होगा। (७५) मैं श्रीनिवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ, हे तात! अपनी बुद्धि भली भाँति जागृत रखकर इस श्रीकृष्ण और पार्थ के संवाद का उपभोग कीजिए। (२७६)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः।

चौथा अध्याय

आज हमारी श्रवणेन्द्रिय के लिए दिन निकला है, क्योंकि उसे गीतारूपी धन दृग्गोचर हो रहा है। अब यह स्वप्नरूपी जगत् सत्य के मोक्ष-सा दिखाई देता है। (१) एक तो पहले ही यह कथा विवेक की है, ऊपर से जगद्गुरु श्रीकृष्ण उसका निरूपण करते हैं और भक्तराज अर्जुन सुन रहे हैं। (२) पञ्चम स्वर के साथ जैसे सुगन्ध का मेल हो जाय, अथवा सुगन्ध और सुस्वाद का मेल हो जाय वैसे ही यह कथा भी अत्यन्त मनोरञ्जक हुई है। (३) कैसा विख्यात भाग्य है! इसमें मानों अमृत की गङ्गा प्राप्त हुई है, अथवा श्रोताओं के पूर्व तप ने ही फल का रूप धारण किया है। (४) अब सब इन्द्रियों को श्रवण के घर में प्रवेश कर इस गीता नामक संवादसुख का उपभोग लेना चाहिए। (५) अब मैं विशेष अन्या-पेक्षा प्रस्ताव छोड़ता हूँ और कृष्ण और अर्जुन दोनों परस्पर जो संवाद कर रहे थे उसका वर्णन करता हूँ। (६) उस समय सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि अर्जुन बड़ा भाग्यशाली है जो श्रीनारायण उससे अत्यन्त प्रेम से संवाद करते हैं। (७) जो बात उन्होंने पिता वसुदेव से न कही जो माता देवकी को न बताई, जो भ्राता बल-भद्र को भी न सुनाई वही गुप्त बात वे अर्जुन से कह रहे हैं। (८) देवी लक्ष्मी जो इतनी समीप रहनेहारी उसने भी इस प्रेम का सुख नहीं देखा। आज श्रीकृष्ण के प्रेम का फल अर्जुन को ही मिला है। (९) सनकादि ऋषियों की आशाएँ बहुतेरी बढ़ी हुई थीं परन्तु वे भी इस प्रकार सफल न हुईं। (१०) अर्जुन पर इस जगदीश्वर का प्रेम निरुपम दिखाई देता है। इसने कैसा सर्वोत्तम पुण्य किया है! (११) अथवा जिसकी प्रीति के हेतु इस विदेही भगवान् ने व्यक्त रूप धारण किया है उसकी स्थिति मुझे इसके साथ एकाकार हुई जान पड़ती है। (१२) जो यह योगियों के हाथ नहीं आता, वेद के जाननेवालों के बुद्धिगत नहीं होता, और ध्यान की दृष्टि भी उस तक पहुँच नहीं सकती। (१३) ऐसा यह आत्मस्वरूप, अनादि और निश्चल है, परन्तु यही कैसा दयालु हो रहा है!

(१४) जो त्रैलोक्यरूपी वस्त्र की तह है, अथवा आकार का परतीर है वही कैसा इस अर्जुन के प्रेम के अधीन हो रहा है! (१५)

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

फिर देव ने कहा—हे पाण्डुसुत! यही योग हमने विवस्वत को बताया था परन्तु यह वार्ता बहुत दिनों की है। (१६) उस विवस्वान सूर्य ने यह सब योगस्थिति अच्छी तरह से वैवस्वत मनु से निरूपित की। (१७) मनु ने स्वयं इस योग का अनुष्ठान किया और फिर इक्ष्वाकु को उसका उपदेश किया। ऐसी यह पुरातन परम्परा विस्तृत हुई है। (१८)

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

तदनन्तर यह योग और भी कई राजर्षियों को ज्ञात हुआ परन्तु तब से अब सम्प्रतकाल में इसे कोई नहीं जानता। (१९) कारण यह है कि प्राणियों की विषयों की अभिरुचि है और शरीर पर ही प्रेम है, इसलिए वे आत्मज्ञान को भूल गये हैं। (२०) लोगों की आस्था और बुद्धि आड़े टेढ़े मार्ग में प्रवृत्त होती है, विषयों का सुख ही परमप्राप्तव्य मालूम होता है, और जैसा भी है वैसी ही उपाधि उन्हें प्रिय हो रही है। (२१) साधारण बात है कि दिगम्बर लोगों की बस्ती में बहुमोल वस्त्रों का क्या काम है? अहो जन्मान्ध मनुष्य को सूर्य का क्या उपयोग है? (२२) अथवा बहिरों की सभा में गीत का कौन सन्मान करता है? अथवा चोर को क्या कभी चाँदनी से प्रीति उत्पन्न होती है? (२३) उल्लो चन्द्रोदय के पूर्व ही जिनकी आँखें फूट जाती हैं वे कौए चन्द्र को किस प्रकार पहिचान सकते हैं? (२४) इसी प्रकार जो वैराग्य की हद तक नहीं पाते विवेक का नाम भी नहीं जानते वे मूर्ख मुझ ईश्वर तक कैसे पहुँच सकते हैं? (२५) इस प्रकार न जाने कैसे मोह बढ़ गया है। और बहुत-सा काल व्यर्थ व्यतीत हो गया है इसलिए इस लोक में यह

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही योग हे कुन्तीसुत! आज मैंने तुमसे उसका निरूपण किया। इसे मत भूलो। (२७) यह मेरे हृदय का गुप्त है, परन्तु तुमसे क्योंकर छिपा सकता हूँ? क्योंकि तुम मेरे प्रेमी हो। (२८) हे धनुधर! तुम केवल प्रेम की मूर्त्ति हो भक्ति के हृदय हो, मैत्री की जीवनकला हो, (२९) विश्वास के आश्रय हो। अतएव क्या तुम्हारे साथ प्रतारणा हो सकती है? (३०) यद्यपि हम युद्ध के लिए उद्यत हैं तथापि क्षण भर ठहरेंगे और यह गड़बड़ हो रही है तथापि पहले तुम्हारा अज्ञान दूर करेंगे। (३१)

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

तब अर्जुन ने कहा—हे श्री हरि! सुनिए। माता अपने बालक पर स्नेह करती है, तो हे कृपानिधे उसमें क्या आश्चर्य है? (३२) आप संसार से तप्त हुए लोगों के लिए छाया हैं, अनाथ जीवों के लिए माता हैं, वास्तव में हम लोगों को आपकी कृपा ही ने उत्पन्न किया है। (३३) हे देव! किसी को यदि एकमात्र पंगु पुत्र उत्पन्न हो तो उसे आजन्म उसका बखान सहना पड़ता है। आपकी अपेक्षा आप ही के सामने क्या बखानी जाय। (३४) अब जो कुछ मैं पूछता हूँ उस पर ध्यान दीजिए और हे देव! उस बात पर क्रोध न कीजिए। (३५) हे अनन्त! आपने जो पुरातन वार्ता कही वह क्षण भर भी मेरे चित्त में नहीं जमती। (३६) क्योंकि यह विवस्वत कौन था सो बूढ़े भी नहीं जानते तो उसे आपने कहाँ और कब उपदेश किया? (३७) वह तो बहुत पुरातन सुना जाता है, और आप श्रीकृष्ण तो साम्प्रत काल के हैं। इसलिए इस बात में विरोध मालूम होता है। (३८) तथापि हे देव! आपका चरित्र हम कुछ भी नहीं जानते, आपकी बात को हम एकदम मिथ्या क्योंकर कह दें? (३९) अतएव यह सब बात इस तरह बताइए कि मेरी समझ में आ जाय। क्या आपने उस सूर्य को उपदेश किया था? (४०)

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे पाण्डुसुत! यदि तुम्हारे चित्त में यह भ्रम हो कि जब वह विवस्वत था तब हम न थे (४१) तो यह तुम्हारा अज्ञान है। देखो, तुम्हारे हमारे कई जन्म हो चुके हैं, परन्तु तुम्हें अपने जन्मों का स्मरण नहीं है। (४२) मैं जिस-जिस काल में जिस-जिस रूप से अवतार लेता हूँ उन सबका स्मरण रखता हूँ। (४३)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

इसलिए यह पुरातन वार्ता मुझे याद है। मैं अजन्मा हूँ परन्तु प्रकृति का अङ्गीकार करने से जन्म लेता हूँ। (४४) मेरी अविनाशिता का भङ्ग नहीं होता। जन्म और मृत्यु जो दिखाई देते हैं वे माया के कारण मुझ ही में प्रतिभासित होते हैं। (४५) मेरी स्वतन्त्रता तो नष्ट नहीं होती, परन्तु मेरा कर्म के वश हुआ-सा दिखाई देना भ्रमबुद्धि के कारण होता है। मैं वास्तव में कर्माधीन नहीं होता। (४६) एक वस्तु जो दर्पण में दूसरी दिखाई देती है वह दर्पण के आधार से दिखाई देती है। अन्यथा यदि सत्य विचारा जाय तो क्या कोई दूसरी वस्तु रहती है? (४७) वैसे ही हे किरीटी! मैं निराकार हूँ परन्तु जब माया धारण करता हूँ तब कार्य के हेतु साकार हो नट जैसा वेष धर लेता हूँ। (४८)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

क्योंकि आरम्भ से ही यह एक स्वाभाविक परिपाटी चली है कि मुझे सम्पूर्ण धर्मसमुदाय की प्रत्येक युग में रक्षा करनी चाहिए। (४९) इसलिए जिस समय अधर्म धर्म का पराभव करता है उस समय मैं अपना अजन्मराहित्य दूर रख अपनी निराकारता भी भूल जाता हूँ। (५०)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

उस समय मैं अपने भक्तों का पक्ष लेने के लिए साकार होकर अवतार लेता हूँ और अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर डालता हूँ (५१) अधर्म की सीमा तोड़ डालता हूँ, पापों का लेख फाड़ डालता हूँ, और सज्जनों से सुख की ध्वजा फहरवाता हूँ। (५२) दैत्यों के कुल का नाश करता हूँ, साधुओं को सम्मान दिलाता हूँ और धर्म और नीति का विवाह करा देता हूँ। (५३) तब मैं अविवेकरूपी गुल झाड़ कर विवेकरूपी दीपक उसकाता हूँ तब योगियों के लिए निरन्तर दिवाली-सा उजेला हो जाता है, (५४) विश्व आत्मसुख से भर जाता है, संसार में धर्म आ बसता है और भक्तों के सात्त्विक भावों की कोंपलें निकल पड़ती हैं, (५५) हे पाण्डुकुँवर! जब मेरी मूर्त्ति प्रकट होती है तब पाप का परदा हट जाता है, और पुण्य का सवेरा हो जाता है। (५६) ऐसे कार्यों के लिए मैं हर एक युग में अवतार लेता हूँ। परन्तु जो यह जान ले वही संसार में ज्ञानी है। (५७)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९ ॥

जो निःसंशय यह समझ ले कि मैं जन्मरहित होते हुए जन्म लेता हूँ, क्रिया करनेहारा न रहते हुए कर्म करता हूँ वही अत्यन्त मुक्त है। (५८) वह मनुष्य देहसङ्ग के कारण चले तो भी वास्तव में नहीं चलता देह में रहता है तो भी देह के वश नहीं होता, और फिर जब पञ्चत्व में मिलता है तब मेरे ही स्वरूप में आ मिलता है। (५९)

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १० ॥

सामान्यतः जो अगली पिछली बातों का सोच नहीं करते जो कामनाशून्य हो जाते हैं, और किसी समय क्रोध के मार्ग से नहीं जाते (६०) सदैव मुझसे ही सम्पन्न रहते हैं, मेरी ही सेवा के लिए जीते हैं, अथवा जो निरिच्छ होकर आत्मज्ञान से सन्तुष्ट हो रहते हैं (६१) जो तपरूपी तेज की राशि हैं, अथवा ज्ञान के एक ही आश्रय हैं, और जो स्वयं तीर्थरूप रहते हुए

अन्य तीर्थों को पवित्रता पहुँचाते हैं (६२) वे मनुष्य सहज ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वे मद्रूप हो रहते हैं। क्योंकि मुझमें और उनमें कुछ अन्तर नहीं रहता। (६३) अहो, जब पीतल का कलङ्क सम्पूर्ण नष्ट जाय तब सुवर्ण क्या कोई दूसरी प्राप्तव्य वस्तु रह जाती है? (६४) वैसे ही इसमें सन्देह नहीं कि जो यम-नियमों के पालन से तपे रहते हैं वे, जो मैं हूँ वही हो जाते हैं। (६५)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

यों भी देखो, मुझमें जो जैसा प्रेम रखते हैं उन पर मैं भी वैसी ही प्रीति रखता हूँ। (६६) वास्तव में सम्पूर्ण मनुष्य स्वभावतः केवल मेरा ही भजन करते हैं। (६७) परन्तु ज्ञान के बिना उनकी हानि होती है। क्योंकि उनकी बुद्धि भेदयुक्त हो गई है। वे मुझे एक को अनेक रूपों में कल्पना करते हैं। (६८) इसमें मैं जो भेद-रहित हूँ उसमें वे भेद देखते हैं, मैं जो नामरहित हूँ उसे वे नाम देते हैं, मैं जो अनिर्वाच्य हूँ उसे देव-देवी इत्यादि पद लगाते हैं, (६९) और मैं जो सर्वत्र और सदैव समान हूँ उसके, भ्रान्त बुद्धि के वश हो, अधम और उत्तम भेद मानते हैं। (७०)

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

तथा अनेक हेतु मन में रखकर और अनेक प्रकार से मन माने, उपचारों से मनाये हुए अनेक देवताओं की उपासना करते हैं। (७१) ऐसा करने से जो जो उनका इच्छित हेतु रहता है वह सम्पूर्ण उन्हें प्राप्त होता है। परन्तु वास्तव में यह उनके कर्म का फल समझो। (७२) इसके सिवाय फल देने या लेनेवाला कोई भी दूसरा नहीं है। यह सत्य जानो कि इस मनुष्यलोक में कर्म ही फल देनेवाला होता है। (७३) जैसे खेत में जो कुछ बोया जाय उसके सिवाय दूसरी वस्तु वहाँ उत्पन्न नहीं होती अथवा दर्पण के आधार से जो देखना चाहो वही वस्तु दिखाई देती है, (७४) अथवा हे किरीटी! पर्वत के कगार पर जैसे अपना ही शब्द

प्रतिध्वनित हो उठता है, (७५) वैसे ही इन सब भजनों का मैं साक्षी-भूत हूँ, परन्तु इनमें अपनी अपनी भावना ही फल-रूपिणी होती है। (७६)

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
> तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

अब इसी प्रकार यह जान लो कि ये चारों वर्ण मैंने गुण और कर्म के भेद से उत्पन्न किए हैं। (७७) अर्थात् प्रकृति के आधार से गुणों का मिश्रण होता है और उन गुणों के अनुसार कर्म नियत किये गये हैं। (७८) हे धनुर्धर अर्जुन! यह जगत् सब एक ही है। परन्तु स्वभावतः गुणकर्मों का प्रबन्ध ऐसा किया गया है कि उसका चार वर्णों में विभाग हो गया है। (७९) इसलिए हे पार्थ! वर्णभेद की व्यवस्था का कर्ता मैं नहीं हूँ। (८०)

> न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
> इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

इस प्रकार जो यह जान लेता है कि ये भेद मेरे कारण उत्पन्न हुए हैं परन्तु मैंने नहीं बनाये हैं, वही कर्म से छुटकारा पाता है। (८१)

> एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
> कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

हे धनुर्धर! पूर्व में जो मुमुक्षु थे उन्होंने मुझे इस प्रकार जान-कर ही सम्पूर्ण कर्म किया है। (८२) जैसे भुना हुआ बीज बोने से कभी नहीं उगता वैसे ही कर्म उन मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष का कारण हुआ है। (८३) हे अर्जुन! इसमें एक बात और है कि समझदार मनुष्य को कर्माकर्म का विचार अपनी इच्छानुसार करना योग्य नहीं है। (८४)

> किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
> तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

जिसे कर्म कहते हैं वह क्या है, अथवा अकर्म का क्या लक्षण है, इस बात का विचार करते विद्वान् लोग भी थक गये हैं।

(८५) जैसे नकली सिक्का सच्चे सिक्के के समान दीखने के कारण नेत्रों की देखने की क्रिया को भी संशययुक्त कर डालता है (८६) वैसे ही जो संकल्प-मात्र से दूसरी सृष्टि बना सकते हैं उन्हें भी निष्कर्मता के भ्रम से कर्म ढूँढ़ने का पड़ता है। (८७) इस विषय में ज्ञानी लोग भी मोह गये हैं तो फिर मूर्खों की क्या कथा है? (८८)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

जिससे स्वभावतः विश्वाकार प्रकट होता है वह कर्म कहलाता है। संसार में प्रथम उसको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, (८९) फिर जो वर्णाश्रम के उचित और विशेष तथा विहित कर्म हैं वे भी निश्चय से उनके उपयोग सहित जान लेने चाहिए। (९०) अनन्तर जो निषिद्ध कर्म कहलाते हैं उनका स्वरूप भी जान लेना चाहिए। इतना करने से आप ही आप चित्त कहीं लिप्त न होगा। (९१) सामान्यतः सब संसार कर्म के अधीन है। इसकी गहन इसकी व्यापकता है। परन्तु यह रहने दो, अब पहुँचे हुए पुरुष के लक्षण सुनो। (९२)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो सब कर्मों में व्यवहार करते हुए निज को निष्कर्म जानता है, और कर्म का संग होते हुए फल की आशा नहीं रखता, (९३) तथा कर्तव्यता के लिए संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है इस प्रकार उत्तम निष्कर्मता के ज्ञान से जो युक्त हुआ है, (९४) तथापि सम्पूर्ण क्रियासमूहों का उत्तम आचरण करते हुए दिखाई देता है, इन लक्षणों के द्वारा उसी को ज्ञानी समझना चाहिए। (९५) जैसे जल के किनारे खड़े रहने से यदि अपना ही प्रतिबिम्ब जल में दिखाई दे तो तब वह मनुष्य निश्चय से पहचान सकता है और कह सकता है कि मैं इस प्रतिबिम्ब से भिन्न हूँ (९६) अथवा जो नाव में बैठकर चलता है वह तीर पर के वृक्षों को वेग से दौड़ते देखता है, किन्तु वही बात यदि वह स्वयं देखने लगे तो अवश्य कहेगा कि वृक्ष अचल हैं। (९७) वैसे ही सब कर्मों में व्यवहार करना

बिलकुल असत्य मानकर जो निज को निष्कर्म समझता है, (९८) और उदय और अस्त होने के कारण सूर्य जैसे स्थिर होते हुए भी चलता सा दिखाई देता है वैसे ही जो कर्म करते हुए निष्कर्मता का तत्त्व जानता है (९९) वह मनुष्य, मनुष्य के समान दिखाई देता है, परन्तु जैसे सूर्य का बिम्ब जल में नहीं डूबता वैसे वह भी मनुष्यत्व से लिप्त नहीं होता। (१००) वह आँख से न देखते सब विश्व को देख चुका है, कुछ भी न करते सब कर चुका है और कुछ भी न भोगते सब भोग्य वस्तुओं का भोग कर चुका है। (१) वह यद्यपि एक ही जगह बैठा हो परन्तु सर्वत्र भर गया है और तो क्या, वह स्वयं विश्व हो गया है। (२)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिस पुरुष को कर्म के विषय कुछ विषाद नहीं होता परन्तु कोई फल की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होती (३) और जिसका मन ऐसे सङ्कल्प से दूषित नहीं होता कि मैं यह कर्म करूँगा अथवा यह आरम्भ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा, (४) जिसने सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की ज्वाला में जला डाले हैं, उस मनुष्य के रूप में परब्रह्म ही समझो। (५)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

जो शरीर के विषय में उदासीन रहता है, फल-भोग के विषय में निरिच्छ रहता है, और सर्वदा आनन्दी रहता है, (६) हे धनुर्धर! जो सन्तोषरूपी मध्यगृह में भोजन करते समय आत्मज्ञानरूपी भोजन के परोस से कभी नहीं अघाता (७)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

और जो अहङ्कार सहित आशारूपी तिरस्कार का त्याग करके अधिक प्रेम से महासुख की माधुरी चखता है, (८) अतएव

जो कुछ समयानुसार प्राप्त हो जाय उसी से जो सुखी होता है और जिसे अपना और पराया दोनों ही नहीं है, (९) वह मनुष्य जो कुछ देखता है वही आप हो रहता है, और जो कुछ सुनता है वही आप हो जाता है (११०) और चरणों से चलना मुख से बोलना, इत्यादि चेष्टाओं का जितना समूह है वह सब आप ही हो रहता है। (११) और तो क्या, संसार भर में देखा तो उसे निज आत्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है तो फिर कर्म कौन-सी वस्तु है, और उससे उसे बाधा ही क्या हो सकती है? (१२) इतना द्वैतमात्र, कि जिससे मत्सर उत्पन्न हो उसमें रह ही नहीं जाता तो उसके निर्मत्सर होने में सन्देह ही क्या है? (१३) अतएव इसमें सन्देह कुछ नहीं कि वह सर्वथा मुक्त है, सकर्म होता हुआ भी कर्म-रहित है, सगुण होता हुआ भी गुणातीत है, (१४)

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

वह देह के साथ से रहता है परन्तु ब्रह्मस्वरूप के समान जान पड़ता है, और परब्रह्म की कसौटी से देखने से अत्यन्त शुद्ध दिखाई देता है। (१५) इस पर भी यदि वह कुतूहल से यज्ञादिक कर्म करे तो वे सम्पूर्ण कर्म उसी में लय को प्राप्त होते हैं। (१६) जैसे अनवसर से आये हुए मेघ बरस बिना ही उत्पन्न होने के साथ आकाश में लुप्त हो जाते हैं, (१७) वैसे ही यद्यपि वह मनुष्य यज्ञादिविहित कर्मों का अनुष्ठान करता है तथापि वे कर्म उसके ऐक्यमात्र के कारण एकत्व को ही प्राप्त होते हैं। (१८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ २४ ॥

क्योंकि उसकी बुद्धि में यह भिन्नता नहीं रहती कि यह यज्ञ है और मैं यज्ञकर्ता हूँ अथवा इस यज्ञ में यह भोक्ता है। (१९) जिस इष्ट यज्ञ का वह हवन करता है और जिस होम, मन्त्र, और द्रव्यों से यजन करता है उन्हें वह आत्मरूप ज्ञान अविनाशी समझता है। (१२०) इसलिए हे धनुर्धर! जिसकी ऐसी समबुद्धि हो गई है कि 'जो ब्रह्म वही कर्म है' उस कर्तव्य ही निष्कर्मता है। (२१) अब

जिनकी अविवेकरूपी बाल्यावस्था निकल गई है और विरक्ति से विवाह हो चुका है, और फिर जिन्होंने योगाग्नि की पूजा का आरम्भ किया है, (२२)

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

जो दिन-रात यज्ञ करते हैं मन सहित अविद्या को गुरु वाक्य रूपी अग्नि में हवन करते हैं, (२३) हे पाण्डुकुँवर! ऐसे योगाग्नि होत्री जो यज्ञ करते हैं वह देवयज्ञ कहा जाता है, जिससे आत्मसुख की इच्छा पूर्ण हो सकती है। (२४) जिसका पालन प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है उस शरीर के पोषण की चिन्ता जो नहीं करता उसे दैवयोग से महायोगी जानो। (२५) अब सुनो, हम और दूसरे ब्रह्माग्निहोत्रियों का बयान करते हैं जो यज्ञ कर्मों से परमात्मा की उपासना करते हैं। (२६)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कोई आत्मसंयमरूपी अग्नि के हवन करनेहार होते हैं। वे युक्ति त्रय के (वज्रासन जालंधर ओड्डियान) मन्त्र से और इन्द्रियरूपी पवित्र सामग्री से हवन करते हैं। (२७) कोई वैराग्यरूपी सूर्य का उदय होते ही संयमरूपी स्थल बनाकर वहाँ इन्द्रियरूपी अग्नि प्रज्व-लित करते हैं, (२८) और जब उसकी वैराग्यरूपी ज्वाला निकलते ही विकार के ईंधन जलने लगते हैं और अन्तःकरण-पंचक के कुण्डों में से आशारूपी धुआँ निकलता है (२९) तब इन्द्रियरूपी अग्निकुण्ड में वे विहित वाक्यों की उत्तम रीति से विषयरूपी विशाल आहुति का हवन करते हैं। (१३०)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

हे पार्थ! कोई इस प्रकार पापों की सर्वथा शुद्धि करते हैं, तो कोई हृदयरूपी अरणी पर विवेकरूपी मथानी रखते हैं, (३१) उसे शान्ति की डोरी से बाँधते हैं, धैर्य के बल से दबाते हैं, और गुरुवाक्य के सहाय से जोर से घुमाते हैं। (३२) ऐसी वृत्तियों की एकता से

मन्थन करते ही तत्काल कार्य होता है, अर्थात् ज्ञानाग्नि प्रदीप्त हो जाती है। (३३) पहले जो ऋद्धि-सिद्धियों का मोहरूपी धुआँ उठता है उसके निकल जाने पर सूक्ष्म चिनगारी उत्पन्न होती है। (३४) उसमें—पहले ही से यम नियम के अनुष्ठान से सूख कर सूक्ष्म हुए—मन का बहुत-सा ईंधन डाला जाता है (३५) जिसके प्रदीप्त होते ही बड़ी ज्वाला उत्पन्न होती है। वे अनेक वासनारूपी समिधा को अनेक प्रकार के घृत-सहित उसमें जलाते हैं। (३६) और, यज्ञकर्ता दीक्षित सोऽहं मन्त्र से इन्द्रियकर्मों की आहुति उस प्रदीप्त ज्ञानरूपी अग्नि में डालते हैं। (३७) तदनन्तर प्राणकर्मों के स्रुवा से अग्नि में पूर्णाहुति पड़ते ही सहज ही एकत्वबोधरूपी अवभृथ स्नान होता है। (३८) फिर आत्मज्ञान के सुख का जो कि संयमयज्ञ का बचा हुआ द्रव्य है उस यज्ञशेष का—वे भोग लेते हैं। (३९) कोई इस प्रकार यज्ञ करने से संसार में मुक्त हो रहते हैं। यज्ञ क्रियाएँ तो भिन्न हैं परन्तु उनका प्राप्तव्य साध्य एक है। (१४०)

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

ये जो यज्ञ मैंने कहे उनमें एक द्रव्ययज्ञ कहलाता है। एक तप रूपी सामग्री से किया जाता है। एक को योगयज्ञ कहते हैं। (४१) एक में शब्द में शब्द का होम किया जाता है उसे वाग्यज्ञ कहते हैं। जिसमें ज्ञान से ज्ञेय वस्तु प्राप्त की जाती है वह ज्ञानयज्ञ कहाता है। (४२) हे अर्जुन! ये सब यज्ञ विकट हैं, क्योंकि इनका अनुष्ठान बहुत कठिन है। परन्तु ये जितेन्द्रिय मनुष्य को उसके योग्यतानुसार साध्य हो सकते हैं। (४३) वे इन यज्ञों में प्रवीण रहते हैं और योगसमृद्धि से संपन्न रहते हैं। इसलिए वे आत्मा में निज का हवन करते हैं। (४४)

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कोई अपानवायुरूपी अग्नि की ज्वाला में अभ्यासयोग से प्राण-वायुरूपी द्रव्यों का हवन करते हैं, (४५) कोई प्राणवायु में अपान अर्पण करते हैं और कोई दोनों का ही निरोध करते हैं। हे पाण्डुकुँवर! वे प्राणायामी कहाते हैं। (४६)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कोई हठयोग के अभ्यास से विषयरूपी आहार का नियमन करके प्राणवायुरूपी अग्नि में सब प्राणों का उत्कृष्ट हवन करते हैं। (४७) इस प्रकार ये सभी मोक्ष की इच्छा करनेहारे हैं, सभी यज्ञकर्ता हैं, जिन्होंने यज्ञ के द्वारा मन के मल की शुद्धि की है। (४८) सब अज्ञान के नाश हो जाने से जो वस्तु स्वभावतः निज स्वरूप से रह जाती है, वहाँ अग्नि और यज्ञ करनेहारे का कोई भेद नहीं रहता, (४९) जिससे यज्ञ करने की इच्छा पूर्ण हो जाती है, यज्ञ की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, और फिर सब कर्मसमूह भी समाप्त हो चुकता है (१५०) जिसमें बुद्धि का प्रवेश नहीं सकता, कामना जिसे स्पर्श नहीं कर सकती और जो द्वैतदोष की सङ्गति से लिप्त नहीं होता, (५१)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

ऐसा जो अनादिसिद्ध शुद्ध और यज्ञ का शेषज्ञान है उसका ब्रह्मनिष्ठ लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' मंत्र से सेवन करते हैं। (५२) वे इस शेषरूपी अमृत से तृप्त हो चुके हैं, अथवा अमरता को प्राप्त होते हैं। अतएव वे अनायास ब्रह्म ही हो जाते हैं। (५३) अन्यों को विरक्ति कभी अपनाया नहीं चाहती। उनसे कभी संयमाग्नि की सेवा नहीं बन पड़ती। वे जन्मभर कभी योगयाग नहीं करते। (५४) उनका ऐहिक भी ठीक नहीं रहता तो फिर उनके पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या कही जाय? हे पाण्डुकुंवर! उनकी बात ही छोड़ो। (५५)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे जो हमने अनेक यज्ञ अनेक प्रकार से तुम्हें बताये उनका वेदों में विस्तार से निरूपण किया है। (५६) परन्तु उस विस्तार से क्या काम है? यह जान लो कि ये सब यज्ञ कर्म से सिद्ध होते हैं। इतने ही से सहज में कर्म का बन्धन न होगा। (५७)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे अर्जुन ! ये जिनका मूल है, जो बाह्य क्रिया-प्रधान हैं और जिनका अपूर्व फल स्वर्गों का सुख है, (५८) वे वास्तव में द्रव्ययज्ञ हैं परन्तु सूर्य्य के सामने नक्षत्रों की प्रकाशसम्पत्ति के समान वे भी ज्ञानयज्ञ की बराबरी नहीं कर सकते। (५९) देखो, परमात्म-सुखरूपी निधि प्राप्त करने के लिए योगी जन अपने नेत्रों में जिसका अञ्जन लगाना नहीं छोड़ते, (६०) जो क्रियमाण कर्म का प्राप्तव्य विषय है, कर्मातीत बोध की खानि है, जो आत्म-प्राप्ति के लिए भूखे मनुष्य को साधन से उत्पन्न हुई तृप्ति है, (६१) जहाँ प्रवृत्ति लँगड़ी हो जाती है, तर्क की दृष्टि हीन हो जाती है, जिसके सङ्ग से इन्द्रियाँ विषयों का सङ्ग भूल जाती हैं, (६२) मन का मनत्व नहीं रहता, शब्द का शब्दत्व बन्द हो जाता है, और ज्ञेय वस्तु ब्रह्म जिसके अन्तर्गत दिखाई देती है, (६३) जहाँ वैराग्य की हीनता नष्ट हो जाती है, विवेक की उत्कण्ठा टूट जाती है और न खोजते भी आत्मतत्त्व से सहज ही भेंट हो जाती है, (६४)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस उत्तम ज्ञान को जानने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हर प्रकार से सन्तों की सेवा करो। (६५) क्योंकि जो ज्ञानरूपी घर है उसकी देहली सेवा है। हे सुभट ! सेवा करके इस ज्ञान को अधीन करो। (६६) शरीर से, मन से और जीव से सन्तों के चरणों से लगो और गर्व-रहित हो उनकी खूब सेवा करो (६७) तो वे इष्ट प्रश्न पूछते ही उपदेश करेंगे। उस उपदेश से बोधित हुए अन्तःकरण में कल्पना उत्पन्न न होगी। (६८)

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५

और उनके वाक्यरूपी प्रकाश से चित्त निर्भय हो निःसंशय ब्रह्म की योग्यता प्राप्त कर लेगा। (६९) उस समय तुम्हें अपने समेत यह सब जगत् निरन्तर मेरे स्वरूप में दिखाई देगा। (७०) हे पार्थ ! जब श्रीगुरु की कृपा होती है तब ज्ञान का प्रकाश होता है और मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। (७१)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

तुम यद्यपि पाप की खानि हो, भ्रान्ति के समुद्र हो और भ्रम के पर्वत हो। (७२) तथापि ज्ञानशक्ति के सामने ये सब बातें अल्पस्प हैं। इस ज्ञान में ऐसी उत्तम सामर्थ्य है (७३) देखो, विश्वाभास जैसी जो निराकार स्वरूप की परछाई है सो भी जिसके प्रकाश के आगे नहीं टिकती (७४) उसके सामने मन के अज्ञान की क्या कथा है? इसकी बात निकालना ही अयोग्य है। संसार में ज्ञान के समान बड़ी वस्तु दूसरी नहीं है। (७५)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जो तीनों भुवनों पर जो आकाश में धुआँ उड़ा देता है उस प्रलयकाल के तूफान के सामने क्या मेघ टिक सकते हैं? (७६) अथवा पवन के कोप के सहाय से जो पानी भी जला सकती है वह प्रलयाग्नि क्या घास और ईंधन से बुझ सकती है? (७७)

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥

बहुत क्या कहा जाय, ये बातें हो नहीं सकतीं। इनका विचार ही असङ्गत दिखाई देता है। ज्ञान के समान कोई भी वस्तु पवित्र दिखाई नहीं देती। (७८) इस संसार में ज्ञान ही एक उत्तम वस्तु है। जैसे चैतन्य-जैसी दूसरी वस्तु नहीं होती, वैसे ही इस ज्ञान की-सी दूसरी वस्तु कहाँ है? (७९) यदि सूर्य के तेज की कसौटी से प्रतिबिंब कसकर दिखाई दे सकता हो, अथवा यदि आकाश चपेटने से चपेटा जा सकता हो, (१८०) अथवा यदि पृथ्वी की बराबरी का कोई माप मिल सकता हो, तभी हे पाण्डुकुँवर! ज्ञान की कोई उपमा मिल सकती है। (८१) अतएव अनेक प्रकार से देखने से और बारम्बार विचार करने से यही कहना पड़ता है कि इस ज्ञान की पवित्रता ज्ञान ही में है। (८२) जैसे अमृत का स्वाद बतलाया जाय तो अमृत जैसा ही कहा जायेगा, वैसे ही ज्ञान की उपमा ज्ञान ही हो सकती है। (८३) अब इस पर और जो कुछ कहा जाय वह सब वृथा समय खोना है। तब अर्जुन ने

कहा कि जो कुछ आप कहते हैं सत्य है। (८४) परन्तु अर्जुन पूछनेवाला था कि वह ज्ञान कैसे जाना जाय, इतने में श्रीकृष्ण ने उसका हेतु जान लिया (८५) और कहा हे किरीटी ! अब हम तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। उस पर ध्यान दो। (८६)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जिसे आत्मसुख स्वाद के कारण सम्पूर्ण विषयों की छींक आती है, जो इन्द्रियों की प्रतिष्ठा नहीं रखता, (८७) जो मन से कोई इच्छा विदित नहीं करता, जो प्रकृति के कर्म को अपना कर्म नहीं समझता और जो श्रद्धा के सम्भोग से सन्तुष्ट हुआ है, (८८) जिसमें भरपूर शान्ति भरी है उसी मनुष्य को खोजते खोजते ज्ञान निश्चय से पहुँच जाता है (८९) वह ज्ञान जब हृदय में स्थिर होता है, और शान्ति का अंकुर फूटता है तब आत्मबोध का विस्तार प्रकट होता है। (१९०) फिर जिस ओर दृष्टि जाती है वहाँ शान्ति ही दिखाई देती है और विचार करने से अपना और पराया नहीं देख पड़ता। (९१) इस प्रकार इस ज्ञानबीज के विस्तार का जितना अधिक वर्णन किया जाय उतना ही थोड़ा है। अतएव अब रहने दो (९२)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

सुनो, जिस प्राणी को इस ज्ञान के लिए रुचि नहीं है उसके जीवन के विषय में क्या कहा जाय ? उससे मृत्यु अच्छी है। (९३) जैसे कोई सूना घर अथवा प्राणरहित शरीर हो वैसे ही ज्ञान के बिना मोहयुक्त जीवन है। (९४) अथवा, ज्ञान तो निश्चय से प्राप्त न हो किन्तु उसकी इच्छा हो तो भी कुछ प्राप्ति का सम्भव हो सकता है। (९५) परन्तु यदि ज्ञान की तो बात ही क्या, मन में आस्था भी नहीं है, तो उस मनुष्य को संशयरूपी अग्नि में पड़ा हुआ जानो। (९६) क्योंकि जब ऐसी अरुचि उत्पन्न होती है कि अमृत भी नहीं भाता तब यह समझा जाता है कि निश्चय से मृत्यु आती है। (९७) वैसे ही यह निःसन्देह जानो कि विषयों के सुख में जो सुखी होता है, ज्ञान के विषय में जो बेपरवाह है, वह संशय के वश हो

जाता है, (९८) और यदि एक बार संशय में आ पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है और इस लोक और परलोक के सुख से हाथ धो धुकता है। (९९) जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है, (२००) वैसे ही वह संशय से व्याकुल मनुष्य भी सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल भला और बुरा नहीं समझता। (१) जन्मान्ध को जैसे रात और दिन जान नहीं पड़ते वैसे ही संशय में रहने से कुछ भी नहीं जान पड़ता। (२) इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियों के लिए यह नाश का जाल है। (३) इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। यह ज्ञान के अभाव में रहता है। पहले इसी को जीतना चाहिए। (४) जब अज्ञान का अँधेरा हो जाता है तब मन में इस संशय की अत्यन्त वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही बन्द हो जाता है। (५) और यह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी लोभ कर ग्रस लेता है, अतएव इससे तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते हैं। (६)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

यद्यपि यह संशय इतना बड़ा हुआ हो तथापि एक उपाय से वश में आ सकता है। यदि हाथ में उत्तम ज्ञान का खड्ग हो (७) तो उस तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र से इसका निःशेष नाश हो सकता है, और फिर मन का दुःख मिट जाता है। (८)

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए हे पार्थ! अपने हृदय के संशय का नाश करके शीघ्र उठ खड़े हो। (९) सञ्जय ने कहा—हे राजा! सुनो, सर्वज्ञों के नाथ, ज्ञान के दीपक, श्रीकृष्ण दयालु हो इस प्रकार बोले। (२१०) तब इस पूर्वापर विवेचन का विचार करके पाण्डु का पुत्र अर्जुन जो समयो चित प्रश्न करेगा (११) वह सुसङ्गत कथा भाव का भाण्डार, रस की पुष्टि आगे बतायी जायगी (१२) जिसकी उत्तमता पर आठों रस निछावर हैं, तथा जो संसार में सज्जनों की बुद्धि का विश्राम है। (१३) अब वह प्राकृत वाणी सुनिए, जिससे शान्तरस ही प्रकट होगा जो समुद्र से भी अगाध है और अर्थ से भरी हुई है। (१४) जैसे सूर्य

का बिम्ब तो छोटा-सा रहता है परन्तु प्रकाश के लिए उसे त्रिभुवन भी अल्प होता है उसी प्रकार इस वाणी की व्यापकता का अनुभव कीजिए। (१५) अथवा जैसे कल्पवृक्ष इच्छा करनेवाले की मनमानी इच्छा पूर्ण करता है वैसे ही यह वाणी भी व्यापक है। इसलिए ध्यान दीजिए। (१६) और क्या कहा जाय आप सर्वज्ञ हैं, सब कुछ ही सब कुछ जानते हैं तथापि मेरी विनती है कि अच्छी तरह चित्त दीजिए। (१७) जैसे कोई कुलवती स्त्री सौन्दर्यवती और पतिव्रता भी हो वैसे ही इस वाणी में अलङ्कार और शान्तरस भरा है। (१८) पहले ही यदि शक्कर मीठी हो और वही यदि औषधि में मिलाई गई हो तो आनन्द से बार बार क्यों न खाई जाय? (१९) मलयगिरि की वायु स्वभावतः मन्द और सुगन्धित है, उसमें यदि अमृत का स्वाद हो जाय और उसी में यदि दैवगति से नाद भी उत्पन्न हो जाय (२२०) तो वह स्पर्श से सब शरीर को शीतल करेगी स्वाद से जिह्वा को नचावेगी, तथा कानों से भी "वाह वाह" कहलावेगी (२१) वैसे ही इस कथा का श्रवण करना कानों के लिए (का पारणा है और बिना किसी विकार के बिना ही संसार के दुःखों की निवृत्ति है। (२२) यदि मन्त्र से ही शत्रु की मृत्यु होती है तो कटार बाँधने का क्या काम है? यदि दूध और शक्कर से रोग निवृत्त होता है तो फिर नीम पीने की क्या आवश्यकता है? (२३) वैसे ही मन को दुःख और इन्द्रियों को कष्ट न देते इस कथा के केवल श्रवण से ही मोक्ष मिला मिलाया धरा है। (२४) इसलिए मैं निवृत्त का दास ज्ञानदेव कहता हूँ कि समाधान-सम्पन्न होने के लिए इस उत्तम गीतार्थ को सुनिए। (२२५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

तब पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा कि आप यह कैसा विवरण करते हैं ? एक ही बात हो तो अन्तःकरण से विचारी जा सकती है । (१) पहले आप ही ने समस्त कर्मों के संन्यास का अनेक प्रकार से निरूपण किया । फिर अब पुनः कर्मयोग का विवेचन क्यों अधिक बढ़ाते हैं ? (२) हे श्रीअनन्त ! आप ऐसी द्वयर्थी भाषा बोलते हैं कि उससे हम अज्ञानियों के चित्त में जैसा चाहिए वैसा बोध नहीं होता । (३) सुनिए एकतत्व का बोध करना हो तो एकता की स्थिति का ही निरूपण करना चाहिए, यह बात क्या आपको दूसरों से जानने की आवश्यकता है ? (४) इसी लिए मैंने आपसे विनती की थी कि ये परमार्थ की बातें केवल ध्वनि से न कहिए । (५) परन्तु पिछली बातें जाने दीजिए । हे देव ! सम्प्रति यह निर्णय कीजिए कि दोनों में अधिक भला मार्ग कौन-सा है (६) जो निदान तक साथ निबाहे, फल भी पूर्ण दे तथा जिस मार्ग से चलना स्वभावतः सुगम हो, (७) और पालकी में जैसे निद्रासुख का भङ्ग नहीं होता और रास्ता भी बहुत-सा कट जाता है वैसा सुगम हो । (८) अर्जुन के इन वचनों से श्रीकृष्ण मन में आनन्दित हुए और सन्तोष से बोले कि फिर सुनो । (९) देखिए, जिस भाग्यवान् मनुष्य की कामधेनु-जैसी माता है उसे, अगर वह चाहे तो, खिलौने के लिए चन्द्र भी मिल सकता है । (१०) देखो भला, श्रीशंकर ने प्रसन्नता से उपमन्यु की इच्छा पूर्ण करने के हेतु क्या उसे दूध-भात माँगते ही क्षीर-समुद्र नहीं दे दिया ? (११) वैसे ही औदार्य का घर जो श्रीकृष्ण उनके प्राप्त होते हुए अर्जुन सब सुखों का आश्रय क्यों न हो ? (१२) इसमें आश्चर्य ही क्या है ? श्रीलक्ष्मीकान्त जैसा धनी

प्राप्त हुआ है अतएव उससे अपने इच्छानुसार माँग लेना ही योग्य है। (१३) यही सोचकर अर्जुन ने उपर्युक्त विनती की। वह श्रीकृष्ण ने पूर्ण की। अब श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा उसका मैं वर्णन करता हूँ। (१४)

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—हे कुन्तीसुत! संन्यास और कर्मयोग दोनों का विचार करने से मालूम होगा कि तत्वतः दोनों ही मोक्ष के देनेवाले हैं। (१५) तथापि स्त्री बालादिकों को जल के पार जाने के लिए जैसे नाव है वैसे ही ज्ञानी अज्ञानी सभी के लिए कर्मयोग निश्चय से सुगम है। (१६) तथा सारासार विचार करते कर्मयोग ही सुगम दिखाई देता है। इससे अनायास संन्यास के फल का लाभ होता है। (१७) अब इस पर हम तुम्हें संन्यासियों के लक्षण बताते हैं जिससे तुम्हें संन्यास और कर्मयोग की अभिन्नता का ज्ञान होगा। (१८)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो गई बात का स्मरण नहीं करता, जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो हृदय में मेरु जैसा अत्यन्त स्थिर रहता है, (१९) और जिसका अन्तःकरण "अहन्ता व ममता" का स्मरण भी भूल जाता है बस, हे पार्थ! निरन्तर संन्यासी समझो। (२०) जो मन से इस प्रकार स्थिर हो गया है उसका सङ्ग विषय छोड़ देते हैं और उसे अनायास निरन्तर सुख प्राप्त होता है। (२१) तब फिर घर इत्यादि संसार छोड़ने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन विषयों का मनुष्य कर्मद्वारा स्वभावतः निमग्न हो रहता है। (२२) देखो आग बुझ जाने पर जो केवल राख रह जाती है, उसको आच्छादन कपास जैसे बिना भय कर सकता है (२३) वैसे ही जिसकी बुद्धि में सङ्कल्प नहीं रह जाता वह मनुष्य कर्म के बन्ध से बाँधा नहीं जा सकता। (२४) अतएव जब वासना छूट जाती है तब संन्यास होता है, और इसी लिए संन्यास और कर्मयोग दोनों समान हैं। (२५)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

हे पार्थ! सामान्यतः जो लोग सर्वथा मूर्ख होते हैं वे ज्ञान और कर्मयोग की व्यवस्थिति कैसे समझ सकते हैं? (२६) स्वभावतः अज्ञानी होने के कारण वे इन दोनों को भिन्न समझते हैं। नहीं तो, एक ही दीपक क्या जुदा जुदा प्रकाश देता है? (२७) जिन्होंने उत्तम अनुभव के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्व जान लिया है वे सांख्य और योग दोनों को एक भाव से मानते हैं। (२८)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो वस्तु ज्ञानमार्ग से प्राप्त होती है वही कर्मयोग से भी मिल सकती है। अतएव दोनों मार्गों की इस प्रकार स्वाभाविक एकता है। (२९) देखो आकाश और अवकाश में जैसा भेद नहीं है वैसा ही जो कर्मयोग और संन्यास का ऐक्य पहचानता है (३०) जिसे सांख्य और योग का भेद-रहित ज्ञान हुआ है, उसी को संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है, उसी ने निज को पहचाना है। (३१)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे पार्थ! जो योग के मार्ग से मोक्षरूपी पर्वत पर चढ़ता है वह शीघ्र ही महासुख के शिखर पर पहुँच जाता है। (३२) और अन्य जन जो योगस्थिति का अवलम्बन नहीं करते वे वृथा लम्पट करते रहते हैं परन्तु उन्हें कभी संन्यास की प्राप्ति नहीं होती। (३३)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जिसने अपना मन भ्रम की ओर से हटाकर, गुरुवाक्य से शुद्ध कर, दृढ़ता से आत्मस्वरूप में लगा दिया है; (३४) जब तक समुद्र में लवण नहीं गिरता तब तक जैसे वह किञ्चित् भिन्न दिखाई देता है परन्तु समुद्र में मिलते ही समुद्र जैसा हो जाता है, (३५) वैसे ही जिसका संकल्प की ओर से हटाया हुआ मन चैतन्य-

रूप हो जाता है, वह यद्यपि परिच्छिन्न है तथापि तीनों लोकों में व्यापक हो जाता है। (३६) फिर आप ही आप कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों का अन्त हो जाता है और वह मनुष्य कर्मकर्त्ता हो तथापि अकर्त्ता बना रहता है। (३७)

> नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
> पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
> प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

क्योंकि, हे पार्थ, उसे इस बात का स्मरण नहीं रहता कि मैं देहरूप हूँ। फिर बता उसे क्या कर्तृत्व बाकी रह जाता है? (३८) इस प्रकार योगयुक्त पुरुषों में वह त्याग के बिना ही परब्रह्म के सम्पूर्ण गुण दिखाई देते हैं। (३९) यों तो अन्यों के समान वह भी एक देहधारी है और अशेष कर्मों में व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। (४०) वह भी नेत्रों से देखता है, कानों से सुनता है परन्तु आश्चर्य देखो कि वह मन इन्द्रियों में सर्वथा आसक्त नहीं रहता। (४१) उसे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह नाक से सुगन्ध सूँघता है, समयोचित भाषण भी करता है, (४२) आहार को स्वीकार करता है, जिसका त्याग करना चाहिए उसे छोड़ता है, निद्रा के समय सुख से सोता है, (४३) अपने इच्छानुसार चलता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार वह निश्चय से सब कर्मों में व्यवहार करता है। (४४) एक एक बात क्या कहें, श्वास और उच्छ्वास करना और पलक मूँदना-खोलना आदि (४५) सब बातें हे पार्थ! वह करता है, तथापि वह अनुभवबल के कारण इन सब कर्मों का कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। (४६) क्योंकि जब वह भ्रान्तिरूपी शय्या पर सोया था तब उस स्वप्नरूपी सुख का अनुभव होता था, परन्तु अब वह ज्ञानप्रकाश में जागृत हो गया है। (४७)

> ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

अब उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपने अपने विषयों में

अधिष्ठान के सान्निध्य से व्यवहार करती हैं। (४८) जैसे दीपक के प्रकाश में घर के सब व्यापार होते हैं वैसे ही उस योगयुक्त पुरुष के देह के सब कर्म होते हैं। (४९) वह सब कर्म करता है परन्तु जैसे जल में मग्न हुआ कमल-पत्र जल से नहीं भीगता वैसे ही वह कर्मबन्ध के वश नहीं होता। (५०)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

देखो, जो ऐसा कर्म है कि जिसमें बुद्धि का सम्बन्ध ही नहीं है, जिसमें मन का अंकुर भी नहीं उगता वह शरीर कर्म कहाता है। (५१) यही बात सुगम रीति से कहिए, तो योगीजन बालक की चेष्टा के समान केवल शरीर से कर्म करते हैं। (५२) और यह पञ्च-भूतात्मक शरीर मानों सो जाता है और केवल मन ही स्वप्नवत् व्यापार करता है, (५३) [हे धनुर्धर ! आश्चर्य देखो, वासना का कैसा विस्तार है कि वह, देह को मालूम न होते हुए, सुख-दुःख भोगती है।] (५४) इस प्रकार इन्द्रियों को कुछ भी मालूम न होते जो कर्म उत्पन्न होता है वह केवल मानस कर्म कहलाता है। (५५) योगीजन मानस कर्म भी करते हैं परन्तु वे उससे बँधे नहीं जाते। क्योंकि उन्होंने अहंभाव की संगति छोड़ दी है। (५६) और भ्रमयुक्त हो जाने से जैसे इन्द्रियों की चेष्टा पिशाच के चित्त के समान अव्यवस्थित दिखाई देती है—जैसे (५७) स्वरूप का दिखाई देना, बुलाने से सुन पड़ना मुख से शब्द निकलना परन्तु ज्ञान न होना—(५८) वैसे जो कर्म किंबहुना जो निष्कारण किया जाता है, वह केवल इन्द्रियों का कर्म समझो। (५९) और [श्रीहरि अर्जुन से कहते हैं कि जो सर्वत्र जानने की क्रिया है वह बुद्धि का कर्म है। (६०) योगीजन बुद्धि को प्रमुख करके मन लगा कर भी कर्म करते हैं, परन्तु वस्तुतः वे कर्म से मुक्त रहते हैं। (६१) क्योंकि बुद्धि से लगाकर देह तक उन्हें अहंकार का स्मरण ही नहीं रहता। अतएव कर्म करते करते वे शुद्ध हो गये हैं। (६२) अजी कर्ता के बिना जो कर्म किया जाता है वही निष्कर्मता है। यह गुरुकृपा ही से समझने योग्य रहस्य योगीजन जानते हैं। (६३) अब इसके उपरान्त शान्तरस की ऐसी बाढ़ आई है कि वह पात्र में न समाकर उमड़ा पड़ा है क्योंकि अब जो वचन बोले जायँगे वे वाणी

के परे के हैं। (६४) जिनकी इन्द्रियों की इच्छा अच्छी तरह पूर्ण हो चुकी हो वे ही ये वचन श्रवण करने के योग्य हैं। (६५) परन्तु [श्रोताओं ने कहा कि] अब विषयान्तर रहने दो, कथा का सम्बन्ध मत छोड़ो, क्योंकि श्लोकसङ्गति का भङ्ग होगा (६६) जो बात मन से ग्रहण करने के लिए कठिन है, प्रयत्न करने से भी बुद्धि को प्राप्त नहीं होती, उसका भाग्यवशात् तुमने उत्तम रीति से वर्णन किया है। (६७) जो वस्तु स्वभावतः शब्द के परे है वह यदि शब्दों से ही व्यक्त हो रही है तो और दूसरी बातों का क्या काम है? अतएव कहो। (६८) श्रोताओं की ऐसी उत्कट इच्छा जानकर निवृत्त के दास बोले कि श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद बार बार सुनिए। (६९) श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मैं तुम्हें पहुँचे हुए पुरुष का पूर्ण लक्षण बताता हूँ उसकी ओर चित्त दो। (७०)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥१२॥

जो आत्मज्ञान से सम्पन्न है, जिसके हृदय में कर्म के फल का तिरस्कार उत्पन्न होता है, वह मनुष्य संसार में शान्ति के घर में घुस कर बसे वर लेता है (७१) परन्तु हे किरीटी! जो आत्मयोगी नहीं है वह कर्मबन्ध के कारण फलभोगरूपी खूँटी से फलाशा की गाँठ दे बाँधा जाता है। (७२)

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

फल की इच्छा से कर्म करनेहारा जैसे कर्म करता है उसी प्रकार जो सब कर्म तो करता है, परन्तु जो उस कर्म की इस भाव से उपेक्षा करता है कि मैं उसका करनेहारा नहीं हूँ (७३) वह मनुष्य जिस ओर दृष्टि देता है वहीं सुख की सृष्टि हो जाती है। वह जहाँ चाहे वहीं महाबोध उपस्थित रहता है। (७४) वह फल का त्याग करनेहारा इस नवद्वार देह में रहते हुए भी नहीं रहता और कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। (७५)

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जैसे, देखने में तो सर्वेश्वर अकर्ता है परन्तु वही इस त्रिभुवन के विस्तार की रचना करता है, (७६) और उसे कर्ता कहिए तो वह किसी भी कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उदासीन वृत्ति के हाथ-पाँव कर्म में लिप्त नहीं होते, (७७) उसकी योगनिद्रा का भङ्ग न होते, उसके अकर्तृत्व में कुछ कमी न होते, वह भली भाँति महाभूतों का समुदाय रचकर खड़ा कर देता है। (७८) वह जगत् के हृदय में भरा है परन्तु वह कभी किसी का नहीं है। जगत् उत्पन्न होता और नाश पाता है पर इसकी उसे खबर भी नहीं है। (७९)

> नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
> अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

सब पाप-पुण्य पास है तथापि वह उन्हें न देखता और न उनका साक्षी होता है। तो फिर और बातों का पूछना ही क्या है? (८००) देह की संगति से वह प्रभु मूर्तिमान् हो क्रीड़ा करता है परन्तु उसकी निराकारता कभी मलिन नहीं होती (८१) एवं चराचर में यह जो मत विख्यात है कि यह संसार का रचना करता, स्थिति रखता और नाश करता है, वह अज्ञान है। (८२)

> ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
> तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

यह अज्ञान जब सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है तब भ्रम का अन्धकार मिट जाता है और मुझ ईश्वर की निष्कर्मता प्रकट होती है। (८३) एतावता यदि चित्त में यह ज्ञान हो कि ईश्वर अकर्ता है और यदि इस विवेक का उदय हो कि (८४) स्वभावतः आरम्भ से मैं ही ईश्वर हूँ, तो उस मनुष्य को तीनों लोकों में किस बात का भेद रह जावेगा? स्वानुभव होते ही वह अपने समान ही सब जगत् को मुक्त समझेगा (८५) जैसे कि सूर्य का उदय होते ही पूर्व दिशा के घर में दिवाली हो जाती है तथा उसी समय अन्य दिशाओं के अन्धकार का भी नाश हो जाता है। (८६)

> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
> गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

अपनी बुद्धि के निश्चित होते ही उसे आत्मज्ञान हो जाता है। वह निज को ब्रह्मरूप जानता है और रात-दिन ब्रह्मपरायण हो पूर्ण ब्रह्मस्थिति विद्यमान रखता है। (८७) इस प्रकार उत्तम व्यापक ज्ञान जिनके हृदय को ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचा है उनकी एकत्व की दृष्टि का मैं शब्दों से और क्या वर्णन करूँ? (८८) इसमें क्या आश्चर्य है कि वे स्वयं जैसे एक हैं वैसे सब विश्व को देखते हैं। (८९) परन्तु जैसे भाग्यवान् को कभी कुतूहल से भी दरिद्रता दिखाई नहीं देती अथवा विवेक जैसे कभी भ्रान्ति को नहीं पहचानता, (९०) अथवा सूर्य जैसे अन्धकार का नमूना स्वप्न में भी नहीं देखता, अथवा अमृत जैसे मृत्यु की कथा कभी कान से नहीं सुनता, (९१) और रहने दो, जैसे चन्द्र को कभी यह खबर नहीं होती कि सन्ताप क्या वस्तु है, वैसे ही ज्ञानोत्पन्न प्राणियों में कभी भेद का नाम नहीं जानते। (९२)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

तब फिर यह मच्छड़ है और यह हाथी है, अथवा यह चाण्डाल है और यह ब्राह्मण है, यह अपना है और यह पराया है, इत्यादि बातें कहाँ रहीं? (९३) अथवा और अधिक क्या कहें, यह गौ है और यह कुत्ता है यह बड़ा है और यह छोटा है, इत्यादि स्वप्न उस जागृत को कहाँ से होंगे? (९४) उसे तो भेद तभी दिखाई दे सकता है जब अहंभाव बच रहा हो। वह सब पहले ही नष्ट हो जाता है, फिर विषमता क्योंकर रह सकती है? (९५)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अतएव समदृष्टि का सम्पूर्ण मर्म यही समझो कि जो सर्वत्र और सदा समान है वह अद्वितीय ब्रह्म स्वयं मैं हूँ। (९६) जिन्होंने न तो विषयों का सङ्ग छोड़ा और न इन्द्रियों को ही दपट दिया, पर कामना-रहित होकर निःसङ्गता का भोग किया है; (९७) और जिन्होंने संसार के आश्रय से व्यावहारिक कर्म तो किये हैं परन्तु मूढ़ता से भरे हुए लौकिक कर्मों को ऐसे त्याग दिया है, जैसे कि

सोया हुआ आदमी सब कर्मों से अलग रहता है (९८) ऐसे पुरुष यद्यपि देहधारी हैं फिर भी संसारी बुद्धिवाला उनको उसी तरह नहीं पहचान सकता जिस तरह लोगों में मौजूद रहने पर भी पिशाच किसी को देख नहीं पड़ता। (९९) और रहने दो, पवन के योग से जैसे जल में जल हिलोरता है और लोग उसे अलग तरङ्ग समझते हैं, (१००) वैसे ही जिसका मन सर्वत्र समता को प्राप्त हुआ है उसे नाम और रूप हैं, परन्तु वास्तव में वह ब्रह्म ही है। (१) जो इस प्रकार समदृष्टि हुआ है उस पुरुष की पहचान के कुछ चिह्न भी हैं। श्रीकृष्ण ने कहा हे अर्जुन! वे लक्षण हम संक्षेप से वर्णन करते हैं, सुनो। (२)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

मृगजल की बाढ़ से जैसे पर्वत नहीं डिगते वैसे ही भला या बुरा अवसर प्राप्त होने से भी जिसे विकार नहीं उत्पन्न होता (३) वही सच्चा है, वही तत्त्वतः समदर्शी है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पाण्डुसुत! वही ब्रह्म है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

इसमें क्या आश्चर्य है कि जिसे आत्मस्वरूप छोड़ कर इन्द्रियसमूह की ओर लौटना ही नहीं है वह विषयों का उपभोग नहीं करता? (५) उसका अन्तःकरण सहज और अमर्याद आत्मसुख के आनन्द से भरा हुआ रहता है इसलिए वह बाहर की ओर पाँव नहीं डालता। (६) कहो, चन्द्रबिम्बसी कुमुद की पत्तल में जिस चकोर ने शुद्ध चन्द्र किरणों का भोजन किया है वह क्या रेत के कण चाटेगा? (७) वैसे ही इसमें कहना ही क्या है कि जिसे आत्मसुख उत्पन्न हुआ है, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे विषय सहज ही छूट जाते हैं। (८) यों भी तनिक ठीक विचार कर देखो तो इन विषयों के सुख में कौन फँसता है? (९)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

जिन्होंने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किया है वे ही इन इन्द्रियों के विषयों से सुखी होते हैं। जैसे भूखे दरिद्री लोग भूसी का भी सेवन करते हैं (११०) अथवा प्यास की पीड़ा से पीड़ित हुए मृग भ्रम से जल के आभास को जल समझकर पथरीली ज़मीन पर आ पहुँचते हैं, (११) वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप नहीं देखा, जिसे सर्वदा आत्मसुख की दरिद्रता बनी है, उसे ये विषय ही सुन्दर जान पड़ते हैं। (१२) नहीं तो विषयों में सुख है यह कहना ठीक नहीं। ऐसा हो तो संसार में विद्युत् के प्रकाश से ही क्यों नहीं देखा जाता ? (१३) यदि हवा वर्षा और गर्मी का निवारण करने के लिए अभ्र की छाया से ही निर्वाह हो सके तो तिमञ्जिले मकान क्यों खड़े किये जाते हैं। (१४) अतएव विषयों में सुख समझना वृथा अज्ञान से बकना करना है जैसे बछनाग को मधुर कहना (१५) अथवा मङ्गल ग्रह को मङ्गल समझना, किंवा मृगजल को जल कहना, वैसे ही यह विषय-सम्बन्धी सुख का कथन हुआ है। (१६) और जाने दो, यह कहो कि सर्प के फन की छाया चूहे को कहाँ तक शीतल मालूम होगी ? (१७) हे पाण्डव ! मीन जैसे मांस का कौर न लीले तभी तक भला है वैसे ही निश्चय से सब विषयों के सङ्ग को भी जानो। (१८) हे किरीटी ! इसे जो विरक्तों की दृष्टि से देखो तो यह पाण्डुरोग के समान दिखाई देता है। (१९) अतएव विषयभोग में जो सुख है उसे सम्पूर्ण दुःख ही जानो। परन्तु अज्ञानी क्या करें। बिना भोगे उनका निर्वाह नहीं होता। (१२०) वे बेचारे भीतरी मर्म नहीं जानते इसलिए उन्हें विषय भोगने ही पड़ते हैं। कहो, क्या पीवरूपी कीचड़ के कीड़ों को कभी उसकी घीन आती है ? (२१) उन दुःखियों का दुःख ही आत्मसुख है। वे विषयरूपी कीचड़ के दादुर, भोगरूपी जल के जलचर, उस कीचड़ अथवा जल को कैसे छोड़ सकते हैं ? (२२) और यदि जीव विषयों के विषय से विरक्त हो जायें तो जो दुःख की योनियाँ हैं वे क्या निरर्थक न हो जायँगी ? (२३) अथवा गर्भवास इत्यादि सङ्कट तथा जन्म-मरण के कष्ट इत्यादि की बाट (जिसमें ज़रा भी विश्राम नहीं है) कौन चलेगा ? (२४) यदि विषयासक्त पुरुष विषयों को छोड़ देंगे तो महापाप कहाँ रहेंगे और जगत् में संसार का नाम झूठा न हो जायगा ? (२५) अतएव जो मिथ्या अविद्या-समूह है वह उन्हीं ने सच कर दिखाया है जिन्होंने विषयरूपी दुःख को सुख जानकर स्वीकार किया है। (२६) इसलिए हे उत्तम योद्धा !

विचार कर देखने से विषय निकृष्ट दिखाई देते हैं। तुम कभी इस मार्ग से भूल कर भी मत जाना। (२७) विरक्तजन इसको विष के समान जान कर त्याग देते हैं। उन आशा-रहित लोगों को विषयों में दिखाई देनेवाले दुःखों की चाह नहीं रहती। (२८)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

और ज्ञानियों में तो निश्चय से विषयों की बात भी नहीं रहती। वे तो देह रहते हुए देह के विकार अपने अधीन कर लेते हैं। (२९) वे बाह्य विषयों का बिलकुल नाम भी नहीं जानते। उनके हृदय में एक सुख भरा रहता है। (१३०) परन्तु उस सुख का भोग एक जुदी ही स्थिति में रह कर किया जाता है। जैसे पक्षी फल का चुम्बन करते हैं वैसा यह भोग नहीं है। उसमें भोक्तृभाव का भी विस्मरण हो जाता है। (३१) उस भोग के समय एक ऐसी वृत्ति उठती है कि जो अहङ्कार का आंचल दूर कर सुख को दृढ़ आलिङ्गन देती है। (३२) उस आलिङ्गन से आप ही आप एक-रूपता हो जाती है। तब जल में मिला हुआ जल जैसे अलग नहीं दिखाई देता, (३३) अथवा आकाश में वायु मिल जाती है तो आकाश और वायुरूपी भेद का नाश हो जाता है वैसे ही उस सुख के समय सुख ही निज स्वरूप से रह जाता है। (३४) इस प्रकार द्वैत का नाम मिट जाता है। यदि यह कहा जाय कि उस समय एकता हो जाती है, तो उस एकता का जाननेहारा साक्षी भी कौन रह जाता है? (३५)

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

इसलिए सब वर्णन रहने दो। जो अकथनीय है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? आत्मा ही स्वभावतः उस संकेत को पहचानेगा। (३६) जो इस सुख से मत्त हुए हैं, अपने स्वरूप में ही निमग्न रहते हैं, मैं समझता हूँ वे निखिल ब्रह्मानन्द से ही बने हुए हैं। (३७) वे आनन्द के स्वरूप हैं, सुख के अंकुर हैं, अथवा मानो महाबोध के क्रीड़ा-

स्थान हैं। (१८) वे विवेक के नगर हैं, अथवा परब्रह्म के स्वभाव हैं, अथवा ब्रह्मविद्या के अलङ्कार पहने हुए अवयव हैं। (३९) वे तत्त्व के सात्त्विक अंश हैं, अथवा चैतन्य के शरीर के अवयव हैं। "बहुत हुआ, एक एक बात क्या वर्णन करते हो? (१४०) तुम सन्तों की स्तुति में रमते हो तो तुम्हें कथा का स्मरण भी नहीं रहता, और निरालम्ब स्वरूप का प्रेमयुक्त वर्णन करते रहते हो, (४१) परन्तु अब उस रस की व्याप्ति कथा रहने दो, ग्रन्थार्थरूप दीपक प्रकाशित करो, और साधुओं के हृदय रूपी मन्दिरों में मङ्गलरूपी प्रातःकाल करो।" (४२) इस प्रकार गुरु का अभिप्राय पाते ही निवृत्तिदास बोले—सुनो, श्रीकृष्ण ने कहा (४३) हे अर्जुन! जो अनन्त सुख के दह में डूब कर पक्का तले जा बैठे हैं और वहीं स्थिर रह कर तद्रूप हो गये हैं (४४) अथवा जिन्हें शुद्ध आत्मज्ञान के सहाय से अपने ही आत्मा में सब संसार प्रतीत होता है, वे हैं तो मनुष्य देह-धारी तथापि खुशी से परब्रह्म रूप माने जा सकते हैं। (४५) जो वास्तव में सबसे परे है, अथवा जो अविनाशी और सीमा-रहित है, जिस नगर में रहने का अधिकार केवल निष्काम जनों को है, (४६) जो महर्षियों में बँटा है, विरक्तों के ही हिस्से में आया है, जो निःसन्देह जनों को निरन्तर ही बना है, (४७)

> कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
> अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जिन्होंने अपना मन विषयों से छुड़ा कर जीत लिया है वे जिस स्थान में सोये हुए जागृत नहीं होते, (४८) ऐसा मोक्ष का स्थान, आत्मज्ञानियों का कारण, जो परब्रह्म है, वही हे पाण्डुकुमार! उपर्युक्त पुरुषों को समझो। (४९) यदि तुम पूछो कि वे ऐसे कैसे बन जाते हैं कि देह रहते ही ब्रह्मतत्त्व को पहुँच जाते हैं, तो मैं उसका संक्षेप से वर्णन करता हूँ। (१५०)

> स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
> प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

जो वैराग्य के आधार से विषयों को बाहर निकाल कर शरीर में मन को एकाग्र करते हैं, (५१) तथा जहाँ स्वभावतः (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक) तीनों नाड़ियों का मिलाप होता है और जहाँ दोनों भौंहें मिलती हैं वहीं जा उलटी दृष्टि लगा देते हैं,

(४९) वे चिदाकाश में संचार करनेहारे योगी दाहिना और बायाँ भाग छोड़कर चित्तसहित प्राण और अपान वायु को समान कर रखते हैं। (५३)

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

गङ्गा नदी रास्ते के जिस भले-बुरे जल-सहित समुद्र में मिलती है वह जल जैसे अलग अलग छाँटा नहीं जा सकता, (५४) वैसे ही हे अर्जुन ! जब चिदाकाश में प्राण या अपान वायु से मन का क्षय किया जाता है तब अन्य वासनाओं के विचार आप ही आप बन्द हो जाते हैं। (५५) जिस पर इस संसार का चित्र प्रतिबिम्बित होता है वह मनोरूपी परदा फट जाता है और जैसे सरोवर सूख जाने से सूर्य की प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता (५६) वैसे ही उस समय जब मूल मन ही नहीं रहता तब अहंभाव इत्यादि कहाँ रह सकते हैं ? अतएव इस प्रकार अनुभव लेनेवाला देहसहित ब्रह्म हो जाता है। (५७)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

पीछे हम कह चुके हैं कि जो देह-सहित ब्रह्मत्व को पहुँचे हैं वे इसी मार्ग से गये हैं; (५८) और यम, नियम इत्यादि रूपी पर्वत को तथा अभ्यास के सागर को आक्रमण करके पार जा पहुँचे हैं। (५९) उन्होंने निज को उपाधि-रहित बनाकर प्रपञ्च का अनुभव किया है और फिर वे सचमुच शान्ति-स्वरूप ही हो रहे हैं। (१६०) इस प्रकार जब हृषीकेश ने योगमार्ग के अभिप्राय का वर्णन किया तब अर्जुन को, मार्मिक होने के कारण, सानन्द आश्चर्य हुआ। (६१) यह देख श्रीकृष्ण ने उसका भाव पहचाना और हँस कर पार्थ से कहा "क्या इन वचनों से तुम्हारा चित्त प्रसन्न हुआ है ?" (६२) तब अर्जुन ने कहा कि हे पर-मनोगति के जाननेहारे ! आपने मेरे मन का भाव ठीक पहचाना। (६३) मैं जो कुछ विचार कर पूछना चाहता हूँ वह आपने पहले ही जान लिया है। तो आपने जो कुछ कहा है उसी का विस्तार से वर्णन कीजिए। (६४) जैसे गहरे पानी की अपेक्षा पाँव-रस्तार सुगम रहता है, वैसे ही आपने जो मार्ग बताया (६५) सो संसार में हमारे जैसे निर्बल मनुष्यों के लिए सांख्य योग की अपेक्षा सुगम जान पड़ता है, परन्तु इस बात का स्वीकार

हम कुछ काल के अनन्तर करेंगे। (६६) अतएव हे देव! एक बार पर्याय से इसी विषय का वर्णन कीजिए। विस्तार से हो तो भी कुछ हानि नहीं। साद्यन्त वर्णन कीजिए। (६७) तब श्रीकृष्ण बोले—हाँ, तुम्हें यह बातें भला मालूम होता है तो क्या अड़चन है, मैं कहता हूँ, आनन्द से सुनो। (६८) हे अर्जुन! तुम श्रवण करते हो और श्रवण किये हुए तत्त्व का आचरण करने के लिए ध्यान दो तो फिर हम उपदेश की क्यों कमी करें? (६९) श्रीकृष्ण का चित्त यों ही स्नेहयुक्त है, तिस पर भक्त का मिल हुआ है, फिर उस स्नेह की अद्भुतता का बयान कौन कर सकता है? (१७०) उसे करुणारस की वृष्टि कहूँ किंवा नूतन प्रेम की सृष्टि कहूँ? किंबहुना, श्रीकृष्ण की उस कृपादृष्टि का मैं वर्णन ही नहीं कर सकता। (७१) क्योंकि वह दृष्टि मानों अमृत की ढली हुई थी, अथवा प्रेम ही पीकर मत्त हो गई थी। इसलिए अर्जुन के प्रेम में ऐसी फँस गई थी कि वहाँ से अलग होना भूल गई। (७२) इसका ज्यों ज्यों अधिक वर्णन करेंगे त्यों त्यों कथा का विषयान्तर होगा और तिस पर भी शब्दों से श्रीकृष्णजी और अर्जुन के प्रेम का ठीक ठीक वर्णन न हो सकेगा। (७३) इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो ईश्वर आप ही अपना माप नहीं कर सकता वह किसकी बुद्धि में आ सकता है? (७४) तथापि उपर्युक्त वचनों का अभिप्राय देखते मुझे वह स्वभावतः प्रेमयुक्त मालूम हुआ, क्योंकि उसने आग्रह से कहा कि हे तात! सुनो। (७५) हे अर्जुन! जिस जिस प्रकार से तुम्हारे चित्त को ज्ञान होगा उसी उसी प्रकार से हम सविनोद निरूपण करेंगे। (७६) योग किस स्थिति का नाम है, उसका क्या उपयोग होता है अथवा उसके लिए कौन अधिकारी हैं (७७) इत्यादि जो जो बातें इस मार्ग के विषय में कही हैं उन सबों का हम वर्णन करेंगे। (७८) तुम चित्त देकर सुनो। तदनन्तर श्रीहरि ने जो कुछ कहा वह कथा आगे कही है। (७९) निवृत्तिदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने हेत न छोड़कर अर्जुन से योग का निरूपण किया उस कथा का हम वर्णन करते हैं। (१८०)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः।

छठा अध्याय

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि फिर श्रीकृष्ण ने जो योगरूपी तत्त्व का निरूपण किया सो सुनो। (१) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सहज लीला से ब्रह्मरस का भोजन दिया उसी समय वहाँ हम भी पाहुने बनकर पहुँच गये। (२) इस भाग्य की महत्ता वर्णन नहीं की जाती। जैसे प्यासे को पानी दीजिए और वह उसका स्वाद लेकर देखे तो अमृत मालूम हो, (३) वैसे ही हमारा तुम्हारा हाल हुआ है। क्योंकि मुख्य तत्त्व हमारे हाथ लग गया है। तब धृतराष्ट्र ने कहा, हमने तुमसे यह बात नहीं पूछी। (४) इन वचनों से सञ्जय ने राजा का हृदय पहचान लिया कि उसे उस समय अपने पुत्रों की चिन्ता लग रही थी। (५) यह जान कर सञ्जय मन में हँसा और उसने कहा कि बूढ़ा मोह से पागल हो गया है; अभी तक जो संवाद हुआ वह बढ़िया हुआ (६) परन्तु यह बात कैसे हो सकती है कि जन्मान्ध देख सके? तथापि यह जान कर कि धृतराष्ट्र को कोप होगा सञ्जय डरा। (७) परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का लाभ होने से वह आप ही अपने चित्त में अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। (८) अब वह उस आनन्द से तृप्त हो अन्तःकरण का अभिप्राय प्रकट कर जो प्रेम से बोलेगा (९) वही गीता में तत्त्वनिर्णयरूपी छठा अध्याय है। जैसे क्षीर समुद्र में अमृत हाथ लगा है, (१०) वैसे ही जो सब गीतार्थ का सार है, जो विवेकरूपी समुद्र का परतीर है, अथवा जो योगरूपी सम्पत्ति का घर है, (११) जो मूल प्रकृति का विश्रान्तिस्थान है, जहाँ वेदों का मौन हो जाता है, जहाँ से गीतारूपी बल्ली का अंकुर फूटता है, (१२) उस छठे अध्याय का वर्णन मैं आलङ्कारिक भाषा में करूँगा। उसे ध्यान देकर सुनिए। (१३) मेरे बोल यद्यपि मराठी (प्राकृत) के हैं परन्तु मैं ऐसे मधुर शब्दों का प्रयोग करूँगा कि वे अमृत का भी शर्तिया पराभव करेंगे। (१४) उनकी मृदुता की तुलना से सप्त स्वरों के प्रकार भी हीन दिखाई देंगे। उनमें रस रहने से सुगन्ध भी तुच्छ हो जायेगी। (१५) उनकी सुरसता के लाभ से कानों को भी जीभें उत्पन्न होंगी तथा इन्द्रियों में आपस में कलह उत्पन्न होगी। (१६) यों तो शब्द श्रवण का विषय है परन्तु रसना कहेगी कि यह रस हमारा है। घ्राणेन्द्रिय को गन्ध विषय का भान ज्ञात होता है, इसलिए यह भाषा सुगन्ध बन

जावेगी। (१७) इस नवरस भाषा-पद्धति को देखते ही नेत्रों को तृप्ति प्राप्त होगी। वे समझेंगे कि रूपविषय की खानि ही है। (१८) जहाँ सम्पूर्ण पद समाप्त होगा वहाँ मन दौड़ कर बाहर आवेगा और उसे आलिङ्गन देने के लिए बाँहें फैलावेगा। (१९) इस प्रकार इन्द्रियगण अपने अपने भाव के अनुसार इसे जानने की चेष्टा करेंगे परन्तु जैसे सूर्य सब जगत् को समान ही चेतना देता है वैसे ही यह भाषा की वाणी सबको समान ही बोध करेगी। (२०) उसी प्रकार इस भाषा की व्यापकता भी असाधारण है। देखनेवालों को और अर्थ जाननेवालों को उसमें चिन्तामणि के गुण दिखाई देते हैं। (२१) और क्या कहूँ इस प्रकार भाषा की थालियाँ बनी हैं और उनमें ब्रह्मरस परोसा गया है। निष्काम लोगों के लिए मैंने यह कलेवा तैयार किया है। (२२) जो नित्य नूतन रहनेवाले आत्मज्योतिरूप दीपक के प्रकाश में इन्द्रियों के बिन जाने इस कलेवा का भोग लेगा उसी को इसका लाभ होगा। (२३) यहाँ श्रोताओं को श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध से विरहित होना चाहिए। इसे मानसिक शरीर से भोगना चाहिए। (२४) इस भाषा का ऊपरी आच्छादन निकाल दिया जाय तो इससे ब्रह्मस्वरूप ही प्रकट होगा और अनायास सुख में ही सुख का भोग प्राप्त होगा। (२५) यदि उप युक्त पटुता का लाभ हो तो इस वाणी का उपयोग होगा नहीं तो सब गूँगे-बहिरे की कथा हो जावेगी। (२६) परन्तु अब यह सब रहने दो, श्रोताओं को सावधान करने की कुछ आवश्यकता नहीं। क्योंकि वे सब कामना-रहित हैं, तथा स्वभावतः अधिकारी हैं। (२७) उन्होंने आत्मज्ञान की रुचि के हेतु स्वर्ग और संसार को निछावर कर डाला है। उनके सिवाय और कोई इस भाषा का माधुर्य नहीं जान सकता। (२८) जैसे कौवे चन्द्रमा को नहीं पहचानते वैसे ही सामान्य जन इस ग्रन्थ की महिमा नहीं जान सकते। और जैसे चन्द्रमा ही चकोर का खाद्य है (२९) वैसे ही यह ग्रन्थ ज्ञानियों का आश्रय है और अज्ञानियों के लिए परम्पा स्पक्त है। इसलिए विशेष कहने की तो कुछ आवश्यकता नहीं है (३०) तथापि प्रसङ्गानुसार मैंने जो कुछ कहा है उसके लिए सज्जनों को मुझे क्षमा करना चाहिए। अब श्रीकृष्ण ने जो निरूपण किया सो *कहता हूँ। (३१) बुद्धि से उस निरूपण का आकलन होना कठिन है,* अतएव वह शब्दों द्वारा कठिनता से प्रकट हो सकता है। परन्तु वह मुझे श्रीनिवृत्ति के कृपारूप दीपक के प्रकाश से दिखाई दे सकेगा। (३२) यदि इन्द्रियातीत ज्ञान के बल का लाभ हो तो जो वस्तु दृष्टि को प्राप्त नहीं

है वह दृष्टि के बिना ही दिखाई दे सकती है (३३) अथवा यदि दैवयोग से पारस हाथ लग जाय तो कीमिया बनानेवाले को भी न जुरनेहारा सुवर्ण लोहे से ही प्राप्त हो सकता है, (३४) उसी तरह यदि सद्गुरु की कृपा हो तो प्रयत्न करने से क्या प्राप्त नहीं होता? यह ज्ञानदेव कहते हैं कि वह कृपा मुझ पर अपार है, (३५) इसलिए मैं निरूपण करता हूँ। मैं शब्दों से अरूप ब्रह्म का रूप प्रकट करूँगा और वह इन्द्रियों के परे है सही तथापि इन्द्रियों से उसका भोग करा दूँगा। (३६) सुनिए, तदनन्तर यश, श्री, औदार्य ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूपी छः श्रेष्ठ गुण जिसमें बसते हैं (३७) और इसलिए जो भगवान् कहाता है, वह निःसङ्गों का सँगाती पार्थ से बोला कि अब मेरी ओर चित्त दो। (३८)

श्रीभगवानुवाच—

> अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
> स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें जुदे मत मानो। साधारणतः विचार करने से वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। (३९) दूसरा नाम केवल आरोप है उसे छोड़ दो तो जो योग है वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखत दोनों में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। (१४०) एक ही मनुष्य को जैसे जुदे जुदे नामों से पुकारते हैं अथवा जैसे एक ही जगह जाने के लिए जुदे जुदे मार्ग रहते हैं, (४१) अथवा जैसे पानी स्वभावतः एक है परंतु जुदे जुदे घड़ों में भरा हुआ रहता है वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो। (४२) हे अर्जुन! संसार में सबकी यही सम्मति है कि योगी उसी को समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता। (४३) जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है परन्तु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती (४४) वैसे ही सवत्र जो आत्मा व्याप्त है उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो (४५) वही उचित जान जो करता है, परन्तु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता एवं जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुँचती (४६) वही संन्यासी है। हे पार्थ! सुनो वास्तव में वही योगीश्वर है। (४७) अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बन्धक समझ कर छोड़ देता है और तत्काल दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है (४८) वह, जैसे एक लेप पोंछकर तुरन्त

ही दूसरा लगाया जाय ऐसे आग्रह के अधीन हो वृथा विडम्बना में पड़ता है। (४९) पहले से जो स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है वही बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है। (५०) अतएव श्रौत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लङ्घन न हो तो निज में ही सहज योगसुख प्राप्त होता है। (५१)

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

सुनो "जो संन्यासी है वही योगी है," इस एकवाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है। (५२) उन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहाँ त्याग किये हुए संकल्प का लोप होता है वहीं योग-साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है। (५३)

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

अब हे पार्थ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचना हो तो यह कर्ममार्गरूपी जीना मत छोड़ो। (५४) इस मार्ग के द्वारा यमनियमरूपी आधार भूमि पर से आसनरूपी पगडण्डी पकड़ कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो। (५५) फिर प्रत्याहाररूपी मध्यभाग है, जहाँ बुद्धि के भी पैर फिसलते हैं और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं, (५६) तथापि अभ्यास के बल से उस प्रत्याहार के निरालम्ब आकाश में भी धीरे धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जावेगा। (५७) इस प्रकार वायुरूपी घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो जब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ। (५८) तब फिर इस मार्ग से चलना बन्द हो जावेगा। प्रवृत्ति की इच्छा भी बन्द हो जावेगी। ब्रह्मानन्द की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जायँगे। (५९) आगे चलना बन्द हो जावेगा और पिछला स्मरण भी रुक जावेगा। ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जावेगी। (६०) इस उपाय से योगारूढ़ हो जो अत्यन्त प्रबुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निरूपण करते हैं, सुनो। (६१)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जिसके इन्द्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं है, जो आत्मज्ञान की कोठरी में सोता है, (६२) सुख-दुःखरूपी शरीर से संगठित होते भी जिसका मन जागृत नहीं होता, तो पास आये हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता, (६३) इन्द्रियगण कर्म में प्रवृत्त हों तथापि जो फल के हेतु को अन्तःकरण में कभी इच्छा नहीं करता, (६४) इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जागृत में भी निद्रित दिखाई देता है उसी को भली भाँति योगारूढ़ हुआ समझो। (६५) तब अर्जुन ने कहा, हे अनन्त! यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य होता है। अतएव कहिए, उस योगी को इस प्रकार की योग्यता कौन देता है? (६६)

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

तब श्रीकृष्ण ने हँसकर कहा कि क्या तुम्हारा यह प्रश्न आश्चर्यकारक नहीं है? इस अद्वैत में कौन किसे क्या दे सकता है? (६७) भ्रमरूप शय्या पर दृढ़ अज्ञानरूपी निद्रा आती है तब यह जन्ममृत्युरूपी दुःस्वप्न का भोग प्राप्त होता है। (६८) अनन्तर जब अकस्मात् चेत आता है तब ये सब बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं। इस प्रकार जो सद्भाव उत्पन्न होता है वह भी निज में ही उत्पन्न होता है। (६९) हे धनञ्जय! फल यह हुआ कि हम मिथ्या देहाभिमान पर चित्त देकर आप ही अपना घात करते हैं। (७०)

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

विचार कर इस अहङ्कार का त्याग किया जाय, और जो नित्य बना है वह स्वरूप प्राप्त किया जाय तो हम आप ही अपना कल्याण सहज में कर लेंगे। (७१) नहीं तो जो इस सुशोभित शरीर को ही आत्मा सम झता है वह कोश के कीड़े के समान आप ही अपना वैरी है। (७२) लाभ के समय दुर्दैवी मनुष्य को कैसी अन्धत्व की इच्छा होती है जो वह आप ही अपनी खुली हुई आँखें मूँद लेता है। (७३) अथवा जैसे कोई भ्रम के कारण समझ ले कि मैं नहीं हूँ, मैं खो गया, और अन्तःकरण में ऐसा

मिथ्या हठ किये रहे, (७४) तो यथार्थ में वह जो है सो ही है, तथापि क्या किया जाय, उसकी बुद्धि वैसी नहीं होती। देखो, स्वप्न में लगे हुए घाव से क्या कोई सचमुच मरता है? (७५) तोते के शरीर के भार से उसे पकड़ने के लिए रक्खी हुई नली उलटी फिरती है, तब वह चाहे तो उड़ जाय, परन्तु उसके मन का सन्देह नहीं जाता। (७६) वह वृथा गर्दन ऐंठता है, छाती संकुचित कर नली को दबाता है, और उसे अपने पाँव के पंजों से दृढ़ भींचे रहता है। (७७) वह समझता है, कि मैं निःसन्देह बाँधा गया हूँ। ऐसी भावना के लहर में पड़ते ही वह खुले हुए पाँव के पंजे को और भी अधिक फँसाता है। (७८) इस प्रकार जो निष्कारण फँसता है उसे क्या कोई दूसरा बाँधता है? परन्तु चाहे उसे आधा काट डालो तो भी वह नली नहीं छोड़ता। (७९) अतएव, श्रीकृष्ण ने कहा कि वह आप ही अपना वैरी है जिसने अपना संकल्प बढ़ा रक्खा है तथा जो मिथ्या वस्तु के वश नहीं होता वही आत्मज्ञानी है। (८०)

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

अन्तःकरण को जीतनेहारे तथा सकल कामना के शमन करनेहारे उससे परमात्मा कुछ जुदी और दूरस्थ वस्तु नहीं है। (८१) जैसे सोने का मैल निकल जाय तो वह खरा सोना बना ही हुआ है वैसे ही संकल्प का नाश होते ही जीव को ब्रह्मत्व ही प्राप्त है। (८२) जैसे घटाकाश का नाश हो तो उसे आकाश में मिल जाने के लिए किसी दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता (८३) वैसे ही जिसका मिथ्या देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है वह पहले से ही सब जगह भरा हुआ परमात्मस्वरूप ही है। (८४) उसमें शीत और उष्ण के प्रवाह सुख-दुःख के विचार, मान अपमान के शब्द इत्यादि बातों का समावेश नहीं होता। (८५) क्योंकि जैसे जिस मार्ग से सूर्य जाता है वह निरवशेष तेजरूप हो जाता है, वैसे ही वह जो वस्तु प्राप्त करता है तद्रूप ही हो जाता है। (८६) देखो मेघों से निकली हुई जल की धाराएँ जैसी समुद्र में गिरी हुई जुदी नहीं रहतीं वैसे ही योगीश्वर शुभाशुभ कर्म जुदे नहीं समझता। (८७)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

यह जो संसार-ज्ञानात्मक मात्र है उसका विचार करते ही वह उसे मिथ्या जान पड़ता है, और ज्योंही विचार करता है त्योंही वह स्वयं ज्ञान रूप हो जाता है। (८८) फिर यह तर्क करना कि मैं व्यापक हूँ कि अव्यापक, द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप नष्ट हो जाता है। (८९) इस प्रकार जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है उसे यद्यपि वह देहधारी हो तथापि योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझना चाहिए। (९०) जितेन्द्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी ऐसा भेद नहीं करता कि यह छोटा और यह बड़ा है, (९१) जो मेरु पर्वत जैसे विशाल सोने का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों को समान ही समझता है, (९२) और जो इतना निरिच्छ है कि ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को कि जिसके आगे पृथ्वी का मोल भी थोड़ा है, पत्थर के समान समझता है। (९३)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र इत्यादि विचित्र और भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है? (९४) उसे कौन कहाँ का मित्र है और कौन द्वेषी है? जिसे ज्ञान हो गया है कि मैं ही विश्व हूँ (९५) उसकी दृष्टि में हे किरीटी! क्या अधमोत्तम भेद रह सकता है? क्या पारस की कसौटी से सुवर्ण के उत्तम मध्यम भेद हो सकते हैं? (९६) वह कसौटी जैसे शुद्ध सुवर्ण ही को उत्पन्न करती है वैसे उस योगी की बुद्धि को चराचर में निरन्तर एकता ही प्रकट होती है। (९७) यद्यपि ये बिखरे हुए विश्वरूपी अलङ्कार अलग अलग प्रकार के हैं तथापि वे एक ही परब्रह्मरूपी सुवर्ण के बने हैं—(९८) ऐसा जो उत्तम ज्ञान है वह सब उस पुरुष को प्राप्त हो गया है। इसलिए वह बाह्य चित्र-विचित्र रचना में नहीं फँसता। (९९) यदि पट की ओर दृष्टि की जाय तो जैसे सम्पूर्ण तन्तु की सृष्टि दिखाई देती है वैसे ही उसके पास एकता के सिवाय दूसरी वार्ता ही नहीं रहती। (१००) जिसे ऐसी प्रतीति प्राप्त होती है, जिसे ऐसा अनुभव होता है वही समबुद्धि है। यह बात मिथ्या मत जानो। (१) जिसका नाम तीर्थराज के तुल्य है, जिसके दर्शन से शान्ति उत्पन्न होती है, जिसके सङ्ग से भ्रान्त लोगों को भी ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है, (२) जिसके वचन धर्म का जीवन हैं, जिसकी दृष्टि से महासिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं तथा स्वर्ग इत्यादि सुख जिसके खेल हैं, (३) उसका यदि

अकस्मात् भी चित्त में स्मरण हो तो वह स्मरण करनेहारे को अपनी योग्यता प्राप्त करा देता है। बहुत क्या कहें, उसकी स्तुति करना आवश्यक है। (४)

> योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित ।
> एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥१०॥

जिसे ऐसे अद्वैतरूपी दिन का उदय हुआ है कि जो पुनः कभी अस्त नहीं होता, और जो निरन्तर अपने आप में निमग्न रहता है, (५) इ पाय। जो इस प्रकार विवेकी है वही अपरिग्रह है, क्योंकि तीनों लोकों में वही है जो परिवार-रहित है। (६) श्रीकृष्ण ने जहाँ तक उनसे हो सका वहाँ तक, सिद्धों के इस प्रकार असाधारण लक्षण वर्णन किये (७) और कहा कि जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो देखनेवालों की दृष्टि का प्रकाशक है, जिस प्रभु के सङ्कल्प से विश्व की रचना होती है, (८) ओंकाररूपी हाट में जो शब्दब्रह्मरूपी वस्त्र मिलता है वह भी जिसकी कीर्ति के सामने अल्प होता हुआ उसका आच्छादन करने के लिए बस नहीं होता, (९) जिसके शरीर के तेज से सूर्य और चन्द्र के व्यापार की महिमा है, (तो फिर उसके बिना इस जगत् के प्रकाशित होने की वार्ता ही क्या है?) (११०) अजी जिसके नाम के सामने गगन भी अल्प दिखाई देता है, उसका एक-एक गुण तुम कहाँ तक जान सकोगे? (११) अतएव यह स्तुति रहने दो। हम नहीं कह सकते कि इस स्तुति के मिस से हमने किसके लक्षणों का वर्णन किया अथवा यह वर्णन ही क्यों किया। (१२) सुनो, द्वैत का जो निशान मिटा देती है वह अध्यविद्या यदि व्यक्त कर दी जाय तो हे अर्जुन! प्रेम का माधुर्य चला जावेगा। (१३) इसी लिए हमने वैसा वर्णन नहीं किया। हमने प्रेम का भोग लेने के लिए एक पतले से परदे की आड़ रख कर मन को अलग-सा कर दिया। (१४) जो सोऽहंभाव में अलके हुए हैं, जो मोक्ष-सुख के लिए दीन हो रहे हैं उनकी दृष्टि का कलङ्क अपने जैसे भक्त के प्रेम का न लगने दो। (१५) कदाचित् भक्त का अहंभाव चला जाय और वह मद्रूप हो जाय तो फिर मैं अकेला क्या करूँगा? (१६) फिर ऐसा कौन रहेगा कि जिसे देखकर हमारी दृष्टि जुड़ावे, अथवा जिससे हम मनमाना वार्तालाप कर सकें अथवा जिसे दृढ़ आलिङ्गन दे सकें? (१७) यदि हमारा ऐक्य हो जाय तो अपने हृदय की उत्तम और मन में न समानेवाली बात हम किससे कहेंगे? (१८) इस प्रकार

प्रेम की तीव्रता के वश हो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करने के बहाने अपने ही मन से मन को आलिङ्गन देने की चेष्टा की। (१९) यह बात सुनने में श्रौघट जान पड़ती है परन्तु पार्थ को स्पष्ट श्रीकृष्ण-सुख की ढली हुई मूर्ति ही समझो। (१२०) श्रौर तो क्या, जैसे बाँझ स्त्री को वृद्धापकाल में एक ही पुत्र होता है और फिर उस में जैसी मोह की प्रपञ्च-रचना प्रकट होने लगती है (२१) वैसा ही हाल श्रीकृष्ण का हुआ। यह बात मैं न कहता यदि मैं उनके प्रेम की अधिकता न देखता। (२२) देखो प्रेम कैसी आश्चर्यकारक वस्तु है! कहाँ उपदेश और कहाँ युद्ध परन्तु बीच में प्रेमियों का प्रेम ही प्रकट हो रहा है। (२३) प्रेम और लजावे नहीं, व्यसन और थकावे नहीं, भ्रम और भुलावे नहीं, तो फिर बात ही क्या रही? (२४) भावार्थ यह है कि अर्जुन मैत्री का आश्रयस्थान है, अथवा मानों सुख-शृंगार किये हुए मन का दर्पण है। (२५) इस प्रकार वह अत्यन्त पुण्य और पवित्र है, तथा संसार में भक्तिरूपी बीज बोने के लिए मानों एक उत्तम खेत है। इसी लिए वह श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र हुआ है। (२६) अथवा आत्म-निवेदन के पूर्व जो सख्य नामक एक भूमिका है अर्जुन उसकी आश्रम भूत देवी है। (२७) वह श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्यारा है कि उसके पास खड़े हुए स्वयं श्रीकृष्ण की स्तुति चाहे न की जाय पर सेवक की स्तुति अवश्य करनी चाहिए। (२८) देखो, जो प्रेम से पति की सेवा करती है और पति जिसका आदर करता है वह पतिव्रता, पति की अपेक्षा, क्या अधिक नहीं बखानी जाती? (२९) वैसे ही मेरे हृदय में अर्जुन की विशेष स्तुति करना ही भाता है। क्योंकि वही एक त्रिभुवन के भाग्य का अधिष्ठान हो रहा है। (१३०) उसके प्रेम के वास्ते निराकार परमात्मा ने भी साकारता स्वीकारी है और स्वयं पूर्ण होते भी उसे उसकी उत्कण्ठा लग रही है। (३१) तब श्रोताओं ने कहा—"अहो भाग्य है! कैसी सुन्दर वाणी है! मानों नाद-ब्रह्म के तथा सौन्दर्य्य के जीतकर आई हो! (३२) अजी आश्चर्य नहीं, माता हो तो ऐसी ही हो। मानों भाषा में अलङ्काररूपी नाना प्रकार के रत्न जड़ रहे हैं। (३३) कैसी स्वच्छ ज्ञानरूपी चाँदनी चमकी है, और भावार्थ-रूपी शीतलता छा रही है, तथा श्लोकार्थरूपी कमलिनी सहज विकसित हो रही है! (३४) इससे मनोरथों की ऐसी बाढ़ हुई है कि निष्काम लोगों के भी कामना उत्पन्न होगी।" इस प्रकार श्रोतागण अन्तःकरण में आनन्दित हो डोलने लगे। (३५) यह देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर

ने कहा—"ध्यान दीजिए। पाण्डवकुल में कृष्णरूपी एक अनोखे सूर्य का प्रकाश हो रहा है। (३६) उसे देवकी ने गर्भ में धारण किया, यशोदा ने कष्ट कर पालन किया, परन्तु निदान में वह पाण्डवों का उपयोगी हुआ। (३७) इसलिए कई दिनों तक सेवा करने का और फिर अवसर से विनती करने का कष्ट उस भाग्यवान् अर्जुन को नहीं पड़ा। (३८) परन्तु यह बात रहने दो। अब शीघ्र कथा-निरूपण करता हूँ।" अर्जुन ने प्रेम से कहा कि हे देव! आपके बयान किये हुए सन्तों के लक्षण मुझमें नहीं हैं। (३९) यों तो इन लक्षणों के तात्पर्य के माप से मैं निश्चय से अल्प हूँ, तथापि सुनिए, मैं आपके वचनों से योग्यता पा सकता हूँ। (१४०) यदि आप मन में लावें तो मैं ब्रह्म हो सकता हूँ। कुछ भी हो, आप जो कहें सो अभ्यास कर सकता हूँ। (४१) आपने न जाने किसका बयान किया परन्तु उसे सुनकर मेरे अन्तःकरण में उसकी श्लाघा उत्पन्न होती है, तो फिर वैसी योग्यता प्राप्त होने से कितना आनन्द होगा? (४२) क्या मैं ऐसा बन सकूँगा? हे गोस्वामी! क्या आप अपनी ओर से इतनी कृपा करेंगे? तब श्रीकृष्ण ने हँस कर कहा—"हाँ हाँ, करेंगे"। (४३) देखो, जब तक एक सन्तोष प्राप्त नहीं होता तभी तक सुखप्राप्ति के विषय में बहुतेरी कठिनता मालूम होती है। परन्तु सन्तोष प्राप्त होते ही क्या कभी सुख की न्यूनता रहती है? (४४) वैसे ही अर्जुन सर्वेश्वर जैसे समर्थ धनी का सेवक था इसलिए वह सहज ही ब्रह्म हो गया। वह कैसा भाग्यरूपी फली हुई फसल के बोझ से झुक रहा है। (४५) जिसकी भेंट इन्द्रादि देवताओं को भी सहस्रावधि जन्मों में होना दुर्लभ है वह इस अर्जुन के इतना अधीन हो गया है कि उसका एक शब्द भी विफल नहीं होने देता! (४६) अर्जुन ने जो ब्रह्म होने की इच्छा प्रकट की वह श्रीकृष्ण ने सुन ली। (४७) उन्होंने सोचा कि इसे ब्रह्मत्व के दोहद हो रहे हैं जिससे यह जाना जाता है कि इसकी बुद्धि के पेट में वैराग्य का गर्भ है। (४८) यों तो, इसके दिन पूरे नहीं हुए हैं, तथापि यह अर्जुन-वृक्ष वैराग्य-वसन्त की बहार के कारण सोऽहं भावरूपी बौर से झुक रहा है, (४९) अतः श्रीकृष्ण को यह निश्चय हुआ कि अर्जुन ऐसा विरक्त हो गया है कि उसे मोक्ष-प्राप्तिरूपी फल पाने में विलम्ब न लगेगा। (१५०) वे जान गए कि जो जो उपाय यह ग्रहण करेगा सो आरम्भ करते ही इसे फलद्रूप होगा। इसलिए इसे जो अभ्यास बताया जाय वह वृथा न जायेगा। (५१) यह समझ कर उस

प्रेम की दीनता के वश हो श्रीकृष्ण ने अर्जुन के उपदेश करने के बहाने अपने ही मन से मन को आलिङ्गन देने की चेष्टा की। (१९) यह बात सुनने में औघट जान पड़ती है परन्तु पार्थ को स्पष्ट श्रीकृष्ण-सुख की बनी हुई मूर्ति ही समझो। (१२०) और तो क्या, जैसे बाँझ स्त्री को वृद्धापकाल में एक ही पुत्र होता है और फिर उस में जैसी मोह की प्रपञ्च-रचना प्रकट होने लगती है (२१) वैसा ही हाल श्रीकृष्ण का हुआ। यह बात मैं न कहता यदि मैं उनके प्रेम की अधिकता न देखता। (२२) देखो प्रेम कैसी आश्चर्यकारक वस्तु है! कहाँ उपदेश और कहाँ युद्ध, परन्तु बीच में प्रेमियों का प्रेम ही प्रकट हो रहा है। (२३) प्रेम और लजावे नहीं व्यसन और थकावे नहीं, भ्रम और भुलावे नहीं, तो फिर बात ही क्या रही? (२४) भावार्थ यह है कि अर्जुन मैत्री का आश्रयस्थान है, अथवा मानों सुख-शृंगार किये हुए मन का दर्पण है। (२५) इस प्रकार यह अत्यन्त पुण्य और पवित्र है, तथा संसार में भक्तिरूपी बीज बोने के लिए मानों एक उत्तम खेत है। इसी लिए यह श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र हुआ है। (२६) अथवा आत्म-निवेदन के पूर्व जो सख्य नामक एक भूमिका है अर्जुन उसकी आश्रय भूत देवी है। (२७) यह श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्यारा है कि उसके पास बैठे हुए स्वयं श्रीकृष्ण की स्तुति चाहे न की जाय पर सेवक की स्तुति अवश्य करनी चाहिए। (२८) देखो, जो प्रेम से पति की सेवा करती है और पति जिसका आदर करता है वह पतिव्रता, पति की अपेक्षा, क्या अधिक नहीं बखानी जाती? (२९) वैसे ही मेरे हृदय में अर्जुन की विशेष स्तुति करना ही भाता है। क्योंकि वही एक त्रिभुवन के भाग्य का अधिष्ठान हो रहा है। (१३०) उसके प्रेम के बहाने निराकार परमात्मा ने भी साकारता स्वीकारी है और स्वयं पूर्ण होते भी उसे उसकी उत्कण्ठा लग रही है। (३१) तब श्रोताओं ने कहा—"अहो भाग्य है! कैसी सुन्दर वाणी है! मानों नाद-ब्रह्म के तथा सौन्दर्य्य के जीतकर आई हो! (३२) अभी आश्चर्य नहीं, भाषा हो तो ऐसी ही हो। मानों आकाश में अलङ्काररूपी नाना प्रकार के रङ्ग उठ रहे हैं। (३३) कैसी स्वच्छ ज्ञानरूपी चाँदनी चमकी है, और भावार्थ-रूपी शीतलता छा रही है, तथा रसोत्कर्षरूपी कमलिनी सहज विकसित हो रही है! (३४) इससे मनोरथों की ऐसी बाढ़ हुई है कि निष्काम लोगों के भी कामना उत्पन्न होगी।" इस प्रकार श्रोतागण अन्तःकरण में आनन्दित हो बोलने लगे। (३५) यह देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर

ने कहा—"ध्यान दीजिए। पाण्डवकुल में कृष्णारूपी एक अनोखे सूर्य का प्रकाश हो रहा है। (३६) उसे देवकी ने गर्भ में धारण किया, यशोदा ने कष्ट कर पालन किया, परन्तु निदान में वह पाण्डवों का उपयोगी हुआ। (३७) इसलिए कई दिनों तक सेवा करने का और फिर अवसर से विनती करने का कष्ट उस भाग्यवान् अर्जुन को नहीं पड़ा। (३८) परन्तु यह बात रहने दो। अब शीघ्र कथा-निरूपण करता हूँ।" अर्जुन ने प्रेम से कहा कि हे देव! आपके वर्णन किये हुए सन्तों के लक्षण मुझमें नहीं हैं। (३९) यों तो इन लक्षणों के तात्पर्य के माप से मैं निश्चय से अल्प हूँ, तथापि सुनिए, मैं आपके वचनों से बड़ा हो सकता हूँ। (१४०) यदि आप मन में लावें तो मैं ब्रह्म हो सकता हूँ। कुछ भी हो, आप जो कहें सो अभ्यास कर सकता हूँ। (४१) आपने न जाने किसका वर्णन किया परन्तु उसे सुनकर मेरे अन्तः-करण में उसकी अभिलाषा उत्पन्न होती है, तो फिर वैसी योग्यता प्राप्त होने से कितना आनन्द होगा? (४२) क्या मैं ऐसा बन सकूँगा? हे गोस्वामी! क्या आप अपनी ओर से इतनी कृपा करेंगे? तब श्रीकृष्ण ने हँस कर कहा—"हाँ हाँ करेंगे"। (४३) देखो, जब तक पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं होता तभी तक सुखप्राप्ति के विषय में बहु-तेरी कठिनता मालूम होती है। परन्तु सन्तोष प्राप्त होते ही क्या कभी सुख की न्यूनता रहती है? (४४) वैसे ही अर्जुन सर्वेश्वर जैसे समर्थ धनी का सेवक था इसलिए वह सहज ही प्रसन्न हो गया। वह ऐसा भाग्यरूपी फली हुई फसल के बोझ से झुक रहा है। (४५) जिसकी भेंट इन्द्रादि देवताओं को भी सहस्रावधि जन्मों में होना दुर्लभ है वह इस अर्जुन के इतना अधीन हो गया है कि उसका एक शब्द भी विफल नहीं होने देता! (४६) अर्जुन ने जो ब्रह्म होने की इच्छा प्रकट की वह श्रीकृष्ण ने सुन ली। (४७) उन्होंने सोचा कि उसे अस्तत्व के दोहद हो रहे हैं जिससे यह जाना जाता है कि इसकी बुद्धि के पेट में वैराग्य का गर्भ है। (४८) यों तो, इसके दिन पूरे नहीं हुए हैं, तथापि यह अर्जुन-वृक्ष वैराग्य-वसन्त की बहार के कारण सार्द्र भावरूपी बौर से झुक रहा है, (४९) तब श्रीकृष्ण को यह निश्चय हुआ कि अर्जुन ऐसा विरक्त हो गया है कि उसे मोक्ष-प्राप्तिरूपी फल पाने में विलम्ब न लगेगा। (१५०) वे जान गये कि जो जो उपाय यह ग्रहण करेगा सो आरम्भ करते ही इसे फलद्रूप होगा। इसलिए इसे जो अभ्यास बताया जाय वह वृथा न जायेगा। (५१) यह समझ कर उस

समय श्रीहरि ने अर्जुन से कहा कि अब हम तुम्हें सब योगों में श्रेष्ठ योग बताते हैं, सो सुनो। (५२) उस मार्ग में संसाररूपी वृक्ष के नीचे करोड़ों मोक्ष-फल बिछे हैं। उस मार्ग से श्रीशङ्कर अभी तक यात्रा कर रहे हैं। (५३) प्रथम योगीजन चिदाकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही गये थे। परन्तु वहाँ उनके अनुभवरूपी पाँव के चिह्न बन जाने से एक रास्ता बन गया (५४) इसलिए उनके अनुगामी और सब अज्ञानरूपी मार्गों को छोड़कर इसी आत्मज्ञानरूपी सीधे मार्ग से दौड़ते चले। (५५) इसी मार्ग से साधक सिद्ध हो गये तथा तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ हो गये। यह मार्ग देखो तो भूख-प्यास भूल जाती है तथा रात और दिन नहीं जान पड़ते। (५६,५७) चलते समय जहाँ पाँव पड़ जाय वहीं मोक्ष की खानि प्रकट हुई दिखाई देती है, तथा टेढ़े-मेढ़े जाने से भी स्वर्गसुख प्राप्त होता है। (५८) पूर्व दिशा की ओर मुँह करके निकलिए तो शान्तता से पश्चिम के घर पहुँच जाते हैं। हे धनुधर! इस मार्ग का चलना ऐसा ही है। (५९) इस मार्ग से जिस गाँव को जाइए वह गाँव आप ही बन जाते हैं। यह मैं क्या बयान करूँ, तुम्हें सहज ही मालूम हो जायगा। (६०) तब पार्थ ने पूछा कि हे देव! तो फिर कब मालूम हो जावेगा? इस उत्कण्ठारूपी समुद्र में डूबे हुए मुझको आप बाहर क्यों नहीं निकालते? (६१) तब श्रीकृष्ण ने कहा ऐसे अधीर वचन क्यों बोलते हो? हम स्वयं कहनेवाले ही थे कि इतने में तुमने प्रश्न किया। (६२)

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

तो अब हम विशेष रीति से निरूपण करते हैं। परन्तु उसका यह योग अनुभव से ही होगा। प्रथम ऐसा एक स्थान ढूँढना चाहिए (६३) कि जहाँ समाधान की इच्छा से बैठने ही उठने की इच्छा न हो और जिसे देखते ही वैराग्य की दुगुनी बाढ़ हो। (६४) जिस स्थलों में बसता हो, जो सन्तोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का आश्वासन देता हो। (६५) जहाँ रमणीयता निरन्तर ऐसी बसी हुई हो कि अभ्यास ही हठसमाधि के वश हो जाय तथा अनुभव आप ही आकर हृदय में आ जावे; (६६) जिसके समीप से निकलते ही हो पाखंडियों को भी सहसा तपश्चर्या की इच्छा हो;

(१७) जहाँ यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते चलते अकस्मात् पहुँच जाय तो उसे फिर लौटने का स्मरण न हो। (६८) इस प्रकार, ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए कि जो न रहनेहार को रख ले, भ्रमण करने हारे को बैठा दे तथा वैराग्य को थपक कर जागृत करे, (६९) जिसे देखते ही शृंगारियों को ऐसा मालूम हो कि बड़ा राज भी त्याग दें और वहीं शान्तता से बैठे रहें, (१७०) जो उत्तम तथा निर्मल हो, एवं जहाँ ब्रह्मस्वरूप आँखों से प्रकट दिखाई देता हो। (७१) एक बात और देखनी चाहिए। वह स्थान साधकों से बसा हो परन्तु और लोगों के पाँवों की धूलि से मलिन न हुआ हो। (७२) जहाँ अमृत के समान जड़ से मीठे और सदा फलनेहारे वृक्ष सघन हों। (७३) डग डग पर पानी हो, जो वर्षा-काल को छोड़ सदा निर्मल रहे। निर्भर भी बहुत सुभीते के हों। (७४) घाम थोड़ा ही तपता हो तथा शीतल पवन अत्यन्त निश्चल और मन्द मन्द बहती हो। (७५) प्रायः कहीं शब्द न होता हो, और वन ऐसा सघन हो कि श्वापदों का प्रवेश न हो सके। तोते या भ्रमर भी वहाँ न हों। (७६) पानी के समीप रहने हारे हंस हों, दो-चार सारस हों किसी समय कोयल भी आ बैठे, (७७) निरन्तर नहीं तथापि कुछ मोर भी आते जाते रहें तो हम मना नहीं करते। (७८) परन्तु ऐसा स्थान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। वहाँ कोई गुप्त मठ हो अथवा शिवालय हो। (७९) इन दोनों में से कोई एक—जिससे चित्त प्रसन्न हो—होना चाहिए और वहाँ प्रायः एकान्त में बैठना चाहिए। (१८०) मतलब यह है कि ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए और यह परीक्षा करनी चाहिए कि वहाँ मन स्थिर होता है या नहीं। यदि होता हो तो वहाँ इस प्रकार आसन लगाना चाहिए (८१) कि ऊपर सुन्दर मृगचर्म हो, बीच में धुला हुआ वस्त्र की तह हो और नीचे दर्भ-सहित अत्यन्त कोमल कुश ऐसी व्यवस्थित रीति से बिछाये गये हों (८२) कि ये सहज ही समान मिले हुए और एक से रह सकें। (८३) कदाचित् आसन ऊँचा हो जाय तो शरीर हिल जायगा और नीचा हो जाय तो भूमि के सम्बन्ध का दोष प्राप्त होगा (८४) इसलिए ऐसा न होना चाहिए। आसन को समान रखना चाहिए। बहुत क्या कहें, आसन उपर्युक्त वर्णन के अनुसार होना चाहिए। (८५)

समय श्रीहरि ने अर्जुन से कहा कि अब हम तुम्हें सब योगों में श्रेष्ठ योग बताते हैं, सो सुनो। (४२) उस मार्ग में संसाररूपी वृक्ष के नीचे करोड़ों मोक्ष-फल मिलते हैं। उस मार्ग से श्रीशङ्कर अभी तक यात्रा कर रहे हैं। (४३) प्रथम योगीजन चिदाकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही गये थे। परन्तु वहाँ उनके अनुभवरूपी पाँव के चिह्न बन जाने से एक रास्ता बन गया (४४) इसलिए उनके अनुगामी और सब अज्ञानरूपी मार्गों को छोड़कर, इसी आत्मज्ञानरूपी सीधे मार्ग से दौड़ते चले। (४५) इसी मार्ग से साधक सिद्ध हो गये तथा तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ हो गये। यह मार्ग देखो तो भूख-प्यास भूल जाती है तथा रात और दिन नहीं जान पड़ते। (४६,४७) चलते समय जहाँ पाँव पड़ जाय वहीं मोक्ष की खानि प्रकट हुई दिखाई देती है, तथा टेढ़े-मेढ़े जाने से भी स्वर्गसुख प्राप्त होता है। (४८) पूर्व दिशा की ओर मुँह करके निकलिए तो शान्तता से पश्चिम के घर पहुँच जाते हैं। हे धनुर्धर! इस मार्ग का चलना ऐसा ही है। (४९) इस मार्ग से जिस गाँव को जाइए वह गाँव आप ही बन जाते हैं। यह मैं क्या बयान करूँ, तुम्हें सहज ही मालूम हो जावेगा। (१५०) तब पार्थ ने पूछा कि हे देव! तो फिर कब मालूम हो जावेगा? इस उत्कण्ठारूपी समुद्र में डूबे हुए मुझको आप बाहर क्यों नहीं निकालते? (५१) तब श्रीकृष्ण ने कहा ऐसे अधीर वचन क्यों बोलते हो? हम स्वयं कहनेवाले ही थे कि इतने में तुमने प्रश्न किया। (५२)

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

तो अब हम विशेष रीति से निरूपण करते हैं। परन्तु उसका उपयोग अनुभव से ही होगा। प्रथम ऐसा एक स्थान ढूँढ़ना चाहिए (५३) कि जहाँ समाधान की इच्छा से बैठने ही उठने की इच्छा न हो। जिसे देखने ही वैराग्य की दुगुनी बाढ़ हो (५४) जिसे सन्तों ने बसाया हो, जो सन्तोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का प्रोत्साहन देता हो (५५) जहाँ रमणीयता निरन्तर ऐसी पड़ी हुई हो कि अभ्यास ही स्वयमापक के वश हो जाय तथा अनुभव आप ही आकर हृदय में आ बसे; (५६) जिसके समीप से निकलते ही हो गए! नास्तिकों को भी सदा तपस्या होकर तत्परता की इच्छा हो

(६७) जहाँ यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते चलते अकस्मात् पहुँच जाय तो उसे फिर छोड़ने का स्मरण न हो। (६८) इस प्रकार, ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए कि जो न रहनेहारे को रख ले, भ्रमण करने हारे को बैठा दे तथा वैराग्य को थपट कर जागृत करे; (६९) जिसे देखते ही शृंगारियों को ऐसा मालूम हो कि बड़ा राज भी त्याग दें और वहीं शान्तता से बैठे रहें, (१७०) जो रम्य तथा निर्मल हो, एवं जहाँ ब्रह्मस्वरूप आँखों से प्रकट दिखाई देता हो। (७१) एक बात और देखनी चाहिए। वह स्थान साधकों से बसा हो परन्तु और लोगों के पाँवों की धूलि से मलिन न हुआ हो। (७२) जहाँ अमृत के समान जड़ से मीठे और सदा फलनेहारे वृक्ष सघन हों। (७३) पग पग पर पानी हो, जो वर्षा-काल को छोड़ सदा निर्मल रहे। निर्भर भी बहुत सुभीते के हों। (७४) घाम थोड़ा ही लगता हो तथा शीतल पवन अत्यन्त निश्चल और मन्द मन्द बहती हो। (७५) प्रायः कहीं शब्द न होता हो, और वन ऐसा सघन हो कि श्वापदों का प्रवेश न हो सके। तोते या भ्रमर भी वहाँ न हों। (७६) पानी के समीप रहने हारे हंस हों, दो-चार सारस हों किसी समय कोयल भी आ बैठे, (७७) निरन्तर नहीं तथापि कुछ मोर भी आते जाते रहें तो हम ना नहीं करते। (७८) परन्तु ऐसा स्थान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। जहाँ कोई गुप्त मठ हो अथवा शिवालय हो। (७९) इन दोनों में से कोई एक—जिससे चित्त प्रसन्न हो—होना चाहिए और वहीं प्रायः एकान्त में बैठना चाहिए। (१८०) मतलब यह है कि ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए और यह परीक्षा करनी चाहिए कि वहाँ मन स्थिर होता है या नहीं। यदि होता हो तो वहाँ इस प्रकार आसन लगाना चाहिए (८१) कि ऊपर सुन्दर मृगचर्म हो, बीच में धुले हुए वस्त्र की तह हो और नीचे जड़-सहित अत्यन्त कोमल कुश ऐसी व्यवस्थित रीति से बिछाये गये हों (८२) कि वे सहज ही समान मिले हुए और एक से रह सकें। (८३) कदाचित् आसन ऊँचा हो जाय तो शरीर हिल जावेगा और नीचा हो जाय तो भूमि के सम्बन्ध का दोष प्राप्त होगा (८४) इसलिए ऐसा न होना चाहिए। आसन को समान रखना चाहिए। बहुत क्या कहें, आसन उपर्युक्त वर्णन के अनुसार होना चाहिए। (८५)

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

फिर योगी को वहाँ एकाग्र अन्तःकरण कर सद्गुरु का स्मरण-रूपी अनुभव लेना चाहिए। (८६) प्रेम से स्मरण करते ही सबाह्य अन्तःकरण सात्त्विक भावों से भर जाय, अहंभावरूपी कठिनता चली जाय (८७) विषयों की विस्मृति हो जाय, हृदय में मनरूपी वस्त्र भी तह बन जाय (८८) ऐसी एकता जब तक सहज ही प्राप्त न हो जाय तब तक स्मरण करते रहना चाहिए। इस प्रकार के अनुभवसहित आसन पर बैठना चाहिए। (८९) उस समय ऐसी प्रतीति होने लगती है कि शरीर ही शरीर को सँभालता है, तथा प्राण ही प्राण को सँभालता है, (९०) प्रवृत्ति पीछे फिरती है। समाधि इस पार ही रह जाती है। आसन पर बैठते ही सब अभ्यास शुरू हो जाते हैं। (९१) आसन की ऐसी महिमा है। अब हम आसन की विधि का वर्णन करते हैं, सुनो। जङ्घा को पिंडुली से मिला दो। (९२) पाँव के तलुए एक पर एक क्योड़ा कर गुदस्थान के मूल में स्थिर रख और से दबाओ। (९३) दहना पाँव नीचे रक्खो और वृषण से गुदस्थान तक जो रेखा है उसे उससे दबाओ। इस वृत्ति में बायाँ पाँव आप ही ऊपर रहेगा। (९४) गुदा और शिश्न के बीच जो केवल चार अंगुल जगह है उसमें से दोनों ओर डेढ़ डेढ़ अंगुल छोड़ कर (९५) बीच में जो एक अंगुल रह जाती है वहाँ एड़ी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर तौल धरो। (९६) पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया न उठाया मालूम न हो तथा दोनों घुटनों का भी तौल सँभालो (९७) तब हे पार्थ! सम्पूर्ण शरीर का ढाँचा एड़ी के माथे पर स्थिर हो रहेगा। (९८) हे अर्जुन! यह मूलबन्ध का लक्षण है। इसे गौण वज्रासन कहते हैं। (९९) इस प्रकार जब मूलाधार का बन्ध सिद्ध होता है और अपान वायु का अधोमार्ग बन्द हो जाता है तब वह वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है। (२००)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

हाथ प्रोवाकार किये हुए सहज ही बायें पाँव पर रहते हैं और बाहु-

मूल फूले हुए दिखाई देते हैं। (१) बीच में शरीरदण्ड स्थिर रहने के कारण शिरकमल भीतर घुसा हुआ मालूम होता है तथा नेत्रद्वार के किवाड़रूपी पलक बन्द होने से दिखते हैं। (२) ऊपर की बिमियाँ नहीं हिलतीं तथा नीचे की नीचे स्थिर बनी रहती हैं जिससे नेत्रों की अर्धोन्मीलित स्थिति हो जाती है। (३) दृष्टि भीतर की ओर रहते हुए कुतूहल से बाहर पग डालता है, और नासाग्र तक आई हुई दिखाई देती है, (४) तथा भीतर की दृष्टि भीतर ही रहकर बाहर नहीं निकलती इसलिए उस अर्द्धदृष्टि का निवास नासाग्र पर स्थिर हो रहता है। (५) तब दिशाओं की भेंट लेना अथवा रूप देखने की बाट जोहना इत्यादि इच्छाएँ आप ही आप बन्द हो जाती हैं। (६) कण्ठ सूखने लगता है। ठोड़ी कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती और हृदय को जोर से दबाती है, (७) और बीच में कण्ठमणि अदृश्य हो जाती है। इस प्रकार जो बन्ध बनता है उसे जालन्धर कहते हैं। (८) नाभि ऊपर उठ आती है, पेट भीतर घुस जाता है और हृदय में हृदयकमल विकसता है। (६) इस प्रकार नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बन्ध बनता है उसे उड्डियान कहते हैं। (२१०) शरीर के बाहरी भाग से जब इस प्रकार अभ्यास किया जाता है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

तब भीतर मनोधर्म का ठाँव मिट जाता है, (११) कल्पना बन्द हो जाती है प्रवृत्ति शान्त हो जाती है और शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं। (१२) क्षुधा क्या हुई निद्रा कहाँ गई इत्यादि का विस्मरण हो जाता है और पुनः शीघ्र स्मरण नहीं होता। (१३) जो अपान वायु मूलबन्ध के द्वारा बन्द कर दी जाती है वह पीछे पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है, (१४) सन्ताप से मत्त हो जाती है, मनमानी जगह गरजती है, और ठहर ठहर कर मणिपूर (नाभिकमल का तृतीय चक्र) से झगड़ने लगती है। (१५) अनन्तर यह तूफान शान्त होते ही यह सब पेट खोज डालती है और लड़कपन का सड़ा हुआ कीच बाहर निकाल फेंकती है। (१६) यह वायु भीतर ही घिरी हुई नहीं रहती बरन् कोठे में भी संचार करती है, तथा कफ और पित्त का ठाँव नहीं रहने देती। (१७) धातु

के समुद्रों को उलट देती है। मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है और भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है। (१८) नाड़ियाँ धुला देती है। अवयवों को ढीला कर देती है। इस प्रकार वह अपानवायु साधकों को डराती है परन्तु इससे डरना नहीं चाहिए। (१९) वह व्याधि प्रकट करती है, परन्तु साथ ही उसका नाश करती है। वह जलतत्व और पृथ्वीतत्व एक में सानती है। (२२०) इतने में, हे धनुर्धर! दूसरी ओर आसन की उष्णता कुण्डलिनी नामक शक्ति को जागृत करती है। (२१) जैसे कोई नागिन का सँपोला कुंकुम में नहाया हो और गिंडुरी मार कर सो रहा हो, वैसी वह छोटी सी कुण्डलिनी साढ़े तीन गिंडुरी मारकर नीचे मुँह किये हुए सर्पिनी सी सोई रहती है। (२२-२३) बिजुली का बना हुआ कड़ुआ अथवा अग्नि की ज्वालाओं की घरी अथवा चोखे हुए सोने के पाँसे (२४) की सी कसम बँधी हुई और कसी हुई कुण्डलिनी छोटे से संकुचित स्थान में दबी हुई रहती है सो वज्रासन के दबाव से जाग जाती है। (२५) मानों कोई नक्षत्र उलट पड़ा हो, अथवा सूर्य का आसन छूट गया हो, अथवा मानों ओर तेज के बीज में से अंकुर फूटे हों (२६) वैसी वह शक्ति, गिंडुरी को छोड़ कौतुक से अँगड़ाई लेती उठी हुई नाभिस्थान पर दिखाई देती है। (२७) पहले ही उसे बहुत दिनों की भूख लगी रहती है जिस पर जगाने का मिस हो जाता है। इसलिए वह आवेश से ठीक ऊपर की ओर मुँह फाड़ती है। (२८) हे किरीटी! हृदयकमल के नीचे जो पवन भरी रहती है वह सबको चपेट लेती है। (२९) ऊपर नीचे मुँह की ज्वाला फैलाकर मांस के कौर खाने लगती है। (२३०) जो जो स्थल मांसल हैं वहाँ सहज ही कौर मिल जाते हैं। तदनन्तर एक-दो कौर हृदय के भी भर लेती है। (३१) फिर तलुवों और हथेलियों का भी भेद करती है। इस प्रकार वह हर एक अवयव की गाँठों को खोल लेती है। (३२) अधोभाग भी नहीं छोड़ती वरन् नख का भी सत्व निकाल लेती है, और त्वचा को धोकर हड्डी के ढाँचे से जोड़ देती है। (३३) हड्डियों की नलियों का रस निकालती है, नसों के जाले को डालती है जिससे रोम-मूलों की बाढ़-वृद्धि बन्द हो जाती है। (३४) अनन्तर वह प्यासी कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समुद्र का घूँट पीती है जिससे शरीर का हर एक भाग अत्यन्त शुष्क हो जाता है। (३५) नाक के छेदों में से जो हवा बारह अंगुल तक निकलती है उसे घिचिया कर पीछे हटा वह

फिर भीतर घुसती है। (३६) तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है और ऊपर की नीचे उतरती है। और, जिस समय दोनों का मिलाप होता है तब चक्रों के केवल पूरखे ही बचते हैं। (३७) यों तो ये दोनों वायु तभी मिल जायें परन्तु कुण्डलिनी जाग भर व्यम हो मानों इनसे कहती है कि जाओ तुम्हारा यहाँ क्या काम है ? (३८) इस प्रकार वह शरीर की सब पृथ्वीमय धातु खाकर कुछ नहीं बचने देती। अनन्तर जल का भाग भी पोंछ डालती है। (३६) इस प्रकार वह दोनों महाभूतों को खा डालती है तब पूर्ण तृप्त होती है और सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शान्त हो रहती है। (२४०) और तृप्ति के संतोष से जो गरल मुँह से उगलती है उस अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। (४१) भीतर से वह विष अमिरूप हो निकलता है परन्तु सबाह्य शीतल करने लगता है। तब वहीं पहले गले हुए अवयव दृढ़ होने लगते हैं। (४२) जब कि नाड़ियों के मार्ग बन्द हो गये हैं, नवों प्रकार की वायु का चलना बन्द हो गया है इसलिए शरीर के धर्म नहीं रहे हैं, (४३) इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ एक में मिल गई हैं, तीनों गाँठें छूट गई हैं और चक्रों की छहों कलियाँ खिल गई हैं, (४४) चन्द्र और सूर्य्य नामक जो कल्पित वायु हैं वे दीपक से भी खोजने नहीं मिलतीं, (४५) बुद्धि का विकास बन्द हो गया है और घ्राणेन्द्रिय में जो सुगन्धि रहती है वह भी कुण्डलिनी के सङ्ग सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो गई है (४६) उस अवस्था में ऊपर की ओर से चन्द्रामृत का सरोवर धीरे से कलिया कर कुण्डलिनी के मुँह में गिरता है। (४७) उससे नली में जो रस भर जाता है वह सब शरीर में फैलता है और प्राण वायु के योग से वहाँ का वहाँ सूख जाता है। (४८) तपाये हुए मोम के साँचे का मोम निकल जाने पर जैसे वह उसमें डाले हुए रस का ही बना हुआ रह जाता है, (४६) वैसे ही उस शरीर के रूप से मानों कान्ति ही अवतार लेती है और ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़ लेती है। (२५०) जैसे सूर्य मेघरूपी घूँघट काढ़े रहता है और फिर मेघ निकल जाने पर तेजस्वी दिखाई देता है (५१) वैसे ही ऊपर से जो शरीर का त्वचारूपी सूखा पपड़ा रहता है वह भुस की तरह झड़ जाता है। (५२) तब अवयवकान्ति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानों वह स्फटिक की ही हो अथवा रत्नरूपी बीज में अंकुर निकले हों, (५३) अथवा सन्ध्याकाल के आकाश के रङ्ग निकाल कर उन्हीं

का वह शरीर बनाया गया हो, अथवा आत्मज्योति का लिङ्ग ही स्वच्छ किया रक्खा हो, (५४) अथवा वह शरीर कुंकुम से भरा हुआ हो, आत्मरस से ढला हुआ हो, अथवा मैं समझता हूँ कि वह मूर्तिमान् शान्ति का ही स्वरूप हो (५५) अथवा वह आनन्दरूपी चित्र की लिखावट हो, महासुख की प्रतिमा हो या सन्तोषरूपी वृक्ष का रोपा स्थिर किया गया हो; (५६) अथवा वह सुवर्ण-चम्पक की कली हो, या अमृत की मूर्ति हो या कोमलता के बगीचे में बहार आई हो (५७) अथवा शरद्ऋतु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हुआ हो या मूर्तिमान तेज ही स्वयं आसन पर बैठा हुआ हो। (५८) कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतान्त भी उस देहाकृति से भय खाता है। (५९) वार्धक्य पीछे हटता है। यौवन की गाँठ खुल जाती है, और लुप्त हुई बाल्यदशा फिर प्रकट होती है। (२६०) उसकी आयु ही छोटी दिखाई देती है। वास्तव में उसके बल की निरुपम महिमा यह भासती है। *बाल शब्द का अर्थ बालक नहीं, बल करना चाहिए।* (६१) उस शरीर में ऐसे नये और उत्तम नख निकलते हैं मानों सुवर्णवृक्ष के पल्लवों में नित्य नूतन रत्नों की कलियाँ निकली हों। (६२) दाँत भी नये हो जाते हैं परन्तु बहुत छोटे छोटे होते हैं, मानों दुतरफा हीरों की पंक्तियाँ बैठी हों। (६३) माणिक के कण जैसे सहज ही नोकदार होते हैं वैसे ही उस शरीर पर रोमों की नोकें लगती हैं। (६४) हथेलियाँ और तलुवे रक्तकमल के समान हो जाते हैं और नेत्र क्या वर्णन करूँ, अत्यन्त स्वच्छ हो जाते हैं। (६५) पक्वदशा के कारण मोती के सीप में न समाने से जैसे सीप के टुकड़ों की सिवन खुल जाती है (६६) वैसे ही उसकी दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह अर्द्धोन्मीलित रहती है परन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है। (६७) शरीर सुवर्ण का हो जाता है, परन्तु वह वायु का लघुत्व रखता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं रहते। (६८) उसे समुद्र का पारतीर दिखाई देता है, स्वर्ग का मन्द शब्द सुन पड़ता है, और चींटी के भी मन का हाल मालूम हो जाता है। (६९) वह पवन के घोड़े पर सवार हो सकता है जल पर चले तो उसके तलुवे नहीं भीगते। प्रसङ्गानुसार उसे ऐसी ही अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। (२७०) सुनो, प्राण का हाथ पकड़, हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के बीचे से हृदय में पहुँची हुई (७१) वह जगदम्बा कुण्डलिनी जो

चैतन्यरूपी चक्रवर्ती की शोभा है जिसने जगद्बीज ओङ्कार के अंकुररूप बीज पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है जो परमात्मा शिव का सम्पुट है जो ओङ्कार की केवल जन्मभूमि है, (७२ ७३) और क्या वर्णन करें, वह कुण्डलिनीबाला जब हृदय में प्रवेश करती है तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है। (७४) कुण्डलिनी के साथ ही बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इससे उस बुद्धि को वह ध्वनि धीरे से सुनाई देती है। (७५) वह ध्वनि ऐसी रहती है मानों घोषाकार कुण्ड में ध्वनि के चिह्न के आकार तथा ओङ्कार के रूप लिखे हुए हों। (७६) यह बात कल्पना से जानी जा सकती है। परन्तु उस समय कल्पना करनेहारा भी कहाँ रहता है? अतएव यहाँ काहे की ध्वनि हो रही है यह जान नहीं पड़ता। (७७) हे अर्जुन! मैं एक बात भूल गया। जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिए वह गरजता है। (७८) जब उस अनाहतरूपी मेघ के कारण आकाश गाजने लगता है। तब सहज ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है। (७९) सुनो, जो कमलगर्भ के आकार के समान है, जो दूसरा महदाकाश ही, जहाँ चैतन्य अधर निवास करता है, (२८०) उस हृदयरूपी भुवन में यह कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पण कर देती है। (८१) बुद्धिरूपी शाक का इस प्रकार उत्तम नैवेद्य करती है कि द्वैत न दिखाई दे। (८२) कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ देती है और केवल प्राणरूप हो रहती है। उस समय कैसी दिखाई देती है, (८३) मानों किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की सारी उतार कर अलग रख दी हो (८४) अथवा किसी दीपक की दीप्ति वायु से भिड़कर लुप्त हो गई हो अथवा बिजली चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो। (८५) इस प्रकार हृदय कमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखाई देती है मानों सोने की शलाका हो अथवा जैसे प्रकाशरूपी जल का झरना बहता हुआ जाय। (८६) और हृदय-भूमि के दरें में एकदम समा जाय वैसे ही उस शक्ति का रूप शक्ति में ही लुप्त हो जाता है (८७) यद्यपि उस शक्ति ही कहना चाहिए। अन्यथा उसे केवल प्राण ही समझो। उस समय नाद बिन्दु, कला, ज्योति ये नहीं रहते। (८८) अथवा मन का वश करना या पवन का आश्रय करना या ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि बातें नहीं रहतीं।

का यह शरीर बनाया गया हो; अथवा आत्मज्योति का लिङ्ग ही स्वच्छ किया रक्खा हो, (५४) अथवा यह शरीर कुंकुम से भरा हुआ हो आत्मरस से ढला हुआ हो, अथवा मैं समझता हूँ कि यह मूर्तिमान् शान्ति का ही स्वरूप हो, (५५) अथवा यह आनन्दरूपी चित्र की लिखावट हो महासुख की प्रतिमा हो या सन्तोषरूपी वृक्ष का रोपा स्थिर किया गया हो (५६) अथवा यह सुवर्ण चम्पक की कली हो, या अमृत की मूर्ति हो या कोमलता के बगीचे में बहार आई हो (५७) अथवा शरद्‌ऋतु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हुआ हो या मूर्तिमान् तेज ही स्वयं आसन पर बैठा हुआ हो। (५८) कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतान्त भी उस देहाकृति से भय खाता है। (५९) वार्द्धक्य पीछे हटता है। यौवन की गाँठ खुल जाती है और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है। (२६०) उसकी आयु ही छोटी दिखाई देती है। वास्तव में उसके धैर्य की निरुपम महिमा बढ़ जाती है। बाल शब्द का अर्थ बालक नहीं, बल करना चाहिए। (६१) उस शरीर में ऐसे नये और उत्तम नख निकलते हैं मानों सुवर्णवृक्ष के पल्लवों में नित्य नूतन रत्नों की कलियाँ निकली हों। (६२) दाँत भी नये हो जाते हैं परन्तु बहुत छोटे छोटे होते हैं मानों दुतरफा हीरों की पंक्तियाँ बैठी हों। (६३) माणिक के कण जैसे सहज ही नोकदार होते हैं वैसे ही सब शरीर पर रोमों की नोकें जमती हैं। (६४) हथेलियाँ और तलुवे रक्तकमल के समान हो जाते हैं और नेत्र क्या वर्णन करूँ, अत्यन्त स्वच्छ हो जाते हैं। (६५) पक्वदशा के कारण मोती के सीप में न समाने से जैसे सीप के टुकड़ों की सिवन खुल जाती है (६६) वैसे ही उसकी दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह अर्द्धोन्मीलित रहती है परन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है। (६७) शरीर सुवर्ण का हो जाता है, परन्तु वह वायु का लाघव रखता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं रहते। (६८) उसे समुद्र का पारतीर दिखाई देता है, स्वर्ग का मन्द शब्द सुन पड़ता है, और चींटी के भी मन का हाल मालूम हो जाता है। (६९) वह पवन के घोड़े पर सवार हो सकता है, जल पर चले तो उसके तलुवे नहीं भीगते। प्रसङ्गानुसार उसे ऐसी ही अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। (२७०) सुनो, प्राण का हाथ पकड़ हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से हृदय में पहुँची हुई (७१) वह जगदम्बा कुण्डलिनी जो

चैतन्यरूपी चक्रवर्ती की शोभा है जिसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है जो परमात्मा शिव का सम्पुट है, जो ओंकार की केवल जन्मभूमि है, (७२-७३) और क्या वर्णन करें वह कुण्डलिनीबाला जब हृदय में प्रवेश करती है तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है। (७४) कुण्डलिनी के साथ ही बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इससे उस बुद्धि को वह ध्वनि धीरे से सुनाई देती है। (७५) वह ध्वनि ऐसी रहती है मानों घोषाक्षर कुण्ड में ध्वनि के चिह्न के आकार तथा ओंकार के रूप लिखे हुए हों। (७६) यह बात कल्पना से जानी जा सकती है। परन्तु उस समय कल्पना करनेवाला भी कहाँ रहता है? अतएव वहाँ काहे की ध्वनि हो रही है यह जान नहीं पड़ता। (७७) हे अर्जुन! मैं एक बात भूल गया। जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिए वह गरजता है। (७८) जब उस अनाहतरूपी मेघ के कारण आकाश गरजने लगता है। तब सहज ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है। (७९) सुनो, जो कमलगर्भ के आकार के समान है, जो दूसरा महदाकाश ही, जहाँ चैतन्य अधर निवास करता है (८०) उस हृदयरूपी भुवन में वह कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पण कर देती है। (८१) बुद्धिरूपी शाक का इस प्रकार उत्तम नैवेद्य करती है कि द्वैत न दिखाई दे। (८२) कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ देती है और केवल प्राणरूप हो रहती है। उस समय कैसी दिखाई देती है, (८३) मानों किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की सारी उतार कर अलग रख दी हो (८४) अथवा किसी दीपक की ज्योति वायु से भिड़कर लुप्त हो गई हो अथवा विद्युत् चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो। (८५) इस प्रकार हृदय-कमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखाई देती है मानों सोने की शलाका हो, अथवा जैसे प्रकाशरूपी जल का झरना बहता हुआ जाय। (८६) और हृदय-भूमि के दरें में एकदम समा जाय वैसे ही उस शक्ति का रूप शक्ति में ही लुप्त हो जाता है (८७) यद्यपि उसे शक्ति ही कहना चाहिए। अन्यथा उसे केवल प्राण ही समझो। उस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति ये नहीं रहते। (८८) अथवा मन का दमन करना या पवन का आश्रय करना या ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि बातें नहीं रहतीं।

(८९) यह भी नहीं रहता कि कोई कल्पना की जाय या कोई छोड़ दी जाय। इसे महाभूतों का स्पष्ट निर्मल रूप ही जानो। (९०) पिण्ड से पिण्ड का ग्रास जो नाथसम्प्रदाय का मर्म है वही अभिप्राय श्रीमहाविष्णु ने वर्णन किया। (९१) उसी ध्वनि की मानों गठरी खोल कर श्रोताओं को ग्राहक जान मैंने यथार्थरूपी वस्त्र की तह झटकार कर दिखाई है। (९२)

> युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
> शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

सुनिए, जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी [इतना सूक्ष्म हो जाता है कि] आँख में छिप सकता है। (९३) यों तो वह पहले के समान ही अवयव-सम्पन्न रहता है, परन्तु ऐसा दिखाई देता है मानों वायु का ही बना हुआ हो (९४) अथवा कोई केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग किये हुए खड़ा हो अथवा आकाश को ही कोई अवयव उत्पन्न हुआ हो। (९५) जब उसका शरीर इस प्रकार हो जाता है तब उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही साधारण शरीरधारी लोगों में उसके चमत्कार दिखाई देते हैं। (९६) योगी कहीं से निकल जाय तो उसके पाँवों की जो रेखा बन जाती है वहाँ जगह जगह अणिमादिक सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं। (९७) परन्तु उससे हमें क्या कार्य है? हे धनञ्जय! यह जान लो कि देह के देह में पृथ्वी, आप और तेज, तीनों भूतों का इस रीति से लोप हो जाता है—(९८) हृदय में पृथ्वीतत्त्व को जलतत्त्व गला देता है, जल को तेज सुखा देता है, और तेज को वायुतत्त्व बुझा देता है। (९९) अनन्तर केवल वायुतत्त्व ही रह जाता है, परन्तु शरीर का आकार लिये रहता है। फिर कुछ काल के अनन्तर वह भी आकाश में जा मिलता है। (१००) उस समय उसे कुण्डलिनी नाम के बदले वायु नाम प्राप्त होता है। परन्तु जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं जा मिलती तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। (१) फिर वह जालन्धर-बन्ध छोड़ देती है, सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती, और गगनरूपी घराटी पर जा पहुँचती है। (२) ओंकार की पीठ पर पाँव देते हुए श्रीमत्ता से पश्यन्तीरूप सीढ़ी चढ़ जाती है। (३) पश्चात्, जैसे सागर

में सरिता जैसे ही ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्त्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। (४) फिर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर रह कर सोऽहं भावरूपी बाँहें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। (५) उस समय बीच का महाभूतों का परदा फटकर दोनों का सम्मेलन हो जाता है। उस ब्रह्मानन्द में गगनसमेत सब कुछ विलीन हो जाता है। (६) समुद्र ही जैसे मेघों के मुख से निकल कर नदीप्रवाह में बह कर, पुनः आप ही में मिल जाता है। (७) वैसे ही हे पाण्डुकुँवर! पिण्ड के मिस से मानों ब्रह्म ही ब्रह्मपद में प्रवेश करता है। ऐसी एकता हो जाती है। (८) उस समय यह विवेचना करने के लिए भी कोई नहीं बचता कि दूसरा कोई था या पहले से एक ही वस्तु बनी हुई है। (९) गगन में गगन का लीन हो जाना जो बात है उसका जिसे अनुभव हो जाय वही पुरुष सिद्ध है। (११०) उस अनुभव की बात वाणी के हाथ नहीं आती, जिससे संवादरूपी गाँव में प्रवेश किया जाय। (११) हे अर्जुन! इस अभिप्राय को प्रकट करने का अभिमान करनेवाली वाणी भी दूर रह जाती है। (१२) भृकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं होता। अकेले प्राण को भी गगन में जाते संकट होता है, (१३) और अनन्तर वह जब वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का नाश हो जाता है। (१४) अतएव महदाकाश के पेट में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता तब शब्द की कहाँ चाह करो? (१५) तात्पर्य यह है कि यह वस्तु निश्चय से ऐसी स्पष्ट नहीं है कि शब्दों से बरणी जाय अथवा कानों से सुनी जाय। (१६) जब दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो तब तुम आप ही यह वस्तु बन रहोगे। (१७) पश्चात् ज्ञातव्य कुछ न रहेगा। अतएव रहने दो। हे धनुर्धर! वही बात वृथा कहाँ तक कहें? (१८) इस प्रकार जब शब्दमात्र पीछे हटता है तब संकल्प की आयु समाप्त हो जाती है और जहाँ विचार की हवा का भी प्रवेश नहीं होता। (१९) जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्या का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परमतत्त्व है (१२०) जो विश्व का मूल है योगद्रुम का फल है, जो आनन्द का केवल जीवन है, (२१) जो आकार की सीमा है, मोक्ष का एकान्त है, जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हैं, (२२) जो महाभूतों का बीज है, महातेज का तेज है, एवं हे पार्थ! जो मेरा निज स्वरूप है, (२३) वही यह चतुर्भुज

ही भीतर सुख की वृद्धि होती है। इससे अभ्यास के बिना सहज ही योग का लाभ होता है। (५३) जैसे भाग्य का उदय होते ही उद्योग के बहाने सब सम्पत्ति अपने आप घर में प्राप्त हो जाती है (५४) वैसे ही युक्तिमान् मनुष्य कुतूहल से भी अभ्यास के मार्ग में प्रवृत्त हो तो उसके अनुभव को आत्मसिद्धिरूपी फल प्राप्त हो जाता है। (५५) इसलिए, हे माधव ! जिस भाग्यवान् को इस युक्ति का लाभ होता है वह मोक्ष के राज्यपद पर विराजता है। (५६)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

युक्ति से योग का मेल होकर जहाँ ऐसा उत्तम प्रयोग बन जाता है वहाँ जिसका मन क्षेत्र-संन्यास की रीति से स्थिर रहे (५७) उसे योगयुक्त समझो। और, प्रसङ्गानुसार यह भी जानो कि उसे निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की उपमा दी जा सकती है। (५८) अब तुम्हारे मन की बात पहचान कर हम कुछ और भी कहते हैं सो अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। (५९) तुम प्राप्ति की इच्छा रखते हो परन्तु अभ्यास में निपुण नहीं होते, तो कहो क्या योग की कठिनता से डरते हो ? (६०) हे पार्थ ! मन में ऐसा डर मत रक्खो। ये दुष्ट इन्द्रियाँ वृथा भय बताती हैं। (६१) देखो जो आयुष्य को स्थिर करती और समाप्त होते हुए जीवन को बचाती है, उस औषधि को जिह्वा क्या वैरी नहीं समझती ? (६२) इसी प्रकार जो जो विषय कल्याण के लिए हितकारी हैं वे सर्वदा इन इन्द्रियों को दुःखदायी हैं। अन्यथा योग के समान सुगम और क्या है ? (६३)

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

इसलिए हमने जो आसन की दृढ़ता सहित उत्तम अभ्यास बताया है उससे इन्द्रियों का निरोध—हो सके तो—होगा। (६४) स्वाभावतः इस योग से ज्योंही इन्द्रियों का निग्रह होता है त्योंही चित्त आत्मस्वरूप की भेंट के लिए प्रवृत्त होता है, (६५) पीछे पलट कर ठहरता है, और आप

अपनी ही ओर देखता है तो देखते ही पहचान जाता है कि यह तत्त्व मैं ही हूँ। (६६) पहचानते ही वह सुख के साम्राज्य पर बैठता है और फिर अपनी एकता में विलीन हो जाता है। (६७) और, जिसके परे और कुछ नहीं है, जिसे इन्द्रियाँ कभी नहीं जानतीं, वह वस्तु स्वयं आप ही हो रहता है। (६८)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

फिर मेरु पर्वत से भी बड़े देह-दुःख का दबाव आ पड़े तो भी उस बोझ से उसका चित्त नहीं दबता। (६९) अथवा शस्त्र से देह काटा जाय, अथवा आग में फेंक दिया जाय, तो भी महासुख में सोया हुआ उसका चित्त जागृत नहीं होता। (७०) इस प्रकार वह निज में प्रवेश कर स्थिर हो रहता है। वह देह की याद नहीं करता। वह दूसरे ही सुख से एकरूप हो जाता है, इसलिए देह को भूल जाता है। (७१)

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जिस सुख की मधुरता से मन दुःख का स्मरण ही भूल जाता है और संसार की उलझन छोड़ डालता है, (७२) जो सुख योग की शोभा है, सन्तोष का राज्य है, तथा जिस सुख के लिए ज्ञान का ज्ञातृत्व प्रवृत्त होता है (७३) वह सुख योग का अभ्यास करने से मूर्तिमान् दिखाई देने लगता है, और दिखाई देते ही योगी तद्रूप हो जाता है। (७४)

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अब हे तात! इस योग का एक सुलभ मार्ग यह है कि सङ्कल्प को पुत्रशोक हो अर्थात् सङ्कल्प के पुत्र कामक्रोधों का नाश किया जाय। (७५) सङ्कल्प जो विषयों का क्षीण होना सुन ले, अथवा इन्द्रियों को निगृहीत स्थिति में देख ले, तो हृदय फाड़ कर अपने जीवन का नाश कर लेता है। (७६) यदि इस प्रकार वैराग्य प्राप्त करोगे तो सङ्कल्प का आवागमन बन्द हो जायगा और धैर्य के मन्दिर में बुद्धि सुख से निवास करेगी। (७७)

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

धैर्य जब बुद्धि का आश्रय करता है तब वह बुद्धि मन को अनुभव के मार्ग से धीरे धीरे लाकर ब्रह्मस्वरूप में स्थापित कर देती है। (७८) देखो इस एक प्रकार से प्राप्ति हो सकती है। यह न हो सके तो दूसरे और सुलभ मार्ग हैं। (७९) अपने मन में ऐसा एक ही नियम कर लो कि जो निश्चय किया जाय उसका कभी उल्लंघन न करेंगे। (१८०) यदि इतने ही से चित्त स्थिर हो जाय तो सहज ही कार्य हुआ, नहीं तो उसे खुला छोड़ दो। (८१) वह इस प्रकार मुक्त हो जहाँ जहाँ जावेगा वहाँ वहाँ से वह नियम उसे लौटा लावेगा। इस तरह चित्त को स्थिरता का अभ्यास हो जावेगा। (८२)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

पश्चात् कुछ काल में उस स्थिरता के बल से चित्त सहज ही आत्म-स्वरूप के पास पहुँच जावेगा, (८३) और उसे देखकर उससे मिल जायगा। उस समय अद्वैत में द्वैत डूब जायगा और उस एकता के प्रकाश से त्रैलोक्य प्रकाशित हो जावेगा। (८४) आकाश में भिन्न दिखाई देने-वाला मेघ जब विलीन हो जाता है तब जैसे सब जगत् आकाश से ही भर जाता है (८५) वैसे ही चित्त का लय हो जायगा और सब ब्रह्मरूप ही हो रहेगा। ऐसी प्राप्ति इस उपाय से सहज में ही हो जाती है। (८६)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

जो लोग संकल्परूपी सम्पत्ति का त्याग कर इस सुलभ योग-स्थिति का अनेक प्रकार से अनुभव लेते हैं (८७) वे सुख के साथ परब्रह्म में प्रवेश करते हैं। तब लवण जैसे जल को छोड़ना नहीं जानता। (८८) वही स्थिति उनके मेल के समय हो जाती है और संसार को महानन्दरूपी

मन्दिर में महासुख की दिवाली दिखाई देती है। (८६) इस प्रकार अपने ही पाँव से उलटे चलना चाहिए। हे पार्थ! यदि यह बात आकलन नहीं होती, यदि यह उपाय नहीं बन सकता, तो दूसरा उपाय सुनो। (३६०)

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मैं सकल देहों में हूँ और वैसे ही यह सब जगत् मुझमें ही है। (६१) इस प्रकार यह परस्पर मिला हुआ ऐसा ही भरा हुआ है। बुद्धि से इस बात का आकलन करना चाहिए। (९२) हे अर्जुन! सामान्यतः जो एकाग्र भावना से मुझे सब भूतों से अभिन्न जानकर भजता है, (६३) भूतों की अनेकता से जिसके अन्तःकरण में अनेकता नहीं उत्पन्न होती, जो केवल मेरी एकता ही जानता है, (६४) यह और मैं एक ही हूँ—यह कह बताना वृथा है, क्योंकि हे धनञ्जय! न कहते भी वह मद्रूप ही है। दीपक और प्रकाश में जैसी एकता की स्थिति है वैसे ही वह मुझमें रहता है और मैं उसमें रहता हूँ। (६५-६६) जैसे उदक के अस्तित्व के कारण रस का अस्तित्व है अथवा गगन की स्थिति के कारण अवकाश है, वैसे ही वह पुरुष मेरे रूप से रूप धारण करता है। (६७)

> सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
> सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

हे किरीटी! जो मुझको सर्वत्र ऐसी एकता की दृष्टि से देखता है, जैसे कपड़े में सूत एक ही रहता है वैसी ही ऐक्य-दृष्टि से जिसने समझ लिया कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ (६८) अथवा अलङ्कार कितने ही क्यों न हों पर सोना तो एक ही है—उसमें अनेकता नहीं— इस प्रकार के एकत्वरूप पर्वत की जिसने स्थिति बना ली है (६६) या जिसकी अज्ञान-निशा ऐसे अद्वैत प्रकाश से जगमगा उठी है कि जितने पत्ते होते हैं उतने ही पेड़ नहीं होते' (४००) उसे पञ्चभूतात्मक शरीर में आबद्ध रहने पर भी अपने स्वरूप में आने के लिए बाधा क्योंकर होगी? क्योंकि अनुभव के द्वारा वह

मेरी एकता को प्राप्त कर लेता है। (१) मेरी सब व्यापकता उसके अनुभव को प्राप्त है इसलिए वह न कहते भी स्वभावतः व्यापक हो जाता है। (२) अतः वह शरीरी तो है परन्तु शरीर का सम्बन्धी नहीं—यह बात क्या शब्दों से कहने योग्य है जो वर्णन की जाय ?

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

इसलिए हम संक्षेप से कहते हैं कि जो विशेष रीति से अथवा अपने ही समान सर्वदा चराचर को देखता है, (४) जो सुख-दुःखादि मर्म अथवा शुभाशुभ कर्म ये दोनों मनोधर्म नहीं रखता, (५) सम-विषम भाव और उनके समान जो अन्य विचित्र बातें हैं उन्हें जो अपने अवयव जैसी मानता है, (६) एक एक कहाँ तक कहें, जिसे सहज ऐसा ज्ञान हो गया है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य मैं हूँ (७) उसे एक देह भले ही हो, व्यवहार में भले ही उसे सुखी-दुखी कहा जाय परन्तु हमें विश्वास है कि वह परब्रह्म है। (८) इसलिए हे पाण्डव! समता की ऐसी उपासना करनी चाहिए कि निज में ही विश्व देखना चाहिए और आप ही विश्व बनना चाहिए। (९) यह बात अनेक बार हम तुमसे इसलिए कहते हैं कि समदृष्टि से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु मान्य नहीं है। (४१०)

अर्जुन उवाच—

> योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
> एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

तब अर्जुन ने कहा—हे देव ! आप हमें कृपया उपदेश देते हैं परंतु इस मन के स्वभाव के सामने हमारी एक नहीं चलती। (११) यह मन कैसा है, कितना बड़ा है, यह देखने जायँ तो हाथ नहीं लगता, परन्तु इसके व्यापार के लिए त्रैलोक्य भी अल्प है। (१२) अतएव यह कैसे हो कि मर्कट को समाधि प्राप्त हो अथवा महावायु रोकने से रुक जाय। (१३) जो बुद्धि का भ्रम करता है, निश्चय को टाल देता है, धैर्य से हाथ मिलाकर—धैर्य को दिलासा देकर—भागता है, जो विवेक को भुलाता है,

तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ! जिसे मोक्ष-सुख की आस्था है उसे क्या मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति है? (३७) परन्तु इतनी ही एक बात होती है कि उसे बीच में ही विश्रान्ति लेनी पड़ती है। किन्तु वह भी ऐसे सुख के साथ कि जो देवों को भी नहीं जुड़ता। (३८) सामान्यतः यदि वह अभ्यास के पाँव उठाता चलता तो आयुष्य-सूर्य के अस्त होने के पहले ही सोऽहंसिद्धि को पहुँच जाता। (३९) परन्तु उसका चलना वैसा नहीं था। इसलिए उसे विश्रान्ति आवश्यक हुई। इसके अनन्तर मोक्ष तो उसको रक्खा ही हुआ है। (४४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

सुनो तुम्हें आश्चर्य मालूम होगा कि जिस इन्द्रपद को लोग अनेक यज्ञों के अनन्तर प्राप्त कर सकते हैं उसे वह मोक्ष की इच्छा करनेहारा पुरुष अनायास प्राप्त कर लेता है। (४१) अनन्तर वहाँ के जो निष्फल न होनेवाले और अपरिमित भोग होते हैं उन सबों का उपभोग लेते लेते उसका मन उकता जाता है (४२) और स्वर्गभोग भोगते समय उसे नित्य यह पश्चात्ताप हुआ करता है कि हे भगवन्त! यह विघ्न क्यों अकस्मात् उपस्थित हुआ (४३) अनन्तर वह संसार में जन्म लेता है परन्तु ऐसे कुल में कि जो सकल धर्म का विश्रामस्थान हो। पूर्ण पुष्ट पौधे में से जैसे भरी हुई धान्य की बाल निकलती है वैसा वह योगी ऐश्वर्य के घर उत्पन्न होता है। (४४) जिस कुल के लोग नीतिमार्ग से चलते हैं, सत्य और पवित्र वाणी बोलते हैं, शास्त्र की दृष्टि से जो देखना चाहिए वही देखते हैं, (४५) वेद जिसकी जागती ज्योति है, जिसका व्यवहार स्वधर्म है, सारासार विचार जिसका मन्त्री है (४६) जिस कुल में चिन्ता केवल ईश्वर को भजनेवाली पतिव्रता है, जिसकी ऋद्धि इत्यादि गृहदेवियाँ हैं, (४७) इस प्रकार आत्मपुण्य के सञ्चय के कारण जिस कुल में सब सुखों की सम्पन्नता है उस सुखी कुल में वह योगभ्रष्ट पुरुष जन्म लेता है। (४८)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

इतने दिनों तक इसका विचार भी न था कि यह योग कैसा है और कैसे जाना जा सकता है। इसलिए हम मन को अजित समझते थे। (२८) हे पुरुषोत्तम! हमारे सम्पूर्ण आयुष्य में आज हमें आपके प्रसाद से योग का परिचय हुआ है। (२९)

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

तथापि, हे स्वामी! मुझे एक और संशय होता है। उसका निवारण करने के लिए आपके समान कोई समर्थ नहीं है। (४१०) इसलिए हे श्रीगोविन्द! मान लीजिए कि कोई एक पुरुष अभ्यास के बिना ही केवल श्रद्धा से मोक्षपद की प्राप्ति की चेष्टा कर रहा था। (११) वह इन्द्रियरूपी ग्राम से निकल कर आत्मसिद्धिरूपी दूसरे ग्राम को जाने के लिए आस्था के मार्ग से निकला। (१२) परन्तु आत्मसिद्धि को न पहुँचा, और लौट कर भी न आ सका। बीच में ही उसके आयुष्यसूर्य का अस्त हो गया। (१३) जैसे असमय में आया हुआ मेघ कुछ पतला भी रहता है और कदाचित् ही आ जाता है परन्तु न टिकता है और न बरसता है (१४) वैसे ही उसकी दोनों बातें रह गईं। क्योंकि प्राप्ति तो दूर ही रही और श्रद्धा के कारण अप्राप्ति अर्थात् इन्द्रियों के विषय भी छूट गये। (१५) इस प्रकार जो दोनों बातों से हाथ धो बैठता है और श्रद्धा के समुदाय में लीन हो जाता है, उसकी कौन गति होती है? (१६)

श्री भगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

उसके मन का घर पूछती चली आती है। (६१) वह ऐसा दिखाई देता है मानों योगस्थान की अधिदेवता हो, अथवा जगदुत्पत्ति की श्रेष्ठता हो, या वैराग्यसिद्धि की अनुभूति मूर्तिमती बनकर आई हो, (६२) अथवा यह संसार के मापने का माप हो, अथवा अष्टाङ्ग-योग-साहित्य का द्वीप हो, अथवा जैसे चन्दन कुछ अन्य नहीं सुगन्ध की ही मूर्ति है (६३) वैसे ही वह साधकदशा में ही ऐसा दिखाई देता है कि मानों सन्तोष का ही बना हो, अथवा सिद्धियों के भाण्डार से निकला हो (६४)

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

वह करोड़ों वर्षों के अनन्तर, सहस्रावधि जन्मों के प्रतिबन्धों का उल्लङ्घन करता हुआ आत्मसिद्धि के किनारे पहुँचता है। (६५) इस लिए सम्पूर्ण साधनसमूह सहज ही उसके पीछे चलते हैं। फिर वह विवेक के बने बनाये राज्य पर विराजमान होता है। (६६) तदनन्तर विवेक भी उसके विचार के वेग के पीछे रह जाता है और विचार के परे जो तत्त्व है उसमें वह मिल जाता है। (६७ उस समय मन के मेघ विलीन हो जाते हैं। पवन की चपलता बन्द हो जाती है और आकाश आप अपनी ही जगह लीन हो जाता है। (६८) ओङ्कार की अर्द्धमात्रा, वह भी लय हो जाता है पर वह अनिर्वाच्य सुख प्राप्त होता है। अतएव उसके विषय में शब्द पहले ही से गूँगे हो रहे हैं। (६९) ऐसी जो स्थिति सम्पूर्ण गतियों की गति है और उस निराकार की मूर्ति है, उसे वह प्राप्त कर चुका है। (२७०) वह कई पूर्वजन्मों में विक्षेपरूपी कीचड़ का मल स्वच्छ कर चुका है। इस कारण जन्म होते ही उसकी लग्न घटिका लग्न में डूब जाती है (७१) और तद्रूपता के लग्न का विवाह हो कर वह अभिन्न हो रहता है। जैसे मेघ का लोप होते ही वह आकाश-रूप हो रहता है (७२) बस ही जहाँ से विश्व उत्पन्न होता और फिर जहाँ लीन हो जाता है सो वस्तु वह प्राणी, देह विद्यमान रहते ही, बन जाता है। (७३)

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

जिस लाभ की इच्छा से पैदल्ली मुलायों का निदान रूप कम

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

अथवा जो ज्ञानरूप अग्नि में हवन करनेहारे हैं, जो परब्रह्मरूपी यज्ञ करनेहारे हैं, और जो महासुखरूपी क्षेत्र के वतनदार हैं, (४९) जो त्रिभुवन में आत्मप्राप्ति के सिंहासन पर विराजमान हो राज्य करते हैं, जो सन्तोष के वन में शब्द करनेहारे कोकिल हैं और (४५०) जो नित्य फलनेहारे विवेकरूपी वृक्ष की जड़ में बैठे हैं, उन योगियों के कुल में उसका जन्म होता है। (५१) शरीर की छोटी सी अवस्था में ही उसे आत्मज्ञान का प्रातःकाल हो जाता है। जैसे सूर्योदय होते ही प्रकाश प्रकट हो जाता है (५२) वैसे ही अवस्था की बाट न जोहते, प्रौढ़ आयु के आगार को न जाते, बाल्यावस्था में ही उसे सर्वज्ञता जयमाल डालती है। (५३) उस बुद्धिदेवता के लाभ से उसके मन से सब विद्याएँ उत्पन्न होती हैं और मुख से सब शास्त्र आप ही आप निकलते हैं। (५४) हे पार्थ! इस प्रकार का जन्म—जिसके लिए देव भी सकाम हो सर्वदा जप-होम करते हुए स्वर्ग में रहते हैं, (५५) और भाट बन कर जिसके लिए मृत्यु लोक की स्तुति करते हैं—उस योगभ्रष्ट को प्राप्त होता है। (५६)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

और पहले जो उसकी सद्बुद्धि थी जिसे प्राप्त करने के पश्चात् उसके आयुष्य का अन्त हुआ था, वही बुद्धि उसे शीघ्र ही पुनः प्राप्त हो जाती है। (५७) जब जैसे कोई भाग्यवान् तथा पायवा* हो और ऊपर से आँखों में दिव्यांजन लगाया हो तो उसे जैसे भूमि में गड़ा हुआ द्रव्य दिखाई देता है (५८) वैसे ही जो कठिन अभिप्राय हैं, जो गुरु से ही प्राप्त होनेवाली बातें हैं, उन तक उसकी बुद्धि अभ्यास के बिना ही पहुँच जाती है। (५९) बलवान् इन्द्रियाँ मन के वश हो जाती हैं, मन तत्त्व से मिल जाता है और पवन सहज ही गगन से मिलने की चेष्टा करती है। (४६०) इस प्रकार न जाने किस तरह अभ्यास स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाता है तथा समाधि

---

* जो पैरों की ओर से पैदा हुआ हो—सिर के बल नहीं।

निष्ठ लोग सत्कर्मरूपी प्रवाह में घुसते हैं, (७४) अथवा जिस एक वस्तु के लिए ज्ञानी लोग ज्ञान का दृढ़ कवच पहन कर प्रपञ्च से युद्ध-भूमि पर लड़ते हैं, (७५) या जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके तपस्वी लोग उस तपोरूपी किले के टूटे हुए कगारे का आश्रय करते हैं कि जिसमें कोई आधार तो है नहीं और फिसलन काफी है; (७६) जो भजन करने वालों का भजन है, यज्ञ करनेवालों का याज्य है एवं जो सब का सबको पूज्य है, (७७) वह परतत्त्व जो साधकों का साध्य और सिद्ध तत्त्व है, वह तत्त्व योगी स्वयं आप ही हो जाता है। (७८) अतएव कर्मनिष्ठों के लिए वह वन्दनीय है, ज्ञानियों के लिए जानने योग्य है, और तपस्वियों का मूल तपोनाथ है। (७९) जीव और परमात्मा के सङ्गम से उसे मनोधर्म प्राप्त हुए हैं अतः वह यद्यपि शरीरी है तथापि उपर्युक्त महिमा पाता है। (४८०) इसलिए हे पाण्डुकुँवर! मैं तुमसे सदा यही कहता हूँ कि तुम अन्तःकरण से योगी बनो। (८१)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

स्वामी, जो योगी कहलाता है उसे देवों का देव जानो। वह मेरा सुखसर्वस्व है। मेरा जीवन है। (८२) भजन, भजन और भजनरूपी जो सम्पूर्ण शक्ति-साधनत्रिपुटी है वह उसे अखण्डित अनुभव के द्वारा मद्रूप ही हो गई है। (८३) अतः उसकी और हमारी प्रीति का जो स्वरूप है वह, हे सुभद्रापति! ऐसा नहीं है कि उसका शब्दों से वर्णन किया जा सके। (८४) उस एकात्म प्रेम की तुलना के लिए उपमा चाहिए तो यह है कि मैं देह हूँ और वह आत्मा है। (८५) सञ्जय ने कहा कि भक्तचकोरचन्द्र, गुणों के सागर त्रिभुवन के एक ही नरेन्द्र श्रीकृष्ण जब इस प्रकार बोले, (८६) तब पार्थ को पहले से ही योग का निरूपण सुनने की जो आस्था थी वह और दुगुनी बढ़ गई। यह बात श्रीकृष्ण समझ गये (८७) और साथ ही मन में सन्तुष्ट हुए कि अर्जुन मानों हमारे निरूपण के लिए एक दर्पण ही प्राप्त हुआ है। इस आनन्द से प्रफुल्लित हो वे जो और निरूपण करेंगे (८८) उसकी कथा आगे कही जाती है। उसमें शान्त रस प्रकट होगा तथा ज्ञानरूपी बीजों की मानो बोनी ही जायगी (८९) फिर बीजों

के लिए, सात्त्विकभावरूपी वृष्टि की सहायता से, आध्यात्मिक-ताप-रूपी ढेले तोड़ कर चतुरचित्त-रूपी क्यारियाँ तैयार की गई हैं, (४९०) और सोने के समान-उत्तम अवधानरूपी ऋतु मिली है। इसलिए श्रीनिवृत्ति देव को ये ज्ञानबीज बोने की इच्छा हुई है। (९१) ज्ञानदेव कहते हैं कि सद्गुरु ने कृपा से मुझे चोंगी बनाया है और मेरे माथे पर जो हाथ रक्खा है वह मानों उनका बीज ही बोना है। (९२) इसलिए इस मुख से जो जो निकलता है वह सन्तों के अन्तःकरण में सत्य ही प्रतीत होता है। परन्तु अब बहुत हुआ श्रीकृष्ण ने जो कहा सो निवेदन करता हूँ। (९३) परन्तु उसे मन के कानों से सुनिए। उन शब्दों को बुद्धि के नेत्रों से देखिए और चित्त बदले में देकर मोल लीजिए। (९४) अवधान के द्वार उन्हें हृदय के भीतर ले जाइए। यह वाणी सज्जनों की बुद्धि को रिझावेगी। (९५) ये शब्द स्वहित को जुड़ावेंगे, परिणाम को जीवन देंगे, और जीनों पर सुखरूपी पुष्पों की जयमाला समर्पित करेंगे। (९६) अब श्रीमुकुन्द ने अर्जुन से जो उत्तम संवाद किया उसका मैं वर्णन करता हूँ। (४९७)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां षष्ठोऽध्यायः ।

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमना' पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत' ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

सुनिए, फिर भी अनन्त ने पार्थ से कहा कि तुम अब योगयुक्त हो चुके। (१) अब हम तुम्हें व्यवहार-ज्ञान समेत ज्ञान बताते हैं जिससे तुम मुझ सर्वव्यापी को ऐसे जान लोगे कि जैसे हथेली का रत्न। (२) यदि तुम यह समझते हो कि यहाँ विज्ञान (व्यवहारज्ञान) का क्या काम है तो वास्तव में प्रथम वही जानना पड़ता है। (३) फिर ज्ञान के समय तो ज्ञातृत्व के नेत्र बन्द हो जाते हैं। जैसे तीर पर टिकते ही नाव आगे नहीं चलती, (४) वैसे ही जानने की क्रिया जहाँ चेष्टा नहीं करती, विचार जहाँ से ही पलट जाता है, जिसकी ओर तर्क की गति नहीं चलती (५) उसे हे अर्जुन! ज्ञान कहते हैं। और प्रपञ्च विज्ञान है, तथा प्रपञ्च में सत्य बुद्धि रखना अज्ञान जानो (६) अब जिससे सब अज्ञान चला जाता है, विज्ञान निःशेष शुष्क हो जाता है, और स्वरूप ज्ञानमय हो जाता है (७) जिससे बाजस्वारे का दुःख नष्ट हो जाता है, जिससे छोटा बड़ा इत्यादि भेदभाव नहीं रहता, (८) ऐसा जो गुप्त मर्म है उसका मैं शब्दों से वर्णन करता हूँ, जिससे थोड़े में ही तुम्हारे मन की बहुत सी इच्छा पूरी हो जायेगी। (९)

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत' ॥३॥

अजी, सहस्रावधि मनुष्यों में किसी एक को ही इस विषय में प्रीति उत्पन्न होती है और इन बहुत से प्रीतिवालों में कोई विरला ही ज्ञानी होता है। (१०) हे अर्जुन! जैसे इस भरे हुए त्रिभुवन में से अच्छे

अच्छे पुरुष चुनकर अक्षौहिणी सेना तैयार की जाती है, (११) परन्तु पश्चात् शस्त्र से अनेक शरीरों का संहार होने पर विजय-श्री के पद पर कोई एक ही मनुष्य बैठता है, (१२) वैसे ही करोड़ों लोग आस्थारूपी नदी की धार में प्रवेश करते हैं परन्तु प्राप्ति के परतीर तक कोई विरला ही पहुँचता है। (१३) इसलिए यह पद सामान्य नहीं है। यह स्थिति बड़ी श्रेष्ठ है, परन्तु इसका बयान आगे करेंगे। अभी तो दूसरी बात सुनो। (१४)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

हे धनञ्जय! ध्यान दो। इस महत्तत्त्व इत्यादि रूप से माया ऐसी प्रतिबिम्बित हुई है जैसे शरीर की छाया। (१५) इसे प्रकृति कहते हैं। इसे अलग अलग आठ प्रकार की जानो। इससे तीनों लोक उत्पन्न होते हैं। (१६) यदि तुम्हें यह सन्देह हो कि यह प्रकृति आठ प्रकार से कैसी भिन्न है तो उसका विचार सुनो। (१७) ये आठ विभाग जुदे जुदे यों हैं—आप, तेज, आकाश, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि और अहङ्कार। (१८)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे पार्थ! इन आठों की जो ऐक्यावस्था है वह हमारी श्रेष्ठ प्रकृति है। उसे जीव कहते हैं। (१९) यह अचेतन पदार्थों को जिलाती है, चेतनों में चेतनता उत्पन्न करती है, मन से शोक और मोह की कल्पना कराती है। (२०) किंबहुना, बुद्धि में जानने की शक्ति उसके सान्निध्य से आती है तथा उसके अहङ्काररूपी कौशल्य से जगत् की स्थिति है। (२१)

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

यह सूक्ष्म प्रकृति जब लीला से स्थूल प्रकृति से संयुक्त होती है तब भूत-सृष्टि की टकसाल शुरू होती है। (२२) तब चार प्रकार के सिक्के आप ही आप प्रकट होने लगते हैं, जो मोल में तो समान होते हैं, परन्तु अलग अलग जाति के रहते हैं। (२३) जातियाँ चौरासी लाख हैं। और

भी ऐसी अगणित जातियाँ हैं कि जिनके सिक्कों से आकाश के अन्तर्मुख का भाण्डार भर जाता है। (२४) ऐसे पचासों पञ्चमहाभूतों के सिक्के बहुतेरे निकलते हैं। इस सम्पत्ति का हिसाब प्रकृति ही रखती है। (२५) क्योंकि वही इन सिक्कों पर चिह्न बनाकर उनका विस्तार करती है, और अन्त में वही उन्हें गला डालती है। मध्यकाल में भी वही उन्हें कर्माकर्म के व्यवहार में प्रवृत्त करती है। (२६) पर यह रूपक रहने दो। स्पष्ट समझने योग्य अर्थ यों है कि नाम-रूप का विस्तार प्रकृति ही करती है। (२७) और इसमें कुछ सन्देह नहीं कि प्रकृति मुझमें बिम्बित है अतः मैं ही जगत् का आरम्भ, मध्य और अन्त हूँ। (२८)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

मृगजल का मूल खोजने जाइए तो किरण नहीं केवल सूर्य ही है। (२९) हे किरीटी! इसी प्रकार इस प्रकृति से उत्पन्न हुई सृष्टि का जब लय होकर पर्यवसान होगा तब केवल मैं ही रह जाऊँगा। (३०) अतः यह जो उत्पन्न होना, दिखाई देना और फिर विलीन हो जाना है सो मुझमें ही होता रहता है। जैसे सूत्र से मणियाँ बाँधी जाती हैं वैसे ही मैं इस विश्व को बाँधता हूँ। (३१) जैसे सुवर्ण की मणियाँ बनाई जावें और वे सोने के ही सूत में पिरोई जावें वैसे ही मैंने अन्तर और बाह्य जगत् को बाँधा है। (३२)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

इसलिए जल में जो रस है, अथवा पवन में जो स्पर्श है, चन्द्र और सूर्य में जो प्रकाश है, वह मैं ही हूँ। (३३) वैसे ही मैं पृथ्वी में स्वभावतः शुद्ध सुगन्ध हूँ, गगन में शब्द हूँ और वेदों में ओंकार हूँ। (३४) नर में जो नरत्व है, अहङ्कारियों में जो बल है वह पराक्रम मैं हूँ। यह मैं अपना सत्य स्वरूप बताता हूँ। (३५) तेज का अग्नि नामक जो ऊपरी आवरण है उसे अलग करते ही जो निजस्वरूप रह जाता है वह मैं हूँ। (३६) नाना-

विधि योनियों में जन्म लेकर प्राणी जो त्रिभुवन में अपनी अपनी उप-जीविका के लिए व्यापार करते हैं, (३७) कोई पवन ही पीते हैं, कोई तृण खाकर जीते हैं, कोई अन्न के आधार पर रहते हैं कोई जल के आश्रय से रहते हैं, (३८) ऐसे प्रत्येक प्राणी का प्रकृति के वश से जो अलग अलग जीवन दिखाई देता है, वह सबका अभिन्नत्व एक मैं ही हूँ। (३९)

> बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
> बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
> बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
> धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

जो उत्पत्ति के समय ही आकाश के अंकुर से विस्तृत होता है, और जो अन्तकाल में ओंकार के अक्षरों का ग्रास कर लेता है, (४०) जब तक विश्वाकार रहता है तब तक जो विश्व के समान ही दिखाई देता है और फिर महाप्रलय के समय बिलकुल नहीं रहता, (४१) ऐसा जो स्वयं अनादि है वह विश्वबीज मैं हूँ। यह मैं तुम्हारे हाथ में देता हूँ। (४२) हे पाण्डव! इसे जब तुम खुले खुले आत्मानात्मविचाररूपी गाँव में ले जाओगे तब इसका उत्तम उपयोग दिखाई देगा। (४३) परन्तु यह अनवसरोचित बातें रहने दो। अब हम संक्षेप से कहते हैं कि तपस्वियों में जो तप है वह मेरा रूप जानो। (४४) बलवानों में जो अचल बल है वह मैं हूँ। बुद्धिमानों में जो केवल बुद्धि रहती है वह मैं हूँ। (४५) प्राणियों में जो काम रहता है, जिससे अर्थ और अनन्तर श्रेष्ठधर्म साध्य किया जाता है, सो आत्माराम श्रीकृष्ण कहते हैं, मैं हूँ (४६) सामान्यतः जो यथार्थ में विकार उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों के इच्छानुसार ही कर्म करता है परन्तु धर्म के विरुद्ध नहीं (४७) जो निषेधरूपी आड़ा-टेढ़ा मार्ग छोड़कर विधि के मार्ग से नियमरूपी मशाल साथ लिये चलता है, (४८) जिसके इस रीति से व्यवहार करने से ही धर्म की पूर्णता होती है और संसार को मोक्षरूपी तीर्थ का पट्टा प्राप्त होता है, (४९) जो वेद-महिमारूपी मण्डप पर कामसृष्टिरूपी बेल का, जब तक कि उसके पत्ते कर्मफल से मोक्ष तक पहुँच जावें तब तक, विस्तार करता रहता है (५०) इस प्रकार नियम से चलनेहारा जो काम है और जो सब प्राणियों का बीज-रूप है

यह—प्राणियों के भाव भीतर ज्यों रहते हैं—मैं हूँ। (५१) अब एक एक का कहाँ तक वर्णन करूँ, यह सब वस्तुसमुदाय मुझसे ही विस्तृत हुआ जानना चाहिए। (५२)

> ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
> मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

यह जान लो कि जो सात्त्विक भाव हैं अथवा रज-तमादि गुण हैं वे सब मेरे रूप से ही उत्पन्न हुए हैं, (५३) परन्तु यद्यपि वे मुझसे उत्पन्न हुए हैं तथापि मैं उनमें नहीं हूँ जैसे स्वप्नरूपी देह में जागृति नहीं डूबती। (५४) जैसे बीजकणिका दृढ़ और घने रस की ही बनी रहती है परन्तु उससे अंकुर के द्वारा काष्ठ उत्पन्न होता है (५५) इसलिए क्या काष्ठ में बीजत्व नहीं है? वैसे ही यद्यपि मैं विकृत दिखाई देता हूँ तथापि मैं विकृत नहीं होता। (५६) गगन में मेघ उत्पन्न होते हैं परन्तु उनमें गगन सर्वथा नहीं रहता, अथवा मेघ से जो जल उत्पन्न होता है उसमें मेघ नहीं रहता, (५७) या उदक घर्षण से प्रकट हो जो प्रकाश चमकता हुआ दिखाई देता है, उस विद्युत में क्या जल रहता? (५८) कहो अग्नि से जो धुआँ उत्पन्न होता है उस धुएँ में क्या अग्नि रहती है? वैसे ही यद्यपि मैं विकृत दिखाई देता हूँ तथापि मैं विकाररूप नहीं हूँ। (५९)

> त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
> मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

परन्तु पानी पर उपजी हुई सेवार जैसे पानी को आच्छादन कर लेती है, अथवा मेघ से जैसे आकाश वृथा लुप्त हो जाता है, (६०) अजी, स्वप्न मिथ्या कहलाता है परन्तु नींद में जब वह दीखता है तब क्या मनुष्य को निज स्वरूप का स्मरण होता है? (६१) और तो क्या, आँख में ही जो जाला उत्पन्न होता है उससे क्या नेत्रों की देखने की शक्ति नष्ट नहीं हो जाती? (६२) वैसे ही यह मेरी त्रिगुणात्मक छाया विस्तृत हुई है, अथवा जवनिका समान मेरी ही ओट में पड़ी है। (६३) इसलिए प्राणीगण मुझे नहीं पहचानते। वे मेरे ही हैं परन्तु जैसे जल से उत्पन्न हुए मोती जल में नहीं गलते वैसे वे मद्रूप नहीं होते। (६४) मिट्टी का घट बनाया जाय तो मिट्टी में मिलाते ही मिल जाता है परन्तु वही अग्नि में तपाया जाय तो

भिन्न बन जाता है, (६५) वैसे ही सब प्राणी वास्तव में हैं तो मेरे ही अवयव परन्तु माया के कारण जीवदशा को प्राप्त हुए हैं। (६६) इसलिए मेरे होकर भी वे मद्रूप नहीं हैं। मेरे हैं तथापि मुझे नहीं पहचानते। अहन्ता और ममता के मद से वे विषयान्ध हो गये हैं। (६७)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

तो फिर, हे धनञ्जय! वे मेरी महत्तत्त्व आदि माया के पार होकर मद्रूपता कैसे प्राप्त कर सकेंगे? (६८) जिस माया नदी में ब्रह्मपर्वत की टूटी हुई कगार में से, प्रथम संकल्परूपी जल का स्रोत लगते ही, महाभूत रूपी छोटा-सा बुलबुला निकलता है (६९) जो सृष्टि विस्ताररूपी प्रवाह से बहती हुई, कालगति के वेग से कर्ममार्ग और निवृत्ति-मार्ग-रूपी ऊँचे तटों पर से बहती चली है, (७०) जो गुणरूपी मेघों की वृष्टि से भर कर मोहरूपी बाढ़ में यम-नियमों के नगर बहा ले जाती है, (७१) जो द्वेष रूपी भँवरों से भरी है, जिसमें मत्सररूपी मरोड़ लगते हैं और जिसमें प्रमाद इत्यादि महा-मीन चमकते हैं, (७२) जिसमें प्रपञ्चरूपी बाँक है कर्माकर्मरूपी बाढ़ आती है, और जिसमें सुखदुःखरूपी लट्ठे तराते हुए बहते हैं, (७३) जिसमें रतिरूपी टापू पर काम की लहरें टकरा जाती हैं, जिससे वहाँ और जीवरूपी फेन का समूह दिखाई देता है, (७४) जिसमें अहङ्कार के प्रवाह में विद्या, धन और सामर्थ्यरूपी मदत्रय का स्पन्दन आता है और विषयरूपी लहरों के झकोरे ऊँचे उठते हैं (७५) और जिसमें उदय तथा अस्त की बाढ़ आने से जन्म-मरणरूपी पत्थर गिरते हैं और पञ्चभूतात्मक बुलबुले उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं (७६) उस नदी में सम्मोह और विभ्रमरूपी मछलियाँ धैर्यरूपी माँस खीजती हैं और अज्ञान के भँवर उठते हैं (७७) तथा भ्रान्ति के गँदले पानी से और आस्था की कीचड़ से भरे हुए रजोगुणरूपी प्रवाह के घाटे की गर्जना स्वर्ग तक पहुँचती है। (७८) उसमें तम के प्रवाह विकट हैं सत्त्वरूपी निश्चल दह भी बड़े बड़े हैं, बहुत क्या कहें, यह माया-नदी दुस्तर है। (७९) उसकी जन्म-मरणरूपी बाढ़ से सत्यलोक के किले गल जाते और ब्रह्माण्डरूपी पत्थर भी उसके आघात से गिर पड़ते हैं। (८०) उसके जलप्रवाह में अभी तक स्थिरता नहीं पकड़ी है। इस प्रकार की माया की बाढ़ को कौन पार कर सकेगा? (८१) यहाँ एक आश्चर्य यह है कि जो जो तरणो-

पाय करो सो सो अपाय ही होता है। (८२) कोई आत्म बुद्धि का अभिमान रख अपने बाहुबल से पार जाते हैं, तो उन्हें अपनी सुधि ही नहीं रहती। किसी को ज्ञानशक्ति के दह में अभिमान ही खींच लेता है। (८३) कोई तीनों वेदरूपी नाव पर बैठकर अहंभावरूपी पत्थर से टकर खाकर गर्वमीन के मुँह में सम्पूर्ण समा जाते हैं। (८४) कोई अवस्था-बल के सहाय से मदन के पीछे लगते हैं तो उन्हें विषयरूप मगर चबाकर फेंक देता है, (८५) और वे वार्धक्यरूपी लहरों के मतिभ्रंशरूपी जालों में चहुँ ओर से फँस जाते (८६) और शोकरूपी कगार पर जा गिरते हैं। क्रोध के भँवर में दबकर ऊपर उठते ही आपदारूपी गीध उन्हें नोच डालते हैं, (८७) फिर वे दुःखरूपी कीचड़ से भर जाते हैं और मरण की रेती में फँस जाते हैं। इस प्रकार जो काम के पीछे लगे रहते हैं उनका जीवन वृथा जाता है। (८८) कोई यज्ञक्रिया की पिटारी बाँध छाती से चिपटाते हैं, वे स्वर्गसुखरूपी कपाट में फँस कर रह जाते हैं। (८९) कोई मोक्षप्राप्ति की आशा से कर्मरूपी बाँहों का भरोसा करते हैं, परन्तु वे विधिनिषेधरूपी भँवरों में पड़ जाते हैं। (९०) यहाँ वैराग्य की नाव का प्रवेश नहीं होता, तथा विवेक की डोरी भी काम नहीं देती, परन्तु योग से कुछ पार पा सकते हैं। तथापि ऐसा क्वचित ही होता है। (९१) इस प्रकार निज के बल से इस मायानदी के पार जाने को क्या उपमा दी जा सकती है? (९२) यदि अपथ्य करनेहारा रोग को वश कर सके, दुर्जन की बुद्धि साधुओं को वश कर सके, अथवा विषयासक्त मनुष्य प्राप्त होती हुई सिद्धि को छोड़ सके, (९३) यदि न्यायसभा चोर से डर जाय, अथवा मछली मछली को निगल जाय, अथवा डरपोक मनुष्य पिशाच को लौटा दे, (९४) हिरन का बच्चा जाल तोड़ सके, अथवा चिउँटी मेरु पर्वत का उल्लंघन कर सके, तो जीव भी मायानदी का पार देख सकेंगे। (९५) अतएव, हे पाण्डुसुत! सकाम मनुष्य से जैसे स्त्री नहीं जीती जाती, वैसे ही प्राणियों से यह मायामय नदी पार नहीं हो सकती। (९६) उन्होंने इस सहज में पार किया है जो सरल भाव से मुझे भजते हैं। उनके सामने इस मायानदी का जल इसी पार समाप्त हो जाता है। (९७) उन्हें सचमुच सद्गुरु तारक हैं। वे अनुभव के पीछे दृढ़ता से लगे रहते हैं। उन्हें आत्मनिवेदनरूपी नाव मिल जाती है। (९८) वे अहंभाव के बोझे का त्याग कर विकल्परूपी लहरों को टाला देकर और अनुरागरूपी पानी का मराद भी बचा कर निकल जाते हैं। (९९) उन्हें ऐक्यरूपी

ध्वार पर बोधरूपी तारा दिखाई देता है। और उसके आधार पर वे निवृत्तिरूपी परतीर को जा पहुँचते हैं। (१००) वे वैराग्य के बाहुओं से तैरते हुए, सोऽहंभाव के बल से आगे बढ़ते हुए, अनायास निवृत्तितीर पर आ पहुँचते हैं। (१) इस उपाय से जो मुझे भजते हैं वे ही मेरी माया के पार जाते हैं। परन्तु ऐसे भक्त विरले हैं, बहुतेरे नहीं। (२)

> न मां दुष्कृतिनो मूढा' प्रपद्यन्ते नराधमा' ।
> माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
> चतुर्विधा भजन्ते मां जना' सुकृतिनोऽर्जुन ।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

और दूसरे जो अनेक हैं उनमें अहङ्कार का भूत सवार हुआ है इसलिए उन्हें आत्मज्ञान का विस्मरण होता है, (३) और नियमरूपी वस्त्र की सुधि नहीं रहती, भविष्य अधोगति की लज्जा नहीं लगती, तथा वेद जिस बात का निषेध करता है वही वे करते हैं। (४) देखो, हे पाण्डव! जिस लिए वे शरीररूपी ग्राम में आये हैं वह सम्पूर्ण कर्तव्य छोड़कर (५) वे इन्द्रियग्राम के राजमार्ग में अहंता और ममतारूपी जल्पना करके अनेक विकारों का समुदाय जमाते हैं। (६) दुःख और शोक के जो घाव लगते हैं उनका उन्हें स्मरण भी नहीं होता। कहने का हेतु यह है कि उन्हें माया ने मस्त किया है (७) इसलिए वे मुझे भूलते हैं। परन्तु कोई कोई जो अपने कल्याण की वृद्धि करते हैं वे मुझे चार प्रकार से भजते हैं। (८) पहला भजनेवाला आर्त कहलाता है, दूसरे को जिज्ञासु कहते हैं, तीसरा अर्थार्थी और चौथा ज्ञानी है। (९)

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय ॥१७॥

इनमें से जो आर्त है वह अपने दुःखनिवारण के हेतु भजता है, जिज्ञासु ज्ञान की इच्छा से भजता है, तीसरा अर्थप्राप्ति की इच्छा करता है (११०) परन्तु चौथे को कुछ भी कार्य नहीं रहता। इसलिए भक्त उसी एक को जानो जो कि ज्ञानी हो। (११) क्योंकि उसके लिए ज्ञान के प्रकाश से भेदरूपी अन्धकार का नाश हो जाता है, और एकता के कारण वह मद्रूप हो जाता है तथापि वह भक्त भी बना रहता है। (१२)

परन्तु दूसरों को स्फटिक पर जैसे पानीभर जल का भास होता है, वैसा उस ज्ञानी का हाल नहीं होता। उसका वर्णन अद्भुत है। (१३) जैसे वायु जब आकाश में विलीन हो जाती है तब क्या वायुत्व अलग नहीं रहता ? वैसे ही यद्यपि उसका ऐक्य हो जाता है तथापि "भक्त" संज्ञा नहीं जाती। (१४) यदि हिलाकर वायु देखी जाय तो आकाश से भिन्न दिखाई देगी, अन्यथा आकाश तो स्वभावतः वैसा ही बना रहता है, (१५) वैसे ही वह शरीर से कर्म करता है इससे भक्त जान पड़ता है परन्तु आत्मानुभव के कारण वह मद्रूप ही है। (१६) ज्ञान का उदय होने के कारण वह मुझे अपना आत्मा ही समझता है। इसलिए मैं भी हर्षयुक्त हो उसे वैसा ही समझता हूँ। (१७) जो जीव के परे का संकेत पाकर जो व्यवहार करना जानता है वह क्या देह की भिन्नता के कारण आत्मा से भिन्न हो सकता है ? (१८)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

अतएव अपने अपने कल्याण के लाभ से हरएक भक्त मुझे भजता है, परन्तु मैं जिस पर प्रेम करता हूँ वह एक ज्ञानी ही है। (१९) देखो, दूध की आशा से जगत् गाय को डोरी से फँसाता है पर बछड़े का बन्धा डोरी के बिना ही वैसा बलवान् होता है। (१२०) क्योंकि वह तन, मन, प्राण से उस गाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। उसे देखते ही वह कहता है कि यह मेरी माता है। (२१) इस प्रकार वह अनन्याधार रहित है इसलिए गाय को भी उससे वैसे ही प्रीति होती है अतएव श्रीकृष्ण ने सत्य कहा। (२२) अस्तु, फिर श्रीकृष्ण ने कहा कि और जिन भक्तों का हमने वर्णन किया वे सब हमें प्रिय हैं। (२३) परन्तु मुझे जान-कर जो संसार में खोटना भूल जाते हैं, जैसे समुद्र को पहुँच कर नदी का लौटना बन्द हो जाता है (२४) वैसे ही अन्तःकरणरूपी गुहा में जन्म लेकर जिनकी अनुभवरूपी गङ्गा मुझमें आ मिलती है, वे मद्रूप। इस बात का शब्दों से कहाँ तक विस्तार करूँ। (२५) वैसे भी जो ज्ञानी कहाता है वह केवल मेरा जीवन है। यह बात कहनी नहीं चाहिए, पर क्या किया जाय, हम न कहने की बात भी कह चुके। (२६)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

कारण वह ज्ञानी विषयरूपी विस्तीर्ण झाड़ी के काम-क्रोधरूपी लुटेरों से बचकर सद्वासनारूपी पहाड़ी पर पहुँचा हुआ है। (२७) हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन! वह साधुओं के सत्कर्म के सरल मार्ग से चलता है और अधर्म का आड़ा-टेढ़ा मार्ग छोड़ देता है। (२८) जन्म तक उसी मार्ग का प्रवासी होते हुए वह आस्था की ऊकाईं भी नहीं पहनता, तो फिर फलहेतु की कौन गणना करे। (२९) इस प्रकार उसे शरीरसंयोग की रात्रि में चलते चलते चलते आप ही आप कर्मक्षयरूपी प्रकाश का प्रातःकाल हो जाता है। (१३०) और गुरुकृपारूपी उषःकाल प्रकाशित होते ही तथा ज्ञानरूपी कोमल धूप निकलते ही उसकी दृष्टि में समतारूपी ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है। (३१) उस समय जिस ओर वह देखे वहाँ उसे एक मैं ही दिखाई देता हूँ। (३२) बहुत क्या कहूँ, सर्वत्र उसे मेरे सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता। जैसे जल में घट डूबते ही उसके अन्तर-बाह्य जल ही हो रहता है (३३) वैसे ही वह मुझ में है और मैं उसके अन्तर-बाह्य हूँ। यह बात वाणी से पढ़ाई जाने योग्य नहीं है। (३४) अतएव रहने दो। इस प्रकार, वह ज्ञान की पूँजी प्राप्त करता है और उस व्यापार में लगा कर विश्व को अपना लेता है। (३५) तथा ऐसे स्वानुभव के भाव की मूर्ति ही बन जाता है कि "यह समस्त जगत् श्रीवासुदेव का ही रूप है।" इसलिए वही भक्तों में श्रेष्ठ और वही ज्ञानी कहलाता है। (३६) हे धनुर्धर! जिसके अनुभव की दुकान में चराचर को स्थान मिलता है ऐसे महात्मा दुर्लभ हैं। (३७) पर हे किरीटी! दूसरे ऐसे बहुत हैं जिनका भजन केवल भोग के लिए है, और जिनकी दृष्टि आशारूपी अन्धकार से मन्द हो गई है (३८)

> कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
> तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

और फल की इच्छा रखने के कारण जिनके हृदय में काम प्रवेश करता है तथा उसके संसर्ग के कारण जिनका ज्ञानरूपी दीपक बुझ जाता है। (३९) इस प्रकार वे अन्तर-बाह्य अन्धकार में जा गिरते हैं जिससे मेरे पास रहते भी मुझे भूल जाते और सब प्रकार से अन्य देवताओं का आराधन करते हैं। (१४०) पहले ही वे प्रकृति के दास रहते हैं ऊपर से भोगों के लिए दीन रहते हैं, इससे लालुपता के कारण कैसे कौतुक के साथ भजते हैं! (४१) कैसे नियम से चलते हैं!

कितनी पूजासामग्री इकट्ठी करते हैं! और कैसे विधिपूर्वक विहित वस्तुएँ समर्पित करते हैं! (४२)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

परन्तु जो मनुष्य किसी अन्य देवताओं को भजने की इच्छा करता है उसकी सम्पूर्ण इच्छा पूर्ण करनेहारा मैं हूँ। (४३) देखो देव और देवी मैं ही हूँ, परन्तु उसका ऐसा निश्चय नहीं रहता। वह उनमें अलग अलग मान रखता है (४४)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

—तथा वह उस श्रद्धा से युक्त हो कार्यसिद्धि होने तक उन देवताओं का उचित रीति से आराधन करने में प्रवृत्त होता है। (४५) जो जैसी भावना करता है उसे वैसा ही फल मिलता है, परन्तु ये सब बातें मेरे ही कारण होती हैं। (४६)

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

फिर भी वे भक्त मुझको नहीं जानते क्योंकि वे कल्पना के बाहर नहीं जाते। अतएव उन्हें नाश होनेवाले कल्पित फल मिलते हैं। (४७) किंबहुना, ऐसा भजन संसार का ही साधन है। और फल-भोग तो स्वप्न रूप है जो केवल क्षणभर ही दिखाई देता है। (४८) इसे अलग कर दो तो फिर कोई भी देवी प्यारी हो तथापि उसका पूजन करने से उन भक्तों को देवत्व ही प्राप्त होता है। (४९) जो तन-मन-प्राण से मेरा ही अनुसरण करते हैं वे देह का अन्त होने पर मद्रूप ही हो जाते हैं। (१५०)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

परन्तु प्राणी ऐसा नहीं करते वृथा अपने हित की हानि करते हैं। वे चुल्लू भर पानी में तैरने की चेष्टा करते हैं। (५१) अमृत के समुद्र में डुबकी मारते समय क्या मुँह में दाँती भींच लेनी चाहिए और मन में क्या किसी डाबर के पानी का स्मरण करना चाहिए! (५२) ऐसा क्यों

करना चाहिए ? अमृत में प्रवेश कर मरने की अपेक्षा सुख से अमृत में अमृत होकर क्यों न रहना चाहिए ? (५३) और, हे धनुर्धर ! फलहेतु का पिंजरा छोड़कर अनुभवरूपी पङ्खों की सहायता से चिदाकाश का स्वामी क्यों न हो रहना चाहिए ? (५४) जो वस्तु ऐसी ऊँची है कि उसमें अपने इच्छानुसार उड़ने के लिए मनमाने विस्तार का लाभ हो सकता है, (५५) उस मापी न जानेवाली वस्तु को मापने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए ? निराकार का साकार क्यों मानना चाहिए ? सिद्ध रहते भी साधन करते हुए जीवन का अन्त क्यों करना चाहिए ? (५६) परन्तु हे पाण्डव ! विचार करने से मालूम होता है कि यह कथन इस जीव को विशेषतः नहीं भाता। (५७)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

जीव में आदिमाया का परदा होने से ये लोग अन्धे बन गये हैं। अतएव ये मुझे प्रकाशरूपी दिन के बल नहीं देख सकते। (५८) अन्यथा क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसमें कि मैं नहीं हूँ ? ऐसा कौनसा पानी है जो रस से रहित हो ? (५९) पवन किसे नहीं स्पर्श करती ? आकाश कहाँ नहीं समाया हुआ है ? इस प्रकार एक मैं ही सब जगत् में भरा हुआ हूँ। (१६०)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

जो प्राणी पूर्व में हो गये हैं वे मद्रूप ही हो रहे हैं और जो वर्तमान में हैं वे भी मैं ही हूँ; (६१) अथवा जो आगे होनेवाले हैं वे भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। ये केवल शब्द ही हैं, अन्यथा वस्तुतः न कुछ होता है न जाता है। (६२) रस्सी पर दिखाई देनेवाले सर्प को काला, कौड़िया इत्यादि गणना कोई नहीं करता, वैसे ही भूतमात्र मिथ्या होने के कारण उनकी भी गणना नहीं हो सकती। (६३) हे पाण्डुसुत ! मैं सर्वदा ऐसा व्याप्त हूँ तथापि इन प्राणियों को जो संसार जान पड़ता है उसका कारण सुना है। (६४) उसी का अब हम थोड़ासा निरूपण करते हैं, सुनो। जब अहङ्कार और तनु से प्रीति लग जाती है (६५)

कितनी पूजासामग्री इकट्ठी करते हैं। और कैसे विधिपूर्वक विहित वस्तुएँ समर्पण करते हैं। (४२)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

परन्तु जो मनुष्य किसी अन्य देवताओं को भजने की इच्छा करता है उसकी सम्पूर्ण इच्छा पूर्ण करनेवाला मैं हूँ। (४३) देवों देव और देवी मैं ही हूँ, परन्तु उसका ऐसा निश्चय नहीं रहता। वह उनमें अलग अलग भाव रखता है (४४)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

—तथा वह उस श्रद्धा से युक्त हो कार्यसिद्धि होने तक उन देवताओं का उचित रीति से आराधन करने में प्रवृत्त होता है। (४५) जो जैसी भावना करता है उसे वैसा ही फल मिलता है, परन्तु ये सब बातें मेरे ही कारण होती हैं। (४६)

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

फिर भी वे भक्त मुझको नहीं जानते क्योंकि वे कल्पना के बाहर नहीं जाते। अतएव उन्हें नाश होनेवाले कल्पित फल मिलते हैं। (४७) सिवाय, ऐसा भजन संसार का ही साधन है। और फल-भोग तो स्वप्न रूप है जो केवल क्षणभर ही दिखाई देता है। (४८) इसे अलग कर दो तो फिर कोई भी देवी प्यारी हो तथापि उसका पूजन करने से उन भक्तों को देवत्व ही प्राप्त होता है। (४९) जो तन-मन-वाणी से मेरा ही अनुसरण करते हैं वे देह का अन्त होने पर मद्रूप ही हो जाते हैं। (१५०)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

परन्तु प्राणी ऐसा नहीं करते वृथा अपने हित की हानि करते हैं। वे चुल्लू भर पानी में तैरने की चेष्टा करते हैं। (५१) अमृत के समुद्र में डुबकी मारते समय क्या मुँह में दाँती भींच लेनी चाहिए और मन में क्या किसी डाबर के पानी का स्मरण करना चाहिए। (५२) ऐसा क्यों

का लाभ होता है। (७०) उसे साम्यरूपी ब्याज मिलता है, उसका ऐक्य रूपी असामी-समूह बढ़ता है तथा भेदरूपी दीनता से कभी उसकी भेंट नहीं होती। (७६)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जिन्होंने मुझ पञ्चभूतात्मक साकार को अनुभवरूपी हाथों से पकड़ कर अधिदैव जीवात्मा को स्पर्श किया है, (१८०) जिनको ज्ञानशक्ति के बल से मैं अधियज्ञ परमात्मा दिखाई देता हूँ, वे शरीर के वियोग से विरही नहीं होते। (८१) यों तो आयुष्य की डोरी टूटते समय प्राणियों को जो व्याकुलता होती है उसे देख न मरनेवालों के चित्त में भी क्या प्रलय नहीं हो जाता? (८२) परन्तु जो मेरे स्वरूप को पहुँच गये हैं वे देहान्त की व्याकुलता के समय भी, न जाने क्यों, मुझे नहीं भूलते। (८३) सामान्यतः यही समझो कि जो ऐसे निपुण हैं वही अन्तःकरणयुक्त योगी हैं। (८४) इस शब्दरूपी गङ्गाजली के नीचे अर्जुन को भगवान की अञ्जलि न बताई गई। क्योंकि वह उस समय कायमर कुछ और सोच रहा था। (८५) वे ब्रह्मनिष्पादक वचनरूपी फल नाना अर्थरूपी रस से भरे हुए थे और भा रूपी सुगन्ध से महक रहे थे। (८६) ऐसे वे श्रीकृष्णरूपी वृक्ष के वचनरूप फल सहज-कृपारूपी मन्द वायु के झकोरे से अर्जुन के श्रवणरूपी पत्ते में अकस्मात् आ पड़े (८७) तो ऐसे दिखाई दिये कि मानों सिद्धान्त के ही बने हुए हों अथवा ब्रह्मरस के समुद्र में डुबाये हुए हों और परमानन्द में पुरे हुए हों। (८८) ऐसी निर्मल सुन्दरता देखकर अर्जुन के ज्ञान-नेत्र विस्मयरूपी अमृत के घूँट पीने लगे। (८९) ऐसी सुख-सम्पत्ति प्राप्त होते ही वह स्वर्ग को भी चिढ़ाने लगा और उसके हृदय में गुदगुदी होने लगी। (१९०) इस प्रकार जब ऊपर की उत्तमता से सुख बढ़ने लगा तब उसे रस का स्वाद लेने की इच्छा हुई। (९१) जल्दी से उसने उन वचन-फलों को अनुमानरूपी हथेली पर लेकर एकदम अनुभवरूपी मुख में डालना चाहा। (९२) परन्तु जब सुभद्रापति अर्जुन ने देखा कि वे फल न तो विचाररूपी रसना से दबते हैं और न हेतुरूपी दाँतों से टूटते हैं तब उसने उन्हें मुँह से न लगाया। (९३) वह आश्चर्ययुक्त हो कहने लगा कि ये तो जल में दीखनेहारे तारागण हैं। इन अक्षरों की

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

तब उनसे एक इच्छा नामक कुँवारी उत्पन्न होती है। उसे काममरूपी तारुण्य प्राप्त होते ही द्वेष के सङ्ग उसका विवाह हो जाता है। (६६) इन दोनों से जन्म लेकर जो द्वन्द्वमोह प्रकट होता है उसे उसका दादा अहङ्कार पालन कर छोटे से बड़ा करता है। (६७) वह सदा धैर्य का विरोधी रहता है और इतना बलवान् होता है कि नियम के वश नहीं होता और जन्म से ही आशारस से पुष्ट हो उन्मत्त होता है। (६८) हे धनुर्धर! वह असन्तोषरूपी मदिरा से मत्त होकर विषयरूपी कोठरी में विकृति के सङ्ग पड़ा रहता है। (६९) उसने शुद्धभाव के मार्ग में विकल्परूपी काँटे बिछा दिये हैं और कुमार्ग के आड़े-टेढ़े रास्ते निकाल दिये हैं। (१७०) इससे प्राणीगण भ्रम में पड़ जाते हैं। अतएव वे संसाररूपी जङ्गल में पड़े हैं और दुःख के बोझ के नीचे दबे हुए हैं। (७१)

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

इस निष्फल विकल्परूपी तीक्ष्ण काँटों को देखते हुए जो पुरुष मति-भ्रम को पास ही नहीं आने देते (७२) जो सरल एक-निष्ठारूपी डगों से उन काँटों की नोकें रगड़कर महापातकरूपी जङ्गल नाँघ जाते हैं, (७३) वे पुण्यरूपी दौड़ लगाते हुए मेरे पास पहुँचते हैं। बहुत क्या कहें, व रास्ते के बधिकों से बच जाते हैं। (७४)

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

और भी हे पार्थ! जो आस्थापूर्वक ऐसी चेष्टा करते हैं कि जन्ममरण की कहानी ही बन्द हो जाय, (७५) उनके एक बार प्रयत्न करते ही सम्पूर्ण परब्रह्मरूपी फल हाथ लगता है वह ऐसा पका हुआ होता है कि उनमें से पूर्णतारूपी रस टपकता रहता है। (७६) तब फिर सब जगत् में कृतार्थता भरी दिखाई देती है, आत्मज्ञान का कौतुक पूर्ण हो जाता है, कर्म का कार्य समाप्त हो जाता है, और मन शान्त हो जाता है। (७७) हे धनञ्जय! जिसके व्यापार की पूँजी मैं ही हूँ उसे इस प्रकार अध्यात्म

का लाभ होता है। (७०) उसे साम्यरूपी ब्याज मिलता है, उसका ऐक्य रूपी असामी-समूह बढ़ता है तथा भेदरूपी दीनता से कभी उसकी भेंट नहीं होती। (७६)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जिन्होंने मुझ पञ्चभूतात्मक साकार को अनुभवरूपी हाथों से पकड़ कर अधिदैव जीवात्मा को स्पर्श किया है, (१८०) जिनको ज्ञानशक्ति के बल से मैं अधियज्ञ परमात्मा दिखाई देता हूँ, वे शरीर के वियोग से विरही नहीं होते। (८१) यों तो आयुष्य की डोरी टूटते समय प्राणियों को जो व्याकुलता होती है उसे देख न मरनेवालों के चित्त में भी क्या प्रलय नहीं हो जाता? (८२) परन्तु जो मेरे स्वरूप को पहुँच गये हैं वे देहान्त की व्याकुलता के समय भी, न जाने क्यों, मुझे नहीं भूलते। (८३) सामान्यतः यही समझो कि जो ऐसे निपुण हैं वही अन्तःकरणयुक्त योगी हैं। (८४) इस शब्दरूपी गङ्गाजली के नीचे अर्जुन को अवधान की अञ्जलि न बताई गई। क्योंकि वह उस समय जरा भर कुछ और सोच रहा था। (८५) वे अर्थमतिपादक वचनरूपी फल नाना अर्थरूपी रस से भरे हुए थे और भावरूपी सुगन्ध से महक रहे थे। (८६) ऐसे वे श्रीकृष्णरूपी वृक्ष के वचन फल जब सहज कृपारूपी मन्द वायु के झकोरे से अर्जुन के श्रवणरूपी पल्ले में अकस्मात् आ पड़े (८७) तो ऐसे दिखाई दिये कि मानों सिद्धान्त के ही बने हुए हों अथवा ब्रह्मरस के समुद्र में डुबाये हुए हों और परमानन्द में घुले हुए हों। (८८) ऐसी निर्मल सुन्दरता देखकर अर्जुन के ज्ञान-नेत्र विस्मयरूपी अमृत के घूँट लेने लगे। (८९) ऐसी सुख-सम्पत्ति प्राप्त होते ही वह स्वर्ग को भी चिढ़ाने लगा और उसके हृदय में गुदगुदी होने लगी। (१९०) इस प्रकार जब ऊपर की सरसता से सुख बढ़ने लगा तब उसे रस का स्वाद लेने की इच्छा हुई। (९१) जल्दी से उसने उन वचन-फलों को अनुमानरूपी हथेली पर लेकर एकदम अनुभवरूपी मुख में डालना चाहा। (९२) परन्तु जब सुभद्रापति अर्जुन ने देखा कि वे फल न तो विचाररूपी रसना से दबते हैं और न हेतुरूपी दाँतों से टूटते हैं तब उसने उन्हें मुँह से न लगाया। (९३) वह आश्चर्ययुक्त हो कहने लगा कि ये तो जल में झीलनेवाले तारागण हैं। इन अक्षरों की

सुगमता से मैं कैसा फँसा ! (९४) वे वास्तव में शब्द नहीं, आकाश के परत हैं। यहाँ हमारी मति डूबे तो भी थाह न लगे। (९५) तो फिर और कहीं से जानने की बात ही क्या है ? इस प्रकार जी में सोच कर अर्जुन ने फिर से श्रीकृष्ण की ओर दृष्टि की, (९६) और विनती की कि अभी ये सातों ही शब्द अनास्वादित हैं, यह बड़ा अचरज है। (९७) यों तो श्रवण की तीव्रता रहे तो अनेक सिद्धान्तों के अनुभव क्या श्रवण के ही बल से ज्ञात हुए बिना रह सकते हैं ? (९८) परन्तु सम्प्रति हे देव ! मेरा हाल वैसा नहीं हुआ। मैंने अक्षरों का समुदाय देखा और मेरे विस्मय के जी में भी विस्मय हुआ। (९९) कान के झरोखे में से आपके शब्दरूपी किरण हृदय में प्रकाशने नहीं पाये कि चमत्कार से मेरा अवधान बन्द हो गया (२००) और अब मुझे इन शब्दों का अर्थ जानने की इच्छा हुई है। यह कहने में समय व्यतीत करना भी मैं सह नहीं सकता। इसलिए हे देव ! जल्दी से निरूपण कीजिए। (१) इस प्रकार पिछली समालोचना कर अगले अभिप्राय की ओर दृष्टि देकर तथा बीच में अपनी इच्छा प्रदर्शित कर, (२) [पूछने की कुशलता देखिए कि] अर्जुन मर्यादा की सीमा उल्लङ्घन नहीं होने देता, तथापि श्रीकृष्ण के हृदय को आलिङ्गन देने की चेष्टा कर रहा है। (३) अजी, श्रीगुरु से जब प्रश्न किया जाय तब कैसा सावधान रहना चाहिए, इसका सम्पूर्ण मर्म एक अर्जुन ही जानता है। (४) अब उसका प्रश्न और उस पर सर्वज्ञ श्रीहरि का उत्तर सञ्जय कैसे प्रेम से कथन न करेंगे ! (५) उस कथा का ठेठ भाषा में वर्णन होगा। उस पर ध्यान दीजिए। जैसे आँखों के पूर्व दृष्टि को ही लाभ होता है, (६) वैसे बुद्धि की जिह्वा से शब्दों का सार चखने के पहले ही अक्षरों की शोभा इन्द्रियों को मोह लेती है, (७) देखो, घ्राणेन्द्रिय मालती की कलियों को उनकी सुगन्धि लेकर पहचानती है परन्तु नेत्र क्या उनकी ऊपरी शोभा से पहले ही सुखी नहीं हो जाते ? (८) वैसे ही इस भाषा की शोभा से इन्द्रियाँ मानों राज्य करेंगी और फिर धीरे से सिद्धान्तरूपी नगर प्राप्त करेंगी। (९) ऐसे उत्तम और अनिर्वचनीय वचन सुनिए। मैं श्रीनिवृत्ति का दास ज्ञानदेव निवेदन करता हूँ। (२१०)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः ।

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

फिर अर्जुन ने कहा—महाराज ! सुनिए । मैंने जो कुछ पूछा उसका निरूपण कीजिए । (१) मुझे समझाइए कि ब्रह्म कौन है, कर्म किस वस्तु का नाम है, अथवा अध्यात्म किसे कहते हैं (२) अधिभूत कैसा होता है और संसार में अधिदैवत कौन है। ऐसा निरूपण कीजिए की ये बातें मैं स्पष्ट समझ सकूँ । (३)

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे देव ! अनुमान से कुछ जान नहीं पड़ता कि अधियज्ञ क्या है और वह इस देह में कौन है, (४) और भी, हे शार्ङ्गपाणि ! जिन्होंने अपने अन्तःकरण का नियमन किया है उन्हें देहत्याग के समय जो आपका ज्ञान हो जाता है वह किस प्रकार से होता है, सुनाइए । (५) देखो, जो भाग्यवान चिन्तामणियरत्नों के मन्दिर में सोया हुआ हो वह जो शब्द नींद में बर्राता है वे भी निष्फल नहीं जाते, (६) वैसे ही अर्जुन के मुख से उक्त वचन निकलते ही देव ने कहा कि तुमने जो पूछा उसे अच्छी तरह सुनो। (७) अर्जुन कामधेनु का बछड़ा है और कल्पतरु के मण्डप में बैठा है। इसलिए मनोरथसिद्धि उसके काम की इच्छा करे तो कुछ आश्चर्य नहीं। (८) श्रीकृष्ण जिसे कोप कर मारते हैं उसे परब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त होता है; फिर, जिसे वे कृपा कर उपदेश करें उसे कैसे न हो ? (९) हम कृष्णरूप हो जायँ तो हमारा अन्तःकरण भी कृष्णरूप हो जायगा और हमारे संकल्प के आँगन में सिद्धियाँ आश्रय लेंगी। (१०) परन्तु ऐसा जो प्रेम है वह अर्जुन में ही निस्सीम है, अतएव उसके मनोरथ सर्वदा सफल होते हैं। (११) इसी लिए यह जानकर कि अर्जुन यह मनोगत पूछेगा, श्रीकृष्ण ने उत्तररूप भोजन पहले से ही परोस कर रक्खा है। (१२)

भेदभाव की सीमा मिट जाय और फिर यदि कहो कि वे एक में मिल गये तो क्या वे यथार्थ में अलग थे ? (४१) बालों की गुँथेली पर स्फटिक का टुकड़ा रख दो तो वास्तव: देखने से दरका हुआ काँच दिखाई देता है, (४२) परन्तु बाल हटा लिये जायँ तो दरार न मालूम कहाँ चली जाती है। तब क्या दरके हुए दिखाई देनेवाले स्फटिक को कोई राँग कर जोड़ देता है ? (४३) नहीं वह तो वैसा ही अखण्ड बना हुआ है, परन्तु केवल संग के कारण भिन्न दिखाई देता था। वही संग हटा लेने से फिर वह ज्यों का त्यों हो जाता है (४४) वैसे ही अहंभाव निकल जाय तो ऐक्य तो पहले से ही बना है। यही ऐक्य जहाँ यथार्थ होता है वही अभिप्राय मैं हूँ। (४५) अभी, हमने जो कहा था कि सब यज्ञ कर्म से उत्पन्न होते हैं वह जिस आशय को ध्यान में रखकर कहा था, (४६) वही इन सम्पूर्ण लोगों का विश्रामस्थान नैष्कर्म्य-सुख का निवास है। हे पार्थ! वही हम स्पष्ट कर बताते हैं। (४७) पहले वैराग्य रूपी ईंधन डालकर, प्रदीप्त किये हुए इन्द्रियरूपी अग्नि में विषय रूप द्रव्यों की आहुति दे, तब (४८) श्वासरूपी पृथ्वी का शोधन करके शरीररूपी मण्डप में मूलबन्ध मुद्रारूपी उत्तम वेदी बनाई जाती है। (४९) उस पर इन्द्रियनिग्रहरूपी अग्नि के कुण्ड में इन्द्रियद्रव्यों के और बड़े बड़े योग-मन्त्रों के द्वारा यजन किया जाता है। (५०) फिर मन और प्राण का निग्रह ही जो हवनादि का समारम्भ है उससे धूमरहित ज्ञानाग्नि सन्तुष्ट की जाती है (५१)। इस प्रकार यह सब सामग्री ज्ञान में अर्पण की जाती है और ज्ञान ज्ञेय में विलीन हो जाता है। पश्चात् जो ज्ञेय ही पूर्ण निजस्वरूप से बच रहता है, (५२) उसका नाम अधियज्ञ है। इस प्रकार जब सर्वेश श्रीकृष्ण ने निरूपण किया तब अर्जुन तो महा-बुद्धिमान् था, यह बात उसके बुद्धिगत हो गई। (५३) यह जानकर देव ने कहा—हे पार्थ! मजे सुन रहे हो! कृष्ण के इन वचनों से अर्जुन को बहुत आनन्द हुआ। (५४) देखो, बालक की तृप्ति से तृप्त होना अथवा शिष्य की कृतार्थता से कृतार्थ होना एक माता अथवा सद्गुरु ही जानते हैं। (५५) अतएव अर्जुन के पहले श्रीकृष्ण के ही हृदय में सात्त्विक भावों की इतनी भीड़ मच गई थी कि वह उसमें समा न सकी। परन्तु देव ने जान-बूझकर उसका निग्रह किया (५६) और फिर ऐसे कोमल और सरस वचन कहे कि मानों परिपक्व सुख की सुगन्ध हो, अथवा शान्त अमृत की तरंगें हों। (५७) उन्होंने कहा—

हे श्रोताओं के राजा, हे तात धनञ्जय! सुनो, इस प्रकार जब माया समाप्त हो जाती है तब उसे कल्पमेवाला ज्ञान भी जल जाता है। (५८)

> अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
> यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अजी, अभी हमने जिसका वर्णन किया जिसे अधियज्ञ बतलाना, जो सबका आदि-कारण है, उस मुझको अन्तकाल के समय जानकर, (५९) देह मिथ्या समझ कर, जैसे आकाश से भरा हुआ मठ आकाश में ही रहता है वैसे ही जो आप ही आत्मस्वरूप हो रहते हैं, (६०) जिन्हें अनुभवरूपी मध्य घर में निश्चयरूपी कोठरी मिल जाती है इसलिए जो बाहर निकलने का स्मरण ही नहीं करते, (६१) इस प्रकार जो अन्तर-बाह्य भरी हुई एकता से मद्रूप हुए रहते हैं उनके बाह्य-भूतों के पाँचों आवरण बिन जाने ही गिर पड़ते हैं। (६२) ये आवरण साबित रहते हैं तब भी उनकी ओर उनका चित्त नहीं रहता तो उनके पतन से उन्हें क्या छूट हो सकता है? उनके अनुभवरूपी पेट का पानी भी नहीं हिलता। (६३) उनकी प्रतीति मानों ऐक्य से ढाल कर अभिन्नाभिता के हृदयरूपी साँचे में ढाली हुई है और मानों पूर्णत्वरूपी समुद्र में धोई गई है इसलिए मलिन नहीं होती। (६४) अथाह पानी में घट डुबाया जाय तो अन्तर-बाह्य पानी से भर जाता है और फिर यदि दैवगति से वह फूट जाय तो क्या पानी का नाश हो जाता है? (६५) अथवा साँप केंचुली छोड़ता है या गरमी होने के कारण वस्त्र निकाल फेंक दिया जाता है तो क्या कुछ अवयवों में टूट-फूट होती है? (६६) वैसे ही नाश इस ऊपरी आकार का होता है। अन्यथा वस्तु तो भरी ही हुई है। वही बुद्धि से ज्ञात हो जाने पर बुद्धि क्योंकर व्याकुल हो सकती है? (६७) अतएव जो मुझे अन्तकाल के समय इस प्रकार जानते हुए देह का त्याग करते हैं वे मत्स्वरूपी हो जाते हैं। (६८) साधारणतः यही नियम है कि प्रायः जब मरण छाती पर आ गिरता है तब अंतःकरण जिसका स्मरण करे वही बन जाता है। (६९) जैसे कोई दीन हो वायुगति से दौड़ते दौड़ते दो ही डग में अकस्मात् कुएँ में गिर पड़े (७०) तो उसके गिरने के पूर्व उसका पतन रोकने के लिए वहाँ कोई

दूसरी वस्तु नहीं रहती, इससे वह गिर ही पड़ता है (७१) वैसे ही मृत्यु के समय में जो वस्तु जीव के सामने आ खड़ी हो उसी के रूप में जीव का मिल जाना अवश्यम्भावी है। (७२) मनुष्य जागृत रहता है तब जो ध्यान और भावना करता है वही आँख लगने पर स्वप्न में देखता है। (७३)

यं यं वाऽपि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

वैसे ही जीवित अवस्था में मन में जो इच्छा रह जाती है वही मरण के समय विशेषतः होती है (७४) एवं मरण के समय जो जिस वस्तु का स्मरण करता है सो उसी गति को प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिए तुमको सदा मेरा ही स्मरण करना चाहिए। (७५) आँखों से जो देखो, अथवा कानों से जो सुनो मन से जिसकी भावना करो, अथवा वाणी से जो बोलो, (७६) सो सब अन्तर बाह्य मद्रूप ही कर डालना चाहिए। फिर स्वभावतः सर्वदा मैं ही बना रह जाऊँगा। (७७) हे अर्जुन! ऐसा निश्चय हो जाने पर यद्यपि देह का नाश हो तथापि वास्तव में मृत्यु नहीं होती। तो फिर संग्राम करने से तुम्हें क्या भय है? (७८) यदि तुम यथार्थ अपना मन और बुद्धि मेरे स्वरूप में समर्पित कर दो तो अवश्य ही मुझे प्राप्त कर लोगे। (७९) यदि तुम्हें सन्देह होता हो कि यह बात कैसे हो सकती है तो पहले अभ्यास कर देखो और फिर न हो तब क्रोध करो। (८०)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

इस प्रकार के अभ्यास से योग चित्त का हितकारी होता है। अभ्यास के बल से पंगु भी पर्वत पर चढ़ जाता है, (८१) वैसे ही निरन्तर उत्तम अभ्यास से चित्त को परमपुरुष की टेव लगा दो फिर चाहे शरीर रहे अथवा जाय। (८२) जो चित्त अनेकों

गतियों को पहुँचाता है वह यदि आत्मा का अङ्गीकार कर ले तो फिर इसका कौन स्मरण करेगा कि देह गया कि है? (८३) नदी का प्रवाह यों यों करता हुआ जब समुद्र में मिलता है तब क्या वह घूमकर देखता है कि पीछे क्या हो रहा है? (८४) नहीं, वह तो समुद्र ही बन रहता है। वैसे ही जहाँ चित्त ज्ञानस्वरूप हो जाता है, जहाँ जन्म-मरण बन्द हो जाते हैं, जो वस्तु परमानन्द-स्वरूप है, (८५)

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

—जिसकी स्थिति आकाररहित है, जिसे जन्म अथवा मरण नहीं है जो सर्वत्र व्यापक हो देख रहा है, (८६) जो आकाश से भी पुराना है, जो परमाणु से भी सूक्ष्म है, जिसके सान्निध्य के कारण जगत् हलचल करता है, (८७) जो सब जगत् को उत्पन्न करता है, जो सब जगत् का जीवन है, जो ऐसा अचिन्त्य है कि उससे शास्त्र का अनुमान भी डरता है, (८८) जैसे दीमक कभी अग्नि नहीं खाती अथवा प्रकाश में कभी अँधेरा नहीं घुस सकता (वैसे ही जिसका अनुमान नहीं हो सकता) जो चर्म-दृष्टि के लिए दिन-दोपहर ही अन्धकार के समान है, (८९) जो निर्मल सूर्यकिरणों की राशि के समान है, ज्ञानियों को जिसका नित्य उदय है और जिसमें अस्तमान का नाम ही नहीं है (९०)

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

—उस परिपूर्ण ब्रह्म को पहचान कर जो मरणकाल प्राप्त होने के समय एकाग्र चित्त से उसका स्मरण करता है, (९१) बाहरतः पद्मासन लगा कर, उत्तराभिमुख बैठकर, हृदय में कर्मयोग का सुख भरे हुए (९२) अन्तर्याम में एकाग्र चित्त से और स्वरूप-प्राप्ति के प्रेम से तत्काल

स्वयं निज में मिलने के लिए (९३) जो अभ्यास से प्राप्त किये हुए योग के द्वारा सुषुम्ना के मध्य मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाता है (९४) जिसके शरीर और चैतन्य का सम्बन्ध ऊपरी ही दिखाई देता है, किन्तु प्राण आकाश में प्रवेश करता है, (९५) और मन की स्थिरता से धैर्य-युक्त होते हुए, भक्ति की भावना से भरा हुआ, योगबल से व्याप्त हो सजधज कर (९६) जो जड़ाजड़ को विलीन करता है, भ्रुकुटि में प्रवेश करता है, और जैसे घण्टानाद घण्टे में ही लीन हो जाता है (९७) अथवा जैसे घट के नीचे ढका हुआ दीपक न जाने कब कहाँ जाता है उसी प्रकार हे पाण्डव! जो शरीर छोड़ देता है (९८) वह केवल परब्रह्म, जिसे परमपुरुष कहते हैं, और जो मेरा निजधाम है वहाँ हो रहता है। (९९)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सब ज्ञानों के सीमारूपी आत्मज्ञान की खानि जो ज्ञानीजन हैं वे जिसे अपनी मति के अनुसार अक्षर कहते हैं, (१००) जो वास्तव में एक ऐसा आकाश है कि प्रचण्ड वायु से नहीं फूटता, अन्यथा, मेघ होता तो कैसे टिक सकता? (१) और जो वस्तु बुद्धिगत होती है वह ज्ञान से परिमित हो जाती है, इसलिए जो वस्तु ज्ञात नहीं होती वह स्वभावतः अक्षर कहाती है, (२) अतएव जो वेदार्थ-ज्ञानी पुरुष हैं वे जिसे अक्षर कहते हैं, जो प्रकृति के परे है—परमात्मारूप है (३) और जो पुरुष विषयों का विष उतार कर सब इन्द्रियों को प्रायश्चित्त देकर देहरूपी वृक्ष के नीचे बैठे हैं, (४) वे इस प्रकार विरक्त हो जिसकी निरन्तर बाट जोह रहे हैं, जो सर्वदा निष्काम पुरुषों का इष्ट है, (५) जिसकी इच्छा के सम्मुख वे बेचारे ब्रह्मचर्यादि संकटों की परवाह नहीं करते और निष्ठुर हो इन्द्रियों को क्षीण कर डालते हैं, (६) ऐसा जो दुर्लभ और अगाध स्थल है, वेद जिसके तीर पर ही डूब कर रह गये हैं, (७) वह पद उन पुरुषों को प्राप्त होता है जो उपर्युक्त रीति से काय को प्राप्त होते हैं। हे पार्थ! यही स्थिति फिर एक बार हम वर्णन करते हैं। (८) अर्जुन ने कहा—हे स्वामी! मैं यही कहने

थाला या इसने में आपने ही सहज कृपा की। तो अब वर्णन कीजिए। (९) परन्तु अत्यन्त सुगम शब्दों से कहिए। तब त्रिभुवन के दीपक श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि तुम्हारा अधिकार क्या हम नहीं जानते? हम संक्षेप से कहेंगे, सुनो। (११०) ऐसा यत्न करना चाहिए कि मन की बाहर की ओर जाने की टेव सर्वथा टूट जाय और वह हृदयरूपी देह में डूबा रहे। (११)

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

परन्तु यह बात तभी हो सकती है जब निरन्तर सब इन्द्रियद्वारों में संयमरूपी किवाड़ बन्द किये गये हों। (१२) तभी मन हृदय में बन्द हो सहज में स्थिर रह सकेगा, जैसे कि हाथ-पैर टूटे हो जायँ तो मनुष्य कभी घर नहीं छोड़ सकता। (१३) इस प्रकार हे पाण्डव! चित्त स्थिर होने पर प्राण को ओंकाररूप बनाकर क्रम क्रम से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए। (१४) वहाँ धारणा के बल से उसे इस प्रकार स्थिर रखना चाहिए कि आकाश में मिला या न मिला मालूम न हो। ओंकार की तीनों मात्राएँ जब तक अर्द्धमात्रा में न विलीन हो जायँ (१५) तब तक वह वायु आकाश में स्थिर रखनी चाहिए। फिर जैसे ऐक्यावस्था के समय ओंकार बिम्ब में ही विराजमान रहता है। (१६)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

वैसे ही जब ओंकार का भी स्मरण बन्द हो जाता है और उसी समय प्राण भी निकल जाता है तब ओंकार के परे जो ब्रह्मानन्द स्वरूप है वही बच रहता है। (१७) अतएव, एक प्रणव ही जिसका नाम है, ऐसा जो एकाक्षर ब्रह्म जो मेरा स्वरूप है उसका स्मरण करते हुए (१८) जो मनुष्य उपयुक्त प्रकार से देह का त्याग करता है वह निश्चय से मुझे प्राप्त कर लेता है, जिसकी प्राप्ति के सिवाय और अधिक कोई लाभ नहीं है। (१९) हे अर्जुन! इस पर यदि तुम यह कहो कि अन्तकाल में यह स्मरण कैसे हो सकता है, (१२०) इन्द्रिय-गणों को कष्ट हो रहा है, जीवन का सुख डूब रहा है, अन्तर-बाह्य

मृत्यु के चिह्न प्रकट हो रहे हैं, (२१) उस समय कौन आसन साध सकता है, कौन इन्द्रियों का निरोध कर सकता है, तथा किसका अन्तःकरण ओंकार का स्मरण कर सकता है ? (२२) ऐसी आशङ्का को मन में स्थान मत दो, क्योंकि नित्य मेरी सेवा करनेवालों का निदान में, मैं ही सेवक बन जाता हूँ। (२३)

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
> मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
> नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

जो पुरुष विषयों को तिलाञ्जलि दे प्रवृत्ति के पाँवों में बेड़ी ठोंक मुझे हृदय में रख भोगते हैं, (२४) पर भोग की अनुमति के कारण क्षुधा आदि की भी भेंट नहीं लेते तो चक्षु आदि रङ्कों की क्या कथा (२५) वे जो निरन्तर एकाग्र हो अन्तःकरण में मुझसे युक्त हो मेरे स्वरूप में ही व्याप्त होकर मेरी भक्ति करते हैं, (२६) देहावसान के समय यदि वे मेरा स्मरण करें और मैं उन्हें प्राप्त न होऊँ तो वह उपासना ही क्या हुई ? (२७) कोई दीन मनुष्य सङ्कट में पड़ा हुआ अकुला कर "दौड़ो दौड़ो" चिल्लावे तो उसका दुःख दूर करने के लिए क्या मैं नहीं दौड़ जाता ? (२८) फिर यदि भक्तों की भी यही दशा हो तो कोई भक्ति की उत्कट कामना ही क्यों करे ! इसलिए ऐसी बात ही मत कहो। (२९) भक्त ज्योंही मेरा स्मरण करते हैं त्योंही, स्मरण करते ही मैं उनके पास पहुँचता हूँ ! परन्तु उनके स्मरण का उपकार भी मेरा जी सह नहीं सकता। (१३०) अतः मैं निज को इस प्रकार ऋणी देखकर उनसे उऋण होने के लिए, भक्तों के देहान्त के समय उनकी सेवा करता हूँ। (३१) उन सुकुमारों को शरीर की विकलतारूप हवा न लग जाय, इसलिए मैं उन्हें आत्मज्ञानरूपी पिंजरे में रखता हूँ। (३२) और उन पर अपने स्मरण की शान्त और ठण्डी छाया करता हूँ। इस प्रकार मैं उन्हें इस सङ्क्षिप्त बुद्धि का स्मरण करा देता हूँ कि "मैं नित्य हूँ।" (३३) इसलिए मेरे भक्तों को शरीरत्याग के समय सङ्कट कभी नहीं होता। अपने सेवकों को मैं अपनी ओर सुख से ले आता हूँ। (३४) उनके बाह्य-शरीर का आच्छादन निकाल कर मिथ्या अहङ्कार की धूल झाड़

कर शुद्ध भावना के द्वारा मैं उन्हें निज में मिला लेता हूँ। (३५) और, भक्तों को भी देह से विशेष तादात्म्य नहीं रहता इसलिए उसे छोड़ते उन्हें कुछ विरह नहीं मालूम पड़ता। (३६) अथवा देहान्त के समय वे यह भी नहीं जानते कि मैं आऊँ और उन्हें निजस्वरूप को ले जाऊँ। क्योंकि वे पहले ही से मुझमें मिले हुए रहते हैं। (३७) उनका अहङ्कार शरीररूपी जल में आत्मारूपी चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में चन्द्रिका का निवास तो चन्द्र में ही रहता है। (३८) इस प्रकार जो निरन्तर मुझसे युक्त हैं उन्हें मैं सर्वदा सुलभ हूँ। इसलिए शरीर छोड़ते समय वे निश्चय से मद्रूप हो जाते हैं। (३९) और जो क्लेशरूपी वृक्षों का बगीचा है, जो आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक तापों की अँगीठी है, जो मृत्युरूपी कौए के लिए मानों बलि डाला गया है, (१४०) जो दारिद्र्य उत्पन्न करनेवाला और मृत्यु के भय को बढ़ानेवाला है, जो सकल दुःखों की पूरा पूँजी है, (४१) जो दुर्मति का मूल है, जो कुकर्म का फल है, जो भ्रान्ति का केवल स्वरूप है, (४२) जो संसार के बैठने का स्थान है, जो विकार का बगीचा है जो सकल रोगों की परोसी हुई थाली है, (४३) जो काल की जूँठी थाली है, जो आशा के शरीर का ढाँचा है, जो स्वाभाविक जन्म-मरण के आवागमन का रास्ता है, (४४) जो भ्रम से भरा हुआ, विकल्प से ढाला हुआ किंबहुना बिच्छुओं की बाँबी (बामी) है, (४५) जो व्याघ्र का खोल है, जो वेश्या का मित्र है, जो विषयों को जानने का उत्तम मन्त्र है, (४६) जो डाकिनी के प्रेम का स्थान है और विषरूपी ठण्डे पानी का घूँट है, जो साहु-चोर का विश्वसनीय सहवासी है, (४७) जो कोढ़ी का आलिङ्गन है, जो महाविषैले सप की मृदुता के समान है, जिसका स्वभाव बहेलिये के गायन जैसा है, (४८) जो शत्रु की पहुनई है, दुर्जन का आदर है, और क्या कहें, जो अनर्थों का समुद्र है, (४९) जो स्वप्न में देखा हुआ स्वप्न अथवा मृगजल का विस्तृत वन अथवा जो धुएँ के रज का ढाला हुआ गगन है (१५०) ऐसा जो यह शरीर है उसे मेरे अपार स्वरूप से एक ही जानेवाले पुरुष पुनः नहीं पाते। (५१)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अन्यथा ब्रह्मत्व का परमपद पानेवाले पुरुष पुनर्जन्म के चक्करों से नहीं बचते पर जैसे मृत मनुष्य का पेट नहीं दुख सकता, (५२) अथवा जागृत होने पर स्वप्नरूपी बाढ़ में कोई नहीं डूब सकता वैसे ही जो मुझे प्राप्त होते हैं वे संसार में लिप्त नहीं होते। (५३) और जगदाकार का शिखर, चिरस्थायियों में श्रेष्ठ, त्रैलोक्यरूपी पर्वत की सीमा जो ब्रह्मभुवन है, (५४) जहाँ एक पहर दिन तक एक इन्द्र का आयुष्य नहीं टिकता और एक दिन में क्रमशः चौदह इन्द्रों की पंक्ति कट जाती है, (५५)

> सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
> रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

जब युगों की हजार चौकड़ियाँ व्यतीत होती हैं तब जहाँ वास्तव में एक दिन होता है तथा हजार चौकड़ियों की एक रात होती है, (५६) जहाँ इतने बड़े दिन-रात होते हैं वहाँ उन (दिन-रात) को वे ही भाग्यवान् देखते हैं जिनका नाश नहीं होता—वे स्वर्गस्थ चिरजीव हैं। (५७) वहाँ और दूसरे देवताओं की प्रतिष्ठा का विशेष वर्णन क्या किया जाय? मुख्य इन्द्र की ही दशा देखो कि दिन में चौदह हो जाते हैं। (५८) ब्रह्मा के आठों पहरों को जो अपने नेत्रों से देख रहे हैं उन्हें अहोरात्रविद् कहते हैं। (५९)

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
> भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
> रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

उस ब्रह्मभुवन में जब दिन निकलता है उस समय निराकार में से विश्व इतनी बाहुल्यता से प्रकट होता है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती। (१६०) पश्चात् जब दिन के चारों प्रहर निकल जाते हैं तब यह आकार-समुद्र सूखने लगता है और फिर प्रातःकाल होते ही वैसा का वैसा भर जाता है। (१६१) शरद्काल के आरम्भ में मेघ जैसे आकाश में विलीन हो जाते हैं और ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जैसे फिर प्रकट होते हैं, (१६२) वैसे ही ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में यह

भूतसृष्टि का समुदाय प्रकट होकर हजार वर्षों की अवधि पूर्ण होने तक बना रहता है। (६३) पश्चात् जब रात्रि का समय होता है तब फिर अव्यक्त में लीन हो जाता है और एक छोटा सा युगसहस्र व्यतीत होने पर फिर वैसा ही प्रकट होता है। (६४) कहने का मतलब यह कि जगत् का प्रलय और उत्पत्ति इस ब्रह्मभुवन के दिन रात में ही होती है। (६५) उसकी श्रेष्ठता इतनी है कि वह सृष्टि के बीज का भाण्डार है और जन्म-मरण के माप की सीमा है। (६६) और हे धनुर्धर ! यह त्रैलोक्य तो उस ब्रह्मभुवन का ही विस्तार है सो ब्रह्मा का दिन उदय होते ही पसारा रचा जाता है (६७) पश्चात् रात्रि का समय आते ही आप ही आप लीन हो जाता है, अर्थात् स्वभावतः जहाँ का तहाँ साम्यता को प्राप्त हो जाता है। (६८) जैसे वृक्षत्व बीजत्व को प्राप्त हो अथवा मेघ गगनरूप हो जाय वैसे ही अनेकत्व जहाँ समा जाता है उसे साम्य कहते हैं। (६९)

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

तब न्यूनाधिक भाव कुछ नहीं दिखाई देते। इसलिए पदार्थ मात्र का नाम भी नहीं रहता। जैसे दूध दही हो जाय तो उसका नामरूप नहीं रहता (२७०) वैसे ही आकार के नाश के संग जग के जगत्व का भी नाश हो जाता है। परन्तु जहाँ से उत्पन्न हुआ था वहाँ वह ज्यों का त्यों बना रहता है। (७१) अतः उसे स्वभावतः अव्यक्त कहते हैं और जब वह आकार को प्राप्त होता है तब उसी को व्यक्त कहते हैं। ये नाम तो एक दूसरे के सूचक हैं वास्तव में हैं दोनों ही नहीं। (७२) जब चाँदी गलाई जाती है तब उसके आकार को पासा कहते हैं और फिर जब उसके अलङ्कार बनाये जाते हैं तब वह घनाकार नष्ट हो जाता है। (७३) ये दोनों बातें जैसी एक ही साक्षीभूत चाँदी में होती हैं, वैसे ही व्यक्त और अव्यक्त दोनों विचार ब्रह्म के ही हैं। (७४) परन्तु वह ब्रह्म न व्यक्त है न अव्यक्त, न नित्य है न विनाशी, किन्तु इन दोनों भावों के परे अनादिकाल से सिद्ध है। (७५) वह विश्वमय बना हुआ है, परन्तु जैसे अक्षर मिटा देने से अर्थ नहीं मिटाया जा सकता, वैसे ही विश्व का नाश होने से उसका नाश नहीं होता। (७६) देखो, तरंगें उत्पन्न होती और विलीन होती हैं परन्तु जल

अकम्पड बना रहता है, वैसे ही ब्रह्म जो अविनाशी है वह भूतमात्रा के अभाव से नष्ट नहीं होता। (७७) अथवा अलङ्कार गला देने से जैसे सुवर्ण नहीं गल जाता वैसे ही जीवाकार को मृत्यु होने पर भी जी अमर रहता है, (७८)

> अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
> यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
> पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
> यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

जिसे कौतुक से अव्यक्त कह देने से उसकी स्तुति नहीं होती, क्योंकि वह मन और बुद्धि के हाथ ही नहीं आता (७९) आकार को प्राप्त होने से भी जिसकी निराकारता नहीं बिगड़ती और आकार के लोप से जिसकी नित्यता का भी नाश नहीं होता (१८०) अतएव जिसे अक्षर कहते हैं, और ऐसे वर्णन से ही जिसका ज्ञान हो सकता है, जिसके परे कुछ विस्तार नहीं दिखाई देता, उसे परमगति कहते हैं। (८१) वह सम्पूर्ण इस देहरूपी नगर में सोते हुए पुरुष के समान है, क्योंकि वह न कोई व्यापार कराता है न करता है। (८२) यों तो जो शरीर के व्यापार हैं उनमें से एक भी बन्द नहीं रहता। दसों इन्द्रियरूपी मार्ग चलते ही रहते हैं। (८३) विषयरूपी पैंठ सुलकर मन का चौरस्ता तैयार होता है और वहाँ जीव को सुखदुःखरूपी उत्तम हिस्सा मिलता है। (८४) परन्तु जैसे राजा सुख से सोया हो तथापि देश के व्यापार बन्द नहीं होते और प्रजा अपने अपने इच्छानुसार व्यापार करती रहती है, (८५) वैसे ही बुद्धि का जानना, मन का सङ्कल्प-विकल्प करना इन्द्रियों का क्रिया करना, वायु का स्फुरण, (८६) आदि सब शरीरक्रियाएँ किसी के चलाये बिना ही मानों यों ही चलती रहती हैं। जैसे कि सूर्य्य किसी को नहीं चलाता तथापि लोग उसके प्रकाश में चलते रहते हैं (८७) वैसे ही हे अर्जुन! इस शरीर रूपी पुर से मानों सोते रहने के कारण जिसे पुरुष कहते हैं, (८८) और प्रकृतिरूपी पतिव्रता के एकपत्नी-व्रत में निमग्न रहने के कारण भी जो पुरुष कहा जा सकता है, (८९) वेद की व्यापक बुद्धि जिसका आँगन भी नहीं देखती, जो आकाश का भी आच्छादन

है (९०) ऐसा जान कर योगी जिसे परात्पर कहते हैं, जो एकनिष्ठता का पर ओभता आ पहुँचता है, (९१) काया, वाचा, और मन से दूसरी बात न जाननेहारे एकनिष्ठ भक्तों का जो उत्तम पका हुआ खेत है (९२) हे पाण्डव! जो इस त्रैलोक्य को ही सत्य भाव से पुरुषोत्तम माननेहारे आस्तिक पुरुष का आश्रय है; (९३) जो निरहङ्कारों की महत्ता का रूप है जो निर्गुणों का ज्ञान है, जो निस्पृह पुरुषों का सुख का राज्य है, (९४) जो सन्तोषीजनों के लिए परोसी हुई थाली है, जो संसार की चिन्ता न करनेहारे शरणागतों की माता है जहाँ आने के लिए भक्ति को सरल मार्ग मिल जाता है, (९५) इस प्रकार एक एक बात कह कर व्यर्थ क्या तूल दीजूँ परन्तु हे धनञ्जय! जिस पद को जाते ही मनुष्य तद्रूप बन जाता है, (९६) जैसे ठण्डी हवा की लहर से गरम पानी ठण्डा हो जाता है, अथवा सूर्य्य के सामने जाने से अन्धकार प्रकाश बन जाता है, (९७) वैसे ही हे पाण्डव! संसार जिस गाँव को जाते ही सम्पूर्ण मोक्षमय हो रहता है; (९८) जैसे अग्नि में डाला हुआ ईंधन अग्निमय हो जाता है और फिर काष्ठत्व सर्वथा जुदा नहीं हो सकता (९९) अथवा जैसे कितनी ही बुद्धिमत्ता की चेष्टा की जाय तथापि शक्कर की फिर ईख नहीं बन सकती (२००) लोहे का सुवर्ण बन जाना एक पारस के किये हो सकता है, परन्तु ऐसी और कौनसी वस्तु है जो उस नष्ट लोहत्व को फिर से बना दे? (१) अतएव जैसे घी का फिर सर्वथा दूध नहीं बन सकता वैसे ही जिसे प्राप्त करने पर पुनर्जन्म नहीं होता (२) वह मेरा परम और सच्चा निजधाम है। यह हम तुमसे अपना आन्तरिक मर्म प्रकट करते हैं। (३)

> यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
> प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

इस और एक रीति से सुगमता से जान सकते हैं। देह छोड़ते समय योगी जिसमें मिल जाते हैं उसी को मेरा शुद्ध स्वरूप जानो। (४) परन्तु यदि, अकस्मात् ऐसा हो कि असमय में देहत्याग हो तो फिर देह धारण करना अवश्य होता है। (५) किन्तु शुद्ध काल में देह छोड़ने से देहान्त होते ही वापरे ब्रह्म हो जाते हैं, अन्यथा अनवसर में देह छोड़ने से पुनः जन्म लेते हैं। (६) इस प्रकार जो मनुष्यता और

अखण्ड बना रहता है वैसे ही ब्रह्म जो अविनाशी है वह भूतमात्रा के अभाव से नष्ट नहीं होता। (७७) अथवा अलङ्कार गला देने से जैसे सुवर्ण नहीं गल जाता वैसे ही जीवाकार की मृत्यु होने पर भी जो अमर रहता है, (७८)

> अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
> यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
> पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
> यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

जिसे कौतुक से अव्यक्त कह देने से उसकी स्तुति नहीं होती, क्योंकि वह मन और बुद्धि के काम ही नहीं आता (७९) आकार को प्राप्त होने से भी जिसकी निराकारता नहीं बिगड़ती और आकार के लोप से जिसकी नित्यता का भी भङ्ग नहीं होता, (१८०) अतएव जिसे अक्षर कहते हैं, और ऐसे वर्णन से ही जिसका ज्ञान हो सकता है, जिसके परे कुछ विस्तार नहीं दिखाई देता, उसे परमगति कहते हैं। (८१) वह सम्पूर्ण इस देहरूपी नगर में सोते हुए पुरुष के समान है, क्योंकि वह न कोई व्यापार कराता है न करता है। (८२) यों तो जो शरीर के व्यापार हैं उनमें से एक भी बन्द नहीं रहता। दसों इन्द्रियरूपी मार्ग चलते ही रहते हैं। (८३) विषयरूपी पैंठ खुलकर मन का चौरस्ता तैयार होता है और वहाँ जीव को सुखदुःखरूपी उत्तम हिस्सा मिलता है। (८४) परन्तु जैसे राजा सुख से सोता हो तथापि देश के व्यापार बन्द नहीं होते और प्रजा अपने अपने इच्छानुसार व्यापार करती रहती है, (८५) वैसे ही बुद्धि का जानना, मन का सङ्कल्प-विकल्प करना इन्द्रियों का क्रिया करना, वायु का स्फुरण, (८६) आदि सब शरीरक्रियायें किसी के चलाये बिना ही भली भाँति चलती रहती हैं। जैसे कि सूर्य किसी को नहीं चलाता तथापि लोग उसके प्रकाश में चलते रहते हैं (८७) वैसे ही हे अर्जुन! इस शरीररूपी पुर से मानों सोते रहने के कारण जिसे पुरुष कहते हैं, (८८) और प्रकृतिरूपी पतिव्रता के एकपत्नी-व्रत में निमग्न रहने के कारण भी जो पुरुष कहा जा सकता है, (८९) वेद की व्यापक बुद्धि जिसका आँगन भी नहीं देखती जो आकाश का भी आच्छादन

है। (२२) इसमें अग्नि पहली सीढ़ी है, ज्योतिर्मय दूसरी दिन तीसरी, शुक्लपक्ष चौथी, (२३) और उत्तरायण के छः मास ऊपर का जीना है। इससे योगी सायुज्यतारूपी भुवन में पहुँच जाते हैं। (२४) इसे उत्तम काल जानो। इसे अर्चिरादि, अर्थात् सूर्यकिरणद्वारा जाने का मार्ग, कहते हैं। अब जो अयोग्य समय है उसका भी प्रसंग से बयान करते हैं। (२५)

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

मृत्यु के समय वात और कफ की अधिकता से अन्तःकरण अन्धकार से भर जाता है, (२६) सब इन्द्रियाँ लकड़ी बन जाती हैं, स्मृति भ्रान्ति में डूब जाती है, मन पागल हो जाता है, प्राण घुट जाते हैं; (२७) अग्नि का अग्नित्व निकल जाता है, और सब धूममय हो जाता है जिससे शरीर की चेतना प्रकट होना बन्द हो जाता है, (२८) जैसे चन्द्र के आगे घन और सजल मेघ घिर आवें तो न अँधेरा रहता है न उजाला किन्तु कुछ धुँधला प्रकाश पड़ता है (२९) वैसे ही जीवित ऐसा स्तब्ध हो जाता है कि न मृत्यु होती है और न चेतना ही रहती है और आयु मृत्युमर्यादा का समय देखती रहती है। (३०) जब मन बुद्धि और इन्द्रियों के चहुँ ओर धूम के समूह की ऐसी भीड़ लग जाती है तब जन्म भर कष्ट से प्राप्त किये हुए सब लाभों का अन्त हो जाता है। (३१) हाथ का ही लाभ चला जाता है तो दूसरे लाभों की बात ही क्या! मृत्यु के समय ऐसी दशा हो जाती है। (३२) इस प्रकार तो देह के भीतर की स्थिति हो, और बाहर कृष्ण पक्ष हो, रात हो, और दक्षिणायन के छः महीनों में से कोई महीना हो, (३३)—ऐसे पुनर्जन्म के सम्पूर्ण साधन जिसकी मृत्यु के समय इकट्ठे मिल जाते हैं उसे आत्मप्राप्ति की कथा कैसे सुनाई दे सकती है? (३४) ऐसी जिसकी मृत्यु होती है उसे योगी होने के कारण चन्द्रलोक तक तो जाना ही पड़ता है, परन्तु वहाँ से पलट कर वह फिर संसार में जन्म लेता है। (३५) हे पाण्डव! हमने जो अयोग्य काल कहा वह यही है और यहाँ जन्म-मरणरूपी गाँव का धूममार्ग है। (३६) दूसरा जो अर्चिरादि मार्ग है वह बसा हुआ और सुगम है सच ही उत्तम और सुगम मोक्ष तक बना हुआ है। (३७)

पुनर्जन्म हो अवसर हैं उनका हम तुमसे प्रसङ्गानुसार वर्णन करते हैं। (७) हे सुभट! सुनो, मृत्यु का मसा चढ़ते ही पाँचों तत्त्व अपने अपने मार्ग से निकल जाते हैं। (८) ऐसा प्रयाणकाल आते समय बुद्धि को भ्रम न ग्रस ले, स्मरण अन्धा न हो जाय, मन मरा न हो जाय, (९) सम्पूर्ण प्राणसमुदाय मरने के समय चङ्गा दिखाई दे और, अनुभवित ब्रह्मभाव को खिपटाये रहे, (२१०) इस प्रकार सावधानता-सहित सायुज्यता की प्राप्ति और मरणपर्यन्त का निर्वाह तभी हो सकता है, जब अग्नि का सहाय हो (११) देखो, दीपक की ज्योति यदि हवा अथवा पानी से बुझ जाय तो अपनी दृष्टि रहते भी क्या उसे देख सकती है? (१२) वैसे ही मरण-समय में वायुप्रकोप से जब अन्तर्बाह्य देह कफ से व्याप्त हो जाता है और अग्नि का तेज बुझ जाता है, (१३) तब प्राण के प्राण नहीं रहते तो बुद्धि रहकर क्या करेगी? एवं अग्नि के बिना देह में चेतना नहीं रह सकती। (१४) अजी, शरीर में से यदि अग्नि चली जाय तो वह शरीर नहीं, गीली कीचड़ ही है। ऐसी अवसर पर योगी वृथा अँधेरे में अपना अन्त का समय खोजते रहते हैं। (१५) और पिछली सब बातों का स्मरण किया जाय अथवा देहत्याग कर स्वरूप में मिल जाने की चेष्टा की जाय, (१६) तो उस शरीर के कफ की कीचड़ में चेतना ही डूब जाती है और अगली पिछली बातों का स्मरण ही नष्ट हो जाता है। (१७) इस प्रकार, जैसे पृथ्वी में रक्खा हुआ द्रव्य दिखाई न देते ही हाथ का दीपक बुझ जाय वैसे ही पहला किया हुआ अभ्यास मृत्यु आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है। (१८) अब यह सब रहने दो। यह जान लो कि ज्ञान का मूल अग्नि है और मृत्यु के समय सम्पूर्ण बल अग्नि का ही रहता है। (१९)

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

हृदय में अग्नि की ज्योति का प्रकाश हो बाहर शुक्लपक्ष हो, और दिन हो, और उत्तरायण के छः महीने में से कोई महीना हो, (२२०) ऐसा सब बातों का सुयोग पाकर जो ब्रह्मवित् देह छोड़ते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। (२१) हे धनुर्धर! सुनो, इस काल में इतनी सामर्थ्य है। इस प्रकार मोक्ष को पहुँचने का यह सरल मार्ग

है। (२२) इसमें अग्नि पहली सीढ़ी है, ज्योतिर्मय दूसरी दिन तीसरी, शुक्लपक्ष चौथी, (२३) और उत्तरायण के छः मास ऊपर का जीना है। इससे योगी सायुज्यतारूपी भुवन में पहुँच जाते हैं। (२४) इसे उत्तम काल जानो। इसे अर्चिरादि अर्थात् सुषुम्नाद्वारा जाने का मार्ग, कहते हैं। अब जो अयोग्य समय है उसका भी प्रसंग से बयान करते हैं। (२५)

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

मृत्यु के समय वात और कफ की अधिकता से अन्तःकरण अन्धकार से भर जाता है, (२६) सब इन्द्रियाँ जकड़ी बन जाती हैं, स्मृति भ्रान्ति में डूब जाती है, मन पागल हो जाता है, प्राण घुट जाते हैं; (२७) अग्नि का अग्नित्व निकल जाता है, और सब धूममय हो जाता है जिससे शरीर की चेतना प्रकट होना बन्द हो जाता है, (२८) जैसे चन्द्र के आगे घन और सजल मेघ घिर आवें तो न अंधेरा रहता है न उजेला किन्तु कुछ धुँधला प्रकाश पड़ता है (२९) वैसे ही जीवित ऐसा स्तब्ध हो जाता है कि न मृत्यु होती है और न चेतना ही रहती है, और आयु मृत्युमर्य्यादा का समय देखती रहती है। (३१०) जब मन, बुद्धि और इन्द्रियों के चहुँ ओर धूम के समूह की ऐसी भीड़ लग जाती है तब जन्म भर कष्ट से प्राप्त किये हुए सब कामों का अन्त हो जाता है। (३१) हाथ का ही लाभ चला जाता है तो दूसरे लाभों की बात ही क्या! मृत्यु के समय ऐसी दशा हो जाती है। (३२) इस प्रकार तो देह के भीतर की स्थिति हो, और बाहर कृष्ण पक्ष हो, रात हो और दक्षिणायन के छः महीनों में से कोई महीना हो, (३३)—ऐसे पुनर्जन्म के सम्पूर्ण साधन जिसकी मृत्यु के समय इकट्ठे मिल जाते हैं उसे ब्रह्मप्राप्ति की कथा कैसे सुनाई दे सकती है? (३४) ऐसी जिसकी मृत्यु होती है उसे योगी होने के कारण चन्द्रलोक तक तो जाना ही पड़ता है, परन्तु वहाँ से पलट कर वह फिर संसार में जन्म लेता है। (३५) हे अर्जुन! हमने जो अयोग्य काल कहा वह यही है और यहाँ जन्म-मरणरूपी गाँव का धूममार्ग है। (३६) दूसरा जो अर्चिरादि मार्ग है वह बसा हुआ और सुगम है साथ ही उत्तम और सुगम मोक्ष तक बना हुआ है। (३७)

पुनर्जन्म जो अवसर है उसका हम तुमसे प्रसङ्गानुसार वर्णन करते हैं। (७) हे सुभट! सुनो, मृत्यु का नशा चढ़ते ही पाँचों तत्त्व अपने अपने मार्ग से निकल जाते हैं। (८) ऐसा प्रयाणकाल आते समय बुद्धि को भ्रम न ग्रस ले स्मरण अन्धा न हो जाय, मन नष्ट न हो जाय, (९) सम्पूर्ण प्राणसमुदाय मरने के समय जो दिखाई दे और, अनुभव ब्रह्मभाव को छिपटाये रहे, (२१०) इस प्रकार सावधानता-सहित सायुज्यता की प्राप्ति और मरणपर्यन्त का निर्वाह तभी हो सकता है, जब अग्नि का सहाय हो (११) देखो, दीपक की ज्योति यदि हवा अथवा पानी से बुझ जाय तो अपनी दृष्टि रहते भी क्या उसे देख सकती है? (१२) वैसे ही मरण-समय में वायुप्रकोप से जब अन्तर्बाह्य देह कफ से व्याप्त हो जाता है और अग्नि का तेज बुझ जाता है, (१३) तब प्राण के प्राण नहीं रहते तो बुद्धि रहकर क्या करेगी? एवं अग्नि के बिना देह में चेतना नहीं रह सकती। (१४) अजी, शरीर में से यदि अग्नि चली जाय तो वह शरीर नहीं, गीली कीचड़ ही है। ऐसे अवसर पर योगी वृथा अँधेरे में अपना अन्त का समय खोजते रहते हैं। (१५) और पिछली सब बातों का स्मरण किया जाय अथवा देहत्याग कर स्वरूप में मिल जाने की चेष्टा की जाय, (१६) तो उस शरीर के कफ की कीचड़ में चेतना ही डूब जाती है और अगली पिछली बातों का स्मरण ही नष्ट हो जाता है। (१७) इस प्रकार, जैसे पृथ्वी में रक्खा हुआ द्रव्य दिखाई न देते ही हाथ का दीपक बुझ जाय वैसे ही पहला किया हुआ अभ्यास मृत्यु आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है। (१८) अब यह सब रहने दो। यह जान लो कि ज्ञान का मूल अग्नि है और मृत्यु के समय सम्पूर्ण बल अग्नि का ही रहता है। (१९)

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

हृदय में अग्नि की ज्योति का प्रकाश हो बाहर और दिन हो, और उत्तरायण के छः महीने में से कोई (२२०) ऐसा सब बातों का सुयोग पाकर जो प्रयाण करते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। (२१) हे धनुर्धर! इसमें इतनी सामर्थ्य है। इस प्रकार मोक्ष को पहुँचने का

तब जैसा का तैसा पानी हो जाता है, (४६) तरङ्गों के पैदा होने से न उनका जन्म होता है और न उनके लोप से उसका अन्त होता है" इस प्रकार विचार कर जो देहधारी शरीर रहते हुए भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं (२५०) उनमें शरीर का कुछ नाम भी नहीं रहता, तो फिर उन्हें मृत्यु कब और कैसे हो सकती है? (५१) और उन्हें मार्ग खोजने की भी क्या आवश्यकता है? देश काल, इत्यादि सब बातें ये स्वयं ही हों तो कौन कहाँ से कहाँ जावेगा? (५२) अजी, जब घट फूट जाता है तब वहाँ के आकाश की गति सरल ही होती है, और ऐसी गति हो तभी वह गगन में मिल सकता है अन्यथा नहीं। (५३) और भी देखो, सच तो यह है कि नाश आकार का होता है और आकाश तो घटत्व के पहले से ही गगन में बना है। (५४) इस प्रकार के ज्ञान के सुख से उन लोगों के योगियों को योग्यायोग्य मार्ग ढूँढने का संकट नहीं पड़ता। (५५) इसलिए हे पाण्डुसुत! तुम्हें योगयुक्त होना चाहिए। उससे साम्यता सर्वदा आप ही आप बनी रहेगी। (५६) फिर चाहे जहाँ, चाहे जिस काल में, देह रहे अथवा जावे, परन्तु नित्य बन्धरहित ब्रह्मभाव में कुछ अन्तर नहीं होता। (५७) ऐसा योगी कल्प के आदि में जन्मों के वश नहीं होता, कल्पान्त की मृत्यु में डूब नहीं जाता, और बीच में स्वर्ग तथा संसार की सुन्दरता में भी नहीं फँसता। (५८) यह ज्ञान जिस योगी को होता है वही इस ज्ञानमार्ग की सरलता जानता है। क्योंकि वह विषयपथमार्गों को लातों से ठुकरा कर सीधा निजरूप को पहुँचता है। (५९) इन्द्रादि देवों का राज्य जिन सर्वेश्वसुखों के कारण प्रसिद्ध है उन्हें वह त्याज्य समझ कर दूर फेंक देता है। (२६०)

> वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
> दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
> अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
> योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

जो पुण्य वेद के अध्ययन से प्राप्त होता है अथवा यज्ञरूपी रत्न में पकता है, अथवा तप, दान इत्यादि बातों से भिन्न सर्वस्व का लाभ होता है (६१) उस सम्पूर्ण पुण्य का बनीचा यद्यपि फल की

संसार से भर जाय तो भी वह उस निर्मल परब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकता। (६२) जो सुख नित्यानन्द की उपमा की तुलना से कुछ कम नहीं दिखाई देता; और देखो, जिस सुख के लिए वेद, तप इत्यादि साधन हैं, (६३) जो न कभी विकृत होता है और न समाप्त होता है; या मांगनेहारे की इच्छा के अनुसार पूर्ति करता है, और जो महासुख का सम्बन्धी भ्राता ही है, (६४) दृष्टि को सुखकारी होने के कारण जहाँ प्रारब्ध जा बैठता है, जो सौ यत्न करने से भी साध्य नहीं होता, (६५) उसे योगीश्वर—जो दिव्यदृष्टि की युक्ति के द्वारा सूक्ष्म से—देखते हैं तो वह उन्हें हाथके मोक्ष सा दिखाई देता है। (६६) हे किरीटी! उस सुख की सीढ़ी बनाकर योगी परब्रह्म-पद पर चढ़ते हैं। (६७) जो चराचर-जन्तुओं के एकभाग्य हैं, जो महादेव और शंकर द्वारा पूजनीय हैं, जो योगियों के उपभोग करने योग्य भोग-धन हैं, (६८) जो सकल कलाओं की कला हैं, जो परमानन्द की मूर्ति हैं, जो जगत् के जीव के जीवन हैं, (६९) जो सर्वज्ञता के हृदय हैं, जो यादवों के कुल के दीपक हैं उन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार निरूपण किया। (२७०) ज्ञानदेव कहते हैं कि यह कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं। वही कथा और आगे सुनिए। (२७१)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां अष्टमोऽध्यायः ॥

नवाँ अध्याय

सुनिए, मैं स्पष्ट प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि आप इस कथा की ओर केवल अवधान ही दें, तो सब सुखों के पात्र हो जायेंगे। (१) यह बात मैं गर्व से नहीं कहता। आप सर्वज्ञों के समाज में, ध्यान देने के लिए, मेरी प्रेम की विनती है। (२) क्योंकि यदि आप जैसे श्रीमान् मैहर हों तो हठ करनेवालों के हठ भी पूर्ण होते हैं और मनोरथों के भी मनोरथ सफल हो जाते हैं (३) आपकी दृष्टि की आर्द्रता से प्रसन्नतारूपी भागीचों में मानों बहार आई है और मैं जो थका हुआ हूँ सो वहाँ की छाया देखकर उसमें लोटपोट हो रहा हूँ। (४) हे प्रभु! आप सुखरूपी अमृत के दह हैं इसलिए हमें मनमानी मौज करने का लाभ हो सकता है। परन्तु यदि मैं ढिठाई करते डरूँ तो शान्तता कैसे हो? (५) बालक के तोतले शब्दों का अथवा टेढ़े मेढ़े चलने का कुतूहल कर माता आनन्दित होती है, (६) अतएव किसी प्रकार मुझ पर आप सन्तों का प्रेम हो, इस बड़ी उत्कण्ठा से मैं आपसे प्रेम की ढिठाई कर रहा हूँ। (७) अन्यथा आप जैसे सर्वज्ञ श्रोताओं के सामने मेरी निरूपण करने की योग्यता है ही क्या? सरस्वती के पुत्र को क्या किसी दूसरे के पास पाठ लेकर विद्या सीखनी पड़ती है? (८) देखिए, जुगनू कितना ही बड़ा हो तथा कुछ भी करे वह सूर्य के प्रकाश में नहीं चमक सकता। ऐसी कौनसी रसोई है जो अमृत की थाली में परोसने के योग्य हो? (९) अजी, चन्द्रमा पर पङ्खा हिलाना, अथवा नाद को गाना सुनाना, अथवा अलङ्कारों को गहना पहनाना, ये बातें कैसे हो सकती हैं? (१०) कहिए, सुगन्ध स्वयं और क्या सूँघ सकता है? समुद्र और कहाँ नहा सकता है? अथवा ऐसा और कौनसा विस्तार है कहाँ यह सम्पूर्ण आकाश समा जाय? (११) इसी प्रकार ऐसी वक्तृता कौन कर सकता है जिससे आपके अवधान की तृप्ति हो, जिसे आप उत्तम कहें, जिससे आपको आनन्द हो? (१२) परन्तु विश्व को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की आरती क्या हाथ की बनाई बत्तियों से नहीं की जाती? अथवा समुद्र को भी क्या

चुल्लू भर पानी से अर्घ्य नहीं दिया जाता ? (१३) हे प्रभु ! आप शंकर की मूर्ति हैं और मैं दुर्बल आपसे प्रेम की याचना करता हूँ, इसलिए मेरे शब्द यद्यपि निःसार ही ऐसे क्यों न हों तथापि आप उनको स्वीकार करेंगे। (१४) बालक पिता की थाली में जा बैठे और पिता को ही जिमाने लगे तो पिता आनन्द से तुरन्त मुँह आगे करता है, (१५) वैसे ही मैं बाल-बुद्धि से यदि आपसे विनोद करता हूँ तथापि प्रेम का गुण ऐसा है कि उससे आपको सन्तोष हो। (१६) आपने अपनाये हुए का आप सन्तों को बहुतेरा प्रेम है इसलिए आपको मेरी ढिठाई का बोझा नहीं मालूम होता। (१७) अजी, बालक के मुँह का झटका लगने से ही माता और अधिक पन्हाती है। अत्यन्त प्रेमी मनुष्य के क्रोध से प्रेम और दुगुना बढ़ता है। (१८) अतएव मुझ बालक के वचनों से आपकी निद्रित कृपालुता प्रकट हुई है और यह जानकर ही मैंने बोलने की चेष्टा की है। (१९) अन्यथा क्या चाँदनी पाक में पकाई जा सकती है, अथवा क्या वायु के चलने के लिए कोई मार्ग बनाया जा सकता है, ? अजी, आकाश को कोई खोल में कैसे रख सकता है। (२०) सुनिए, पानी पतला नहीं किया जा सकता मक्खन में मथानी नहीं डाली जा सकती। वैसे ही जिसे देखकर व्याख्यान लज्जित हो लौट जाता है, (२१) और रहने दीजिए, स्वयं वेद निःशब्द ही जिस खाट पर शान्त हो सोते हैं, उस गीतार्थ को भाषा में कहने की योग्यता कैसे हो सकती है ? (२२) परन्तु मुझे यह भी धैर्य इसी एक आशा से हुआ है कि इस धैर्य द्वारा आप जैसों का प्रेमास्पद बनूँ। (२३) अतएव, अब चन्द्र से भी शीतल, अमृत से भी अधिक जीवनदाता जो आपका अवधान है उससे मेरे मनोरथों की तृप्ति कीजिए। (२४) क्योंकि जब आपकी दृष्टि की वर्षा हो तभी मेरी बुद्धि में सफलतारूपी सम्पत्ति पकेगी नहीं तो यदि आप उदासीन रहें तो मेरे ज्ञान का अंकुर सूख जावेगा। (२५) सुनिए, वक्तृत्व को यदि अवधानरूपी चारा मिले तो साधारणतः अक्षरों को सिद्धान्तरूपी डोरें फूटती हैं, (२६) उसमें शब्द की बाढ़ जोड़ता है, एक अभिप्राय से दूसरा उत्पन्न होता जाता है, और बुद्धि पर भावरूपी पुष्पवृष्टि होती रहती है। (२७) यदि संवादरूपी अनुकूल वायु बहे तो हृदयाकाश में वक्तृत्वशक्ति भर जाती है, परन्तु यदि श्रोता अनवधानी हो तो क्या बनाया

रस गल जाता है। (२८) अभी चन्द्रकान्तमणि पसीजती है, परन्तु उसकी युक्ति चन्द्र के ही हाथ है। अतः श्रोता के बिना वक्ता वक्ता ही नहीं है। (२६) परन्तु चावलों को क्या खानेवाले से यों विनती करनी पड़ती है कि हमारा अङ्गीकार कीजिए? पुतलियों को क्या नचानेवाले की प्रार्थना करनी पड़ती है? (३०) क्या वह पुतलियों के उपकारार्थ उन्हें नचाता है, अथवा अपनी क्रिया की कला बढ़ाता है? अतएव हमें इस पचड़े से कार्य ही क्या है? (३१) तब श्रीगुरु ने कहा, कुछ हानि नहीं। तुम्हारी सम्पूर्ण स्तुति हमें स्वीकृति हुई, अब श्रीकृष्णार्जुन का निरूपण सुनाओ। (३२) तब निवृत्तिदास आनन्द से 'बहुत अच्छा' कह कर कहने लगा, सुनिए, श्रीकृष्ण ने कहा—(३३)

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

हे अर्जुन! यह आदि-बीज जो मेरे हृदय के अन्तःकरण का गुह्य है सो मैं तुम्हें फिर बतलाता हूँ। (३४) यदि तुम सोचते हो कि इस प्रकार मैं अपने हृदय का हृदय फाड़ कर यह गुह्य क्यों प्रकट कर रहा हूँ, (३५) तो हे बुद्धिमान्! सुनो। तुम केवल आस्था की मूर्ति हो और हमारे किये हुए निरूपण की अवज्ञा करना नहीं जानते (३६) इसलिए हम चाहते हैं कि हमारा गुह्य चाहे प्रकट हो जाय न कहने की बात भी चाहे कह दी जाय, पर हमारे हृदय की वस्तु तुम्हारे हृदय में अवश्य आ बसे। (३७) अभी थनों में दूध भरा रहता है सही, पर उसका मीठा आस्वाद थनों को ही नहीं मिलता। यदि एकनिष्ठ प्रेम करनेहारा वत्स मिले तो गौ उसी की इच्छा पूर्ण करती है। (३८) कोठे में से बीज निकाल कर यदि तैयार की हुई भूमि में बोया जाय तो क्या वह बिखरा बिगरा कहा जा सकता है? (३९) इसलिए यदि कोई प्रसन्न अन्तःकरण का हो, और शुद्धबुद्धि हो, निन्दा करनेहारा न हो, और एकनिष्ठ प्रेम करनेहारा हो, तो गुह्य भी आनन्द से उस पर प्रकट कर देना चाहिए। (४०) सम्प्रति इन गुणों से युक्त तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है, इसलिए यद्यपि यह हमारा गुह्य है तथापि तुमसे

चुल्लू भर पानी से अर्घ्य नहीं दिया जाता ? (१३) हे प्रभु ! आप दीप की मूर्ति हैं और मैं दुर्बल आपसे प्रेम की याचना करता हूँ, इसलिए मेरे शब्द यद्यपि निगुरणी ऐसे क्यों न हों तथापि आप उनको स्वीकार करेंगे। (१४) बालक पिता की थाली में जा बैठे और पिता को ही खिलाने लगे तो पिता आनन्द से तुरन्त मुँह आगे करता है, (१५) वैसे ही मैं बाल-बुद्धि से यदि आपसे विनोद करता हूँ तथापि प्रेम का गुण ऐसा है कि उससे आपको सन्तोष हो। (१६) अपने अपनाये हुए का आप सन्तों को बहुतेरा प्रेम है इसलिए आपको मेरी ढिठाई का बोझा नहीं मालूम होता। (१७) स्वामी, बालक के मुँह का सन्तप लगाते ही माता और अधिक पन्हाती है। अत्यन्त प्रेमी मनुष्य के कोप से प्रेम और दुगुना बढ़ता है। (१८) अतएव मुझ बालक के वचनों से आपकी निद्रित दयालुता प्रकट हुई है और यह जान कर ही मैंने बोलने की चेष्टा की है। (१९) अन्यथा क्या चाँदनी पात्र में पकाई जा सकती है, अथवा क्या वायु के चलने के लिए कोई मार्ग बनाया जा सकता है, ? स्वामी, आकाश को कोई बोझ में कैसे रख सकता है। (२०) सुनिए पानी पतला नहीं किया जा सकता माखन में मथानी नहीं डाली जा सकती। वैसे ही जिसे देखकर व्याख्यान लज्जित हो लौट जाता है, (२१) और रहने दीजिए, स्वयं वेद निःशब्द ही जिस खाट पर शान्त हो सोते हैं, उस गीतार्थ को भाषा में कहने की योग्यता कैसे हो सकती है ? (२२) परन्तु मुझे यह भी धैर्य इसी एक आशा से हुआ है कि इस धैर्य द्वारा आप जैसों का प्रेमास्पद बनूँ। (२३) अतएव, अब चन्द्र से भी शीतल, अमृत से भी अधिक जीवनदाता, जो आपका अवधान है उससे मेरे मनोरथों की तृप्ति कीजिए। (२४) क्योंकि जब आपकी दृष्टि की वर्षा हो तभी मेरी बुद्धि में सकलार्थरूपी सम्पत्ति पनपेगी नहीं तो यदि आप उदासीन रहें तो मेरे ज्ञान का अंकुर सूख जायेगा। (२५) सुनिए, वक्तृत्व को यदि अवधानरूपी चारा मिले तो साधारणतः अर्थों को सिद्धान्तरूपी कोंपलें फूटती हैं, (२६) अर्थ शब्द की बाट जोहता है एक अभिप्राय से दूसरा उत्पन्न होता जाता है, और बुद्धि [पर भावरूपी पुष्पवृष्टि होती रहती है। (२७) यदि संवादरूपी अनुकूल वायु बहे तो हृदयाकाश में अक्षरवारिद भर जाती है, परन्तु यदि श्रोता अनमना हो तो बना बनाया

छिपाया नहीं जा सकता। (४१) अब हमारे इसे बारम्बार गुप्त कहते हुए तुम्हें घबराहट मालूम हुई होगी, इसलिए हम विज्ञानसहित उस ज्ञान का निरूपण करते हैं। (४२) परन्तु वह इस प्रकार ज्ञान का करते हैं कि जैसे सत्य और असत्य बातें मिली हुई हों और परीक्षा से स्पष्ट कर अलग कर दी जायें; (४३) अथवा जैसे राजहंस चोंच की सँडसी से दूध और पानी अलग अलग कर देता है वैसे ही हम तुम्हें ज्ञान और विज्ञान अलग-अलग कर बतावेंगे। (४४) जैसे वायु के प्रवाह में पड़ा हुआ भूसा उड़ जाता है और साथ ही धान्य के कणों की ढेरी लग जाती है, (४५) वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही मनुष्य संसार को संसार के हवाले कर मोक्ष लक्ष्मी के सिंहासन पर जा बैठता है। (४६)

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

यह ज्ञान सुविद्या के नगर में श्रेष्ठ आचार्य के पद पर विराजमान है। यह सब गुह्यों का स्वामी है, सब पवित्र वस्तुओं का राजा है, (४७) धर्म का निजधाम है, उत्तमों में श्रेष्ठ है। इसकी प्राप्ति होने पर जन्मान्तर का काम ही नहीं रहता। (४८) यह गुरु के मुख से अल्पसा निकलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में यह हृदय में स्वयं ही रहता है और आप ही आप प्रत्यक्ष प्राप्त होने लगता है। (४९) वैसे ही इसकी भेंट के लिए सुख की सीढ़ी बनाकर चढ़ने से यह सुख भोगनेहारे के गले अवश्य ही आ लगता है, (५०) वरन् इसकी प्राप्ति के इस पार की सीमा पर भी चित्त सुख से भरा स्थिर रहता है। इस प्रकार यह सुलभ और सुगम है और इसके अतिरिक्त परब्रह्म है। (५१) अजी, इस ज्ञान की एक बात और है। यह एक बार प्राप्त होने पर फिर न्यून नहीं होता और अनुभव से यह न कुछ घटता है और न कभी मलिन होता है। (५२) इस पर हे तर्क करनेहारे! तुम्हें ऐसी आशङ्का हो सकती है कि इतनी बड़ी वस्तु लोगों से कैसे बची रह सकती है; (५३) जो एक रुपया सैकड़े के ब्याज के लिए जलती हुई आग में कूदते हैं वे अनायास प्राप्त होनेवाले इस प्रकार के निज के माधुर्य को कैसे छोड़ देते हैं, (५४) यदि यह ज्ञान पवित्र और रम

ति यह कल्पना स्थापित करनेहारी प्रकृति का अन्त हो जाय तो आप ही भूताभास लुप्त हो जाता है और एकसा मेरा शुद्धस्वरूप ही शेष रहता है। (८०) और जाने दो, अपने ही आसपास चक्कर फिरने से जैसे गिरिकन्दर घूमते दिखाई देते हैं, वैसे ही अपनी ही कल्पना के कारण अव्यक्त ब्रह्म की जगह भूतमात्र दिखाई देते हैं। (८१) वही कल्पना छोड़कर देखो तो मैं सब पदार्थों में हूँ और सब पदार्थ मुझमें हैं। यह बात स्वप्न में भी आने योग्य नहीं। (८२) और ये बातें भी कि मैं ही एक भूतमात्र का धारण करनेहारा हूँ अथवा मैं भूतमात्र में रहनेहारा हूँ, सङ्कल्परूपी सन्निपात की हैं। (८३) अतएव हे प्रियोत्तम! इस प्रकार, मैं विश्व का आत्मा हूँ जो इस मिथ्या भूतग्राम में सदा भावना करने योग्य है। (८४) जैसे सूर्य की किरणों के आधार पर अवास्तव मृगजल दिखाई देता है वैसे ही मेरे अधिष्ठान पर सब भूतमात्र दिखाई देता है और वह मेरी ही भावना करता है। (८५) इस प्रकार मैं भूतमात्र का धारण करनेहारा हूँ तथापि उन सबों से अभिन्न हूँ, जैसे प्रभा और सूर्य दोनों एक ही हैं। (८६) अब तुम हमारा ऐश्वर्य योग अच्छी तरह देख चुके। अब कहो क्या इसमें प्राणियों के भेद का कुछ सम्बन्ध है? (८७) तात्पर्य यह कि यथार्थ में प्राणी मुझसे भिन्न नहीं हैं और मुझे भी कभी प्राणियों से भिन्न मत मानो। (८८)

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

देखो, गगन जितना बड़ा है उतना ही बड़ा गगन में मिला हुआ पवन भी हो रहता है, परन्तु वह जैसे हिलाये जाने से सहज में भिन्न दिखाई देता है—अन्यथा वह गगन ही है (८९) वैसे ही प्राणिगण मुझमें कल्पना करने से ही दिखाई देते हैं। कल्पना न रहते नहीं दिखाई देते। उस समय सब में ही मैं ही रहता हूँ। (९०) नाश और उत्पत्ति कल्पना के ही सम्बन्ध से होती है। कल्पना के लोप से नाश होता है और कल्पना उत्पन्न होने ही उत्पत्ति होती है। (९१) यदि कल्पना करनेहारा न रहे तो उत्पत्ति और नाश कहाँ रह सकते हैं? इसलिए पुनः मेरा ऐश्वरयोग देखो।

है। इस प्रकार निराकार ब्रह्म त्रैलोक्यरूप से साकार हुआ है। (६६) महत्तत्त्व से लेकर देह तक ये सम्पूर्ण भूतमात्र मुझमें ही प्रतिबिम्बित हैं। जैसे जल में फेन रहता है (६७) परन्तु उस फेन में जैसे जल नहीं दिखाई देता अथवा स्वप्न की अनेकता जैसे जागृत होने पर नहीं रहती (६८) वैसे ही ये भूतमात्र जो मुझमें प्रतिबिम्बित हैं उनमें मैं नहीं हूँ। इन उपपत्तियों का हम तुमसे पहले कथन कर चुके हैं। (६९) इसलिए कही हुई बात को फिर अधिक कहना ठीक नहीं। अतएव अब रहने दो। इतना ही कहे देता हूँ कि अपनी दृष्टि का प्रवेश मेरे स्वरूप में करो। (७०)

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

कल्पना-रहित होकर यदि मेरी प्रकृति के परे का भाव देखोगे तो यह बात भी मिथ्या मालूम होगी कि मुझमें भूतात्मक जगत है, क्योंकि मैं ही तो सब हूँ। (७१) परन्तु संकल्प की सन्ध्या के समय थोड़ी देर बुद्धि के नयन अन्धे से हो जाते हैं, इसलिए अखण्डित वस्तु भी अँधेरे में भिन्न भूतरूपी दिखाई देती है। (७२) किन्तु जब उस संकल्परूपी सन्ध्याकाल का लोप हो जाता है, तब अखण्डित स्वरूप ही रह जाता है, जैसे सन्देह जाते ही रस्सी का सर्पत्व भी मिट जाता है। (७३) भूमि के भीतर से क्या घड़ों-गगरों के स्वयंसिद्ध अंकुर निकलते हैं। वे तो कुम्हार की बुद्धि से उत्पन्न होते हैं (७४) अथवा समुद्र के पानी में क्या तरङ्गों की खानें रहती हैं? यह क्या वायु का भिन्न भिन्न कार्य नहीं है? (७५) कपास के पेट में क्या कपड़े की सन्दूक भरी रहती है? वह तो केवल पहननेहारे की दृष्टि से ही कपड़ा कहलाता है। (७६) यद्यपि सुवर्ण अलङ्कार बन जाता है तथापि उसका सुवर्णत्व नहीं घटता, और जो अलङ्कार हैं व बाहरी पहननेहारे की भावना के अनुसार ही होते हैं (७७) कहो प्रतिध्वनि से जो शब्द उठता है अथवा दर्पण में जो रूप दिखाई देता है, वह पहले से ही वहाँ मौजूद रहता है या सचमुच में हमारे बोलने या देखने से होता है? (७८) वैसे ही मेरे इस निर्मल स्वरूप में जो पदार्थों की कल्पना स्थापित करता है उसी के संकल्प के कारण पदार्थों का आभास होता है। (७९)

यदि उस कल्पना स्थापित करनेहारी प्रकृति का अन्त हो जाय तो साथ ही भूताभास लुप्त हो जाता है और फकत मेरा शुद्धस्वरूप ही बच रहता है। (८०) और जाने दो, अपने ही आसपास चक्कर फिरने से जैसे गिरिकन्दर घूमते दिखाई देते हैं, वैसे ही अपनी ही कल्पना के कारण अखण्ड ब्रह्म की जगह भूतमात्र दिखाई देते हैं। (८१) वही कल्पना छोड़कर देखो तो मैं सब पदार्थों में हूँ और सब पदार्थ मुझमें हैं। यह बात स्वप्न में भी लाने योग्य नहीं। (८२) और ये बातें भी कि मैं ही एक भूतमात्र का धारण करनेहारा हूँ अथवा मैं भूतमात्र में रहनेहारा हूँ, संकल्परूपी सन्निपात की हैं। (८३) अतएव हे प्रियोत्तम! इस प्रकार, मैं विश्व का आत्मा हूँ जो इस मिथ्या भूताभास में सर्वदा भावना करने योग्य है। (८४) जैसे सूर्य की किरणों के आधार पर अवास्तव मृगजल दिखाई देता है वैसे ही मेरे अधिष्ठान पर सब भूतमात्र दिखाई देता है और यह मेरी ही भावना करता है। (८५) इस प्रकार मैं भूतमात्र का स्थापन करनेहारा हूँ तथापि उन सबों से अभिन्न हूँ, जैसे प्रभा और सूर्य दोनों एक ही हैं। (८६) अब तुम हमारा ऐश्वर्य योग अच्छी तरह देख चुके। अब कहो क्या इसमें प्राणियों के भेद का कुछ सम्बन्ध है? (८७) तात्पर्य यह कि पदार्थ में प्राणी मुझसे भिन्न नहीं हैं और मुझे भी कभी प्राणियों से भिन्न मत मानो। (८८)

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

देखो, गगन जितना बड़ा है उतना ही बड़ा गगन में मिला हुआ पवन भी हो रहता है, परन्तु वह जैसे हिलाये जाने से सहज में भिन्न दिखाई देता है—अन्यथा वह गगन ही है, (८९) वैसे ही प्राणिगण मुझमें कल्पना करने से ही दिखाई देते हैं। कल्पना न रहते नहीं दिखाई देते। उस समय सब मैं ही मैं हो रहता हूँ। (९०) नाश और उत्पत्ति कल्पना के ही सम्बन्ध से होती है। कल्पना के लोप से नाश होता है और कल्पना उत्पन्न होते ही उत्पत्ति होती है। (९१) यदि कल्पना करनेहारा न रहे तो उत्पत्ति और नाश कहाँ रह सकते हैं? इसलिए पुन. मेरा ऐश्वर्ययोग देखो।

(९२) इस अनुभव-ज्ञानरूपी समुद्र में मुझको एक तरङ्ग बना लो। फिर चराचर में जहाँ देखो तहाँ तुम्हीं भर रहोगे। (९३) फिर देव ने पूछा, इस ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त हुआ या नहीं? तुम्हारा द्वैतरूपी स्वप्न अब मिथ्या हो गया कि नहीं? (९४) तथापि यदि कदाचित् फिर से बुद्धि को कल्पना की नींद आ जाय तो स्वप्न में पड़ते ही अभेद ज्ञान चला जावेगा, (९५) इसलिए अब हम तुमसे ऐसा सत्य मर्म प्रकट करते हैं कि जिससे निद्रा का मार्ग ही मिट जाय और सब कुछ ज्ञानरूप ही दिखाई दे। (९६) इसलिए हे वीरनाथ, धनुर्धर, हे धनञ्जय! अच्छी तरह सुनो। सब प्राणियों की उत्पत्ति और संहार माया करती है (९७)

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

जिसका नाम प्रकृति और जो हमने तुम्हें दो प्रकार की बतलाई है—एक आठ प्रकार के भेदवाली और दूसरी जीवरूप। (९८) माया का सब विषय तुम पहले सुन ही चुके हो इसलिए अब बारम्बार क्या बखान करें? (९९) तथापि मेरी इस प्रकृति के कारण महाकल्प के अन्त में सब प्राणी अव्यक्त में एकरूप हो जाते हैं। (१००) ग्रीष्म की अधिकाई के समय तृण जैसे बीजसमेत भूमि में विलीन हो जाता है, (१) अथवा जब वर्षाकाल का आडम्बर निकल जाता है और शुभ शरद्-काल प्रकट होता है तब जैसे मेघसमूह आकाश का आकाश में लुप्त हो जाता है, (२) अथवा आकाश के पोलेपन में जैसे वायु शान्त हो लुप्त हो जाती है, किंवा जैसे तरङ्गों का स्वरूप जल में लीन हो जाता है, (३) अथवा जागृति के समय स्वप्न जैसे मन का मन में ही मग्न हो जाता है, वैसे ही प्रकृति से उत्पन्न हुआ जगत् कल्पान्त के समय प्रकृति में मिल जाता है। (४) अब, जो कहा जाता है कि कल्प के आरम्भ में मैं ही जगत् को उत्पन्न करता हूँ उसके विषय में भी सत्य विवेचन सुनो। (५)

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

हे किरीटी! मैं स्वभावतः इस प्रकृति को आश्रय देता हूँ। जैसे तन्तु के समुदायरूपी वस्त्र में बुनावट ही रहती है, (६) और उस बुनावट के आधार से जिस तरह एक छोटा चारखाना तैयार होते होते थान तैयार होते हैं, वैसे ही जब मैं स्वभावतः इस प्रकृति को आश्रय देता हूँ तब पञ्चभूतात्मक आकार के रूप से प्रकृति ही उत्पन्न होती है। (७) जैसे जामन के संग से दूध भी जमने लगता है वैसे ही प्रकृति भी सृष्टिरूप हो जाती है। (८) बीज को जल का सान्निध्य प्राप्त हो तो वही जैसे शाखा और उप शाखारूप हो जाता है वैसे ही इन प्राणिमात्रों की उत्पत्ति मेरे कारण ही होती है। (९) अजी, यह बात निश्चय से सत्य है कि नगर राजा का बसाया है परन्तु वास्तव में क्या राजा के हाथों को कष्ट होता है? (११०) वैसे ही मैं प्रकृति का आश्रय देता हूँ। वह किस प्रकार है? जैसे जो स्वप्न देखनेहारा है वही फिर जागृति में प्रवेश करे (११) तो स्वप्न से जागृति में आने से हे पाण्डुसुत! क्या पाँवों को पीड़ा होती है? अथवा स्वप्न में रहना क्या कोई प्रवास करना है? (१२) इन सब बातों का अभिप्राय क्या है? इसका यह अर्थ है कि इस सृष्टि की रचना के लिए मुझे कुछ नहीं करना पड़ता। (१३) जैसे राजा के आश्रय से रहनेवाली प्रजा अपने अपने मतलब के व्यापार करती रहती है वैसा ही मेरा और प्रकृति का सम्बन्ध है। कर्म करनेहारी प्रकृति ही है। (१४) देखो पूर्णचन्द्र की भेंट होते ही समुद्र में ज्वार-भाटा भर जाता है, हे किरीटी! उस समय क्या चन्द्र को कोई श्रम होता है? (१५) लोहा जड़ है परन्तु चुम्बक के पास रहने से उसे गति प्राप्त होती है। परन्तु चुम्बक का पास रहना क्या कोई कष्ट उठाना है? (१६) बहुत क्या कहूँ, इस प्रकार ज्यों ही मैं अपनी प्रकृति का अङ्गीकार करता हूँ त्यों ही एकदम सृष्टि उत्पन्न होने लगती है। (१७) हे पाण्डव, यह जो सम्पूर्ण प्राणि-समुदाय है सो प्रकृति के अधीन है जैसे कि बीज से बेल और पत्ते उत्पन्न करने के लिए भूमि ही समर्थ है (१८) अथवा जैसे शरीरसङ्ग ही बाल, तरुण इत्यादि अवस्थाओं का कारण है, अथवा जैसे आकाश की मेघमाला वर्षा के लिए कारण है, (१९) अथवा स्वप्न का कारण जैसे निद्रा है, वैसे ही हे नरेन्द्र! इस अशेष भूत-समूह की स्वामिनी प्रकृति है। (१२०)

(६२) इस अनुभव-ज्ञानरूपी समुद्र में मुझको एक तरङ्ग बना लो। फिर चराचर में जहाँ देखो वहाँ तुम्हीं भर रहोगे। (६३) फिर देव ने पूछा, इस ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त हुआ या नहीं? तुम्हारा द्वैतरूपी स्वप्न अब मिथ्या हो गया कि नहीं? (६४) तथापि यदि कदाचित् फिर से बुद्धि को कल्पना की नींद आ जाय तो स्वप्न में पड़ते ही अभेद ज्ञान चला जावेगा, (६५) इसलिए अब हम तुम्हारा ऐसा सत्य मर्म प्रकट करते हैं कि जिससे निद्रा का मार्ग ही मिट जाय और सब कुछ ज्ञानरूप ही दिखाई दे। (६६) इसलिए हे धैर्यवान् धनुर्धर, हे बलवान! अच्छी तरह सुनो। सब प्राणियों को उत्पत्ति और संसार माया करती है (६७)

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

जिसका नाम प्रकृति और जो हमने तुम्हें दो प्रकार की बताई है—एक आठ प्रकार के भेदवाली और दूसरी जीवनरूप। (६८) माया का सब विषय तुम पहले सुन ही चुके हो इसलिए अब बारम्बार क्या वर्णन करें? (६९) तथापि मेरी इस प्रकृति के कारण महाकल्प के अन्त में सब प्राणी अव्यक्त में एकरूप हो जाते हैं। (१००) ग्रीष्म की अधिकाई के समय तृण जैसे बीजसमेत भूमि में विलीन हो जाता है, (१) अथवा जब वर्षाकाल का आडम्बर निकल जाता है और शुभ्र शरद्-काल प्रकट होता है तब जैसे मेघसमूह आकाश का आकाश में लुप्त हो जाता है, (२) अथवा आकाश के पोलेपन में जैसे वायु शान्त हो लुप्त हो जाती है, किंवा जैसे तरङ्गों का स्वरूप जल में लीन हो जाता है, (३) अथवा जागृति के समय स्वप्न जैसे मन का मन में ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रकृति से उत्पन्न हुआ जगत् कल्पान्त के समय प्रकृति में मिल जाता है। (४) अब जो कहा जाता है कि कल्प के आरम्भ में मैं ही जगत् को उत्पन्न करता हूँ उसके विषय में भी सत्य विवेचन सुनो। (५)

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

स्थावर और जङ्गम का, स्थूल और सूक्ष्म का, बहुत क्या कहूँ, इस सब भूतग्राम का मूल प्रकृति ही है। (२१) इसलिए प्राणियों का उत्पन्न करना, अथवा जो उत्पन्न हुए हैं उनका प्रतिपालन करना आदि कार्य हमसे सम्बन्ध नहीं रखते। (२२) जैसे चन्द्रमा जल में चन्द्रिका की बेला के विस्तार का कार्य स्वयं न कर दूर रहता है वैसे ही जिन्हें मेरी प्राप्ति हो जाती है वे सब कर्मों से दूर रहते हैं। (२३)

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

देखो, समुद्र में जो पानी की लहरें छूटती हैं उन्हें जैसे सैन्धव का बाँध रोक नहीं सकता वैसे ही सब कर्मों का अन्त मुझमें ही होने के कारण वे कर्म क्या मुझे बाँध सकते हैं? (२४) धुएँ की रजों का पिंजरा क्या बहती हुई वायु को थाँम सकता है? अथवा सूर्यबिम्ब में क्या अँधेरा प्रवेश कर सकता है? (२५) और रहने दो, पर्वत के हृदय में जैसे वर्षा की धारायें नहीं घुस सकतीं वैसे ही प्रकृति का कर्मसमूह मुझे नहीं लग सकता। (२६) यों तो इस प्रकृति के कार्यों में एक मैं ही भरा हुआ हूँ ऐसा समझना चाहिए। परन्तु उदासीन के समान मैं न कुछ करता हूँ न कराता हूँ। (२७) जैसे घर में रक्खा हुआ दीपक न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है न किसी को निवारण करता है और यह भी नहीं जानता कि कौन क्या व्यापार करता है—(२८) वह जैसा साक्षि-भूत है, तथापि घर के व्यापार में प्रवृत्ति का कारण है—वैसे ही प्राणियों के कर्मों से उदासीन रहता हुआ मैं प्राणियों में व्याप्त हूँ। (२९) बहुतेरी उपपत्तियों के साथ यही एक अभिप्राय मैं तुमसे बारम्बार कहाँ तक कहूँ? हे सुभद्रापति! एक बार इतना ही कहता हूँ कि (११०)

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

जैसे सूर्य मनुष्यों के सम्पूर्ण व्यापारों का केवल निमित्त हो रहता है वैसे ही हे पाण्डुसुत! जगत् की उत्पत्ति का मैं निमित्त-मात्र

हूँ। (३१) अथवा इस जगत् के विषय में ऐसी विचार-पद्धति भी हो सकती है कि प्रकृति के मेरा आश्रय लेने के कारण चराचर की उत्पत्ति होती है, अतएव मैं इसका कारण हूँ। (३२) अब इस सम्यक् प्रज्ञा की सहायता से मेरे ऐश्वर्ययोग की ओर देखो तो दिखाई देगा कि मुझमें प्राणी हैं परन्तु मैं प्राणियों में नहीं हूँ। (३३) और यह संकेत कभी मत भूलो कि प्राणिगण तो मुझमें हैं पर मैं प्राणियों में नहीं हूँ। (३४) यह हमारा गुप्तसर्वस्व है परन्तु तुम्हें खोल कर बताया है। अब इन्द्रियों के किवाड़ बन्द कर इसका हृदय में उपभोग करो। (३५) जब तक यह मर्म हाथ नहीं आता तब तक हे पार्थ! भुस में छिपे हुए कणों के समान मेरा सत्य स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। (३६) यों तो अनुमान के द्वारा निश्चय से जान पड़ा-सा मालूम होता है परन्तु मृगजल की आर्द्रता से क्या भूमि भीगती है? (३७) जल में जो जाली फैली हुई रहती है उसमें चन्द्रबिम्ब अटका हुआ-सा दिखाई देता है परन्तु तीर पर निकाल कर झटकारने से बिम्ब कहो कहाँ चला जाता है? (३८) वैसे ही अनुभव की आँखें शब्दों के वाचा-जाल से वृथा फँसती हैं। परन्तु ज्ञान के समय उसकी सत्यता नहीं जान पड़ती। (३९)

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

बहुत क्या कहें, सचमुच में संसार का डर मालूम होता हो और मेरी प्राप्ति की इच्छा हो तो इस विचार-पद्धति को यत्न से ध्यान में रखना चाहिए। (१४०) नहीं तो दृष्टि में पीलिया छा जाने से मनुष्य जैसे चाँदनी भी पीली समझता है वैसे ही मेरे निर्मल स्वरूप में दोष दिखाई देते हैं। (४१) अथवा ज्वर से मुँह दूषित हो गया हो तो दूध भी जैसे विष के समान कड़वा लगता है वैसे ही लोग मुझ अमानुष को मनुष्य समझते हैं। (४२) इसलिए हे धनञ्जय! बारम्बार यही विनती है कि उक्त अभिप्राय को मत भूलो। इसे स्थूल दृष्टि से देखना वृथा है। (४३) मुझे स्थूल दृष्टि से देखना ही वास्तव में अज्ञान है। स्वप्न के अमृत से कोई अमर नहीं होता। (४४) यों तो मूढ़ जन स्थूल दृष्टि से मुझे भली भाँति जानते

है, परन्तु यह जानना ज्ञान की ओट में जा बैठना है। (४५) जैसे—नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब में रत्न-बुद्धि रख आशा-पूर्वक जल में घुसने से हंस का घात हो जाता है, (४६) गङ्गा समझ कर मृगजल के समीप पहुँचने से क्या फल होता है, बबूल को कल्पतरु समझ कर सेवा करने से क्या लाभ? (४७) सर्प को दूसरा नीलमणि का हार समझ कर जैसे उसका ग्रहण किया जाय, अथवा जैसे रत्न समझ कर सफ़ेद पत्थर चुने जायँ, (४८) अथवा द्रव्य का निधान प्रकट हुआ समझ कर खैर के अङ्गारों को कोई अञ्चल में भर ले, अथवा परछाईं न पहचान कर जैसे सिंह कुएँ में कूद पड़े (४९) वैसे ही इस निश्चय से, कि प्रपञ्च में मैं हूँ जो उसमें निमग्न हो जाते हैं वे मानो चन्द्र समझ कर जल में फैली हुई चन्द्र की प्रभा का ही ग्रहण करते हैं। (१५०) इस प्रकार उनका निश्चय वृथा जाता है। जैसे कोई काँजी पिये और परिणाम अमृत का देखने जाय (५१) वैसे ही कोई विनाशी स्थूलाकार में अहंयुक्त चित्त से मुझ अविनाशी को देखे तो मैं कैसे दिखाई दे सकता हूँ? (५२) भाई, क्या पश्चिम समुद्र को जाने के लिए पूर्व के दिशा के मार्ग से जाते हैं? अथवा हे सुभट! क्या भुस कूटने से धान्य हाथ लगता है? (५३) वैसे ही क्या इस विकृत स्थूल को जानने से मैं—जो केवल हूँ—जाना जा सकता हूँ! क्या फेन पीने से जल पीने का फल हो सकता है? (५४) तात्पर्य यह कि वे मोहयुक्त भावना के कारण भ्रम से यह समझते हैं कि संसार ही मैं हूँ तथा वे संसार के जन्म कर्म भी मुझे लगा देते हैं। (५५) मुझ अनामक का नाम रख देते हैं, मुझ अक्रिय को कर्म लगा देते हैं, और मुझ विदेह को उत्पत्ति इत्यादि देह-धर्म लगा देते हैं; (५६) मुझ निराकार का आकार मान लेते हैं, उपाधि-रहित को मुख-साहित्य अपेक्षित करते हैं और मैं जो कर्तव्य तथा अकर्तव्य से रहित हूँ उसे व्यवहार, आचार इत्यादि लगा देते हैं, (५७) मुझ वर्ण-हीन का वर्ण गुणातीत के गुण चरण-रहित के चरण और हस्त-रहित के हाथ मान लेते हैं। (५८) मैं जो मापा नहीं जा सकता उसका माप करते हैं, और मैं जो सर्वगत हूँ उसे एकदेशीय बना देते हैं। जैसे शय्या पर सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अरण्य देखता है (५९) वैसे ही वे मुझ श्रवण-रहित को कान, नयन-रहित को नेत्र, गोत्र-रहित को गोत्र और अरूप को रूप देते हैं; (१६०) अप्रकट को

प्रकट करते हैं; अच्युत के दुःख की ओर आत्मतृप्त के लिए तृप्ति की भावना करते हैं, (६१) मुझ अनाच्छादित पर आच्छादन मानते हैं मैं जो अलङ्कारों से परे हूँ उसे भूषण पहनाते हैं और मैं जो सबका आश्रय हूँ उसका भी कोई आश्रय मानते हैं, (६२) मैं जो स्वयं हूँ उसकी मूर्ति बनाते हैं, मैं जो सदा सिद्ध हूँ उसकी प्रतिष्ठा करते हैं, और मैं जो निरन्तर बना हूँ उसका आवाहन और विसर्जन करते हैं (६३) सदा स्वयंसिद्ध रहनेवाले मुझ एकरूप में बाल, तरुण वृद्ध आदि सम्बन्ध जोड़ देते हैं, (६४) मुझ अद्वैत को द्वैत समझते हैं मुझ अकर्ता को कर्ता और अभोक्ता को भोग लेनेवाला समझते हैं; (६५) मुझ अकुटुम्बी के कुल का वर्णन करते हैं, मैं जो नित्य हूँ उसके मरण से दुःखी होते हैं, मैं जो सर्वान्तर्यामी हूँ उसे शत्रु मित्र इत्यादि समझते हैं (६६) मैं जो आत्मानन्द में निमग्न हूँ उसमें अनेक सुखों की इच्छा की भावना करते हैं, और मैं जो सर्वत्र समान रहता हूँ उसे एकदेशी समझते हैं। (६७) मैं ही एक सब चराचर का आत्मा हूँ परन्तु वे यों प्रसिद्ध करते हैं कि मैं किसी का पक्ष लेता हूँ और किसी को कोप कर मारता हूँ। (६८) बहुत क्या कहूँ, ऊपर जो प्रकृत्युत्पन्न मनुष्य धर्म वर्णन किये उन्हीं को वे मेरा स्वरूप समझते हैं। उनका ऐसा उलटा ज्ञान है! (६९) जब तक कोई एक आकार सामने देखते हैं तब तक वे उसे इस भाव से भजते हैं कि यह देव है और जब वह टूट जाता है तब उसे यह समझ कर फेंक देते हैं कि यह देव नहीं है। (७०) इस प्रकार वे मुझे मनुष्यरूप समझते हैं। अतएव उनका ज्ञान ही सच्चे ज्ञान को आड़ करता है। (७१)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

इसलिए उनका जन्म लेना वृथा समझो। जैसे बिना वर्षा के मेघ, अथवा मृगजल की तरङ्गें केवल दूर से ही देखने की होती हैं, (७२) अथवा जैसे मिट्टी के सवार या बाजीगरी के अलङ्कार, या गन्धर्वनगर के कोट दिखाई देते हैं, (७३) सरपत जैसे सीधा बढ़ता जाता है परन्तु उसमें फल नहीं लगता और भीतर से पोला रहता है,

है, परन्तु यह जानना ज्ञान की ओट में जा बैठना है। (४५) जैसे— नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब में रत्न बुद्धि रख आशा-पूर्वक जल में घुसने से हंस का घात हो जाता है (४६) गङ्गा समझ कर मृगजल के समीप पहुँचने से क्या फल होता है, बबूल को कल्पतरु समझ कर सेवा करने से क्या लाभ? (४७) सर्प को दूसरा नीलमणि का हार समझ कर जैसे उसका ग्रहण किया जाय, अथवा जैसे रत्न समझ कर सफेद पत्थर चुने जायँ, (४८) अथवा द्रव्य का निधान प्रकट हुआ समझ कर खैर के अङ्गारों को कोई अञ्चल में भर ले, अथवा परछाईं न पहचान कर जैसे सिंह कुएँ में कूद पड़े (४९) वैसे ही इस निश्चय से, कि प्रपञ्च में मैं हूँ जो उसमें निमग्न हो जाते हैं वे मानो चन्द्र समझ कर जल में फैली हुई चन्द्र की प्रभा का ही ग्रहण करते हैं। (१५०) इस प्रकार उनका निश्चय वृथा जाता है। जैसे कोई काँजी पिये और परिणाम अमृत का देखने जाय (५१) वैसे ही कोई विनाशी स्थूलाकार में आस्थायुक्त चित्त से मुझ अविनाशी को देखे तो मैं कैसे दिखाई दे सकता हूँ? (५२) अजी क्या पश्चिम समुद्र को जाने के लिए पूर्व के दिशा के मार्ग से जाते हैं? अथवा हे सुभट! क्या भुस कूटने से धान्य हाथ लगता है? (५३) वैसे ही क्या इस विकृत स्थूल को जानने से मैं—जो केवल हूँ—जाना जा सकता हूँ? क्या फेन पीने से जल पीने का फल हो सकता है? (५४) तात्पर्य यह कि वे मोहयुक्त भावना के कारण भ्रम से यह समझते हैं कि संसार ही मैं हूँ तथा वे संसार के जन्म-कर्म भी मुझे लगा देते हैं। (५५) मुझ अनामक का नाम रख देते हैं, मुझ अक्रिय को कर्म लगा देते हैं, और मुझ विदेह को उत्पत्ति इत्यादि देह धर्म लगा देते हैं; (५६) मुझ निराकार का आकार मान लेते हैं, उपाधि-रहित को कुल-साहित्य अर्पण करते हैं और मैं जो कर्तव्य तथा अकर्तव्य से रहित हूँ उसे व्यवहार आचार इत्यादि लगा देते हैं (५७) मुझ वर्ण-हीन का वर्ण गुणातीत के गुण चरण-रहित के चरण, और हस्त-रहित के हाथ मान लेते हैं। (५८) मैं जो मापा नहीं जा सकता उसका माप करते हैं, और मैं जो सर्वगत हूँ उसे एकदेशीय बना देते हैं। जैसे शय्या पर सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अरण्य देखता है (५९) वैसे ही ये मुझ श्रवण-रहित को कान नयन-रहित को नेत्र, गोत्र-रहित को गोत्र और अरूप को रूप देते हैं, (१६०) अप्रकट को

प्रकट करते हैं; अकुलों के कुल की और आत्मभूत के लिए भूमि की भावना करते हैं, (६१) मुझ अनाच्छादित पर आच्छादन मानते हैं, मैं जो अलङ्कारों से परे हूँ उसे भूषण पहनाते हैं और मैं जो सबका कारण हूँ उसका भी कोई कारण मानते हैं (६२) मैं जो स्वयं हूँ उसकी मूर्ति बनाते हैं, मैं जो सदा सिद्ध हूँ उसकी प्रतिष्ठा करते हैं, और मैं जो निरन्तर बना हूँ उसका आवाहन और विसर्जन करते हैं, (६३) सर्वदा स्वयंसिद्ध रहनेवाले मुझ एकरूप में बाल, तरुण वृद्ध आदि सम्बन्ध जोड़ देते हैं, (६४) मुझ अद्वैत को द्वैत समझते हैं मुझ अकर्ता को कर्ता और अभोक्ता को भोग लेनेहारा समझते हैं; (६५) मुझ अकुटुम्बी के कुल का वर्णन करते हैं; मैं जो नित्य हूँ उसके मरण से दुःखी होते हैं; मैं जो सर्वान्तर्यामी हूँ उसे शत्रु मित्र इत्यादि समझते हैं, (६६) मैं जो आत्मानन्द में निमग्न हूँ उसमें अनेक सुखों की इच्छा की भावना करते हैं, और मैं जो सर्वत्र समान रहता हूँ उसे एकदेशी समझते हैं। (६७) मैं ही एक सब चराचर का आत्मा हूँ परन्तु वे यों प्रसिद्ध करते हैं कि मैं किसी का पक्ष लेता हूँ और किसी को कोप कर मारता हूँ। (६८) बहुत क्या कहूँ, ऊपर जो मनुष्यस्वभाव मनुष्य धर्म वर्णन किये उन्हीं को वे मेरा स्वरूप समझते हैं। उनका ऐसा उलटा ज्ञान है! (६९) जब तक कोई एक आकार सामने देखते हैं तब तक वे उसे इस भाव से भजते हैं कि यह देव है और जब वह टूट जाता है तब उसे यह समझ कर फेंक देते हैं कि यह देव नहीं है। (७०) इस प्रकार ये मुझे मनुष्यरूप समझते हैं। अतएव उनका ज्ञान ही सच्चे ज्ञान की आड़ करता है। (७१)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

इसलिए उनका जन्म लेना वृथा समझो। जैसे बिना वर्षा के मेघ, अथवा मृगजल की लहरें केवल दूर से ही दिखने की होती हैं, (७२) अथवा जैसे मिट्टी के सवार या बाजीगरी के अलङ्कार, या गन्धर्वनगर के कोट दिखाई देते हैं, (७३) सरपत जैसे सीधा बढ़ता जाता है परन्तु उसमें फल नहीं लगता और भीतर से पोला रहता है,

अथवा बकरी के गले में जैसे स्तन होते हैं (७४) वैसे ही उन मूर्खों का जीवन वृथा है और उनके किये हुए कर्म को भी धिक्कार है, जैसे सेमर का फल, जो न खाने के उपयोगी होता है न देने के। (७५) जो कुछ वे पढ़ते हैं वह बन्दर से तोड़े गये नारियल के अथवा अन्धे के हाथ लगे हुए मोती के समान है। (७६) बहुत क्या कहें, उनके सीखे हुए शास्त्र छोटी-सी लड़की के हाथ में दिये हुए शस्त्र के अथवा अपवित्र मनुष्य को सिखाये हुए बीजमन्त्रों के समान हैं। (७७) और जो चित्त को अधीन नहीं रखते उनका सब ज्ञान और जो कुछ अभ्यास किया हो वह सब वृथा जाता है। (७८) जो प्रकृतिरूपी तमोगुणी राक्षसी है, जो सुबुद्धि को ग्रस लेती है, और जो निशाचरी विवेक का निशान मिटा देती है, (७९) वे उसी के वश हो जाते हैं, इसलिए चिन्तारूपी गुफा में जाकर उस तामसी के मुँह में जा पड़ते हैं—(१८०) जिस मुँह में आशा की धार से भरी हुई हिंसारूपी जीभ लटकती है जो असन्तोषरूपी मांस के गोले निरन्तर चबाती रहती है (८१) तथा अनर्थरूपी कान तक ओंठ चाटते हुए जो बाहर निकलती है, जो मुँह मानों प्रमादरूपी पर्वत की गुफा बन रहा हो, (८२) जिसकी द्वेषरूपी दाढ़ें ज्ञान को कसकस चबाकर पीस डालती हैं और जिसकी अस्थि और चमड़ा मूर्खों की स्थूल बुद्धि का आच्छादन कर लेता है। (८३) ऐसी राक्षसी-प्रकृति के मुख में वे प्राणी बलि हो पड़ते हैं वे भ्रान्तिरूपी कुण्ड में डूब जाते हैं। (८४) अतः तम के गड्ढे में पड़े हुए वे विचार के हाथ नहीं लगते। और क्या वर्णन करें, वे अन्त में कहाँ जाते हैं उसका हमें कुछ पता नहीं। (८५) इसलिए यह निष्फल कथा रहने दो। मूर्खों का वर्णन कहाँ तक किया जाय। व्यर्थ तूल बढ़ाने से वाणी ही दुखेगी। (८६) ऐसा जब देव ने कहा तब अर्जुन ने कहा, बहुत अच्छा बस कीजिए। फिर श्रीकृष्ण ने कहा कि अब जहाँ वाणी को विश्राम मिलता है वह कथा सुनो। (८७)

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

मैं जिनके निर्मल मन में क्षेत्रसंन्यासी होकर रहता हूँ, जिन सोते हुये पुरुष की वैराग्य सेवा करता है, (८८) जिनकी श्रद्धा

के सद्भाव में धर्म राज्य करता है, जिनका मन विवेक का जीवन है, (८९) जो ज्ञानरूपी गङ्गा में नहाये हैं, पूर्णता-रूपी भोजन कर तृप्त हुए हैं, जो शान्तिरूपी वृक्ष में उत्पन्न हुए नूतन पल्लव हैं, (९०) जो मुक्तरूपी परिणाम के निकले हुए अंकुर हैं, जो धैर्य-मण्डप के स्तम्भ हैं, जो आनन्दरूपी समुद्र में डुबाकर भरे हुए कुम्भ हैं, (९१) जिनकी भक्ति यहाँ तक प्राप्त हो गई है कि वे मोक्ष को भी पीछे हट' ऐसा कहते हैं, जिनकी क्रीड़ाओं में भी नीति जागृत दिखाई देती है, (९२) जिन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रिय में शान्ति के अलङ्कार पहने हैं, जिनका चित्त मुझ व्यापक का आच्छादन बन गया है, (९३) ऐसे जो महानुभाव दैवी प्रकृति के भाग्य-रूप हैं, जो मेरा सम्पूर्ण स्वरूप जानते हैं, (९४) तथापि जो महात्मा बढ़ते हुए प्रेम से मेरा भजन करते हैं परन्तु जिनका मनोधर्म द्वैत का स्पर्श भी नहीं करता (९५) वे हे पाण्डव। मद्रूप ही होकर मेरी सेवा करते हैं। परन्तु और भी नया वर्णन करता हूँ, सुनो। (९६)

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

प्रेम से हरिकीर्तन कर नाचते हुए उन्होंने प्रायश्चित्त का व्यापार बन्द कर डाला है। क्योंकि उन्होंने पाप का नाम ही मिटा दिया है, (९७) यम और दम की अवस्था हीन कर डाली है, तीर्थों के ठाँव ही मिटा दिये हैं और यमलोक का सम्पूर्ण व्यवहार बन्द कर दिया है। (९८) यम कहता है हम क्या नियमन करें, दम कहता है हम किसका दमन करें, तीर्थ कहते हैं हम क्या खावें पाप तो औषधि को भी नहीं रहा। (९९) इस प्रकार वे मेरे नाम के घोष से संसार के दुःखों का नाश कर डालते हैं और सब जगत् को महासुख से लबालब भर देते हैं। (२००) प्रातःकाल बिना ही वे प्रकाश देते हैं, अमृत के बिना ही जीवन देते हैं, और योग के बिना ही आँखों को कैवल्य दिखाते हैं। (१) परन्तु वे यह भेद नहीं रखते कि यह राजा है और यह रङ्क यह नहीं विचारते कि यह छोटा है और यह बड़ा, वे तो सम्पूर्ण जगत् के लिए एक-सी आनन्द की वाड़ी ही बन जाते हैं। (२) वैकुण्ठ को कभी कोई एक-आध ही

इस प्रकार गहन है। अब और भी कई मेरा ही भजन कैसे करते हैं सो सुनो। (१६) दोनों छोर तक वस्त्र में जैसे एक तन्तु ही होता है वैसे ही वे चराचर में मेरे सिवाय कुछ नहीं जानते, (२२०) ब्रह्मा से लेकर मशक तक जो कुछ बीच में उस सबको मेरा ही स्वरूप समझते हैं, (२१) और बड़ा या छोटा नहीं समझते, सजीव निर्जीव नहीं देखते, जो वस्तु देखते हैं उसे मेरा ही स्वरूप समझ कर वन्दन करते हैं। (२२) वे अपनी उत्तमता मन में नहीं लाते, सामने आये हुए की योग्यता-अयोग्यता नहीं जानते, एकदम वस्तुमात्र के सामने नमन करना ही पसन्द करते हैं। (२३) जैसे ऊँचे स्थान से पानी गिरे तो वह नीचे की ओर ही बहने लगता है वैसे ही भूतमात्र को देखते ही उन्हें नमस्कार करना उनका स्वभाव ही रहता है। (२४) अथवा फले हुए वृक्ष की शाखाएँ जैसे भूमि की ओर स्वभावतः झुकी हुई रहती हैं वैसे ही वे सम्पूर्ण प्राणिमात्र को नमन करते रहते हैं। (२५) वे निरन्तर गर्व-रहित रहते हैं। विनय ही उनकी सम्पत्ति है और उसे वे जय जय मन्त्र से मुझे समर्पित करते रहते हैं। (२६) नमन करते करते उनके मान और अपमान [के भाव] चले जाते हैं इसमें वे अकस्मात् मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार निरन्तर मुझमें मिले हुए वे मेरी भक्ति करते हैं। (२७) हे अर्जुन! यह एक श्रेष्ठ भक्ति का वर्णन हुआ। अब जो ज्ञानयज्ञ से मेरी भक्ति की जाती है, उसका वर्णन सुनो। (२८) परन्तु हे किरीटी! उस भजन की युक्ति तुम जानते ही हो, क्योंकि उसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। (२९) तब अर्जुन ने कहा—हाँ जी सच है, यह देव की कृपा ही है परन्तु अमृत के परोसे को क्या कोई बस कह सकता है! (२३०) इन वचनों से श्रीकृष्ण उसे उत्सुक जानकर आनन्दित चित्त से झूमने लगे (३१) और कहने लगे कि हे पार्थ! शाबाश! यों तो अब कहने का कुछ कारण नहीं है, परन्तु तुम्हारी उत्सुकता मुझे और अधिक कहने के लिए प्रवृत्त करती है। (३२) तब अर्जुन ने कहा—यह क्या बात है? चकोर के बिना क्या चाँदनी नहीं रह सकती? जगत् को शीतल करना तो उसका स्वभाव ही है। (३३) चकोर केवल अपनी इच्छा से जैसे चन्द्र की ओर चोंचें करते हैं, उसी प्रकार हे देव, हे कृपासिन्धु! हम भी थोड़ी-सी विनती करते हैं। (३४) अजी, मेघ अपनी ही इच्छा से ही जग की पीड़ा दूर करते हैं अन्यथा उनकी वर्षा

जाता है, परन्तु वे सर्वत्र वैकुण्ठ ही बना देते हैं। इस प्रकार नाम-भजन की महिमा से वे विश्व को प्रकाशित कर देते हैं। (३) सूर्य अपने तेज से वैसा ही उज्ज्वल है, परन्तु उसमें अस्त होना एक दोष है। चन्द्र एक-आध ही बार सम्पूर्ण होता है, परन्तु वे भक्त सदा पूर्ण हैं। (४) मेघ उदार है, परन्तु वह भी रीता हो जाता है इसलिए वह उनकी उपमा के लिए ठीक नहीं। वे निःसीम कृपायुक्त शिवमूर्ति हैं (५) जिनकी वाचा के सामने मेरा नाम, जिसके एक बार मुँह में आने के लिए औरों को सहस्रावधि जन्म तक सेवा करनी पड़ती है, निरन्तर प्रेम से नाचता रहता है। (६) यद्यपि मैं कदाचित् वैकुण्ठ में न रहूँ एक बार सूर्यबिम्ब में भी न दिखाई दूँ, तथा योगियों के मनों का भी मैं उल्लंघन कर जाऊँ, (७) परन्तु हे पाण्डव ! जो मेरे नाम का अत्यन्त घोष करते रहते हैं उनके पास खोजने से मैं अवश्य मिलूँगा। (८) वे मेरे गुणों से कैसे तृप्त हुए रहते हैं ! कैसे देश और काल को भूल जाते हैं ! कीर्तन-सुख से कैसे स्वयं अपने में ही सुखी होते हैं ! (९) कृष्ण विष्णु हरि, गोविन्द इन शुद्ध नामों से ग्रथित किये और आत्मा तथा अनात्मा के विचार से भरे हुए प्रबन्ध को कैसे स्पष्ट और उच्च स्वर से गाते हैं ! (२१०) और क्या वर्णन किया जाय। हे पाण्डुकुँवर ! इस प्रकार कोई मेरे गुणानुवाद गाते हुए चराचर में घूमते हैं, (११) और कोई बड़े यत्न से पञ्चप्राणों को और मन को जीत कर (१२) बाहर यम-नियमों की बाड़ी लगाकर भीतर वज्रासन-रूपी किला बनाते हैं और वहाँ प्राणायाम के चलते हुए यन्त्र जमाते हैं; (१३) और कुण्डलिनी के प्रकाश में मन और पवन की सहायता से चन्द्रामृत [सत्रहवीं कला] के सरोवर को अधीन कर लेते हैं। (१४) तब प्रत्याहार अपना पराक्रम दिखाता है, विकारों की बाधा बन्द कर देता है और इन्द्रियों को बाँध कर हृदय में ले जाता है। (१५) फिर धारणा-रूपी घुड़सवार उछल कर महाभूतों को इकट्ठा करते हैं और सङ्कल्प की चतुरङ्ग सेना [मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार] का नाश कर डालते हैं। (१६) तुरन्त ही ध्यान जीत जीत कहता हुआ डङ्का बजाता है और तन्मयता-रूपी एकछत्र चमकता दिखाई देता है। (१७) और समाधि-लक्ष्मी के सिंहासन पर निःशेष आत्मानुभवरूपी राज्यसुख का ऐक्य के रस से राज्याभिषेक होता है। (१८) हे अर्जुन ! मेरा भजन

इस प्रकार गहन है। अब और भी कई मेरा ही भजन कैसे करते हैं सो सुनो। (१६) दोनों ओर तक वस्त्र में जैसे एक तन्तु ही होता है वैसे ही वे चराचर में मेरे सिवाय कुछ नहीं जानते (२२०) ब्रह्मा से लेकर मशक तक जो कुछ बीच में उस सबको मेरा ही स्वरूप समझते हैं, (२१) और बड़ा या छोटा नहीं समझते, सजीव निर्जीव नहीं देखते, जो वस्तु देखते हैं उसे मेरा ही स्वरूप समझ कर दण्डवत् करते हैं। (२२) वे अपनी उत्तमता मन में नहीं लाते, सामने आये हुए की योग्यता-अयोग्यता नहीं छाँटते, एकदम वस्तुमात्र के सामने नमन करना ही पसन्द करते हैं। (२३) जैसे ऊँचे स्थान से पानी गिरे तो वह नीचे की ओर ही बहने लगता है वैसे ही भूतमात्र को देखते ही उन्हें नमस्कार करना उनका स्वभाव ही रहता है। (२४) अथवा फले हुए वृक्ष की शाखायें जैसे भूमि की ओर स्वभावतः झुकी हुई रहती हैं वैसे ही वे सम्पूर्ण प्राणिमात्र को नमन करते रहते हैं। (२५) वे निरन्तर गर्व-रहित रहते हैं। विनय ही उनकी सम्पत्ति है और उसे वे जय जय मन्त्र से मुझे समर्पित करते रहते हैं। (२६) नमन करते करते उनके मान और अपमान [के भाव] चले जाते हैं इसमें वे अकस्मात् मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार निरन्तर मुझमें मिले हुए वे मेरी भक्ति करते हैं। (२७) हे अर्जुन! यह एक श्रेष्ठ भक्ति का वर्णन हुआ। अब जो ज्ञानयज्ञ से मेरी भक्ति की जाती है, उसका वर्णन सुनो। (२८) परन्तु हे किरीटी! उस भजन की युक्ति तुम जानते ही हो, क्योंकि उसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। (२९) तब अर्जुन ने कहा—हाँ जी सच है, यह देव की कृपा ही है परन्तु अमृत के परोसे को क्या कोई बस कह सकता है! (२३०) इन वचनों से श्रीकृष्ण उसे उत्सुक जानकर आनन्दित चित्त से झूमने लगे (३१) और कहने लगे कि हे पार्थ! शाबाश! यों तो अब कहने का कुछ कारण नहीं है, परन्तु तुम्हारी उत्सुकता मुझे और अधिक कहने के लिए प्रवृत्त करती है। (३२) तब अर्जुन ने कहा—यह क्या बात है? चकोर के बिना क्या चाँदनी नहीं रह सकती? जगत् को शीतल करना तो उसका स्वभाव ही है। (३३) चकोर केवल अपनी इच्छा से जैसे चन्द्र की ओर चोंच करते हैं, उसी प्रकार हे देव, हे कृपासिन्धु! हम भी थोड़ी-सी विनती करते हैं। (३४) जी, मेघ अपनी महत्ता से ही जग की पीड़ा दूर करते हैं अन्यथा उनकी वर्षा

के सामने चातक की तृष्णा कितनी सी रहती है? (३५) एक ही चुल्लू भरने की इच्छा क्यों न हो, परन्तु उसके लिए जैसे गङ्गा को जाना ही पड़ता है, वैसे ही इच्छा थोड़ी हो या बहुत, तथापि देव को निरूपण करना ही चाहिए। (३६) तब देव ने कहा—ठहरो, हमें तो सन्तोष हुआ है उस पर स्तुति की कुछ आवश्यकता नहीं रही। (३७) तुम्हारा भली भाँति ध्यान देना ही हमारे वक्तृत्व का सहायक हो रहा है। इस प्रकार उसका उत्साह बढ़ा कर श्रीहरि ने अपनी वक्तृता का आरम्भ किया। (३८)

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

ज्ञानयज्ञ उसे कहते हैं कि जहाँ आदि-सङ्कल्प ही यज्ञ-स्तम्भ है, पञ्चमहाभूत मण्डप है, द्वैत पशु है, (३९) पाँचों महाभूतों के जो विशेष गुण अथवा इन्द्रियाँ और प्राण हैं वही यज्ञ की सामग्री है, अज्ञान घृत है, (२४०) और मन-बुद्धिरूपी कुण्ड में ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है। वहाँ साम्य को ही सुन्दर वेदी जानो। (४१) विवेक-युक्त बुद्धि की कुशलता ही मन्त्र है, विद्या की महिमा और शान्ति स्रुक् और स्रुवा हैं, और जीव यज्ञ करनेहारा है। (४२) वह अनुभवरूपी पात्र से विवेकरूपी महामन्त्र के द्वारा ज्ञानाग्निहोत्र करके भेद का नाश करता है। (४३) तब अज्ञान समाप्त हो जाता है और यज्ञ करनेहारा और यजन-क्रिया का भेद नहीं रहता और जीव एकतारूपी अवभृथ में नहाता है। (४४) तब भूत, विषय और इन्द्रियाँ अलग अलग नहीं दिखाई देतीं, आत्मबुद्धि के कारण सब कुछ एक ही जान पड़ता है। (४५) हे अर्जुन! जागृत होने पर मनुष्य को जैसे ज्ञान हो जाता है कि जो विचित्र सेना स्वप्न में दिखाई दे रही थी वह निद्रा के वश हो मैं ही बन गया था (४६) तथा वह सेना यथार्थ में सेना नहीं थी, किन्तु वह सब अकेला मैं ही बना था; वैसे ही वह ज्ञानी मनुष्य सब विश्व में एकत्व ही मानता है। (४७) फिर यह भाव भी नहीं रहता कि यह जीव है ब्रह्मा पर्यन्त उसे परमात्म-ज्ञान ही भर जाता है। इस प्रकार कोई ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी भक्ति करते हैं। (४८) अथवा यद्यपि जगत् अनादि तथा भिन्न भी है क्योंकि पदार्थ एक दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं और

नाम-रूप, इत्यादि भी अलग अलग हैं, (४८) अतएव विश्व भिन्न भिन्न है, तथापि उन भक्तों का ज्ञान भिन्न नहीं होता। जैसे अवयव जुदे जुदे होते हैं तथापि वे एक ही शरीर के होते हैं, (२५०) अथवा शाखायें छोटी बड़ी होती हैं परन्तु एक ही वृक्ष की होती हैं, किरणें बहुतेरी तो होती हैं परन्तु वे जैसे एक ही सूर्य की होती हैं, (५१) वैसे ही व्यक्ति अनेक हैं, नाम जुदे जुदे हैं और वृत्तियाँ अलग अलग हैं—पर उन्हें भिन्न मूर्तों में मुझ अभिन्न का ही ज्ञान होता है। (५२) हे पाण्डव! इस भिन्नता से वे भक्त उत्तम ज्ञानयज्ञ करते हैं क्योंकि वे अभिन्नता के ज्ञान को जानते हैं। (५३) अथवा उन्हें ऐसा बोध हो जाता है कि जिस समय जिस स्थान में जो कुछ दिखाई देता है वह मेरे सिवा कुछ नहीं है। (५४) देखो, बुलबुला जहाँ जाय वहाँ उसे एक जल ही रहता है और वह गल अथवा रहे तथापि जल में ही रहता है, (५५) अथवा पवन से परमाणु उड़ते हैं तो वे पृथ्वीत्व से जुदे नहीं होते और फिर नीचे गिरते हैं तो भी पृथ्वी पर ही रहते हैं (५६) वैसे ही उन्हें ऐसी प्रतीति हो जाती है कि चाहे जिस भावना से कुछ भी उत्पन्न हो अथवा नष्ट हो तथापि वह सब मैं हूँ। (५७) अजी, जितनी मेरी व्याप्ति है उतनी ही उनकी प्रतीति है। इस प्रकार वे बहुप्रकार विश्व में मद्रूप होकर ही व्यवहार करते हैं। (५८) हे धनञ्जय! जैसे यह सूर्यबिम्ब चाहे जिसके सम्मुख है वैसे ही वे सर्वदा इस विश्व के सम्मुख रहते हैं। (५९) हे अर्जुन! जैसे वायु आकाश के सर्वाङ्ग में भरी हुई रहती है वैसे ही उनके ज्ञान में भीतर बाहर का भेद नहीं रहता, (२६०) क्या मैं जितना सम्पूर्ण हूँ वही प्रमाण उनके सद्भाव का है। इससे हे पाण्डव! उन्हें कुछ न करते हुए मेरा भजन हो जाता है। (६१) यों तो वास्तव में मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी उपासना कब और किसने नहीं की है? परन्तु ज्ञान के सिवा मेरी यथार्थ प्रतीति का ही ठौर है अर्थात् जिन्हें मैं व्याप्त हूँ उनकी उपासना, मेरा यथार्थ ज्ञान न होने से, व्यर्थ-सी हो गई है। (६२) परन्तु अधिक वर्णन रहने दो। उन उचित ज्ञानयज्ञ का वर्णन करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं उनका यह बयान हुआ। (६३) यह सब कर्म निरन्तर सब ओर से मुझ एक को ही पहुँचता है। परन्तु मूर्ख जन यह नहीं जानते इसलिए वे मुझे नहीं प्राप्त होते। (६४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

जो उस ज्ञान का उदय हो तो यह प्रतीति होगी कि जो मुख्य वेद हैं वह मैं ही हूँ और वह जिस विधान का वर्णन करते हैं वह यज्ञकर्म भी मैं ही हूँ, (६५) और उस कर्म से जो उत्तम और साङ्गोपाङ्ग-सहित सम्पूर्ण यज्ञ प्रकट होता है, वह भी है पाण्डव ! मैं ही हूँ। (६६) स्वाहा मैं हूँ स्वधा मैं हूँ, सोमवल्ली इत्यादि नाना प्रकार की ओषधियाँ मैं हूँ घृत और समिधा मैं हूँ, मन्त्र और होमद्रव्य मैं हूँ, (६७) ऋत्विज मैं हूँ, जिसमें यज्ञ किया जाय वह अग्नि भी मेरा ही स्वरूप है, और जिन जिन वस्तुओं का हवन किया जाय सो भी मैं ही हूँ। (६८)

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

जिसके सम्बन्ध-द्वारा इस अष्टधा प्रकृति से जगत् जन्म लेता है वह पिता मैं हूँ। (६९) अर्द्धनारी-नटेश्वर के स्वरूप में जैसे जो पुरुष है सोई नारी है, वैसे ही मैं चराचर की माता भी हूँ। (२७०) और जग उत्पन्न होकर जहाँ रहता है जिससे उसका जीवन बढ़ता है वह भी वस्तुतः मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (७१) ये दोनों प्रकृति-पुरुष जिस अन्तःकरण-रहित स्वरूप में जन्म लेते हैं वह इस विश्व का पितामह त्रिभुवन में मैं ही हूँ। (७२) हे सुभट ! सब ज्ञान के मार्ग जिस गाँव की ओर जाते हैं, वेदों के चौरस्ते में जो जानने योग्य कहलाता है, (७३) जहाँ नाना मतामिमानियों की समझ एक हो जाती है, परस्पर शास्त्रों की पहचान हो जाती है, भूले हुए ज्ञान जहाँ आकर मिल जाते हैं, जो पवित्र कहलाता है, (७४) ब्रह्मरूपी बीज का जो अंकुररूप है, तथा परापश्यन्ती इत्यादि वाचाओं की ध्वनि के आकार का घर जो ओंकार है वह भी मैं ही हूँ। (७५) उस ओंकार के पेट में अकार, उकार और मकार सहित सब अक्षर रहते हैं, जो उत्पत्ति के साथ ही तीनों वेदों सहित उठ खड़े हुए हैं। (७६) इसलिए श्रीआत्माराम श्रीकृष्ण ने कहा कि ऋक्, यजु, साम तीनों मैं ही हूँ, यों मैं ही वेद की वंशपरम्परा हूँ। (७७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिस प्रकृति में समाया हुआ है वह थक कर जहाँ विश्राम लेती है वह निधान की गति मैं हूँ (७८) और जिससे प्रकृति जीवन धारण करती है, जिसके अधिष्ठान से विश्व को उत्पन्न करती है, जो इस प्रकृति में आकर गुणों को भोगता है, (७९) वह विश्वलक्ष्मी का भर्ता हे पाण्डुसुत ! मैं ही हूँ। मैं इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य का स्वामी हूँ। (२८०) आकाश सर्वत्र बसे, वायु क्षण भर भी चुप न बैठे, अग्नि जले, जल बरसे, (८१) पर्वत अपनी बैठक न छोड़े, समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन न करे, पृथ्वी प्राणियों को धारण करे, इत्यादि सब मेरी ही आज्ञा है। (८२) मेरे बुलाने से वेद बोलते हैं, मेरे चलाने से सूर्य चलता है तथा प्राण जो जगत् के चलने का कारण है वह भी मेरे हिलाने से हिलता है। (८३) मेरी आज्ञा से ही काल प्राणियों को ग्रसता है। हे पाण्डुसुत ! ये सब जिसके अनुचर हैं, (८४) जो इस प्रकार समर्थ है, वह जगत् का नाथ मैं हूँ, तथा गगन जैसा जो साक्षिभूत है वह भी मैं ही हूँ। (८५) हे पाण्डव ! इन नाम-रूपों के साथ जो सर्वत्र भरा है तथा आप ही जो इन नाम-रूपों का जीवन है, (८६) जैसे तरङ्गें जल की ही होती हैं और तरङ्गों में ही जल होता है वैसे जो सर्वत्र बसता है वह बसति-स्थान मैं हूँ। (८७) जो अनन्यता से मेरी शरण लेता है उसका जन्म-मरण मैं दूर करता हूँ, इसलिए शरणागतों का आश्रय एक मैं ही हूँ। (८८) मैं ही एक, अनेक होकर अलग अलग स्वभावानुसार जीवित जगत् के प्राण द्वारा व्यवहार करता हूँ। (८९) समुद्र या गड्ढे का भेद मन में न लाते हुए सूर्य जैसे चाहे जहाँ प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही मैं ब्रह्मा से लेकर सब प्राणियों का मित्र हूँ। (२९०) हे पाण्डव ! मैं ही इस त्रिभुवन का जीवन हूँ। सृष्टि के नाश और उत्पत्ति का कारण मैं हूँ। (९१) बीज शाखाओं को उत्पन्न करता है और फिर वृक्षत्व बीज में समा जाता है, वैसे ही सब कुछ सङ्कल्प से ही उत्पन्न होता है और अन्त में सङ्कल्प में ही मिल जाता है। (९२) इस प्रकार जगत् का बीज सङ्कल्प का अव्यक्त और वासनारूप है वह कल्पान्त के समय जहाँ जा पड़ता है वह स्थान मैं हूँ। (९३) जब ये नाम-रूप लय पाते

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

जो उस ज्ञान का उदय हो तो यह प्रतीति होगी कि जो मुख्य वेद हैं वह मैं ही हूँ और वह जिस विधान का वर्णन करते हैं वह यज्ञ भी मैं ही हूँ, (६५) और उस कर्म से जो उत्तम और सांगोपांग-सहित सम्पूर्ण यज्ञ प्रकट होता है, वह भी हे पाण्डव! मैं ही हूँ। (६६) स्वाहा मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, सोमवल्ली इत्यादि नाना प्रकार की औषधियाँ मैं हूँ घृत और समिधा मैं हूँ, मन्त्र और होमद्रव्य मैं हूँ, (६७) ऋत्विज मैं हूँ, जिसमें यज्ञ किया जाय वह अग्नि भी मेरा ही स्वरूप है, और जिन जिन वस्तुओं का हवन किया जाय सो भी मैं ही हूँ। (६८)

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

जिसके सम्बन्ध-द्वारा इस अष्टधा प्रकृति से जगत् जन्म लेता है वह पिता मैं हूँ। (६९) अर्धनारी-नटेश्वर के स्वरूप में जैसे जो पुरुष है सोई नारी है, वैसे ही मैं चराचर की माता भी हूँ। (७०) और जग उत्पन्न होकर जहाँ रहता है जिससे उसका जीवन बढ़ता है वह भी वस्तुतः मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (७१) ये दोनों प्रकृति-पुरुष जिस अन्तःकरण-रहित स्वरूप में जन्म लेते हैं वह इस विश्व का पितामह त्रिभुवन में मैं ही हूँ। (७२) हे सुभट! सब ज्ञान के मार्ग जिस गाँव की ओर जाते हैं, वेदों के चौरस्ते में जो जानने योग्य कहलाता है, (७३) जहाँ नाना मताभिमानियों की समझ पट जाती है परस्पर शास्त्रों की पहचान हो जाती है भूले हुए ज्ञान जहाँ आकर मिल जाते हैं, जो पवित्र कहलाता है, (७४) ब्रह्मरूपी बीज का जो अंकुररूप है, तथा परापश्यन्ती इत्यादि वाचाओं की ध्वनि के आकार का घर जो ओंकार है वह भी मैं ही हूँ। (७५) उस ओंकार के पेट में अकार, उकार और मकार सहित सब अक्षर रहते हैं, जो उत्पत्ति के साथ ही तीनों वेदों सहित उठ खड़े हुए हैं। (७६) एतावता श्रीआत्माराम श्रीकृष्ण ने कहा कि ऋक्, यजु, साम तीनों मैं ही हूँ, यों मैं ही वेद की वंशपरम्परा हूँ। (७७)

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

हे किरीटी ! देखो जो आश्रमधर्म का व्यवहार करने के कारण आप ही विधिमार्ग की कसौटी बन जाते हैं, (७) जिनके कुतूहल-पूर्वक यज्ञ करते समय तीनों वेदों का माथा डोलता है, और फल सहित कर्म जिनके सामने ही खड़ा है, (८) ऐसे जो यज्ञ में सोमपान करनेवाले दीक्षित हैं, जो आप ही यज्ञ का स्वरूप हैं, उन्होंने पुण्य के नाम से पाप ही जोड़ा है, ऐसा समझो। (९) क्योंकि वे तीनों वेद जानकर, सैकड़ों यज्ञ करके परन्तु मुझ यजनीय को भूलकर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा करते हैं। (२१०) जैसे कोई अभागा कल्पतरु के नीचे बैठा हुआ झोली को गाँठ लगा दे और अनन्तर भीख माँगने के लिए निकले (११) वैसे ही ये लोग यज्ञों से मेरा यजन कर स्वर्ग-सुख की इच्छा करते हैं। यह पुण्य क्या वास्तव में पाप नहीं है ? (१२) अतः यह मुझे छोड़ स्वर्ग की प्राप्ति अज्ञानी का पुण्य-मार्ग है। ज्ञानी उसे विघ्न समझते हैं। (१३) यों भी यथार्थ में नरक के दुःखों की दृष्टि से ही स्वर्ग को सुख कहते हैं अन्यथा निर्दोष नित्यानन्द तो केवल मेरा ही स्वरूप है। (१४) और, हे अर्जुन ! मेरी ओर आते समय ये स्वर्ग और नरक नामक दो प्रकार के आड़े-टेढ़े चोरों के रास्ते लगते हैं। (१५) पुण्यरूपी पाप से स्वर्ग को पहुँचते हैं, तथा पापरूपी पाप से नरक को जाते हैं। परन्तु जिस मार्ग से मुझे पहुँचते हैं वह शुद्ध पुण्य है। (१६) फिर हे पाण्डुपुत्र ! मुझमें रहते हुए जिसके कारण मुझसे वंचित रहना पड़े क्या उसे पुण्य कहने से ही जीभ के टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? (१७) परन्तु प्रसंग में यह रहने दो। सुनो, वे दीक्षित जिस प्रकार से मेरा यजन करके स्वर्ग-भोग की याचना करते हैं। (१८) जो ऐसा पापरूपी पुण्य है, जिससे कि मैं नहीं प्राप्त होता उसके प्राप्त होने ही वही अभिलाषा के साथ ऐसे स्वर्ग को जाते हैं (१९) जहाँ कि अमरत्व का सिंहासन है, ऐरावत जैसा वाहन है, और अमरावती राजधानी का नगर है; (२२०) जहाँ महासिद्धि के भाण्डार हैं, अमृत के कोठे हैं, जिस गाँव में कामधेनु के झुण्ड के झुण्ड हैं, (२१)

और चाहे कुछ भी न जानो पर मुझे जान लो। इसी से तुम सुखी होगे। (३४)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो सम्पूर्ण मनोभावों से मुझे चित्त अर्पण करते हैं, जैसे गर्भ का गोला कोई भी व्यापार नहीं जानता (३५) वैसे ही जिन्हें मेरे बिना और कुछ भला नहीं दिखाई देता, और जिन्होंने अपने जीवन को मद्रूप ही कर लिया है, (३६) ऐसे जो एकनिष्ठ चित्त से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भक्ति करते हैं उनकी मैं भी सेवा करता हूँ। (३७) वे जिस समय एकाग्र चित्त से मेरे भजन में लगते हैं उसी समय मुझे भी उनकी चिन्ता उत्पन्न होती है। (३८) उनका जो जो कार्य हो वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जैसे पक्षिनी पङ्ख न फूटे हुए बच्चों के जीवन के लिए ही अपना जीवन रखती है, (३९) अपनी भूख-प्यास नहीं जानती और उस चिरौंटे का हित ही उस माता का काम रहता है वैसे ही जो प्राणों-सहित मेरा अनुसरण करते हैं उनका सब कुछ काम मैं ही करता हूँ। (३४०) उन्हें मेरे सायुज्य की इच्छा हो तो मैं उनका वही हेतु पूरा करता हूँ, अथवा सेवा की इच्छा हो तो प्रेम सम्मुख रख देता हूँ (४१) इस प्रकार वे मन में जो जो भाव रखते हैं वह मैं बारम्बार पूरा करता हूँ और उन्हें दी हुई वस्तु की रक्षा भी मैं ही करता हूँ। (४२) हे पाण्डव! जिनके सब भावों का मैं आश्रय हूँ उनका इस प्रकार सब *योगक्षेम* मुझको ही करना पड़ता है। (४३)

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

उपयुक्त के सिवाय और भी कई सम्प्रदाय हैं। परन्तु व मुझे समष्टिरूप से नहीं जानते क्योंकि वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य और सोमों के प्रीत्यर्थ यजन करते हैं। (४४) यह भी वास्तव में मेरा ही यजन है क्योंकि यह जो सम्पूर्ण विश्व है सो मैं ही हूँ। परन्तु यह मेरे भजन का सरल मार्ग नहीं, आड़ा-टेढ़ा मार्ग है। (४५) देखो, वृक्ष के शाखा-पल्लव क्या एक ही बीज के नहीं होते? परन्तु पानी लेना जड़

एवं उनके सादृश्यानुसार ही उनके कर्म उन्हें फल देते हैं। (५८) न्तु जो नेत्रों से मुझे ही देखते हैं, कानों से मुझे ही सुनते हैं, मन मेरा ही चिन्तन करते हैं, वाचा से मेरा ही वर्णन करते हैं, (५९) । सर्वाङ्ग से सर्वत्र मुझे ही नमस्कार करते हैं, दान-पुण्य इत्यादि जो क करते हैं वह मेरे ही उद्देश्य से, (६०) जो मेरा ही अध्ययन करते , जो अन्तर्बाह्य मुझसे ही तृप्त हुए हैं, जिनका जीवन मेरे ही हेतु , (६१) जो ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम हरि के गुणानुवाद गान करने के लिए जन्में हैं, जो एक मेरे ही लोभ के कारण जगत् में लोभी बने हैं, (६२) जो मेरी ही इच्छा से सकाम हैं, मेरे प्रेम से सप्रेम , और मेरे ही भ्रम से सभ्रम हो जगत् की ओर नहीं देखते (६३) जो शास्त्रों से मेरे ही ज्ञान का उपार्जन करते हैं जो मन्त्रों से मेरी ही प्राप्ति करते हैं, इस प्रकार जो सम्पूर्ण क्रियाओं से मेरा भजन करते हैं (६४) । वास्तव में मृत्यु के इस पार मुझमें मिल जाते हैं तो फिर मृत्यु होने र और दूसरी ओर कैसे जावेंगे। (६५) अतएव जो मेरा यजन करने हारे हैं, जिन्होंने सेवा के मिस से निज को मुझे ही समर्पित कर दिया है, उनकी मुझसे ही एकता हो जाती है। (६६) हे अर्जुन! आत्म समर्पण किये बिना मेरे लिए प्रेम नहीं उत्पन्न होता। मैं किसी उपचार से वश नहीं होता। (६७) इस विषय में जो निज को ज्ञानी समझता है वही अज्ञानी है, जो बड़प्पन बघारता है वह उसकी न्यूनता है, और जो निज को कृतार्थ हुआ कहता है उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ रहता। (६८) अथवा हे किरीटी! यज्ञ दान इत्यादि अथवा तप की जो प्रतिष्ठा है वह आत्मसमर्पण के सामने एक तृण की भी बराबरी नहीं रखती। (६९) देखो, ज्ञानबल में क्या कोई वेदों से श्रेष्ठ है? अथवा क्या कोई शेष से भी बड़ा बक्ता है? (१७०) परन्तु वह भी मेरी शय्या के नीचे दब रहता है। और वेद तो नेति नेति कह कर हट जाते हैं। इस विषय में सनकादि भी पागल बन गये हैं। (७१) तपस्वियों का विचार कीजिए तो शङ्कर के तुल्य कौन है परन्तु वे भी अभिमान छोड़ कर मेरा चरणतीर्थ माथे पर धरते हैं। (७२) अथवा सम्पन्नता में लक्ष्मी के समान कौन है जिसके घर में श्री जैसी दासियाँ हैं? (७३) वे खेल में जो घरौंदे बनाती हैं उन्हें अमरपुर कहा जा सकता है तथा क्या सचमुच में इन्द्र इत्यादि देवता उनकी गुड़ियाँ नहीं हैं (७४) जब वे अप्रसन्न हो उन घरौंदों को तोड़ डालती हैं।

जहाँ देव आकर बस सेवकाई करते हैं, जहाँ और चिन्तामणि की भरती है, कल्पवृक्षों के क्रीड़ोपवन हैं, (२२) जहाँ गन्धर्व गायक बजाते हैं, रम्भा जैसी नृत्य करनेवाली है, और उर्वशी जिनमें मुख्य है, ऐसी विलासिनी स्त्रियाँ हैं, (२३) जहाँ शय्या पर सोइए तो मदन सेवा करता है, जहाँ चन्द्र आँगन सींचता है और पवन जैसे दौड़नेवाले आज्ञाधारक नौकर उपस्थित रहते हैं, (२४) स्वयं बृहस्पति जिनमें मुख्य हैं ऐसे स्वस्तिश्री इत्यादि वचनों से आशीर्वाद देनेवाले जहाँ ब्राह्मण हैं; तथा जहाँ बहुतेरे स्तुतिपाठक देवता रहते हैं, (२५) जहाँ लोकपालों की मालिका में बैठनेवाले सरदार हैं तथा उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र का घोड़ा भी जहाँ के कोतवालों के घोड़ों के सामने बाँधा है। (२६) अब अधिक वर्णन रहने दो। जब तक पुण्य का लेश रहता है तब तक इन्द्र-सुख के समान ऐसे बहुतेरे भोग वे भोगते हैं। (२७)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

परन्तु ज्योंही पुण्य की पूँजी चुक जाती है त्योंही इन्द्रत्व का तेज उतरने लगता है और वे पश्चात् फिर मृत्युलोक में आने लगते हैं। (२८) जैसे वेश्या का भोग लेते लेते जब सब द्रव्य खर्च हो जाता है तो फिर उसकी देहली नहीं छू ही जाती वैसे ही क्या वर्णन करें, उन दीक्षितों की भी लज्जास्पद स्थिति हो जाती है, (२९) एवं मुझ सर्वदा रहनेवाले को भूलकर जो पुण्य के द्वारा स्वर्ग की इच्छा करते हैं उनका अमरत्व वृथा हो जाता है और अन्त में उन्हें मृत्युलोक ही प्राप्त होता है। (३३०) फिर वे माता की उदररूपी गुफा में विष्ठा की कुम में पककर तथा नौ मास तक पचकर जन्म जन्म कर मरते हैं। (३१) जैसे स्वप्न में द्रव्य हाथ आता है परन्तु जागृत होते ही सब लुप्त हो जाता है, वैसे ही इन यज्ञ-कर्ताओं का स्वर्ग-सुख समझना चाहिए। (३२) हे अर्जुन! वेदज्ञ भी हो तथापि मुझे न जानने से ऐसे वृथा जाता है जैसे कोई भाग्य को छोड़ भुस ही बटोरता रहे। (३३) यों एक मेरे बिना ये वेदोक्त धर्म निष्फल हैं। इसलिए तुम

है एवं उनके संकल्पानुसार ही उनके कर्म उन्हें फल देते हैं। (५८) परन्तु जो नेत्रों से मुझे ही देखते हैं, कानों से मुझे ही सुनते हैं, मन में मेरा ही चिन्तन करते हैं, वाचा से मेरा ही वर्णन करते हैं, (५९) जो सर्वाङ्ग से सर्वत्र मुझे ही नमस्कार करते हैं, दान-पुण्य इत्यादि जो कुछ करते हैं वह मेरे ही उद्देश्य से, (१६०) जो मेरा ही अध्ययन करते हैं, जो अन्तर्बाह्य मुझसे ही तृप्त हुए हैं, जिनका जीवन मेरे ही हेतु है, (६१) जो ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम हरि के गुणानुवाद बयान करने के लिए जनमें हैं, जो एक मेरे ही लोभ के कारण जगत् में लोभी बने हैं, (६२) जो मेरी ही इच्छा से सकाम हैं, मेरे प्रेम से सप्रेम हैं, और मेरे ही भ्रम से सभ्रम हो जगत् की ओर नहीं देखते (६३) जो शास्त्रों से मेरे ही ज्ञान का उपार्जन करते हैं, जो मन्त्रों से मेरी ही प्राप्ति करते हैं, इस प्रकार जो सम्पूर्ण क्रियाओं से मेरा भजन करते हैं (६४) वे वास्तव में मृत्यु के इस पार मुझमें मिल जाते हैं तो फिर मृत्यु होने पर और दूसरी ओर कैसे जावेंगे। (६५) अतएव जो मेरा यजन करने वाले हैं, जिन्होंने यज्ञ के मिस से निज को मुझे ही समर्पित कर दिया है, उनकी मुझसे ही एकता हो जाती है। (६६) हे अर्जुन! आत्म समर्पण किये बिना मेरे लिए प्रेम नहीं उत्पन्न होगा। मैं किसी उपचार से वश नहीं होता। (६७) इस विषय में जो निज को ज्ञानी समझता है वही अज्ञानी है, जो बड़प्पन बघारता है वह उसकी न्यूनता है, और जो निज को कृतार्थ हुआ कहता है उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ रहता। (६८) अथवा हे किरीटी! यज्ञ दान इत्यादि अथवा तप की जो प्रतिष्ठा है वह आत्मसमर्पण के सामने एक तृण की भी बराबरी नहीं रखती। (६९) देखो, ज्ञानबल में क्या कोई वेदों से श्रेष्ठ है? अथवा क्या कोई शेष से भी बड़ा वक्ता है? (१७०) परन्तु वह भी मेरी शय्या के नीचे दब रहता है। और, वेद तो नेति नेति कह कर हट जाते हैं। इस विषय में सनकादि भी पागल बन गये हैं। (७१) तपस्वियों का विचार कीजिए तो शङ्कर के तुल्य कौन है परन्तु वे भी अभिमान छोड़ कर मेरा पादतीर्थ माथे पर धरते हैं। (७२) अथवा सम्पन्नता में लक्ष्मी के समान कौन है जिसके घर में भी जैसी दासियाँ हैं? (७३) वे खेल में जो घरौंदे बनाती हैं उन्हें अमरपुर कहा जा सकता है तथा क्या सचमुच में इन्द्र इत्यादि देवता उनकी गुड़ियाँ नहीं हैं (७४) जब वे अप्रसन्न हो उन घरौंदों को तोड़ डालती हैं।

का श्रम है, सो वह जल ही में दिया जाता है। (४६) अथवा ये जो दसों इन्द्रियाँ हैं सो यद्यपि एक ही देह की हैं और इनके सेवन किये हुए विषय एक ही जगह पहुँचते हैं (४७) तथापि उत्तम रसोई बना कर कान में कैसे भरी जा सकती है, फूल लाकर आँखों से कैसे सूँघे जा सकते हैं? (४८) रस का सेवन मुख से ही करना चाहिए, सुगन्ध नाक से ही सूँघनी चाहिए, वैसे ही मेरा भजन मेरे प्रीत्यर्थ ही करना चाहिए। (४९) मुझे न जानकर जो भजन करना है सो वृथा बकना है। इसलिए कर्म के नेत्र-रूप जो ज्ञान है वह निर्दोष होना चाहिए। (१५०)

> अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
> न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

और भी हे पाण्डुसुत! देखो, इन सम्पूर्ण यज्ञों के उपचारों का भोक्ता मेरे अतिरिक्त कौन है? (५१) मैं सब यज्ञों का आदिकारण हूँ और मैं ही इस यजन का परिणाम हूँ। परन्तु ये दुर्बुद्धि जन मुझे भूल कर अनेक देवों का भजन करते हैं। (५२) गङ्गा का जल देव-पितरों के प्रीत्यर्थ जैसे गङ्गा में ही छोड़ा जाता है वैसे ही ये मेरा मुझको ही देते हैं परन्तु भिन्न भिन्न भावों से देते हैं। (५३) इसलिए हे पार्थ! वे सर्वथा मुझे नहीं पाते और मन में जो आस्था रखते हैं वहीं पहुँचते हैं। (५४)

> यान्ति देवव्रता देवान्
> पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
> भूतानि यान्ति भूतेज्या
> यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

जो मन, वाचा और इन्द्रियों से देवों के ही निमित्त भजन करते हैं वे शरीर छोड़ने के साथ ही देवरूप हो जाते हैं। (५५) अथवा जिनके चित्त पितरों के व्रत धारण करते हैं उन्हें जीवन समाप्त होते ही पितृत्व प्राप्त होता है। (५६) अथवा क्षुद्र देवता इत्यादि भूत ही जिनके परम-दैवत हैं, जो जारण-मारण कर्मों से उनकी भक्ति करते हैं, (५७) उन्हें देहरूपी जवनिका हटते ही भूतत्व की प्राप्ति होती

है एवं उनके सङ्कल्पानुसार ही उनके कर्म उन्हें फल देते हैं। (८८) परन्तु जो नेत्रों से मुझे ही देखते हैं, कानों से मुझे ही सुनते हैं, मन में मेरा ही चिन्तन करते हैं, वाचा से मेरा ही वर्णन करते हैं, (८९) जो सर्वाङ्ग से सर्वत्र मुझे ही नमस्कार करते हैं, दान-पुण्य इत्यादि जो कुछ करते हैं वह मेरे ही उद्देश्य से, (९०) जो मेरा ही अध्ययन करते हैं, जो अन्तर्बाह्य मुझसे ही तृप्त हुए हैं, जिनका जीवन मेरे ही हेतु है, (९१) जो ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम हरि के गुणानुवाद वर्णन करने के लिए जन्मे हैं, जो एक मेरे ही लोभ के कारण जगत् में लोभी बने हैं, (९२) जो मेरी ही इच्छा से सकाम हैं, मेरे प्रेम से सप्रेम हैं, और मेरे ही भ्रम से सभ्रम हो जगत् की ओर नहीं देखते (९३) जो शास्त्रों से मेरे ही ज्ञान का उपार्जन करते हैं, जो मन्त्रों से मेरी ही प्राप्ति करते हैं, इस प्रकार जो सम्पूर्ण क्रियाओं से मेरा भजन करते हैं (९४) वे वास्तव में मृत्यु के इस पार मुझमें मिल जाते हैं तो फिर मृत्यु होने पर और दूसरी ओर कैसे जायेंगे। (९५) अतएव जो मेरा भजन करने हारे हैं, जिन्होंने सेवा के मिस से निज को मुझे ही समर्पित कर दिया है, उनकी मुझसे ही एकता हो जाती है। (९६) हे अर्जुन! आत्म समर्पण किये बिना मेरे लिए प्रेम नहीं उत्पन्न होता। मैं किसी उपचार से वश नहीं होता। (९७) इस विषय में जो निज को ज्ञानी समझता है वही अज्ञानी है, जो बड़प्पन बघारता है वह उसकी न्यूनता है, और जो मिस को कृतार्थ हुआ कहता है उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ रहता। (९८) अथवा हे किरीटी! यज्ञ, दान इत्यादि अथवा तप की जो प्रतिष्ठा है वह आत्मसमर्पण के सामने एक तृण की भी बराबरी नहीं रखती। (९९) देखो, ज्ञानबल में क्या कोई वेदों से श्रेष्ठ है? अथवा क्या कोई शेष से भी बड़ा बक्ता है? (३००) परन्तु वह भी मेरी शय्या के नीचे दब रहता है। और वेद तो नेति नेति कह कर हट जाते हैं। इस विषय में सनकादि भी पागल बन गये हैं। (०१) तपस्वियों का विचार कीजिए तो शङ्कर के तुल्य कौन है परन्तु ये भी अभिमान छोड़ कर मेरा चरणतीर्थ माथे पर धरते हैं। (०२) अथवा सम्पन्नता में लक्ष्मी के समान कौन है जिसके घर में भी जैसी दासियाँ हैं? (०३) वे खेल में जो घरौंदे बनाती हैं उन्हें अमरपुर कहा जा सकता है तथा क्या सचमुच में इन्द्र इत्यादि देवता उनकी गुड़ियाँ नहीं हैं (०४) जब वे अप्रसन्न हो उन घरौंदों को तोड़ डालती हैं।

सब महेन्द्र के तुल्य हो जाते हैं। वे जिस वृक्ष की ओर देखने लगती हैं वही कल्पवृक्ष बन जाता है। (७५) जिसके घर की दासियों की ऐसी सामर्थ्य है उस मुख्य नायिका लक्ष्मी की भी यहाँ कुछ प्रतिष्ठा नहीं। (७६) हे पाण्डव! वह तो सब भावों से सेवा करके अभिमान को छोड़, पाँव पखारने की अधिकारिणी हुई है। (७७) इसलिए प्रतिष्ठा दूर छोड़ देनी चाहिए और विद्वत्ता सम्पूर्ण भूल जानी चाहिए। जगत् में जब लघुत्व प्राप्त हो तभी मेरे सान्निध्य का लाभ होता है। (७८) जहाँ सूर्य की दृष्टि के सम्मुख चन्द्र का भी लोप हो जाता है, तो फिर खद्योत भला अपने प्रकाश से क्या प्रतिष्ठा पा सकता है? (७९) वैसे ही जहाँ लक्ष्मी की भी प्रतिष्ठा नहीं चलती, जहाँ शङ्कर का तप भी पूरा नहीं पड़ता, वहाँ अन्य प्राकृत अज्ञानी जन मुझे कैसे जान सकते हैं? (१८०) इसलिए शरीर का अभिमान छोड़ना चाहिए। मुझ पर से सब गुणों का राई-नोन उतार कर सम्पत्ति के अभिमान की भी निछावर कर देनी चाहिए। (८१)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

चाहे कोई भी और कैसा भी फल हो परन्तु जब अत्यन्त प्रेम के उल्लास से मुझे अर्पण करने के निमित्त (८२) भक्त मेरे सम्मुख लाता है तो मैं दोनों हाथ पसारता हूँ और उसका डंठल भी न तोड़कर प्रेम से उसका सेवन करता हूँ। (८३) अजी, भक्ति से यदि मुझे एक फूल भी दिया जाय तो वह वास्तव में मुझे सूँघना चाहिए परन्तु मैं मुँह में ही डाल लेता हूँ। (८४) और रहने दो फूल की तो बात ही क्या है, प्रेम का एक पत्ता भी हो और वह ताजा भी न हो अथवा जिसका भी सूखा हुआ हो (८५) परन्तु यदि मैं उसे सब भावों से भरा हुआ देख लूँ तो जैसे भूखा व्यक्ति अमृत से तृप्त होता है वैसे वह पत्ता भी मैं अपने ही सन्तोष से खाने लगता हूँ (८६) ऐसा भी हो सकता है कि किसी को पत्ते न मिलें परन्तु पानी की तो कहीं कमी नहीं होती। (८७) अतः चाहे जहाँ मुफ्त ही बिना ही मेहनत किये, प्राप्त है वहाँ जो किसी ने मनोभाव से मुझे चढ़ा दिया (८८) तो मैं समझता हूँ कि उसने मेरे लिए वैकुण्ठ से भी ऊँचे मन्दिर तथा कौस्तुभ से भी

निर्मल अलङ्कार समर्पित कर दिये, (८९) अथवा मेरे लिए क्षीरसमुद्र जैसे मनोहर और अपार दूध के शय्यास्थान निर्मित कर दिये, (३९०) अथवा कपूर, चन्दन, अगर इत्यादि पदार्थों जैसा सुगन्ध का महामेरु लगा कर दीपमाला के बदले मानों सूर्य से ही मेरी आरती की (९१) अथवा मुझे गरुड जैसे वाहन, कल्पतरु जैसे बागीचे, और कामधेनु जैसी गायें चढ़ा दीं, (९२) अथवा मुझे ऐसे बहुतेरे पक्वान्न परोस दिये जो अमृत से भी सुरस हों। इस प्रकार मैं भक्तों की दी हुई पानी की बूँद से सन्तुष्ट होता हूँ। (९३) यह क्या वर्णन करूँ, हे किरीटी! तुमने अपनी आँखों देखा है कि मैंने तन्दुलों के लिए सुदामा के वस्त्र की गाठें खोली हैं, (९४) एवं मैं एक भक्ति ही जानता हूँ। उसमें मैं छोटा-बड़ा नहीं देखता। कोई भी हो, हम केवल भाव के पाहुने हैं। (९५) और पत्र-पुष्प-फल ये बातें केवल भजन के बहाने हैं। अन्यथा हमें निष्कलङ्क भक्तिरूपी तत्त्व ही चाहिए। (९६) इसलिए हे अर्जुन! सुनो, तुम एक बुद्धि को ही अपने अधीन कर लो और अपने मनोमन्दिर में कभी मेरी विस्मृति न होने दो।। ९७ ।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।२७।।

जो जो कुछ व्यापार करो, अथवा जो भोग भोगो, अथवा जिन नानाविध यज्ञों से यजन करो (९८) अथवा जब कभी किसी सत्पात्र को दान दो, अथवा सेवकों को वेतन दो, या तप इत्यादि साधन और व्रत करो तो (९९) वह सब कर्म जैसे जैसे स्वभावतः उत्पन्न होता जाय वैसे वैसे भक्तिसहित मेरे प्रीत्यर्थ करते जाओ। (४००) परन्तु कभी अपने अन्तःकरण में इन कर्मों की स्मृति भी न रहने दो। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म मुझे समर्पित करो। (१)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।

फिर जैसे अग्निकुण्ड में डाले हुए बीज अंकुरदशा से वञ्चित हो जाते हैं, वैसे ही मुझे अर्पण किये हुए शुभाशुभ कर्म निष्फल हो जावेंगे। (२) अजी कर्म बच रहें तो ही उनके सुखदुःखरूपी फल प्राप्त हैं और उन्हें भोगने के लिए शरीर में जन्म लेना पड़ता है।

तब महेन्द्र के रङ्क हो जाते हैं। वे जिस वृक्ष की ओर देखने लगती हैं वही कल्पवृक्ष बन जाता है। (७५) जिसके घर की दासियों की ऐसी सामर्थ्य है उस मुख्य नायिका लक्ष्मी की भी यहाँ कुछ प्रतिष्ठा नहीं। (७६) हे पाण्डव! वह तो सब भावों से सेवा करके अभिमान को छोड़, पाँव पखारने की अधिकारिणी हुई है। (७७) इसलिए प्रतिष्ठा दूर छोड़ देनी चाहिए और विद्वत्ता सम्पूर्ण भूल जानी चाहिए। जगत् में जब अल्पत्व प्राप्त हो तभी मेरे सान्निध्य का लाभ होता है। (७८) अजी सूर्य की दृष्टि के सम्मुख चन्द्र का भी लोप हो जाता है, तो फिर खद्योत भला अपने प्रकाश से क्या प्रतिष्ठा पा सकता है? (७९) वैसे ही जहाँ लक्ष्मी की भी प्रतिष्ठा नहीं चलती, जहाँ शङ्कर का तप भी पूरा नहीं पड़ता, वहाँ अन्य प्राकृत अज्ञानी जन मुझे कैसे जान सकते हैं? (१८०) इसलिए शरीर का अभिमान छोड़ना चाहिए। मुझ पर से सब गुणों का राई-नोन उतार कर सम्पत्ति के अभिमान की भी निछावर कर देनी चाहिए। (८१)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

चाहे कोई भी और कैसा भी फल हो परन्तु जब अत्यन्त प्रेम के उल्लास से मुझे अर्पण करने के निमित्त (८२) भक्त मेरे सम्मुख लाता है तो मैं दोनों हाथ पसारता हूँ और डण्ठल भी न तोड़ते प्रेम से उसका सेवन करता हूँ। (८३) अजी भक्ति से यदि मुझे एक फूल भी दिया जाय तो वह वास्तव में मुझे सूँघना चाहिए परन्तु मैं मुँह में ही डाल लेता हूँ। (८४) और इसमें तो फूल की तो बात ही क्या है, पेड़ का एक पत्ता भी हो और वह ताज़ा भी न हो अथवा कितना भी सूखा हुआ हो (८५) परन्तु यदि मैं उसे सब भावों से भरा हुआ देख लूँ तो जैसे भूखा व्यक्ति अमृत से तृप्त होता है वैसे वह पत्ता भी मैं उतने ही सन्तोष से खाने लगता हूँ (८६) ऐसा भी हो सकता है कि किसी को पत्ते न मिलें परन्तु पानी की तो कहीं कमी नहीं होती। (८७) जल चाहे जहाँ मुफ्त ही बिना ही मेहनत किये प्राप्त है वही जो किसी ने मनोभाव से मुझे चढ़ा दिया (८८) तो मैं समझता हूँ कि उसने मेरे लिए वैकुण्ठ से भी ऊँचे मन्दिर तथा कौस्तुभ से भी

निर्मल अलङ्कार समर्पित कर दिये, (८६) अथवा मेरे लिए क्षीरसमुद्र जैसे मनोहर और अपार दूध के शय्यास्थान निर्मित कर दिये, (३९०) अथवा कर्पूर, चन्दन, अगर इत्यादि पदार्थों जैसा सुगन्ध का महामेरु लगा कर दीपमाला के बदले मानों सूर्य से ही मेरी आरती की (९१) अथवा मुझे गरुड जैसे वाहन, कल्पतरु जैसे बागीचे, और कामधेनु जैसी गायें चढ़ा दीं; (९२) अथवा मुझे ऐसे बहुतेरे पक्वान्न परोस दिये जो अमृत से भी सुरस हों। इस प्रकार मैं भक्तों की ही दुई पानी की बूँद से सन्तुष्ट होता हूँ। (९३) यह क्या वर्णन करूँ, हे किरीटी! तुमने अपनी आँखों देखा है कि मैंने तन्दुलों के लिए सुदामा के वस्त्र की गाठें खोली हैं, (९४) पर मैं एक भक्ति ही पहचानता हूँ। उसमें मैं छोटा-बड़ा नहीं देखता। कोई भी हो, हम केवल भाव के पाहुने हैं। (९५) और पत्र-पुष्प-फल ये बातें केवल भजन के बहाने हैं। अन्यथा हमें निष्कलङ्क भक्तिरूपी तत्त्व ही चाहिए। (९६) इसलिए हे अर्जुन! सुनो, तुम एक बुद्धि को ही अपने अधीन कर लो और अपने मनोमन्दिर में कभी मेरी विस्मृति न होने दो॥ ९७॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥

जो जो कुछ व्यापार करो, अथवा जो भोग भोगो, अथवा जिन नानाविध यज्ञों से यजन करो (९८) अथवा जब कभी किसी सत्पात्र को दान दो, अथवा सेवकों को वेतन दो, या तप इत्यादि साधन और व्रत करो तो (९९) यह सब कर्म जैसे जैसे स्वभावतः उत्पन्न होता जाय वैसे वैसे भक्तिसहित मेरे प्रीत्यर्थ करते जाओ। (४००) परन्तु कभी अपने अन्तःकरण में इन कर्मों की स्मृति भी न रहने दो। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म मुझे समर्पित करो। (१)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

फिर जैसे अग्निकुण्ड में डाले हुए बीज अंकुरदशा से वञ्चित हो जाते हैं, वैसे ही मुझे अर्पण किये हुए शुभाशुभ कर्म निष्फल हो जायेंगे। (२) अजी कर्म बच रहें तो ही उनके सुखदुःखरूपी फल आते हैं और उन्हें भोगने के लिए शरीर में जन्म लेना पड़ता है।

(३) परन्तु वे कर्म जब मुझे समर्पित कर दिये गये तब समझ लो कि जन्म-मरण तत्काल मिट गये और जन्म के साथ लगने वाले भी नहीं रहे। (४) अतएव हे अर्जुन! इस प्रकार हमने तुम्हें सुगम संन्यास की ऐसी युक्ति बतलाई है कि जिससे शीघ्र ही आत्मानुभव हो जाता है। (५) इस युक्ति की बदौलत तुम इस देह के बन्धन में न पड़कर, सुख-दुःख के समुद्र में न डूब कर, मुझ सुखरूप में अनायास ही मिल जाओगे। (६)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

वह मैं कैसा हूँ—पूछो तो मैं सदा सब भूतों में समान हूँ और मुझमें अपना-पराया भाव नहीं है। (७) जो मुझे ऐसा जानकर, अहङ्कार का भार मिटाकर कर्म करके अन्तःकरण से मेरा भजन करते हैं (८) वे शरीर से व्यापार करते हुए दिखाई तो देते हैं परन्तु शरीर में नहीं रहते किन्तु मुझमें रहते हैं और मैं सम्पूर्ण उनके हृदयों में रहता हूँ। (९) जैसे वड़ का वृक्ष विस्तार-समेत अपने बीज में रहता है और बीजकण जैसे वड़ में रहता है (४१०) वैसे ही हममें और उनमें परस्पर बाह्य नामों का ही अन्तर है, अन्यथा अन्तःस्थ वस्तु के विचार से वे मद्रूप ही हैं। (११) और पराये माँग कर लाये हुए अलङ्कारों की जैसे शरीर पर केवल दिखावट ही होती है वैसे ही वे उदासीनता से देह धरते हैं। (१२) वायु के साथ ही सुगन्ध निकल जाने पर फूल जैसे वृन्तस्थल में ही निर्गन्ध पड़ जाता है वैसे ही उनका देह केवल आयुष्य की मुट्ठी में रहता है, (१३) और जो सब अहङ्कार है वह मेरी भक्ति को प्राप्त होने से मुझमें ही आ मिलता है। (१४)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भजन के ऐसे प्रेम-भाव के कारण जो फिर से शरीर नहीं पाते वे किसी भी जाति के रह सकते हैं। (१५) और हे सुभट! देखने में किसी का आचरण यद्यपि पाले सिरे का खराब हो परन्तु यदि उसने अपना जीवन भक्ति के मार्ग में समर्पित कर दिया हो—(१६)

अभी मृत्यु के समय की मति के अनुसार आगली गति है इसलिए जिसने अपना जीवन निदान में भक्ति के अपरण कर दिया हो— (१७) तो वह यद्यपि प्रथम दुराचारी भी हो तथापि उसे सर्वोत्तम ही जानो। जैसे जो बड़ी बाढ़ में डूबे और बिना मरे निकल आवे (१८) तो वह जीता हुआ किनारे पर पहुँच गया इसलिए उसका डूबना वृथा हो जाता है वैसे ही अन्त में भक्ति करने से पूर्वकृत पाप भी मिट जाते हैं। (१९) क्योंकि यद्यपि दुष्कृति भी हो तथापि वह पश्चात्तापरूपी तीर्थ में नहाता है और नहाकर सर्व भावों से मुझमें प्रवेश करता है, (४२०) इससे उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी कुलीनता निर्मल हो जाती है और जन्म का फल उसी को प्राप्त होता है। (२१) वह मानों सब कुछ पढ़ चुका सब तप तप चुका और अष्टाङ्ग योग का अभ्यास कर चुका। (२२) बहुत क्या, हे पार्थ! वह सब या सब कर्मों के पार उतर चुका। जिसकी आस्था निरन्तर मेरे लिए ही होती है, (२३) जिसने सम्पूर्ण मन और बुद्धि के व्यापार से एक निष्ठारूपी पिटारा भर कर हे किरीटी! मुझमें ही रख दिया है (२४)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

—वह फिर कुछ काल के अनन्तर मेरे समान होता है ऐसा न समझो। अजी, जो अमृत में रहे उसके पास मृत्यु कैसे आ सकती है? (२५) जिस समय में सूर्योदय नहीं होता उसी समय को रात्रि कहते हैं; वैसे ही जो मेरी भक्ति के बिना किया जाय वही क्या महा पाप नहीं है? (२६) अतएव हे पाण्डुसुत! ज्योंही उसके चित्त को मेरा सान्निध्य होता है त्योंही वह तत्त्वतः मत्स्वरूप हो जाता है। (२७) दीपक से दीपक जलाया जाय तो पहला दीपक कौन सा है यह जैसे जान नहीं पड़ता, वैसे ही जो सब भावों से मुझे भजता है वह मद्रूप ही हो रहता है। (२८) फिर जो मेरी नित्यशान्ति है वही उसकी दशा हो जाती है, और जो मेरी कान्ति है वही उसकी हो जाती है। किंबहुना वह मेरे ही जी से जीवन धारण करता है। (२९) हे पार्थ! इस विषय में बारम्बार वही बात कहाँ तक कहूँ? यदि मेरी प्राप्ति की इच्छा हो तो भक्ति को मत भूलो। (४३०) अजी, कुल की

(३) परन्तु वे कर्म जब मुझे समर्पित कर दिये गये तब समझ लो कि जन्म-मरण तत्काल मिट गये और जन्म के संग लगते कष्ट भी नहीं रहे। (४) अतएव हे अर्जुन! इस प्रकार हमने तुम्हें सुगम संन्यास की ऐसी युक्ति बतलाई है कि जिससे शीघ्र ही आत्मानुभव हो जाता है। (५) इस युक्ति की बदौलत तुम इस देह के बन्धन में न पड़कर, सुख-दुःख के समुद्र में न डूब कर, मुझ सुखरूप में अनायास ही मिल जाओगे। (६)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

वह मैं कैसा हूँ—पूछो तो मैं सर्वदा सब भूतों में समान हूँ और मुझमें अपना पराया भाव नहीं है। (७) जो मुझे ऐसा जानकर, अहङ्कार का घर मिटाकर कर्म करके अन्तःकरण से मेरा भजन करते हैं (८) वे शरीर से व्यापार करते हुए दिखाई तो देते हैं परन्तु शरीर में नहीं रहते किन्तु मुझमें रहते हैं और मैं सम्पूर्ण उनके हृदयों में रहता हूँ। (९) जैसे वड़ का वृक्ष विस्तार-समेत अपने बीज में रहता है और बीजकण जैसे वड़ में रहता है, (४१०) वैसे ही हममें और उनमें परस्पर बाह्य नामों का ही अन्तर है, अन्यथा अन्तस्थ वस्तु के विचार से वे मद्रूप ही हैं। (११) और पराये माँग कर लाये हुए अलङ्कारों की जैसे शरीर पर केवल दिखावट ही होती है वैसे ही वे उदासीनता से देह धरते हैं। (१२) वायु के साथ ही सुगन्ध निकल जाने पर फूल जैसे डण्ठल में ही निर्गन्ध पड़ जाता है वैसे ही उनका देह केवल आयुष्य की मुट्ठी में रहता है, (१३) और जो सब अहङ्कार है वह मेरी भक्ति को प्राप्त होने से मुझमें ही आ मिलता है। (१४)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भजन के एस प्रेम-भाव के कारण जो फिर से शरीर नहीं पाते वे किसी भी जाति के रह सकते हैं। (१५) और हे सुमर्! देखने में किसी का आचरण वस्तुतः पाले सिरे का खराब हो परन्तु यदि उसने अपना जीवन भक्ति के मार्ग में समर्पित कर दिया हो—(१६)

अगली मृत्यु के समय की मति के अनुसार अगली गति है इसलिए जिसने अपना जीवन निदान में भक्ति के अर्पण कर दिया हो— (१७) तो वह यद्यपि प्रथम दुराचारी भी हो तथापि उसे सर्वोत्तम ही जानो। जैसे जो बड़ी बाढ़ में डूब और बिना मरे निकल आवे (१८) तो वह जीता हुआ किनारे पर पहुँच गया इसलिए उसका डूबना वृथा हो जाता है वैसे ही अन्त में भक्ति करने से पूर्वकृत पाप भी मिट जाते हैं। (१९) क्योंकि यद्यपि दुष्कृति भी हो तथापि वह पश्चात्तापरूपी तीर्थ में नहाता है और नहाकर सर्व भावों से मुझमें प्रवेश करता है, (४२०) इससे उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी कुलीनता निर्मल हो जाती है और जन्म का फल उसी को प्राप्त होता है। (२१) वह मानों सब कुछ पढ़ चुका सब तप तप चुका और अष्टाङ्ग योग का अभ्यास कर चुका। (२२) बहुत क्या हे पार्थ! वह सर्वथा सब कर्मों के पार उतर चुका। जिसकी आस्था निरन्तर मेरे लिए ही होती है, (२३) जिसने सम्पूर्ण मन और बुद्धि के व्यापार से एक निष्ठारूपी पिटारा भर कर हे किरीटी! मुझमें ही रख दिया है (२४)

> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

—वह फिर कुछ काल के अनन्तर मेरे समान होता है ऐसा न समझो। अजी, जो अमृत में रहे उसके पास मृत्यु कैसे आ सकती है? (२५) जिस समय में सूर्योदय नहीं होता उसी समय को रात्रि कहते हैं, वैसे ही जो मेरी भक्ति के बिना किया जाय वही क्या महा पाप नहीं है? (२६) अतएव हे पाण्डुसुत! ज्योंही उसके चित्त को मेरा सान्निध्य होता है त्योंही वह तत्त्वतः मत्स्वरूप हो जाता है। (२७) दीपक से दीपक जलाया जाय तो पहला दीपक कौन सा है यह जैसे जान नहीं पड़ता, वैसे ही जो सब भावों से मुझे भजता है वह मद्रूप ही हो रहता है। (२८) फिर जो मेरी नित्यशान्ति है वही उसकी दशा हो जाती है, और जो मेरी कान्ति है वही उसकी हो जाती है। किंबहुना वह मेरे ही जी से जीवन धारण करता है। (२९) हे पार्थ! इस विषय में बारम्बार वही बात कहाँ तक कहूँ? यदि मेरी प्राप्ति की इच्छा हो तो भक्ति को मत भूलो। (४३०) अजी, कुल की

सुन्दरता के पीछे न लगो, कुलीनता की प्रशंसा मत करो, विद्या की वृथा अभिलाषा मत करो (३१) अथवा रूप और तारुण्य से मत्त न हो, या सम्पत्ति का गर्व मत करो। एक मेरा भाव न हो तो यह सब बातें व्यर्थ हैं। (३२) बिना दानों के, सूखे भुट्टे भले लगे हों, अथवा सुन्दर नगर वीरान पड़ा हो, तो किस काम का ? (३३) अथवा जैसे सरोवर सूख गया हो, अथवा दुःखी की दुःखी से ही भेंट हो, अथवा वृक्ष जैसे वन्ध्या फूलों से फूला हो, (३४) वैसे ही सब सम्पत्ति अथवा कुल और जाति की श्रेष्ठता है। जैसे अवयव-सहित शरीर हो परन्तु जीव न हो, (३५) वैसे ही नाश हो उस जीवन का जिसमें कि मेरी भक्ति नहीं है। अजी, पृथ्वी पर क्या पाषाण नहीं रहते ? (३६) अजान के पेड़ की सघन छाया को निषिद्ध मान सज्जन जैसे उसका त्याग कर देते हैं, वैसे ही पुण्य भी अभक्त का त्याग कर चले जाते हैं। (३७) निमकौड़ियों की बहार से नीम यदि कुछ भाव तो उसका कौओं का ही सुकाल होता है वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य पापों के लिए ही बढ़ता है। (३८) अथवा खपरे में छः रस परोस कर चौराहे में रख्खे जायँ तो जैसे कुत्तों के ही उपयोगी होते हैं (३९) वैसे ही भक्तिहीनों का जीवन है जो स्वप्न में भी सुकृत नहीं जानते, जिससे वे मानों संसार के दुःखों के लिए थाली परोस रखते हैं। (४४०) अतएव उत्तम कुल होने की आवश्यकता नहीं। जाति शूद्र की भी हो और शरीर चाहे पशु का भी प्राप्त हो, तथापि कुछ हानि नहीं है। (४१) देखो मगर के पकड़े हुए हाथी ने व्याकुल हो ऐसे प्रेम से मेरा स्मरण किया कि वह मेरे समीप पहुँच गया और उसका पशुत्व भी दूर हो गया। (४२)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

अजी, जिनका नाम लेना भी अनुचित है, जो सब अधमों में अधम हैं, उन पाप-योनियों में भी जिनका जन्म हुआ हो (४३) जो पापोत्पन्न मूढ़ चाहे पत्थर जैसे मूर्ख हों परन्तु मुझमें सर्वभावों से दृढ़ हों (४४) जिनकी वाचा से मेरे गुणानुवाद निकलते हों, जिनकी दृष्टि मेरा ही रूप भोगती हो जिनका मन मेरा ही संकल्प धारण करता हो (४५) जिनके श्रवण मेरी कीर्ति से रीते न रहते हों मेरी सेवा ही जिनके सर्वाङ्गों का अलङ्कार है, (४६) जिनका [illegible] इन्द्रियों को नहीं

जानता, जिनका मातृरूप मुझ एक को जानता हो, जो इस प्रकार का काम हो तो ही जीवन समझते हैं अन्यथा मरण, (४७) हे पाण्डव! जो सब प्रकार से अपने सब भाव सजीव रखने के हेतु मुझको ही जीवन समझते हों, (४८) वे चाहे पापयोनि भी हों, चाहे वेद पढ़े हुए न हों, परन्तु मुझसे तुलना करते हुए उनकी योग्यता में कुछ न्यूनता नहीं रहती। (४९) देखो, भक्ति की सम्पन्नता से दैत्यों ने देवों को हीनता में डाल दिया है। जिसकी महिमा के लिए मैंने नृसिंहरूप धारण किया (५५०) उस प्रह्लाद की मुझसे तुलना की जाय, तो वही श्रेष्ठ दिखाई देता है क्योंकि जो वस्तुएँ मैं उसे देना चाहूँ वे सब उसे उपलब्ध थीं। (५१) यों तो दैत्य का कुल था, परन्तु उसकी श्रेष्ठता की बराबरी इन्द्र भी नहीं कर सकता। अतएव इस विषय में अकेली भक्ति ही शोभा देती है, और जाति अप्रमाण्य है। (५२) राजाज्ञा के अक्षरों का सिक्का जिस एक चमड़े पर पड़ता है उस चमड़े से सब वस्तुएँ मिल सकती हैं, (५३) एवं सोना चाँदी प्रमाण्य नहीं है परन्तु राजाज्ञा ही समर्थ है। वही एक चमड़ा प्राप्त हो जाने से सम्पूर्ण सोना-चाँदी मोल मिल सकता है। (५४) वैसे ही उत्तमता तभी फैलती है, सर्वज्ञता तभी शोभती है जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से भर जाती है। (५५) अतएव कुल जाति और वर्ण सब वृथा हैं। हे अर्जुन! संसार में मेरी भक्ति से ही कृतार्थता होती है। (५६) चाहे जिस भाव से हो, परन्तु मन का प्रवेश मुझमें होना चाहिए; और यदि यह बात हो जाय तो पिछले कर्म सब वृथा हो जाते हैं। (५७) जैसे छोटे छोटे नाले तभी तक नाले कहाते हैं जब तक गङ्गा के जल तक नहीं पहुँचते वहाँ पहुँचते ही वे केवल गङ्गारूप हो जाते हैं। (५८) अथवा खैर चन्दन इत्यादि काष्ठों का भेद तभी तक होता है जब तक वे इकट्ठे करके अग्नि में नहीं डाले जाते, (५९) वैसे ही क्षत्रिय-वैश्य-स्त्री अथवा शूद्र, अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभी तक भिन्न हैं जब तक मुझे नहीं प्राप्त होतीं। (५६०) पर जब वे प्रेम से मुझमें मिल जाती हैं तब जाति और व्यक्ति का कुछ भी निशान नहीं बच रहता मानों लवण के कण समुद्र में मिला दिये गये हों। (६१) नद-नदियों के नाम तभी तक हैं, उनका पूर्व और पश्चिम के मार्ग से बहना तभी तक है, जब तक वे सब समुद्र में नहीं मिल जातीं। (६२) वैसे ही किसी भी मिस से चित्त यदि मुझमें प्रवेश कर ले, तो उतने से ही वह अपने आप मद्रूप हो जाता है। (६३)

शूरता के पीछे न लगो, कुलीनता की प्रशंसा मत करो, विद्वत्ता की वृथा अभिलाषा मत करो (३१) अथवा रूप और तारुण्य से मत्त न हो, या सम्पत्ति का गर्व मत करो। एक मेरा भाव न हो तो यह सब बातें व्यर्थ हैं। (३२) बिना दानों के छूछे भुट्टे घने लगे हों, अथवा सुन्दर नगर वीरान पड़ा हो, तो किस काम का? (३३) अथवा जैसे सरोवर सूख गया हो, जङ्गल में दुःखी की दुःखी से ही भेंट हो, अथवा वृक्ष जैसे वन्ध्या फूलों से फूला हो, (३४) वैसे ही सब सम्पत्ति अथवा कुल और जाति की श्रेष्ठता है। जैसे अवयव-सहित शरीर हो परन्तु जीव न हो, (३५) वैसे ही नाश हो उस जीवन का जिसमें कि मेरी भक्ति नहीं है। अजी, पृथ्वी पर क्या पाषाण नहीं रहते? (३६) अभाव के पेड़ की सघन छाया को निषिद्ध मान सज्जन जैसे उसका त्याग कर देते हैं, वैसे ही पुण्य भी अभक्त का त्याग कर चले जाते हैं। (३७) निमकौड़ियों की बहार से नीम यदि झुक जाय तो उसका कौओं को ही सुकाल होता है वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य पापों के लिए हो बढ़ता है। (३८) अथवा खपर में छः रस परोस कर चौराहे में रक्खे जावें तो जैसे कुत्तों के ही उपयोगी होते हैं (३९) वैसे ही भक्तिहीनों का जीवन है जो स्वप्न में भी सुकृत नहीं जानते जिससे वे मानों संसार के दुःखों के लिए थाली परोस रखते हैं। (४४०) अतएव उत्तम कुल होने की आवश्यकता नहीं। जाति शूद्र की भी हो और शरीर चाहे पशु का भी प्राप्त हो, तथापि कुछ हानि नहीं है। (४१) देखो, मगर के पकड़े हुए हाथी ने व्याकुल हो कर ऐसे प्रेम से मेरा स्मरण किया कि वह मेरे समीप पहुँच गया और उसका पशुत्व भी दूर हो गया। (४२)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

अजी, जिनका नाम लेना भी अनुचित है, जो सब अधमों में अधम हैं, उन पाप-योनियों में भी जिनका जन्म हुआ हो, (४३) जो पापयोनि मूढ़ चाहे पत्थर जैसे मूर्ख हों, परन्तु मुझमें सर्वभावों से दृढ़ हों (४४) जिनकी वाचा से मेरे गुणानुवाद निकलते हों, जिनकी दृष्टि मेरा ही रूप भोगती हो जिनका मन मेरा ही संकल्प धारण करता हो (४५) जिनके श्रवण मेरी कीर्ति से रीते न रहते हों, मेरी सेवा ही जिनके सर्वाङ्गों का अलङ्कार है, (४६) जिनका ज्ञान विषयों को नहीं

जानता, जिनका आत्मस्व मुझ एक को जानता हो, जो इस प्रकार का ध्यान हो तो ही जीवन समझते हैं अन्यथा मरण, (४७) हे पाण्डव! जो सब प्रकार से अपने सब भाव समीप रखने के हेतु मुझको ही जीवन समझते हों, (४८) वे चाहे पापयोनि भी हों, चाहे वेद पढ़े हुए न हों, परन्तु मुझसे तुलना करते हुए उनकी योग्यता में कुछ न्यूनता नहीं रहती। (४९) देखो, भक्ति की सम्पन्नता से दैत्यों ने देवों की हीनता में डाल दिया है। जिसकी महिमा के लिए मैंने नृसिंहरूप धारण किया (५०) उस प्रह्लाद की मुझसे तुलना की जाय, तो बड़ी भेद दिखाई देता है क्योंकि जो वस्तुएँ मैं उसे देना चाहूँ वे सब उसे उपलब्ध थीं। (५१) यों तो दैत्य का कुल था, परन्तु उसकी श्रेष्ठता की बराबरी इन्द्र भी नहीं कर सकता। अतएव इस विषय में अकेली भक्ति ही शोभा देती है, और जाति अप्रमाण है। (५२) राजाज्ञा के अक्षरों का सिक्का जिस एक चमड़े पर पड़ता है उस चमड़े से सब वस्तुएँ मिल सकती हैं, (५३) पर सोना चाँदी प्रमाण नहीं है परन्तु राजाज्ञा ही समर्थ है। वही एक चमड़ा प्राप्त हो जाने से सम्पूर्ण सोना-चाँदी मोल मिल सकता है। (५४) वैसे ही उत्तमता तभी फैलती है, सर्वज्ञता तभी शोभती है जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से भर जाती हैं। (५५) अतएव कुल जाति और वर्ण सब वृथा हैं। हे अर्जुन! संसार में मेरी भक्ति से ही कृतार्थता होती है। (५६) चाहे जिस भाव से हो, परन्तु मन का प्रवेश मुझमें होना चाहिए और यदि यह बात हो जाय तो पिछले कर्म सब वृथा हो जाते हैं। (५७) जैसे छोटे छोटे नाले तभी तक नाले कहाते हैं जब तक गङ्गा के जल तक नहीं पहुँचते वहाँ पहुँचते ही वे केवल गङ्गारूप हो जाते हैं। (५८) अथवा खैर चन्दन इत्यादि काष्ठों का भेद तभी तक होता है जब तक वे इकट्ठे करके अग्नि में नहीं डाले जाते (५९) वैसे ही क्षत्रिय-वैश्य-स्त्री अथवा शूद्र, अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभी तक भिन्न हैं जब तक मुझे नहीं प्राप्त होतीं। (६०) पर जब वे प्रेम से मुझमें मिल जाती हैं तब जाति और व्यक्ति का कुछ भी निशान नहीं बच रहता मानों लवण के कण समुद्र में मिला दिये गये हों। (६१) नद-नदियों के नाम तभी तक हैं, उनका पूर्व और पश्चिम के मार्ग से बहना तभी तक है, जब तक वे सब समुद्र में नहीं मिल जातीं। (६२) वैसे ही किसी भी मिस से चित्त यदि मुझमें प्रवेश कर ले तो उतने से ही वह अपने आप मद्रूप हो जाता है। (६३)

भ्रमी पारस फोड़ने के लिए भी, यदि लोहे का पारस से स्पर्श कराया जाय, तो स्पर्श करते ही वह सोना हो जायगा। (६४) देखो, पति के मिस से गृहपत्नियों के अन्तःकरण मुझसे मिलते ही क्या मत्स्वरूप नहीं हो गये? (६५) अथवा भय के बहाने क्या कंस ने, अथवा निरन्तर वैर के मिस से क्या शिशुपाल इत्यादिकों ने मुझे प्राप्त नहीं कर लिया? (६६) अजी हे पाण्डव! सगोत्र होने के कारण ही यादवों को, और ममता के कारण वसुदेव इत्यादिकों को मेरा सायुज्य प्राप्त हुआ है। (६७) नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक और सनत्कुमारों को जैसे मैं भक्ति से प्राप्त हूँ (६८) वैसे ही गोपिकाओं को विषय-बुद्धि से, कंस को भय से, और शिशुपाल इत्यादि पातकों को उनके अपने अलग मनोधर्मों से प्राप्त हूँ। (६९) अजी मैं एक निदान का स्थान हूँ। मेरी प्राप्ति चाहे जिस मार्ग से हो सकती है भक्ति से, अथवा विषयों की विरक्तता से अथवा वैर से। (४७०) अतएव हे पार्थ! मुझमें प्रवेश करने के लिए संसार में साधनों की न्यूनता नहीं है। (७१) और चाहे जिस जाति में जन्म हो, और भक्ति हो अथवा विरोध हो, परन्तु भक्त अथवा वैरी मेरा ही हो। (७२) अजी, किसी भी प्रकार यदि मेरी भक्ति हो तो वास्तव में मद्रूपता का ही लाभ होता है। (७३) इसलिए हे अर्जुन! पापयोनि अथवा वैश्य, शूद्र या स्त्री मेरा भजन करने से सब मेरे ही घर पहुँचते हैं। (७४)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

तो फिर सब वर्णों में जो श्रेष्ठ हैं, स्वर्ग जिनकी जागीर है, मन्त्रविद्या के भवनरूप जो ब्राह्मण हैं, (७५) जो पृथ्वीतल के देव हैं, जो तप के मूर्तिमान अवतार हैं, जो सब तीर्थों के भाग्यरूप उदय हुए हैं, (७६) जिनके पास निरन्तर यज्ञ की बस्ती है, जो वेदों के कवच हैं, जिनकी दृष्टि की गोद में मङ्गल की वृद्धि होती है, (७७) जिनकी आस्था की आर्द्रता से सत्कर्म का विस्तार होता है, और जिनके सङ्कल्प से सत्य जीवन धारण करता है, (७८) जिनके आशीर्वचन से अग्नि को आयुष्य प्राप्त होता है, अतएव जिन्हें समुद्र ने भी अपना जल समर्पित किया है, जिनकी प्रीति के लिए (७९) मैंने लक्ष्मी को हटा कर दूर कर दिया, और जिनकी चरणरज धारण करने के लिए मैंने कौस्तुभ निश्चय

कर हाथ में लिया, छाती का गड्ढा भूषण रक्खा है, (४८०) और हे सुभद्र! मैं अपनी शान्ति की रक्षा करने के लिए जिनकी लात का चिह्न अभी तक हृदय पर धारण किये रहता हूँ, (८१) हे सुभट! जिनका कोप, काल, अग्नि और रुद्र का वसतिस्थान है, और जिनके प्रसाद से सिद्धियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं, (८२) ऐसे पवित्र और पूज्य जो ब्राह्मण हैं और मेरे विषय में अतिज्ञानी हैं वे मुझे प्राप्त कर लेंगे, इसमें कहना ही क्या है? (८३) देखो, चन्दन के शरीर को स्पर्श की हुई वायु से आस पास के जो नीम के पेड़ सुगन्धित हो जाते हैं, देवों के मस्तकों के लिए उनके मुकुट बनाये जाते हैं, (८४) तो फिर ऐसा कैसे हो सकता है कि स्वयं चन्दन ही यह योग्यता न रखता हो अथवा इस बात की सत्यता के लिए क्या कुछ समझाने की आवश्यकता है? (८५) जैसे ही यदि शीतलता की इच्छा से शङ्कर आधे ही चन्द्रमा को निरन्तर शिर पर धरते हैं, (८६) तो फिर जो चन्द्र के समान ही शीतलता देनेहारा है परन्तु पूर्णता और सुगन्ध में चन्द्र से भी बढ़कर है ऐसा चन्दन स्वभावतः सर्वाङ्ग में क्यों न लगाया जावे? (८७) अथवा जिसका अनुगमन करने से रास्ते पर बहता हुआ पानी भी अनायास समुद्र बन जाता है, उस गङ्गा को, समुद्र के अतिरिक्त, क्या कोई अलग गति होती है? (८८) अतएव राजर्षि हो अथवा ब्राह्मण जो पुरुष मुझी को गति मति और शरण देनेहारा जानते हैं उनके लिए निश्चय से मुक्ति मैं ही हूँ और मुक्ति भी मैं ही हूँ। (८९) अतएव जिसमें सैकड़ों छेद हैं ऐसी नाव में बैठकर बेफ़िक्र क्यों रहना चाहिए? शस्त्रों की वर्षा हो रही हो तो शरीर खुला क्यों न रखना चाहिए? (४९०) शरीर पर पत्थर गिर रहे हों तो ढाल क्यों न आगे करनी चाहिए? रोग से व्याप्त होने पर औषधि से उदासीन क्यों रहना चाहिए? (९१) जहाँ चारों ओर दावाग्नि जल रही हो वहाँ से क्यों न निकल भागना चाहिए? उसी प्रकार दुःख-दुःखयुक्त मृत्युलोक में आकर मेरा भजन क्यों न करना चाहिए? (९२) अजी, मुझे न भजने को तुम्हारे पास बल ही क्या है? क्या घर में लोगों की निश्चिन्तता हो गई है, (९३) अथवा इन प्राणियों को विद्या, तारुण्य अथवा सुख का भरोसा है? (९४) उपभोग की जितनी वस्तुएँ हैं वे केवल शरीर के चङ्गेपन पर निर्भर हैं, और शरीर तो काल के मुख में पड़ा हुआ है। (९५) जिसमें बहुतेरा दुःखरूपी माल छूटा हुआ पड़ा है और मृत्युरूपी माल

अभी पारस फोड़ने के लिए भी, यदि लोहे का पारस से स्पर्श कराया जाय, तो स्पर्श करते ही वह सोना हो जायगा। (६४) देखो, पति के मिस से व्रजयुवतियों के अन्तःकरण मुझसे मिलते ही क्या मत्स्वरूप नहीं हो गये? (६५) अथवा भय के बहाने क्या कंस ने, अथवा निरन्तर वैर के मिस से क्या शिशुपाल इत्यादिकों ने मुझे प्राप्त नहीं कर लिया? (६६) अजी हे पाण्डव! सगोत्र होने के कारण ही यादवों को, और ममता के कारण वसुदेव इत्यादिकों को मेरा सायुज्य प्राप्त हुआ है। (६७) नारद, ध्रुव अक्रूर शुक और सनत्कुमारों को जैसे मैं भक्ति से प्राप्त हूँ (६८) वैसे ही गोपिकाओं को विषयबुद्धि से, कंस को भय से, और शिशुपाल इत्यादि घातकों को उनके घातक मनोधर्मों से प्राप्त हूँ। (६९) अजी मैं एक निदान का स्थान हूँ। मेरी प्राप्ति चाहे जिस मार्ग से हो सकती है भक्ति से, अथवा विषयों की विरक्तता से अथवा वैर से। (४७०) अतएव हे पार्थ! मुझमें प्रवेश करने के लिए संसार में साधनों की न्यूनता नहीं है। (७१) और चाहे जिस जाति में जन्म हो, और भक्ति हो अथवा विरोध हो, परन्तु भक्त अथवा वैरी मेरा ही हो। (७२) अजी किसी भी प्रकार यदि मेरी भक्ति हो तो वास्तव में मद्रूपता का ही लाभ होता है। (७३) इसलिए हे अर्जुन! पापयोनि अथवा वैश्य, शूद्र या स्त्री मेरा भजन करने से सब मेरे ही घर पहुँचते हैं। (७४)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

तो फिर सब वर्णों में जो श्रेष्ठ हैं, स्वर्ग जिनकी जागीर है, मन्त्रविद्या के सकलरूप जो आश्रय हैं, (७५) जो पृथ्वीतल के देव हैं, जो तप के मूर्तिमान अवतार हैं, जो सब तीर्थों के भाग्यरूप उदय हुए हैं, (७६) जिनके पास निरन्तर यज्ञ की बस्ती है, जो वेदों के कवच हैं, जिनकी दृष्टि की गोद में मङ्गल की वृद्धि होती है, (७७) जिनकी आस्था की आर्द्रता से सत्कर्म का विस्तार होता है, और जिनके सङ्कल्प से सत्य जीवन धारण करता है, (७८) जिनके आशीर्वचन से अग्नि को आयुष्य प्राप्त होता है, अतएव जिन्हें समुद्र ने भी अपना जल समर्पित किया है, जिनकी प्रीति के लिए (७९) मैंने लक्ष्मी को हटा कर दूर कर दिया, और जिनकी चरणरज धारण करने के लिए मैंने कौस्तुभ निकाल

जाता है, परन्तु वे आनन्द से उसकी वर्षगाँठ मनाते और ध्वजा-पताका उड़ाते हैं। (१२) अभी वे 'मर' शब्द भी नहीं सहते, और मरने पर रोते हैं, परन्तु मूर्खता से जो हाथ की आयुष्य जा रही है उसकी पर्वाह ही नहीं करते। (१३) मेढक को निगलने के लिए साँप उसको पकड़ा है तथापि मेढक जैसे जीभ से मक्खियाँ पकड़कर खाता रहता है वैसे ही मनुष्य अत्यन्त लोभ से तृष्णा को बढ़ाते हैं। (१४) हाय हाय यह कैसी निकृष्ट स्थिति है! इस मृत्युलोक में सब कुछ उलटा है! हे अर्जुन! यद्यपि तुमने अकस्मात् जन्म लिया है (१५) तथापि यहाँ से झटपट अलग हो निकलो। भक्ति के मार्ग से चलो जिससे तुम्हें मेरा अविनाशी निजधाम प्राप्त हो जायेगा। (१६)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण ॥३४॥

तुम अपना मन मद्रूप कर दो, मेरे भजन में प्रेम रक्खो, सर्वत्र मुझ एक को ही नमस्कार करो। (१७) जो मेरी ही ओर ध्यान रखकर निःशेष सङ्कल्प को जला देता है उसको मेरा निर्मल यजन करनेहारा कहते हैं। (१८) इस प्रकार मुझमें सम्पन्न होगे तो मेरे स्वरूप को पहुँचोगे, यह अपने अन्तःकरण की बात मैं तुमसे कहे देता हूँ (१९) अजी, हमने जो अपना गुप्त सबसे छिपा कर रक्खा है उसे प्राप्त कर सुखरूप हो रहो। (५२०) इस प्रकार उस साँवले परब्रह्म ने—भक्तों के मनोरथों के कल्पवृक्ष श्रीकृष्ण ने—कथन किया और सञ्जय ने बखान किया। (२१) यह सुनकर वृद्ध धृतराष्ट्र चुप चाप बैठा रहा, जैसे कि भैंसा नदी की बाढ़ में स्त म एठ कर बैठा रहता है। (२२) तब सञ्जय ने माथा हिलाया और कहा कि यहाँ अमृत की वर्षा हो गई परन्तु यह धृतराष्ट्र यहाँ रहता हुआ भी मानों दूसरे गाँव को गया था। (२३) तथापि यह हमारा दाता है, इसलिए ऐसा कहने से वाचा दूषित होगी। क्या किया जाय, इसका स्वभाव ही ऐसा है। (२४) परन्तु मेरे बड़े भाग्य की क्या कहने के लिए मुनिराज श्रीव्यासदेव ने मुझे नियुक्त किया। (२५) इस प्रकार बड़ी कठिनाई से और बड़े [illegible] से बोलते हुए सञ्जय को ऐसा सात्त्विक भाव [illegible] में न समा सका। (२६) उसका [illegible] जहाँ की तहाँ स्तम्भ हो गई,

के बोझे पर बोझे आ रहे हैं ऐसी मृत्युलोकरूपी हाट में तो वे अन्त में चलते चलते पहुँचते हैं। (९६) तो फिर हे पाण्डुसुत! यहाँ जीवन को सुख देनेहारा सौदा कैसे मिलेगा? क्या राख फूँकने से दिया जल सकता है? (९७) कच्ची विषरूपी कन्द पीस कर जो रस निचोड़ा जाय उसे अमृत कहकर सेवन करने से अमरत्व प्राप्त करना जैसे सुखदायक होगा (९८) वैसा ही विषय का सुख है। वह केवल परम दुःख है। परन्तु क्या किया जाय? मूर्ख लोग इसका सेवन किये बिना नहीं रहते। (९९) मृत्युलोक का सब सुख ऐसा है जैसे कि अपना ही सिर काट कर अपने पाँव के घाव पर बाँधना। (५००) अतएव मृत्युलोक की सुख की कथा कौन कानों से सुन सकता है? अङ्गारों की शय्या पर कौन सुख से सो सकता है? (१) जिस लोक का चन्द्र क्षयरोगी है, जहाँ अस्त होने के लिए ही सूर्य उदय होता है, दुःख जहाँ सुख का स्वरूप लेकर जगत् को छल करता है, (२) जहाँ मङ्गल के अंकुरों के संग ही अमङ्गल का आक्रमण आ गिरता है और मृत्यु जहाँ उदररूपी घर में रहते हुए गर्भ को भी खोजते पहुँच जाती है, (३) जो वास्तव में नहीं है उसकी चिन्ता कराती है और साथ ही उसे यमदूतों के द्वारा उठवा ले जाती है, और कहाँ ले गई सो भी जान नहीं पड़ता, (४) अजी जहाँ सम्पूर्ण मार्गों की खोज कर देखो तो भी मृत्यु से लौटा हुआ कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं देता मृतों की ही कथायें जहाँ के पुराण हैं, (५) जहाँ की अनित्यता की महिमा का वर्णन यदि ब्रह्मा के आयुष्य तक किया जाय तो भी पूरा न होगा (६) ऐसा जहाँ का रहन-सहन है, उस लोक में जिन्होंने जन्म लिया है उनकी निश्चिन्तता देखकर आश्चर्य मालूम होता है। (७) इहलोक और परलोक की प्राप्ति के लिए उनकी गाँठ से कौड़ी नहीं निकलती परन्तु जहाँ सर्वथा हानि है वहाँ वे कोट्यवधि द्रव्य खर्च करते हैं। (८) जो बहुतेरे विषयविलासों में फँसा हुआ है उसे वे सुखी समझते हैं तथा जो लोभ के बोझे से दबा जाता है उसे ज्ञानी कहते हैं। (९) जिसकी आयु कम होती जाती है, बल और बुद्धि घट जाती है, उसे बड़ा समझ कर उसके चरणों से लगते हैं। (५१०) बालक ज्यों ज्यों बड़ा होता है त्यों त्यों वे प्रेम और सन्तोष से नाचते हैं, परन्तु भीतर से आयुष्य कम हो रहा है इसका कुछ दुःख ही नहीं करते। (११) प्रत्येक जन्मदिन को पुरुष काल के ही अधीन होता

जाता है, परन्तु वे आनन्द से उसकी वर्षगाँठ मनाते और ध्वज-पताका फहराते हैं। (१२) अभी वे 'मर' शब्द भी नहीं कहते, और मरने पर रोते हैं, परन्तु मूर्खता से जो हाथ की आयुष्य जा रही है उसकी पर्वाह ही नहीं करते। (१३) मेंढक को छीलने के लिए साँप पकड़ता है तथापि मेंढक जैसे जीभ से मक्खियाँ पकड़कर खाता रहता है वैसे ही मनुष्य अत्यन्त लोभ से तृष्णा को बढ़ाते हैं। (१४) हाय हाय, यह कैसी निकृष्ट स्थिति है! इस मृत्युलोक में सब कुछ उलटा है! हे अर्जुन! यद्यपि तुमने अकस्मात् जन्म लिया है (१५) तथापि यहाँ से झटपट अलग हो निकलो। भक्ति के मार्ग से चलो जिससे तुम्हें मेरा अविनाशी निजधाम प्राप्त हो जावेगा। (१६)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

तुम अपना मन मद्रूप कर दो, मेरे भजन में प्रेम रक्खो, सर्वत्र मुझ एक को ही नमस्कार करो। (१७) जो मेरी ही ओर ध्यान रख-कर निःशेष सङ्कल्प को जला देता है उसको मेरा निर्मल यजन करनेहारा कहते हैं। (१८) इस प्रकार मुझमें सम्पन्न होगे तो मेरे स्वरूप को पहुँचोगे, यह अपने अन्तःकरण की बात मैं तुमसे कहे देता हूँ (१९) अजी, हमने जो अपना गुप्त सबसे छिपा कर रक्खा है उसे प्राप्त कर सुखरूप हो रहो। (४२०) इस प्रकार उस साँवले परब्रह्म ने—भक्तों के मनोरथों के कल्पवृक्ष श्रीकृष्ण ने—कथन किया और सञ्जय ने बखान किया। (२१) यह सुनकर वृद्ध धृतराष्ट्र चुप चाप बैठा रहा जैसे कि भैंसा नदी की बाढ़ में मस्त हो बैठ कर बैठा रहता है। (२२) तब सञ्जय ने माथा हिलाया और कहा कि यहाँ अमृत की वर्षा हो गई परन्तु यह धृतराष्ट्र यहाँ रहता हुआ भी मानों दूसरे गाँव को गया था। (२३) तथापि यह हमारा राजा है, इसलिए ऐसा कहने से वाचा दूषित होगी। क्या किया जाय, इसका स्वभाव ही ऐसा है। (२४) परन्तु मेरे बड़े भाग्य की क्या कहने के लिए मुनिराज श्रीव्यासदेव ने मुझे नियुक्त किया। (२५) इस प्रकार बड़ी कठिनाई से और दृढ़ निश्चय से बोलते हुए सञ्जय को ऐसा सात्त्विक भाव उत्पन्न हुआ कि वह अपने में न समा सका। (२६) उसका चित्त चकित हो स्थिर हो गया, वाचा जहाँ की तहाँ स्तब्ध हो गई,

पाँव से शिखा तक रोमाञ्च हो गया, (२७) आधी मुँदी हुई आँखों से आनन्द-जल बरसने लगा और अन्तःस्थ सुख की तरङ्गों के कारण बाह्य-शरीर काँपने लगा। (२८) उसके सब रोममूलों में स्वेद के निर्मल बिन्दु भर गये जिससे वह ऐसा दिखाई देता था मानों मोतियों की जाली पहने हो। (२९) इस प्रकार महासुख के प्रेम से जब जीवदशा का आकुञ्चन होने लगा तब उसने व्यास का सौंपा हुआ कार्य करना बन्द कर दिया। (५३०) और श्रीकृष्ण के वचन की ध्वनि जब कानों में पड़ी तब मानों उसने देहस्मृतिरूपी गरम भूमि तैयार की, (३१) और आँखों के आँसू पोंछने लगा शरीर का स्वेद पोंछने लगा और धृतराष्ट्र से कहने लगा कि सुनिए.—(३२) अब श्रीकृष्ण के वचन मानों निर्मल बीज हैं और सञ्जय सात्त्विकभाव का तैयार किया हुआ खेत है। अतएव अब श्रोताओं को सिद्धान्तरूपी फसल का सुकाल होगा। (३३) अजी, ध्यान दीजिए और आनन्द की राशि पर आ बैठिए। बड़े भाग्य से श्रवणेन्द्रियों को नवमाल लाधी है; (३४) एवं निवृत्ति के दास ज्ञानदेव कहते हैं कि सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण अर्जुन को जो विभूतियों के स्थल बतावेंगे सो सुनिए। (५३५) ❀ ❀

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां नवमोऽध्यायः।

दसवाँ अध्याय

हे निर्मल बोध करने में चतुर, हे विद्यारूपी कमल के विकास करनेहारे, हे पराप्रकृतिरूपी स्त्री से विलास करनेहारे! आपको नमस्कार है। (१) हे संसाररूपी अन्धकार के नाश करनेहारे सूर्य, हे अगणित मेंह सामर्थ्यवान् अति तरुण सूर्यावस्था के साथ विलास की लीला करनेहारे! आपको नमस्कार है। (२) हे सकल जगत् के पालन करनेहारे, हे कल्याणरूपी रत्न के निधान, हे सज्जनरूपी वनके चन्दन, हे आराधन करने योग्य स्वरूप! आपको नमस्कार है। (३) हे ज्ञानियों के चित्तरूपी चकोर के चन्द्र, आत्मानुभवियों के नरेन्द्र, हे वेदों के ज्ञान के समुद्र, हे मदन का गर्व हरनेहारे, आपको नमस्कार है। (४) हे प्रेमियों के भजन के पात्र, हे संसाररूपी हाथी का गण्ड-स्थल फोड़नेहारे, हे विश्व की उत्पत्ति के स्थान श्रीगुरुराज! आपको नमस्कार है। (५) आपके अनुग्रहरूपी गणेश जो अपना प्रसाद दें तो पालक का भी सब विद्याओं में प्रवेश हो सकता है। (६) गुरु की उदार वाचा जो अभय वचन दे तो नवरसामृत के समुद्र की थाह लग सकती है। (७) अजी, आपके प्रेमरूपी सरस्वती यदि गूँगे का स्वीकार कर तो वह भी बृहस्पति से मन्त्र रखने की प्रतिज्ञा कर सकता है। (८) बहुत क्या जिस पर आपकी कृपादृष्टि हो अथवा जिसके माथे पर आपका हस्तकमल रक्खा जाय वह जीव हो तो भी शङ्कर की समता प्राप्त कर सकता है। (९) ऐसा जिस महिमा का आय है उसका मैं किस वाचा-बल से वर्णन करूँ? सूर्य के शरीर को क्या उबटन लग सकता है? (१०) कल्पवृक्ष के ऊपर फुलवारी कहाँ से हो सकती है? क्षीरसागर को काहे की पहुनाई की जा सकती है? कपूर किस सुगन्ध से सुगन्धित किया जा सकता है? (११) चन्दन को काहे का लेप किया जा सकता है? अमृत को कैसे राँधा जा सकता है? आकाश के ऊपर मण्डप बनाना कैसे हो सकता है। (१२) वैसे ही श्रीगुरु की महिमा के आकलन करने का साधन कहाँ है? यही जान कर मैं चुपचाप नमन करता हूँ। (१३) यदि विद्या की सम्पन्नता

के कारण श्रीगुरु की सामर्थ्य का वर्णन करने जाऊँ तो वह ऐसा होगा जैसे मोतियों को अभ्रक की पुट देना। (१४) अथवा जैसे उत्तम सोने को चाँदी का मुलम्मा दिया जाय वैसे ही मेरी स्तुति के वचन होंगे। अतएव चुपचाप चरणों पर माथा रखना ही भला है। (१५) फिर श्रीज्ञानेश्वर कहते हैं कि हे स्वामी! आपने जो कृपादृष्टि की सो मैं इस कृष्णार्जुन-संवादरूपी संगम में प्रयाग का (अक्षय) वट बन गया। (१६) पूर्वकाल में दूध माँगते ही उपमन्यु के सामने शङ्कर ने जैसे सम्पूर्ण क्षीर-समुद्र की कटोरी रख दी, (१७) अथवा रूठे हुए ध्रुव को वैकुण्ठ लोक के नायक श्रीविष्णु ने जैसे ध्रुवपदरूपी मिठाई देकर प्रेम से समझा दिया, (१८) वैसे ही आपने यह कृपा की है कि जो अध्यात्मविद्या में श्रेष्ठ है, जो सब शास्त्रों की विश्रान्ति का स्थान है उस भगवद्गीता को मैं [ओवी छन्द में] गा रहा हूँ। (१९) जिस वाणी-रूपी वन में फिरते हुए कभी किसी प्रकार को फल का प्राप्त होना नहीं सुना गया उस वाणी को ही आपने विचाररूपी कल्पलता बना दिया है। (२०) जो केवल देहबुद्धि ही थी उसे आपने आनन्दरूपी भाण्डार की कोठरी बना दिया है और मन को गीतार्थरूपी क्षीरसागर में जलशय्या प्राप्त करा दी है। (२१) ऐसे एक एक आपके अपार अनुग्रह हैं, उनका वर्णन करना मैं क्या जानूँ, तथापि धैर्य से कुछ वर्णन किया है उसके लिए क्षमा कीजिए। (२२) अब आपकी कृपा के प्रसाद से मैंने भगवद्गीता के पूर्वार्ध का [ओवी छन्द में] प्रेम से वर्णन किया। (२३) पहले अध्याय में अर्जुन का विषाद और दूसरे में निर्मल योग का, सांख्यबुद्धि का भेद दिखाकर वर्णन किया। (२४) तीसरे में केवल कर्म की महिमा बखानी। चौथे में उसी का ज्ञान सहित वर्णन किया और पाँचवें में योगतत्त्व प्रतिपादन किया। (२५) छठें में वही योगतत्त्व आसन से लेकर जहाँ जीव और आत्मा एक होते हैं वहाँ तक स्पष्ट प्रकट किया। (२६) और भी योग की जो स्थिति है तथा योगभ्रष्टों की जो गति होती है उस सबका प्रतिपादन भी छठे अध्याय में किया। (२७) फिर सातवें में प्रकृति का उपक्रम और परिहार तथा पुरुषोत्तम के चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया। (२८) अनन्तर सातों प्रश्नों का उत्तर और देहान्त समय की चित्तशुद्धि इत्यादि सब वाक्य निर्णय आठवें अध्याय में किया है। (२९) फिर जितना कुछ अभिप्राय असंख्यात

वेदों में प्रकट हुआ है उतना एक लाख श्लोकयुक्त महाभारत ग्रन्थ में कहा है, (१०) और जो कुछ उस महाभारत में है सो सब कृष्णार्जुन-संवाद में मौजूद है, और जो अभिप्राय गीता के सात सौ श्लोकों में है वह एक नवें अध्याय में ही प्रकट है। (११) अतएव नवें अध्याय के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करने के लिए वेद भी डरते हैं, फिर मैं वृथा क्यों अभिमान करूँ ? (१२) अजी, गुड़ और शक्कर के ढेले यद्यपि एक ही रस के बँधे हुए रहते हैं तथापि जैसे उनकी मधुरता के स्वाद भिन्न भिन्न रहते हैं (१३) वैसे ही गीता के कोई अध्याय ब्रह्मस्वरूप को जानकर उसका प्रतिपादन करते हैं, कोई अपनी ही जगह से ब्रह्मस्वरूप का निर्देश करते हैं, और कोई जानने का प्रयत्न करते हुए जानने के गुण-सहित ब्रह्मरूप हो गये हैं। (१४) ऐसे ये गीता के अध्याय हैं, परन्तु नवाँ अध्याय अवर्णनीय है। उसका मैंने जो वर्णन किया है वह हे प्रभु ! आपकी ही सामर्थ्य है। (१५) अजी, जैसे किसी के अँगौछे ने सूर्य का काम दिया, किसी ने सृष्टि पर सृष्टि रची, किसी ने समुद्र में पत्थर के द्वारा सेना पार उतारी, (१६) किसी ने सूर्य को खड़ा कर दिया, किसी ने चुल्लू में समुद्र भर लिया, वैसे ही आपने मुझ गूँगे से अनिर्वाच्य ब्रह्म का निरूपण करवाया है। (१७) परन्तु यह सब रहने दीजिए। यहाँ यही हाल हुआ है कि श्रीराम और रावण का युद्ध कैसा हुआ, तो जैसे मानों श्रीराम और रावण ही युद्ध में भिड़े हों (१८) वैसे ही मैं कहता हूँ कि नवें अध्याय में जो श्रीकृष्ण के वचन हैं वे नवें अध्याय जैसे ही हैं। यह निर्णय वही तत्त्वज्ञ जानता है जिसके हाथ गीतार्थ आ गया है। (१९) इस प्रकार पहले नवों अध्यायों का मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया अब ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध का आरम्भ होता है उसे सुनिए। (२०) जिसमें अर्जुन को श्रीकृष्ण अपनी मुख्य और गौण विभूतियों का बयान करेंगे वह सुन्दर तथा सरस कथा मैं बयान करता हूँ। (२१) इसमें भाषा की रसमयता से शान्तरस शृंगार को जीत लेगा और यह अलङ्कार शास्त्र के आभूषण बने रहेंगे। (२२) मूल संस्कृत ग्रन्थ से भाषा का ठीक मुक़ाबला की जाय तो चित्त में अभिप्राय की पैठ होते ही यह न जान पड़ेगा कि मूलग्रन्थ कौन है। (२३) जैसे शरीर की सुन्दरता के कारण शरीर ही आभूषणों का अलङ्कार बन जाता है तब यह नहीं ज्ञान पड़ता कि किसने किसको

सुशोभित किया है (४४) वैसे ही यह समझ लीजिए कि संस्कृत और भाषा एक ही भावार्थरूपी निर्मल सुखासन पर प्रेम से शोभा देंगी। (४५) भावों के रूप का उदय होते ही रसवृत्ति की चर्चा होने लगेगी, और चातुर्य कहेगा कि हमारी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। (४६) इस प्रकार भाषा का लावण्य लूटकर रस तरुण होंगे और उनसे इस अनतुमेय गीतातत्त्व की रचना की जायगी। (४७) अनन्तर, चराचरके श्रेष्ठ गुरु, ज्ञानियों के चित्त के चमत्कार, यादवेश्वर श्रीकृष्ण ने निरूपण का आरम्भ किया। (४८) निवृत्ति के ज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीहरि ने कहा—हे अर्जुन! सब प्रकार से तुम्हारा अन्तःकरण भला जान पड़ा है। (४९)

श्रीभगवानुवाच—

> भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
> यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

हमने अभी जो निरूपण किया उससे हमने तुम्हारे अवधान की परीक्षा की तो उसको न्यून नहीं भला पूरा पाया। (५०) घट में पहले थोड़ा-सा पानी डालते हैं और वह चूता न हो तो फिर उसे भरते हैं, वैसे ही हमने तुम्हें थोड़ा-सा निरूपण सुनाया तो अब और भी सुनाने की इच्छा हुई है। (५१) अकस्मात् आये हुए नये मनुष्य के कुछ द्रव्य सुपुर्द कर दिया जाय और वह ईमानदार दिखाई दे तो जैसे उसे भण्डारी बना देते हैं वैसे ही, हे किरीटी! तुम अब मेरे निज धाम बन गये हो।) (५२) इस प्रकार उस सर्वेश्वर ने अर्जुन की ओर देखकर ऐसे प्रेमातिरेक से कहा जैसे कि पर्वतों को देखकर मेघ भर आता है। (५३) कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण कहने लगे कि हे अर्जुन! सुनो पहले कहा हुआ अभिप्राय ही हम फिर से कहते हैं (५४) हर साल खेत बोया जाय और फसल की बाढ़ दिखाई दे तो कृषि करने से उकताना नहीं चाहिए। (५५) जैसे बारम्बार तपाने से सोने के कस की योग्यता अधिक बढ़ती है इसलिए हे पाण्डुसुत! सोना शुद्ध करना ही सबको भाता है, (५६) वैसे ही हे पार्थ! तुम पर कुछ उपकार नहीं है—हम अपने ही स्वार्थ के हेतु फिर से बोल रहे हैं। (५७) जैसे बालक को अलङ्कार पहनाइए तो उन्हें बालक क्या जाने परन्तु उसका सुख-समारम्भ माता की दृष्टि ही भोगती है, (५८) वैसे ही

ज्यों ज्यों तुम्हारा सम्पूर्ण हित तुमको ज्ञात हो त्यों त्यों हमारा सुख दुगुना बढ़ता है। (५८) अब हे अर्जुन! यह आलङ्कारिक भाषा जाने दो। स्पष्ट यह है कि हमें तुमसे प्रेम है इसलिए हम तुमसे बोलते हुए नहीं अघाते। (६०) केवल इसी लिए हमें वही बातें कहनी पड़ती है। अस्तु, अब अन्तःकरण से ध्यान दो। (६१) हे मार्मिक! मेरे परम श्रेष्ठ वचन सुनो जो मानों अक्षरों के अलङ्कार धारण किये हुए परब्रह्म ही तुम्हें आलिङ्गन देने के लिए आये हैं। (६२) हे किरीटी! तुम मुझे वस्तुतः नहीं जानते। अजी, मैं जो हूँ वही यह विश्व है। (६३)

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मुझे जानने के विषय में वेद गूँगे हो गये हैं, मन और वाणी पंगु हो गये हैं, और सूर्य चन्द्र बिना ही रात के अस्त हो गये हैं। (६४) अजी, पेट का गर्भ जैसे अपनी माता की अवस्था नहीं जानता वैसे ही समस्त देव भी मुझे सर्वथा नहीं जानते। (६५) और जलचरों को जैसे समुद्र का प्रमाण दिखाई नहीं देता, मशक जैसे आकाश का उल्लङ्घन नहीं कर सकते वैसे ही महर्षियों का ज्ञान भी मुझे नहीं जान सकता। (६६) मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, किससे कब उत्पन्न हुआ हूँ, इन बातों का निर्णय करते हुए कल्प बीत गये हैं। (६७) क्योंकि महर्षियों का इन देवों का और सब प्राणिमात्र का आदि कारण मैं ही हूँ। इसलिए हे पाण्डव! मुझे जानना अघटित है। (६८) पर्वत से उतरा हुआ जल यदि फिर पर्वत पर चढ़े वृक्ष बढ़ते बढ़ते यदि जड़ को पहुँच जाय तभी मुझसे उत्पन्न हुआ जगत् मुझे जान सकेगा (६९) अथवा यदि वट के अंकुर में सम्पूर्ण वृक्ष समाय जावे, यदि तरङ्ग में समुद्र भरा जा सके यदि परमाणु में यह भूगोल समा जाय, (७०) तभी मुझसे उत्पन्न हुए प्राणियों को महर्षि अथवा देवों का, मुझे जानने के लिए अवकाश हो सकता है (अर्थात् तभी वे मुझे जान सकते हैं)। (७१) तथापि यदि कदाचित् कोई बाह्यप्रवृत्ति छोड़ कर सब इन्द्रियों की ओर पीठ फेरदे (७२) अथवा प्रवृत्त भी हो तो तुरन्त ही पछताने लगे, तो वह देह को पीठ छोड़ महाभूतों के शिखर पर चढ़ सकता है, (७३)

के समय उत्पन्न होते हैं और कोई अज्ञान के, (८७) जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों सूर्य के ही कारण होते हैं। प्रकाश सूर्य के उदय के समय होता है और अन्धकार अस्त के समय। (८८) मेरा ज्ञान अथवा अज्ञान प्राणियों के भावों का फल है। अतएव भावों के कारण ही प्राणियों में विषमता दिखाई देती है। (८९) इस प्रकार हे पाण्डुकुँवर! यह सम्पूर्ण जीव-सृष्टि मेरे भावों से बँधी हुई समझो। (९०) अब इस सृष्टि के जो पालक हैं, जिनके अधीन हो लोक व्यवहार करते हैं, उन ग्यारह भावों का और वर्णन कर बताते हैं। (९१)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सम्पूर्ण गुणों से श्रेष्ठ, महर्षियों में ज्ञानी, जो कश्यप इत्यादि प्रसिद्ध सात ऋषि हैं, (९२) और जो मुख्य चौदह मनुओं में से स्वायम्भुव इत्यादि चार श्रेष्ठ मनु हैं, (९३) ऐसे ये ग्यारह भाव हे धनुर्धर! सृष्टि के व्यापार के लिए मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं। (९४) जब लोकों की स्थिति भी नहीं हुई थी, जब इस त्रिभुवन की कुछ रचना भी न हुई थी, महाभूतों का समुदाय भी जब कुछ न करता हुआ स्तब्ध था, (९५) तभी ये ग्यारह भाव उत्पन्न हो गये थे। फिर इन्होंने लोकों की रचना की और उनमें मनुष्य श्रेष्ठ बनाये। (९६) अतएव ये ग्यारह ही राजा हैं और अन्य सब जग इनकी प्रजा है। इस प्रकार यह विश्वविस्तार मेरा ही समझना चाहिए। (९७) देखो आरम्भ में केवल एक बीज रहता है, फिर वही अंकुररूप से फूटकर पौधा बन जाता है, उसमें शाखाओं के अंकुर निकलते हैं, (९८) और अनेक शाखाओं से अनेक उपशाखायें फूटती हैं और उपशाखाओं में पल्लव और पत्ते फूटते हैं। (९९) पल्लवों से फूल और फल होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष बनता है। परन्तु विचार कर देखने से वह सब केवल बीज ही है। (१००) मैंने ही पहले में एक ही हूँ। फिर उसी मुझसे मन उत्पन्न हुआ। उससे सात ऋषि और चार मनु उत्पन्न हुए। (१) इन्होंने लोकपाल उत्पन्न किये। लोकपालों ने अनेक लोकों की रचना की और उन लोकों से सब प्रजा उत्पन्न हुई। (२) इस प्रकार इस

विश्व में वास्तव में मैं ही विस्तृत हुआ हूँ। परन्तु भाव के द्वारा जब कोई ऐसा समझ ले तब न! (६)

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

और हे सुमनापति! ये भाव मेरी विभूतियाँ और जगत् इनकी व्याप्ति से भरा है। (४) अतएव इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर चिउँटी तक मेरे सिवाय दूसरी वस्तु नहीं है। (५) यह जो यथार्थ में जाने उसको ज्ञान की जागृति होती है। इसलिए उस मले बुरे भेद का स्वप्न दिखाई नहीं देता। (६) वह मुझे और मेरी विभूतियों को और विभूतियों के आश्रय में रहनेवाले सब व्यक्तियों को योग के अनुभव द्वारा एक ही मानता है। (७) इसलिए इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इस महायोग के द्वारा वह अन्तःकरण से मुझमें मिल जाता है। वह निश्चय से कृतार्थ हो चुका है। (८) क्योंकि हे किरीटी! वह मुझे एक प्रकार की अभेददृष्टि से भजता है, अतः उस भजन में उसे मेरी ही प्राप्ति होती है। (९) अतएव अभिन्नता से जो भक्तियोग किया जाता है उसमें निःसन्देह कुछ न्यूनता नहीं रहती। अथवा यदि अभ्यास करते करते भक्तियोग बन्द हो जाय तो भी कुछ हानि नहीं होती। यह बात हम छठे अध्याय में कह चुके हैं। (११०) यह अभिन्नता किस प्रकार की है सो जानने की यदि तुम्हारे अन्तःकरण में इच्छा हुई हो तो सुनो। हम कथन करते हैं। (११)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

हे पाण्डव! इस सब जगत् का जन्म मुझसे ही होता है और इसका सब निर्वाह भी मुझसे ही होता है। (१२) अनेक तरङ्गमालाओं का जन्म जल में ही होता है, और उन तरङ्गों का आश्रय तथा जीवन भी जल ही होता है (१३) यों सब प्रकार से उन्हें जैसे जल एक है, वैसे ही इस विश्व में मेरे सिवाय कुछ नहीं है। (१४) इस प्रकार मुझे व्यापक जानकर जो—चाहे—जहाँ—मेरा भजन करते हैं परन्तु सच्ची चतुरता से और प्रेमभाव से करते हैं, तथा (१५) जैसे वायु आकाश रूप हो आकाश में ही सञ्चार करती है वैसे ही जो

द्वेष, काल, वर्तमान सबको मुझसे अभिन्न जान कर मुझे भजते हैं, (१६) वे आत्मज्ञानी त्रिभुवन में सुख से खेलते हुए मुझ जगद्रूप को मन में धरकर (१७) जो प्राणी मिले उसे भगवन्त ही मानते हैं। इस प्रकार सर्वत्र भगवद्रूप मानना ही मेरा भक्तियोग है यह निश्चय जानो। (१८)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

वे भक्त चित्त से मद्रूप हो जाते हैं मुझसे ही उनके प्राण सन्तुष्ट रहते हैं, और ज्ञानरूपी भ्रम के कारण वे जन्म-मरण भूल जाते हैं (१९) तथा उस ज्ञान के नशे में वे परस्पर संवादसुख के सन्तोष से नाचते हैं आपस में ज्ञान का ही लेन देन करते हैं। (१२०) जैसे दो सरोवर पास पास हों तो उनकी तरङ्गें उछलती हुई आपस में मिल जाती हैं और तरङ्गें ही मानों तरङ्गों की आश्रयभूत मन्दिर बन जाती हैं (२१) वैसे ही एक दूसरे के सम्मेलन से उन भक्तों की आनन्द-तरङ्गों की वेणी बन जाती है और उसमें ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप हो ज्ञान का ही अलङ्कार पहनता है (२२) जैसे सूर्य सूर्य की आरती करे, अथवा चन्द्र चन्द्र का आलिङ्गन दे, अथवा दो समान प्रवाह ही मिल जायँ, (२३) वैसे ही उनकी एकरूपता का प्रयाग बन जाता है और उसमें सात्त्विक भाव कचरा-सा बहता है। वे मानों संवादरूपी चौराहे में स्थापित किये हुए गणेश हो जाते हैं। (२४) और महासुख के अतिरेक द्वारा देहरूपी गाँव के बाहर आकर मेरी प्राप्ति के तृप्ति सूचक डकारों से गर जने लगते हैं। (२५) गुरु-शिष्यों के एकान्त में जो एकाक्षरी मन्त्र कहा जाता है उसी का वे तीनों जगतों में चहुँ ओर मेघ के समान गर्जना कर कहते हैं। (२६) जैसे कमल की कली विकसित होने पर मकरन्द को हृदय में नहीं रख सकती और राव-रङ्क को आमोद की भेंट दे देती है (२७) वैसे ही विश्व में वे मेरा वर्णन करते हैं, कथा के सन्तोष से कथा में ही भूल जाते हैं, और उसी भूल में तन-मन से रममाण हो जाते हैं। (२८) इस प्रकार प्रेम की अधिकाई के कारण जो दिन और रात नहीं जानते, जिन्होंने मेरा पूर्ण सुख पा लिया है, (२९)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

—उन्हें हे अर्जुन! हम जो कुछ देना चाहें उसका उत्तमोत्तम भाग पहले ही प्राप्त हो जाता है। (१३०) क्योंकि हे सुभट! वे जिस मार्ग से निकलते हैं उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष आड़े-टेढ़े रास्ते मालूम होते हैं। (३१) इसलिए वे जो प्रेम करते हैं वही हमारा देना समझो। परन्तु वह हमारा देना भी उन्हीं के अधीन ही रहता है। (३२) तथापि इतना अवश्य है कि हमारा काम यह रहता है कि उनका वह सुख अधिक बढ़ता रहे और उस पर काल की दृष्टि न पड़े। (३३) हे किरीटी! खेलते हुए लाड़ले बालक को प्रेम की दृष्टि से आच्छादन कर माता जैसे उसके पीछे पीछे दौड़ती है (३४) बालक जो जो खिलौना चाहे वह उसके सामने सोने का बनाकर रखती है, वैसे ही मैं भक्ति के मार्ग का पोषण करता रहता हूँ। (३५) जिस मार्ग के पोषण से वे भक्त सुख से मुझे प्राप्त कर लें उसी का पोषण करना मुझे विशेषतः भाता है। (३६) क्योंकि भक्तों को हमारी प्रीति है और हमें उनके अनन्य भाव की इच्छा है क्योंकि हमारे घर प्रेमियों का दुकाल है। (३७) देखो हमने स्वर्ग और मोक्ष उत्पन्न किये और ये दोनों मार्ग उनके अधीन कर दिये और निदान में लक्ष्मी सहित हमने अपना शरीर भी उन्हें समर्पित कर दिया। (३८) और आत्मा के विरहित जो एक सुख है वह उन प्रेमियों के लिए अलग कर वैसा ही नूतन बना रक्खा है। (३९) यहाँ तक हे किरीटी! हम निज का परित्याग कर भक्त का अङ्गीकार करते हैं। ये बातें कहने के योग्य नहीं। (१४०)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अतएव जिन्होंने मेरा प्रेम अपने जीवन का आश्रय कर लिया है, जो मेरे सिवाय और सब मिथ्या मानते हैं (४१) उनका शुद्ध तत्त्वज्ञान मानों कपूर की मशाल बन जाता है और मैं मशालची बनकर उनके आगे आगे चलता हूँ; (४२) और अज्ञान की रात में जो तम का समुदाय घिर आता है उसका नाश कर हटा देता हूँ और नित्य प्रकाश कर देता हूँ। (४३) भक्तों के प्रियोत्तम श्रीपुरुषोत्तम

जब इस प्रकार बोले तब अर्जुन ने मनोभाव से कहा कि मैं तृप्त हो गया। (४४) अजी सुनिए आपने यह संसाररूपी कचरा उड़ा दिया। हे प्रभु! मैं जन्म-मरण से मुक्त हो चुका। (४५) मैंने अपना जन्म आज अपनी ही आँखों में देख लिया। मेरा जीवन मेरे हाथ आ गया सा मालूम होता है। (४६) आज मेरा आयुष्य सफल हो चुका। मेरे दैव का भाग्योदय हुआ जो मुझ पर देव के मुख से ऐसे वचनों की कृपा हुई। (४७) अब इन वचनों के प्रकाश से मेरा अन्तर्बाह्य अन्धकार मिट गया। अतएव मुझे आपका यथार्थ स्वरूप दिखाई दे रहा है। (४८)

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

हे जगन्नाथ! आप परब्रह्म हैं और इन महाभूतों के पवित्र और परम विश्रान्ति के स्थान हैं। (४९) आप तीनों देवों के परम दैवत हैं, आप पच्चीसवें पुरुष हैं आप मायाभाव के परे के दिव्यस्वरूप हैं। (१५०) हे स्वामी! आप अनादिसिद्ध हैं जो जन्ममार्गों के वश नहीं होते, आपको अब हमने पहचान लिया। (५१) हम निश्चय से जान चुके कि आप इस कालरूप यन्त्र के चालक हैं, आप जीवकला के मुख्य देवता हैं, आप ब्रह्माण्ड के आश्रयभूत हैं। (५२)

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

इस अनुभव की सत्यता और एक प्रकार से सिद्ध होती है। पूर्व में ऋषीश्वरों ने आपका ऐसा ही वर्णन किया है। (५३) परन्तु उस वर्णन की यथार्थता मेरा अन्तःकरण आज देख रहा है, और यह सब आपकी कृपा ही के कारण। (५४) अन्यथा नारदमुनि निरन्तर हमारे यहाँ आते थे और ऐसे ही वचनों से गीतों में आपका वर्णन करते थे परन्तु हम उसका अर्थ न जानकर केवल गीतसुख ही सुनते रहते थे। (५५) अजी, अन्धों के नगर में यदि सूर्य आप ही आप प्रकट हो तो उन्हें सवेरा घाम ही मालूम होगा। उन्हें प्रकाश

कैसे दिखाई देगा ? (५६) देवर्षि तो आत्मज्ञान गाते थे, परन्तु हमारी समझ में उनके रागों की ऊपरी मधुरता ही आती थी, और ज्ञान कुछ हाथ नहीं लगता था। (५७) असित और देवल ऋषि के मुख से भी मैंने आपका ऐसा ही वर्णन सुना है, परन्तु तब मेरी बुद्धि विषयरूपी विष से सनी हुई थी। (५८) विषयविष की महिमा ही ऐसी है कि मधुर परमार्थ कड़ुआ लगता है और कड़ुआ विषय अन्तःकरण में मधुर मालूम होता है। (५९) दूसरों की क्या कहूँ स्वयं व्यासदेव मन्दिर में आकर आपका सम्पूर्ण स्वरूप सदा कथन करते थे। (१६०) परन्तु जैसे कोई अँधेरे में चिन्तामणि देखकर उसे इस बुद्धि से फेंक दे कि वह चिन्तामणि नहीं है और अनन्तर सूर्योदय के समय उसे पहचाने (६१) वैसे ही व्यासादिकों के वचन मेरे समीप मानों उत्तर ज्ञानरूपी रत्नों की खानें थीं परन्तु हे कृष्ण ! आप सूर्य के बिना मैं उनकी उपेक्षा कर रहा था। (६२)

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

परन्तु अब आपके वचनरूपी सूर्यकिरणों का विकास होने से ऋषियों ने जो मार्ग कथन न किये थे उन सबकी अपरिचितता दूर हो गई। (६३) अभी उनके वचन ज्ञान के बीज हैं। और वे मेरे हृदयरूपी भूमि में गहरे पड़े हुए थे। उन पर आपकी कृपा की आर्द्रता प्राप्त हुई इसलिए मुझे इस एक वाक्यतारूपी फल का लाभ हुआ है। (६४) हे अनन्त ! नारदादिक सन्तों के वचनरूपी नदियों का मैं संगाव सुखरूपी समुद्र बन गया हूँ। (६५) हे प्रभु ! इस सम्पूर्ण जन्म में मैंने जितने उत्तम पुण्य किये हों उनका हे सद्गुरु ! आपकी उपस्थिति में कुछ प्रयोजन नहीं रहा (६६) यों तो बड़े बूढ़ों के मुख से मैं सदा आपके गुणानुवाद कानों से सुनता था, परन्तु जब तक एक आपने कृपा न की तब तक मुझे कुछ ज्ञान नहीं हुआ। (६७) भाग्य अनुकूल रहे तभी किये हुए उद्यम सर्वदा सफल होते हैं; इसी तरह जब गुरुकृपा हो तभी श्रवण किये हुए और पढ़े हुए की सार्थकता होती है। (६८) अजी माली जन्म भर वृक्षों को सींचता है और जी से अधिक श्रम करता है परन्तु फल की भेंट तभी होती है जब वसन्त प्राप्त हो। (६९) अजी, विषमज्वर जब उतार पर हो तभी मीठी वस्तु

मीठी मालूम होने लगती है। औषधि मधुर तभी कहाती है जब शरीर को आरोग्य हो, (७०) अथवा इन्द्रिय, वाचा और प्राण होने की सार्थकता तभी है जब चैतन्य आकर इनमें सञ्चार करे। (७१) इसी तरह, किसी ने वेद-शास्त्रों का आलोचन किया है, अथवा योग आदि का अभ्यास किया है, ऐसा तभी समझा जा सकता है जब श्रीगुरु अनुकूल हों। (७२) इस प्रकार अनुभव के आये हुए नशे में अर्जुन मदान्वित हो अनेक प्रकार नाचने लगा, और कहने लगा कि हे देव! आपके वचन मुझे स्वीकृत हुए, (७३) और हे कैवल्यपति! मुझे सचमुच ऐसी प्रतीति हो गई कि आप देवों और दानवों की बुद्धि से जानने-योग्य नहीं हैं। (७४) हे देव! यह बात मेरी बुद्धि में निश्चय पूर्वक जम गई कि आपके वचनों का अनुभव होते हुए जो अपने ही ज्ञान से आपको जानने की चेष्टा करे वह आपको कभी नहीं जान सकता। (७५)

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

आकाश अपना विस्तार जैसे आप ही जाने अथवा पृथ्वी की घनता जैसे पृथ्वी ही जाने, (७६) वैसे ही हे लक्ष्मीपति! अपनी सर्वशक्ति से अपने को आप ही जान सकते हैं। वेदादिकों की मति की प्रतिष्ठा वृथा है। (७७) भला, दौड़ में मन को पिछलाना कैसे हो सकता है? पवन को कोई बगल में कैसे पकड़ सकता है? बाँहों से तैर कर माया कैसे पार की जा सकती है? (७८) ऐसा ही आपका ज्ञान है, अतएव उसे कोई भी नहीं जानता। आपका ज्ञान आपके ही योग्य है। (७९) आप ही आपको आपही जानते हैं, और दूसरे को उपदेश करने के लिये आप ही समर्थ हैं। तो अब एक बार हमारी सुनने की अभिलाषा पूरी कीजिए। (८०) सुनिए, हे प्राणियों के उत्पन्न करनेहारे, हे संसाररूपी गज के सिंह, हे सकल देव-देवताओं के पूज्य, हे जगन्नायक! (८१) यद्यपि हम आपकी महिमा देख रहे हैं, तथापि हम आपके पास भी खड़े रहने के योग्य नहीं हैं। परन्तु इस दीनता के कारण यदि हम आपसे विनती करने के लिए डरें तो हमें दूसरा उपाय ही नहीं है। (८२) चाहे ओर समुद्र और नदियाँ भरी हों तथापि चातक के लिए वे शुष्क हैं। क्योंकि जब मेघ से

किन्तु गिरे तभी वसे पानी प्राप्त होता है। (८३) वैसे ही श्रीगुरु सचमुच हैं, परन्तु हे कृष्ण! हमारी गति आप ही हैं। (८४)

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अभी आपकी विभूतियाँ तो सभी हैं परन्तु जिनमें आपकी दिव्य शक्ति व्याप्त है वही बताइए। (८५) जिन विभूतियों से हे अनन्त! आप इन सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त हैं, उनमें से मुख्य मुख्य के नाम लेकर प्रकट कीजिए। (८६)

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

स्वामी, मैं आपको किस रूप का समझूँ? क्या समझकर सर्वथा आपका चिन्तन करूँ? यदि सब ही आप हैं ऐसा कहूँ, तो ध्यान नहीं हो सकता। (८७) इसलिए पहले आपने जैसे अपने भावों का संक्षेप से वर्णन किया था वैसे ही एक बार अब विस्तार से कहिए। (८८) जिन जिन भावों में आपका चिन्तन करते हुए मुझे कष्ट न हो वो आपका योग मुझे स्पष्ट कर बताइए (८९)

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

—और मैंने जो विभूतियाँ पूछीं उनका वर्णन कीजिए। हे भूतपति! यदि आप कहें कि वही बार बार क्या वर्णन करें, (१९०) तो हे जनार्दन! यह बात मनमें ही न आने दीजिए। साधारण अमृतपान को भी 'बस करो, रहने दो' नहीं कहा जाता। (९१) जो कालकूट का भाता है, जिसे मृत्यु के डर से देवों ने पिया है तिस पर भी दिन में चौदह इन्द्र हो जाते हैं, (९२) ऐसा जो क्षीरसमुद्र का एकरस है जिसमें अमृतत्व का मिथ्या आभास मालूम होता है, उसको मधुरता भी इनकार नहीं करने देती। (९३) उस तुच्छ वस्तु की मधुरता की यहाँ तक महिमा है। फिर यह तो वास्तव में परमामृत है (९४) जो बिना ही मन्दराचल को हिलाये और बिना ही क्षीरसमुद्र को मथे स्वामाविक: अनादि काल से उपस्थित है, (९५) जो न बहता है, न गाढ़ा है, न जमता है, जिसमें न रस न सुगन्ध दिखाई देती है, और जो

नित्यसिद्ध है,—चाहे जिसे स्मरण से ही प्राप्त हो सकता है, (९६) जिसका वर्णन सुनते ही संसार मिथ्या हो जाता है, निज को जबरदस्ती नित्यता प्राप्त होने लगती है, (९७) जन्म-मृत्यु की वार्ता बिलकुल ही मिट जाती है और अन्तर्बाह्य महासुख की वृद्धि होने लगती है, (९८) और जिसका यदि दैवगति से सेवन किया जाय तो सेवन करनेहारा तद्रूप हो रहता है वह परमामृत आप मुझे दे रहे हैं अतः मेरा चित्त भर नहीं सकता (९९) आपका तो नाम ही हमें प्यारा है, जिस पर आपकी प्रत्यक्ष भेंट हुई है तथा आपके सहवास का लाभ हुआ है, और इसके अलावा आप आनन्द से सुख की बातें कह रहे हैं। (२००) अतः यह सुख काहे के समान है यह मुझसे सन्तोष के कारण कहा नहीं जाता। परन्तु मैं यह चाहता हूँ कि आप अपने मुख से फिर से वही वचन कहें। (१) अजी, सूर्य क्या कभी बासी हुआ है? अग्नि क्या कभी अपवित्र कही जा सकती है? अथवा नित्य बहनेहारा गङ्गाजल भी क्या बासी हो सकता है? (२) आपने अपने मुख से जो वचन कहे वे हमें नादब्रह्म के ही रूप दिखाई देते हैं, अथवा आज हम मानों चन्दनवृक्ष के फूलों की सुगन्ध ले रहे हैं। (३) पार्थ के इन वचनों से श्रीकृष्ण सर्वाङ्ग-सहित डोलने लगे और बोले कि अर्जुन अब भक्ति और ज्ञान का घर बन गया है। (४) ऐसी प्रतीति के सन्तोष में प्रेम का हिलोरता हुआ प्रवाह आयास से थाँभ कर श्री अनन्त ने क्या कहा सो सुनिए। (५)

श्रीभगवानुवाच—

> *हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।*
> *प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥*

वे मानों चित्त से यह भूल गये कि मैं प्रद्युम्न का पिता हूँ, और कहने लगे 'बाबा पाण्डुसुत! शाबाश!' (६) अर्जुन को बाबा कहने में हमें कुछ आश्चर्य का कारण नहीं मालूम होता। क्या शरीर से वे नन्द के लड़के नहीं हैं? (७) परन्तु सम्प्रति ये वचन प्रेम की अधिकता से निकले हैं। फिर श्रीकृष्ण ने कहा, हे धनुर्धर! सुनो। (८) हे सुभद्रापति! तुमने जो विभूतियाँ पूछीं वे संख्या में इतनी हैं कि—हैं तो वे सब मेरी पर—मेरी बुद्धि से भी उनकी गणना नहीं हो सकती। (९) जैसे कोई अपने आप ही शरीर के रोम नहीं गिन

सकता वैसे ही ये मेरी विभूतियाँ मुझसे अगणनीय हैं। (२१०) मैं कैसा हूँ कितना हूँ, यह मैं आप ही स्पष्ट नहीं जान सकता। इसलिए जो विभूतियाँ मुख्य मुख्य नामों से प्रसिद्ध हैं उनको सुनो। (११) हे किरीटी ! जिन्हें जानने से सब विभूतियों का ज्ञान हो सकेगा, जैसे बीज मुट्ठी में आने से वृक्ष ही करगत हुआ-सा होता है, (१२) अथवा बगीचा हाथ लगने से फल और फूल आप ही आप प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही इन विभूतियों के देखने से सम्पूर्ण विश्व देखा-सा हो चुका है। (१३) यों तो हे धनुर्धर ! यथार्थ में मेरे विस्तार का अन्त नहीं है। गगन के समान अपार वस्तु भी मुझमें बसती है। (१४)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

घूँघरवाले बाल धारण करनेहारे, हे धनुर्विद्या के शङ्कर ! सुनो, मैं हर एक प्राणी का आत्मा हूँ। (१५) भीतर की ओर मैं भूत मात्र के अन्तःकरण में हूँ और बाहर की ओर उन पर मेरा ही आच्छादन है। आदि में मैं हूँ अन्त में मैं हूँ और मध्य में भी मैं ही हूँ। (१६) जैसे मेघों के लिए नीचे ऊपर और अन्तर्बाह्य एक आकाश ही है, और वे आकाश में ही उत्पन्न होवें और उसी में रहते हैं, (१७) और अनन्तर जब विलीन होते हैं तब आकाशरूप ही हो रहते हैं, वैसे ही प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश मैं हूँ। (१८) इस प्रकार मेरा विस्तार और मेरी व्यापकता मेरे विभूति-योग के द्वारा जान लो। हृदय को श्रवणरूप कर बारम्बार सुनो। (१६) अब हे सुमद्रापति ! जो विभूतियाँ बताने की हमने प्रतिज्ञा की थी उनका वर्णन करना रहा है। वे मुख्य मुख्य विभूतियाँ सुनो। (२२०)

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

इतना कह कर उन कृपावन्त श्रीकृष्ण ने कहा कि बारह आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, तथा प्रकाशमान् पदार्थों में मैं किरण-युक्त सूर्य हूँ। (२१) योगीजन कहते हैं कि मरुद्गणों की कक्षा में मैं मरीचि हूँ। आकाश के तारागणों में मैं सूर्य हूँ। (२२)

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

गोविन्द कहते हैं कि वेदों में जो सामवेद है वह मैं हूँ, देवों में जो मरुद्गण-बन्धु महेन्द्र है वह मैं हूँ। (२३) इन्द्रियों में ग्यारहवाँ जो मन है वह मुझे ही समझो। और प्राणियों में स्वभावतः जो चेतन-कला है वह मैं हूँ। (२४)

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

सम्पूर्ण रुद्रों में मदन के शत्रु जो शङ्कर है, सो मैं हूँ, इसमें कुछ सन्देह मत रक्खो। (२५) श्री अनन्त कहते हैं कि यक्ष और राक्षसगणों में शङ्कर का मित्र जो धनवान् कुबेर है वह मैं हूँ। (२६) आठों वसुओं में जो अग्नि है वह मैं हूँ और शिखरवान् पर्वतों में सबसे ऊँचा जो मेरु है वह मैं हूँ। (२७)

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

जो इन्द्र का सहायक, सर्वज्ञता का आदिपीठ, और पुरोहितों में श्रेष्ठ है वह बृहस्पति मैं हूँ। (२८) हे महामति ! तीनों लोकों के सेनापतियों में मैं वह कार्तिकस्वामी हूँ जो शङ्कर के वीर्य और अग्नि के सङ्ग से, कृत्तिका के पेट से उत्पन्न हुआ है। (२९) सम्पूर्ण सरोवरों में जलराशि जो समुद्र है वह मैं हूँ, महर्षियों में तपोराशि जो भृगु है वह मैं हूँ। (२१०) वैकुण्ठनिवासी श्रीकृष्ण कहते हैं कि सम्पूर्ण वाचाओं में जिस सत्य का व्यवहार है वही एक सत्य अक्षर मैं हूँ। (११) इस लोक सम्पूर्ण यज्ञों में जो कर्मत्याग-द्वारा ओङ्कारादि से उत्पन्न होता है वह जपयज्ञ मैं हूँ। (१२) नाम का जपरूपी यज्ञ श्रेष्ठ है। उससे स्नानादि कर्मों की बाधा नहीं हो सकती। नाम से धर्माधर्म पवित्र होते हैं, और वेदों में कहा है कि नाम परब्रह्म है। (१३) जगती के कान्त कहते हैं कि पर्वतों में पुण्यवान् और पूज्य जो हिमालय है वह मैं हूँ। (१४)

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

कल्पवृक्ष और पारिजातक तथा चन्दन भी गुणों में बड़े विख्यात हैं तथापि इन वृक्षमात्रों में जो अश्वत्थ है वह मैं हूँ। (३५) हे पाण्डव! देवर्षियों में जो नारद हैं सो मुझे ही समझना चाहिए। सब गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ। (३६) हे ज्ञानवन्त! इन सम्पूर्ण सिद्धों में मैं कपिलाचार्य हूँ और प्रसिद्ध घोड़ों में मैं उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र का घोड़ा हूँ (३७) राजाओं के भूषणरूपी हाथियों में हे अर्जुन। जो देवों के मन्थन-समय क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ था वह, ऐरावत मैं हूँ। (३८) मनुष्यों में जो राजा है सकल लोक जिसकी प्रजा हो सेवा करते हैं वह मेरी विशेष विभूति है। (३९)

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

हे धनुर्धर! सब हथियारों में मैं वज्र हूँ जो सौ यज्ञ करके हाथमें लेनेहारे इन्द्र के हाथ में रहता है। (४०) श्रीकृष्ण कहते हैं कि गौओं में जो कामधेनु है वह मैं हूँ, जन्म देनेहारों में जो मदन है वह मैं हूँ। (४१) हे कुन्तीसुत! सर्पकुल का नायक वासुकी मैं हूँ और सम्पूर्ण नागों में मैं अनन्त हूँ। (४२) श्री अनन्त कहते हैं कि जलचरों में जो पश्चिम दिशा का स्वामी वरुण है वह मैं हूँ। (४३) और मैं यथार्थ कह रहा हूँ कि सम्पूर्ण पितृगणों में जो पितृदेवता अर्यमा है वह मैं हूँ। (४४) जग के जो शुभाशुभ लिखनेहारे, प्राणियों के मन का शोध लेनेहारे और कर्मानुसार भोगों को देनेहारे हैं (४५) उन शासन करनेहारों में जो यम है, जो कर्म का साक्षीभूत धर्म है, वह मैं हूँ। इस प्रकार श्रीरमापति आत्माराम ने निरूपण किया और फिर कहा:—(४६)

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

सभी दैत्यों के कुल में जो प्रह्लाद है वह मैं ही हूँ। इसी कारण वह दैत्यस्वभाव के समुदाय में लिप्त नहीं हुआ। (४७) श्रीगोपाल ने कहा कि हरण करनेहारों में जो महाकाल है वह मैं हूँ। श्वापदों में जो व्याघ्र है वह मैं हूँ। (४८) पक्षीजातियों में जो गरुड़ है वह मैं हूँ। इसी लिए वह मुझे पीठ पर ले जा सकता है। (४९)

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

हे धनुर्धर! इस विस्तृत पृथ्वी पर जो एक घड़ी भी न लगा, एक ही उड़ान में सातों समुद्र की प्रदक्षिणा कर सकते हैं (५५०) उन सब वेगवान पदार्थों में जो पवन है वही मैं हूँ। हे पाण्डुसुत! सम्पूर्ण शस्त्र-धारियों में मुझे श्रीराम समझो, (५१) जिसने संकटस्थ धर्म का पक्ष ले त्रेतायुग में केवल एक धनुष के ही सहायता से विजयलक्ष्मी को अपनी ही ओर—एकमार्गी—कर लिया, (५२) और अनन्तर सुमेरु-रूपी पर्वत पर खड़े हो आकाश में जयघोष करते हुए प्राणियों के हाथ प्रतापी रावण की मस्तकपंक्ति का बलि दिया, (५३) जिसने देवों को सम्मान प्राप्त करा दिया, धर्म का जीर्णोद्धार किया और सूर्यवंश में मानों जो सूर्य ही उत्पन्न हुआ (५४) वह शस्त्र धारण करनेहारों में जो एक रमाकान्त श्रीरामचन्द्र हैं वह मैं हूँ। पुच्छवान् जलचरों में मैं मकर हूँ। (५५) सम्पूर्ण प्रवाहों में जो भगीरथ की लाई हुई गङ्गा है, जिसे जह्नु पी गया और फिर उसने जाँघ फाड़ कर जिसे बाहर निकाला (५६) जो सम्पूर्ण जलप्रवाहों में त्रिभुवन को मुख्य नदी है सो हे पाण्डुसुत वह जाह्नवी मैं हूँ। (५७) इस प्रकार अलग अलग सृष्टि में एक एक विभूति का नाम लूँ तो सहस्र जन्मों तक वे आधी भी न गिनी जायँगी। (५८)

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

सम्पूर्ण नक्षत्र चुन लेने की इच्छा अन्तःकरण में उपजे तो, जैसे आकाश की ही पोटरी बाँधनी चाहिए, (५९) अथवा पृथ्वी के परमाणुओं की गणना करनी हो तो समग्र भूगोल काख में दाबना चाहिए वैसे ही यदि मेरा विस्तार देखना हो तो मुझे ही जान लेना चाहिए। (६०) जैसे शाखाओं-सहित फूल और फल सब एकदम समेटना चाहो तो वृक्ष उखाड़कर हाथ में लेना आवश्यक है (६१) वैसे ही मेरी विशेष विभूतियाँ यदि सम्पूर्ण जानना चाहो तो एक मेरा शुद्ध स्वरूप ही जान लेना आवश्यक है, (६२) अन्यथा मेरी अलग अलग विभूतियाँ कितनी और कहाँ तक सुनोगे। इसलिए हे महामति! एकदम यह जान लो कि सभी मैं हूँ (६३) हे किरीटी! मैं सम्पूर्ण सृष्टि के आदि में, मध्य में और अन्त में हूँ जैसे कि पट में तन्तु सर्वत्र समान भरा रहता है। (६४) मुझे ऐसा व्यापक जान लो तो फिर विभूतियों के भेद से क्या काम है? परन्तु यह तुम्हारा अधिकार नहीं है, इसलिए रहने दो। (६५) हे सुभद्रापति! तुमने विभूतियाँ पूछीं अतएव वे ही सुन लो। विद्याओं में जो आध्यात्मविद्या है वह मैं हूँ। (६६) अजी, बोलनेवालों में मैं वह वाद हूँ, जो सब शास्त्रों की पक्षापक्षता का कभी बन्द नहीं होता, (६७) जो मथित करने से और बढ़ता है, जिससे सुननेवालों का तर्क और भी प्रबल होता है तथा जिससे बोलनेवालों की मधुर भाषाएँ प्रेरित होती हैं। (६८) इस प्रकार श्रीगोविन्द ने कहा कि प्रतिपादन करनेवालों में मैं वाद हूँ और अक्षरों में जो शुद्ध अकार है वह मैं हूँ। (६९) और सुनो, समासों में जो द्वन्द्व है वह मैं हूँ। मशक से लेकर ब्रह्मदेवपर्यन्त सबका ग्रास करनेवाला मैं हूँ। (२००) जो मेरु-मन्दराचल प्रभृति सब पदार्थों-सहित पृथ्वी को पिघला डालता है और प्रलय-काल की समुद्र स्थिति को भी जहाँ के तहाँ सोख डालता है, (७१) जो प्रलय के तेज से लिपट जाता है, पवन को निःशेष निगल जाता है, और हे किरीटी! आकाश जिसके पेट में समाया हुआ है, (७२) ऐसा जो अपार काल है—लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्ण कहते हैं कि—वह काल मैं हूँ तथा सृष्टि का सङ्गठन कर रचनेवाला भी मैं हूँ। (७३)

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

और, उत्पन्न हुए भूतों की रक्षा भी मैं ही करता हूँ। मैं ही सबका

जीवन हूँ, और निदान में जब इनका संहार करता हूँ तब मृत्यु भी मैं ही बनता हूँ। (७४) अब स्त्रीरूपा में सात विभूतियाँ और हैं, उनका भी मैं प्रेम से बयान करता हूँ सो सुनो। (७५) हे अर्जुन! नित्य नूतन जो कीर्ति है वह मेरी मूर्ति है, और औदार्यसहित जो सम्पत्ति है वह भी मुझे ही जानो। (७६) और न्याय के सुआसन पर चढ़कर विवेक के मार्ग से जो वाचा चलती है वह भी मैं हूँ। (७७) पदार्थ देखते ही जो मेरा स्मरण करा दे वह स्मृति भी निश्चय से मैं हूँ। (७८) आत्महित का अपाय न करनेहारी जो बुद्धि है वह मैं हूँ। संसार में मैं धृति हूँ, तथा त्रिभुवन में जो क्षमा है वह मैं हूँ। (७९) स संसाररूपी हाथी के विदारण करनेहारे सिंह-श्रीकृष्ण ने कहा कि स्त्रीगणों में ये मेरी सात शक्तियाँ हैं। (२८०)

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

श्रीरमापति ने कहा कि हे त्रिलोत्तम! वेदों के समुदाय में जो बृहत्साम है (८१) वह मैं हूँ। और यह निश्चय जानो कि सब छन्दों में जिसे गायत्री छन्द कहते हैं वह मेरा स्वरूप है। (८२) शार्ङ्गधर कहते कि मासों में जो मार्गशीर्ष है वह मैं हूँ, और ऋतुओं में पुष्पों की खानि जो वसन्त है वह मैं हूँ। (८३)

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

हे विद्वन्! छल करनेहारों में जुआरूप जो द्यूत है वह भी मैं हूँ। इसलिए यद्यपि वह खुली हुई चोरी है तथापि उसका निवारण न करना चाहिए। (८४) सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों में जो तेज है वह मैं हूँ, और सम्पूर्ण कर्मकार्यों में मैं विजय हूँ। (८५) देवों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि व्यापारों में वह व्यापार मैं हूँ जिससे न्याय निर्मल दिखाई दे। (८६) सात्त्विक लोगों में मैं सत्त्व हूँ। यादवों में जो श्रीमन्त है वह मैं हूँ। (८७) जो देवकी और वसुदेव से उत्पन्न हुआ, जो गोपियों के हेतु गोकुल में गया सो मैं हूँ, जिसने पूतना

का स्तनपान कर उसके प्राण हर लिये; (८८) बाल्यावस्था की कच्ची न खुली थी तभी जिसने पृथ्वी दैत्यरहित कर डाली और हाथ में पर्वत धारण कर इन्द्र की महिमा की माप कर डाली, (८९) जिसने कालिन्दी के हृदय में खलनेवाला दुःख मिटा दिया, जिसने जलते हुए गोकुल की रक्षा की और बछड़ों के विषय में ब्रह्मा को पागल बना दिया (२९०) जिसने बाल्यावस्था के प्रथम भाग में ही कंस जैसे बड़े बड़े महापुरुषों का तत्काल सहज ही नाश कर दिया—(९१) ये बातें कहाँ तक वर्णन करें तुमने भी ये सब सुनी हैं—तात्पर्य यह कि यादवों में ऐसा मेरा यही स्वरूप है। (९२) सोमवंशी पाण्डवों में मुझे अर्जुन जानो। इसलिए हमारे पारस्परिक प्रेम में त्रुटि नहीं होती। (९३) तुम संन्यासी का भेष धर कर हमारी भगिनी को चुरा कर ले गये तथापि हमारे मन में मद् उत्पन्न नहीं हुआ। तुम और हम दोनों एकरूप हैं। (९४) यादवों के राजा श्रीकृष्ण ने और भी कहा कि मुनियों में मैं व्यासदेव हूँ। और कवीश्वरों में जो धैर्य का आश्रयस्थान शुक्राचार्य है वह मैं हूँ। (९५)

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवाऽस्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

अभी दमन करनेहारों में अनिवार्य जो दण्ड है वह मैं हूँ जो कि चिऊँटी से लेकर ब्रह्मा तक सबको नियत समय पर प्राप्त होता है। (९६) सार और असार का निश्चय करनेहारे और धर्मज्ञान का पक्ष लेनेवाले ऐसे सम्पूर्ण शास्त्रों में जो नीतिशास्त्र है वह मैं हूँ। (९७) हे सुभद्र अर्जुन! सम्पूर्ण बातों से मैं मौन हूँ। इसलिए न बोलनेवाले के सामने ब्रह्मदेव भी अज्ञानी बन जाता है। (९८) अभी ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह मैं हूँ। अब और रहने दो। इन विभूतियों का कुछ पार नहीं दिखाई देता। (९९)

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे धनुर्धर ! चाहे वर्षा की धाराओं की गणना हो सके, अथवा पृथ्वी के तृण और अंकुरों की गणना कर ली जाय (३००) परन्तु जैसे महासमुद्र की लहरों की गिनती नहीं हो सकती वैसे ही मेरे चिह्नों की भी याद नहीं (१) एवं जो ७५ मुख्य विभूतियों का वर्णन किया वह पदेश भी मुझे वृथा हुआ-सा मालूम होता है। (२) क्योंकि अन्य विभूति-विस्तारों की सर्वथा गिनती नहीं हो सकती। इससे तुम कहाँ तक सुनोगे और हम कहाँ तक वर्णन करें। (३) इसलिए हम एक ही बार तुम्हें अपना मर्म बताये देते हैं कि सब प्राणियों से जो बीजविस्तार दिखाई देता है वह मैं हूँ। (४) अतएव छोटा-बड़ा न कहना चाहिए, ऊँचा-नीचा भाव छोड़ देना चाहिए और सब वस्तुमात्र को मद्रूप ही समझना चाहिए। (५) तथापि मैं और एक साधारण चिह्न बतलाता हूँ जिससे हे अर्जुन! तुम मेरी विभूतियाँ जान लो। (६)

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

हे धनञ्जय! जहाँ जहाँ सम्पत्ति और दया दोनों आ बसती हैं उन्हें मेरे अंश जानो। (७)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा गगन में बिम्ब एक ही रहता है परन्तु जैसे उसकी प्रभा त्रिभुवन में फैलती है वैसे ही मुझ एक की ही आज्ञा सब जगत् पालता है (८) ऐसे मुझ एक को अकेला मत समझो। ऐसा मैं निर्धनता का नाम भी नहीं जानता। कामधेनु के साथ क्या उसकी सामग्री बँधी चलती है? (९) उससे जो चाहे जब कोई जो कुछ माँगे वह एकदम उत्पन्न करने लगती है वैसे ही जगत् के सब ऐश्वर्य मुझ एक में भरे हुए रहते हैं। (३१०) ऐसा जो मैं हूँ उसे पहचानने का यही लक्षण है कि हे प्राज्ञ! जगत् जिसकी आज्ञा की वन्दना करता है उसे ही मेरा अवतार जानो। (११) 'यह साधारण है और यह विशेष है' ऐसा भेद करना महापाप है क्योंकि एक में ही निष्पाप निरवल्प हूँ, (१२) तो फिर मध्यम और उत्तम भदों की कल्पना कैसे

हो सकती है? व्यर्थ अपनी बुद्धि को भेद का कष्ट क्यों लगाना चाहिए। (१३) घी को क्यों मथना चाहिए? अमृत को राँध कर क्यों आधा करना चाहिए? अथवा वायु का क्या दाहिना-बायाँ भाग होता है? (१४) सूर्यबिम्ब का पेट और पीठ देखने की धुन में अपनी दृष्टि का भी नाश हो जावेगा। वैसे ही मेरे स्वरूपके विषय में सामान्य और विशेष की बात नहीं हो सकती। (१५) इसके अलावा इन अलग अलग विभूतियों से युक्त अपार की गणना कहाँ तक करोगे? इसलिए हे सुभद्रापति! अधिक क्या कहा जाय, इस प्रकार जानना रहने दो। (१६) मेरे एक अंश से यह जगत् व्याप्त है, अतएव भेदरहित हो समानता रख सर्वत्र एक समझ कर मेरा भजन करो। (१७) इस प्रकार जब ज्ञानरूपी वन के वसन्त, विरक्तों के एकान्त, श्रीमान् श्रीकृष्णदेव बोले (१८) तब अर्जुन ने कहा—हे स्वामी! आपने यह अनुचित कहा कि भेद कोई एक वस्तु है और हम को उससे भिन्न हैं सो हमको उसे छोड़ना चाहिए। (१९) अजी, सूर्य क्या जगत् से कहता है कि तुम अँधेरे को दूर हटा दो? परन्तु आप को अविचारी कहना छोटे मुँह बड़ा कौर लेना है (१२०) आपका नाम ही किसी भी समय जिनके मुख से निकलता है, अथवा कान से सुन पड़ता है, उनके हृदय से भेद निश्चय से भाग जाता है। (२१) तो फिर जब मेरे देव ने हाथ पर पानी छोड़ आप सम्पूर्ण परब्रह्म को ही मुझे अर्पण किया है तो कौन कहाँ और काहे का भेद देखेगा? (२२) अजी चन्द्रबिम्ब के अन्तर्गृह में प्रवेश करने पर भी क्या उष्णता लगेगी? परन्तु हे शार्ङ्गधर आप श्रेष्ठ हैं, इससे चाहे आप इस प्रकार कहें। (२३) इस पर देव ने स्वभावतः सन्तुष्ट होकर अर्जुन को हृदय से लगा लिया और कहा कि तुम हमारे वचनों पर क्रोध न करो। (२४) हमने जो तुम्हें भेद की रीति से विभूतियों का वर्णन कर बताया वह अभेदबुद्धि से तुम्हारे अन्तःकरण में प्रतीत हुआ कि नहीं, (२५) यही देखने के लिए हम थोड़ासा बाहर कुछ बोलते रहे। अब मालूम हुआ कि विभूतियों का ज्ञान तुम्हें उत्तम हो गया। (२६) तब अर्जुन ने कहा कि यह आप ही जानें, परन्तु मुझे तो सब विश्व आपसे भरा हुआ दिखाई देता है। (२७) हे राजा! वह अर्जुन को ऐसी अनुभव की योग्यता प्राप्त हो गई। सञ्जय के इन वचनों पर धृतराष्ट्र चुपचाप हो रहा। (२८) तब सञ्जय ने दुःखित

अन्तःकरण से मन में कहा कि कुछ आश्चर्य नहीं कि यह धृतराष्ट्र इस धाम को खो रहा है। मैं समझता था कि यह अन्तःकरण का अच्छा होगा परन्तु यह तो भीतर से भी अन्धा है। (२९) अस्तु, अर्जुन ने इस प्रकार अपने कल्याण की वृद्धि की। परन्तु इस पर भी उसे और एक उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। (२३०) उसने चाहा कि यही हृदय की अन्तःस्थ मूर्ति बाहर नेत्रों के सम्मुख प्रकट हो। उसकी बुद्धि यह इच्छा से उठी (२३१) कि मैं सम्पूर्ण विश्वरूप को इन्हीं दोनों आँखों से आलिङ्गन कर लूँ। वह भाग्यवान् था इसी लिए इतना बड़ा अभिलाष कर सका। (२३२) आज वह कल्पवृक्ष की शाखा बन रहा है, इसलिए उसमें वन्ध्या फूल नहीं फूलते। जो जो वह मुँह से कहता है सो श्रीकृष्ण सत्य ही कर बताते हैं। (२३३) जो प्रह्लाद के वचनों के हेतु स्वयं सिंह भी बन गये वे परमात्मा अर्जुन को सद्गुरु प्राप्त हुए हैं। (२३४) इसलिए ज्ञानदेव कहते हैं कि अर्जुन उनसे विश्वरूप पूछने की किस प्रकार चेष्टा करेंगे उस कथा का हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे। (२३५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां दशमोऽध्यायः।

ग्यारहवाँ अध्याय

अब इसके उपरान्त एकादश अध्याय में शान्त और अद्भुत दोनों रसों से भरी हुई कथा कही है, जिसमें पार्थ के विश्वरूप की भेंट होती है (१) तथा जिसमें शान्त रस के घर में अद्भुत रस की पहुनई हुई है और अन्य रसों को उसकी पंक्ति का सम्मान मिला है। (२) अजी, दूल्हा और दुलहिन के विवाह के समारम्भ में जैसे बरातियों को भी कपड़े और अलङ्कार पहनाये जाते हैं वैसे ही इस मराठीरूपी पालकी में सब रसों को शोभा प्राप्त हो रहा है। (३) परन्तु इनमें शान्त और अद्भुत इतने उत्तम हैं कि वे नेत्रों से ऐसे दिखाई देते हैं कि मानों विष्णु और शङ्कर प्रेम से आलिङ्गन कर रहे हों (४) अथवा अमावस्या के दिन जैसे सूर्य और चन्द्र के बिम्ब समान ही मिल जाते हैं वैसे ही इस अध्याय में रसों की एकता हो गई है। (५) जैसे गङ्गा और यमुना के प्रवाह मिल जाते हैं वैसे ही यह भी रसों का प्रयाग बन गया है। इसी लिए जगत् इससे पवित्र हुआ है। (६) इसमें गीतारूपी सरस्वती गुप्त है, और दोनों रसों के प्रवाह प्रकट हैं। अतएव हमें यह ठीक त्रिवेणी ही प्राप्त हुई है। (७) ज्ञानदेव कहते हैं कि मेरे श्रीगुरु ने इस तीर्थ में श्रवण के द्वारा प्रवेश करना सुगम कर दिया है। (८) इसके संस्कृतरूपी कठिन तीर (किनारे) छाँट कर भाषा के शब्द-सोपान बना दिये हैं जो धर्म के निधान हैं। (९) इससे हर कोई प्रेम से इस त्रिवेणी में नहा सकता है, विश्वरूपी प्रयाग माधव का दर्शन ले सकता है और तद्द्वारा संसार को तिलाञ्जलि दे सकता है। (१०) अस्तु, इसमें मूर्त्तिमान् रस-भावों की ऐसी बहार आई है कि श्रवणसुख का मानों राज्य ही मिला-सा मालूम होता है। (११) इनमें से शान्त और अद्भुत प्रकट हैं और अन्य रसों की भी महिमा दिखाई देती है। परन्तु यह उपमा भी अल्प है। इसमें अस्पष्ट मोक्ष सुख ही प्राप्त होता है। (१२) ऐसा यह ग्यारहवाँ अध्याय मोक्षरूप के निज का विश्रान्तिस्थान है। परन्तु अर्जुन भाग्यवानों का राजा है जो यहाँ भी आ पहुँचा। (१३) परन्तु यहाँ केवल अर्जुन ही आ पहुँचा क्यों कहा जाय? आज चाहे जिस यहाँ पहुँचने का सुकाल हो गया

है, क्योंकि गीतायें भाषा में हो गया है। (१४) इसलिए मेरी विनती सुनिए। आप सज्जन मेरी ओर ध्यान दें। (१५) यद्यपि आप सन्तों की सभा में ढिठाई करना योग्य नहीं है तथापि आप मुझे प्रेम से बालक समझिए। (१६) अजी तोते को आप ही पढ़ाते हैं और उसके पढ़ते ही माथा डुलाते हैं। अथवा बालक से कराये हुए कौतूहल से क्या माता को सन्तोष नहीं होता? (१७) उसी प्रकार मैं जो जो कहता हूँ वह हे प्रभु! सब आप ही का सिखाया हुआ है। इसलिए हे देव! आप अपने ही वचन सुनिए। (१८) यह विद्यारूपी मधुर पेड़ आपने ही लगाया है। अब अवधानरूपी अमृत से सींच कर इसकी वृद्धि कीजिए, (१९) तो यह रस-भावरूपी फूलों से फूलेगा, अनेक अर्थरूपी फलों की बहार से फलेगा और व्यापक निमित्त-जगत् को सुखकारी होगा। (२०) इन वचनों से सन्तों को आनन्द हुआ। वे बोले, वाह! शाबाश! हमें बहुत सन्तोष हुआ है। अब अर्जुन ने क्या कहा सो वर्णन करो। (२१) तब श्रीनिवृत्ति के दास ज्ञानेश्वर ने कहा— अजी, कृष्ण और अर्जुन का संवाद वर्णन करना मैं साधारण मनुष्य भला क्या जानूँ परन्तु वह आप ही करवाते हैं। (२२) अजी वन के पत्ते खानेवाले वानरों ने लंकेश्वर रावण का पराभव कर दिया! अथवा अकेले अर्जुन ने क्या ग्यारह अक्षौहिणियाँ नहीं जीत लीं? (२३) अतएव समर्थ जो करें सो न हो यह बात चराचर में नहीं हो सकती। उसी प्रकार आप मुझसे निरूपण करवा रहे हैं। (२४) अब सुनिए, मैं श्रीवैकुण्ठपति श्रीकृष्ण के मुख से निकला हुआ गीता-भाव कथन करता हूँ। (२५) गीता-मन्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ है, जिसमें वेदों के प्रतिपाद्य देव स्वयं श्रीकृष्ण वक्ता हैं (२६) उसकी महिमा का क्या बयान किया जाय? उसे श्रीशङ्कर की बुद्धि भी व्याकलन न कर सकी। अतएव जीवभाव से उसका वन्दन करना ही भला है। (२७) अब अर्जुन ने विश्वरूप के दर्शन का हेतु मन में रख कर संवाद का कैसा उपक्रम किया सो सुनिए। (२८) उसे ऐसा अनुभवरूप वतलाया हो गया था कि यह सब जगत् सर्वेश्वर ही है यह बाहर नेत्रों से प्रत्यक्ष दिखाई दे। (२९) यही उसके अन्तःकरण की इच्छा थी। परन्तु यह बात देव से पूछते हुए उसे भय मालूम हुआ। क्योंकि विश्वरूप गुप्त है। वह कैसे पूछा जाय? (३०) उसने सोचा कि जो बात पहले कभी किसी भक्त ने नहीं पूछी उसके लिए सहसा 'मुझे

ग्यारहवाँ अध्याय

अब इसके उपरान्त एकादश अध्याय में शान्त और अद्भुत दोनों रसों से भरी हुई कथा कही है, जिसमें पार्थ के विश्वरूप की भेंट होती है (१) तथा जिसमें शान्त रस के घर में अद्भुत रस की पहुनाई हुई है और अन्य रसों को उसकी पंक्ति का सम्मान मिला है। (२) अजी, दूल्हा और दुलहिन के विवाह के समारम्भ में जैसे बरातियों को भी कपड़े और अलङ्कार पहनाये जाते हैं वैसे ही इस भाषारूपी पालकी में सब रसों को शोभा प्राप्त हो रहा है। (३) परन्तु इनमें शान्त और अद्भुत इतने उत्तम हैं कि ये नेत्रों से ऐसे दिखाई देते हैं कि मानों विष्णु और शङ्कर प्रेम से आलिङ्गन कर रहे हों (४) अथवा अमावस्या के दिन जैसे सूर्य और चन्द्र के बिम्ब समान ही मिल जाते हैं, वैसे ही इस अध्याय में रसों की एकता हो गई है। (५) जैसे गङ्गा और यमुना के प्रवाह मिल जाते हैं वैसे ही यह भी रसों का प्रयाग बन गया है। इसी लिए जगत् इससे पवित्र हुआ है। (६) इसमें गीता रूपी सरस्वती गुप्त है, और दोनों रसों के प्रवाह प्रकट हैं। अतएव हमें यह ठीक त्रिवेणी ही प्राप्त हुई है। (७) ज्ञानदेव कहते हैं कि मेरे श्रीगुरु ने इस तीर्थ में श्रवण के द्वारा प्रवेश करना सुगम कर दिया है। (८) इसके संस्कृतरूपी कठिन तीर (किनारे) छाँट कर भाषा के शब्द-सोपान बना दिये हैं जो धर्म के निधान हैं। (९) इससे हर कोई प्रेम से इस त्रिवेणी में नहा सकता है, विश्वरूपी प्रयाग माधव का दर्शन ले सकता है और तद्द्वारा संसार को तिलाञ्जलि दे सकता है। (१०) अस्तु, इसमें मूर्तिमान् रस-भावों की ऐसी बहार आई है कि श्रवणसुख का मानों राज्य ही मिला-सा मालूम होता है। (११) इनमें से शान्त और अद्भुत प्रकट हैं और अन्य रसों की भी महिमा दिखाई देती है। परन्तु यह उपमा भी अल्प है। इसमें अस्पष्ट मोक्ष सुख ही प्राप्त होता है। (१२) ऐसा यह ग्यारहवाँ अध्याय श्रीकृष्ण के निज का विश्रान्तिस्थान है। परन्तु अर्जुन भाग्यवानों का राजा है जो यहाँ भी आ पहुँचा। (१३) परन्तु यहाँ केवल अर्जुन ही आ पहुँचा क्यों कहा जाय? आज चाहे जिसे यहाँ पहुँचने का सुभीता हो गया

तक आपने अपने हृदय में किसी कृपण के समान जतन कर रक्खा था, जिसे आपने वेदों से भी छिपा रक्खा था, (४६) वह अपना हृदय आज आपने मेरे सम्मुख खोल दिया। जिस अध्यात्म पर शंकर ने अपना ऐश्वर्य निछावर कर दिया (४७) वह वस्तु हे स्वामी! आपने एकदम मुझे प्रदान कर दी। यद्यपि हम ऐसा कहते हैं तथापि हम आपसे भिन्न कहाँ हैं ? (४८) परन्तु सचमुच महामोह की बाढ़ में सिर तक डूबा हुआ देखकर हे श्रीहरि! आप ही ने कूद कर मुझे बाहर निकाला। (४९) एक आपको छोड़ कर जगत् में कभी दूसरी वार्ता ही नहीं है परन्तु हमारा कर्म देखिए कि हम दूसरी समझते हैं। (५०) मैं जगत् में एक अर्जुन हूँ, ऐसा मैं शरीर का अभिमान रखता था, और इन कौरवों को मैं अपने गोत्रज समझता था, (५१) और इन्हें मारने से मैं किस पाप में जा पड़ूँगा यह सोचता हुआ मानों दुःस्वप्न देख रहा था। इतने में प्रभु ने मुझे जगा दिया। (५२) हे देव, हे जगन्नीपति! गन्धर्व नगरी की बस्ती छोड़कर पानी पीने की इच्छा से मैं मृगजल पी रहा था। (५३) अजी, साँप तो कपड़े का ही था परन्तु उसकी लहरें सच्ची मालूम हो रही थीं। इस प्रकार व्यर्थ मरते हुए का जीवदान देने का पुण्य आपने लिया है। (५४) हे अनन्त! आपकी परछाईं है न पहचानने के कारण सिंह जो कुएँ में गिरते हुए देखकर जैसे कोई थाम ले वैसे ही आपने मेरी रक्षा की है। (५५) नहीं तो, सुनिए मेरा तो यहाँ तक निश्चय था कि चाहे अभी सात ही समुद्र इकट्ठे हो जायँ, (५६) चाहे यह सम्पूर्ण जग डूब जाय, चाहे ऊपर से आकाश भी टूट पड़े, परन्तु मैं इन गोत्रजों से युद्ध न करूँगा। (५७) ऐसे अहङ्कार की अधिकता से मैं आग्रहरूपी जल में डूबा हुआ था। भला हुआ कि आप पास थे अन्यथा मुझे कौन बाहर निकालता ? (५८) वास्तव में कोई न होते हुए भी मैंने एक अपना अस्तित्व मान लिया और जिनका कोई अस्तित्व नहीं है उनका नाम गोत्रज रख लिया। इस प्रकार मैं अत्यन्त पागल हो रहा था, परन्तु आपने मेरी रक्षा की। (५९) पहले भी आपने एक बार लाक्षागृह में जलने से बचाया था तब तो केवल शरीर के नाश का भय था, परन्तु अब यह दूसरी पीड़ा तो मेरा चैतन्य-मर्दन करनेवाली थी। (६०) दुराग्रहरूपी हिरण्याक्ष मेरी बुद्धिरूपी पृथ्वी को बगल में दबाकर मोह-समुद्र के गर्भ में

दिखाइए' कैसे कह दूँ ? (३१) मैं इनका बड़ा मित्र हूँ सही, पर क्या लक्ष्मी से भी प्रिय हूँ! तथापि वह भी यह बात पूछने के लिए डरीं। (३२) मैंने इनकी चाहे जैसी सेवा की हो परन्तु क्या वह गरुड़ के बराबर हो सकती है ? पर उसने भी यह बात नहीं निकाली। (३३) मैं क्या सनकादिकों से भी प्रिय हूँ ? परन्तु उन्होंने भी ऐसा पागलपन नहीं किया। मैं क्या गोकुल-वासियों के समान देव को प्रिय हो सकता हूँ ? (३४) तथापि उन्हें भी देव ने बालपन में इस बात से वञ्चित रक्खा। एक के गर्भवास भी सहे परन्तु विश्वरूप वैसा ही रहा। उसे इन्होंने किसी को नहीं दिखाया। (३५) जो इतनी गुप्त बात है, जो इनके निज अन्तःकरण की वस्तु है वह एकदम मैं कैसे पूछ सकता हूँ ? (३६) और यदि न पूछूँ तो विश्वरूप देखे बिना सुख ही न होगा और जीवन भी कदाचित् ही रहे। (३७) इसलिए कुछ पूछता ही हूँ। फिर देव चाहे जो करें। इस प्रकार अर्जुन ने बोलने की हिम्मत की, (३८) परन्तु ऐसे प्रेम से कि देव ने एक दो बातों में ही सम्पूर्ण विश्वरूप खोल खोल कर दिखा दिया। (३९) बाजी, बछड़े को देखते ही गाय झटपट प्रेम से उठ खड़ी होती है, तो क्या स्तन को मुँह लगाने पर वह पनियाये बिना रहेगी ? (४०) जैसे ही, पाण्डवों के नाम से जो कृष्ण वन में भी रक्षा करने के लिए दौड़े गये, उनसे अर्जुन के प्रश्न करते ही क्या रहा जायगा ? (४१) वे सहज ही प्रेम की मूर्ति हैं, और उस प्रेम का मानों अर्जुनरूपी मथा बिछाया है। ऐसे मेल के समय मिलता रह जाना ही आश्चर्य है (४२) इससे अर्जुन के पूछते ही देव आप ही आप विश्वरूप हो जावेंगे। ऐसा यह पहला ही मसला है। इसका बयान सुनिए। (४३)

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा—हे कृपानिधि ! आपने मुझसे अनिर्वाच्य वस्तु भी कह कर प्रकट कर दी। (४४) महाभूत जब ब्रह्म में विलीन होते हैं और जब महत्तत्त्व इत्यादि के ठाँव मिट जाते हैं तब देव जिस स्वरूप में रहते हैं जो आपका निदान का विश्राम है, (४५) जो अभी

तक आपने अपने हृदय में किसी कृपण के समान जतन कर रक्खा था जिसे आपने वेदों से भी छिपा रक्खा था, (४६) वह अपना हृदय आज आपने मेरे सन्मुख खोल दिया। जिस अध्यात्म पर शङ्कर ने अपना ऐश्वर्य निछावर कर दिया (४७) वह वस्तु हे स्वामी! आपने एकदम मुझे प्रदान कर दी। यद्यपि हम ऐसा कहते हैं तथापि हम आपसे भिन्न कहाँ हैं? (४८) परन्तु सचमुच महामोह की बाढ़ में सिर तक डूबा हुआ देखकर हे श्रीहरि! आप ही ने कूद कर मुझे बाहर निकाला। (४९) एक आपको छोड़ कर जगत् में कभी दूसरी वार्ता ही नहीं है परन्तु हमारा कर्म देखिए कि हम दूसरी समझते हैं। (५०) मैं जगत् में एक अर्जुन हूँ, ऐसा मैं शरीर का अभिमान रखता था, और इन कौरवों को मैं अपने गोत्रज समझता था, (५१) और इन्हें मारने से मैं किस पाप में जा पड़ूँगा यह सोचता हुआ मानों दुःस्वप्न देख रहा था। इतने में प्रभु ने मुझे जगा दिया। (५२) हे देव, हे कमलापति! गन्धर्व नगरी की बस्ती छोड़कर पानी पीने की इच्छा से मैं मृगजल पी रहा था। (५३) कभी साँप तो कपड़े का ही था परन्तु उसकी लहरें सच्ची मालूम हो रही थीं। इस प्रकार व्यर्थ मरते हुए को जीवदान देने का पुण्य आपने किया है। (५४) हे अनन्त! अपनी परछाँई न पहचाननेहारे सिंह को कुएँ में गिरते हुए देखकर जैसे कोई थाम ले वैसे ही आपने मेरी रक्षा की है। (५५) नहीं तो, सुनिए मेरा तो यहाँ तक निश्चय था कि चाहे अभी सात ही समुद्र इकट्ठे हो जावें, (५६) चाहे यह सम्पूर्ण जग डूब जाय, चाहे ऊपर से आकाश भी टूट पड़े, परन्तु मैं इन गोत्रजों से युद्ध न करूँगा। (५७) ऐसे अहङ्कार की अधिकता से मैं आग्रहरूपी जल में डूबा हुआ था। भला हुआ कि आप पास थे अन्यथा मुझे कौन बाहर निकालता? (५८) वास्तव में कोई न होते हुए भी मैंने एक अपना अस्तित्व मान लिया और जिनका कोई अस्तित्व नहीं है उनका नाम गोत्रज रख लिया। इस प्रकार मैं अत्यन्त पागल हो रहा था, परन्तु आपने मेरी रक्षा की। (५९) पहले भी आपने एक बार लाक्षागृह में जलने से बचाया था तब तो केवल शरीर के नाश का भय था, परन्तु अब यह दूसरी पीड़ा तो मेरा चैतन्य-सहित नाश करनेवाली थी। (६०) दुराग्रहरूपी हिरण्याक्ष मेरी बुद्धिरूपी पृथ्वी को बगल में दबाकर मोह-समुद्र के गवाक्ष में

डुब गया था (६१) परन्तु आपकी सामर्थ्य से एक बार फिर मेरी सुध हाथ लगी। इस प्रसङ्ग में आपको दूसरा वराह-रूप ही लेना पड़ा। (६२) ऐसे ऐसे आपके अपार उपकार हैं। उनका एक ही वाचा से मैं क्या बखान करूँ? आपने मेरे लिए पञ्चप्राण ही समर्पित कर दिये हैं। (६३) वे कुछ वृथा न जायँगे। हे देवराज! आपको अत्यन्त यश प्राप्त हुआ है जो आपने मेरी माया का सापत्न्य नष्ट कर दिया। (६४) अभी, आनन्द-सरोवर के कमल सरीखे आपके नेत्र जिनके लिए अपना प्रसादरूपी मन्दिर बना दें, (६५) उनको और मोह से भेंट हो! यह बात बहुत ही तुच्छ है! बड़वानल पर मृगजल की वर्षा किस गिनती में है? (६६) और हे श्रीगुरु! मैं तो इस कृपारूपी मन्दिर में आकर ब्रह्मरस का भोजन कर रहा हूँ। (६७) उससे मेरे मोह के चले जाने में क्या कुछ आश्चर्य है! तात्पर्य यह कि आपके चरण छूकर कहता हूँ कि मेरा उद्धार हो गया। (६८)

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

हे कमलपत्र के समान विस्तीर्ण नेत्रोंवाले, हे कोटि सूर्य के समान प्रकाश करनेहारे महेश! मैंने आज आपका निरूपण सुना। (६९) आपने कहा कि जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं अथवा जिससे ये लय को प्राप्त होते हैं वह प्रकृति है। (७०) उस प्रकृति का आपने सम्पूर्ण बखान किया तथा उस पुरुष के रूप का भी निर्देश किया जिसकी महिमारूपी आच्छादन के कारण वेद शब्द-युक्त कहाता है। (७१) अभी शब्दसमूह दृष्टिगत होता है और शोभा रखता है, तथा धर्म जैसे रत्न उत्पन्न करता है, उसका कारण यही है कि यह आपके तेजोमय चरणों का आश्रय करता है। (७२) ऐसी जो आपकी अगाध महिमा है, सब मार्गों से जो एक ही गन्तव्य वस्तु है, जो आत्मा अनुभवद्वारा रममाण होने योग्य है, वह आपने मुझे इस प्रकार दिखा दी (७३) कि जैसे आकाश के अभ्र साफ होते ही सूर्यमण्डल दिखाई देने लगता है अथवा जैसे हाथ से सेवार हटाते ही जल दिखाई देता है, (७४) अथवा जैसे साँप की लपेटें छूटने पर चन्दन की भेंट होती है; अथवा जैसे राक्षसी के भागते ही द्रव्य हाथ लगता है (७५) वैसे

ही को यह प्रकृति का परदा पड़ा हुआ था उसे आपने दूर हटा कर मेरी बुद्धि को परब्रह्मरूपी शय्या पर लिटा दिया। (७६) हे देव, इन बातों का तो मेरे हृदय में यथार्थ निश्चय हो चुका, परन्तु एक और इच्छा उत्पन्न हुई है। (७७) यदि सङ्कोच कर यह आपसे न पूछूँ तो और किससे पूछने जाऊँ? मैं क्या आपके अतिरिक्त और कोई स्थान जानता हूँ? (७८) जलचर यदि जल का बोझ समझे, बालक स्तन पीने में उपरोध रक्खे तो हे श्रीहरि! उनके जीवन के लिए क्या कोई दूसरा उपाय है? (७९) अतएव मुझसे सङ्कोच नहीं किया जाता,—जो जी में आवे सो आपके सामने कह देने की इच्छा होती है। तब श्रीकृष्ण ने कहा—ठहरो, क्या इच्छा है कहो। (८०)

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ॥

तब किरीटी ने कहा कि आपने जो निरूपण किया उससे मेरी प्रतीति की दृष्टि शीतल हो गई। (८१) अब जिसके सङ्कल्प से यह लोकपरम्परा उत्पन्न और विलीन होती है, जिस स्थान को आप स्वयं 'मैं' कहते हैं, (८२) आपका वह मूल स्वरूप कि जहाँ से आप ये दो भुजावाले और चार भुजावाले रूप देवों के काम के मिस से ले लेकर आते हैं, (८३) जहाँ बहुरूपिये की तरह आप अपना जलशायन का वेष अथवा मत्स्य, कूर्म, इत्यादि लीला के स्वरूप—खेल समाप्त होते ही—जमा कर रखते हैं; (८४) जिसे उपनिषद् गाते हैं, योगी हृदय में प्रवेश कर देखते हैं, सनकादिक जिसे आलिङ्गन दिये हुए हैं, (८५) ऐसा अगाध जो आपका विश्वरूप कानों से सुनते हैं उस देखने के लिए मेरा चित्त उतावला हुआ है। (८६) देव ने मेरा सङ्कोच छुड़ा कर प्रेम से जो मेरी इच्छा पूछी तो यही एक बड़ी इच्छा है। (८७) मेरा जी यही एक बड़ी अभिलाषा बाँधे हुए है कि आपका सम्पूर्ण विश्वरूप मेरे दृष्टिगोचर हो। (८८)

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

परन्तु हे शार्ङ्गी! इसमें एक बात और है। आपका विश्वरूप देखने के लिए मुझमें योग्यता है अथवा नहीं, (८९) यह मैं अपने

घुस गया था (६१) परन्तु आपकी सामर्थ्य से एक बार फिर मेरी बुद्धि हाथ लगी। इस प्रसङ्ग में आपको दूसरा वराह-रूप ही लेना पड़ा। (६२) ऐसे ऐसे आपके अपार उपकार हैं। उनका एक ही वाचा से मैं क्या वर्णन करूँ? आपने मेरे लिए पञ्चप्राण ही समर्पित कर दिये हैं। (६३) वे कुछ वृथा न जायेंगे। हे देवराज! आपको अत्यन्त यश प्राप्त हुआ है जो आपने मेरी माया का समूल नाश कर दिया। (६४) अभी, आनन्द-सरोवर के कमल सरीखे आपके नेत्र जिनके लिए अपना प्रसादरूपी मन्दिर बना दें (६५) उनको और मोह से भेंट हो! यह बात बहुत ही तुच्छ है! बड़वानल पर मृगजल की वर्षा किस गिनती में है? (६६) और हे श्रीगुरु! मैं तो इस कृपारूपी मन्दिर में आकर ब्रह्मरस का भोजन कर रहा हूँ। (६७) उससे मेरे मोह के चले जाने में क्या कुछ आश्चर्य है? तात्पर्य यह कि आपके चरण छूकर कहता हूँ कि मेरा उद्धार हो गया। (६८)

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमलपत्र के समान विस्तीर्ण नेत्रोंवाले हे कोटि सूर्य के समान प्रकाश करनेहारे महेश! मैंने आज आपका निरूपण सुना। (६९) आपने कहा कि जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं अथवा जिससे वे लय को प्राप्त होते हैं वह प्रकृति है। (७०) उस प्रकृति का आपने सम्पूर्ण वर्णन किया तथा उस पुरुष के रूप का भी निर्देश किया जिसकी महिमारूपी आच्छादन के कारण वेद शब्द-युक्त कहाता है। (७१) अभी शब्दसमूह दृष्टिगत होता है और शोभा रखता है, तथा धर्म जैसे रत्न उत्पन्न करता है, उसका कारण यही है कि वह आपके तेजोमय चरणों का आश्रय करता है। (७२) ऐसी जो आपकी अगाध महिमा है, सब मार्गों से जो एक ही गन्तव्य वस्तु है जो आत्मा मुमुक्षुद्वारा रमणीय होने योग्य है, वह आपने मुझे इस प्रकार दिखा दी (७३) कि जैसे आकाश के अभ्र साफ होते ही सूर्यमण्डल दिखाई देने लगता है; अथवा जैसे हाथ से सेवार हटाते ही जल दिखाई देता है; (७४) अथवा जैसे साँप की कपेटें हटाने पर चन्दन की भेंट होती है, अथवा जैसे राक्षसी के भागते ही द्रव्य हाथ लगता है (७५) जैसे

दी जो यह प्रकृति का परदा पड़ा हुआ था उसे आपने दूर हटा कर मेरी बुद्धि को परब्रह्मरूपी शय्या पर लिटा दिया। (७६) हे देव, इन बातों का तो मेरे हृदय में यथार्थ निश्चय हो चुका, परन्तु एक और इच्छा उत्पन्न हुई है। (७७) यदि सङ्कोच कर यह आपसे न पूछूँ तो और किससे पूछने जाऊँ? मैं क्या आपके अतिरिक्त और कोई स्वजन जानता हूँ? (७८) जलचर यदि जल का बोझ समझें, बालक स्तन पीने में सङ्कोच रक्खे तो हे श्रीहरि! उनके जीवन के लिए क्या कोई दूसरा उपाय है? (७९) अतएव मुझसे सङ्कोच नहीं किया जाता,—जो जी में आवे तो आपके सामने कह देने की इच्छा होती है। तब श्रीकृष्ण ने कहा—अरे, क्या इच्छा है कहो। (८०)

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ॥

तब किरीटी ने कहा कि आपने जो निरूपण किया उससे मेरी प्रतीति की दृष्टि शीतल हो गई। (८१) अब जिसके सङ्कल्प से यह लोकपरम्परा उत्पन्न और विलीन होती है, जिस स्थान को आप स्वयं 'मैं' कहते हैं, (८२) आपका वह मूल स्वरूप कि जहाँ से आप ये दो भुजावाले और चार भुजावाले रूप देवों के कार्य के मिस से ले लेकर आते हैं, (८३) जहाँ बहुरूपिये की तरह आप अपना जलशायन का खेल अथवा मत्स्य, कूर्म, इत्यादि लीला के स्वरूप—खेल समाप्त होते ही—जमा कर रखते हैं (८४) जिसे उपनिषद् गाते हैं, योगी हृदय में प्रवेश कर देखते हैं, सनकादिक जिसे आलिङ्गन दिये हुए हैं, (८५) ऐसा अगाध जो आपका विश्वरूप कानों से सुनते हैं उसे देखने के लिए मेरा चित्त उतावला हुआ है। (८६) देव ने मेरा सङ्कोच छुड़ा कर प्रेम से जो मेरी इच्छा पूछी तो यही एक बड़ी इच्छा है। (८७) मेरा जी यही एक बड़ी अभिलाषा बाँधे हुए है कि आपका सम्पूर्ण विश्वरूप मेरे दृष्टिगोचर है। (८८)

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥४॥

परन्तु हे शार्ङ्गी! इसमें एक बात और है। आपका विश्वरूप देखने के लिये मुझमें योग्यता है अथवा नहीं, (८९) यह मैं अपने

आप ही नहीं जानता। यदि देव कहें कि क्यों नहीं जानता, तो रोगी क्या अपने रोग का निदान जानता है? (६०) तथा उत्कण्ठा की आसक्ति से आर्त अपनी योग्यता भूल जाता है। जैसे प्यासा समझता है कि मुझे समुद्र भी काफी न होगा (६१) वैसे ही उत्कण्ठा के मोह के कारण मुझसे मर्यादा नहीं सँभाली जाती। इसलिए माता जैसे बालक की योग्यता जानती है, (६२) वैसे ही हे श्रीजनार्दन! आप मेरा अधिकार विचारिए और फिर विश्वरूप-दर्शन का उपक्रम कीजिए। (६३) ऐसी ही कृपा कीजिए, अन्यथा नहीं' कह दीजिए। सुनिए, पञ्चम स्वर के गायन से वृथा बहिरे को कैसे सुख दिया जा सकता है? (६४) यों तो एक चातक को ही तृषा रहती है, पर इस कारण क्या मेघ सम्पूर्ण जग के लिए वर्षा नहीं करते? परन्तु वर्षा हो तो भी चट्टान पर गिरने से वृथा जाती है। (६५) चकोरों को चन्द्रामृत प्राप्त होता है तो अन्यों को क्या शपथ देकर मना किया जाता है? परन्तु आँखों के बिना प्रकाश भी वृथा है। (६६) अतएव आप सहसा विश्वरूप दिखावेंगे, यह हमें निश्चय से विश्वास है, क्योंकि आप ज्ञानियों और मूर्खों के लिए नित्य समान ही हैं। (६७) मैं जानता हूँ कि आपकी उदारता स्वतन्त्र है। देते समय आप पात्रापात्र नहीं विचारते। आपने कैवल्य जैसी पवित्र वस्तु वैरियों को भी दे दी है। (६८) मोक्ष सचमुच में कठिनता से प्राप्त करने योग्य है परन्तु वह भी आपकी सेवा करती है, और आपके दूत की तरह जहाँ भेजो वहाँ जाती है। (६९) जो पूतना स्तन में विष भर कर आपको मारने के लिए आई थी उसे आपने सनकादिकों के समान सायुज्य मुक्ति का माधुर्य समर्पण कर दिया। (१०) और, राजसूय यज्ञ में त्रिभुवन भर के सदस्यों के सामने सैकड़ों दुर्वचनों से आपका कैसा अपमान किया गया! (१) ऐसे अपराधी शिशुपाल को, हे गोपाल! आपने अपना पद दिया। उत्तानपाद राजा के बालक को क्या ध्रुवपद की इच्छा थी? (२) वह तो इस हेतु से वन में आया था कि मैं पिता की गोद में बैठूँ। परन्तु उसे आपने जगत् में चन्द्र-सूर्य इत्यादि की अपेक्षा श्रेष्ठ पद दिया। (३) इस प्रकार हे उदार! सब आर्तों के लिए आप ही एक दाता हैं। पुत्र को बुलाते हुए अजामिल को आपने मुक्ति दे दी। (४) हे दाता! जिसने आपकी छाती में लात मारी उसका चरण आप धारण करते हैं। अभी तक आप

अपने वैरी के शरीर* को कभी नहीं भूलते। (५) इस प्रकार अपकार करनेवालों पर भी आप उपकार करते हैं तथा कुपात्रों पर भी दया सदा दिखाते हैं। बलि ने आपको दान दिया इसलिए आप उसके द्वारपाल बन गये। (६) जो गणिका न आपको पूजती थी न आपके गुणानुवाद सुनती थी परन्तु कुतूहल से केवल तोते को पुकारती थी उसे आपने वैकुण्ठ में सुखरूप कर दिया। (७) इस प्रकार वृथा बहाने देखकर भी आप स्वेच्छा से अपना पद देने लगते हैं तो क्या आप मेरे लिए कोई दूसरी बात करेंगे? (८) अजी, अपने दूध की अभिलाषा से जो बालक पर सङ्कट दूर करती है उसी कामधेनु के बछड़े क्या भूखे रह जायेंगे? (९) अतएव मैंने जो कुछ विनती की वह देव पूर्ण न करें, यह बात निश्चय से न होगी। परन्तु मुझे देखने की योग्यता दीजिए। (११०) आपका विश्वरूप देख सकने के योग्य यदि मेरी आँखें हों तो हे देव! मेरी इच्छा के दोहद पूर्ण कीजिए। (११) सुभद्रापति ऐसी यथायोग्य विनती कर ज्योंही चुप हुआ त्योंही उन षड्गुणों के चक्रवर्ती राजा श्रीकृष्ण से न रहा गया। (१२) वे मानों कृपारूप अमृत से भरे हुए मेघ हैं, और अर्जुन मानों समीप आया हुआ वर्षा-काल है, अथवा श्रीकृष्ण कोकिल और अर्जुन वसन्त हैं, (१३) अथवा पूर्ण चन्द्रबिम्ब देखकर जैसे क्षीरसागर उछलता है वैसे ही श्रीकृष्ण प्रेम के वश हो दुगुने से अधिक उल्लसित हो गये। (१४) फिर उस प्रसन्नता के आवेश में दया से गरज कर कहने लगे—हे पार्थ! देखो देखो, मेरे अनेक स्वरूप देखो। (१५) अर्जुन ने एक ही विश्वरूप देखने की इच्छा की थी परन्तु श्रीकृष्ण ने सब कुछ विश्वरूप कर डाला। (१६) देव की उदारता अपरिमित है। वे सर्वदा याचक की इच्छा से हजार गुना, अपना सर्वस्व, दे देते हैं। (१७) अजी, जो शेष की आँखों से भी छिपा रक्खा, जिससे वेद भी वञ्चित रहे, जो हृदय का गुप्त लक्ष्मी से भी छिपा रक्खा, (१८) वही विश्वरूप का धन अनेक रीति से प्रकट करके देवश्रेष्ठ और अगाध भाग्यशाली पार्थ को दिखाने का उद्यम कर रहे हैं। (१९) जागता हुआ मनुष्य जो स्वप्नावस्था में जाय तो जैसे आप ही सब स्वप्न की सृष्टि बन जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण आप ही अनेक ब्रह्माण्ड बन रहे हैं। (१२०) वह स्वरूप

*घाव थे।

उन्होंने एकदम प्रकट किया और अज्ञान-दृष्टि की यवनिका हटा दी। किंबहुना, अपनी योग्य सम्पत्ति ही प्रकट कर दी। (९१) परन्तु इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि यह स्वरूप अर्जुन देख सकेगा या नहीं। स्नेह से आतुर होकर वे कहने लगे कि देखो, (९२)

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

हे अर्जुन! तुमने एक स्वरूप दिखाने के लिए कहा और यदि मैंने वही दिखाया तो क्या दिखाया! अब देखो सब जगत् मेरे ही रूपों से भरा है। (९३) कोई कृश हैं, कोई स्थूल हैं, कोई ह्रस्व हैं, कोई विशाल हैं, कोई मोटे हैं, कोई अत्यन्त सरल हैं, (९४) कोई अपार हैं, कोई सुगम हैं, कोई व्यापार-युक्त हैं, कोई निश्चल हैं, कोई उदासीन हैं और कोई तीव्र प्रेम से युक्त हैं। (९५) कोई मत्त हैं, कोई सावधान हैं, कोई सुगम हैं, कोई अगाध हैं, कोई उदार हैं, कोई कृपण और कोपी हैं। (९६) कोई शान्त हैं, कोई उत्तम मद से युक्त हैं, कोई स्तब्ध हैं, कोई आनन्दी हैं, कोई गर्जना करनेहारे हैं, कोई शब्दरहित और सौम्य हैं, (९७) कोई सकाम हैं, कोई विरक्त हैं, कोई जागृत हैं, कोई निद्रित हैं, कोई सन्तुष्ट हैं, कोई आर्त हैं, कोई प्रसन्न हैं। (९८) कोई शस्त्र-रहित हैं, कोई सशस्त्र हैं, कोई रुद्र हैं, कोई अत्यन्त प्रेमल हैं, कोई भयानक हैं, कोई विचित्र हैं, और कोई समाधिस्थ हैं। (९९) कोई उत्पत्ति-कर्मों में निमग्न हैं, कोई प्रेम से पालन करनेहारे हैं, कोई कोप से संहार करनेहारे हैं और कोई साक्षीभूत हैं। (१००) यों नाना प्रकार के बहुतेरे दिव्य तेज और प्रकाश से युक्त रूप हैं। वैसे ही ये वर्णों में एक दूसरे से नहीं मिलते। (१०१) कोई तपे हुए सुवर्ण जैसे अत्यन्त पीले वर्ण के हैं; कोई सर्वाङ्ग से ऐसे दिखाई देते हैं कि मानों आक[illegible]र पोत दिया हो। (१०२) कोई स्वभाव[illegible] सुन्दर हैं, मा[illegible] माणिकों से जड़ा-[illegible] हो। को[illegible] [illegible] के [illegible] वर्ण के हैं, (१[illegible] निर्मल [illegible] के सम[illegible] नीले

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे किरीटी ! देखो इन मूर्तियों के रोममूलों में सृष्टि भरी है, मानों कल्पतरु की जड़ में तृणांकुर फूटे हों। (४८) गवाक्ष में से आई हुई किरणों में परमाणु जैसे उड़ते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अवयवों की सन्धियों में ब्रह्माण्ड घूम रहा है। (४६) देखो, इन एक एक अवयवों के भागों में सम्पूर्ण विश्व विस्तृत हुआ है। यदि विश्व के भी परे देखने की मन में इच्छा हो (१५०) तो भी कुछ कमी नहीं है। तुम जो चाहो सो मेरी देह में देख सकते हो। (५१) इस प्रकार विश्वाकार कृपापूर्ण श्रीकृष्ण ने कहा तथापि अर्जुन—देखता हूँ अथवा नहीं ऐसा—कुछ भी न कहकर चुपचाप रहा। (५२) वह स्तब्ध क्यों हो रहा, यह जानने के लिए श्रीकृष्ण जी देखते हैं तो वह वैसा ही उत्कण्ठारूपी अलङ्कार से विभूषित खड़ा है। (५३)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

तब श्रीकृष्ण समझ गये कि इसकी उत्कण्ठा कम नहीं हुई अभी सुख का साधन इसके हाथ नहीं लगा और हमने जो रूप दिखाया है वह यथार्थ में इसके ध्यान में नहीं आया। (५४) ऐसा मन में लाकर देव हँसे और हँसकर अर्जुन से—जो वैसा ही देखता खड़ा था—कहने लगे कि हमने तो विश्वरूप दिखा दिया पर तुमने देखा ही नहीं। (५५) इस पर बुद्धिमान् अर्जुन ने कहा कि महाराज! यह किसका दोष है? आप बगले से चाँदनी चरवाना चाहते हैं, (५६) आप दर्पण पोंछ कर अन्धे को दिखाने बैठे हैं; हे हृषीकेश! आप बहिरे के सामने गीत गा रहे हैं। (५७) फूलों की रज का चारा जान बूझकर दादुर के सामने डालकर वृथा गवाते हैं तो फिर किस पर कोप करते हैं? (५८) जो बात इन्द्रियों को अगोचर कही गई है, जो केवल ज्ञानदृष्टि के ही हिस्से में आती है वह आप इन चर्मनेत्रों के सामने रखते हैं तो मैं कैसे देख सकूँ? (५६) परन्तु आपको कमी बताना उचित नहीं। इसलिए चुपचाप रहना ही भला है। तब देव ने कहा—हे तात! ठीक है,

यह बात हमें भी मान्य है। (६०) सत्य है कि यदि हमें विश्वरूप दिखाना है तो प्रथम तुम्हें उसे देखने की सामर्थ्य भी देनी चाहिए। परन्तु प्रेम से बोलते हमें विस्मरण हो गया। (६१) क्या हुआ? पृथ्वी को बिना ही जोते यदि बीज बोया जाय तो वह समय व्यर्थ ही जावेगा। अतएव अब हम तुम्हें वह दृष्टि देते हैं जिससे तुम मेरा निजी स्वरूप देख सको। (६२) हे पाण्डव! उस दृष्टि से हमारा सम्पूर्ण ऐश्वर्ययोग देखकर अनुभवान्तर्गत कर लो। (६३) वेदान्त से जानने योग्य, सकल लोकों के एक ही आदिकारण, और जगत् में पूज्य श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कथन किया। (६४)

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

सञ्जय बोले—परन्तु हे कौरव-कुल के चक्रवर्ती! मुझे बारम्बार यही विस्मय होता है कि तीनों जगतों में लक्ष्मी से बढ़कर क्या कोई भाग्यवान् है? (६५) अथवा संकेत से वर्णन करने के विषय में संसार में श्रुति के अतिरिक्त कोई दिखाइए; अथवा सेवा देखी जाय तो शेष की हो दिखाई देती है, (६६) अथवा प्राप्ति के लिए योगियों की तरह आठों पहर कष्ट कर उपासना करनेवाला गरुड़ के समान कौन है? (६७) परन्तु ये सभी अलग रह गये। सम्प्रति जिस दिन से इन पाण्डवों का जन्म हुआ तब से कृष्णसुख इन्हीं की ओर पक्षपाती हो गया है। (६८) परन्तु इन पाँचों में भी श्रीकृष्ण सहज ही अर्जुन के अधीन एस हो गए हैं जैसे कोई कामुक मनुष्य स्त्री के अधीन हो जाता है। (६९) पढ़ाया हुआ पक्षी भी ऐसा नहीं बोलता, क्रीड़ामृग भी ऐसा नहीं चलता। इस अर्जुन का भाग्य न जाने कैसा अनुकूल हो रहा है। (७०) आज इस सम्पूर्ण परब्रह्म का भोग लेने के लिए, इसी के नेत्र भाग्यवान् हो रहे हैं। श्रीकृष्ण कैसे इसकी लाड़ली बातें पूरी कर रहे हैं। (७१) इसे कोप हो तो पुचकार सह लेते हैं, और यह रूठ जाय तो इसे मनाने जाते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन के पीछे मानों पागल हो रहे हैं। (७२) यों तो विषयों को जीत कर शिव शुक इत्यादि महात्माओं ने जन्म लिया है इनके विषयों का बदला करते हुए इनके भक्त बन गये हैं। (७३) वे

दिखाइए' कैसे कह दूँ ? (३१) मैं इनका बड़ा मित्र हूँ सही, पर क्या लक्ष्मी से भी प्रिय हूँ ! तथापि वह भी यह बात पूछने के लिए डरी। (३२) मैंने इनकी चाहे जैसी सेवा की हो, परन्तु क्या वह गरुड़ के बराबर हो सकती है ? पर उसने भी यह बात नहीं निकाली। (३३) मैं क्या सनकादिकों से भी प्रिय हूँ ? परन्तु उन्होंने भी ऐसा पागलपन नहीं किया। मैं क्या गोकुल-वासियों के समान देव को प्रिय हो सकता हूँ ? (३४) तथापि उन्हें भी देव ने बालपन में इस बात से वञ्चित रक्खा। एक के गर्भवास भी सहे परन्तु विश्वरूप वैसा ही रहा। उसे इन्होंने किसी को नहीं दिखाया। (३५) जो इतनी गुप्त बात है, जो इनके निज अन्तःकरण की वस्तु है वह एकदम मैं कैसे पूछ सकता हूँ ? (३६) और यदि न पूछूँ तो विश्वरूप देखे बिना सुख ही न होगा और जीवन भी कदाचित् ही रहे। (३७) इसलिए कुछ पूछता ही हूँ। फिर देव चाहे जो करें। इस प्रकार अर्जुन ने बोलने की हिम्मत की (३८) परन्तु ऐसे प्रेम से कि देव ने एक दो बातों में ही सम्पूर्ण विश्वरूप खोल खोल कर दिखा दिया। (३९) अजी, बछड़े को देखते ही गाय झटपट प्रेम से उठ खड़ी होती है, तो क्या स्तन को मुँह लगाने पर वह पनिहाये बिना रहेगी ? (४०) जैसे ही, पाण्डवों के नाम से जो कृष्ण वन में भी रक्षा करने के लिए दौड़े गये उनसे अर्जुन के प्रश्न करते ही क्या रहा जायगा ? (४१) वे सहज ही प्रेम की मूर्ति हैं, और उस प्रेम को मानों अर्जुनरूपी नशा खिलाया है। ऐसे मेल के समय मिलता रह जाना ही आश्चर्य है (४२) इससे अर्जुन के पूछते ही देव आप ही आप विश्वरूप हो जावेंगे। ऐसा यह पहला ही प्रसङ्ग है। इसका वर्णन सुनिए। (४३)

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा—हे कृपानिधि ! आपने मुझसे अनिर्वाच्य वस्तु भी यह कर प्रकट कर दी। (४४) महाभूत जब ब्रह्म में विलीन होते हैं और जब महत्तत्त्व इत्यादि के ठाँव मिट जाते हैं तब देव जिस स्वरूप में रहते हैं, जो आपका निदान का विश्राम है, (४५) जो अभी

यह बात हमें भी मान्य है। (६०) सत्य है कि यदि हमें विश्वरूप दिखाना है तो प्रथम तुम्हें उसे देखने की सामर्थ्य भी देनी चाहिए। परन्तु प्रेम से बोलते हमें विस्मरण हो गया। (६१) क्या हुआ? पृथ्वी को बिना ही जोते यदि बीज बोया जाय तो वह समय व्यर्थ ही जायेगा। अतएव अब हम तुम्हें वह दृष्टि देते हैं जिससे तुम मेरा निजी स्वरूप देख सको। (६२) हे पाण्डव! उस दृष्टि से हमारा सम्पूर्ण ऐश्वर्ययोग देखकर अनुभवान्तर्गत कर लो। (६३) वेदान्त से जानने योग्य, सकल लोकों के एक ही आदिकारण, और जगत् में पूज्य श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कथन किया। (६४)

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

सञ्जय बोले—परन्तु हे कौरव-कुल के चक्रवर्ती! मुझे बारम्बार यही विस्मय होता है कि तीनों लोकों में अर्जुन से बढ़कर क्या कोई भाग्यवान् है? (६५) अथवा संकेत से वर्णन करने के विषय में संसार में श्रुति के अतिरिक्त कोई दिखाई दे, अथवा सेवा देखी जाय तो शेष की ही दिखाई देती है, (६६) अथवा प्राप्ति के लिए योगियों की तरह आठों पहर चट कर उपासना करनेवाला गरुड़ के समान कौन है? (६७) परन्तु ये सभी अलग रह गये। सम्प्रति जिस दिन से इन पाण्डवों का जन्म हुआ तब से कृष्णासुर पार्थ ही की ओर एकमार्गी हो गया है। (६८) परन्तु इन पाँचों में भी श्रीकृष्ण सहज ही अर्जुन के अधीन ऐसे हो गये हैं जैसे कोई कामुक मनुष्य स्त्री के अधीन हो जाता है। (६९) पढ़ाया हुआ पक्षी भी ऐसा नहीं बोलता; क्रीडामृग भी ऐसा नहीं चलता। इस अर्जुन का भाग्य न जाने कैसा अनुकूल हो रहा है। (७०) आज इस सम्पूर्ण परब्रह्म का भाग लेने के लिए, इसी के नेत्र भाग्यवान् हो रहे हैं। श्रीकृष्ण जैसे इसकी लाड़ली बातें पूरी कर रहे हैं। (७१) इसे क्रोध हो तो चुपचाप सह लेते हैं, और यह रूठ जाय तो इसे समझाने जाते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन के पीछे अनोखे पागल हो रहे हैं। (७२) यों तो विषयों को जीत कर शिव शुक इत्यादि महात्माओं ने जन्म लिया है इनके विषयों का बन्धन करने हुए इनके भट बन गये हैं। (७३) वे

योगियों के समाधिरूपी धन हैं, परन्तु पार्थ के अधीन हो रहे हैं। इसलिए हे राजा! मेरा मन विस्मय कर रहा है। (७४) परन्तु संजय ने कहा कि हे कौरव राज! इसमें विस्मय का भी क्या कारण है? श्रीकृष्ण जिसको स्वीकार करते हैं उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। (७५) अस्तु, देवों के राजा श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा कि हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं जिससे तुम विश्वरूप का पद देख सकोगे। (७६) श्रीकृष्ण के मुख से ये वचन सम्पूर्ण न निकल पाये थे कि अर्जुन का अविद्यारूपी अँधेरा मिटने लगा। (७७) वे अक्षर नहीं, मानों श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए ब्रह्म का ऐश्वर्य दिखानेवाले ज्ञानदीप ही प्रकाशित कर दिये। (७८) फिर दिव्य नेत्रों का प्रकाश हुआ। उससे उसकी ज्ञानदृष्टि विकसित हो गई। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना ऐश्वर्य दिखा दिया। (७९) ये जो सब अवतार हैं सो जिस समुद्र की तरंगें हैं, यह विश्वरूपी मृगजल जिन किरणों के कारण दिखाई देता है, (८०) जिस अनादि भूमिका पर यह चराचररूपी चित्र स्पष्ट उभरता है, अपना वही स्वरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया। (८१) पहले बालपन में इस श्रीपति ने जब एक बार मिट्टी खाई थी और यशोदा ने क्रोध से इसे हाथ में पकड़ लिया था (८२) तब जैसे डरते डरते अपने मुख की सफ़ाई देने के मिस यशोदा को सामग्र चौदहों भुवन दिखा दिये थे, (८३) अथवा मधुवन में जैसे ध्रुव पर ऐसा उपकार किया था कि शङ्ख से गाल का स्पर्श कराते ही वह उस वस्तु का निरूपण करने लगा जिसमें वेदों की भी बुद्धि नहीं चलती, (८४) हे राजा! वैसा ही अनुग्रह श्रीहरि ने धनञ्जय पर किया। इसकी बदौलत उसके लिए माया का पता भी न रहा। (८५) उसे एकदम ऐश्वर्य तेज का प्रकाश हुआ और सर्वत्र चमत्कार का समुद्र ही दिखाई देने लगा। उसका चित्त विस्मय के समुद्र में डूब गया। (८६) जैसे ब्रह्मलोक तक पूर्ण भरे हुए जल में अकेला मार्कण्डेय तैरता था वैसे ही पार्थ विश्वरूप के चमत्कार में लोटने लगा। (८७) वह मन में कहने लगा कि यहाँ जितना बड़ा आकाश था, उसे कौन कहाँ ले गया? चराचर और महाभूत क्या हो गये? (८८) दिशाओं के तो निशान ही मिट गये! अधोर्ध्व (आकाश-पाताल) न जाने क्या हुए! और जोगाकार जागृत मनुष्य के स्वप्न के समान विलीन हो गये (८९) अथवा सूर्य के प्रकाश के प्रताप से जैसे चन्द्र-सहित सब तारागण लुप्त हो

जाते हैं वैसे ही यह प्रपञ्चरचना विश्वरूप में नष्ट कर डाली। (९०) उस समय उसके मन का मनत्व बन्द हो गया, बुद्धि निज को न थाम सकी, और इन्द्रियों की वृत्तियाँ उलट कर हृदय में भर गईं। (९१) तब स्तब्धता स्तब्ध हो गई, एकाग्रता की टक लग गई, मानों सारे विचार-समूह पर किसी ने मोहनास्त्र फेंका हो। (९२) इस प्रकार विस्मित हो वह प्रेम से देखने लगा तो जो चतुर्भुज स्वरूप सामने खड़ा था वही अनेक रूप हो चहुँओर भरा हुआ दिखाई दिया। (९३) जैसे वर्षाकाल के मेघ विस्तृत होते हैं, अथवा महाप्रलय का तेज बढ़ता है, वैसे ही उस मूर्ति ने अपने अतिरिक्त अन्य कोई स्थान न बचने दिया। (९४) प्रथम अन्तःकरण में उस स्वरूप को देखकर अर्जुन को समाधान हुआ। फिर साथ ही जो आँखें खोलता है तो बाहर भी उसे विश्वरूप दिखाई दिया। (९५) उसकी जो इच्छा थी कि इन्हीं दोनों आँखों से सकल विश्वरूप देखूँ वह श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूर्ण की। (९६)

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

फिर अर्जुन ने उस स्वरूप में अनेक मुख ऐसे देखे जो मानों विष्णु के राजभवन हों, अथवा मानों लावण्यलक्ष्मी के निधान प्रकट हुए हों (९७) अथवा वे मुख नहीं मानों आनन्दरूपी वनों में बहार आई हो तथा मानों सुन्दरता के सब राज्य-समृद्धि प्राप्त हुई हो। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के उस मनोहर मुख देखे। (९८) परन्तु उनमें कोई कोई ऐसे भयानक थे मानों कालरात्रि की सेनायें चढ़ी आती हों, (९९) अथवा मृत्यु के ही मुख उत्पन्न हुए हों, अथवा भय के किले ही रचे गये हों, अथवा प्रलयाग्नि के महाकुण्ड खोले गये हों। (१००) अर्जुन ने उस रूप में ऐसे अद्भुत और भयानक मुख देखे तथा और भी बहुतेरे अलंकारयुक्त प्रकाश-सहित और सौम्य मुख देखे। (१) वह ज्ञानदृष्टि से देख रहा था तथापि उन मुखों का अन्त न दीखता था। तब फिर वह कुतूहल से नेत्रों की ओर देखने लगा तो (२) उसे सूर्यों की पंक्तियों जैसे नेत्र ऐसे दिखाई दिये मानों नाना वर्णों के कमलवन विकसित हुए हों। (३) वहीं उन कृष्ण-मेघों के समुदाय में जैसे कल्पान्त में बिजली चमकती है वैसी दर्प के समान, पीली दृष्टि

योगियों के समाधिरूपी धन हैं, परन्तु पार्थ के अधीन हो रहे हैं। इसलिए हे राजा! मेरा मन विस्मय कर रहा है। (७४) परन्तु सञ्जय ने कहा कि हे कौरव राज! इसमें विस्मय का भी क्या कारण है? श्रीकृष्ण जिसको स्वीकार करते हैं उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। (७५) अस्तु, देवों के राजा श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा कि हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं जिससे तुम विश्वरूप का पद देख सकोगे। (७६) श्रीकृष्ण के मुख से ये वचन सम्पूर्ण न निकल पाये थे कि अर्जुन का अविद्यारूपी अँधेरा मिटने लगा। (७७) वे अक्षर नहीं, मानों श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए ब्रह्म का ऐश्वर्य दिखानेवाले ज्ञानदीप ही प्रकाशित कर दिये। (७८) फिर दिव्य नेत्रों का प्रकाश हुआ। उससे उसकी ज्ञानदृष्टि विकसित हो गई। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना ऐश्वर्य दिखा दिया। (७९) ये जो सब अवतार हैं सो जिस समुद्र की तरंगें हैं, यह विश्वरूपी मृगजल जिन किरणों के कारण दिखाई देता है, (१८०) जिस अनादि भूमिका पर यह चराचररूपी चित्र स्पष्ट उभरता है, अपना वही स्वरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया। (८१) पहले बालपन में इस श्रीपति ने जब एक बार मिट्टी खाई थी और यशोदा ने क्रोध से इसे हाथ में पकड़ लिया था (८२) तब जैसे डरते डरते अपने मुख की सफाई देने के मिस यशोदा को सातकाश चौदहों भुवन दिखा दिये थे (८३) अथवा मधुवन में जैसे ध्रुव पर ऐसा उपकार किया था कि शङ्ख से गाल का स्पर्श कराते ही वह उस वस्तु का निरूपण करने लगा जिसमें वेदों की भी बुद्धि नहीं चलती (८४) हे राजा! वैसा ही अनुग्रह श्रीहरि ने धनञ्जय पर किया। इसकी बदौलत उसके लिए माया का पता भी न रहा। (८५) उसे एकदम ऐश्वर्य तेज का प्रकाश हुआ और सर्वत्र चमत्कार का समुद्र ही दिखाई देने लगा। उसका चित्त विस्मय के समुद्र में डूब गया। (८६) जैसे ब्रह्मलोक तक पूर्ण भरे हुए जल में अकेला मार्कण्डेय तैरता था वैसे ही पार्थ विश्वरूप के चमत्कार में लोटने लगा। (८७) वह मन में कहने लगा कि यहाँ कितना बड़ा आकाश था, उसे कौन कहाँ ले गया! चराचर और महाभूत क्या हो गये? (८८) दिशाओं के तो निशान ही मिट गये! ऊर्ध्व-अधो (आकाश-पाताल) न जाने क्या हुए! और लोकाकार जागृत मनुष्य के स्वप्न के समान विलीन हो गये (८९) अथवा सूर्य के प्रकाश के प्रताप से जैसे चन्द्र-सहित सब तारागण लुप्त हो

जाते हैं वैसे ही वह प्रपञ्चरचना विश्वरूप में नष्ट कर डाली। (९०) उस समय उसके मन का मनत्व बन्द हो गया, बुद्धि निश्चय को न थाम सकी, और इन्द्रियों की वृत्तियाँ उलट कर हृदय में भर गईं। (९१) तब स्तब्धता स्तब्ध हो गई, एकाग्रता की टक लग गई, मानों सारे विचार-समूह पर किसी ने मोहनास्त्र फेंका हो। (९२) इस प्रकार विस्मित हो वह प्रेम से देखने लगा तो जो चतुर्भुज स्वरूप सामने खड़ा था वही अनेक रूप हो चहुँओर भरा हुआ दिखाई दिया। (९३) जैसे वर्षाकाल के मेघ विस्तृत होते हैं, अथवा महाप्रलय का तेज बढ़ता है, वैसे ही उस मूर्ति ने अपने अतिरिक्त अन्य कोई स्थान न बचने दिया। (९४) प्रथम अन्तःकरण में उस स्वरूप को देखकर अर्जुन को समाधान हुआ। फिर साथ ही जो आँखें खोलता है तो बाहर भी उसे विश्वरूप दिखाई दिया। (९५) उसकी जो इच्छा थी कि इन्हीं दोनों आँखों से सकल विश्वरूप देखूँ वह श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूर्ण की। (९६)

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

फिर अर्जुन ने उस स्वरूप में अनेक मुख ऐसे देखे जो मानों विष्णु के राजभवन हों, अथवा मानों लावण्यलक्ष्मी के निधान प्रकट हुए हों (९७) अथवा वे मुख नहीं मानों आनन्दरूपी वनों में बहार आई हो, तथा मानों सुन्दरता के सङ्ग राज्य-समृद्धि प्राप्त हुई हो। अर्जुन ने *श्रीकृष्ण* के ऐसे मनोहर मुख देखे। (९८) परन्तु उनमें कोई कोई ऐसे भयानक थे मानों कालरात्रि की सेनायें चढ़ी आती हों, (९९) अथवा मृत्यु के ही मुख उत्पन्न हुए हों, अथवा भय के किले ही रचे गये हों, अथवा प्रलयाग्नि के महाकुण्ड खोले गये हों। (२००) अर्जुन ने उस रूप में ऐसे अद्भुत और भयानक मुख देखे तथा और भी बहुतेरे असाधारण अलङ्कार-सहित और सौम्य मुख देखे। (१) वह ज्ञान-दृष्टि से देख रहा था तथापि उस प्रभु मुखों का अन्त न दीखता था। तब फिर वह कुतूहल से नेत्रों की ओर देखने लगा तो (२) उसे सूर्यों की पंक्तिरूपी नेत्र ऐसे दिखाई दिये मानों नाना वर्णों के कमलवन विकसित हुए हों। (३) वहाँ उसे, कृष्णमेघों के समुदाय में जैसे कल्पान्त में विद्युत् चमकती है वैसी अग्नि के समान पीली दृष्टि

योगियों के समाधिरूपी धन हैं, परन्तु पार्थ के अधीन हो रहे हैं। इसलिए हे राजा! मेरा मन विस्मय कर रहा है। (७४) परन्तु सञ्जय ने कहा कि हे कौरव राज! इसमें विस्मय का भी क्या कारण है? श्रीकृष्ण जिसको स्वीकार करते हैं उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। (७५) अस्तु, देवों के राजा श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा कि हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं जिससे तुम विश्वरूप का पद देख सकोगे। (७६) श्रीकृष्ण के मुख से ये वचन सम्पूर्ण न निकल पाये थे कि अर्जुन का अविद्यारूपी अँधेरा मिटने लगा। (७७) वे अक्षर नहीं, मानों श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए ब्रह्म का ऐश्वर्य दिखानेवाले ज्ञानदीप ही प्रकाशित कर दिये। (७८) फिर दिव्य नेत्रों का प्रकाश हुआ। उससे उसकी ज्ञानदृष्टि विकसित हो गई। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना ऐश्वर्य दिखा दिया। (७९) ये जो सब अवतार हैं सो जिस समुद्र की तरंगे हैं, यह विश्वरूपी मृगजल जिन किरणों के कारण दिखाई देता है, (१८०) जिस अनादि भूमिका पर यह चराचररूपी चित्र स्पष्ट उभरता है, अपना वही स्वरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया। (८१) पहले बालपन में इस श्रीपति ने जब एक बार मिट्टी खाई थी और यशोदा ने क्रोध से इसे हाथ में पकड़ लिया था (८२) तब जैसे डरते डरते अपने मुख की सफाई देने के मिस यशोदा को सातचौदहों भुवन दिखा दिये थे, (८३) अथवा मधुवन में जैसे ध्रुव पर ऐसा उपकार किया था कि शङ्ख से गाल का स्पर्श कराते ही वह उस वस्तु का निरूपण करने लगा जिसमें वेदों की भी बुद्धि नहीं चलती, (८४) हे राजा! वैसा ही अनुग्रह श्रीहरि ने धनञ्जय पर किया। इसकी बदौलत उसके लिए माया का पता भी न रहा। (८५) उसे एकदम ऐश्वर्य तेज का प्रकाश हुआ और सर्वत्र चमत्कार का समुद्र ही दिखाई देने लगा। उसका चित्त विस्मय के समुद्र में डूब गया। (८६) जैसे ब्रह्मलोक तक पूर्ण भरे हुए जल में अकेला मार्कण्डेय तैरता था वैसे ही पार्थ विश्वरूप के चमत्कार में लोटने लगा। (८७) वह मन में कहने लगा कि यहाँ जितना यह आकार था उसे कौन कहाँ ले गया? चराचर और महाभूत क्या हो गये? (८८) दिशाओं के तो निशान ही मिट गये! अधोर्ध्व (आकाश-पाताल) न जाने क्या हुए! और लोकाकार जागृत मनुष्य के स्वप्न के समान विलीन हो गये (८९) अथवा सूर्य के प्रकाश के प्रताप से जैसे चन्द्र-सहित सब तारागण लुप्त हो

थके हैं वैसे ही यह प्रपञ्चरचना विश्वरूप ने नष्ट कर डाली। (९०) उस समय उसके मन का मनत्व बन्द हो गया, बुद्धि निश्चय को न थाम सकी, और इन्द्रियों की वृत्तियाँ पलट कर हृदय में भर गईं। (९१) तब स्तब्धता स्तब्ध हो गई, एकाग्रता की टक लग गई, मानों सारे विचार-समूह पर किसी ने मोहनास्त्र फेंका हो। (९२) इस प्रकार विस्मित हो वह प्रेम से देखने लगा, तो जो चतुर्भुज स्वरूप सामने खड़ा था वही अनेक रूप हो चहुँओर भरा हुआ दिखाई दिया। (९३) जैसे वर्षाकाल के मेघ विस्तृत होते हैं, अथवा महाप्रलय का तेज चढ़ता है, वैसे ही उस मूर्ति ने अपने अतिरिक्त अन्य कोई स्थान न बचने दिया। (९४) प्रथम अन्तःकरण में उस स्वरूप को देखकर अर्जुन को समाधान हुआ। फिर साथ ही जो आँखें खोलता है तो बाहर भी उसे विश्वरूप दिखाई दिया। (९५) उसकी जो इच्छा थी कि इन्हीं दोनों आँखों से सकल विश्वरूप देखूँ वह श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूर्ण की। (९६)

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

फिर अर्जुन ने उस स्वरूप में अनेक मुख ऐसे देखे जो मानों विष्णु के राजभवन हों, अथवा मानों लावण्यलक्ष्मी के निधान प्रकट हुए हों (९७) अथवा वे मुख नहीं मानों आनन्दरूपी वनों में बहार आई हो; तथा मानों सुन्दरता के उत्तम राज्य-समृद्धि प्राप्त हुई हो। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के ऐसे मनोहर मुख देखे। (९८) परन्तु उनमें कोई कोई ऐसे भयानक थे मानों कालरात्रि की सेनाएँ चढ़ी आती हों (९९) अथवा मृत्यु के ही मुख उत्पन्न हुए हों, अथवा भय के किले ही रचे गये हों, अथवा प्रलयाग्नि के महाकुण्ड खोले गये हों। (१००) अर्जुन ने उस रूप में ऐसे अद्भुत और भयानक मुख देखे तथा और भी बहुतेरे असाधारण अलङ्कार-सहित और सौम्य मुख देखे। (१) वह ज्ञान-दृष्टि से देख रहा था तथापि उसे उन मुखों का अन्त न दीखता था। तब फिर वह कुतूहल से नेत्रों की ओर देखने लगा तो (२) उसे सूर्यों की पंक्तिरूपी नेत्र ऐसे दिखाई दिये मानों नाना वर्ण के कमलवन विकसित हुए हों। (३) वहीं उसे, कृष्ण-मेघों के समुदाय में जैसे कल्पान्त में विद्युत् चमकती है वैसी अग्नि के समान पीली दृष्टि

पृथ्वी के नीचे दिखाई दी। (४) ऐसा एक एक आश्चर्य देखते हुए अर्जुन को उस एक ही रूप में अनेक रूपों के दर्शन की प्रतीति हुई। (५) तब अर्जुन सोचने लगा कि चरण कहाँ हैं? मुकुट किस ओर है? बाहु कहाँ हैं? इस प्रकार वह प्रेम से देखने की इच्छा बढ़ाने लगा (६) तो उस भाग्यनिधि अर्जुन का मनोरथ क्या विफल हो सकता था? क्या शङ्कर के तर्कस में कोई निष्फल बाण रह सकता है? (७) अथवा ब्रह्मदेव की वाचा में क्या मिथ्या अक्षरों के साँचे रह सकते हैं? अत: उसे वह अपार स्वरूप साद्यन्त दिखाई दिया। (८) जिसका अन्त वेदों को नहीं मिला उसके सम्पूर्ण अवयवों का भोग अर्जुन की दोनों आँखों को एकदम प्राप्त हो गया। (९) चरणों से लेकर मुकुट तक उसने विश्वरूप की महिमा देखी। वह विश्वरूप माला रत्नों और अलङ्कारों से सुशोभित था। (२१०) अपने शरीर पर पहनने के लिए परब्रह्म आप ही जो अनेक अलङ्कार बन गया था उनकी मैं किससे उपमा दूँ? (११) जिस प्रभा के प्रकाश से चन्द्र और सूर्यमण्डल को प्रकाश मिलता है, जो महातेज का जीवन है, जिससे विश्व प्रकट होता है, (१२) उस दिव्य तेज की शोभा किसकी बुद्धि को मालूम हो सकती है? अर्जुन ने देखा कि देव ने निज को निज से ही अलंकृत किया है। (१३) फिर उसी रूप में ज्ञान की दृष्टि से सरल हाथों की ओर देखा तो उसे ऐसे चमकते हुए शस्त्र दिखाई दिये मानों कल्पान्त की ज्वालाओं को काट रहे हैं। (१४) आप ही शरीर, आप ही अलङ्कार, आप ही हाथ, आप ही हथियार, आप ही जीव, आप ही देह—इस प्रकार उसे सब चराचर श्रीकृष्ण से भरा हुआ दिखाई दिया। (१५) जिनकी किरणों की तीव्रता से नक्षत्र मानों चने जैसे फूट रहे हैं, जिनके तेज से मानों अग्नि को आग का समुद्र में प्रवेश करने की इच्छा हुई, (१६) जिनके कारण मानों कालकूट समुद्र की लहरों में छिप गया, अथवा जो मानों महाविद्युत् के वन ही प्रकट हुए हैं, ऐसे शस्त्र पकड़े हुए और ऊँचे उठाये हुए उसे अनेक हाथ दिखाई दिये। (१७)

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अर्जुन ने डर कर वहाँ से दृष्टि हटा ली। वह कण्ठ और मुकुट

देखने लगा तो जिनसे कल्पवृक्ष की सृष्टि उत्पन्न हुई हो, (१८) अथवा जो महासिद्धियों के आश्रयस्थान हों, अथवा भ्रान्त हुई लक्ष्मी जहाँ विश्राम लेती हो ऐसे अत्यन्त निर्मल पुष्प धारण किये हुए कण्ठ और मुकुट उसे दिखाई दिये। (१९) मुकुट के ऊपर जहाँ तहाँ फूलों के गुच्छे और पुष्पोपचार बँधे हुए और कण्ठ में असाधारण पुष्पमालायें झूलती हुई दिखाई दीं। (२०) जैसे स्वर्ग ने सूर्य के प्रकाश का आच्छादन किया हो, अथवा जैसे मेरु पर्वत सोने से मढ़ दिया गया हो ऐसा नितम्ब पर पहना हुआ पीताम्बर शोभा दे रहा था। (२१) और मानों श्रीशङ्कर को कपूर का उबटन किया हो, अथवा कैलास को पारे का लेप कर दिया गया हो, अथवा क्षीरसमुद्र पर सफेद वस्त्र का आच्छादन किया गया हो, (२२) जैसे चन्द्रिका की तह खोली गई हो और आकाश ने उसे ओढ़ कर घूँघट कर लिया हो, इस प्रकार उसने सर्वाङ्ग में चन्दन का उबटन लगा हुआ देखा। (२३) जिस सुगन्ध के द्वारा स्वप्रकाश अधिक कान्तिमान् होता है तथा ब्रह्मानन्द की भी दाह शान्त होती है, और जिस सुगन्ध से पृथ्वी को जीवन प्राप्त होती है, (२४) जिसके लेप से निर्मलता प्राप्त होती है, जिसे शरीर रहित मदन भी सर्वाङ्ग में धारण करता है उस सुगन्ध की महिमा कौन वर्णन कर सकता है? (२५) इस प्रकार एक एक शृंगारशोभा देखते हुए अर्जुन घबड़ा उठा और यह भी न जान सका कि देव बैठे हैं, खड़े हैं, या सम्मुख हैं। (२६) बाहर आँखें खोलकर देखता है तो सब मूर्तिमय दिखाई देता है, और फिर आँखें मूँद कर चुप रहता है तो भीतर भी वही दृश्य दिखाई देता है। (२७) सामने अगणित मुख दिखाई देते हैं। उनके डर से जो पीछे की ओर देखता है तो वहाँ भी वैसे ही श्रीमुख, कर, चरण इत्यादि दिखाई देते हैं। (२८) अभी, देखने से दिखाई देंगे इसमें क्या आश्चर्य है, परन्तु यह नई बात हुई कि न देखने हुए भी दिखाई देते हैं। (२९) अनुग्रह का कैसा कार्य है कि पार्थ का देखना और न देखना स्वयं पार्थ के सहित श्रीनारायण ने व्याप्त कर डाला है। (३०) और, अर्जुन ज्योंही एक आश्चर्य की बाढ़ में पड़ कर तत्काल किनारे पर आता है त्योंही दूसरे चमत्कार के महासमुद्र में जा पड़ता है। (३१) इस प्रकार अनन्तरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने दर्शन की असाधारण कुशलता से घेर लिया। (३२) वह स्वभावतः विश्वतोमुख है, और यहाँ विश्वरूप देखने के लिए अर्जुन ने प्रार्थना की थी। अतएव वह सम्पूर्ण विश्वमय हो रहा है। (३३) जो दृष्टि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी थी वह ऐसी नहीं थी कि दीपक या सूर्य के

प्रकाश में ही प्रकट हो और आँख मीचते ही उसका देखना बन्द हो जावे। (१४) अतएव अर्जुन को दोनों ओर वह स्वरूप दिखाई देता ही था। यह बात सञ्जय ने हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र से निवेदन की (१५) और कहा कि बहुत क्या कहें, यह जान लो कि अर्जुन ने नाना प्रकार पहने हुए विश्वतोमुख विश्वरूप का दर्शन किया। (१६)

> दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
> यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

हे राजा! उस अङ्गशोभा का कुतूहल काहे के समान वर्णन करूँ? कल्पान्त के समय जैसे बारहों आदित्यों का एक समुदाय हो जाता है (१७) उस तरह के हजारों दिव्य सूर्य यदि एक ही समय उदय हों तो भी उन्हें इस महातेज की उपमा न प्राप्त होगी। (१८) सम्पूर्ण बिजुलियों का समुदाय कीजिए और प्रलयाग्नि की सब सामग्री लाइए और उसमें दश आकर्षाग्नि मिलाइए (१९) तथापि वह तेज उस अङ्गशोभा की तुलना से कुछ अल्प ही होगा और निश्चय से फिर भी उसके समान निर्मल न होगा। (२०) ऐसी महिमा से समन्वित श्रीहरि के सर्वाङ्ग का तेज सहज विकसित हो रहा था। व्यास मुनि की कृपा से वह मुझे भी दृष्टिगोचर हो गया। (४१)

> तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
> अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

और उस विश्वरूप में एक ओर सम्पूर्ण जग अपने विस्तार सहित ऐसा दिखाई देता था मानों महासमुद्र में अलग अलग बुलबुले उठ रहे हों (४२) अथवा आकाश में जैसे गन्धर्वनगर हो अथवा पृथ्वी में जैसे चिउँटी के बनाये हुए घर हों अथवा मेरु पर्वत पर जैसे छोटे छोटे परमाणु भरे हों। (४३) उस देवचक्रवर्ती के शरीर में अर्जुन ने उस इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् देखे। (४४)

> ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
> प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

इससे उसके मन में जो किञ्चित् ऐसा द्वैत था कि विश्व एक वस्तु है और मैं एक वस्तु हूँ, वह नष्ट हो गया। अन्तःकरण एकदम विलीन हो गया। (४५) अन्तर्याम में आनन्द की जागृति हो गई। बाहरी अवयवों का बल नष्ट हो गया, और मस्तक से पावों तक शरीर रोमाञ्च से भर गया। (४६) वर्षाकाल के आरम्भ में पानी पड़ जाने के उपरान्त पर्वत के सर्वाङ्ग पर जैसे कोमल अंकुर लगते हैं वैसे उसके शरीर पर रोमाञ्च खड़े हो गये। (४७) चन्द्रकिरणों का स्पर्श होते ही जैसे सोमकान्त पिघलता है वैसे ही उसके शरीर में स्वेद बिन्दु भर आये। (४८) कमल की कली में भ्रमर के फँस जाने पर जैसे वह जल पर हिलती है वैसे ही अन्तःसुख की तरङ्ग के कारण अर्जुन बाहर से काँपने लगा। (४९) कपूर कन्दली* का आच्छादन [छिलका] खोलने से जैसे भीतर भरे हुए कपूर के कण टपकते हैं वैसे ही उसकी आँखों से जल बिन्दु टपकने लगे। (२५०) चन्द्र के उदय होने से जैसे समुद्र बारम्बार भरता है वैसे ही वह बारम्बार आनन्द की लहरों से उछलने लगा। (५१) ऐसे आठों सात्त्विक भाव आपस में एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे तब उसके जी को मानो ब्रह्मानन्द का राज्य प्राप्त हो गया। (५२) उस सुखानुभव के उपरान्त अर्जुन ने प्रेम का आश्रय कर श्वास लेकर बाहर दृष्टि फेंकी। (५३) फिर और बैठा था उसी ओर श्रीकृष्ण को माथा नवा कर और हाथ जोड़ कर यह कहने लगा (५४):—

अर्जुन उवाच—

> पश्यामि देवांस्तव देव देहे
>
> सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
>
> ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
>
> मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

हे स्वामिन्! आपकी जयजयकार हो। आपने आज बड़ी कृपा की जो मैं एक सामान्य मनुष्य आपका विश्वरूप देख पाया। (५५) हे गोस्वामिन्! आपने सचमुच बहुत बड़ा उपकार किया। मुझे स्वभावतः सन्तोष हुआ है जो मैंने यह देख लिया कि आप इस सृष्टि के आश्रय हैं।

---

*जिसमें कपूर निकलता है।

(५६) हे देव! मन्दराचल के शरीर पर जैसे अनेक स्थानों में श्वापदों के आश्रय रहते हैं वैसे ही मैं आपके शरीर में अनेक भुवन देखता हूँ। (५७) अभी, आकाश के कोख में जैसे महद्गणों के समूह दिखाई देते हैं, अथवा जैसे महावृक्ष पर अनेक पक्षियों के घोंसले दिखाई देते हैं, (५८) वैसे ही हे श्रीहरि! आपके विश्वरूपी शरीर में देवगणों सहित स्वर्ग दिखाई देता है। (५६) हे प्रभु! यहाँ अनेक महाभूतों के पञ्चक और भूत-सृष्टि के समुदाय दिखाई देते हैं। (२६०) अभी, आपमें सत्यलोक भी है। ये जो दिखाई दे रहे हैं सो क्या महादेव ही नहीं हैं? और दूसरी ओर देखिए तो कैलाश दिखाई देता है। (६१) श्रीशङ्कर पार्वती-सहित आपके एक अंश में दिखाई दे रहे हैं, और हे हृषीकेश! आप भी अपने इस रूप में दिखाई दे रहे हैं। (६२) कश्यप इत्यादि ऋषिगण भी सब आपके स्वरूप पाताल और सर्पों-सहित दिखाई दे रहे हैं। (६३) अधिक क्या कहूँ, हे त्रैलोक्यपति! आपके एक एक अवयवरूपी भीति पर चौदहों भुवन मानों चित्राकृति के रूप से लिखे हुए हैं, (६४) और उन भुवनों के जो जो लोक हैं उनके भी मानों अनेक चित्र खींचे गये हैं। इस प्रकार आपकी अगाधता असाधारण दिखाई देती है। (६५)

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१६॥

इस दिव्य दृष्टि के विस्तार से जो चहुँओर देखता हूँ तो आपके बाहुदण्डों में मानों आकाश के अंकुर फूटे दिखाई देते हैं। वैसे ही हे देव! आप के हाथ लगातार एक ही काल में अनेकव्यापार करते दिखाई देते हैं। (६७) आपके अपार उदर ऐसे दिखाई दे रहे हैं मानों अव्यक्त ब्रह्म के विस्तार में ब्रह्माण्ड के भाण्डार प्रकट हुए हों। (६८) अभी आपके सहस्र मस्तकों के स्वरूप एक-सा कोटानुकोटि दिखाई देते हैं, और मानों परब्रह्म ही वदनरूपी फल के बोझ के रूप से प्रकट हुआ हो (६९) ऐसे जहाँ तहाँ हे विश्वमूर्ति! आपके मुख दिखाई दे रहे हैं। और वैसे ही नेत्रों की पंक्तियाँ भी चहुँओर अनेक दिखाई दे रही हैं। (२७०) बहुत क्या कहूँ, स्वर्ग, पाताल, भूमि, दिशा, आकाश आदि बातें ही न रहीं। सब कुछ आपका

मूर्तिमय दिखाई दे रहा है। (७१) कुतूहल से देखने पर आपके अतिरिक्त कहीं एक परमाणु बराबर भी अवकाश हाथ नहीं लगता। इस प्रकार आप व्याप्त हो रहे हैं। (७२) हे अनन्त! यह जितना नानाविध और अगण्य महाभूतों का समुदाय था उतना सब विस्तार आपसे व्याप्त दिखाई दे रहा है। (७३) ऐसे आप कहाँ से प्रकट हुए, और आप बैठे हैं कि खड़े हैं, तथा आप किस माता के गर्भ में थे, आपकी आकृति कितनी बड़ी है, (७४) आपका रूप और वय कितना है, आपके परे और क्या है, आप किस आधार पर स्थिर हैं,—इत्यादि बातें जो मैं देखता हूँ (७५) तो यह दिखाई देता है कि आपका ठौर आप ही हैं, आप किसी से उत्पन्न नहीं हुए, आप अनादि काल से ऐसे ही बने हैं, (७६) आप न खड़े हैं न बैठे ऊँचे हैं न ठिगने, तथा हे वैकुण्ठ! आपके नीचे और ऊपर स्वयं आप ही हैं। (७७) स्वरूप से आप आप ही जैसे हैं। हे देव! आप ही अपनी आयु हैं और हे परब्रह्म! आप ही अपने आगे और पीछे हैं। (७८) किम्बहुना, हे अनन्त! मैं बारम्बार देख चुका कि आप ही अपने सब कुछ हैं। (७९) परन्तु आपके इस रूपों में यही एक न्यूनता है कि उनमें आदि, मध्य और अन्त तीनों ही नहीं हैं। (२८०) यों तो आप सर्वत्र प्राप्त हैं, परन्तु कहीं भी आपका पता नहीं लगता; अतएव निश्चय से ये तीनों बातें आपमें नहीं हैं। (८१) इस प्रकार हे आदि मध्य और अन्त-रहित, हे अपरिमित विश्वेश्वर हे विश्वरूप! मैं आपको बराबर देख चुका। (८२) आपकी महामूर्ति में अनेक पृथक् पृथक् मूर्तियाँ प्रकट होती हैं जिससे ऐसा भान पड़ता है कि आपने अनेक प्रकार के रङ्गों के अलङ्कार पहन हैं। (८३) आपकी अनेक पृथक् मूर्तियाँ मानों वृक्ष और बेलें हैं जो आपके स्वरूपरूपी पर्वत पर दिव्य अलङ्काररूपी फल और फूलों की बहार से फूली हैं। (८४) अथवा हे देव! आप महासमुद्र हैं जिसमें आप ही तरङ्गरूपी मूर्तियों के झोंके बन गये हैं, अथवा आप एक वृक्ष हैं और मूर्तिरूपी फलों से लदे हुए हैं। (८५) अभी पृथ्वी जैसी भूतों से भरी है अथवा गगन जैसा नक्षत्रों से आच्छादित है, वैसे ही आपका रूप मूर्तियों से भरा हुआ दिखाई देता है। (८६) अभी आपके शरीर के रोम रोम में इतनी बड़ी बड़ी मूर्तियाँ प्रकट हुई हैं कि एक एक के अङ्गप्रदेश में त्रैलोक्य उत्पन्न और विलीन हो रहा है। (८७) यदि यह देखा आप कि विश्व का ऐसा

विस्तार करनेहारे आप कौन हैं और किसके हैं, तो आप वही हमारे सारथी हैं। (८८) तथापि हे मुकुन्द ! मैं समझता हूँ कि आप सर्वदा ऐसे ही व्यापक हैं और भक्त पर कृपा करने के लिए यह प्रेममय स्वरूप धारण करते हैं। (८९) यह चतुर्भुज मूर्ति इतनी सुन्दर है कि इसे देखते ही मन और आँखें जुड़ाती हैं, और इससे लिपटने जायें तो यह दोनों हाथों में समा सकती है। (२९०) हे विश्वरूप ! ऐसा सुन्दर रूप आप भक्तों पर कृपा करने के लिए धारण करते हैं न ? हमारी दृष्टि दूषित है जो हम आपको सामान्य दृष्टि से देखते हैं, (९१) तथापि अब दृष्टि का दोष निकल गया, आपने सहज ही दिव्य दृष्टि कर दी है इससे आपकी महिमा यथार्थतः दीख सकी है। (९२) मैं खूब जान चुका कि जो आप हमारे मकरमुखी कुएँ के पीछे बैठे हुए थे उन्हीं आपने इतना यह विश्वरूप धारण किया है। (९३)

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

हे श्रीहरि ! आपके मस्तक पर यह क्या वही मुकुट नहीं है ? परन्तु उसका हाल का तेज और महिमा बड़ी अनोखी मालूम होती है। (९४) हे विश्वमूर्ति ! ऊपरवाले हाथ में आप वही चक्र, मानों फेंकने के लिए उद्यत हो, सँभाल रहे हैं। यह चिह्न नहीं मिटा है। (९५) दूसरी ओर क्या यह वही गदा नहीं है ? और हे गोविन्द, नीचे की ये दोनों शस्त्ररहित भुजाएँ आपने बागडोर थामने के लिए फैलाई हैं। (९६) और वैसे ही हे विश्वेश ! मेरा मनोरथ पूर्ण करने के लिए आप शीघ्रता से विश्वरूप हो गये हैं। मैं यह बात पहचान गया। (९७) परन्तु इस नई बात का विस्मय करने की भी योग्यता मुझमें नहीं रही। मेरा चित्त इस आश्चर्य से मोहित हो गया है। (९८) आपकी अद्भुतमा की अनुपम शोभा चहुँओर ऐसी भरी है कि यह स्वरूप यहाँ है अथवा नहीं सो भी मैं विचार नहीं सकता। (९९) इस प्रभा से अग्नि की दृष्टि भी मन्द हो जाती है, सूर्य खद्योत के समान

क्षुब्ध हो जाता है। इस अद्भुत तेज की ऐसी तीव्रता है। (२००) ऐसा जान पड़ता है मानों महातेज के महासमुद्र में सम्पूर्ण सृष्टि डूब गई हो, अथवा प्रलयकाल की विद्युत् के आश्रम से आकाश ढक गया हो, (१) अथवा संहारतेज की ज्वालायें तोड़कर आकाश में चन्द्र मण्डप बनाया गया हो। अब दिव्यज्ञान के नेत्रों से भी देखा नहीं जाता। (२) अत्यन्त अधिकाधिक प्रकाश भड़कता है और अत्यन्त दाह उत्पन्न होती है। (३) और देखने से दिव्य नेत्रों को भी कष्ट होता है। महाप्रलय की भभकार जो कालाग्निरूपी शङ्कर में गुप्त थी वह मानों उनके तृतीय नयनरूपी कली-सी फूटी हो (४) तथा आपके चहुँओर विस्तृत प्रकाश में पाँचों अग्नियों की ज्वालाओं के भौरे पड़ने से ब्रह्माण्ड के कोयले हो रहे हों। (५) ऐसे अद्भुत तेज का अनोखा समूह मैंने जन्म में आज ही देखा। अभी, आपकी व्याप्ति और तेज का पार नहीं लगता। (६)

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

हे देव! आप अविनाशी हैं, आप साढ़े तीन मात्राओं के परे हैं। श्रुति जिनका घर खोज रही है, (७) जो ओंकार का आश्रयस्थान है, जो सम्पूर्ण विश्व को इकट्ठा रखने की एक जगह है, वह आप अव्यय हैं, अगाध हैं और अविनाशी हैं। (८) आप धर्म के जीवन हैं, आप अनादि सिद्ध हैं नित्यनूतन हैं, और मैं समझता हूँ कि हे विशेष! आप छत्तीसवें पुरुष हैं। (९)

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं, आप स्वसामर्थ्यी हैं, आप अनन्त हैं, विश्वबाहु हैं, अपरिमित हैं, और विश्वचरण हैं।

(११०) चन्द्र और सूर्यरूपी नेत्रों से आप प्रसाद और कोप की लीला दिखाते हैं, किसी को ठण्डे नेत्र से आश्वस्त करते हैं, और किसी को कालाग्नि से पावन करते हैं। (११) अजी, इस प्रकार मैं आपको स्पष्ट देख रहा हूँ। आपका मुख प्रलयकाल अग्नि के समान दिखाई दे रहा है। (१२) वनाग्नि से जलते हुए पर्वत से लिपट कर जैसे ज्वालाओं की लपट उठती है वैसे ही दाँतों में, दाढ़ें चाटती हुई, आपकी जीभ चटक रही है। (१३) उस वदन की गरमी से और रोमों के तेज की प्रभा से विश्व तप कर अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। (१४)

> द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
> व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
> दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदम्
> लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

स्वर्ग और पाताल, पृथ्वी और आकाश, अथवा दसों दिशाएँ या सम्पूर्ण दिशाचक्र (१५) इन सबको मैं एक आपसे ही भरा हुआ कुतूहल से देख रहा हूँ। परन्तु आपके भयानक स्वरूप में आकाश मानों डूब गया है, (१६) अथवा अद्भुत की तरङ्गों में चौदहों भुवनों की जाली पड़ी है। इस प्रकार आश्चर्य ही दिखाई देता है। बस मैं कहाँ तक देख सकता हूँ? (१७) यह असाधारण व्याप्ति समेटी नहीं जाती। आपके रूप की उग्रता सही नहीं जाती। जगत् को सुख होना तो दूर रहा परन्तु प्राण कष्ट से भरे जाते हैं। (१८) हे देव! ऐसा आपका रूप देखकर न जाने कैसे भय की बाढ़ आती है और तीनों भुवन दुःख-तरङ्गों में डूब रहे हैं। (१९) यों तो आप महात्मा के दर्शन हों तो भय और दुःख ... नाश हों, परन्तु जैसा मुझे दिखाई दे रहा है यह सुखरूप नहीं [illegible]) दृष्टि से जब तक आपका रूप न [illegible] तब तक [illegible] सब [illegible] अच्छा मालूम होता था [illegible] तो [illegible] की हौंस से कष्ट [illegible] (२१) [illegible] व ही एकदम आपको [illegible] व [illegible] ? और सके तो हम शोक [illegible] ?

तो अनिवार्य जन्म-मरण के चक्कर में फँसते हैं, और आगे बढ़ते हैं तो आप अपार हैं जिन्हें हम आलिङ्गन नहीं कर सकते। (२३) इस प्रकार दो संकटों के बीच में पड़ा हुआ बेचारा त्रैलोक्य भुन रहा है। यह संसे पाय में स्पष्ट जान गया। (२४) जैसे कोई अग्नि से जले और शीतल होने के लिए समुद्र को जाय तो वहाँ की हिलोरती हुई तरङ्गों से और भी डर जावे, (२५) यही हाल इस जगत् का है। आपको देखकर सब मिलते रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

इनमें बल और जो देवों के समुदाय हैं वे भले हैं। (२६) ये आपके तेज से सब कर्मों के बीज जलाकर अपने सद्भाव से आपसे मिल रहे हैं। (२७) और कोई जो स्वभावतः भयभीत हैं वे सर्वथा आपके सम्मुख हो आप से हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं (२८) कि हे देव! हम अविद्या-समुद्र में पड़े हैं, विषय की वागुर में अटके हुए हैं, तथा एक ओर संसार और दूसरी ओर स्वर्ग के पेंच में आ पड़े हैं (२९) यहाँ से हमारा छुटकारा आपके सिवाय कौन कर सकता है? हे देव! हम सब प्राणों-सहित आपके शरण हैं। (३०) महर्षि, सिद्ध, और अनेक विद्याधरों के समूह, कल्याण-सूचक वचनों से आपकी स्तुति कर रहे हैं। (३१)

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

ये रुद्र और आदित्यों के समुदाय, वसु और सम्पूर्ण साध्य देव दोनों अश्विनीकुमार, विश्वेदेव और वायु अपने वैभव-सहित (३२) और पितृ, गन्धर्व, यक्ष, असुर और इन्द्र प्रमुख देवता तथा सिद्धादिक (३३) सभी उत्कण्ठापूर्वक अपने अपने लोकों से प्रभु की महामूर्ति देख रहे हैं, (३४) और देखते देखते क्षण क्षण चम-

तो वह दुःखरूपी कालिन्दी के तीर पर वृक्षरूप हो रही जान पड़ती है। (४७) आपका यह रूप महामृत्यु का सागर है, और उसमें त्रैलोक्य जीवनरूपी नौका शोकरूपी आँधी की लहरों से हिलोरें खा रही है। (४८) हे वैकुंठ इस पर यदि आप कदाचित् कोप कर यों कहें कि मुझे दूसरों से क्या करना है, तू स्वयं इस ध्यानसुख का उपभोग ले (४९) तो महाराज! वास्तव में मैं तुम्हा ही साधारण जनों की बात सामने करता हूँ। सच पूछिए तो मेरे ही प्राण काँपते हैं। (२४०) जिस मुझसे प्रलयकाल का रुद्र भी डरता है, जिस मुझसे डर कर मृत्यु भी छिप जाती है वही मैं यहाँ अत्यन्त काँप रहा हूँ। आपने मेरी ऐसी स्थिति कर दी है। (५१) परन्तु हे तात! यह रूप एक विचित्र महामारी है, इसका नाम यद्यपि विश्वरूप है तथापि भयानकता में यह भय को भी डराता है। (५२)

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम्
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

जिन्होंने महाकाल को भी जीत लिया है ऐसे आपके कई एक मुख इतने विस्तृत हो रहे हैं कि उनके सन्मुख आकाश भी अल्प दिखाई देता है। (५३) वे आकाश के विस्तार में भी नहीं समा सकते। त्रिभुवन की वायु से भी वे आच्छादित नहीं किये जा सकते। इनकी भाफ से अग्नि भी जलती है। ये कैसे भड़कते हुए दिखाई दे रहे हैं! (५४) वैसे ही ये एक दूसरे के समान भी नहीं हैं। इनमें नाना वर्णों के भेद हैं, मानों प्रलय काल की अग्नि इन्हीं की सहायता लेती हो। (५५) इनका इतना तेज है कि ये त्रैलोक्य को राख कर सकते हैं। इन मुखों में और भी मुख हैं और उनमें दाँत और डाढ़ें हैं। (५६) इस संहार-तेज के मुख ऐसे फैलाए हुए हैं मानों वायु को अत्यन्त प्रचुर्वात हुआ हो अथवा समुद्र महापाढ़ में डूबा हो, अथवा विषाग्नि बड़वानल का नाश करने के लिए प्रकट हुई हो, (५७) अग्नि ने हलाहल विष पिया हो, अथवा कोई अनोखी मृत्यु नाश करने के लिए आई हो। (५८) और ये कितने विशाल हैं! मानों अन्तराल टूटकर आकाश के

चारों ओर घिर गया हो (५९) अथवा कल्प में पृथ्वी को दबा कर जब हिरण्याक्ष गुहा में घुस गया था तब शङ्कर ने जैसी पाताल-गुहा प्रकट की थी (२६०) वैसा ही इन मुखों का विकास दिखाई देता है। बीच में जिह्वाओं का अत्यन्त आवेश है जिसके लिए विश्व भी बस नहीं होता। इसी लिए मानों आप हठपूर्वक से उसका कौर नहीं भरते (६१) और जैसे पाताल-सर्पों की फुफकारों से उठी हुई विष की ज्वालायें आकाश को जा लगती हैं, वैसे ही आपकी मुखरूपी गुहाओं में ये जिह्वायें विस्तृत हो रही हैं। (६२) प्रलय विद्युत् के समुदाय से चित्रित जैसा आकाश में किरणों का विस्तार दिखाई देता है वैसे ही आपके ओठों के बाहर निकली हुई तीक्ष्ण दाढ़ें दिखाई देती हैं। (६३) आपके नेत्र मानों ललाट पर के खोल में से भय को डरा रहे हैं, अथवा महामृत्यु प्रवाह अँधेरे में छिपे हुए हैं। (६४) इस प्रकार भय का रूप लेकर आप न जाने कौनसा कार्य कराना चाहते हैं। परन्तु मुझे मरणप्राय भय प्राप्त हो रहा है। (६५) हे देव! मैंने विश्वरूप देखने की जो इच्छा की उसका फल भर पाया। महाराज! मैं आपका रूप देख चुका। आँखें तृप्त अभी भी तो हो गईं। (६६) अजी, मिट्टी की देह चाहे चली जाय, इसका दुःख किसे है! परन्तु मेरा तो चैतन्य ही कदाचित् बचे या न बचे। (६७) यों तो भय से शरीर कांप मर काँपे तो मन तप जाता है, बुद्धि गल जाती है और अभिमान दबा हो जाता है। (६८) परन्तु इन सबों से भिन्न जो केवल आनन्द की ही एक कला है वह मेरा निश्चल अन्तरात्मा भी काँप उठा है। (६९) साक्षात्कार का बड़ा ही प्रताप है! ज्ञान तो दूर के पार हो गया था यह गुरुशिष्य-सम्बन्ध भी टिकना कठिन हो रहा है। (२७०) हे देव! आपके इस दर्शन से मेरे अन्तःकरण में जो विकलता उत्पन्न हुई है उसे सँभालने के लिए मैं उस पर जो धैर्य का आच्छादन करने जाता हूँ (७१) तो मेरे नाम से धैर्य भी छूट हो जाता है, मानों उसे भी विश्वरूप का दर्शन हुआ हो। अस्तु आपने इस उपदेश में मुझे खूब पकड़ा लिया। (७२) जीव बेचारा विश्राम लेने की इच्छा से चारों ओर दौड़ धूप करता है परन्तु उसे किसी ओर भी मार्ग नहीं मिलता। (७३) महाराज! इस प्रकार 'विश्वरूप'-महामारी में बराबर का जीवन नष्ट हो रहा है। न कहूँ तो क्या करूँ? उद्धार कैसे? (७४)

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

जैसे आँखों के सामने प्रलयकाल महाभय का घड़ा फूटा हो ऐसे आपके विशाल मुख फैले हुए दिखाई देते हैं (७५) और उनमें दाँतों तथा दाढ़ों की भीड़ मच रही है जो दोनों ओठों में बन्द नहीं हो सकती। प्रलय-शस्त्रों की मानों चहुँओर घनी बागुर लगी है। (७६) तक्षक को जैसे विष चढ़ जाय, अथवा कालरात्रि को भूतबाधा हो जाय या आग्नेयास्त्र विद्युत् में बुझाया जाय, (७७) वैसे आपके प्रचण्ड मुख दिखाई दे रहे हैं, और उनमें से जो आवेश बाहर निकल रहा है वह मानों हम पर मरणरूपी जल के प्रवाह आ रहे हैं। (७८) संहार के समय की प्रचण्ड वायु और कल्पान्त के समय की प्रलयाग्नि दोनों को एक हो जायँ तो क्या न जलेगा? (७९) वैसे ही संहार करनेहारे आपके मुख देखकर मेरा धैर्य छूटता है और मुझे भ्रम हो दिशाएँ नहीं दिखाई देतीं तथा मैं अपनी ही सुधि भूल रहा हूँ। (१८०) विश्वरूप को जरा आँखों से देख लिया तो सुख का ऐसा अकाल पड़ गया। अब यह अपने स्वरूप का विस्तार समेटिए समेटिए। (८१) यदि मैं जानता कि आप ऐसा करेंगे तो मैं आपसे यह बात क्यों पूछता? महाराज, अब एक बार इस स्वरूप के प्रभाव से मेरे प्राण बचाइए। (८२) हे अनन्त! यदि आप हमारे स्वामी हैं तो मेरे जीवन की रक्षा करें और इस महामारी का विस्तार समेट लें। (८३) सुनिए, हे सकल देवों के परमदेव! आपने अपने चैतन्य से विश्व को बसाया है सो क्या आप भूल गये? और उलटा उसका संहार करने लगे? (८४) अतएव हे देवराज! शीघ्र प्रसन्न हूजिए। अपनी माया समेटिए समेटिए और मुझे इस महाभय से निकालिए। (८५) मैं अकुला कर आपसे बारम्बार इतनी बिनती करता हूँ। हे विश्व-मूर्ति, मैं नितान्त डर गया हूँ। (८६) अमरावती पर जब चढ़ाई हुई थी तब मैंने अकेले उसका पराभव किया था। मैं काल के मुख से भी भय नहीं करता। (८७) परन्तु यह बात उस प्रकार की नहीं है। इसमें आप मृत्यु को मात कर इस सकल विश्व के साथ हमारा ही घूँट लिए

चारों ओर घिर गया हो (५६) अथवा, जगत में पृथ्वी को दवा कर जब हिरण्याक्ष गुहा में घुस गया था तब शूकर ने जैसी पाताल-गुहा प्रकट की थी (१६०) वैसा ही इन मुखों का विकास दिखाई देता है। बीच में जिह्वाओं का अत्यन्त आवेश है जिसके लिए विश्व भी बस नहीं होता। इसी लिए मानों आप कुतूहल से ग्रसन कर और नहीं भरते (६१) और जैसे पाताल-सर्पों की फुत्कारों से उठी हुई विष की ज्वालाएँ आकाश को जा लगती हैं, वैसे ही आपकी मुखरूपी गुहाओं में ये जिह्वाएँ विस्तृत हो रही हैं। (६२) प्रलय-विद्युत् के समुदाय से चित्रित जैसा आकाश में किलों का विस्तार दिखाई देता है वैसी ही आपके ओठों के बाहर निकली हुई तीव्र दाढ़ें दिखाई देती हैं। (६३) आपके नेत्र मानों ललाट पर के खोल में से भय को डरा रहे हैं, अथवा महामृत्यु प्रवाह अँधेरे में छिपे हुए हैं। (६४) इस प्रकार भय का रूप लेकर आप न जाने कौनसा कार्य कराना चाहते हैं। परन्तु मुझे मरणप्राय भय प्राप्त हो रहा है। (६५) हे देव! मैंने विश्वरूप देखने की जो इच्छा की उसका फल भर पाया। महाराज! मैं आपका रूप देख चुका। आँखें तृप्त करती थीं सो हो गईं। (६६) अजी, मिट्टी की देह चाहे चली जाय; उसका दुःख किसे है! परन्तु मेरा तो चैतन्य ही कदाचित् बचे या न बचे। (६७) यों तो भय से शरीर काँप मर काँपे तो मन तप जाता है, बुद्धि गल जाती है और अभिमान दबा हो जाता है। (६८) परन्तु इन सबों से भिन्न जो केवल आनन्द की ही एक कला है वह मेरा निश्चल अन्तरात्मा भी काँप उठा है। (६९) साक्षात्कार का बड़ा ही प्रताप है! ज्ञान तो हद के पार हो गया था यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भी टिकना कठिन हो रहा है। (१७०) हे देव! आपके इस दर्शन से मेरे अन्तःकरण में जो विकलता उत्पन्न हुई है उसे सँभालने के लिए मैं उस पर जो धैर्य का आच्छादन करने जाता हूँ (७१) तो मेरे मन से धैर्य भी लुप्त हो जाता है, मानों उस भी विश्वरूप का दर्शन हुआ हो। अस्तु आपने इस उपदेश में मुझे खूब उलझा दिया। (७२) जीव बेचारा विश्राम लेने की इच्छा से चहुँओर दौड़ धूप करता है परन्तु उसे किसी ओर भी मार्ग नहीं मिलता। (७३) महाराज! इस प्रकार विश्वरूप' महामारी में चराचर का जीवन नष्ट हो रहा है। न कहूँ तो क्या करूँ! बचूँ गा कैसे? (७४)

(३) अनुभव से देखते हुए यह प्रसङ्ग भी कुछ अल्प ही था तथा वह शङ्कर शङ्कर ने निबाह दिया। (४) परन्तु यह जलती हुई अग्नि कौन समेट सकता है? यह विष से भरा हुआ आकाश कौन लील सकता है? महाकाल के साथ खेलने की किसकी सामर्थ्य है! (५) इस प्रकार अर्जुन दुःख से व्याकुल हो हृदय में शोक करने लगा। परन्तु श्रीकृष्ण का प्रस्तुत अभिप्राय उसकी समझ में नहीं आया। (६) उसे जो अत्यन्त मोह हुआ था—कि मैं मारनेहारा हूँ और कौरव मरनेहारे हैं—सो मिटाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना यह स्वरूप दिखाया था। (७) श्रीकृष्ण ने विश्वरूप के बहाने यह प्रकट किया कि यथार्थ संसार में कोई किसी को नहीं मारता मैं ही सबका संहार करता हूँ। (८) परन्तु अर्जुन वृथा व्याकुल हो रहा था। यह बात उसकी समझ में ही न आई। उसका कम्प वृथा ही बढ़ रहा था। (९)

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

फिर अर्जुन ने कहा—देखिए, तलवार और कवचों-सहित ये दोनों पक्ष की सेनाएँ, आकाश में अभ्र के समान, एकदम आपके मुख में समा गईं, (१०) अथवा महाकल्प के अन्त में जब कृतान्त सृष्टि पर रूठता है तब जैसे पाताल-समेत इक्कीसों स्वर्गों को निगल जाता है, (११) अथवा प्रतिकूल भाग्य के वश जैसे संग्रह करनेहारों की सम्पत्ति कहाँ की कहाँ विला जाती है (१२) वैसे ही ये विस्तृत सेनाएँ एकदम आपके मुख में विलीन हो गईं। आपके मुख से कोई भी नहीं छूटता। हरि! कर्म कैसा है! (१३) ऊँट जैसे अशोक वृक्ष की पत्तियाँ चबाता है, वैसे ही ये लोक आपके मुखों में वृथा जा रहे हैं। (१४) मुकुटों-सहित ये सिर आपकी दाढ़ों की सँडसी में गिर कर कैसे चूर्ण हुए दीख रहे हैं! (१५) मुकुटों के रत्न आपके दाँतों के बीच आ लगे हैं तथा उनका चूर्ण आपकी जीभ की जड़ में लगा हुआ है और किसी किसी वृद्ध का अग्रभाग भी दम चूर्ण से लिपटा हुआ है, (१६) मानों विश्वरूप-रूपी काल ने लोगों के शरीर और वस्त्र का सा मस

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

जैसे आँखों के सामने प्रचण्ड महाभय का पर्दा पड़ा हो ऐसे आपके विशाल मुख फैले हुए दिखाई देते हैं (७५) और उनमें दाँतों तथा दाढ़ों की भीड़ मच रही है जो दोनों ओठों में बन्द नहीं हो सकती। प्रलय-शस्त्रों की मानों चहुँओर घनी बागुर लगी है। (७६) तक्षक को जैसे विष चढ़ जाय अथवा कालरात्रि को भूतबाधा हो जाय या आग्नेयास्त्र विद्युत् में बुझाया जाय, (७७) वैसे आपके प्रचण्ड मुख दिखाई दे रहे हैं, और उनमें से जो आवेश बाहर निकल रहा है वह मानों हम पर मरणरूपी जल के प्रवाह आ रहे हैं। (७८) संहार के समय की प्रचण्ड वायु और कल्पान्त के समय की प्रलयाग्नि दोनों का एक हो जाय तो क्या न जलेगा? (७९) ऐसे ही संहार करनेहारे आपके मुख देखकर मेरा धैर्य छूटता है और मुझे भ्रम हो दिशाएँ नहीं दिखाई देतीं तथा मैं अपनी ही सुधि भूल रहा हूँ। (५८०) विश्वरूप को जरा आँखों से देख लिया तो सुख का ऐसा अकाल पड़ गया। अब यह अपने स्वरूप का विस्तार समेटिए समेटिए। (८१) यदि मैं जानता कि आप ऐसा करेंगे तो मैं आपसे यह बात क्यों पूछता? महाराज, अब एक बार इस स्वरूप के प्रलय से मेरे प्राण बचाइए। (८२) हे अनन्त! यदि आप हमारे स्वामी हैं तो मेरे जीवन की रक्षा करें और इस महामारी का विस्तार समेट लें। (८३) सुनिए, हे सकल देवों के परमदेव! आपने अपने चैतन्य से विश्व को बसाया है सो क्या आप भूल गये? और उलटा उसका संहार करने लगे? (८४) अतएव हे देवराज! शीघ्र प्रसन्न हूजिए। अपनी माया समेटिए समेटिए और मुझे इस महाभय से निकालिए। (८५) मैं अकुला कर आपसे बारम्बार इतनी विनती करता हूँ। हे विश्व-मूर्ति, मैं नितान्त डर गया हूँ। (८६) अमरावती पर जब चढ़ाई हुई थी तब मैंने अकेले उसका पराभव किया था। मैं काल के मुख से भी भय नहीं करता। (८७) परन्तु यह बात उस प्रकार की नहीं है। इसमें आप मृत्यु को मात कर इस सकल विश्व के साथ हमारा ही घूँट लिए

जाते हैं। (८८) प्रलयकाल का समय न होते भी बीच में आप ही अचानक उपस्थित हो गये हैं, और बेचारा यह त्रिभुवन का गोला अल्पायु हो रहा है। (८९) कैसा उलटा भाग्य है! शान्ति की इच्छा करते विघ्न उठ खड़ा हुआ। हाय हाय! अब यह विघ्न हुआ। आप इसे भक्षने लगे। (३९०) क्या ये स्वयं आप ही न मुँह फैला कर जहाँ तहाँ इन सेनाओं को खा रहे हैं? (९१)

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

ये कौरवकुल के वीर, अजी ये धृतराष्ट्र के कुँवर ही हैं न? ये परिवार समेत आपके मुख में चले। (९२) और जो इनके सहायक देश देश के राजा हैं उन्हें आप इस तरह खा रहे हैं कि उनका हाल कहा नहीं जाता। (९३) हाथियों के समुदाय को आप गट गट पी रहे हैं, और रथ में जो और समुदाय हैं उन्हें चिपटा रहे हैं (९४) तोपें इत्यादि मारक यन्त्र तथा चुने हुए प्यादों के समूह सब आपके मुख में लुप्त हो रहे हैं। (९५) कृतान्त का इकलौता भाई जो विश्व का नाश करता है उस शस्त्र को भी आप कौड़िया निगल रहे हैं। (९६) हे परमेश्वर! आप ऐसे कैसे प्रसन्न हुए हैं कि चतुरङ्ग सेना और घोड़े जुते हुए रथों को आप दाँत न लगाते खीस रहे हैं! (९७) अजी, सत्य और शूरत्व में भीष्म जैसा निपुण कौन है? परन्तु उसे और द्रोण को भी,—जो ब्राह्मण है,—आपने ग्रस लिया। हाय हाय! (९८) हा! अब सूर्य का पुत्र कर्ण वीर भी गया और देखिए, हम सबों को भी आपने कचरा जैसा बना दिया। (९९) हाय विधाता! यह क्या हुआ? मैंने यह अनुग्रह माँग कर बेचारे जगत् की मौत बुला ली। (४००) पहले थोड़ी-बहुत उपपत्तियों के साथ इन्होंने मुझे अपनी विभूतियाँ दिखाई परन्तु इनका स्वरूप वैसा न था इसलिए मैं और भी पूछ बैठा। (१) यह निश्चित है कि प्रारब्ध कभी नहीं टलता और बुद्धि भी होनहार जैसी हो जाती है। लोगों का अपने मरण का दोष मेरे माथे लगाना कैसे टल सकता था! (२) पूर्वकाल में अमृत प्राप्त हो गया तथापि जब देव तृप्त न हुए तो निदान में कालकूट उत्पन्न हुआ।

(३) अनुभव से देखते हुए यह प्रसङ्ग भी कुछ अल्प ही था तथा यह सङ्कट शङ्कर ने निबाह दिया। (४) परन्तु यह जलती हुई अग्नि कौन समेट सकता है? यह विष से भरा हुआ आकाश कौन लील सकता है? महाकाल के साथ खेलने की किसकी सामर्थ्य है! (५) इस प्रकार अर्जुन दुःख से व्याकुल हो हृदय में शोक करने लगा! परन्तु श्रीकृष्ण का प्रस्तुत अभिप्राय उसकी समझ में नहीं आया। (६) उसे जो अत्यन्त मोह हुआ था—कि मैं मारनेहारा हूँ और कौरव मरनेहारे हैं—सो मिटाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना यह स्वरूप दिखाया था। (७) श्रीकृष्ण ने विश्वरूप के बहाने यह प्रकट किया कि अरे संसार में कोई किसी को नहीं मारता मैं ही सबका संहार करता हूँ। (८) परन्तु अर्जुन वृथा व्याकुल हो रहा था। यह बात उसकी समझ में ही न आई। उसका कम्प वृथा ही बढ़ रहा था। (९)

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

फिर अर्जुन ने कहा—देखिए, तलवार और कवचों-सहित ये दोनों पक्ष की सेनाएँ, आकाश में अभ्र के समान, एकदम आपके मुख में समा गईं, (४१०) अथवा महाकल्प के अन्त में जब कृतान्त सृष्टि पर रूठता है तब जैसे पाताल-समेत इक्कीसों स्वर्गों को लिपटा लेता है, (११) अथवा प्रतिकूल भाग्य के वश जैसे संग्रह करनेहारों की सम्पत्ति जहाँ की तहाँ विला जाती है (१२) वैसे ही ये विस्तृत सेनाएँ एकदम आपके मुख में विलीन हो गईं। आपके मुख से कोई भी नहीं छूटता। देखिए, कर्म कैसा है! (१३) ऊँट जैसे अशोक वृक्ष की पत्तियाँ चबाता है, वैसे ही ये लोक आपके मुखों में वृथा जा रहे हैं। (१४) मुकुटों-सहित ये शिर आपकी दाढ़ों की सँडसी में गिर कर कैसे चूर्ण हुए दीख रहे हैं! (१५) मुकुटों के रत्न आपके दाँतों के बीच आ लगे हैं तथा उनका चूर्ण आपकी जीभ की जड़ में लगा हुआ है, और किसी किसी दाढ़ का अग्रभाग भी उस चूर्ण से लिपटा हुआ है, (१६) मानों विश्वरूप-रूपी काल ने लोगों के शरीर और प्राण को तो भस

लिया हो परन्तु उनकी देह की छाल को जान बूझ कर रख छोड़ा हो। (१७) वैसे ही इन शरीरों में शिर वास्तव में उत्तमाङ्ग है इसलिए वे महाकाल के मुँह में चले गये परन्तु शरीरमात्र निदान में बच रहे। (१८) फिर अर्जुन ने कहा कि जन्म को प्राप्त हुए प्राणियों को क्या दूसरा मार्ग ही नहीं है जो सब जगत् आप ही आप इस मुख-रूपी दह में प्रवेश कर रहा है? (१९) ये सम्पूर्ण सृष्टियाँ आप ही आप इस मुख के ही पीछे लगी हैं, और ये परमात्मा जहाँ तहाँ चुपचाप उन्हें लिपटा रहे हैं। (४२०) ब्रह्मा इत्यादि सब देव इस मुख के ऊर्ध्व भाग में दौड़ रहे हैं और दूसरे जो सामान्य हैं वे इस मुख में इसी पार घुस रहे हैं। (२१) जो अन्य प्राणिमात्र हैं वे जहाँ उपजते हैं वहीं ग्रसित हो जाते हैं। इस प्रकार इनके मुख से निश्चय से कुछ नहीं छूटता। (२२)

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे महानदी के प्रवाह अविरत् समुद्र में जा मिलते हैं, वैसे ही जगत् चहुँओर से इस मुख में प्रवेश कर रहा है। (२३) प्राणीगण आयुष्य मार्ग में रात दिनरूपी सीढ़ियाँ बना कर वेग से इस मुख में मिलने की साधना कर रहे हैं। (२४)

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जलती हुई पर्वत की गुहा में जैसे पतङ्ग जा कूदते हैं वैसे ही, देखिए, सम्पूर्ण लोग इस मुख में गिर रहे हैं। (२५) परन्तु जो कोई इसमें प्रवेश करते हैं वे मानों तपे हुए लोहे पर डाले हुए जल के समान सोखे जाते हैं। उनका नाम-रूप व्यवहार से मिट जाता है। (२६)

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

इतना खाने पर भी इनकी भूख कम नहीं होती। इन्हें कैसी असाधारण क्षुधा उत्पन्न हुई है! (९७) जैसे रोगी ज्वर से उठा हो, अथवा भिखमंगे पर अकाल पड़ा हो, वैसी ही ओंठ चाटती हुई इन जीभों की लपलपाहट दिखाई देती है, (९८) तथा आहार के नाम इस मुख से कुछ भी नहीं बचा। सचमुच कैसी अनोखी भूख है! (९९) क्या समुद्र का घूँट ले लूँ या पर्वत का कौर भर लूँ या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दाढ़ों में रख लूँ, (४१०) अथवा सब दिशाओं को लील लूँ या तारों को चाट लूँ, ऐसी मानों आपकी उत्कण्ठा हो रही है। (११) भोग से जैसे काम की और भी वृद्धि होती है, अथवा ईंधन से जैसे आग अधिक बढ़ती है, वैसे ही खाते खाते आपके मुख में खाने की इच्छा और भी बढ़ रही है। (१२) है तो एक ही मुख परन्तु इतना फैला हुआ है कि त्रिभुवन उसकी जीभ की नोक पर टिका है, मानो बड़वानल में कोई कैथा पड़ा हो। (१३) ऐसे मुख आपके अनेक हैं, परन्तु इतने त्रिभुवन कहाँ हैं? फिर आहार नहीं है तो आपने इन्हें इतना अधिक क्यों बढ़ाया है? (१४) अजी, यह लोक बेचारा आपकी वदनज्वालाओं से वेष्टित हो रहा है। जैसे मृग दावाग्नि के घेरे में आ पड़ते हैं (१५) वैसा ही इस विश्व का हाल हो रहा है। ये देव नहीं, इस जगत् के कर्म ही प्रकट हुए हैं, अथवा जगद्रूपी जलचरों के लिए काल ने यह एक जाल फैलाया है। (१६) अब इस अङ्गप्रभा की वागुर में से चराचर किस मार्ग से बाहर निकलेंगे? ये मुख नहीं, जगत् के लिए एक लाक्षागृह ही उपस्थित हुआ है। (१७) अपनी दाहकता के कारण आग स्वयं यह नहीं जानती कि दाह कैसी होती है परन्तु वह जिसे लगती है वह प्राणों-सहित बच नहीं सकता; (१८) अथवा शस्त्र क्या जाने कि मेरी तीक्ष्णता से मृत्यु कैसे हो जाती है? अथवा विष जैसे अपना मारक गुण नहीं जानता, (१९) वैसे ही आपको अपनी उग्रता की सुधि भी नहीं है परन्तु आपके मुख में इसी पार जगत् की राख भर गई है।

(४४०) अभी, आप केवल आत्मा हैं तथा सकल जगत् में व्याप्त हैं, तो आप हमारे मन्तक जैसे क्यों उपस्थित हुए हैं ? (४१) मैं जीवन की आशा छोड़ देता हूँ और आप भी संकोच न करें, जो मन में हो सो स्पष्ट कह दें। (४२) आप यह उग्र रूप कितना बढ़ा रहे हैं! अपना भगवन्तपन ध्यान में लाइए, नहीं तो एक मुझ पर तो कृपा कीजिए। (४३)

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे वेदों से जानने योग्य हे त्रिभुवन के एक ही आदिकारण, हे विश्ववन्द्य! एक बार मेरी विनती सुनिए। (४४) ऐसा कह कर अर्जुन ने चरणों पर मस्तक धर कर नमस्कार किया और कहा कि हे सर्वेश्वर! सुनिए। (४५) अभी मैंने समाधान होने के लिए आपसे विश्वरूप का ध्यान पूछा और आप एकदम त्रिभुवन को लीलते ही उठे (४६) तो ऐसे आप कौन हैं ? ये इतने भयानक मुख क्यों इकट्ठे किये हैं ? और सब हाथों में आपने शस्त्र किस लिए पकड़े हैं ? (४७) अभी, जब देखो तब आप क्रोध से विस्तृत हो आकाश को न्यूनता लाते हैं, तथा भयानक नेत्र बना कर क्यों हमें डरा रहे हैं ? ? (४८) हे देव! आप कृतान्त से किस लिए स्पर्धा कर रहे हैं ? अपना अभिप्राय हमें बताइए। (४९)

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं कौन हूँ और इस उग्रता से क्यों बढ़ रहा हूँ, यदि यह पूछते हो (४५०)

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

—तो वास्तव में मैं काल हूँ और लोक-संहार के लिए बढ़ रहा हूँ तथा चहुँओर जो मैंने मुख फैलाये हैं उनमें मैं इस सम्पूर्ण विश्व को

मत हूँगा। (५१) तब अर्जुन ने कहा हाय हाय! पिछले सङ्कट से उकता कर प्रार्थना की तो और भी बुराई उपस्थित हुई। (५२) परन्तु यह जानकर कि इन कठिन शब्दों को सुन कर अर्जुन निराश और दुःखी होगा श्रीकृष्ण ने साथ ही यह कह दिया कि एक बात और है, (५३) तुम पाण्डव इस संहाररूपी संकट के बाहर हो। तब कहीं अर्जुन के प्राण जाते जाते बचे। (५४) वह मृत्युरूपी महामारी के अधीन हो गया था, सो फिर सचेत हुआ और श्रीकृष्ण के वचनों की ओर चित्त देने लगा। (५५) श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! ध्यान रक्खो कि तुम मुझे प्रिय हो। तुम्हारे अतिरिक्त और सबों को ग्रसन के लिये मैं तैयार हूँ। (५६) प्रचण्ड वडवाग्नि में जैसे कोई मक्खन की गोली डाली जाय वैसा ही सब जगत् मेरे मुँह में पड़ा है। यह तुमने देखा (५७) इसमें निश्चय से कुछ अन्तर नहीं है। ये सेनायें देखो वृथा कल्पना कर रही हैं। (५८) चतुरङ्ग सेना के ये सब वीर जो पराक्रममद के वश हो महाकाल से स्पर्धा करते हैं, (५९) जो सब इकट्ठे मिल कर शूरवृत्ति के बल से गरज रहे हैं, (४६०) जो कह रहे हैं कि हम ऐसी ही दूसरी सृष्टि निर्मित करेंगे प्रतिज्ञा-पूर्वक मृत्यु को भी मारेंगे तथा जगत् का घूँट पियेंगे (६१) सम्पूर्ण पृथ्वी लील लेंगे, ऊपर के ऊपर ही आकाश को जला डालेंगे, तथा वायु की बात ही क्या है, उसे बाणों से जर्जर कर डालेंगे, (६२) जिनके वचन शस्त्रों से भी तीक्ष्ण हैं, जो अग्नि के समान दाहक दिखाई देते हैं तथा जो मारने के काम में कालकूट को भी मधुर कहवाते हैं, (६३) ये सब वीर देखो, केवल गन्धर्वनगरी के मकड़े अथवा पोलेपन के बने हुए गोले या चित्र में लिखे हुए पुतले हैं, (६४) मानों कोई मृगजल की बाढ़ आई हो अथवा यह सेना नहीं, मानों कोई कपड़े का सर्प बनाया हुआ है, अथवा कोई गुड़िया सिंगार कर खड़ी की गई है। (६५)

> तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
> जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
> मयैवैते निहताः पूर्वमेव
> निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इनमें चेष्टा करनेहारा जो बल है वह मैंने पहले ही हर लिया

(४४०) अजी, आप केवल आत्मा हैं तथा सकल जगत् में व्याप्त हैं, तो आप हमारे अन्तक कैसे क्यों उपस्थित हुए हैं ? (४१) मैं जीवन की आशा छोड़ बैठा हूँ और आप भी संकोच न करें, जो मन में हो सो स्पष्ट कह दें। (४२) आप यह उग्र रूप किसलिए बढ़ा रहे हैं ! अपना अनन्तपन ध्यान में लाइए, नहीं तो एक मुझ पर तो कृपा कीजिए। (४३)

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे वेदों से जानने योग्य, हे त्रिभुवन के एक ही आदिकारण, हे विश्ववन्द्य ! एक बार मेरी विनती सुनिए। (४४) ऐसा कह कर अर्जुन ने चरणों पर मस्तक धर कर नमस्कार किया और कहा कि हे सर्वेश्वर ! सुनिए। (४५) अजी मैंने समाधान होने के लिए आपसे विश्वरूप का ध्यान पूछा और आप एकदम त्रिभुवन को निगलने ही उठे (४६) तो ऐसे आप कौन हैं ? ये इतने भयानक मुख क्यों इकट्ठे किये हैं ? और सब हाथों में आपने शस्त्र किस लिए पकड़े हैं ? (४७) अजी, जब देखो तब आप क्रोध से विस्तृत हो आकाश को न्यूनता लाते हैं, तथा भयानक नेत्र बना कर क्यों हमें डरा रहे हैं ? ? (४८) हे देव ! आप कृतान्त से किस लिए स्पर्धा कर रहे हैं ? अपना अभिप्राय हमें बताइए। (४९)

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं कौन हूँ और इस उग्रता से क्यों बढ़ रहा हूँ, यदि यह पूछते हो (४५०)

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

—तो वास्तव में मैं काल हूँ और लोक-संहार के लिए बढ़ रहा हूँ तथा चारों ओर जो मैंने मुख फैलाये हैं उनमें मैं इस सम्पूर्ण विश्व को

है, उसका हमने स्पष्टतः और अनायास वध कर दिया। (४८०) हे किरीटी! ये बातें जगत् के साक्षीरूपी पट पर लिख रक्खो और आप सर्व विजयी हो। (८१)

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

ज्ञानदेव कहते हैं कि इस प्रकार सञ्जय ने यह सम्पूर्ण कथा उस अपूर्ण मनोरथ धृतराष्ट्र से कही। (८२) फिर सत्यलोक से निकल कर गङ्गा का जल जैसे खलबलाता हुआ बहता है वैसी निनाद वाला से बोलते हुए, (८३) अथवा जैसे महामेघों के समूह एकदम गड़गड़ाते हैं, या मन्दराचल के मन्थन से क्षीरसमुद्र जैसा घहराता है (८४) वैसे गम्भीर महानाद से विश्वकन्द अनन्तरूपी श्रीकृष्ण ने जो वचन कहे (८५) वे ज्योंही अर्जुन ही सुनाई दिये त्योंही अर्जुन का सुख दुगुना हुआ था भय दुगुना हुआ हम कह नहीं सकते। परन्तु उसका सब शरीर काँप उठा (८६) और श्रीकृष्ण के सम्मुख वह इतना झुक गया मानों उसकी घोटली बाँधी गई हो। उसने हाथ जोड़े और बारम्बार चरणों पर माथा नवाया (८७) और कुछ बोलने की चेष्टा की तो उसका गला भर आया। आप ही विचारिए कि यह सुख था या भय। (८८) परन्तु मैंने श्लोक के पदों से यह पहचाना कि उस समय श्रीकृष्ण के वचनों से अर्जुन की ऐसी दशा हुई। (८९) फिर वैसे ही डरते डरते और चरणों पर नमस्कार कर अर्जुन ने कहा कि, महाराज! आपने कहा कि (४९०)

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

है। अब ये कुम्हार के बनाये हुए पुतलों के समान निर्जीव हैं (६६) चलाने की डोरी टूट जाय तो पुतलियाँ किसी के भी धक्के से उलट पड़ती हैं, (६७) वैसे ही इस सेना के आकार का नाश करने में कुछ समय न लगेगा। इसलिए उठो, जल्दी सुधि में आओ। (६८) तुमने गो-ग्रहण के समय एकदम मोहनास्त्र छोड़ कर विराट के डरपोंक उत्तर के द्वारा शत्रु के वस्त्रों का हरण करवाया था। (६९) परन्तु यह सेना उससे भी गई बीती बनी हुई रण में खड़ी है। इसका संहार करो और ऐसे यश का सम्पादन करो कि अकेले अर्जुन ने ही शत्रु को जीत लिया। (४७०) और, निरा यश ही नहीं वरन सम्पूर्ण राज्य भी हाथ आ रहा है। अतएव हे सव्यसाची! तुम केवल निमित्तमात्र बनो। (७१)

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

द्रोण की कुछ योग्यता न समझो। भीष्म का भी डर मत रक्खो। यह भी न सोचो कि कर्ण पर कैसे शस्त्र चलावें (७२) तथा यह भी चिन्ता न करो कि जयद्रथ को किस उपाय से मारें। और भी जो जो प्रसिद्ध वीर हैं (७३) उनमें से एक एक को चित्र में लिखे हुए सिंहों के समान जानो, जो गीले हाथ से पोंछ डाले जा सकते हैं। (७४) हे पाण्डव! इस प्रकार यह युद्ध-समुदाय किस गिनती में है? यह सब केवल आभास रह गया है और तो सब मैंने ग्रस लिया है। (७५) जब तुमने इन्हें मेरे मुख में पड़ा हुआ देखा तभी इनकी आयु समाप्त हो चुकी। अब ये रीते हुए रह गये हैं। (७६) इसलिए शीघ्र उठो। मैंने जिन्हें मारा है उन्हीं का अन्त करो और मिथ्या शोक-संकट में मत पड़ो। (७७) खेल में जैसे अपना बनाया हुआ निशान मार कर गिरा दिया जाता है वैसा ही यह हाल हो रहा है। तुम्हारा केवल निमित्त हो रहा है। (७८) अभी तुम्हारे जो वैरी थे उन्हें उपजते ही काल ले गया। अब तुम राज्यसहित सम्पूर्ण यश का उपभोग करो। (७९) जो भाई-बन्धु स्वभावतः उन्मत्त थे और जो बलवान् और दुष्ट

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे नारायण ! इसका क्या कारण है कि राक्षस आपके चरणों में न पड़कर भाग रहे हैं ? (७) परन्तु यह बात आपसे क्यों पूछी जावे ? यह तो हम भी जानते हैं कि सूर्य का उदय होने पर तम कैसे रह सकता है। (८) प्रभो, आप आत्मप्रकाश के घर हैं, और हमें गोचर हुए हैं, इसलिए मिथ्याचरणरूपी अँधेरा अपने आप मिट गया। (९) हे श्रीराम ! इतने दिनों तक हम यह कुछ नहीं जानते थे। परन्तु अब हमें आपकी गम्भीर महिमा दिखाई दे रही है। (५१०) जहाँ से भूतसमुदायरूपी बेलें अनेक सृष्टियों की पंक्तियों का विस्तार कर रही हैं वह महत्तत्त्व आपकी इच्छा से उत्पन्न हुआ है। (११) हे देव ! आप सदा निस्सीम सत्त्व से भरे हुए हैं। हे देव ! आप निस्सीम और अनन्त गुणों से भरे हुए हैं और आप सब देवों के देवता हैं। (१२) प्रभो आप तीनों जगतों के जीवन हैं। हे सर्वाश्रित ! आप अविनाशी हैं, आप सत् और असत् हैं वरन् उसके भी परे जो वस्तु है वह आप हैं। (१३)

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण—
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप प्रकृति और पुरुष के आदि कारण हैं। प्रभो, आप महत्तत्त्व की सीमा हैं, और आप स्वयं पुरातन और अनादि हैं। (१४) आप सकल विश्व के जीवन हैं, और आप ही प्राणियों के निधान हैं। भूत और भविष्य का ज्ञान आपके ही हाथ है। (१५) श्रुति के लोचनों को जिस रूप से सुख होता है वह हे अभिन्न ! आप ही हैं। आप त्रिभुवन के आश्रय के आश्रयस्थान हैं (१६) इसलिए आपको

हे अर्जुन! मैं काल हूँ और ग्रास करना मेरा खेल है। सो आपके इन वचनों को हम निश्चय से सत्य मानते हैं। (९१) परन्तु हमारी बुद्धि में यह बात नहीं जमती कि पालन करने के समय ही आप कालरूप होकर हमारा संहार करने के लिए तैयार हैं। (९२) शरीर का यौवन निकाल कर अविद्यमान वार्धक्य उसमें कैसे भरा जा सकता है? इसलिए जो बात आप करना चाहते हैं वह प्राप्त हो नहीं सकती। (९३) अभी हे श्रीअनन्त! चारों पहर पूरे न होते क्या सूर्य कभी मध्याह्न में ही अस्त हो जाता है? (९४) आपरूपी अखण्डित काल के जो तीन विभाग हैं वे तीनों अपने अपने समय में बलवान् रहते हैं। (९५) जिस समय उत्पत्ति होती है उस समय स्थिति और प्रलय का लोप रहता है। स्थिति के समय उत्पत्ति और प्रलय उपस्थित नहीं रहते। (९६) पश्चात् प्रलय के समय उत्पत्ति और स्थिति लुप्त रहती है। इस अनादि परिपाटी में किसी कारण भी अंतर नहीं होता। (९७) अतएव यह बात मेरे हृदय में नहीं जमती कि जो यह जगत् सम्प्रति स्थिति के समय में है, और भोगोंसे भरा हुआ है, उसको आप इस समय ग्रास करेंगे। (९८) तब श्रीकृष्ण ने संकेत से कहा कि अभी हमने तुम्हें यह बात प्रत्यक्ष दिखाई है कि इन दोनों सेनाओं का पायण समाप्त हो चुका। औरों का मरण यथाकाल ही होगा। (९९) श्रीकृष्ण को यह संकेत करते देर न हुई थी कि अर्जुन ने फिर से सब विश्व पूर्ववत् देखा। (४००) तब उसने कहा कि हे देव! आप विश्व के चारण चलानेहारे सूत्रधार हैं। यह सम्पूर्ण जगत् फिर अपनी पूर्व स्थिति को पहुँच गया (१) और हे श्रीहरि! आपकी जो कीर्ति है कि आप दुःखसागर में डूबे हुए लोगों को बाहर निकालते हैं उस कीर्ति का यह जगत् स्मरण कर रहा है (२) तथा बारम्बार आपकी कीर्ति का स्मरण करता हुआ यह महासुख का आनन्द भोग रहा है, और हर्षरूपी अमृत की तरङ्गों में लोट पोट हो रहा है। (३) हे देव! जीव-दान पाने के कारण जगत् आप पर प्रीति रखता है, तथापि दुष्टों का अधिकाधिक नाश हो रहा है। (४) हे हृषीकेश। आप त्रिभुवन के राक्षसों के महाभय हैं। इसलिए वे दिशाओं के पार भाग रहे हैं। (५) परन्तु सुर, नर, सिद्ध किन्नर—अधिक कहने से क्या—सब चराचर आपको देखकर आनन्दित हो, आपको नमस्कार कर रहे हैं। (६)

प्रकार वह न जाने कैसे प्रेमभाव से गूँज रहा था। (२८) बहुत क्या कहें, अर्जुन ने इस प्रकार हजारों बार नमन किया और फिर कहा कि हे श्रीहरि! आपको सन्मुख हो नमस्कार करता हूँ। (२९) आपके आगा-पीछा है या नहीं, इससे हमें क्या काम? हे स्वामी, मैं आपको पीछे की ओर से भी नमस्कार करता हूँ। (४३०) आप मेरी पीठ (पक्ष) पर खड़े हैं इसलिए आपको पिछले कहा जा सकता है, परन्तु आप जगत् के आगे हैं या पीछे, यह नहीं कहा जा सकता। (३१) अब हे देव! मैं आपके अलग अलग अवयवों का वर्णन नहीं कर सकता। इसलिए हे सर्वरूपी, हे सर्व! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। (३२) अजी हे अनन्त, हे बलसमृद्धिमान्, हे अमित पराक्रमी, हे सर्वकाल समान, रहनेहारे, और हे सर्वव्यापी! आपको नमस्कार है। (३३) जैसे सम्पूर्ण अवकाश में आकाश ही आकाश-रूप बन रहता है, वैसे ही आप सबमें व्याप्त होकर सर्वरूप में प्रकट हुए हैं। (३४) किंबहुना, हे केवलस्वरूप! क्षीरसमुद्र में जैसे दूध की तरंगें भरी रहती हैं वैसे आप ही सर्वत्र भरे हुए हैं। (३५) इसलिए हे देव! मुझे यह बात प्रतीत हो गई कि आप किसी भी पदार्थ से जुदे नहीं हैं इसलिए आपही सब हैं। (३६)

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदम्
मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥४१॥

परन्तु हे स्वामी! आपको हमने ऐसा कभी न जाना था, इसलिए हम आपसे सगे सहोदर के नाते से व्यवहार करते रहे। (३७) अजी, बड़ी बुरी बात हुई। मैंने अमृत का उपयोग आँगन सींचने के काम में किया अथवा घोड़े के बदले में मानों कामधेनु दे दी। (३८) पारस का पत्थर हाथ लगा था, उसे फोड़कर मानों हमने नींव में भर दिया, अथवा कल्पवृक्ष काट कर उसकी खेत की बाड़ बना दी। (३९) जैसे चिन्तामणि की खदान हाथ लगी परन्तु पत्थर से ढोर के बराबर समझ त्याग किया जाय वैसे ही आपकी संगति का लाभ हमने इस मैत्री में खो दिया। (४४०) आज का ही दृष्टान्त देखिए तो कितना

परम और महाधाम कहते हैं। कल्पान्त के समय महत्तत्त्व आपमें ही प्रवेश करता है। (१७) किंबहुना, हे देव! आपने सम्पूर्ण विश्व का विस्तार किया है। अतएव हे अनन्तरूप! आपका वर्णन कौन कर सकता है? (१८)

> वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
> प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
> नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
> पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥
> नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
> नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
> अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
> सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

स्वामी, आप क्या नहीं हैं? किस स्थान में नहीं हैं? इसलिए, और क्या कहूँ? आप जैसे हैं वैसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ। (१९) हे श्री अनन्त! आप वायु हैं, आप शासनकर्त्ता यम हैं, प्राणिमात्रों में रहनेहारी जठराग्नि आप हैं। (५२०) आप वरुण हैं, सोम हैं, आप सृष्टि उत्पन्न करनेहारे ब्रह्मदेव हैं, पितामह के भी श्रेष्ठ और आद्य जनक हैं। (२१) हे श्रीजगन्नाथ! जो जो कुछ आपका साकार अथवा निराकार रूप है उसी रूपधारी आपको नमस्कार है। (२२) इस प्रकार अर्जुन ने सप्रेम अन्तःकरण से नमन किया और कहा कि हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते। (२३) फिर उस श्रीमूर्ति की ओर आदि से अन्त तक निहारा और कहा, हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते। (२४) अंग के प्रत्यंग देखते देखते, अर्जुन मन में समाधान पाता और बार बार कहता था कि हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते। (२५) चराचर में जो प्राणी हैं उन सबमें उस मूर्ति को देखता और बार बार कहता जाता था कि हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते। (२६) ऐसे अनन्त अद्भुत रूप ज्यों ज्यों आश्चर्य सहित प्रकट होते त्यों त्यों अर्जुन नमस्ते नमस्ते ही कहता जाता था। (२७) बस न तो स्तुति का स्मरण हो और न चुपचाप बैठा जाय, इस

प्रकार वह न जाने कैसे प्रेमभाव से गूँज रहा था। (२८) बहुत क्या कहें, अर्जुन ने इस प्रकार हजारों बार नमन किया और फिर कहा कि हे श्रीहरि! आपको सन्मुख हो नमस्कार करता हूँ। (२६) आपके आगा-पीछा है या नहीं, इससे हमें क्या काम? हे स्वामी, मैं आपको पीछे की ओर से भी नमस्कार करता हूँ। (४१०) आप मेरी पीठ (पश्च) पर खड़े हैं, इसलिए आपको पिछले कहा जा सकता है, परन्तु आप जगत् के आगे हैं या पीछे, यह नहीं कहा जा सकता। (११) अब हे देव! मैं आपके अलग अलग अवयवों का बयान नहीं कर सकता। इसलिए हे सर्वरूपी, हे सर्व! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। (१२) अभी हे अनन्त, हे बलसमृद्धिमान्, हे अमित पराक्रमी, हे सर्वकाल समान, रहनेहारे, और हे सर्वव्यापी! आपको नमस्कार है। (१३) जैसे सम्पूर्ण अवकाश में आकाश ही आकाश-रूप बन रहता है, वैसे ही आप सबमें व्याप्त होकर सर्वरूप में प्रकट हुए हैं। (१४) किंबहुना, हे केवलस्वरूप! क्षीरसमुद्र में जैसे दूध की तरंगें भरी रहती हैं वैसे आप ही सर्वत्र भरे हुए हैं। (१५) इसलिए हे देव! मुझे यह बात प्रतीत हो गई कि आप किसी भी पदार्थ से जुदे नहीं हैं इसलिए आपही सब हैं। (१६)

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदम्
मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥४१॥

परन्तु हे स्वामी! आपको हमने ऐसा कभी न जाना था, इसलिए हम आपसे सगे सहोदर के नाते से व्यवहार करते रहे। (१७) अजी, बड़ी बुरी बात हुई। मैंने अमृत का उपयोग आँगन सींचने के काम में किया अथवा घोड़े के बदले में मानों कामधेनु दे दी। (१८) पारस का पर्वत हाथ लगा था, उसे फोड़कर मानों हमने नींव में भर दिया अथवा कल्पवृक्ष तोड़ कर उसकी लत की बागुर बना दी। (१६) जैसे चिन्तामणि की खानि हाथ लगे परन्तु परख न होने के कारण उसका त्याग किया जाय वैसे ही आपकी सन्निकटता का लाभ हमने हेल-मेल में खो दिया। (४४०) आज का ही युद्ध पदार्थ में पहिए तो कितनी

सी बात थी? परन्तु हे परमात्मा! इसमें हमने आपको तुच्छसा सारथी बनाया है (४१) हे दाता! इन कौरवों के घर हमने आपको वसीठ बना कर भेजा था। हे जगदीश्वर! इस प्रकार हमने आपका व्यवहार में उपयोग किया। (४२) मुझ मूर्ख ने यह कैसा न जाना कि आप योगियों के समाधि-सुख हैं, और आपके सम्मुख कैसा अपराध किया! (४३)

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षम्
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

आप इस विश्व के अनादि आदिकारण हैं, परन्तु आप जिस सभा में बैठते थे वहाँ मैं आपसे सगे सम्बन्ध से विनोद कर बोलता था। (४४) जब कभी आपके मन्दिर में आता था तब आपकी ओर से सम्मान पाता था, और यदि आपने सम्मान न किया तो मित्र के नाते मैं आप पर रूठ जाता था। (४५) हे शार्ङ्गपाणि, हमने ऐसी बहुतेरी करनी की है कि जिसके लिए आपके चरण छूकर मनौती करनी चाहिए। (४६) स्वजनों के अनुसार हम आपके सम्मुख पीठ फेर कर भी बैठे हैं। हे वैकुण्ठ! ऐसी योग्यता हमें कहाँ थी? परन्तु हमारी भूल हुई। (४७) हे देव! हम आपसे गदका-फरी खेलते, अखाड़े में झूमाझूमी करते थे चौसर खेलते समय पर चुराते थे और तेजी से लड़ते थे। (४८) कोई अच्छी वस्तु हो तो तुरन्त माँग लेते थे। आप सर्वज्ञ को हम सिखापन देते थे, और आपसे कहते थे कि हम तुम्हारा क्या चाहते हैं? (४९) यह अपराध इतना बड़ा है कि त्रिभुवन में भी न समायगा। परन्तु हम आपके चरण छूकर कहते हैं कि यह हमने बिना जाने किया है। (५०) हे देव! भोजन के समय आप हमारा स्मरण करते थे परन्तु हमारा वृथा अभिमान देखिए कि हम रूठ कर बैठते थे। (५१) हे देव! आपके विलासगृह में हम निःशङ्क खेलते थे तथा आपकी शय्या पर भी आपके पास ही सो रहते थे। (५२) आपको कृष्ण कह कर पुकारते थे; आपको यादव समझते थे, और आप जाने लगते तो आपको अपनी शपथ देते थे। (५३) आपके समीप एक ही आसन पर

बैठना, आपके वचन व भावना आदि बातें, व्यवहार की अधिकता के कारण, मुझसे बहुतेरी बन पड़ी हैं। (५४) इसलिए हे अनन्त! अब क्या क्या निवेदन करूँ, मैं सम्पूर्ण अपराधों की राशि हूँ। (५५) अतएव हे प्रभु! हमने आपके सन्मुख या आपके पश्चात् जो कुछ अपराध किये हों उन्हें आप माता के समान पेट में रक्खें। (५६) अजी, किसी समय नदी गँदला पानी ले आती है तो उसे भी समुद्र को लेना ही पड़ता है—दूसरा उपाय नहीं रहता, (५७) वैसे ही मैंने प्रेम से या प्रमाद से जो कुछ कहा हो उसको हे मुकुन्द! क्षमा कीजिए। (५८) आपकी सहनशीलता के कारण ही यह क्षमा (पृथ्वी) सब प्राणियों की आधारभूत हुई है। इसलिए हे पुरुषोत्तम! आपकी पिछली बिनती की ओर ध्यान न दीजिए। (५९) तथापि हे अप्रमेय! अब मुझ शरणागत को इन अपराधों के लिए क्षमा कीजिए। (५६०)

पितासि लोकस्य चराचरस्य
समस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

अजी, आपकी महिमा मैंने यथार्थ जान ली। हे देव! आप चराचर के जन्मस्थान हैं। (६१) हे देव, आप हरि-हर इत्यादि समस्त देवों के परमदेव हैं। आप वेदों के भी सिखानेवाले आद्य गुरु हैं। (६२) हे श्रीराम! आप गम्भीर हैं नाना भूतों में एक ही समान रस हैं। सकल गुणों में अनुपम, तथा अद्वितीय हैं। (६३) यह कहने की आवश्यकता ही क्या है कि आपके समान और कुछ नहीं है? आपके ही अन्दर आकाश में यह जगत् समाया हुआ है (६४) एवं आपके समान कोई दूसरी वस्तु है, ऐसा कहते हुए लज्जा होनी चाहिए तो फिर आपसे बड़ी वस्तु की बात ही कैसे हो सकती है? (६५) अतएव त्रिभुवन में आप ही एक हैं। आपके समान दूसरा नहीं। आपकी महिमा अपूर्व है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। (६६)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

यों कह कर अर्जुन ने इयजगत् की जो उसे सात्त्विक भावों की बाढ़ आ गई। (६७) तब वह कहने लगा कृपा कीजिए, कृपा कीजिए। मेरी वाचा गद्गद हो रही है। मुझे इस अपराध-समुद्र में से निकालिए। (६८) यह बात—की आप जगत् के मित्र हैं—हमने सगोत्रता के अभिमान से नहीं मानी। आप जो विश्वेश्वर हैं उन आपके सामने हम अपना ऐश्वर्य बनाते थे। (६६) आप स्वयं वर्णनीय हैं, परन्तु आप प्रेम से सभा में मेरा वर्णन करते थे, तथापि मैं लोभ से अधिकाधिक बकता था। (५७०) अब हे मुकुन्द! ऐसे अपराधों की सीमा ही नहीं है, इसलिए इस प्रमाद से मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। (७१) अजी, यह विनती करने की योग्यता भी मुझे कहाँ है? परन्तु प्रेम की ढिठाई से जैसे बालक पिता से बोलता है (७२) और उसके अपराध अपार हों तथापि पिता द्वैतभाव छोड़ कर सह लेता है वैसे ही मेरे अपराध सह लीजिए। (७३) मित्र का उद्धत बर्ताव जैसे मित्र शान्ति से सह लेता है, वैसे आप भी मेरे सम्पूर्ण अपराध सह लीजिए। (७४) जैसे कोई प्रेमीजन प्रेमीजन से सम्मान की इच्छा नहीं करता वैसे ही आपने जो हमारी जूँठन खाई उसकी क्षमा कीजिए, (७५) अथवा प्राणों के प्यारे से भेंट होते ही जैसे हृदय को अपने बीते हुए सङ्कटों का उससे निवेदन करने में सङ्कोच नहीं होता (७६) अथवा जिसने अपने तन शरीर और जीव-सहित जिस को पति को समर्पित कर दिया है वह पतिव्रता जैसे पति से भेंट होते ही उससे अपना हृदय खोले बिना नहीं रह सकती, (७७) वैसे ही हे गोस्वामी! मैंने आपसे यह विनती की है। इसके अतिरिक्त मैं एक बात और भी कहा चाहता हूँ। (७८)

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

हे देव! आपसे मैंने ढिठाई की और विश्वरूप देखने का जो हठ किया सो आप प्रेमी माता-पिता ने पूर्ण कर दिया। (७९) कल्पवृक्ष के झाड़ प्रेम से मेरे आँगन में लगा जायें, कामधेनु का बछड़ा मुझे खेलने को दिया जाय, (५८०) मुझे नक्षत्रों के पाँसे फेंकने के लिये मिलें, खेलने के लिए चन्द्रमा की गेंद मिले इत्यादि प्रकार का जो मेरा हठ था सो हे माता! आपने सब पूर्ण किया। (८१) जिस अमृत के बिन्दु के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं उसकी मानों आपने चारों महीने वर्षा कर दी और धरती जोत कर क्यारियों क्यारियों में मानों चिन्तामणि बो दिये। (८२) इस प्रकार हे स्वामी! आपने मुझे कृतार्थ कर दिया और मेरी बाल इच्छा बिलकुल पूर्ण कर दी। आपने मुझे वह स्वरूप दिखा दिया जो शङ्कर और ब्रह्मा आदि ने कान से भी न सुना था। (८३) फिर देखने की बात ही क्या है? उपनिषदों को जिसकी भेंट नहीं हुई वह हृदय गाँठ आपने मेरे लिए खोल दी। (८४) अभी कल्प के आरम्भ से लेकर आज की घड़ी तक मेरे जितने जन्म हो गये हैं (८५) उन सबका निरीक्षण कर देखता हूँ तो ऐसी बात कभी देखी या सुनी हुई नहीं मालूम होती। (८६) बुद्धि का ज्ञान कभी इस स्वरूप के आँगन में भी नहीं आ सकता, अन्तःकरण इसका शब्द भी नहीं सुन सकता, (८७) तो फिर नेत्रों को इसके प्रत्यक्ष होने की बात ही कहाँ रही? बहुत क्या कहूँ यह रूप पहले न किसी ने देखा था न सुना था। (८८) सो यह अपना विश्वरूप आपने मेरे नयनों को दिखाया, इससे हे देव! मेरा मन आनन्दित हुआ है। (८९) परन्तु अब हृदय में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई है कि आपसे आलाप करूँ और आपसे आलिङ्गन करने के हेतु आपकी समीपता का उपभोग लूँ। (५९०) सो इसी रूप में करना चाहूँ तो कौन से एक मुख से बोलूँ और किसे आलिङ्गन दूँ? आपकी तो गणना नहीं हो सकती। (९१) अतएव वायु के संग दौड़ना गगन को लिपटाना और समुद्र में जलक्रीड़ा करना नहीं बन सकता (९२) एवं हे देव! इस स्वरूप से मेरे हृदय में भय उपजता है। इसलिए अब मेरा इतना हेतु पूर्ण कीजिए कि यह स्वरूप बस कीजिए। (९३) कोई कुतूहल से चराचर का अवलोकन करे और फिर आनन्द से घर आ रहे, वैसे ही आपका चतुर्भुज स्वरूप हमारी विश्रान्ति का स्थान है। (९४) हम योग आदि का अभ्यास करें परन्तु उससे हमें इसी चतुर्भुजरूप की प्रतीति प्राप्त हो,

शास्त्रों की आलोचना करें तथापि उससे यही सिद्धान्त प्राप्त करों। (९४) हम सम्पूर्ण यज्ञ करें तथापि उसका फल यही रूप मिले, सकल तीर्थों की यात्रा करें परन्तु इसी रूप के लिए, (९६) और भी जो जो कुछ दान और पुण्य करें उनसे आपके इस चतुर्भुज का ही फल प्राप्त हो। (९७) मेरे हृदय में उस रूप का इतना प्रेम है। अतएव वही सत्वर देखने की इच्छा हो रही है, सो यह अति शीघ्र पूरी कीजिए। (९८) हे हृदय की जाननेहारे, सकल विश्व के बसानेहारे, हे पूज्य, हे देवों के देव! प्रसन्न हूजिए। (९९)

> किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
>
> मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
>
> तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
>
> सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

जो शरीर नीलकमलों के लिए भी छवि का नमूना है, जो आकाश में भी रङ्ग लगाता है [यानी जिससे आकाश नीला होता है], तथा इन्द्रनील को भी तेज की प्रभा दिखाता है (९००) जो ऐसा है कि मानों मरकत मणि में सुगन्ध उत्पन्न हुई हो या आनन्द की भुजाएँ फूटी हों, जिसकी गोद में मदन सुशोभित होता है (१) जिसके मस्तक में मुकुट को अलंकृत किया है, अथवा जिसका मस्तक मानों मुकुट का मुकुट बन रहा है, तथा जिससे शृङ्गार को अलङ्कार प्राप्त हुआ है, (२) वह आपका शरीर, हे शार्ङ्गपाणि आकाश में इन्द्रधनुष से वेष्टित जैसे मेघ दिखाई देता है वैसे वैजयन्ती माला से वेष्टित था। (३) आपकी गदा कितनी उदार थी जो असुरों को भी मोक्ष देती थी। हे गोविन्द! आपका चक्र कैसा सौम्य प्रकाश से शोभा दे रहा था! (४) बहुत क्या वर्णन करूँ? हे स्वामी! वही रूप देखने के लिए मेरी उत्कण्ठा हो रही है। इसलिए अब आप वही रूप लीजिए। (५) आँखें, इस विश्वरूप का सुख भोग कर आँखें बुझा गई और अब कृष्ण-मूर्ति के लिए प्यासी हो रही हैं। (६) इन आँखों को उस साकार कृष्णरूप के अतिरिक्त कुछ देखना नहीं भाता। उसी न देखने पर ये देखने का कुछ मोल नहीं समझतीं। (७) हमें भोग और मोक्ष

दोनों देनेहारी श्रीमूर्ति के सिवाय कोई वस्तु नहीं है। इसलिए आप वैसे ही साकार हूजिए और इस रूप का उपसंहार कीजिए। (८)

श्रीभगवानुवाच—

> मयाप्रसन्नेन तवार्जुनेदं
> रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
> तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम्
> यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

अर्जुन के इन वचनों से विश्वरूप श्रीकृष्ण को विस्मय हुआ। उन्होंने कहा कि हमने कोई ऐसा अधासिक नहीं देखा। (६) तुम्हें जितनी श्रेष्ठ वस्तु का लाभ हुआ है उसका तुम कुछ आनन्द नहीं मानते और डर कर किसी डरपोक जैसे न जाने क्या बोल रहे हो। (११०) हम जब प्रसन्न होते हैं तो ऊपर से ही—अन्तर से तो अर्पित ही रहते हैं। भला अपना भी कौन त्याग करता है? (११) परन्तु हमने तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए आज, अपने जी का ही स्वरूप प्रमपूर्वक तैयार करके, इतना ध्यान रखा है। (१२) तुम्हारा प्रेम न जाने कैसा है जो उससे हमारी प्रसन्नता इतनी मत्त हो गई कि हमने जगत् में अपने गुप्त स्वरूप की ध्वजा पसार कर खड़ी कर दी। (१३) ऐसा यह मेरा अपरम्पार और परात्पर स्वरूप है। यहीं से कृष्ण इत्यादि अवतार उत्पन्न होते हैं। (१४) यह स्वरूप केवल ज्ञान के तेज का घना है, केवल विश्वमय है, अनन्त है अचल है, और सबका आदि कारण है। (१५) हे अर्जुन! इसे तुम्हारे सिवाय पहले किसी ने न सुना है न देखा है, क्योंकि यह साधनों से प्राप्य नहीं। (१६)

> न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
> र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
> एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
> द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

इस रूप का पता लगाते हुए वेद भी चुपके हो गये, और यज्ञ भी वास्तव में स्वर्ग तक पहुँच कर पीछे पलट आये हैं। (१७) साधकों

गत! अब भी उस रूप की आस्था छोड़ दो और इस रूप के विषय अनास्था मत करो। (३१) यद्यपि यह रूप घोर, विकराल और ाल है तथापि इसी को अपने निश्चय का स्थान बना दो। (३२) ो कृपण की चित्तवृत्ति जैसे द्रव्य में लगी रहती है और वह केवल से व्यवहार करता है, (३३) अथवा पक्षिनी जैसे अपना जी घोंसले न बच्चों के पास रख कर, जिनके पङ्ख नहीं फूटे हैं, आकाश घूमती है, (३४) अथवा जैसे गाय पहाड़ पर चरती है परन्तु का चित्त घर में बछड़े की ओर लगा रहता है, वैसे ही तुम अपना ा इस स्वरूप से बाँध रक्खो, (३५) और ऊपरी चित्त से बाह्यतः म्युक्त था उपभोग लेने के लिए मेरी चतुर्भुज-मूर्ति का ध्यान करो। ६) परन्तु हे पाण्डव! निरन्तर इस एक बात को न भूलो कि ाव कभी इस स्वरूप से न हटना चाहिए (३७) यह स्वरूप तुमने भी न देखा था। इससे तुम्हें जो डर उत्पन्न हुआ है उसे छोड़ कर में अपना प्रेम भर दो। (३८) अनन्तर विश्वरूपी श्रीकृष्ण ने कहा अब मैं तुम्हारे इच्छानुसार करता हूँ। अब सुख से पहला स्वरूप न लो। (३९)

सञ्जय उवाच—

> इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
> स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
> आश्वासयामास च भीतमेनं
> भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

ऐसा कहते ही देव फिर मनुष्यरूप हो गये। इसमें कुछ आश्चर्य ही। परन्तु उनका प्रेम का आश्चर्य है। (४४०) श्रीकृष्ण ही केवल तमय हैं और उन्होंने अपना विश्वरूप सरीखा सर्वस्व अर्जुन के ाथ दे दिया, परन्तु वह अर्जुन को न भाया। (४१) जैसे कोई ान का स्वीकार कर फेंक दे या जैसे कोई रत्न को नाम धरे या न्या का निरीक्षण करने पर कह दे कि हमको नहीं भाती, वैसा ही हाल यहाँ हुआ। (४२) विश्वरूप जैसा रूप दिखाते हुए उनका प्रेम कैसा बढ़ा हुआ था! देव ने अर्जुन को सर्वोत्तम उपदेश दिया। (४३) परन्तु सोने का टुकड़ा तोड़ कर उसके अलङ्कार बनाये जावें और

ने अभ्यास जान कर योगाभ्यास छोड़ दिया है तथा इस रूप को प्राप्त करने की योग्यता अध्ययन से भी नहीं आती। (१८) पूर्णता को पहुँचे हुए सत्कर्म अपनी श्रेष्ठता दिखाते दौड़ते हैं परन्तु वे भी अनेक श्रम करके सत्यलोक तक ही पहुँचते हैं। (१९) तप ने इस रूप का ऐश्वर्य देखा और तुरंत अपनी तीव्रता छोड़ दी। इस प्रकार जो तप या साधनों से भी बहुत दूर रह जाता है (२०) वह विश्वरूप तुमने जैसा अनायास देखा है, वैसा मनुष्यलोक में और किसी को प्राप्त नहीं होता। (२१) आज जगत् में इस सम्पदा से सम्पन्न एक तुम्हीं हो। ऐसा परम भाग्य ब्रह्मदेव का भी नहीं है। (२२)

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

इसलिए विश्वरूप के लाभ से धन्यता मानो। इससे भय न रक्खो। (२३) इसके अतिरिक्त किसी वस्तु को मन में उत्तम मत समझो। अजी, समुद्र अमृत से भरा हो और वह अकस्मात् प्राप्त हो जाय तो क्या उसे कोई डूबने के डर से छोड़ देगा? (२४) अथवा यह समझ कर कि सोने का पर्वत बहुत बड़ा है और उठ नहीं सकता—क्या कोई उसका त्याग कर देगा? (२५) भाग्य से चिन्तामणि का अलङ्कार मिले तो क्या उसे बोझा समझ कर कोई फेंक देगा? कामधेनु को पालने की सामर्थ्य नहीं इसलिए क्या कोई उसे छोड़ देगा? (२६) चन्द्रमा घर आवे तो क्या कोई कहेगा कि निकलो, तुम उष्णता पहुँचाते हो? अथवा सूर्य से क्या कोई कहता है कि हटो, तुम पर छाईं डालते हो? (२७) वैसे ही यह ऐश्वर्य महातेज सहज में तुम्हारे हाथ आया है तो तुम्हें इससे व्याकुलता क्यों होनी चाहिए? (२८) परन्तु हे धनञ्जय! तुम अज्ञानी हो। तुम कुछ नहीं समझते। तुम पर क्या कोप करें? तुम शरीर छोड़कर छाया का आलिङ्गन करना चाहते हो। (२९) इस कारण मैं डर कर जिस चतुर्भुज वेष पर तुम प्रेम रखते हो वह मेरा सत्यस्वरूप नहीं है। (३३०) इसलिए हे

जो दृष्टि फेंकता है तो वही कुरुक्षेत्र है, दोनों तरफ वही गोत्रवीर शस्त्र या अस्त्रों के समुदाय की पूर्ववत् वर्षा कर रहे हैं (६१) ऐसे बाणों के मण्डप के बीच रथ पूर्ववत् ही खड़ा हुआ है, सुए पर श्रीकृष्ण बैठे हैं और आप नीचे खड़ा है। (६२)

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

उस वीर विलासी अर्जुन ने जैसी इच्छा की थी वैसा ही उसे दर्शन हुआ। फिर उसने कहा कि महाराज! अब मेरे जी में जी आया-सा मालूम होता है। (६३) बुद्धि को छोड़ ज्ञान डर कर अरण्य में घुस गया था, मन अहङ्कार-सहित देश के पार चला गया था, (६४) इन्द्रियाँ प्रवृत्ति भूल गई थीं, वाचा बोलना भूल गई थी, इस प्रकार इस शरीर नाम में दुर्दशा हो गई। (६५) परन्तु अब वे सब जाती हुई प्रकृति के हाथ लग गई। इस श्रीमूर्ति से उन्हें फिर जीवन प्राप्त हो गया। (६६) इस प्रकार अर्जुन के हृदय में सुख हुआ। फिर उसने श्रीकृष्ण से कहा कि मैंने आपका यह मनुष्य-रूप देखा। (६७) हे देवराज! आपका यह रूप दिखाना ऐसा है कि जैसे अपराधी बालक को आप माता ने समझा कर स्तनपान दिया हो। (६८) अभी, मैं विश्वरूप के समुद्र में हाथों से लहरों को काट रहा था सो अब इस निजमूर्ति-रूपी तीर पर आ पहुँचा। (६९) हे द्वारकापुर के बेगु! सुनिए, मैं एक सूखा हुआ वृक्ष था। उसे यह दर्शन नहीं, मेघों की वर्षा हुई! (७०) अभी, सहज तृषा लगी तो मुझे यह अमृत का समुद्र ही प्राप्त हो गया। (७१) मेरी हृदय-भूमि में हर्ष-लताएँ लगाई जा रही हैं, और मुझे आनन्द और समाधान हो रहा है। (७२)

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

पार्थ के इन वचनों पर देव ने कहा कि यह क्या कह रहे हो। तुम्हें विश्वरूप पर प्रेम रखना चाहिए (७३) और फिर इस श्रीमूर्ति को आलिङ्गन करने के लिए आते ही शरीर से, आओ। हे सुभद्रा-

फिर वे मन में न भावे तो जैसे फिर से गलाये जाते हैं (४४) वैसे ही जो शिष्य के प्रेम के लिए कृष्ण हुआ था वह विश्वरूप हो गया और वह उसे न भाया इसलिए फिर पलट कर कृष्णरूप हो गया। (४५) यहाँ तक शिष्य का हठ सहनेवाले गुरु कहाँ हैं ! परन्तु सञ्जय कहते हैं कि श्रीकृष्ण का प्रेम न जाने कितना है ! (४६) तदनन्तर भगवान् ने विश्व को व्याप्त कर जो दिव्य तेज प्रकट किया था उसे फिर उस कृष्णरूप में समा लिया। (४७) जैसे सम्पूर्ण श्रीभवशा [त्वंपद] महारूप [तत्पद] में समाती है अथवा वृक्षाकार जैसे बीज कणिका में समा जाता है, (४८) अथवा जैसे जागृतदशा स्वप्न के विस्तार को लील लेती है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपना योग समेट लिया। (४९) प्रभा जैसे बिम्ब में विलीन हो जाती है अथवा मेघसम्पत्ति आकाश में या समुद्र की बाढ़ समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाती है, (५५०) वैसे ही कृष्णस्वरूप के आकार की जो, विश्वरूपी वस्त्र की, तह थी वह अर्जुन के इच्छानुसार मानों खोल कर बताई गई, (५१) परन्तु उस ग्राहक ने जो रङ्ग सूत और पोत देखा तो उसके मन में न भाई, इसलिए उसकी मानों फिर से तह कर दी गई। (५२) इस प्रकार जिस स्वरूप ने अपनी विशालता के आधिक्य से विश्व को भी जीत लिया था वह फिर सुन्दर और सौम्य आकार का हो गया। (५३) बहुत क्या कहूँ, श्रीकृष्ण ने फिर अपना छोटा स्वरूप कर लिया और उस डरे हुए अर्जुन को आश्वासन दिया। (५४) तब जैसे कोई स्वप्न में स्वर्ग को जाय और अकस्मात् जाग पड़े तो उसे जैसा विस्मय होता है, वैसा ही विस्मय अर्जुन को हुआ (५५) अथवा गुरुकृपा से सम्पूर्ण प्रपञ्चज्ञान का क्षय होते ही जैसा महातत्त्व प्रकाशित होता है, वैसी ही वह श्रीमूर्ति अर्जुन को दिखाई दी। (५६) अर्जुन ने मन में कहा कि भला हुआ कि इस मूर्ति की ओट में जो विश्वरूप-जवनिका पड़ी थी वह हट गई। (५७) उसे ऐसा मालूम हुआ मानों वह काल को जीत कर आया हो अथवा उसने महावायु को दौड़ में हराया हो, अथवा वह अपने हाथों से सातों समुद्र पार उतर गया हो। (५८) इस प्रकार अर्जुन के चित्त को विश्वरूप के पश्चात् श्रीकृष्ण-स्वरूप को देखने से अत्यन्त सन्तोष हुआ। (५९) फिर जैसे सूर्यास्त के पश्चात् आकाश में नक्षत्र उगते हैं वैसे पृथ्वी उसे प्राणियों से भरी हुई दिखाई दी। (५६०) अब

पति ! यह उपदेश क्या तुम भूल गये । (७४) हे अर्जुन ! अन्धे के हाथ मेरु भी लगे तो उसे छोटा ही जान पड़ता है । यह मन की भूल है । (७५) वैसे ही जो विश्वात्मक रूप हमने तुम्हें बताया वह शङ्कर को, इतना तप करने पर भी, नहीं जुड़ता (७६) और हे किरीटी ! योगी जन अष्टाङ्ग इत्यादि सङ्कटों के कष्ट सहते हैं तथापि उन्हें जिसकी भेंट का कभी अवसर नहीं प्राप्त होता, (७७) जिस विश्वरूप का एक-आध बार थोड़ा-सा भी दर्शन हो जाय ऐसा चिन्तन करते हुए वेदों का भी काल जाता है, (७८) चातक जैसे हृदयरूपी मस्तक पर आशारूपी अञ्जलि रख कर आकाश की ओर दृष्टि किये रहते हैं, (७९) वैसी उत्कण्ठा के वश हो, सुरवर आठों पहर जिसकी भेंट की इच्छा करते रहते हैं, (८०) तथापि जिस विश्वरूप के समान वस्तु किसी को स्वप्न में भी नहीं दिखाई देती सो यह स्वरूप तुमने सुख से देख लिया । (८१)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

हे सुभट ! इस रूप की प्राप्ति के लिए साधनों के मार्ग नहीं हैं तथा छहो शास्त्रों-सहित वेद भी इससे हार जा चुके हैं । (८२) हे धनुर्धर ! शुष्क विकल्प के मार्ग से चलने के लिए सब तपों के समूह में भी योग्यता नहीं है (८३) तथा दान इत्यादि साधनों से भी मेरी प्राप्ति होना निश्चय कठिन है । यज्ञों से भी मैं वैसा हाथ नहीं आता जैसा तुमने मुझे सुख से देख लिया । (८४) ऐसा मैं एक ही रीति से प्राप्त हो सकता हूँ अर्थात् जब भक्ति आकर चित्त को जयमाल पहनावे । (८५)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

परन्तु वह [illegible] जैसी कि वर्षा की धारा, जो पृथ्वी के [illegible] जानी (८६) अथवा सब जलसम्पदा [illegible] करती है और अनन्य गति हो [illegible], वैसे ही भक्ति सब भावों के

(८८) और मैं ऐसा हूँ जैसा कि क्षीरसमुद्र जो तीर पर तथा मध्य में समान ही क्षीर का बना रहता है, (८९) और, मुझसे लेकर चिउँटी तक किंबहुना चराचर में—भजन के लिए दूसरी वस्तु ही नहीं है। (६९०) जो ऐसी भक्ति प्राप्त हो तो उसी क्षण मेरे इस रूप का ज्ञान होता और सहज दर्शन भी हो जाता है। (९१) फिर जैसे ईंधन नाम को नहीं रहता और मूर्तिमान् अग्नि हो रहता है, (९२) अथवा जब तक सूर्य का उदय नहीं होता तब तक अन्धकार गगनरूप हो रहता है; परन्तु उदय होते ही एकदम प्रकाशमय हो जाता है, (९३) वैसे ही मेरे साक्षात्कार से अहङ्कार का आवागमन बन्द हो जाता है और अहङ्कार का लोप होते ही द्वैत का नाश हो जाता है। (९४) फिर वह भक्त, मैं और यह सम्पूर्ण विश्व, स्वभावतः एकमय ही हो रहते हैं। बहुत क्या कहें, वह भक्त ही सर्वत्र एकरूपता से समा जाता है। (९५)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

जो केवल मुझे ही अपने सब कर्म समर्पित करता है जिसे मेरे अतिरिक्त जगत् में और कुछ भला नहीं दिखाई देता, (९६) जिसके इहलोक और परलोक सब एक मैं ही हूँ, जिसने अपने जीवन का फल मुझे ही निश्चित कर रक्खा है, (९७) और जो प्राणियों के भेद भूल गया है,—क्योंकि उसकी दृष्टि में मैं ही भर गया हूँ,—अतएव जो निर्वैर हो गया है, और सर्वदा भजन करता है, (९८) ऐसा जो भक्त हो, उसका जब यह कफ-वात पित्तात्मक शरीर छूटता है तब हे पाण्डव! वह मद्रूप हो रहता है। (९९) सञ्जय ने कहा कि पेट में सम्पूर्ण जगत् समाविष्ट होने के कारण जो प्रभु दिखाई देते हैं वे करुणारस से भरे हुए श्रीकृष्ण देव इस प्रकार बोले। (७००) उनके वचन सुन कर अर्जुन आनन्द-लक्ष्मी से सम्पन्न हो गया। कृष्णचरणों की भक्ति करने में संसार में वही एक चतुर था। (१) उसने देव की दोनों मूर्तियाँ चित्त में भली भाँति निहार कर उन्हीं दो विश्वरूप की अपेक्षा कृष्णमूर्ति में अधिक लाभ पाया। (२) परन्तु देव ने उसके ज्ञान को नहीं सराहा, क्योंकि व्यापक स्वरूप की अपेक्षा एकदेशी स्वरूप श्रेष्ठ नहीं है। (३) यही सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण ने एक

दो उत्तम उप-पत्तियों का निरूपण किया। (४) यह सुनकर अर्जुन ने मन में कहा कि अब इन दोनों स्वरूपों में भेद कौन सा है सो आगे पूछूँगा। (५) ऐसा जी में विचार कर वह जिस उत्तम रीति से प्रश्न करेगा सो कथा आगे सुनिए। (६) ज्ञानदेव कहते हैं कि उस कथा का वर्णन हम प्रेम से [सुलभ ओवी छन्द में] करते हैं उसे आनन्द से सुनिए। (७) प्रेम की अञ्जलि भर कर मैं ये ओवीरूप सुमन पुष्प विश्वरूप के दोनों चरणों पर समर्पित करता हूँ। (७०८)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां पञ्चदशोऽध्यायः।

बारहवाँ अध्याय

हे निर्मल, हे उदार, हे प्रसिद्ध और निरन्तर आनन्द की वर्षा करनेहारी गुरुमाता! आपका जयजयकार हो। (१) विषयरूपी सर्प के लिपट जाने पर मनुष्य आपकी कृपा से मूर्छित न होकर निर्विष हो जाता है। (२) यदि आपके प्रसादरस की तरङ्गों की बाढ़ आवे तो संसार-ताप किसे जला सकता है और शोक कैसे पीड़ा दे सकता है? (३) हे कृपालु! आपके सेवकों को योग-सुख का आनन्द प्राप्त होता है। आप उनके ब्रह्मप्राप्ति के लाड़-हठ पूरे करती हैं। (४) आप उन्हें प्रेम से मूलाधार शक्तिरूपी गोद में लेकर उनका संवर्धन करती और अपने हृदयाकाशरूपी झूले में उन्हें झुलाती हैं। (५) आप उन पर से जीवात्मभावों की न्योछावर कर उन्हें मन और प्राण के खिलौने देती हैं और आत्म-सुख के गहने पहनाती हैं। (६) आप उन्हें अमृत-कलारूपी दूध पिलाती हैं, अनाहत का गीत सुनाती और समाधिज्ञानरूपी थपकी कर सुला देती हैं। (७) अतएव आप साधकों की माता हैं। आपके चरणों से सब विद्याएँ उत्पन्न होती हैं इसलिए मैं आपकी छाया नहीं छोड़ता। (८) हे सद्गुरु-कृपादृष्टि! आपकी करुणा जिसे आश्रय देती है वह सम्पूर्ण विद्याओं की सृष्टि का ब्रह्मदेव बन जाता है। (९) अतएव हे श्रीमति अम्बा, हे भक्तों की कल्पलता! मुझे ग्रन्थनिरूपण की आज्ञा दीजिए। (१०) हे माता! मुझसे नवरसों के समुद्र भरवाइए, उत्तम रत्नों के आगार बनवाइए, और भावार्थों के पर्वत खड़े करवाइए। (११) भाषारूपी पृथ्वी में अलङ्काररूपी सुवर्ण की खानें खुलवाइए और चारों ओर विवेकरूपी लता लगवाइए। (१२) मुझे निरन्तर संवादफल के निधानरूपी सिद्धान्तों के घने बग़ीचे लगाने की आज्ञा दीजिए। (१३) पाखण्डियों की गुफायें और वाग्वादरूपी टेढ़े-मेढ़े रास्ते तोड़ डालिए, और कुतर्करूपी दुष्ट श्वापदों का नाश कर डालिए। (१४) हे माता! मुझे श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन करने में सर्वदा उदार कीजिए, तथा श्रोताओं को श्रवण के राज्य-पद पर बैठाइए। (१५) इस भाषारूपी नगर में ब्रह्म-विद्या का सुकाल कर दीजिए, और संसार में केवल

ब्रह्मानन्द का ही लेन-देन होने दीजिए। (१६) हे माता! यदि आप अपने कृपारूपी अञ्चल का सुख भाग्यवान् पर आच्छादन करें तो मैं ये सब घटनायें अभी निर्मित कर दूँगा। (१७) इतनी विनती सुनते ही गुरु ने कृपा-दृष्टि से देखा और कहा कि अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, अब गीतार्थ का आरम्भ करो। (१८) तब ज्ञानेश्वर महाराज को तत्काल आनन्द हुआ और उन्होंने कहा जो आज्ञा, मुझ पर महाप्रसाद हुआ अब सुनिए मैं ग्रन्थ-निरूपण करता हूँ। (१६)

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

सकल वीरों में श्रेष्ठ सोमवंश का विजयध्वज, पाण्डु नृप का पुत्र अर्जुन कहने लगा (२०) कि हे कृष्ण! सुनिए, आपने मुझे विश्वरूप दिखाया, पर अद्भुत स्वरूप को देखकर मेरा चित्त डर गया। (२१) और मुझे इस कृष्णमूर्ति का परिचय था, इसलिए मेरा अन्तःकरण इसकी ओर लग रहा परन्तु देव ने मुझे रोक कर मना किया। (२२) परन्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों निश्चय से आप ही एक हैं, भक्ति से आपके व्यक्त स्वरूप की प्राप्ति होती है, और योग से अव्यक्त की। (२३) हे वैकुण्ठ! ये दोनों मार्ग आपकी ही प्राप्ति के हैं। इसमें व्यक्त और अव्यक्त इन दो द्वारों में से जाना पड़ता है। (२४) परन्तु जो कस सब सोने का होता है वही उससे अलगाये हुए एक रत्ती भर का होता है, एवं व्यापक (समग्र) और एकदेशी (अंश) वस्तु की योग्यता समान है। (२५) अमृत के समुद्र से सामर्थ्य की जो महिमा मिलती है, वही महिमा अमृत-तरङ्गों से भरी हुई चुल्लू में भी रहती है। (२६) यह बात निश्चय से मेरे अन्तःकरण में सत्य प्रतीत हो गई है। परन्तु हे योग-पति! आपसे पूछने का हेतु यह है (२७) कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि हे देव! आपने क्षण भर जो विराट्रूप स्वीकारा था वही आपका सत्य स्वरूप है, अथवा उसे आपने कुतूहल से स्वीकार किया था? (२८) इसलिए जो भक्त आप ही को कर्म समर्पण करते हैं, आप ही जिनके परम श्रेष्ठ हैं और जिन्होंने अपना मनोधर्म आपकी भक्ति के बदले मोल दे दिया है (२६) ऐसे सब प्रकार से, हे श्रीहरि, जो आपको अन्तःकरण से बाँधे हुए आपकी उपासना करते

है, (३०) तथा जो ओंकार से परे है, वैखरी वाणी के लिए दुष्प्राप्य है, और जो किसी के भी समान नहीं है (३१) उस अक्षर, अव्यक्त, निर्मल और व्यापक स्वरूप की जो ज्ञानी सोऽहंभाव से उपासना करते हैं, (३२) उन ज्ञानियों और एक भक्तों में हे अनन्त ! एक दूसरे की अपेक्षा योग यथार्थ में किसे अवगत हुआ समझना चाहिए ? (३३) अर्जुन के इन वचनों से उस जगन्मित्र को सन्तोष हुआ और उन्होंने कहा—अजी, तुम अच्छा प्रश्न पूछना चाहते हो। (३४)

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

हे किरीटी ! रवि के अस्ताचल के समीप जाने पर उसके बिम्ब के पीछे जैसे किरणें भी जाती हैं, (३५) अथवा हे पाण्डुसुत ! वर्षाकाल आने पर जैसे नदी बढ़ने लगती है, वैसे ही जिनकी भजन की श्रद्धा नित्य-नई बढ़ती हुई दिखाई देती है, (३६) अथवा समुद्र प्राप्त होने पर भी जिसका प्रवाह निरन्तर पीछे से आता ही रहता है उस गङ्गा के समान जिनके प्रेमभाव की अधिकता है (३७) तथा जो सब इन्द्रियों सहित अन्तःकरण को मुझमें रख रात-दिन मेरी उपासना करते हैं, (३८) ऐसे जो भक्त निज को मुझे समर्पित कर देते हैं उन्हीं को मैं परमयोगयुक्त समझता हूँ। (३९)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

और हे पाण्डव ! दूसरे जो सोऽहंभाव पर आरूढ़ हो निराकार अक्षर से जा भूमते हैं कि (४०) जहाँ मन का मल भी नहीं लग सकता, जहाँ बुद्धि की दृष्टि नहीं जा सकती [तो जो इन्द्रियों से जानने के योग्य कहाँ से हो सकता है] (४१) जो ध्यान को भी दुर्लभ है, अतएव जो किसी एक जगह नहीं हाथ लगता तथा जो किसी आकार का नहीं है (४२) जो सदा सबरूप से उपस्थित है, जिसे प्राप्त करने पर चिन्तन भी स्तब्ध हो जाता है, (४३) जो न उत्पन्न होता न नष्ट होता है जो न है न नहीं है, इसलिए जिसकी प्राप्ति के लिए उपाय नहीं

त्याग सकते, (४४) जो न चलित होता है, न हटता है, न समाप्त होता है और न दूषित होता है, उस वस्तु को जिन्होंने अपने बल से प्राप्त कर लिया है, (४५)

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

—जिन्होंने वैराग्यरूपी अग्नि से विषयों की सेनाओं को जलाकर तपी हुई इन्द्रियों को धैर्य के साथ वश कर लिया है, (४६) और उनके निग्रहरूपी फाँसी लगा उलटे मरोड़ कर हृदयरूपी गुफा में बन्द कर दिया है, (४७) जिन्होंने अपान-मुख पर उत्तम आसन मुद्रा बाँध कर मूलबन्धरूपी क़िले को सुशोभित किया है (४८) जिन्होंने आशा के सम्बन्ध तोड़ दिये हैं, अधैर्य के रास्ते साफ़ कर दिये हैं, तथा निद्रा का अन्धकार शुद्ध कर डाला है (४९) जिन्होंने क्षमाग्नि की ज्वालाओं के बीच सप्तधातुओं की होली जला कर व्याधियों के मस्तक यन्त्रों से फोड़ डाले हैं (५०) और आधार-स्थान पर कुण्डलिनी रूपी पलीता जला कर दिया है जिसके प्रकाश से वे शिखर तक देख सकते हैं (५१) जिन्होंने नवद्वारों के किवाड़ों में इन्द्रिय निग्रहरूपी अगला लगाकर दशमद्वार की खिड़की खोल दी है (५२) जिन्होंने संकल्परूपी बकरे मार कर प्राणशक्तिरूपी चामुण्डा देवी को मनरूपी महिष के मस्तक का बलिदान दिया है (५३) जिन्होंने चन्द्र और सूर्य नामक नाड़ियों का मिलाप कर, अनाहत ध्वनि की गर्जना कर शीघ्रता से अमृत-सरोवर का जल जीत लिया है, (५४) और जो सुषुम्ना नाड़ी के मध्य-विवर में चढ़कर गुफा के मार्ग से अन्तिम ब्रह्म रन्ध्र को जा पहुँचते हैं, (५५) तथा जो ऊपर के दशमद्वार का गगन पाना चाहकर आकाश को काख में मार ब्रह्म में जा मिलते हैं, (५६) ऐसे जो समबुद्धि हैं, जो मेरी प्राप्ति के लिए निरन्तर योगरूपी दुर्गों के द्वारा सोऽहंसिद्धि को वश कर लेते हैं, (५७) और शीघ्र ही निजत्व समर्पण कर उसके बदले में निराधार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, वे भी हे किरीटी! मुझको ही पहुँचते हैं। (५८) ऐसा नहीं है कि योग-बल के कारण उन्हें भक्तों की अपेक्षा कुछ अधिक मिलता हो। उलटा उन्हें कष्ट ही अधिक होता है। (५९)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

जो सब प्राणियों के कल्याण-कारक, आश्रय-रहित, अव्यक्त-पद में भक्ति के बिना आसक्ति रखते हैं (६०) उनके मार्ग में महेन्द्र इत्यादि पद बाधकरूप हो जाते हैं, और ऋद्धि-सिद्धि की जोड़ियाँ उनके मार्ग में रुकावट डालती हैं, (६१) उन्हें काम-क्रोधरूपी अनेक संकट पड़ते हैं, और शरीर से शून्य वस्तु के साथ झगड़ना पड़ता है। (६२) प्यास प्यास से ही बुझानी पड़ती है, भूख भूख से ही मिटानी पड़ती है, और रात और दिन हाथों से वायु मापनी पड़ती है। (६३) जागते हुए सोना, निरोध में क्रीड़ा करना, वृक्षों से देश मेल का वार्तालाप करना (६४) शीत पहनना, उष्णता ओढ़ना और वर्षा के घर में बसना, (६५) बहुत क्या कहूँ, हे पाण्डव! यह मार्ग ऐसा है जैसा कि पति न रहने पर भी नित्य सती हो जाना। (६६) इसमें न किसी स्वामी का काम है, न कोई कुलपरम्परा का निमित्त है, परन्तु नित्य नई मृत्यु के साथ युद्ध करना है। (६७) इस प्रकार मृत्यु से भी तीव्र अथवा उबलता हुआ विष क्या पीया जा सकता है? पर्वत को निगलते हुए क्या मुँह नहीं फटता? (६८) इसलिए हे सुभट! जो योग के मार्ग से चलते हैं उनके हिस्से में दुःख का ही भाग आता है। (६९) देखो, यदि पोपले मुँहवाले को लोहे के चने चबाने पड़ें तो न जाने वह पेट भरेगा कि मृत्यु हो जायेगी। (७०) हाथों से तैर कर क्या कभी समुद्र पार किया जा सकता है, अथवा आकाश में क्या किसी से पैदल चलते बनता है? (७१) रणभूमि का आश्रय करने पर शरीर पर चोट खाये बिना क्या सूर्यलोक की प्राप्ति हो सकती है? (७२) अतएव पंगु जैसे वायु से स्पर्धा नहीं कर सकता वैसे ही देहधारी जीवों को अव्यक्त की प्राप्ति नहीं हो सकती। (७३) यदि ऐसा भी धैर्य धारण कर कोई आकाश से झूमने की चेष्टा करें, अव्यक्त की प्राप्ति के लिए यत्न करें तो वे क्लेश के पात्र बनते हैं। (७४) परन्तु हे पार्थ! जो लोग भक्ति-मार्ग का आश्रय करते हैं उन्हें यह दुःख नहीं होता। (७५)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।६।।

त्याग सकते, (४४) जो न चलित होता है, न हटता है, न समाप्त होता है और न दूषित होता है, उस वस्तु को जिन्होंने अपने बल से प्राप्त कर लिया है, (४५)

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

—जिन्होंने वैराग्यरूपी अग्नि से विषयों की सेनाओं को जलाकर तपी हुई इन्द्रियों को धैर्य के साथ वश कर लिया है, (४६) और उनके निग्रहरूपी फाँसी लगा उलटे मरोड़ कर हृदयरूपी गुफा में बन्द कर दिया है, (४७) जिन्होंने अपान-द्वार पर उत्तम आसन मुद्रा बाँध कर मूलबन्धरूपी किले को सुशोभित किया है (४८) जिन्होंने आशा के सम्बन्ध तोड़ दिये हैं, अधैर्य के रास्ते साफ कर दिये हैं, तथा निद्रा का अन्धकार दूर कर डाला है (४९) जिन्होंने वज्राग्नि की ज्वालाओं के बीच सप्तधातुओं की होली जला कर व्याधियों के मस्तक यन्त्रों से फोड़ डाले हैं (५०) और आधार-स्थान पर कुण्डलिनी-रूपी पलीता खड़ा कर दिया है जिसके प्रकाश से वे शिखर तक देख सकते हैं (५१) जिन्होंने नवद्वारों के किवाड़ों में इन्द्रिय निग्रहरूपी अर्गला लगाकर दशमद्वार की खिड़की खोल दी है, (५२) जिन्होंने संकल्परूपी बकरे मार कर प्रायश्चित्तरूपी चामुण्डा देवी को मनरूपी महिष के मस्तक का बलिदान दिया है; (५३) जिन्होंने चन्द्र और सूर्य नामक नाड़ियों का मिलाप कर, अनाहत ध्वनि की गर्जना कर, शीघ्रता से अमृत-सरोवर का जल जीत लिया है, (५४) और जो सुषुम्ना नाड़ी के मध्य-विवर में स्थित गुफा के मार्ग से अन्तिम ब्रह्म-रन्ध्र को जा पहुँचते हैं (५५) तथा जो ऊपर के दशमद्वार का गहन चोटी चढ़कर आकाश को बगल में मार ब्रह्म में जा मिलते हैं, (५६) ऐसे जो समबुद्धि हैं, जो मेरी प्राप्ति के लिए निरन्तर योगरूपी दुर्गों के द्वारा सोऽहंसिद्धि को वश कर लेते हैं, (५७) और शीघ्र ही जिनका समर्पण कर उसके बदले में निराकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, वे भी हे किरीटी! मुझको ही पहुँचते हैं। (५८) ऐसा नहीं है कि योग-बल के कारण उन्हें भक्तों की अपेक्षा कुछ अधिक मिलता हो। उलटा उन्हें कष्ट ही अधिक होता है। (५९)

कुछ भी भराय नहीं। मैं सर्वदा उनका उद्धार करनेवाला बना हूँ। (६४) भक्तों ने जब अपनी चित्तवृत्ति मुझे समर्पित कर दी तभी से उन्होंने मुझे अपने व्यापारों में लगा लिया है। (६५) इसलिए हे भक्तराज धनञ्जय! तुम यही मन्त्र सीखो कि इसी मार्ग की उपासना करनी चाहिए। (६६)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ॥८॥

अजी! मन और बुद्धि को, निरन्तर और निश्चय से मेरे स्वरूप के हक़दार बना दो। (६७) मन और बुद्धि दोनों एक साथ यदि मुझमें प्रेम से प्रवेश करें तो तुम्हें मेरी प्राप्ति अवश्य हो जायगी (९८) क्योंकि मन और बुद्धि ने यदि मुझमें घर बना लिया तो क्या तुम-हम-रूपी द्वैत बच रहेगा? (९९) इसलिए, जैसे दिया बुझाया जाय तो उसके साथ ही प्रकाश भी मिट जाता है, अथवा जैसे सूर्यबिम्ब के साथ उसका तेज भी चला जाता है, (१००) निकलते हुए प्राणों के साथ जैसे इन्द्रियों की शक्ति भी निकल जाती है, वैसे ही मन और बुद्धि के साथ अहङ्कार भी आ जाता है। (१) अतएव मन और बुद्धि को मेरे स्वरूप में रक्खो। इससे तुम सर्वव्यापी हो मत्स्वरूपी हो जाओगे। (२) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह मैं अपनी शपथ से कहता हूँ। (३)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अथवा यदि तुम मन और बुद्धि-सहित अपना सम्पूर्ण चित्त मेरे हाथ नहीं दे सको (४) तो ऐसा करो कि आठ पहरों में से कभी क्षण भर तो [चित्त] दो। (५) इससे जिस जिस क्षण में मेरे सुख का अनुभव होगा वह क्षण विषयों में अरुचि पावेगा। (६) जैसे शरत्काल निकल जाने पर नदियाँ सूखने लगती हैं वैसे ही वह सुख शीघ्र ही चित्त को प्रपञ्च से निकाल लेगा। (७) तब पौर्णमासी के पश्चात् जैसे चन्द्रबिम्ब दिन दिन क्षीण होते होते अमावस्या के दिन विलीन हो जाता है, (८) वैसे ही भोगों में से निकल कर चित्त मुझमें प्रवेश करे तो हे पाण्डुसुत! धीरे धीरे तुम मद्रूप हो जाओगे। (९) अजी,

जो लोग वर्णाश्रम के अनुसार अपने हिस्से में आये हुए सब कर्म कर्मेन्द्रियों के द्वारा सुख से करते हैं, (७६) विधि के अनुसार आचरण करते हैं, निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हैं, और कर्म-फलों को मुझे समर्पित कर नष्ट कर देते हैं, (७७) इस प्रकार हे अर्जुन! जो कर्मों को मुझे समर्पित कर उनका नाश करते हैं, (७८) तथा, जिनके कायिक वाचिक और मानसिक भावों की दौड़ मेरे अतिरिक्त दूसरी जगह नहीं है, (७९) इस प्रकार जो मत्पर हैं, और निरन्तर मेरी उपासना कर ध्यान के मिष से मेरे घर ही बन गये हैं, (८०) जिनके प्रेम ने मुझसे ही व्यापार कर बेचारे भोग-मोक्ष-रूपी असामियों को छोड़ दिया है, (८१) इस प्रकार जो अनन्य योग से अन्तःकरण से, मन से और शरीर से, मेरे हाथ बिक गये हैं, उनका जो कहो सो सब कुछ मैं ही कर देता हूँ। (८२)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

बहुत क्या कहूँ, धनुर्धर! जो माता के पेट से उत्पन्न होता है वह माता का कितना प्यारा रहता है? (८३) उसी प्रकार वे जैसे भी हों—मैं उनका प्यारा बनता हूँ, तथा कलिकाल को भी जीत कर उनका पक्ष लेता हूँ। (८४) यों भी मेरे भक्तों को, और संसार की चिन्ता हो? क्या श्रीमान् की स्त्री कभी टुकड़ा माँगती है? (८५) वैसेही मेरे भक्तों को मेरा कुटुम्बी ही जानो। उनके लिए मैं किसी बात की लज्जा नहीं रखता। (८६) जन्म-मृत्यु की लहरों में डूबती हुई इस सृष्टि को देख कर मुझे ऐसा मालूम हुआ। (८७) कि इस संसार-समुद्र में किसे डर नहीं लगता कदाचित् इसमें मेरे भक्त भी डर जावें। (८८) इसलिए हे पाण्डव! मैं मूर्ति के वेश का समुदाय इकट्ठा कर उनके घर पर दौड़ता आया हूँ। (८९) संसार में हजारों नामरूपी नावें तैयार कर मैं उनका तारक बना हूँ। (९०) मुझे जो अकेले मिले उन्हें मैंने ध्यान के मार्ग से लगा दिया, और परिवार वालों को मैंने इन नावों पर बैठा लिया है। (९१) किसी के पेट से प्रेमरूपी कगार बाँध कर मैं सायुज्य-तीर पर ले आया हूँ। (९२) इतना ही नहीं, वरन् भक्त होने के कारण पशु आदि सबों को मैंने वैकुण्ठ के राज्य के योग्य बना दिया है। (९३) अतएव भक्तों को चिन्ता का

कुछ भी कारण नहीं। मैं सर्वथा उनका उद्धार करनेवाला बना हूँ। (९४) भक्तों ने जब अपनी चित्तवृत्ति मुझे समर्पित कर दी तभी से उन्होंने मुझे अपने व्यापारों में लगा लिया है। (९५) इसलिए हे महाराज धनञ्जय! तुम यही मन्त्र सीखो कि इसी मार्ग की उपासना करनी चाहिए। (९६)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ॥८॥

अर्जुन! मन और बुद्धि को, निरन्तर और निश्चय से मेरे स्वरूप के एकाकार बना दो। (९७) मन और बुद्धि दोनों एक साथ यदि मुझमें प्रेम से प्रवेश करें तो मुझे मेरी प्राप्ति अवश्य हो जायगी (९८) क्योंकि मन और बुद्धि ने यदि मुझमें घर बना लिया तो क्या तुम-हम-रूपी द्वैत बच रहेगा? (९९) इसलिए, जैसे दिया बुझाया जाय तो उसके साथ ही प्रकाश भी मिट जाता है, अथवा जैसे सूर्यबिम्ब के साथ उसका तेज भी चला जाता है, (१००) निकलते हुए प्राणों के साथ जैसे इन्द्रियों की शक्ति भी निकल जाती है, वैसे ही मन और बुद्धि के साथ अहङ्कार भी आ जाता है। (१) अतएव मन और बुद्धि को मेरे स्वरूप में रक्खो। इससे तुम सर्वव्यापी हो मत्स्वरूपी हो जाओगे। (२) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह मैं अपनी शपथ ले कहता हूँ। (३)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अथवा यदि तुम मन और बुद्धि-सहित अपना सम्पूर्ण चित्त मेरे हाथ नहीं दे सको (४) तो ऐसा करो कि आठ पहरों में से कभी क्षण भर तो [चित्त] दो। (५) इससे जिस जिस क्षण में मेरे सुख का अनुभव होगा वह अन्य विषयों में अरुचि पावेगा। (६) जैसे शरत्काल निकल जाने पर नदियाँ सूखने लगती हैं वैसे ही वह सुख शीघ्र ही [चित्त] को प्रपञ्च से निकाल लेगा। (७) तब, पौर्णमासी के पश्चात् जैसे चन्द्रबिम्ब दिन दिन क्षीण होते होते अमावास्या के दिन विलीन हो जाता है, (८) वैसे ही भोगों में से निकल कर चित्त मुझमें प्रवेश करे तो हे पाण्डुसुत, [illegible] धीरे तुम मुझ [illegible] हो जाओगे। (९) अभी,

जिसे अभ्यासयोग कहते हैं वह यही है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो इससे प्राप्त न हो सकती हो। (११०) कोई अभ्यास के बल से आकाश में गति प्राप्त कर लेते हैं, कोई व्याघ्र और सर्पों को अधीन कर लेते हैं, (११) कोई विष को आहार बना लेते हैं, कोई समुद्र में से रास्ता निकाल लेते हैं तथा कोई अभ्यास से शब्दब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। (१२) अतः अभ्यास से कुछ भी सर्वथा दुष्प्राप्य नहीं है। इसलिए तुम अभ्यास के द्वारा मुझमें आ मिलो। (१३)

> अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
> मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

परन्तु अभ्यास के लिए भी यदि तुम्हारे शरीर में बल न हो तो तुम जहाँ हो वहीं रहो, (१४) इन्द्रियों का अवरोध न करो भोगों का त्याग न करो, अपनी जाति का अभिमान न छोड़ो, (१५) अपने कुल-धर्म करते जाओ विधि और निषेधों का पालन करो,—इस प्रकार हम तुम्हें सुख से कर्म करने की छूट देते हैं। (१६) परन्तु मन से, वाचा से, और शरीर से, जो कुछ भी व्यापार उत्पन्न हो उसे "मैं करता हूँ" यह मत समझो। (१७) करना या न करना सब वही परमात्मा जानता है जो इस विश्व का चालक है। (१८) कर्म की न्यूनता या पूर्णता का भाव अपने चित्त में न रहने दो। अपना जीवन परमात्मा का सजातीय कर रक्खो। (१९) माली जिस ओर ले जाता उसी ओर को चुपचाप चला जाता है उस जल के समान तुम्हारा कर्म होना चाहिए, (१२०) पर प्रवृत्ति और निवृत्ति के बोझ के नीचे अपनी बुद्धि न दबाओ। चित्तवृत्ति मुझमें अव्यभिचरित रक्खो। (२१) यों भी, हे सुभट! रथ क्या इस बात की खटपट करता है कि रास्ता सीधा है या आड़ा-टेढ़ा है? (२२) जब जो कुछ कर्म किया जाय उसे थोड़ा या बहुत न समझकर चुपचाप मुझे समर्पित करना चाहिए। (२३) हे अर्जुन! इस प्रकार की मेरी भावना रखने से तुम शरीर त्याग के अनन्तर मेरे सायुज्यरूपी घर में आ पहुँचोगे। (२४)

> अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
> सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अथवा यदि तुमसे कर्म भी मुझे समर्पित नहीं किया जाता तो

हे पाण्डुकुँवर! तुम कर्मों का सेवन कर सकते हो, (२५) यदि बुद्धि के आगे-पीछे तथा कर्म के आदि या अन्त में, मेरा सम्बन्ध जोड़ना तुम्हें कठिन मालूम होता हो, (२६) तो यह भी रहने दो। मेरा महत्त्व जाने दो। परन्तु बुद्धि को इन्द्रियनिग्रह में लगा दो, (२७) तथा जिस समय जो जो कर्म किये जायँ उनके फलों का त्याग कर दो। (२८) फल हाथ आते ही लोग जैसे वृक्ष या बेल को छोड़ जाते हैं वैसे ही कर्म सिद्ध होते ही उनका त्याग कर दो, (२९) तथा कर्म करते समय मेरा स्मरण रखने की अथवा उसे मेरे प्रीत्यर्थ करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। सब शून्य में समर्पित होने दो। (१३०) जैसा पत्थर पर बरसा हुआ जल, अथवा आग में बोया हुआ बीज होता है वैसा ही हर एक कर्म समझो मानो जैसे कोई स्वप्न देखा हो (३१) अपनी कन्या के विषय में पिता जैसा निष्काम होता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्मों के विषय में निरभिलाष हो जाओ। (३२) अग्नि की ज्वाला जैसी आकाश में वृथा जाती है वैसी ही अपनी सब क्रियायें शून्य में विलीन होने दो। (३३) हे अर्जुन! यह फलत्याग मालूम तो सुगम होता है, परन्तु है यह योग सब योगों में श्रेष्ठ। (३४) बाँस के झाड़ जैसे एक ही बार फल कर बन्ध्या हो जाते हैं, वैसे ही इस फलत्याग के द्वारा जिस जिस कर्म का त्याग किया जाता है उससे फिर कर्म उत्पन्न नहीं होता; (३५) तथा इसी शरीर के बाद फिर शरीर लेना भी बन्द हो जाता है। किंबहुना, जन्म और मृत्यु का रास्ता ही बन्द हो जाता है। (३६) इस प्रकार हे किरीटी! अभ्यास के मार्ग से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तथा ज्ञान से ध्यान की भेंट लेनी चाहिए। (३७) फिर जब ध्यान को सब भाव आलिङ्गन देते हैं तब सम्पूर्ण कर्म दूर हो जाते हैं। (३८) जहाँ कर्म दूर हुआ वहाँ फलत्याग भी हो जाता है और त्याग के कारण सम्पूर्ण शान्ति अधीन हो जाती है। (३९) इसलिए हे सुभद्रापति! शान्ति प्राप्त करने के लिए यही क्रम है। इसलिए प्रारम्भ में अभ्यास ही करना चाहिए। (१४०)

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

हे पार्थ! अभ्यास से फिर ज्ञान कठिन है, ज्ञान से ध्यान विशेष कहा गया है, (४१) तथा कर्मफल की इच्छा का त्याग ध्यान से भी

परम श्रद्धा है, और त्याग से शान्ति-सुख का योग प्राप्त होता है। (४१) हे सुभट! ऐसे मार्ग से और इन इन प्रकारों से आकर जिसने शान्ति का सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, (४२)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

—जिसे चैतन्य की तरह प्राणिमात्र के विषय में कभी राग-द्वेष नहीं होता तथा जैसा कि चैतन्य अपना और पराया भेदभाव नहीं रखता, वैसा ही वह भी नहीं रखता। (४४) जैसे पृथ्वी इसी तरह की बातें नहीं सोचती कि उत्तम की स्वीकृति करनी चाहिए, अथवा अधम का त्याग करना चाहिए, वैसे ही ये बातें वह भी नहीं सोचता। (४५) अथवा कृपालु प्राण जैसे यह कभी नहीं सोचता कि राजा के शरीर में रह कर राज-धर्म करूँ और रङ्क की अवगणना करूँ अथवा जल जैसे ऐसा करना नहीं जानता कि गाय की तो तृषा बुझा दे और सिंह बन कर व्याघ्र का नाश कर दे (४६,४७) वैसे ही जिसकी प्राणिमात्र से समान ही मैत्री है, जो स्वयं कृपा का आधारभूत है, (४८) और जो अहङ्कार की वार्ता भी नहीं जानता जो अपने निज का कुछ नहीं समझता जो सुख-दुःख भाव नहीं रखता, (४९) तथा क्षमा के विषय में जिसे पृथ्वी की योग्यता प्राप्त है, जिसने सन्तोष को अपनी गोद में स्थापित किया है, (१५०)

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

—वर्षा के बिना ही समुद्र जैसा जल से परिपूर्ण रहता है वैसे ही जो उपचार के बिना ही सन्तुष्ट रहता है, (५१) जो अन्तःकरण को शपथ दे अपने अधीन रखता है, जिसके कारण निश्चय को यथार्थता प्राप्त होती है, (५२) जिसके हृदय-भुवन में जीव और परमात्मा दोनों एक ही आसन पर बैठे हुए विराजते हैं, (५३) तथा इतनी योग-सम्पन्न होने पर भी जो निरन्तर मन और बुद्धि मुझे समर्पित करता है, (५४) एवं अन्तर्बाह्य उत्तम रीति से योगसिद्ध होने पर भी जिसे मेरे लिए सप्रेम अनुराग है, (५५) हे अर्जुन! वही मेरा भक्त है, वही योगी है और वही मुक्त है। वह मुझे इतना प्यारा है कि

जैसे मानों वह पत्नी हो और मैं पति हूँ। (५६) किन्तु यह कहना भी कि वह मुझे जी के समान प्यारा है यहाँ अल्प दिखाई देता है। (५७) प्रेमी भक्त की कथा भूल डालनेवाला जादू है। ये बातें तो कहने की नहीं हैं, परन्तु प्रेम के कारण कहनी पड़ती हैं। (५८) इसी से हम शीघ्र उपमा दे सके। अन्यथा क्या प्रेम का बखान किया जा सकता है? (५६) अब हे किरीटी! यह रहने दो। प्रेमियों की कथाओं से प्रेम को दुगुना बल पहुँचता है। (१६०) इस पर भी कदाचित् प्रेमी ही संवाद करता हो तो फिर उस मधुरता की क्या कोई तुलना हो सकती है? (६१) हे पाण्डुसुत! तुम मेरे प्रेमी हो, और तुम्हीं श्रोता हो, और प्रसङ्गानुसार प्रेमियों की ही वार्ता चल पड़ी है। (६२) अत वर्णन करने का अवसर मिला इससे मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त हुआ है। ऐसा कहते ही देव डोलने लगे। (६३) फिर उन्होंने कहा कि अब जिस भक्त को मैं अन्तःकरण में बैठाता हूँ उसका आशय सुनो। (६४)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

समुद्र की गर्जना से जैसे जलचरों को भय नहीं उपजता और जलचरों से जैसे समुद्र नहीं ऊबता (६५) वैसे ही इस उन्मत्त जगत् से जिसे खेद नहीं होता और जिसके सहवास से जगत् दुखी नहीं होता—(६६) बहुत क्या बयान करूँ,—हे पाण्डव! शरीर जैसे अवयवों से, वैसे ही जो स्वयं जीव होने के कारण जीवों से नहीं ऊबता (६७) जगत् ही निज-देह होने के कारण जिसके प्रिय और अप्रिय भाव चले गये हैं, और अद्वैत के कारण जिसमें से हर्ष और क्रोध का भेद निकल गया है, (६८) इस प्रकार जो सुख और दुःख के द्वन्द्व से मुक्त है, जिसे भय का आवेश नहीं होता, और तिस पर भी जो मुझ पर भक्ति करता है, (६६) उस भक्त का मुझे मोह होता है। क्या कहूँ, वह मेरा प्रेमी है, अथवा वह मेरे प्राणों का प्राण है। (१७०) जो आत्मानन्द से तृप्त हुआ है, पूर्णब्रह्म ही मानो जिसका जन्म ले आया है, जो पूर्णता रूपी स्त्री का कदम हो गया है, (७१)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

—उसमें हे पाण्डव ! तृष्णा प्रवेश नहीं कर सकती। उसके अस्तित्व से सुख में बाढ़ आती है। (७२) मान लिया कि काशी मोक्ष देने में उदार है परन्तु मोक्ष के लिए वहाँ शरीर का त्याग करना पड़ता है। (७३) हिमालय पापों का नाश करता है, परन्तु वहाँ भी जीवन की हानि होती है, किन्तु भक्तों की शुचिता वैसी नहीं है। (७४) शुचित्व में गङ्गा भी शुचि है, और वह पाप और सन्ताप का भी नाश करती है, पर उसमें डूबने का डर रहता है। (७५) परन्तु भक्ति की गहराई का पार नहीं है तथापि उसमें डूबने का डर नहीं, और मृत्यु के बिना ही उससे मोक्ष का लाभ होता है। (७६) सन्तों के समागम से गङ्गा पापों को जीतती है, फिर तो सत्सङ्ग की पवित्रता कितनी होनी चाहिए? (७७) और जो इस प्रकार पवित्रता से तीर्थों को आश्रय देनेहारा है, जिसने मन के मल को दिशाओं के पार भगा दिया है, (७८) जो अन्तर्बाह्य शुद्ध है सूर्य जैसा निर्मल है, और किसी पारखी जैसा तत्त्वरूप धन का देखनेहारा है, (७९) जैसे आकाश व्यापक और उदासीन रहता है वैसे ही जिसका मन सर्वत्र है, (८०) जो संसार के दुःखों से छूट गया है जो निराशा से अलंकृत है, और जो व्याधों के हाथ से छूटे हुए पक्षी के समान, (८१) सर्वदा सुख से भरे रहने के कारण, कोई दुःख नहीं जानता, जैसे कि मृत मनुष्य कोई लज्जा नहीं जानता, (८२) और कर्मारम्भ करते हुए जो अहङ्कार नहीं रखता ईंधन के बिना जैसे आग बुझ जाती है (८३) वैसे मोक्ष की अग्रभूत बनी हुई शान्ति जिसके भाग में आई है, (८४) हे अर्जुन! जहाँ तक जो सोऽहम्भाव से भरा हुआ है, वह मनुष्य द्वैत के उस पार निकल गया है। (८५) परन्तु भक्तिसुख के लिए वह निज को ही दो भागों में बाँटकर एक से स्वयं सेवकाई करता है, (८६) और दूसरे भाग को मेरा नाम देता है, और भक्ति न करनेहारों को उत्तम भक्तिमार्ग का आचरण कर दिखाता है। ऐसा जो योगी हो (८७) उससे हमें प्रीति है। वह हमारा आत्मस्वरूप है। बहुत क्या कहें, उसकी भेंट हो तो हमें समाधान होता है। (८८) उसके हेतु हम रूप धारण करते हैं। उसी के कारण हम यहाँ आते हैं। वह हमें इतना प्यारा है कि उस पर हम जी और जान निछावर कर देते हैं। (८९)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय ॥१७॥

जो आत्मलाभ के समान और कुछ भी उत्तम नहीं समझता, इसलिए जिसे किसी भोगविशेष से सन्तोष नहीं होता, (१९०) आप ही विश्वमय हो गया है और भेदभाव सहज ही नष्ट हो गया है इसलिए जिस पुरुष का द्वेष चला गया है, (९१) जो वस्तु वास्तव में अपनी है वह कल्पान्त में भी नहीं जाती यह जान कर जो गत वस्तु का शोच नहीं करता, (९२) और जिसके परे कुछ नहीं है वह वस्तु आप ही स्वयं हो गया है, इसलिए जो किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता (९३) सूर्य को जैसे रात्रि और दिवस प्रकट नहीं होते वैसे जिसे भला या बुरा कुछ भी प्रतीत नहीं होता (९४) इस प्रकार जो केवल शुद्ध ज्ञानमय है और तिस पर भी जो मेरा भजन करता है, (९५)—तुम्हारी शपथ खाकर कहता हूँ कि—उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रेमी और सगा नहीं है। (९६)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

हे पार्थ! जिसमें विषमता की वार्ता ही नहीं है, जो शत्रु और मित्र दोनों को समान ही मानता है, (९७) अथवा हे पाण्डव! घर के मनुष्यों को प्रकाश देना और अन्यों के लिए अँधेरा करना जैसे दीपक नहीं जानता, (९८) जो काटने के लिए कुल्हाड़ा मारता है तथा जिसने स्वयं बीज लगाया है उन दोनों को वृक्ष जैसे समान ही छाया देता है, (९९) अथवा ईख जैसे रखवाली करनेहारे को मधुर और गलानेहारे को कड़वा कभी नहीं होता, (२००) वैसे ही हे अर्जुन! जिसका भाव शत्रु और मित्र के विषय में समान ही है जो मान और अपमान में समान ही रहता है, (१) तीनों ऋतुओं में आकाश जैसे समान रहता है वैसे ही जो शीत और उष्ण को समान मानता है, (२) हे पाण्डुसुत! दक्षिण तथा उत्तर वायु से जैसा मेरु, वैसे आये हुए सुख तथा दुःख से जो उदासीन रहता है (३)—चाँदनी में रहनेहारी माधुरी जैसी राजा और रङ्क को समान ही मधुर रहती है वैसे ही जो सम्पूर्ण प्राणियों को समान है, (४) सब जगत् को जैसे एक ही उदक सेव्य है वैसे जिसकी तीनों लोकों में समान ही चाह है (५) जो अन्तर्बाह्य विषयों का सङ्ग और सम्बन्ध छोड़कर आत्मा में स्थिर हो एकान्त में रहता है, (६)

—उसमें हे पाण्डव! इच्छा प्रवेश नहीं कर सकती। उसके अस्तित्व से सुख में बाढ़ आती है। (७२) मान लिया कि काशी मोक्ष देने में उदार है, परन्तु मोक्ष के लिए वहाँ शरीर का त्याग करना पड़ता है। (७३) हिमालय पापों का नाश करता है, परन्तु वहाँ भी जीवन की हानि होती है, किन्तु भक्तों की शुचिता वैसी नहीं है। (७४) शुचिता में गङ्गा भी शुचि है, और वह पाप और सन्ताप का भी नाश करती है, पर उसमें डूबने का डर रहता है। (७५) परन्तु भक्ति की गहराई का पार नहीं है, तथापि उसमें डूबने का डर नहीं, और मृत्यु के बिना ही उससे मोक्ष का लाभ होता है। (७६) सन्तों के समागम से गङ्गा पापों को जीतती है, फिर तो सत्सङ्ग की पवित्रता कितनी होनी चाहिए? (७७) और जो इस प्रकार पवित्रता से तीर्थों को आश्रय देनेहारा है, जिसने मन के मल को दिशाओं के पार भगा दिया है, (७८) जो अन्तर्बाह्य शुद्ध है, सूर्य जैसा निर्मल है, और किसी 'पारस' जैसा तत्त्वरूप मन का देखनेहारा है (७९) जैसे आकाश व्यापक और उदासीन रहता है वैसे ही जिसका मन सर्वत्र है, (१८०) जो संसार के दुःखों से छूट गया है जो निराशा से अलंकृत है, और जो व्याधों के हाथ से छूटे हुए पक्षी के समान, (८१) सच्चा सुख से भरे रहने के कारण कोई दुःख नहीं जानता जैसे कि मृत मनुष्य कोई लज्जा नहीं जानता, (८२) और कर्मारम्भ करते हुए जो अहङ्कार नहीं रखता ईंधन के बिना जैसे आग बुझ जाती है (८३) वैसे मोक्ष की अग्रभूत बनी हुई शान्ति जिसके भाग में आई है, (८४) हे अर्जुन! यहाँ तक जो सोऽहम्भाव से भरा हुआ है, वह मनुष्य द्वैत के उस पार निकल गया है। (८५) परन्तु भक्तिसुख के लिए वह निज को ही दो भागों में बाँटकर एक से स्वयं सेवकाई करता है, (८६) और दूसरे भाग को मेरा नाम देता है, और भक्ति न करनेहारों को उत्तम भक्तिमार्ग का आचरण कर दिखाता है। ऐसा जो योगी हो, (८७) उससे हमें प्रीति है। वह हमारा आत्मस्वरूप है। बहुत क्या कहें, उसकी भेंट हो तो हमें समाधान होता है। (८८) उसके हेतु हम रूप धारण करते हैं। उसी के कारण हम यहाँ आते हैं। वह हमें इतना प्यारा है कि उस पर हम जी और जान निछावर कर देते हैं। (८९)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

—उसमें हे पाण्डव ! इच्छा प्रवेश नहीं कर सकती। उसके अस्तित्व से सुख में बाढ़ आती है। (७२) मान लिया कि काशी मोक्ष देने में उदार है परन्तु मोक्ष के लिए वहाँ शरीर का त्याग करना पड़ता है। (७३) हिमालय पापों का नाश करता है, परन्तु वहाँ भी जीवन की हानि होती है; किन्तु भक्तों की शुचिता वैसी नहीं है। (७४) शुचिता में गङ्गा भी शुचि है, और वह पाप और सन्ताप का भी नाश करती है, पर उसमें डूबने का डर रहता है। (७५) परन्तु भक्ति की गहराई का पार नहीं है, तथापि उसमें डूबने का डर नहीं, और मृत्यु के बिना ही उससे मोक्ष का लाभ होता है। (७६) सन्तों के समागम से गङ्गा पापों को जीतती है, फिर तो सत्सङ्ग की पवित्रता कितनी होनी चाहिए? (७७) और जो इस प्रकार पवित्रता से तीर्थों को आश्रय देनेहारा है, जिसने मन के मल को दिशाओं के पार भगा दिया है, (७८) जो अन्तर्बाह्य शुद्ध है, सूर्य जैसा निर्मल है, और किसी 'पारख' जैसा तत्त्वरूप धन का देखनेहारा है (७९) जैसे आकाश व्यापक और उदासीन रहता है वैसे ही जिसका मन सर्वत्र है, (८०) जो संसार के दुःखों से छूट गया है, जो निराशा से अलंकृत है, और जो व्याधों के हाथ से छूटे हुए पक्षी के समान, (८१) सर्वदा सुख से भरे रहने के कारण कोई दुःख नहीं जानता, जैसे कि मृत मनुष्य कोई लज्जा नहीं जानता, (८२) और कर्मारम्भ करते हुए जो अहङ्कार नहीं रखता, ईंधन के बिना जैसे आग बुझ जाती है (८३) वैसे मोक्ष की अनुभूत बनी हुई शान्ति जिसके भाग में आई है (८४) हे अर्जुन! यहाँ तक जो सोऽहम्भाव से भरा हुआ है, वह मनुष्य द्वैत के उस पार निकल गया है। (८५) परन्तु भक्तिसुख के लिए वह निज को ही दो भागों में बाँटकर एक से स्वयं सेवकाई करता है, (८६) और दूसरे भाग को मेरा नाम देता है, और भक्ति न करनेहारों को उत्तम भक्तिमार्ग का आचरण कर दिखाता है। ऐसा जो योगी हो, (८७) उससे हमें प्रीति है। वह हमारा आत्मस्वरूप है। बहुत क्या कहें, उसकी भेंट हो तो हमें समाधान होता है। (८८) उसके हेतु हम रूप धारण करते हैं। उसी के कारण हम यहाँ आते हैं। वह हमें इतना प्यारा है कि उस पर हम जी और प्राण निछावर कर देते हैं। (८९)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

अपने दो हाथों पर और भी दो भुजा लगा आया हूँ। (२४) उसके समागम के सुख के लिए मैं विदेह होने पर भी देह धारण करता हूँ। बहुत क्या कहूँ, मुझे उस पर अनुपम प्रेम है। (२५) उससे हम से प्रेम हो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जो उसका चरित्र सुनते हैं (२६) वे भी, और जो भक्त-चरित्र की प्रशंसा करते हैं वे भी हमें प्राणों से प्यारे होते हैं। यह बात सत्य है। (२७) हे अर्जुन! हमने सम्मति जो यह योगरूपी भक्तियोग तुम्हें आद्यन्त कह सुनाया—(२८) जिस स्थिति की ऐसी महिमा है कि उस पर मैं प्रेम करता हूँ और उसे अन्तःकरण में या सिर पर धरता हूँ—(२९)

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

—सो यह रम्य कथा, धर्मानुकूल अमृतधारा, सुनकर जो उसका अनुभव लेते हैं, (२३०) और श्रद्धा के आदर से जिनमें यह योग्य विस्तार पाता है, अथवा जिनके हृदय में यह स्थिर हो रहता है, अथवा जो इसका अनुष्ठान करते हैं, (३१) अर्थात् हमने जैसा निरूपण किया उसी प्रकार जिनके मन की स्थिति रहती है, जैसे मानों उत्तम खेत में बोनी की गई हो, (३२) और जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ मानकर, मेरी भक्ति में प्रेम रखकर उसी को सर्वस्व मान उसको स्वीकार करते हैं (३३) वही हे पार्थ! इस संसार में भक्त हैं, वही योगी हैं और मुझे उन्हीं की उत्कण्ठा नित्य लगी रहती है। (३४) जिन पुरुषों को भक्ति-कथा से ही प्रेम है, वे तीर्थ हैं, वे क्षेत्र हैं और जगत् में वही पवित्र हैं। (३५) हम उनका ध्यान करते हैं। वही हमारा देवतार्चन है। उनके सिवा हम और कुछ अच्छा नहीं समझते। (३६) हमें उन्हीं का व्यसन है, वही हमारे द्रव्य निधान हैं; किंबहुना, वे मिलते हैं तब उनही से स ही हमें समाधान होता है। (३७) हे पाण्डुसुत! हमारे प्रेमियों की कथा का जो वर्णन करते हैं, उन्हें हम अपना परम देवता मानते हैं। (३८) सञ्जय कहते हैं कि इस प्रकार से भक्तों के आनन्द और जगत् के आदिकन्द श्री मुकुन्द बोले। (३९) हे राजा! जो निर्मल हैं, जो निष्कलङ्क हैं जो जगत् पर कृपा करनेहारे, शरणागतों पर प्रेम करनेहारे हैं, जो शरण जाने योग्य हैं, (२४०) देवों की सहायता करना जिनका स्वभाव है, विश्व का लालन करना

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

—जो निन्दा की परवा नहीं करता, और स्तुति से घमण्ड नहीं मानता, आकाश को जैसे लेप नहीं लगता (७) वैसे जो निन्दा और स्तुति को एक ही पंक्ति में लेकर प्राण-वृत्ति से संसार में और वन में सञ्चार करता है, (८) जो सत्य अथवा मिथ्या दोनों न बोलता हुआ मौनी हो गया है, जो उन्मनी अवस्था के भोग से नहीं अघाता, (९) वर्षा न हो तो जैसे समुद्र नहीं सूखता वैसे ही जो यथा-प्राप्त लाभ से सन्तुष्ट रहता तथा अप्राप्ति से रुष्ट नहीं होता, (२१०) और जैसे वायु एक स्थान में नहीं ठहरती वैसे ही जो कहीं आश्रय ले नहीं रहता, (११) वायु जैसे नित्य सब आकाश भर में बसती है वैसे ही जिसका सब जग ही विश्रान्ति-स्थान है (१२) जिसकी बुद्धि ऐसी निश्चित हो गई है कि विश्व ही मेरा घर है, बहुत क्या कहें जो आप ही चराचररूप हो गया है, (१३) और जिसपर भी हे पार्थ! जिसे मेरे भजन में आस्था है उसे मैं अपने माथे का मुकुट बनाता हूँ। (१४) उत्तम मनुष्य के सामने मस्तक झुकाना कौन आश्चर्य की बात है, परंतु ऐसे भक्त के चरणामृत का तीनों लोक सम्मान करते हैं। (१५) परन्तु जिस पर श्रद्धा रखनी चाहिए ऐसी वस्तु पर प्रेम करने की रीति तभी मालूम होगी जब श्रीशङ्कर श्रीगुरु हों। (१६) परन्तु यह बात रहने दो। शङ्कर की स्तुति करने से आत्मस्तुति होती है। (१७) इसलिए यह बात जाने दो। रमानाथ श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! ऐसे भक्त को मैं शिर पर धरता हूँ। (१८) क्योंकि वह मोक्षरूपी चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि हाथ में ले भक्ति के मार्ग में प्रवेश कर उसे जगत् को दे रहा है। (१९) वह मोक्ष का अधिकारी मोक्ष का व्यापार करता है, परन्तु जल के समान नम्रता रखता है। (२२०) इसलिए हम उसे नमस्कार करते हैं, उसे हम अपने माथे का मुकुट बनाते हैं, और उसका चरण अपने हृदय में रखते हैं। (२१) उसके गुणों के अलङ्कार अपनी वाणी को पहनाते हैं और उसकी कीर्ति हम अपने कानों में पहनते हैं। (२२) उसका दर्शन करने की ही इच्छा से अचक्षु होते हुए भी मैंने आँखों को स्वीकार किया है। मैं अपने हाथ के लीला-कमलों से उसकी पूजा करता हूँ। (२३) उसके शरीर को आलिङ्गन देने के लिए मैं

तेरहवाँ अध्याय

जिनका स्मरण करने से सब विद्याओं का आश्रयस्थान प्राप्त होता है, उन श्रीगुरु के चरणों को मैं वन्दन करता हूँ। (१) जिनके स्मरण से वाक्शक्ति प्राप्त होती है, सम्पूर्ण विद्याएँ जिह्वा पर आ बैठती हैं, (२) वक्तृत्व इतना मधुर हो जाता है कि उसके सामने अमृत भी फीका हो रहता है, रस अक्षरों के आश्रित हो रहते हैं (३) अभिप्राय मूर्तिमान हो अनुभव का संकेत प्रकट करते हैं, सम्पूर्ण आत्मज्ञान हाथ आ जाता है,—(४) जिन श्रीगुरु-चरणों के हृदय में आ जमने से इस प्रकार ज्ञान का भाग्योदय होता है, उन चरणों को मैं नमस्कार करता हूँ। फिर प्रद्युम्न के पिता, लक्ष्मी के पति श्रीकृष्ण ने कहा—(५ ६)

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

हे पार्थ! सुनो, यह देह क्षेत्र कहा है। जो इसे जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (७)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

यहाँ जिसे क्षेत्रज्ञ कहा है सो वास्तव में सब क्षेत्रों की रक्षा करनेहारे मुझ ही जानो। (८) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अच्छी तरह जानना ही हम ज्ञान समझते हैं। (९)

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

अब जिस भाव से हमने इस शरीर को क्षेत्र नाम दिया है उसका सम्पूर्ण वर्णन करते हैं। (१०) इसे क्षेत्र क्यों कहना चाहिए, यह कैसे उत्पन्न होता है, कौन कौन विकार इसकी वृद्धि करते हैं, (११) यह छोटा सा साढ़े तीन हाथ का ही है, अथवा कितना बड़ा है

जिनकी लीला है, शरणागतों की रक्षा करना जिनका खेल है, (४१) जो धर्म और कीर्ति से धवल हैं, अगाध दानशील होने के कारण जो उदार दिखाई देते हैं और अनुपम बल के कारण जो प्रबल दिखाई देते हैं, तथापि जो भक्ति और प्रेम से बँधे हुए हैं, (४२) जो भक्तजनों पर प्रेम करनेहारे, भक्तों को अनायास प्राप्त होनेहारे सत्य के तारक, सब कलाओं के आधार हैं, (४३) वे भक्तों के राजा, वैकुण्ठ के श्रीकृष्ण कह रहे हैं और भाग्यवान् अर्जुन सुन रहा है। (४४) संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि इसके उपरान्त और भी निरूपण करने की रीति सुनिए। (४५) वह सुरस कथा भाषापथ में आई जायगी। उसे सुनिए। (४६) ज्ञानदेव कहते हैं कि स्वामी निवृत्तिदेव ने यही सिखाया है कि हमें आप सरीखे सन्तों की शरण में जाकर आपकी सेवा करनी चाहिए। (२४७)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः ।

नौकर है। (२८) उसके पास इन्द्रियरूपी बैलों की जोड़ी है, और वह रात को रात या दिन को दिन न समझकर विषयरूपी खेत में खूब मेहनत करता है। (२९) वह जो कर्तव्यकर्मरूपी फल गर्वांकर अन्यायरूपी बीज बोवे और उसमें कुकर्मरूपी खाद डाले (३०) तो तदनुरूप ही अघटित पाप उत्पन्न होता है और जीव को कोटि जन्म तक दुःख भोगना पड़ता है (३१) अथवा जो वह शास्त्राज्ञा की रूप में सत्कर्मरूपी बीज बोवे, तो कोटि जन्मों तक सुख ही प्राप्त करता है। (३२) इस पर और दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। यह खेत जीव का न समझना चाहिए। इसका सब हाल हमसे पूछो। (३३) अजी, जीव यहाँ रास्ते से जानेवाला प्रवासी जैसा आ बसा है। प्राण पहरेवाला है इसलिए वह जागता रहता है। (३४) जिस अनादि प्रकृति का सांख्यशास्त्रवाले वर्णन करते हैं उसे उसकी खेतवृत्ति समझो। (३५) और इस प्रकृति के घर खेती का सब समुदाय उपस्थित है, इसलिए वह इस खेत को आप ही जोतती है। (३६) इसके पेट से उत्पन्न हुए जो *तीन गुण संसार में हैं वे इस खेती का व्यापार करने में मुख्य हैं।* (३७) रजोगुण बोनी करता है, सत्त्व रखवाली करता है और योग्य समय आते ही तम कटाई करता है (३८) और महत्तत्त्वरूपी खलिहान में रखकर कालरूपी बैल से गुहावनी करवाता और अव्यक्तरूपी ढेर लगा देता है। (३९) इस पर कोई बुद्धिमान् इन वचनों का तिरस्कार कर कहते हैं कि ये कल्पनाएँ अर्वाचीन हैं। (४०) अजी, परतत्त्व में प्रकृति की वार्ता ही कहाँ है? इस खेत का हाल चुपचाप हमसे सुन लो। (४१) अव्यक्तरूपी शय्यागृह में संकल्परूपी शय्या पर सदुत्तर घोर निद्रा में सो रहा था। (४२) वह अकस्मात् जाग पड़ा और सदा अत्यन्त उद्यमी होने के कारण उसने इच्छानुसार धन प्राप्त किया। (४३) पाञ्चभौ को त्रिभुवनरूपी बाड़ी उसके उद्यम से हरी भरी हो गई। (४४) उसने चहुँ ओर से महाभूतरूपी बाँध घेरकर भूतसमुदायरूपी चार भाग बना दिये। (४५) पश्चात् पञ्चमहाभूतों के अलग-अलग पाञ्चभौतिक मेड़ों की पंक्तियाँ बनाईं, (४६) और फिर उसके दोनों ओर कर्म और अकर्मरूपी पत्थरों का जोड़ बाँध दिया और ऊपर ऊसर, कङ्कड़ इत्यादि बना दिये। (४७) और यहाँ आने जाने के लिए इस सदुत्तर ने निराकार से यहाँ तक जन्ममृत्युरूपी सड़क सुन्दर सुगम तैयार की है। (४८) और यह सदुत्तर और

अथवा कितना भारी है, छोटा है, या उपजाऊ है, किसका है (१२) इत्यादि जो जो इसके भाव हैं, उन सबका विस्तार-सहित वर्णन करते हैं, सुनो। (१३) इसी वस्तु के विषय में श्रुति सदा प्रलाप करती है, और इसी के विषय में तर्कशास्त्र बाचाल हुआ है। (१४) इसी विषय का संवाद करते-करते सारे शास्त्रों की सीमा हो चुकी है, तथापि अभी तक द्वन्द्वों का मिलाप नहीं हुआ है। (१५) इसी एक के कारण शास्त्रों की एकवाक्यता टूटी है, इसी एक के कारण जगत् में वाद उपस्थित हैं। (१६) एक से दूसरे का मुँह नहीं मिलता, एक से दूसरे का वचन नहीं मिलता, तथा युक्ति भी बक-बक करते-करते हार गई है। (१७) यह न जाने किसका स्थान है परन्तु अहङ्कार का कैसा बल है कि घर-घर यही सिर पचाता है। (१८) यह देख कर कि नास्तिकों से मुकाबला करने के लिए वेदों का खूब विस्तार हुआ है, पाखण्डी अलग बक-बक करते हैं। (१९) वे कहते हैं कि तुमने निराधार झूठ शब्द-पाण्डित्य फैलाया है। यह बात झूठ हो तो हम शर्त लगाते हैं। (२०) पाखण्डियों में कोई दिगम्बर है, कोई सिर मुड़ाते हैं, परन्तु उनके किये हुए वितण्डवादों का पराभव हो जाता है। (२१) योगी इस उपपत्ति के साथ आगे आते हैं कि मृत्यु-पथ के आवेश से यह क्षेत्र निरर्थक नष्ट हो जाता है (इसलिए योग धारण कर मृत्यु से बचो)। (२२) वे मृत्यु से डरते हैं, एकान्त का सेवन करते हैं और यम-नियमों के अनुष्ठान करते हैं। (२३) इसी क्षेत्र के अभिमान के कारण शङ्कर ने राज्य का त्याग कर दिया और इसे उपाधि समझ कर श्मशान में निवास किया। (२४) ऐसी प्रतिज्ञा से युक्त हो शङ्कर ने दसों दिशाओं का आच्छादन किया और काम को, भुलानेवाला समझ, जला कर कोयला बना दिया। (२५) ब्रह्मदेव को भी इस वस्तु का निश्चय करने के लिए चार मुख उत्पन्न हुए, तथापि उन्हें भी सर्वथा इसका ज्ञान न हुआ। (२६)

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

कोई कहते हैं कि यह सम्पूर्ण स्थान जीव का ही क्षेत्र है और इसमें जो प्राण हैं वह उस जीव का कुलस्वामी है। (२७) उस प्राण के घर स्वयं मेहनत करनेवाले चार भाई और हैं, और मन उसका किसानी

नौकर है। (२८) उसके पास इन्द्रियरूपी बैलों की जोड़ी है, और वह रात को रात या दिन को दिन न समझकर विषयरूपी खेत में खूब मेहनत करता है। (२९) वह जो कर्तव्यकर्मरूपी ऋतु गवाँकर अन्यायरूपी बीज बोवे और उसमें कुकर्मरूपी खाद डाले (३०) तो तदनुरूप ही अपरिमित पाप उत्पन्न होता है और जीव को कोटि जन्म तक दुःख भोगना पड़ता है (३१) अथवा जो वह शास्त्राज्ञा की ऋतु में सत्कर्मरूपी बीज बोवे, तो कोटि जन्मों तक सुख ही प्राप्त करता है। (३२) इस पर और दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। यह क्षेत्र जीव का न समझना चाहिए। इसका सब हाल हमसे पूछो। (३३) अजी, जीव यहाँ रास्ते से जानेवाला प्रवासी जैसा आ बसा है। प्राण पहरेवाला है इसलिए वह जागता रहता है। (३४) जिस अनादि प्रकृति का सांख्यशास्त्रवाले वर्णन करते हैं उसे उसकी खेतवृत्ति समझो। (३५) और इस प्रकृति के घर खेती का सब समुदाय उपस्थित है, इसलिए वह इस क्षेत्र को आप ही जोतती है। (३६) इसके पेट से उत्पन्न हुए जो तीन गुण संसार में हैं वे इस खेती का व्यापार करने में मुख्य हैं। (३७) रजोगुण बोनी करता है, सत्त्व रखवाली करता है और योग्य समय आते ही तम कटाई करता है (३८) और महत्तत्त्वरूपी खलिहान में रखकर कालरूपी बैल से सुहावनी दँवाई और अव्यक्तरूपी ढेर लगा देता है। (३९) इस पर कोई बुद्धिमान् इन वचनों का तिरस्कार कर कहते हैं कि ये कल्पनाएँ अर्वाचीन हैं। (४०) अजी, परब्रह्म में प्रकृति की वार्ता ही कहाँ है? इस क्षेत्र का हाल पूरा हमसे सुन लो। (४१) अव्यक्तरूपी शय्यागृह में शून्यरूपी शय्या पर संकल्प घोर निद्रा में सो रहा था। (४२) वह अकस्मात् जाग पड़ा और सदा अत्यन्त उद्यमी होने के कारण उसने इच्छानुसार धन प्राप्त किया। (४३) उसकी जो त्रिभुवनरूपी बाड़ी उसके उद्यम से हरी भरी हो गई। (४४) उसने कहीं और से महाभूतरूपी बाँध कर चौखूटा भूतसमुदायरूपी चार भाग बना दिये। (४५) पंचम पंचमहाभूतों के अलग-अलग पांचभौतिक भेदों की क्यारियाँ बनाईं (४६) और फिर उनके दोनों ओर कर्म और अकर्मरूपी पत्थरों का मेड़ बाँध दिया और ऊसर मधुर अङ्कुर इत्यादि बना दिये। (४७) और वहाँ आने जाने के लिए इस संकल्प ने निराकार से यहाँ तक जन्ममृत्युरूपी एक सुन्दर मार्ग बना रखा है। (४८) और यह अहङ्कार और

बुद्धि का ऐक्य कर जन्म भर बुद्धि से चराचर का व्यवहार कराता है। (४९) इस प्रकार इस जगन्नर्मवृक्ष में सङ्कल्प की शाखायें बढ़ी हुई हैं। अतः यही इस प्रपञ्च की जड़ है। (५०) इन मतवादियों का और दूसरे पराभव करते हैं। वे कहते हैं, अजी आप कैसे विवेकी हैं! (५१) पाञ्च के यहाँ सङ्कल्परूपी शय्या मानी जाय तो उस सङ्कल्प को प्रकृति ही क्यों न मानना चाहिए? (५२) परन्तु रहने दो। यह बात ऐसी नहीं है तुम इसमें मत लगो। हम अभी सब बताये देते हैं। (५३) आकाश में मेघों को कौन भरने जाता है? अन्तरिक्ष और तारों को कौन थाँमे रखता है? (५४) आकाश का चँदोवा किसने और कब ताना था? वायु को घूमते रहने की कौन आज्ञा करता है? (५५) रोमों को कौन बोता है? समुद्र को कौन भरता है? वर्षा की धाराओं को कौन बनाता है? (५६) वैसे ही यह क्षेत्र भी स्वभावतः उत्पन्न हुआ है। यह किसी की वृत्ति नहीं। जो इसे भोगेगा उसे यह फलेगा दूसरों को नहीं। (५७) इस पर और दूसरे क्रोध से कहते हैं कि तो फिर केवल काल ही इसे क्यों भोगता है? (५८) इस काल का आघात हम अनिवार्य देखते हैं तथापि ये अभिमानी जन अपने ही मत का अभिमान करते हैं। (५९) इस मृत्यु को क्रोधी सिंह की गुफा ही समझो। परन्तु क्या किया जाय आपकी बकबक के सामने क्या कुछ पूरा पड़ सकता है? (६०) यह काल महाकल्प के परे भी झिपट कर पञ्चम सत्यलोक के उत्तम लोगों को भी धरा कर लेता है। (६१) स्वर्ग के अरण्य में जाकर वहाँ के नित्य नये लोकपालों और दिग्गजों के समुदायों का मारा करता है (६२) और अन्य जीवरूपी मृग इसकी आङ्गवायु लगते ही निर्जीव हो जन्म-मृत्यु के गर्त में पड़े हुए घूमते हैं। (६३) देखो इसने कितना बड़ा पञ्जा फैलाया और उसमें यह जगदाकाररूपी हाथी पकड़ा है। (६४) अवश्य अच्छा मत यही है कि इस क्षेत्र पर काल का अधिकार है। इस प्रकार हे पाण्डुसुत! इस क्षेत्र के विषय में अनेक वाद हैं। (६५) ऋषियों ने नैमिषारण्य में ऐसे बहुत वादविवाद किये हैं, और पुराणों में इसके विषय में अनेक अभिप्राय मिलते हैं (६६) जो गव से अनुष्टुप् इत्यादि छन्दों में और अनेक प्रबन्धों में—पोथियों में—अभी तक मिलते हैं। (६७) वेदों का जो बृहत् सामसूत्र है, जो ज्ञान दृष्टि से पवित्र है, उसे भी इस क्षेत्र का ज्ञान नहीं हुआ। (६८) और भी कई

दूरदर्शी महाकवियों ने इसके विषय में अपनी बुद्धियाँ खर्च की हैं (६९) परन्तु यह ऐसा है, इतना है अथवा अमुक किसी का है, यह बात निश्चय से किसी के भी हाथ नहीं लगी। (७०) अब इस पर यह क्षेत्र जैसा है उसका हम तुमसे साद्यन्त वर्णन करते हैं। (७१)

> महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
> इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
> इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
> एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पाँच महाभूत और अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, (७२) और ग्यारहवाँ एक मन, दस विषय, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, इच्छा (७३) चेतना और धृति इतने तत्त्व क्षेत्र व्यक्ति में रहते हैं यह सब हम तुमसे कह चुके। (७४) अब महाभूत कौन हैं, इन्द्रियाँ कैसी होती हैं सो अलग अलग कहते हैं। (७५) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत हैं। (७६) जागृति की दशा में जैसे स्वप्न छिपा हुआ रहता है, अथवा अमावास्या में जैसे चन्द्र गुप्त रहता है, (७७) अथवा छोटे बालक में जैसे तारुण्य लीन रहता है, अथवा बिन फूली कली में जैसे सुगन्ध गुप्त रहती है (७८) बहुत क्या कहें, हे किरीटी! काष्ठ में जैसे अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही जो प्रकृति रूप में गुप्त था (७९) और—जैसे धातुगत ज्वर कुपथ्य का मिस ही देखता है और कुपथ्य होते ही सम्पूर्ण फैल जाता है (८०) वैसे ही—पाँचों भूतों का मेल होते ही ज्योंही देहाकृति प्रकट होती है त्योंही जो उसे चहुँ ओर नचाने लगता है उसे अहङ्कार कहते हैं। (८१) अहङ्कार की यह बात अनोखी है कि यह अज्ञानियों के पीछे नहीं लगता परन्तु ज्ञानियों का गला ही पकड़ता है और उन्हें अनेक संकटों में डालता है। (८२) फिर यदुराय ने कहा कि सुनो, जिसे बुद्धि कहते हैं उसे इन लक्षणों से जानना चाहिए। (८३) काम के वश से और इन्द्रिय वृत्ति के समागम से विषयों का समुदाय इकट्ठा होता है, (८४) और उससे जब जीव को सुख-दुःख की प्राप्ति का अनुभव होता है तब इन दोनों को जो परख कर तुलना करती है (८५) यह सुख है, यह दुःख है, यह पुण्य है, यह पाप है, यह मलिन है, यह निर्मल है, इस

प्रकार जो निर्णय करती है; (८६) जो भला-बुरा जानती है, छोटा-बड़ा समझती है, जिस दृष्टि से जीव विषयों को पहचानता है, (८७) जो ज्ञानेन्द्रियों का मूल है जो सत्त्वगुण की वृद्धि है, जो आत्मा और जीव दोनों को जोड़ती है, (८८) सो सच हे अर्जुन! तुम बुद्धि जानो। अब अव्यक्त का लक्षण सुनो। (८९) हे महामति! सांख्यवादियों के सिद्धान्त में जिसे प्रकृति कहते हैं उसी को सम्प्रति यहाँ अव्यक्त कहा गया है। (९०) तथा सांख्य-योग-मत के अनुसार हमने तुम्हें जो प्रकृति का वर्णन सुनाया था और उसमें जो दो प्रकार की प्रकृति बताई थी (९१) उनमें से दूसरी जो जीवदशा कही थी, उसी को हे वीरेश! यहाँ पर्याय से अव्यक्त नाम दिया है। (९२) रात्रि के उपरान्त प्रातःकाल होते ही जैसे आकाश में तारों का लोप हो जाता है, अथवा सूर्यास्त के पश्चात् जैसे प्राणिमात्र के व्यवहार बन्द हो जाते हैं, (९३) अथवा हे किरीटी! देह छोड़ने पर जैसे देहादि उपाधि कृत-कर्मों के पेट में लीन हो जाती है (९४) अथवा बीज के आकार में जैसे सम्पूर्ण वृक्ष छिपा हुआ रहता है, या वस्त्राकार जैसा तन्तु-दशा में लीन रहता है, (९५) वैसे ही स्थूल धर्म छोड़कर महाभूत और प्राणि-समुदाय सूक्ष्मरूप होकर जहाँ लीन हो जाते हैं (९६) उसका नाम हे अर्जुन! अव्यक्त है। अब सम्पूर्ण इन्द्रियों के भेद सुनो। (९७) कान, आँख, त्वचा, नासिका, जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। (९८) इन तत्त्वों के समुदाय में बुद्धि इन पाँचों के द्वारा सुख-दुःख का विचार करती है। (९९) फिर वाचा, हाथ, चरण, उपस्थ और गुदस्थान ये और पाँच प्रकार हैं। (१००) श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं वे यही हैं। (१) प्राण की स्त्री जो शरीर में क्रियाशक्ति है सो इन पाँच द्वारों से आवागमन किया करती है। (२) देव ने कहा कि इस प्रकार हमने दसों इन्द्रियों का वर्णन किया। अब सुनो मन निश्चय से इस तरह का है। (३) वह इन्द्रियों और बुद्धि के बीच की सन्धि में रजोगुण की शाखाओं पर खेलता रहता है। (४) आकाश में जैसी नीलिमा अथवा जैसी मृगजल की लहरें, वैसे ही वह वृथा वायुरूप हो चमकता है, (५) और शुक्र और शोणित मिलकर पञ्चतत्त्व का आकार बनते ही वह एक ही वायुतत्त्व दशधा हो जाता है। (६) वे दसों भाग देह-धर्म के बल से अपने अपने शरीर-भागों में बसते हैं। (७) उसमें केवल एक निरी चञ्चलता रहती है इसलिए वह

रजोगुण का बल रहता है। (८) यह बुद्धि के बाहर और अहङ्कार से मिला हुआ, बीच में बलवान् हुआ रहता है। (९) उसको 'मन' कहना व्यर्थ है, यह मूर्तिमती कल्पना ही है जिसके सङ्ग से परब्रह्म जीवदशा में दिखाई देता है। (११०) जो प्रकृति का मूल है काम को जिसका बल है, जो निरन्तर अहङ्कार से स्पर्धा करता है, (११) जो इच्छा को बढ़ाता है, आशा को चढ़ाता है, और डर की तरफ़दारी करता है, (१२) जिसके कारण द्वैत उत्पन्न होता है जिससे अविद्या बलवती होती है, जो इन्द्रियों को विषयों में डालती है, (१३) जो संकल्प के द्वारा सृष्टि की रचना करता है, और सहज ही विकल्प के द्वारा उसका नाश कर देता है, जो मनोरथों के मटके एक पर एक गिराता और उतारता है (१४) जो भूल का भाण्डार है वायुतत्त्व का सार है और बुद्धि का द्वार बन्द कर देता है, (१५) वह हे किरीटी! मन है। यह बात मिथ्या नहीं है। अब जिसे विषय कहते हैं, उसके भेद सुनो। (१६) स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच प्रकार के ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। (१७) इन पाँच द्वारों से ज्ञान बाहर दौड़ता है, जैसे कि कोई पशु हरा चारा देख अधीरता से बाहर दौड़ जाय। (१८) फिर स्वर व्यञ्जन विसर्ग का उच्चारण, वस्तु का ग्रहण करना, या छोड़ना, चलना और मल-मूत्र का त्याग करना, (१९) ये पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं जिनका रास्ता बनाकर क्रिया बाहर दौड़ती है। (१२०) ऐसे दस विषय इस देह में हैं। अब इच्छा का भी निरूपण करते हैं। (२१) जिस वृत्ति से पिछली बात का स्मरण होता है, अथवा कान में शब्द पड़ते ही जिससे चाहना होती है (२२) जो इन्द्रियों की और विषयों की भेंट होते ही काम का हाथ पकड़कर उठती है (२३) जिसके उठते ही मन इधर-उधर दौड़ता है और इन्द्रियाँ जहाँ न चाहिए वहाँ मुँह डालती हैं, (२४) जिस वृत्ति के प्रेम से बुद्धि पागल हो जाती है जिसमें विषयों को अत्यन्त प्रेम है, यह इच्छा है। (२५) इच्छा करते ही इन्द्रियों को विषयभोग न मिलने की जो चाहना है वही द्वेष है। (२६) अब इसके उपरान्त सुख इस तरह का सुनो। जिस एक की प्राप्ति से जीव सम्पूर्ण बातें भूल जाता है, (२७) जो मन, वाचा, और काया को अपनी शपथ दे देहस्मरण का टाँच लिया देता है, (२८) जिसकी उत्पत्ति होते ही प्राण पंगु हो जाता है, और सात्त्विक भावों को दुगुने से अधिक लाभ होता है, (२९) अथवा

जो सब इन्द्रिय वृत्तियों को हृदय के एकान्तस्थान में थपकी देकर सुला देता है, (१३०) किंबहुना जीव को आत्मस्वरूप का लाभ होने के समय जो उत्पन्न होता है, उसे सुख कहते हैं। (३१) और हे पार्थ ऐसी अवस्था का लाभ न होते हुए जो जीता रहता है उसे सर्वथा दुःख जानो। (३२) सुख, वासना के सङ्ग के कारण नहीं होता; वासना-सङ्ग न हो तो वह बना ही हुआ है। इस प्रकार सुख और दुःख के यही दो कारण हैं। (३३) अब हे पाण्डुसुत! असङ्ग और साक्षिभूत चैतन्य की जो इस देह में सत्ता है उसे चेतना कहते हैं। (३४) जो नख से सिर के बालों तक शरीर में खड़ी जागती है, जो तीनों अवस्थाओं में नहीं बदलता, एक रूप रहती है, (३५) जिससे मन, बुद्धि, इत्यादि हरे-भरे रहते हैं, जो सदा प्रकृतिरूपी वन की वसन्त है, (३६) जो स्थावर और जङ्गम के अंशों में समान ही सञ्चार करती है वह चेतना है। यह मिथ्या मत मानो। (३७) अब जैसे राजा अथवा उसका परिवार कुछ नहीं करता परन्तु उसकी आज्ञा ही शत्रु को जीतती है, अथवा जैसे चन्द्र की पूर्णता से ही समुद्र में बाढ़ आती है, (३८) अथवा जैसे चुम्बक की समीपता ही लोहे को सचेत करती है, अथवा जैसे सूर्य्य के सङ्ग से ही लोग व्यवहार करते हैं (३९) अथवा, जैसे स्तनों का मुख से स्पर्श कराए बिना ही—कूर्मी (कछुई) के निरीक्षण से ही—उसके बच्चों का पोषण होता है, (१४०) वैसे ही इस शरीर में जो आत्मा की सङ्गति जड़ को सजीवता का लाभ करा देती है, (४१) उसी को हे अर्जुन! चेतना कहते हैं। अब धृति के भेद का विचार सुनो। (४२) तत्त्वों में क्या परस्पर जाति-स्वभाव-जन्य वैर प्रकट नहीं है? जल क्या पृथ्वी का नाश नहीं करता? (४३) इसी प्रकार जल को अग्नि सुखाती है, अग्नि से वायु झगड़ती है और आकाश सहज में वायु को खा जाता है, (४४) और स्वयं कभी किसी से भी न मिलकर सर्वत्र भरा हुआ अलग रहता है। (४५) ऐसे ये पाँचों महाभूत एक-दूसरे को नहीं सहते परन्तु तो भी शरीर में एक हो जाते हैं, (४६) और वैर व विरोध छोड़कर एक जगह बसते हैं और निज के गुण से एक-दूसरे का पोषण करते हैं। (४७) इस प्रकार जिनका मेल नहीं है उनका मिलाप कर देना जिस धैर्य के कारण होता है उसे मैं धृति कहता हूँ। (४८) और हे पाण्डव! जीव के सङ्ग इन छत्तीस तत्त्वों का मेल ही संघात

जानो। (४९) इस प्रकार ये छत्तीसों भेद हमने स्पष्ट कर बताये। इन सबको मिला कर जो बनता है उसे क्षेत्र कहते हैं। (१५०) हे पाण्डव! रथाङ्गों के समुदाय को जैसे रथ कहते हैं, अथवा नीचे ऊपर के अवयवों के समुदाय का नाम जैसे देह है, (५१) अथवा चतुरङ्ग के समूह को सेना नाम दिया जाता है, अथवा अक्षरों के पुञ्जों को जैसे वाक्य कहते हैं, (५२) अथवा जलधरों का समुदाय जैसे अभ्र कहाता है, या सब लोगों का नाम जैसे जगत् है (५३) अथवा तैल, सूत, और अग्नि का एक स्थान में मेल किया जाय तो संसार में दीपक बन जाता है (५४) वैसे ही ये छत्तीसों तत्त्व जब एक में मिलते हैं, तब इन सबके समुदाय को क्षेत्र कहते हैं (५५) और इस भौतिक देह के व्यापार से इसमें पाप और पुण्य पकता है इसलिए भी हम इसे कुतूहल से क्षेत्र कहते हैं। (५६) किसी के मत में इसे देह भी कहते हैं। परन्तु अस्तु, इसके नाम अनेक हैं। (५७) परतत्त्व के इस ओर, स्थावर पर्यन्त, जो कुछ होता जाता है वह क्षेत्र ही है। (५८) देव, मनुष्य सर्प इत्यादि योनि-विभाग इसी के गुण और कर्म के संग के कारण होते हैं। (५९) हे अर्जुन! इन गुणों का विचार आगे कहा जायगा। सम्प्रति हम ज्ञान का वर्णन करते हैं। (१६०) क्षेत्र का वर्णन हम विस्तार से उसके विकारों-सहित कर चुके। अतएव अब उत्तम ज्ञान सुनो। (६१) जिस ज्ञान के लिए योगी स्वर्ग का आड़ा टेढ़ा रास्ता बाँधकर आकाश को लील लेते हैं, (६२) ऋद्धि की मर्यादा नहीं रखते सिद्धि की इच्छा नहीं करते योग के समान कठिन मार्ग को भी तुच्छ समझते हैं (६३) तपरूपी किलों का उल्लङ्घन कर जाते हैं, कोटि यज्ञों की निछावर कर डालते हैं और कर्मरूपी बेल को उखाड़ फेंकते हैं (६४) तथा कोई अनेक भजनमार्गों में से नङ्गे देह दौड़ते हुए सुषुम्ना की सुरङ्ग में घुस जाते हैं, (६५) इस प्रकार जिस ज्ञान की उत्कट इच्छा रख मुनीश्वर वेद-वृक्ष के पत्तों पत्तों में घूम रहे हैं, (६६) और इस बुद्धि से कि गुरु-सेवा से वह प्राप्त होगा—सैकड़ों जन्मों की निछावर कर डालते हैं, (६७) जिस ज्ञान का प्रवेश होते ही अविद्या भगी जाती है और जीव और आत्मा का मिलाप हो जाता है, (६८) जो इन्द्रियों के द्वार बन्द करता है और प्रवृत्ति के पाँव तोड़ डालता है, और मन की दीनता मिटा डालता है, (६९) जिस ज्ञान से ऐसा लाभ होता है कि द्वैत का अकाल पड़ जाता है तथा अद्वैत

का प्रकाश हो जाता है, (७०) जो मद का निशान मिटा देता है, महादेव को मस लेता है, और अपना और परायारूपी भेद का नाम नहीं रहने देता, (७१) जो संसार का उन्मूलन करता है, संकल्प-रूपी कीचड़ धो डालता है और सर्वव्यापक परब्रह्म की भेंट करा देता है, (७२) जिसके उत्पन्न होते ही माया पंगु हो जाती है और जिसके कौशल्य से जगत् का व्यापार चलता है (७३) जिसके प्रकाश से बुद्धि की आँखें खुलती हैं, और जीव आनन्द की सेज पर लोट-पोट करता है, (७४) ऐसा जो ज्ञान है, जो पवित्रता का एक ही आश्रय है, जिससे अपवित्र मन शुद्ध हो जाता है, (७५) आत्मा—जिसे जीवबुद्धिरूपी क्षय रोग लगा है—जिस ज्ञान की समीपता से निरोगी हो जाता है, (७६) उस ज्ञान का वर्णन करना अशक्य है। परन्तु हम उसका वर्णन करते हैं सो सुनकर ही उस ज्ञान को बुद्धि में लाना चाहिए अन्यथा वह ऐसी वस्तु नहीं है कि आँखों से दिखाई दे। (७७) परन्तु यही ज्ञान जब इस शरीर में अपना प्रभाव प्रकट करता है तब इन्द्रियों के व्यापारों में वह आँखों से भी दिखाई देता है। (७८) वृक्षों के हरे भरे होने से जैसे वसन्त का आगमन जाना जाता है वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार से ज्ञान का बोध हो सकता है। (७६) अजी वृक्षों की जड़ को भूमि के भीतर जो जल मिलता है वह जैसा बाहर शाखाओं के विस्तार से प्रकट होता है, (८०) अथवा जैसे भूमि की मृदुता अंकुर की कोमलता से प्रकट होती है, अथवा जैसे उत्तम कुल में जन्मे हुए मनुष्य की श्रेष्ठता उसके आचार से जानी जाती है, (८१) अथवा आदरातिथ्य की तैयारी से जैसे स्नेह व्यक्त होता है, अथवा दर्शन के समाधान से जैसे पुण्य-पुरुष पहचाना जाता है (८२) अथवा सुगन्ध से जैसे केले के वृक्ष में कपूर की उत्पत्ति जानी जाती है, अथवा काँच में रक्खे हुए दीपक से जैसे प्रकाश बाहर प्रकट होता है (८३) वैसे ही शरीर में जो आन्तरिक ज्ञान के लक्षण दिखाई देते हैं उनका अब हम वर्णन करते हैं, सो ध्यान देकर सुनो। (८४)

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

जिसे किसी विषय से एक रूप होना नहीं भाता, जिसे बहुमान

का बोझा मालूम होता है (८५) जिन गुणों से वह संपन्न है उसकी प्रशंसा करने से, सन्मान करने से या योग्यता का वर्णन करने से (८६) जो ऐसे अकुलाने लगता है कि जैसे व्याध के जाल में फँसा हुआ हिरन तड़फड़ाता है, अथवा जैसे कोई भँवरों में से हाथों से तैरते-तैरते थककर घबड़ाता है, (८७) हे पार्थ! इस प्रकार सम्मान से जिसे संकट उत्पन्न होता है, जो बड़प्पन को अपनी ओर आने भी नहीं देता (८८) जिसकी यह इच्छा रहती है कि लोगों को मेरी पूज्यता न दिखाई दे मेरी कीर्ति उनके कानों तक न पहुँचे तथा उन्हें यह स्मरण भी न हो कि मैं अमुक हूँ। (८९) उस पुरुष में सत्कार की बात ही कहाँ रह सकती है? वहाँ आदर का कौन अङ्गीकार करता है? नमस्कार करते ही उसे मृत्यु सी आने लगती है। (९०) उसे बृहस्पति के समान सर्वज्ञता प्राप्त रहती है, परन्तु महिमा के डर से वह पागल बनता है, (९१) चातुर्य को छिपाता है, श्रेष्ठता का लोप कर देता है, और प्रेम से पागलपन का ही व्यवहार करता है। (९२) वह लौकिकता से अकुलाता है, शास्त्रों की उपेक्षा करता है, और प्रायः चुपचाप ही बैठा रहता है। (९३) उसके जी में यह इच्छा रहती कि जगत् मेरा अपमान करे तथा हितैषी लोग मेरी परवा न करें। (९४) वह प्रायः ऐसे ही कर्म करता है जिससे लघुता प्रकट हो और दीनतारूपी भूषण ही दिखाई दे। (९५) उसकी यह इच्छा रहती है कि मेरा जीवन ऐसा हो जिससे लोगों को सन्देह हो कि यह जीता है या मरा है, (९६) तथा मेरी ऐसी दशा रहे कि लोगों को भ्रम हो कि यह चल रहा है या नहीं अथवा हवा में उड़ रहा है (९७) तथा मेरे अस्तित्व का लोप हो जाय नाम-रूप का क्षय हो जाय और किसी भी प्राणी को मुझसे डर न उत्पन्न हो। (९८) जिसकी भावनाएँ इस प्रकार रहती हैं, जो नित्य एकान्त में जाता रहता है जो वास्तविक एकान्त के लिए ही जीवित रहता है (९९) जो वायु से ही मेल रखता है, आकाश से संवाद करना चाहता है, तथा वृक्ष जिसे जीव और प्राणों से प्यार हैं (१००) बहुत कहाँ तक कहें, जिस पुरुष में ऐसे ऐसे चिह्न देखो उसे ही समझो कि वह ज्ञान की शय्या पर सो रहा है। (१) मनुष्यों में अमानित्व उक्त लक्षणों से जानना चाहिए। अब हम अदम्भित्व की पहचान का रहस्य बताते हैं। (२) अदम्भित्व ऐसा है जैसे कि

लोभी का मन—भी चला जाय परन्तु लोभी रक्खा हुआ धन कभी नहीं प्रकट करता,—(३) उसी प्रकार हे किरीटी! जो प्राणों पर संकट पड़ने पर भी अपना किया हुआ उत्तम कर्म अपने मुँह से कभी नहीं प्रकट करता (४) हे अर्जुन! जैसे अतिपरक गाय पन्हाने को छिपा लेती है, अथवा जैसे वेश्या अपनी आयु छिपाती है, (५) जङ्गल में पड़ जाने पर जैसे धनवान अपनी धनाढ्यता छिपाता है, अथवा कुलवती स्त्री जैसे अपने अवयव छिपाती है, (६) अथवा किसान जैसे अपना बोया हुआ बीज छिपाता है, वैसे ही जो मनुष्य अपने किये हुए दान और पुण्य को छिपाता है, (७) जो शरीर को बाहर से ही सुशोभित नहीं करता, लोगों की खुशामद नहीं करता, और अपने धर्म को अपनी वाचालरूपी ध्वजा पर बाँधना नहीं जानता, (८) अपना किया हुआ परोपकार कहकर नहीं बताता, अपने किये हुए अभ्यास का प्रदर्शन नहीं करता, और कीर्ति के लिए अपने सम्पादित पुण्य का विक्रय नहीं कर सकता, (९) जो शरीर के उपभोगों के विषय में कृपण दिखाई देता है, परन्तु धर्म के विषय में कम ज्यादह की परवाह नहीं करता (२१०) घर में दरिद्रता दिखाई दे, शरीर दुर्बल दीख पड़े परन्तु दान के विषय में जो कल्पवृक्ष से भी होड़ बाँधता है (११) किंबहुना जो स्वधर्म में श्रेष्ठ है, प्रसङ्गानुसार उदार है आत्मविद्या की चर्चा में निपुण है अन्यथा पागल दिखाई देता है, (१२) केले के वृक्ष का आकार कुछ पोला-सा दिखाई देता है परन्तु उसका फल जैसे गाढ़ा और रस से भरा हुआ होता है, (१३) अथवा मेघों का शरीर जैसे हल्का हलका दिखाई देता है कि वायु से भी उड़ जाय परन्तु वे कैसे मूसलधार बरसते हैं, (१४) वैसे ही पूर्णता की दृष्टि से देखिए तो जिसे देखकर इच्छा तृप्त हो जाती है, अन्यथा जिसमें वाणी भी कुण्ठित हो जाती है (१५) अस्तु बहुत क्या कहें, जिसमें उपयुक्त लक्षणों का उत्कर्ष दिखाई दे उसके हाथ ज्ञान लगा समझो। (१६) अदम्भित्व जिसे कहते हैं सो यही है। अब अहिंसा के चिह्न सुनो। (१७) अहिंसा का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है और मतामिमानियों ने उसका निरूपण अलग-अलग किया है। (१८) परन्तु वह वर्णन ऐसा किया है जैसे कि वृक्ष की शाखायें काटकर उसके तने के चारों ओर उनकी बागुर बनाई जाय (१९) अथवा जैसे बाहु तोड़कर पकाये जायें और उनसे भूख की पीड़ा शान्त की जाय,

अथवा किसी देवता का मन्दिर तोड़कर बाड़ी बनाई जाय, (२२०) क्योंकि धर्मशास्त्र का निर्णय ऐसा है कि हिंसा से ही अहिंसा उत्पन्न होती है। (२१) क्योंकि उसमें कहा है कि अनावृष्टि के उपद्रव से सम्पूर्ण विश्व पीड़ित होता है इसलिए अनेक पर्जन्येष्टि यज्ञ करने चाहिएँ (२२) परन्तु इन यज्ञों के मूल में स्पष्ट पशुहिंसा ही रहती है। तो फिर उससे अहिंसा का तट कैसे दिखाई दे सकता है? (२३) केवल हिंसा बोइए तो क्या अहिंसा उपजेगी? परन्तु इन याज्ञिकों का धैर्य बड़ा अनोखा है; (२४) तथा हे पाण्डव! सम्पूर्ण आयुर्वेद में यही मार्ग बताया है कि जीवरक्षा के हेतु जीव का ही घात करना चाहिए। (२५) कोई वैद्य प्राणियों को अनेक रोगों से व्याकुल हुए देखते हैं तो उनकी हिंसा निवारण करने के लिए चिकित्सा करते हैं। (२६) परन्तु चिकित्सा के पूर्व वे किसी के कन्द खुदवाते हैं और किसी को जड़ पत्ते-सहितों उखड़वाते हैं। (२७) कोई किसी को बीच में से तुड़वाते हैं कोई किसी वृक्ष की छाल निकालते हैं और कोई उसमें जीवों को पुटों के बीच पकाते हैं (२८) कोई अजात शत्रु वृक्षों की सब शरीर की नसें निकलवाते हैं। इस प्रकार उनका जीव निकालकर उन्हें सुखा डालते हैं (२९) तथा अनुपम पशुओं पर भी हाथ चला कर उनका पित्त निकालते हैं, और उनके द्वारा अन्य जीवों को पीड़ा से बचाते हैं। (२३०) अभी बस्ती के घर तोड़ कर मन्दिर बनाना अथवा व्यापार बन्द कर अन्नछत्र खोल देना, (३१) मस्तक का आच्छादन कर अधोभाग खुला छोड़ देना, घर तोड़ कर सामने मण्डप बनाना (३२) अथवा कपड़े जला कर तापने बैठना अथवा हाथी को नहाना, (३३) अथवा बैल बेच कर कोठा बनाना या तोते को बेचकर पिंजरा बनाना इत्यादि ये कोई काम हैं या दिल्लगी? इन पर क्या हँसें? (३४) कोई कोई धर्म-सम्प्रदाय के अनुसार पानी छान कर पीते हैं तो उसमें छानने के कारण कई जीवों की मृत्यु हो जाती है। (३५) कोई हिंसा के डर से बिना पकाये ही धान्य के कण खाते हैं तो प्राणों को पीड़ा होती है। यह भी हिंसा ही है; (३६) एवं हे प्रसन्न मन के अर्जुन! यह समझ लो कि कर्मकाण्ड का सिद्धान्त ऐसा है कि हिंसा ही अहिंसा है। (३७) पहले ज्योंही हमने अहिंसा का नाम लिया त्योंही हमारी बुद्धि की यह इच्छा हुई कि इन मतों का वर्णन करें, (३८) यह बताने के लिए कि ऐसी अहिंसा

का त्याग किस प्रकार किया जा सकता है, हमें इन मतों का वर्णन करना पड़ा। हमारा यह भी एक भाव था कि तुम्हें भी इन मतों का ज्ञान हो। (३६) हे किरीटी! प्राय इसी कारण हमने ये मत प्रकट किये, नहीं तो क्या कोई आड़े-टेढ़े मार्ग से दौड़ता है? (४०) और हे धनुर्धर! अपना मत स्थापन करने के लिए भी अन्य उपस्थित मतों का विचार किया जाता है। (४१) यह निरूपण की रीति ही है। अब इस पर जो मुख्य (४२) हमारा अपना मत है सो हम कहते हैं, और उस अहिंसा का वर्णन करते हैं जिसके दिखाई देने से आन्तरिक ज्ञान पहचाना जाता है। (४३) अहिंसा का शरीर में व्याप्त हो जाना मनुष्य के आचरण के द्वारा जाना जाता है। जैसे कसौटी से सोने की कान्ति व्यक्त होती है (४४) वैसे ही ज्ञान की और मन की भेंट होते ही अहिंसा का रूप प्रकट होता है। हे किरीटी! वह अहिंसा ऐसा है, सुनो। (४५) तरंगों को न नाँघते हुए, लहरों को पाँवों से न तोड़ते हुए पानी की स्थिरता न मिटाते हुए (४६) आमिष पर दृष्टि रख कर जैसे बगला जल में झपट कर परन्तु धीरे से पाँव रखता है, (४७) अथवा भ्रमर जैसे केसर के टूटने के डर से, कमल पर धीरे से पाँव रखता है, (४८) वैसे ही परमाणुओं में छोटे-छोटे जीव भरे हुए जान जो पुरुष उन पर से अपने पाँव करुणा से आच्छादित कर चलता है (४९) जो जिस मार्ग से चलता है उसे कृपा से भर देता है, जिस दिशा की ओर देखता है उसे प्रेमभरित कर देता है, और जो अन्य जीवों के तले अपना जी बिछा देता है, (५०) इस प्रकार हे अर्जुन! जिसके संभल से चलने का वर्णन अथवा परिभाषा नहीं हो सकती (५१) बिल्ली प्रेम से बच्चों को मुँह में पकड़ती है तो जैसे उन्हें उसके दाँतों की अणियाँ नहीं लगतीं अथवा प्रेमी माता बालक की बाट जोहती है तो उसकी दृष्टि में जैसी कोमलता होती है, (५२-५३) अथवा कमल-दल को धीरे-धीरे हिला कर की हुई वायु जिस प्रकार नेत्रों को मृदु लगती है (५४) वैसी मृदुता से जो भूमि पर पाँव रख चलता है उसके पाँव लगते ही जीवों को सुख होता है। (५५) इस प्रकार हे पाण्डुसुत! वह अहिंसा चलते हुए यदि कृमि कीटक देख ले तो वह सोच कर धीरे से पलट जाता है, (५६) कि पाँव जोर से पड़ा गया तो स्वामी की नींद में भंग होगा और स्वस्थता को धक्का पहुँचेगा। (५७) इस प्रकार प्रेम से अकचका कर वह पीछे पलट जाता है। वह किसी

भी व्यक्ति पर पाँव रख कर नहीं चलता। (४८) जीव जान कर तृण को भी नहीं लाँघता तो फिर किसी जीव की अवगणना करके जाने की बात ही क्या है? (४९) चिउँटी जैसे मेरु को नहीं लाँघ सकती, मशक जैसे समुद्र के पार नहीं जा सकता वैसे ही रास्ते में मिले हुए जीव का अतिक्रमण उससे नहीं हो सकता। (२६०) इस प्रकार जिसकी चाल में कृपारूपी फूल और फल आते हैं और जिसके वाचिक कर्म देखो तो ऐसा मालूम होता है मानों वाणी से दया जीवन धारण करती है, (६१) जिसका श्वास लेना ही सुकुमार है, जिसका मुख प्रेम का नैहर—यानी अटूट भण्डार—है और दाँत क्या हैं मानों माधुर्य के अंकुर फूटे हैं, (६२) वाणी के आगे-आगे प्रेम पसीजता है और अक्षर उसके पीछे पीछे चलते हैं, शब्द पीछे प्रकट होते हैं परन्तु कृपा पहले (६३) यह समझ कर कि यदि कुछ बोलूँ तो कदाचित् मेरे वचन किसी को लग न जायँ, जो एक तो बोलता ही नहीं (६४) और यदि बोलते हुए कोई अधिक शब्द निकल जाय तो जिसके मन में यह भाव रहता है कि किसी का मर्म-भेद न हो और किसी के मन में सन्देह न उत्पन्न हो (६५) या प्रचलित बात न घट जाय अथवा सुन कर कोई डर न जाय अथवा उचट कर गिर न पड़े (६६) एवं किसी को क्लेश न हो, तथा कोई आँख उठाकर न देखे (६७) और यदि कदाचित् किसी की प्रार्थना से बोलने को उद्यत हो तो जो श्रोताओं को माता पिता के समान प्रेमी जान पड़ता है (६८) मानों शब्द-ब्रह्म ही मूर्तिमान् हो आया हो अथवा गङ्गा का जल ही उछल रहा हुआ दिखाई देता हो, अथवा जैसे पतिव्रता को वृद्धावस्था प्राप्त हुई हो। (६९) जिसके शब्द सत्य और मृदु, परिमित और सरस होते हैं मानों अमृत की लहरें हों। (२७०) विरुद्ध बात का कहना, प्राणी को व्याकुल करना, उपहास करना, छल करना मर्मस्पर्श करना, (७१) प्रतिज्ञा, आवेश, कपट आशा, शङ्का और प्रतारणा आदि दुर्गुणों का जिसकी वाणी में आभास भी नहीं रहता (७२) और इस प्रकार हे किरीटी! जिसकी दृष्टि भी स्थिर रहती है (७३) मानों भूतमात्र में जो परब्रह्म भरा है उसमें कदाचित् दृष्टि चुभ जाय इसलिए जो प्रायः किसी ओर देखता ही नहीं (७४) और यदि किसी समय आन्तरिक कृपा से आँखें खोल कर देखे (७५) तो जैसे चन्द्रबिम्ब से निकलती हुई धारायें गोचर नहीं होतीं, परन्तु चकोरें

को यकदम आनन्द की लौटें निकल पड़ती हैं (७६) वैसा ही प्राणियों का हाल होता है, जो किसी ओर भी देखे परन्तु ऐसे प्रेम के साथ कि वैसा अवलोकनप्रेम कूर्मी भी नहीं जानती (७७) बहुत क्या कहें, भूतमात्र की ओर जिसकी दृष्टि एक प्रकार की है, तथा जिसके कर भी वैसे ही स्थिर दिखाई देते हैं (७८) कृतकृत्य हो जाने के कारण जैसे सिद्ध पुरुषों के मनोरथ व्यापार-रहित हो जाते हैं, वैसे ही जिसके हाथ क्रिया रहित, (७९) कर्म करने के लिए असमर्थ और कर्म का त्याग किये हुए रहते हैं, जैसे ईंधन-रहित और बुझी हुई अग्नि हो अथवा गूँगे ने मौन धारण किया हो (१८०) वैसे ही जिसके हाथों की कुछ कर्तव्यता नहीं रहती और वे अकर्ता हो परब्रह्म के पद पर आ बैठते हैं (८१) वायु को धक्का पहुँचेगा आकाश को नख लग जावेगा इस बुद्धि से जो हाथों को हिलने ही नहीं देता (८२) तो फिर शरीर पर बैठी हुई मक्खियाँ उड़ाना, अथवा आँखों में घुसते हुए कीड़े उड़ाना अथवा पशु पक्षियों को डर की मुद्रा दिखाना (८३) इत्यादि बातें कहाँ रहीं? जिसे डण्डा अथवा लकड़ी भी नहीं भाती तो फिर हे किरीटी! शस्त्रों का कहना ही क्या है? (८४) जो यह समझ कर लीला-कमल से नहीं खेलता अथवा पुष्पमाला नहीं फेंकता, कि वह गोफिया (गुफना) सा दिखाई देगा (८५) शरीर के रोम हिलेंगे इसलिए जो शरीर पर हाथ नहीं फेरता जिसकी अँगुलियों पर नाखून की गिंडुरियाँ बन जाती हैं, (८६) जिसे कर्तव्य का प्रायः अभाव रहता है परन्तु अगर अवसर आवे तो जिसके हाथों को यही अभ्यास रहता है कि वे जुड़ जायँ (८७) अथवा अभय देने के लिए उठ जायँ, अथवा गिरे हुए को उठाने के लिए फैल जायँ, अथवा आर्त्त को कोमलता से स्पर्श करें; (८८) ये बातें भी जिसके हाथ बड़े संकोच से करते हैं तथापि आर्त्त की पीड़ा दूर करने में चन्द्र-किरणें भी वैसी चतुरता नहीं जानतीं (८९) पशुओं पर भी जिसके हाथ ऐसे फिराये जाते हैं कि उनके स्पर्श के सामने मलयानिल भी तीव्र जान पड़ता है, (१९०) और जो सर्वदा मुक्त रहते हैं जैसे चन्दन के शीतल अवयव न फलने पर भी निष्फल नहीं जान पड़ते (९१) अब यह वाग्विलास रहने दो। यह समझ लो कि जिसके करतल सज्जनों के शील-स्वभाव जैसे रहते हैं, (९२) [अब हम उस पुरुष के मन का वर्णन करते हैं, परन्तु अभी जिनका वर्णन किया

वे किसके निवास हैं ? (९३) क्या शाखा ही वृक्ष नहीं है ? क्या सागर जल के बिना रहता है ? तेज और सूर्य क्या जुदी-जुदी वस्तुयें हैं ? (९४) अवयव और शरीर क्या यथार्थ में जुदे हैं ? अथवा रस और जल क्या भिन्न हैं ? (९५) अतएव हमने ये जो सब बाह्यभाव कहे उन्हें मूर्तिमान् मन ही समझो। (९६) जो बीज भूमि में बोया जाता है वही ऊपर वृक्ष हो जाता है, वैसे ही जिसका इन्द्रियों के द्वारा विकास होता है वह मन ही है (९७) मन में ही यदि अहिंसा की न्यूनता हो तो बाहर क्या प्रकट होगा ? (९८) हे किरीटी ! चाहे जो वृत्ति हो, पहले मन में ही उठती है, और फिर वाचा, दृष्टि और कर्म में प्रकट होती है। (९९) अन्यथा जो वस्तु मन में ही नहीं वह वाचा में क्या दिखाई देगी ? बीज के बिना क्या भूमि में अंकुर उत्पन्न होते हैं ? (१००) अतएव जब मनत्व का नाश हो जाता है, तो इन्द्रियाँ पहले ही निर्बल हो जाती हैं, जैसे कि सूत्रधार के बिना कठपुतलियाँ वृथा हो रहती हैं। (१) जो उद्गम में ही सूख जाती है वह प्रवाह में कहाँ से बहेगी ? जीव निकल जाने पर क्या देह में चेतना रहती है ? (२) वैसे ही हे पाण्डव ! मन इन्द्रियों के भावों का मूल है। वही इन सब द्वारों में व्यापार करता है (३) परन्तु जिस समय जैसा और जिस स्वरूप का वह भीतर रहता है, वैसा ही व्यापाररूप से बाहर प्रकट होता है। (४) अतएव यथार्थ में जब मन में अहिंसा खूब भरी रहती है, तो पके हुए फल की सुगन्ध की तरह प्रेम से प्रकट हो निकलती है (५) एवं इन्द्रियाँ मन की ही संपत्ति लेकर अहिंसा रूपी व्यापार करती हैं। (६) समुद्र में जब बाढ़ आती है तब समुद्र नदियों को भर देता है वैसे ही मन अपनी सम्पत्ति से इन्द्रियों को सम्पन्न करता है। (७) बहुत कहने से क्या पण्डित जैसे बालक का हाथ पकड़ कर आप ही स्पष्ट अक्षरों की रेखायें लिखते हैं, (८) वैसे ही मन अपनी दयालुता हाथ-पाँवों को पहुँचाता है और उनसे अहिंसा प्रकट कराता है। (९) अतएव हे किरीटी ! इन्द्रियों की क्रियायें मन के व्यापार से प्रकट होती हैं।] (११०) इस प्रकार जिस पुरुष में मन से शरीर से और वाचा से किया हुआ सब हिंसा का संन्यास दिखाई दे (११) उस ज्ञानरूपी पुरुष को ज्ञान का घर समझो। बहुत क्या, उसे मूर्तिमान् ज्ञान ही जानो। (१२) अहिंसा को कान से सुनते हैं या ग्रन्थ में निरूपण करते हैं सो प्रत्यक्ष देखने की यदि इच्छा

हो तो ऐसे ही पुरुष को देखना चाहिए। (१३) इस प्रकार जो देव ने कहा वह एक ही शब्द में कहा जा सकता था, परन्तु इसने जो यह विस्तार किया उसके लिए आप क्षमा कीजिए। (१४) आप कहेंगे कि पशु हरा चारा देखकर जैसे पिछली बाट भूल जाता है, अथवा वायु के वेग से पक्षी जैसे आकाश में फाटे मारता है (१५) वैसे ही प्रेम की स्फूर्ति से रस-वृत्ति का विस्तार होने के कारण मेरी बुद्धि मेरे वश में न रही। (१६) परन्तु वैसी बात नहीं है। इस विस्तार का कारण है। यों तो अहिंसा शब्द तीन ही अक्षरों का है, (१७) उच्चारण में अल्प है, परन्तु इसका अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है जब करोड़ों मतों का खण्डन किया जाय। (१८) नहीं तो, जो दूसर मत प्रचलित हैं उन्हें वैसे ही छोड़कर मैं यदि अपनी शक्ति भर अपना मत कहूँ तो भी आपके मन में न जँचेगा। (१९) रत्नपारखियों के गाँवों में बिक्रयार्थ जाना हो तो वहाँ शालग्राम शिला बतानी चाहिए और स्फटिकों की स्तुति न करनी चाहिए। (२२०) वैसे ही सुनिए, जहाँ कपूर की बिक्री आटे के बराबर मन्दी होती है वहाँ कपूर में सुगन्ध होने से क्या लाभ हुआ? (२१) एवं हे प्रभु! इस सभा में वस्तुत्व के आधिक्य के कारण वस्तुत्व का कुछ मोल नहीं होगा। (२२) यदि मैं सामान्य और विशेष सब बातों का एकीकरण कर वर्णन करूँ, तो वह आप अवधानमुख की ओर न ले जायेंगे। (२३) सन्देहरूपी गँदलेपन से जो शुद्ध प्रमेय मलिन हो जाय तो आता हुआ अवधान पिछले पाँव भाग जाता है। (२४) जो जल सेवार का घूँघट किये रहता है उसकी ओर क्या हंस कभी देखते हैं? (२५) तथा जब चाँदनी अभ्र के परे रहती है तब चकोर कभी आनन्द से अपनी चोंचें नहीं उठाते। (२६) वैसे ही यदि निरूपण निर्दोष न हो तो आप भी उसकी ओर न देखेंगे, ग्रन्थ का स्वीकार न करेंगे और ऊपर से क्रोध भी करेंगे। (२७) यदि अन्य मत न समझाते हुए, सन्देहों का सम्बन्ध न तोड़ते हुए, व्याख्यान हो तो मुझे आपके समागम का लाभ न होगा। (२८) और मेरे सम्पूर्ण प्रतिपादन का तो यही हेतु है कि आप अन्त सर्वदा मेरे सम्मुख रहें। (२९) यों तो वास्तव में आप गीतार्थ के प्रेमी हैं पर ध्यान कर ही मैंने गीता को हृदय से लगाया है। (२३०) क्योंकि यदि आप अपना सर्वस्व मुझे दें तभी आप इस गीता को छुड़ा ले जा

सकेंगे। अतएव यह ग्रन्थ नहीं, वास्तव में एक रेहन रक्खा है। (११) आप अपने सर्वस्व का यदि लोभ करें और इस रेहन का आप मान करें तो गीता की और मेरी एक ही गति समझिए। (१२) बहुत क्या कहूँ, मुझे आपकी कृपा की आवश्यकता है। उसी के लिए मैंने ग्रन्थ-निरूपण का बहाना किया है। (१३) अतएव मुझे आप रसिकों के योग्य व्याख्यान करना चाहिए, इसी लिए मैंने अन्य मतों का बयान किया है। (१४) इस कारण, कथा का जो विस्तार हुआ है और श्लोकार्थ जो दूर रह गया है, उसके लिए मुझ बालक को आप क्षमा करें। (१५) और में लगे हुए कङ्कर के बूकने में जो समय लगता है वह वृथा नहीं समझा जाता क्योंकि उसे बूकना ही चाहिए; (१६) अथवा साहुरूपी चोर की सङ्कट में से आने में यदि पुत्र को समय लगे तो माता को उस पर क्रोध करना चाहिए कि उसके जीवन पर राई-नोन उतारना चाहिए? (१७) परन्तु इतना कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, आपने क्षमा ही की है। अब श्रीकृष्ण ने कहा सो सुनिए। (१८) उन्होंने कहा, हे कामोत्तमनयन अर्जुन! सावधान हो। अब हम तुम्हें ज्ञान की पहचान करा देते हैं। (१९) अजी, जहाँ दुःसाहित क्षमा रहती है वहाँ समझो कि स्पष्ट ज्ञान है। (१४०) अगाध सरोवर में जैसे कमल, अथवा भाग्यवान् के घर जैसे सम्पत्ति, (४१) वैसे ही हे पार्थ! जिनसे क्षमा की वृद्धि होती है तथा जिनसे क्षमा पहचानी जाती है उन लक्षणों का हम स्पष्ट बयान करते हैं। (४२) प्यारे अलङ्कार जिस भावना से शरीर पर पहने जाते हैं वैसे ही जो सब कुछ सहता है (४३) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप जिनमें मुख्य हैं ऐसे उपद्रवों के समुदाय का पड़ने पर भी जो तनिक विचलित नहीं होता;—(४४) जिस सन्तोष से इच्छित वस्तु की प्राप्ति का स्वीकार करता है उसी से जो अनिष्ट बात का भी सम्मान करता है,—(४५) जो मान और अपमान को सहता है, जिसमें सुख-दुःख समा जाते हैं, जो निन्दा और स्तुति से छिपा नहीं होता (४६) जो उष्णता से नहीं तपता, शीत से नहीं काँपता, और कुछ भी संकट प्राप्त हो उससे नहीं डरता; (४७) अपने सिर का भार जैसे मेरु नहीं जानता, अथवा वाराहावतारी भगवान् जैसे पृथ्वी को बोझा नहीं समझते (४८) अथवा पृथ्वी जैसे अगणित भूतों के बोझ से नहीं झुकती, वैसे ही सुख-दुःखों के

चन्द्र प्राप्त होते हुए जो भमी नहीं होता, (४९) नद और नदियों के समुदाय के आ उपस्थित होते ही समुद्र जैसे जल के प्रवाह से अपना पेट भर लेता है, (२५०) वैसे ही जिसमें न तो म सहने की ही वार्ता है, और न जिसे यह स्मरण होता है कि मैं कुछ सह रहा हूँ (५१) शरीर को जो प्राप्त हो वही जो अपना कर रखता है और उसे सह कर अभिमान के वश नहीं होता, (५२) इस प्रकार जिसमें गुप्तरूप से क्षमा रहती है उससे, हे प्रियोत्तम! ज्ञान की महिमा बढ़ती है। (५३) हे पाण्डव! वह पुरुष ज्ञान का जीवन है। अब सुनो, हम आर्जव अर्थात् ऋजुता या सरलता का वर्णन करते हैं। (५४) आर्जव क्या है सो सुनो—जैसे प्राण का सौजन्य चाहे जिसके हेतु समान ही रहता है, (५५) अथवा सूर्य जैसे मुँहदेखा प्रकाश नहीं करता, आकाश जैसे जगत् को समान ही अवकाश देता है, (५६) वैसे ही जिसका मन प्रत्येक मनुष्य की ओर भिन्न नहीं होता, और चलन जिसका ऐसा होता है (५७) कि मानो सब संसार उसकी पहचान का है, संसार ही मानो जिसका पुराना सम्बन्धी है, जो अपना पराया आदि बातों की वार्ता नहीं जानता (५८) हर किसी से मेल रखता है, जल के समान जो नम्र रहता है और जिसका चित्त किसी के भी विषय में नहीं हिचकता, (५९) वायु-वेग के समान जिसका भाव सरल है, और जिसे सन्देह और शंका नहीं उत्पन्न होती (२६०) माता के सन्मुख जाते हुए जैसे बालक को कोई सन्देह नहीं होता वैसे ही जो लोगों को अपना मन देते हुए विचार नहीं करता, (६१) हे धनुर्धर! विकसित कमल जैसे फिर मुकुलित नहीं होता, वैसे ही जो मन के विकार इधर-उधर छिपाना नहीं जानता, (६२) रत्न सुन्दर रहता है परन्तु पहले उसकी सुन्दर किरणें दिखाई देती हैं, वैसे ही जिसका मन आगे दौड़ता है और क्रिया पश्चात् होती है, (६३) जो साशङ्क हो विचार करना नहीं जानता अनुभव से ही जो तृप्त रहता है और अन्तःकरण में कोई विचार लाने या छोड़ने की बातें जिसके पास हई नहीं (६४) जिसकी दृष्टि कपटी नहीं है, जिसके वचन संशययुक्त नहीं हैं, जो किसी के साथ बुरी बुद्धि से व्यवहार करना नहीं जानता, (६५) जिसकी दसों इन्द्रियाँ सरल निष्कपट और निर्मल हैं, और जिसके पाँचों प्राण आठों पहर मुक्त रहते हैं (६६) जिसका अन्तःकरण अमृत की धार जैसा सरल है, बहुत क्या वर्णन करें,

जो इन चिह्नों का उत्पत्तिस्थान है (६७) वह पुरुष है सुभट! ज्ञान की मूर्ति है और उसी में ज्ञान ने अपना घर बनाया है। (६८) अब इसके उपरान्त हे चतुरनाथ! हम तुमसे गुरुभक्ति की रीति का बयान करते हैं, सुनो। (६९) यह गुरु-भक्ति सम्पूर्ण भाग्यों की जन्मभूमि है, क्योंकि यह शोकग्रस्त मनुष्य को भी ब्रह्मस्वरूप कर देती है। (७०) अतः गुरु-भक्ति का जो निरूपण हम तुमसे करते हैं उसकी ओर पूर्ण ध्यान दो। (७१) सम्पूर्ण जल-सम्पत्ति लेकर जैसे गङ्गा समुद्र में जा मिलती है, अथवा ब्रह्मपद में जैसे श्रुति प्रविष्ट होती है, (७२) अथवा जैसे प्रिया अपने जीवन-समेत सब गुणागुण अपने प्रिय पति को समर्पित करती है, (७३) वैसे ही जो अपना शरीर और अन्तःकरण गुरु-कुल को समर्पित करता है और निज को भक्ति का घर बना लेता है; (७४) जैसे विरहिनी अपने वल्लभ का चिन्तन करती है वैसे ही जिस देश में गुरु रहते हैं वही देश जिसके मन में बसता है, (७५) उस ओर से आई हुई वायु देखकर जो दौड़कर सामने जा दण्डवत् करता है और कहता है कि मेरे घर पधारिये, (७६) जो प्रेम में भूल कर उसी दिशा से बात चीत करना चाहता है, और जो अपने हृदय को गुरुगृह का हकदार बना रखता है (७७) परन्तु बछड़े को जैसे गौवाले बाँधते हैं वैसे ही केवल गुरु की आज्ञा से बँधा हुआ अपने गाँव में रहता है, (७८) और मन में कहता है कि यह प्रतिबन्ध कब मिटेगा, कब मेरे स्वामी की भेंट होगी, इस प्रकार जो एक-एक पल को युग से भी अधिक समझता है, (७९) और इतने में यदि कोई गुरु के गाँव से आवे अथवा किसी को स्वयं गुरु ने ही भेजा हो, तो जैसे मरे हुए को आयुष्य प्राप्त हो, (३८०) अथवा सूखे हुए अंकुर पर अमृत की धार पड़े अथवा थोड़े जल में रहनेवाली मछली जैसे समुद्र में पहुँच जाय (८१) अथवा रङ्क को धन मिल जाय या अन्धे को आँखें खुल जायँ, अथवा दरिद्री को इन्द्रपद प्राप्त हो जाय (८२) वैसे ही जो गुरुकुल का नाम सुनते ही अत्यन्त सुख से ऐसा फूलता है मानों सहज ही आकाश को भी गिराता है (८३) इस प्रकार गुरु के कुल का प्रेम जिस किसी में देखो तो समझ लो कि ज्ञान उसकी सेवा करता है। (८४) और अन्तःकरण में अत्यन्त प्रेम से जो श्रीगुरु के रूप के ध्यान की उपासना करता है (८५) हृदय शुद्धिरूपी कोठे के भीतर आराध्य गुरुमूर्ति को स्थिर कर उसे धनी बनाता है और फिर।

सखाओंसहित आप ही उसका परिवार बनता है, (८६) अथवा चैतन्य-वासी के भीतर आनन्द के मन्दिर में जो श्रीगुरुरूपी शिवलिङ्ग पर ध्यानरूपी अमृत बरसाता है, (८७) जो ज्ञान-सूर्य उदय होते ही बुद्धि की टोकरी सात्त्विक-भावों से भर कर गुरुरूपी शिवलिङ्ग पर लाखों फूल चढ़ाता है, (८८) उत्तम समय ही शिवपूजा के त्रिकाल समझ कर जो निरन्तर जीव-दशारूपी धूप जलाता और ज्ञानरूपी दीप से आरती करता है, (८९) अखण्ड एकतारूपी रसोई बना कर नैवेद्य समर्पण करता है, इस प्रकार जो आप पुजारी बनता और गुरु को शिवलिङ्ग बनाता है, (३९०) अथवा अन्तःकरण की शय्या पर गुरु को पति बनाकर भोगता है, इस प्रकार जिसकी बुद्धि में प्रेम का सन्तोष भरा रहता है, (९१) जो कभी अन्तःकरण में भरे हुए प्रेम को क्षीरसमुद्र समझता है, (९२) गुरु-ध्यान के सुख को उसमें निर्मल शेषशय्या और उस पर गुरु को विष्णु बनाता है (९३) और आप पादसेवा करनेहारी लक्ष्मी बनता है, तथा आप ही गरुड़ हो खड़ा रहता है, (९४) अथवा उनकी नाभि से जन्म लेता है, इस प्रकार जो गुरुमूर्ति के ध्यान के सुख का अनुभव लेता है, (९५) किसी समय भावनावश से गुरु को माता बनाता है और आप स्तनपान कर सुखी होता हुआ गोद में लोटता है, (९६) अथवा हे किरीटी! गुरु को चैतन्यरूपी वृक्ष के नीचे बँधी हुई गौ बना कर आप उससे उत्पन्न हुआ बछड़ा बनता है, (९७) किसी समय ऐसी भावना करता है कि गुरु कृपा और स्नेहरूपी जल हैं और मैं मीन हूँ (९८) कभी आप भक्ति का वृक्ष बनता है और गुरु की कृपा को अमृत की वृष्टि समझता है, इस प्रकार जिसका मन सङ्कल्प उत्पन्न करता है, (९९)—प्रेम कैसा अपार है देखो! कभी वह आप पङ्ख और नेत्र-रहित चिरौटा [चिड़िया का बच्चा] बनता है (४००) और गुरु को पक्षिणी बनाता है और उसकी चोंच से चारा लेता है, अथवा गुरु को नौका बनाता है और आप उसका सहारा लेता है; (१) ऐसे प्रेम के बल से ध्यान से ध्यान उत्पन्न होता जाता है जैसे पूर्ण सिन्धु के तरङ्ग पर तरङ्ग उत्पन्न होते हैं—(२) बहुत क्या वर्णन करें वह इस प्रकार भी गुरु की मूर्ति का आन्तरिक सुख पाता है—[अब सुनिए, वह गुरु की बाह्य सेवा कैसी करता है]—(३) जो ऐसा निश्चय रखता है कि मैं ऐसी उत्तम सेवा करूँगा जिससे

गुरु कुतूहल से वर माँगने की आज्ञा दें, (४) और ऐसी उपासना से जब स्वामी प्रसन्न हों तब मैं ऐसी विनती करूँगा (५) कि हे देव! आपका जो परिवार है वह मैं अकेला ही सम्पूर्ण रूपों से बन जाऊँ, (६) और आपके उपयोग में आनेवाले जितने पूजा-पात्र हैं उनके हे स्वामी! मेरे ही रूप हो जायँ, (७) ऐसा मैं वर माँगूँगा, तो श्रीगुरु हाँ कहेंगे, तब मैं ही सब परिवार बन जाऊँगा, (८) और जो सब पूजा-सामग्री है वह सब एक-एक मैं ही बन जाऊँगा, तब भक्ति का कुतूहल दिखाई देगा (९) गुरु बहुतेरों की माता होती है परन्तु मैं उस कृपामूर्ति को ऐसी शपथ दूँगा कि तू मेरी अकेले की हो रह, इस प्रकार मैं उसे अपना लूँगा, (४१०) उसे प्रेम का मोह लगा दूँगा, उससे एक-पत्नीव्रत धारण कराऊँगा और क्षोभ से अन्य क्षेत्रों का संन्यास कराऊँगा (११) मैं गुरुकृपा का ऐसा पिंजरा बन जाऊँगा कि जिसमें से बाहर निकल उसे चारों ओर की वायु न लगे, (१२) गुरुसेवारूपी स्वामिनी को अपने गुणों के अलङ्कार पहनाऊँगा, और, रहने दो, मैं गुरु-भक्ति का आच्छादन बन जाऊँगा, (१३) गुरु के स्नेह की वर्षा के लिए पृथ्वी बन जाऊँगा, इस प्रकार जो पुरुष मनोरथों की अनन्त सृष्टि की रचना करता है (१४) और कहता है कि मैं श्रीगुरु का घर बनूँगा और वहाँ आप ही सेवक बन सेवा करूँगा, (१५) आवागमन के समय श्रीगुरु जो देहरी नाँघेंगे वह मैं हूँगा और द्वार और द्वारपाल भी मैं ही हूँगा, (१६) मैं उनकी खड़ाऊँ बनूँगा, मैं ही उन्हें पहनाऊँगा छत्र मैं होऊँगा और छत्रधारी भी मैं ही बनूँगा, (१७) मैं ऊँची-नीची धरती बतानेवाला चोबदार हूँगा मैं चँवर धरनेहारा या हाथ देनेवाला बनूँगा, मैं गुरु के सामने मशाल लेनेवाला बनूँगा, (१८) मैं ही सुराही पकड़नेहारा बनूँगा, मैं कुल्ला कराऊँगा और मैं ही कुल्ला डालने का तसला बनूँगा, (१९) मैं ही पानदान हूँगा और मैं ही थूक संभालने का पीकदान बनूँगा, स्नान कराने का काम भी मैं करूँगा, (४२०) मैं गुरु का आसन बनूँगा, अलङ्कार, वस्त्र, चन्दन, इत्यादि सामग्री बनूँगा, (२१) मैं ही रसोइया बनूँगा और थाली परोसूँगा और आप ही श्रीगुरु की आरती करूँगा, (२२) जब गुरुदेव भोजन करेंगे तब मैं ही पंक्ति में भोजन करनेहारा बनूँगा और मैं ही आगे होकर पान दूँगा, (२३) जूठन मैं निकालूँगा, शय्या मैं भारूँगा, और पैर भी मैं ही दबाऊँगा,

(२४) आप ही सिंहासन बनूँगा और उस पर जब गुरु चढ़ कर बैठेंगे तो सेवा की पूर्णता समझूँगा, (२५) श्रीगुरु का मन जिस चमत्कार की ओर होगा वही मैं हो जाऊँगा (२६) उनके श्रवणरूपी रथ में मैं शब्दरूपी अलौकिकी बनूँगा और यदि श्रीगुरु का शरीर किसी वस्तु का स्पर्श करे तो वह स्पर्श भी मैं ही बनूँगा (२७) श्रीगुरु के नेत्र कृपायुक्त दृष्टि से जो कुछ देखें वह सब रूप मैं ही बनूँगा, (२८) उनकी रसना को जिसकी रुचि हो वह रस मैं बनूँगा और गन्ध-रूप हो उनकी घ्राणेन्द्रिय की सेवा करूँगा, (२९) इस प्रकार गुरु की बाह्य और मनोगत वस्तुएँ मन भर मैं सब कुछ श्रीगुरु-सेवा से व्याप्त कर डालूँगा (४१०) जब तक देह है तब तक जो पुरुष इस प्रकार सेवा करता है तथा फिर देह छोड़ने के समय भी जिसकी ऐसी अनोखी बुद्धि रहती है (११) कि मैं इस शरीर की मिट्टी पृथ्वी के उस भाग से मिला दूँ, जहाँ श्रीगुरु के श्रीचरण पड़े हों (१२) मेरे स्वामी कुतूहल से जिस जल का स्पर्श करें उसमें मैं अपने शरीर का जलभाग ले जाऊँ, (१३) श्रीगुरु की जिस दीप से आरती की जाय अथवा उनके घर में जो दीप लगाये जायँ उनकी प्रभा में मैं अपना तेज मिला दूँ, (१४) उनका जो चँवर या पङ्खा हो उसमें मैं अपने प्राणों का लय कर दूँ और फिर उनके शरीर की सेवा करूँ, (१५) जिस जिस अवकाश में श्रीगुरु अपने परिवार-समेत रहें उस आकाश में मैं अपने आकाश का लय कर दूँ (१६) इस प्रकार जीते-जी और मरने पर भी गुरु-सेवा न छोड़ूँ, पल-भर भी दूसरों को सेवार्थ न भेजूँ और इस प्रकार एक ही बार नहीं किन्तु कल्पकोटिपर्यन्त करता रहूँ (१७) यहाँ तक जिस पुरुष के मन का धैर्य है और जो गुरु-सेवा करके अनुपम बन जाता है, (१८) रात और दिन नहीं देखता थोड़ा और बहुत नहीं कहता गुरु की आज्ञा के बल से जो हृष्ट-पुष्ट रहता है (१९) वह पुरुष व्यापार में गगन से भी श्रेष्ठ होता है और अकेला ही एकदम सब कुछ करता है। (४२०) हृदय-वृत्त के पहले उसका शरीर ही दौड़ता है, और मन से होड़ लगा कर काम करता है। (४१) किसी समय वह श्रीगुरु के खेल के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन को निछावर कर डालता है, (४२) एवं जो गुरु-सेवा करते करते कृश हो गया है, जो गुरु-प्रेम से पुष्ट हुआ है, जो स्वयं गुरु-आज्ञा का निवासस्थान है, (४३) जो

गुरु-कुल से कुलीन हुआ है, जो गुरु-बन्धुओं की सुजनता से सुजन हुआ है और जो निरन्तर गुरु-भक्ति के व्यसन से व्यसनी बना है, (४४) गुरु-सम्प्रदाय का धर्म ही जिसके वर्णाश्रम हैं, और गुरु-परिचर्या ही जिसका नित्य-कर्म है, (४५) गुरु जिसका क्षेत्र है गुरु देवता है, गुरु माता-पिता है, जो गुरु-सेवा के सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं जानता (४६) श्रीगुरु का द्वार जिसके सर्वस्व का सार है, और जो गुरु-सेवकों को सहोदर के प्रेम से भजता है; (४७) जिसका मुख गुरु-नाम का मन्त्र जपता है, गुरु-वाक्य के सिवाय जो शास्त्र को भी हाथ से नहीं छूता (४८) गुरु-चरणों का स्पर्श किया हुआ चाहे जैसा जल हो तथापि उस तीर्थ की वाञ्छा के लिए जो त्रिभुवन के तीर्थों को ले आता है, (४९) जो कदाचित् श्रीगुरु का जूठा पा जाय तो उसे उस लाभ के सामने समाधि से भी घीक होती है, (४९०) हे किरीटी! श्रीगुरु के चलते समय पीछे जो पाँवों की धूल उड़ती है उसके परमाणुओं को जो कैवल्य-सुख के समान समझता है, (९१) बहुत कहाँ तक वर्णन करें, गुरु-भक्ति का पार नहीं है, परन्तु इस विषयान्तर का तात्पर्य यह है (९२) कि जिसे ऐसी गुरु-भक्ति की इच्छा होती है जिसे इस विषय का प्रेम रहता है, जो इस सेवा के सिवाय और कुछ मधुर नहीं समझता (९३) उसी को तत्त्व ज्ञान का आश्रय समझना चाहिए। ज्ञान को उसी से शोभा प्राप्त होती है। बहुत क्या कहें, वह देव है और ज्ञान उसका भक्त है। (९४) यह सच है कि ऐसे पुरुष में पूर्ण ज्ञान इस प्रकार द्वार खुला कर रहता है। (९५) इस गुरु-सेवा के लिए मेरा अन्तःकरण अभिलाषी है, इसलिए मैं सीधा मार्ग छोड़कर उक्त वर्णन रूप से भटकता फिरा। (९६) यों तो मैं हाथ का लूला हूँ, भजन के विषय में अन्धा हूँ, सेवा के लिए पंगु से भी मन्द-गति हूँ, (९७) गुरु-वर्णन में मौनी हूँ, आलसी हूँ, वृथा पुष्ट हो रहा हूँ, परन्तु मेरे मन में उत्तम प्रेम भरा है। (९८) ज्ञानदेव कहते हैं कि इसी लिए मुझे इस शरीर का पोषण करना आवश्यक हुआ है। (९९) अब मेरे कहने को क्षमा कीजिए और सेवा का अवसर दीजिए। अब मैं ग्रन्थार्थ वर्णन करता हूँ। (५००) सुनिए, श्रीकृष्ण जो सब प्राणियों का भार सम्हालते हैं वे विष्णु कह रहे हैं और अर्जुन सुन रहा है। (०१) वे कहते हैं कि शुचित्व ऐसा होता है;—शुचित्व जिसके पास हो उसका शरीर

और मन कपूर जैसा, (९२) अथवा रत्न के स्वरूप जैसा अन्तर-बाह्य निर्मल रहता है, अथवा सूर्य जैसा भीतर-बाहर समान ही, रहता है। (९३) बाहर वह कर्म से निर्मल हो जाता है, और अन्तःकरण में ज्ञान से प्रकाशमान् होता है, इस प्रकार दोनों ओर से समान ही शुद्धता प्राप्त कर लेता है। (९४) बाह्यतः वेदों के मन्त्र के द्वारा मृत्तिका और जल से निर्मल हो जाता है। (९५) कहीं हो, बुद्धि ही मलहारी होती है। दर्पण धूलि से स्वच्छ किया जाता है, और कपड़ों की मैल धोबी की नाँद से साफ किया जाता है। (९६) अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार से जो बाह्यतः शरीर से शुद्ध रहता है उसके अन्तःकरण में ज्ञानदीप होने के कारण उसे शुद्ध कहना चाहिए। (९७) अन्यथा हे पाण्डुसुत! अन्तःकरण ही शुद्ध न हुआ तो बाह्य-कर्म सब विडम्बना है, (९८) मानों जैसे किसी मृत मनुष्य का शृङ्गार किया हो, गधे को तीर्थ में नहलाया हो, कडुवे तूँबे पर गुड़ का लेप कर दिया हो, (९९) उजाड़ घर में तोरन बाँधा हो, अथवा उपवासी को अन्न से भर दिया हो, विधवा ने कुंकुम [सेंदुर] लगाया हो, (४००) अथवा मानों कोई पोला मुलम्मा किया हुआ कलश हो जिसमें केवल ऊपरी चमचमाहट ही होती है, अथवा कोई खेल का फल हो जिसमें अन्दर मिट्टी भरी रहती है और कुछ उपयोगी नहीं होता। (०१) इसी प्रकार केवल ऊपरी कर्म करनेवाला श्रेष्ठ नहीं समझा जाता। वह योग्यता विहीन होता है, जैसे कि गंगा में डुबाने से भी मदिरा का घड़ा पवित्र नहीं हो सकता। (०२) अतएव अन्तःकरण में ज्ञान होना चाहिए। फिर बाह्य-शुद्धि का काम आप ही आप हो जाता है, परन्तु ऐसा कहाँ होता है कि कर्म से ज्ञान उत्पन्न हो? (०३) इसी प्रकार यदि बाह्य-शरीर उत्तम कर्म से निर्मल हो और ज्ञान से अन्तःकरण का कलङ्क धोया गया हो (०४) तो अन्तर-बाह्य भेद का नाश होकर एक निर्मलता ही व्याप्त हो जाती है, किंबहुना शुचित्व ही रह जाता है। (०५) इसलिए स्फटिक के गृह में रक्खे हुए दीपक की तरह अन्तःकरण के सब भाव बाहर निकलते दिखाई देते हैं। (०६) जिससे विकल्प उत्पन्न होता है, मिथ्या विकार उपजते हैं, कुकर्म के बीजों में अङ्कुर फूटते हैं (०७) उन विषयों को वह शुचिपूर्वक सुनता है, देखता है, अथवा उनसे भेंटता है, परन्तु मेघ के रङ्गों से जैसे

आकाश मलिन नहीं होता, वैसे ही उसके मन में इन बातों की छाप नहीं छपती। (७८) यों तो वह इन्द्रियों के कारण विषयों में लोट पोट होता है, परन्तु विकार के दोष से लिप्त नहीं होता। (७६) रास्ते से जाती हुई स्त्री उत्तम वर्णों की हो या नीच क्या की, उसके विषय में जैसे विकार नहीं उत्पन्न होता, वैसे ही वह शुचि पुरुष सब व्यवहार करता है (४८०) अथवा एक ही तरुणी पति और पुत्र को आलिङ्गन देती है, परन्तु जैसे उसके पुत्र-भाव में काम नहीं प्रवेश करता (८१) वैसे ही उस शुचि पुरुष का हृदय शुद्ध होता है। उसे संकल्प और विकल्प का परिचय होता है, कर्तव्याकर्तव्य विशेष का स्पष्ट ज्ञान होता है, (८२) परन्तु हीरा जैसे जल से नहीं भीगता उबलते जल में जैसे कङ्कर नहीं पकते वैसे ही विकल्प-मात्र से उसकी मनोवृत्ति लिप्त नहीं होती। (८३) इसे हे पार्थ! पूर्ण शुचित्व कहते हैं। जहाँ यह दिखाई दे वहीं ज्ञान समझो। (८४) इसी प्रकार जिसके मन में स्थिरता का प्रवेश हो उस पुरुष को भी ज्ञान का जीवन जानो। (८५) देह बाहरतः अपनी रीति से कर्म करता रहे परन्तु उसके मन की निश्चलता नहीं छूटती। (८६) गाय का प्रेम घर में बँधे हुए बछड़े को छोड़ उसके साथ जङ्गल में नहीं जाता सती के भोग कुछ प्रेमभोग नहीं रहते (८७) अथवा लोभी दूर जाय, परन्तु उसका जी जैसे गड़े हुए धन में ही रहता है वैसे ही देह के चलन से स्थिर-पुरुष का चित्त चल नहीं होता। (८८) चलते हुए मेघ के सङ्ग जैसे आकाश नहीं दौड़ता घूमते हुए नक्षत्र के सङ्ग जैसे ध्रुव नहीं घूमता, (८६) हे धनुर्धर! पथिकों के आवागमन के सङ्ग जैसे पन्थ नहीं चलता, अथवा वृक्ष जैसे आना जाना नहीं जानते (४६०) वैसे ही इस पञ्चभूतात्मक और चलायमान शरीर में होता हुआ भी वह एक भी भूतविकार की लहर से चल विचल नहीं होता। (६१) तूफान की तीव्रता से जैसे पृथ्वी नहीं हिलती वैसे ही जो उपद्रव के क्षोभ से विचलित नहीं होता, (६२) दारिद्र्य-दुःख से दुःखी नहीं होता, भय और शोक से नहीं काँपता, शरीर की मृत्यु आने से भी नहीं डरता (६३) जिसका सरल मार्ग से जाता हुआ चित्त दुःख और आशा के जोर से तथा आयुष्य और व्याधि की गर्जन से कभी पीछे नहीं देखता, (६४) उस पुरुष को यद्यपि निन्दा और अपमान सहना पड़े काम और लोभ के अधीन

होना पड़े, तथापि उसके मन का रोम भी टेढ़ा नहीं होता। (९५) आकाश टूट पड़े, पृथ्वी चाहे गल जाय परन्तु उसकी चित्तवृत्ति पीछे पलटना नहीं जानती। (९६) हाथी को फूल से मारने से जैसे वह पीछे नहीं लौट सकता वैसे ही दुर्वचनरूपी शल्य से छेद करने पर भी वह पीछे नहीं हटता। (९७) मन्दराचल से क्षीरसमुद्र की लहरों में जैसे कम्प नहीं उत्पन्न होता, दावाग्नि की ज्वालाओं से जैसे आकाश नहीं जलता (९८) वैसे ही ऊर्मियों के आने-जाने से उसके मन में क्षोभ नहीं होता। बहुत क्या कहें वह कल्पान्त के समय भी धैर्य से सम्पन्न रहता है। (९९) हे ज्ञानी! जिस दशा को स्थैर्य कहते हैं उसका हमने विस्तार-पूर्वक वर्णन किया। (५००) जो शरीर से और अन्तःकरण से इस पराक्रमशील स्थिरता को प्राप्त कर लेता है वह मनुष्य स्पष्ट ज्ञान का घर है। (१) ब्रह्मराक्षस जैसे घर नहीं छोड़ता अथवा योद्धा जैसे हथियार नहीं छोड़ता, अथवा लोभी जैसे अपना मालखज़ाना नहीं छोड़ता, (२) अथवा माता जैसे इकलौते बालक का मोह नहीं छोड़ती अथवा मधुमक्खी जैसे मधु की लोभिन रहती है, (३) वैसे ही हे अर्जुन! जो अन्तःकरण का जतन करता है और उसे इन्द्रियों के द्वारे नहीं खड़ा करता, (४) इस डर से कि कामरूपी हव्वा सुन ले अथवा आशारूपी डाकिनी देख ले तो इस अन्तःकरण पर आ झपटेगी; (५) अथवा जबर्दस्त पति जैसे व्यभिचारिणी स्त्री को बन्धन में रखता है वैसे ही जो अपनी प्रवृत्ति का निरोध करता है, (६) सचेतन देह के कृश होकर शरीर का नाश होने तक जो विवेक से इन्द्रियों का संयमन करता रहता है, (७) शरीर में—मन के महाद्वार में—प्रत्याहार की चौकी पर यम-दम का खड़ा पहरा करवाता है (८) मूलाधार में नाभिस्थान में और कण्ठ स्थान में बन्धासन उड्डियान और जालन्धर की गश्त बैठा कर इड़ा और पिङ्गला के सङ्गम में चित्त को झुलाता है (९) और ध्यान को समाधि की शय्या से बाँध देता है, उस पुरुष का चित्त चैतन्यरूपी परब्रह्म में रत हो जाता है। (५१०) इसी अन्तःकरण-निग्रह जिसे कहते हैं वह यह है। (११) यह जहाँ रहता है वहाँ ज्ञान की विजय होती है। जिसकी आज्ञा अन्तःकरण सिर पर धारण करता है उसे मनुष्याकार ज्ञान ही जानो। (१२)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

जिसके मन में विषयों के लिए पूर्ण और उत्तम वैराग्य जागृत रहता है, (१३) रसना जैसे वमन किये हुए अन्न के लिए लार नहीं टपकाती, और शरीर जैसे मुर्दे के आलिङ्गन के लिए उद्यत नहीं होता, (१४) विष को जैसे कोई नहीं खाता, जलते हुए घर में जैसे कोई प्रवेश नहीं करता, व्याघ्र की गुफा में जैसे कोई बस्ती नहीं करता, (१५) तपे हुए लोहे के रस में जैसे कोई नहीं कूदता, अजगर का जैसा कोई तकिया नहीं बनाता (१६) उसी प्रकार हे अर्जुन! जिस पुरुष को विषय वार्ता नहीं भाती, जो इन्द्रियों के मुँह में कुछ भी नहीं जाने देता, (१७) जिसके मन में विषयों के लिए आलस्य रहता है जिसका देह अत्यन्त कृश रहता है, शम दम में जिसका प्रेम रहता है, (१८) हे पाण्डव! जिसके समीप तप और व्रतों के समुदाय रहते हैं, जिसे गाँव में आते हुए युगान्त मालूम होता है, (१९) जिसे योगाभ्यास की बहुत लालसा रहती है, एकान्त की ओर जिसकी दौड़ रहती है, जो समुदाय का नाम भी नहीं सह सकता (४२०) इस लोक के भोगों को ऐसा समझता है जैसा बाणों की शय्या अथवा पीब कीचड़ में लोट-पोट होना, (२१) और स्वर्ग की कथा सुन उसे जो मन में ऐसा मानता है जैसा कुत्ते का सड़ा हुआ मांस, (२२) उस पुरुष का इस प्रकार का आत्मरूप विषय-वैराग्य है। यह ब्रह्मप्राप्ति का सौभाग्य है। इसी से जीव ब्रह्मानन्द के योग्य होते हैं। (२३) इस प्रकार जिसमें उभय लोकों के भोगों की ओर अत्यन्त ग्लानि दिखाई दे उस पुरुष में ज्ञान का निवास जानो। (२४) वह सकाम मनुष्य के समान यज्ञ आदि कर्म करता है परन्तु शरीर में कर्तृत्व का अभिमान नहीं रहता। (२५) वर्णाश्रम-धर्म के अनुरूप नित्य और नैमित्तिक कर्मों का आचरण करने में वह कुछ न्यूनता नहीं करता, (२६) परन्तु अपनी वासना में यह भाव नहीं रहता कि यह कर्म मैंने किया अथवा यह मेरे कारण सिद्ध हुआ। (२७) जैसे वायु सहज सर्वत्र घूमती है, अथवा सूर्य जैसे निरभिमानता से प्रकाशता है, (२८) अथवा श्रुति जैसे स्वभावतः बोलती है, गङ्गा जैसे कुछ कर्तव्य के बिना ही बहती है,

वैसे ही जिसका आचरण अहङ्कार-रहित होता है, (१९) जिसकी वृत्ति कर्म में ऐसी रहती है जैसी कि वृक्षों की—जो ऋतुकाल में फलते तो हैं परन्तु यह नहीं जानते कि हम फल रहे हैं,—(५२०) एवं जिसके मन से, कर्म से और वचनों से अहङ्कार का नाम-निशान इस प्रकार मिट गया है मानों किसी हार की इकहरी डोरी ही निकाल ली जाय, (३१) अथवा जैसे किसी सम्बन्ध के बिना ही मेघ आकाश में रहते हैं, वैसे ही जो देह के कर्म करता है, (३२) मद्यपी को जैसे अपने शरीर के वस्त्र की, अथवा चित्र को अपने हाथ में रक्खे हुए शस्त्र की, अथवा बैल को पीठ पर बँधे हुए शास्त्र की सुधि नहीं रहती (३३) वैसे ही जिसे देह में रहते हुए अपने अस्तित्व का स्मरण नहीं रहता, उस पुरुष की स्थिति का नाम निरहङ्कारता है। (३४) यह जहाँ सम्पूर्ण दिखाई देती है वहाँ ज्ञान रहता है। यह मिथ्या मत समझो। (३५) जन्म मृत्यु जरा और दुःख, रोग, वार्धक्य आदि पापों को—प्राप्त होने के पहले ही—जो दूर से ही देख लेता है, (३६) जैसे साधक पिशाच को पहचान लेता है, अथवा योगी उपद्रव को पहचान लेता है अथवा गुनिया से जैसे मिस्त्री न्यूनाधिक देख सकता है, (३७) पूर्वजन्म का वैर जैसे सर्प के मन से नहीं जाता वैसे ही जो पूर्वजन्म के पाप ध्यान में रखता है (३८) आँखों में जैसे कङ्कर नहीं सहा जाता अथवा लगे हुए घाव में भाला नहीं सहा जाता, वैसे ही जो पूर्वभव के जन्म और दुःख नहीं भूलता (३९) जो कहा करता है कि हाय मैंने पीब की खाड़ी में प्रवेश किया था मैं मूत्रद्वार में से बाहर निकला हूँ, और हाय हाय मैं कुचस्वेद चाटता रहा था,—(५४०) इस प्रकार जो अपने जन्म से उकताता है और कहता है कि अब मैं ऐसा न करूँगा कि जिससे फिर जन्म प्राप्त हो; (४१) हारे हुए मन को फिर से प्राप्त करने के लिए जैसे जुआरी फिर दाँव लगाता है; अथवा पुत्र जैसे बाप का वैर ध्यान में रखता है (४२) अथवा किसी को मारने से जैसे उसका पक्षपाती क्रोध से उसका बदला लेने की चेष्टा करता है वैसी ही सावधानता से जो जन्म के पीछे लगता है (४३) परन्तु जैसे सम्भावित मनुष्य अपकीर्ति नहीं सह सकता, वैसे ही जिसका मन जन्म की लज्जा नहीं छोड़ता, (४४) और भविष्य में होनेवाली मृत्यु चाहे कल्पान्त में हो अथवा चाहे आज ही हो, तथापि उसके विषय में जो सदा

सावधान रहता है, (४५) हे पाण्डुसुत ! बीच में अथाह पानी जान कर अच्छा तैरनेहारा जैसे तीर पर ही खूब कस कर मोटी बाँध लेता है, (४६) अथवा रण में जाने के पूर्व ही जैसे ओसाम सँभालना पड़ता है, और घाव लगने के पूर्व ही ढाल सामने की जाती है, (४७) कल का मुकाम घातक हो तो आज ही जैसे सावधान हो जाना चाहिए, अथवा जी निकलने के पूर्व ही ओषधि के लिए दौड़ना चाहिए, (४८) नहीं तो ऐसा होता है कि जो घर जलने लगे तो फिर कुँआ नहीं खोदा जा सकता, (४९) गहरे जलाशय में फेंके गये पत्थर के समान डूबा हुआ मनुष्य सदा कब चिल्लाता हुआ निकलता है ? (४५०) इसलिए, जिसका किसी बड़े से घोर [अस्थिगत] वैर हो तो वह जैसे आठों पहर शस्त्र लिये तैयार रहता, (५१) अथवा विवाह के योग्य वधू जैसे सदैव विवाह का विचार करती है, अथवा जैसे संन्यासी मृत्यु का विचार करता है वैसे ही जो पुरुष न मरते ही नित्य मृत्यु का विचार करता है, (५२) इस प्रकार जो जन्म लेकर जन्म का निवारण करता है और मरण से मृत्यु को मार कर आप ही शेष रहता है, (५३) उसके घर सचमुच ज्ञान की कुछ न्यूनता नहीं रहती। जिसका जन्म-मृत्यु का शल्य निकल गया है (५४) और उसी प्रकार वृद्धापकाल आने के पूर्व जो अपने शरीर को तारुण्य की बहार में देख कर (५५) कहता है कि आज इस समय शरीर जो पुष्ट है वह सूखी हुई कचरी के समान हो जावेगा (५६) हाथ-पाँव ऐसे थक जावेंगे, जैसे किसी अभागे के काम काज, और इस शरीर का बल मन्त्री रहित राजा के समान हो जावेगा, (५७) फूलों के भोग में प्रेम रखनेहारा मेरा मस्तक ऊँट के घुटने के समान हो जावेगा (५८) और आषाढ़ मास की वायु से जैसे पशुओं के खुरों में रोग हो जाता है वैसी दशा मेरे सिर की हो जावेगी (५९) ये आँखें—जो कमी कमल से स्पर्धा कर लजाती हैं—पक हुए चचड़े के समान हो जावेंगी, (५६०) भौंहों के परदे पुरानी छाल के समान लटकेंगे आँसुओं के पानी से छाती सड़ जावेगी (६१) जैसे बबूल के पेड़ पर से आते जाते गिरगट गोंद से लिपटे रहते हैं वैसे ही मुँह थूक से भर जावेगा, (६२) राँधने के चूल्हे के सामने की मोरियाँ जैसे राख से भर जाती हैं वैसे ही ये नथुने लिपटते रहेंगे (६३) जिस मुँह से पान खाकर ओंठ रँगता हूँ, जिसमें हँसते हुए दाँत दीखते हैं, और जिससे सुन्दर शब्दों की

शोभा दिखाई देती है (९४) उस मुँह से लार का प्रवाह बहेगा और दाढ़ें दाँतों-समेत गिर पड़ेंगी, (९५) और व्याज से दबे हुए व्यापारी अथवा कीचड़ में बैठे हुए पशु की तरह जीभ भी, कुछ भी करो, न उठेगी, (९६) सूखे हुए बबूल जैसे वायु से इधर उधर बहते हैं, वैसे ही मुँह और दाढ़ी की दुर्दशा हो जायेगी (९७) आषाढ़ के पानी से जैसे पर्वत के शिखर बहते दिखाई देते हैं वैसे ही दाँतों की खिड़कियों में से लार के प्रवाह बहेंगे (९८) जीभ पिपियायेगी, कान बन्द हो जायेंगे, और यह शरीर बूढ़े बन्दर के समान हो जायेगा (९९) घास का बिजूखा• जैसे हवा में हिलता है वैसे ही सब शरीर काँपने लगेगा, (७००) पैर में पैर फँसने लगेंगे, हाथ टेढ़े होने लगेंगे और बड़ा स्वाँग दिखाई देगा (७१) मल-मूत्र-द्वार अशक्त हो रहेंगे और लोग मेरी मृत्यु की मानता करेंगे, (७२) जगत देखकर थूकेगा मृत्यु की अपेक्षा होगी, सगोत्री भी मुझसे ऊब जायँगे, (७३) स्त्रियाँ पिशाच समझेंगी बालक देखकर मूर्च्छित होंगे, बहुत कहाँ तक कहूँ इस प्रकार मैं सबको घृणा का पात्र हूँगा (७४) खाँसी की ठसक आते ही पड़ोस के घर में सोये हुए लोग कहेंगे कि यह बूढ़ा बड़ा क्लेश देता है,—(७५) इस प्रकार जो अपने वार्धक्य की सूचना तरुणावस्था में ही देख लेता है और मन में खिन्न करता है (७६) और कहता है कि कल ऐसी स्थिति आनेवाली है तो आज का समय उपभोगों में खर्च करने से मुझे क्या लाभ होगा ? (७७) इसलिए जो बधिरता आने के पहले ही सब श्रवण करता है, पंगुत्व आने के पहले ही तीर्थयात्रा कर आता है, (७८) जब तक दृष्टि है तब तक जिनका दर्शन लेना चाहिए ले लेता है और वाचा बन्द होने के पहले ही वाणी से सुभाषित कह लेता है, (७९) हाथ लूले होंगे यह भविष्य थोड़ा भी मालूम होने के पूर्व ही सम्पूर्ण दान इत्यादि कर डालता है, (७८०) ऐसी दशा प्राप्त होने और मन भ्रमिष्ट हो जाने के पूर्व ही निर्मल आत्मज्ञान का चिन्तन कर रखता है, (८१) कल चोर लूटने वाले हों तो जैसे आज ही सम्पत्ति को अलग कर देना चाहिए, अथवा दिया-बत्ती के पहले ही आँख-मूँद देना चाहिए, (८२) वैसे ही जो यह सोच कर कि वार्धक्य आने पर व्यर्थ हुआ जायगा, अभी

• खेत में चिड़ियों को डराने के लिए पुतला-सा बनाया जाता है।

से सब दूर कर रखता है, (८३) [माके बन्दी नहीं है और पक्षी अपने घर आ रहे हैं इन बातों की अपेक्षा कर जो प्रकाश को निकालता है वह जैसे सूख जाता है (८४) उसी प्रकार वृद्धावस्था आने पर सब अन्न ही वृथा खो जाता है, परन्तु उस पुरुष को समझ न जाने क्यों पढ़ते हैं ? (८५) तिल के झड़ाये हुए पेड़ यदि फिर झड़ाये जायें तो उनमें फिर तिल नहीं निकलते, अग्नि भी हो तो क्या राख हुए पदार्थ को जला सकती है ?] तात्पर्य यह कि वार्धक्य का स्मरण रख जो पुरुष वार्धक्य के वश नहीं होता उसमें ज्ञान है ऐसा समझना चाहिए। (८६-८७) वैसे ही जब तक नाना प्रकार के रोगों ने शरीर को ग्रस्त नहीं किया है तब तक जो आरोग्य का उपयोग कर लेता है, (८८) जैसे सर्प के मुँह से गिरी हुई आटे की गोली को जानता मनुष्य त्याग कर देता है, (८९) वैसे ही जिससे वियोग-दुःख, विपत्ति और शोक उत्पन्न होते हैं उस स्नेह को छोड़ कर जो उदासीन हो रहता है, (५९०) और जिस जिस ओर पाप सिर उठावेंगे उन कर्मेन्द्रियों के छिद्रों में नियमरूपी पत्थर भर देता है, (९१) ऐसी तैयारी के साथ जिसका आचरण है वही ज्ञानसम्पन्न पुरुष है। (९२) अब हे धनञ्जय ! और भी एक असाधारण लक्षण बताते हैं, सुनो (९३)

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

जो इस देह से इस प्रकार उदासीन है कि जैसे कोई प्रवासी आ बसा हो, (९४) अथवा जो रास्ते में मिली हुई वृक्ष की छाया के समान घर में आस्था नहीं रखता (९५) वृक्ष की छाया वृक्ष के साथ ही रहती है, परन्तु यह बात जैसे वृक्ष नहीं जानता, वैसे ही जिसे स्त्री की लोलुपता नहीं रहती, (९६) और जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे जो प्रवासियों के समान अथवा वृक्ष के नीचे बैठे हुए पशुओं के समान समझता है, (९७) हे पाण्डुसुत ! जो सम्पत्ति के बीच रहता हुआ भी ऐसा जान पड़ता है कि जैसे कोई रास्ता चलता साक्षी हो, (९८) बहुत क्या कहूँ—पिंजड़े में बन्द तोता जैसे अपने पालनेवाले की आज्ञा मानता है उसी तरह जो वेदाज्ञा का भय रखकर चलता है, (९९) परन्तु स्त्री, गृह और पुत्रों में जिसे आसक्ति नहीं है उस पुरुष को ज्ञान का अधिष्ठान समझो। (६००) ग्रीष्म और वर्षा

में जैसे महासमुद्र समान रहता है वैसे ही जिसके लिए इष्ट और अनिष्ट दोनों समान हैं, (१) अथवा दोनों कालों में सूर्य्य जैसे भिन्न नहीं होता वैसे ही जिसके चित्त में सुख और दुःख का भेद नहीं होता, (२) आकाश के समान जिसमें समानता की कमी नहीं पड़ती उस पुरुष में शुद्ध ज्ञान जानो। (३)

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

जिसकी काया वाचा और मन का ऐसा निश्चय हो गया है कि संसार में मेरे अतिरिक्त और कुछ भी भला नहीं है, (४) जिसके शरीर, वाचा और मन, ऐसा निश्चय करने की शपथ खाकर मेरे सिवाय दूसरी ओर नहीं देखते, (५) किंबहुना, जिसका अन्तःकरण मेरे समीप आ पहुँचा है, उस पुरुष ने अपने और हमारे लिए मानों एकत्व की शय्या तैयार की है। (६) वल्लभ के सन्मुख आने पर कान्ता जैसे शरीर तथा अन्तःकरण को नहीं छिपाती उसी प्रकार जो मुझे भजता है, (७) जैसे गङ्गाजल समुद्र में मिल कर और भी मिलता रहता है, वैसे ही जो मद्रूप होने पर भी सब भावों से मेरा भजन करता है, (८) सूर्य के उदय के साथ ही उत्पन्न होने अथवा सूर्य के साथ ही विलीन होने की अपथ्य क्रिया [पचड़ा] जैसे प्रभा को ही शोभा देती है, (९) अथवा जल की भूमिका पर जो जल हिलोरें लेता है वह संसार में तरङ्ग कहलाता है अन्यथा वह जल ही है, (१०) इस प्रकार जो एकनिष्ठ मद्रूप होकर भी मुझे भजता है उसी को मूर्तिमान् ज्ञान समझो। (११) जिसे तीर्थों, पवित्रस्थानों, निर्मल तपोवनों और गुफाओं में बसना भाता है, (१२) पर्वत-श्रेणियों की गुफाओं में और जलाशयों के समीपवर्ती स्थानों में जो प्रेम से रहता है और नगर में नहीं आता, (१३) जिसे एकान्त का बहुत प्रेम है, जिसे बस्ती से अकुलाहट होती है उसे मनुष्य के आकार में ज्ञान की मूर्ति जानो। (१४) अब हे सुमति! इस ज्ञान का निश्चय होने के लिए और दूसरे चिह्नों का वर्णन करते हैं। (१५)

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

परमात्मा नामक जो एक वस्तु है वह जिस ज्ञान के द्वारा दिखाई

होती है, (१६) और जिसके मन ने यह निश्चय किया है कि उस एक वस्तु के सिवाय संसार, स्वर्ग इत्यादि ज्ञान अज्ञान है (१७) जो स्वर्ग को जान कर इसे छोड़ देता है, संसार के विषयों से उकता गया है, और अध्यात्मज्ञान में सद्भाव की डुबकी लगाता है, (१८) जहाँ रास्ता टूटा हो वहाँ ओड़ा रास्ता छोड़ कर जैसे सरल राजमार्ग से चलना चाहिए, (१६) वही हाल जो सब ज्ञान-समूहों का करता है, सबको अलग कर देता है और, यह समझ कर कि यही एक सत्य वस्तु है और दूसरे ज्ञान भ्रमकारक हैं, मन और बुद्धि को अध्यात्मज्ञान में लगा देता है, (६२०) इस प्रकार जिसकी मति निश्चय से दृढ़ हो जाती है (२१) तथा अध्यात्म के द्वार में आकाश के ध्रुवत्व जैसा जिसका निश्चय हो रहता है, (२२) उसके पास ज्ञान है यह वचन मिथ्या नहीं है। वरन् जब उसका मन ज्ञान में लगा तभी वह मजूर हो चुका। (२३) भोजन को बैठने से जो सुख होता है वह भोजन से ही होता है उसकी माया से नहीं। ज्ञान की स्थिति भी वैसी ही है। (२४) तत्वज्ञान से जो एक निर्मल फल फलता है उस ज्ञेय वस्तु पर जो मनुष्य सरल दृष्टि रखता है, (२५) अन्यथा ज्ञान का बोध होने से यदि अन्तःकरण में ज्ञेय वस्तु न दिखाई दे तो ज्ञान का लाभ हुआ नहीं समझना; (२६) क्योंकि अन्धे के हाथ दीपक देने से क्या लाभ? [ज्ञेय दिखाई न दे तो सम्पूर्ण ज्ञान निरर्थक हुआ है। (२७) यदि ज्ञान के प्रकाश से परतत्व तक दृष्टि न पहुँच तो वह ज्ञान भी ही अन्धा समझना चाहिए। (२८) अतएव बुद्धि ऐसी निर्मल होना चाहिए कि ज्ञान जो ज्ञेय वस्तु बतावे उसे वह सम्पूर्ण देख सके।] (२६) अतः जो मनुष्य बुद्धि से इस प्रकार सम्पन्न रहता है कि निर्मल ज्ञान के बताये हुए ज्ञेय को देख सके (६३०) ज्ञान की जितनी वृद्धि हो सकती है जिसकी बुद्धि होती है वह मनुष्य ज्ञान-स्वरूप है; यह शब्दों से कहने की आवश्यकता ही नहीं। (३१) ज्ञान का प्रकाश होने ही जिसकी बुद्धि ज्ञेय में प्रविष्ट हो जाती है वह हाथों-हाथ परब्रह्म को पाता है। (३२) हे पाण्डुसुत! यदि यह ज्ञान-रूप ही कहा जाय तो क्या आश्चर्य है? क्या सूर्य को सूर्य कहने की आवश्यकता है? (३३) तब श्रोताओं ने कहा कि रहने दो। इस दूसरा अर्थ बात न करो। ग्रन्थ की कथा में क्यों प्रतिबन्ध डालते हो? (३४) तुमने ज्ञान विषय का विस्तार से कह दिया। तुम्हारे वक्तव्य से

हमारा सुख सत्कार हुआ। (३५) अब अन्य कवियों के समान रस की अनावश्यक अधिकता कर, निमन्त्रित किये हुए लोगों का अप्रिय क्यों करते हो? (३६) भोजन को बैठते समय यदि कोई रसोई लेकर भाग जाय तो उसका किया हुआ आदर किस काम का? (३७) अन्य सब बातें तो अच्छी हैं, परन्तु दुहते समय हाथ नहीं लगाने देगी, ऐसी केवल लवियल गाय कौन पालेगा? (३८) ज्ञान विषय में जिनकी बुद्धि का विकास नहीं होता ऐसे जो अन्य कवि हैं वे मनमाने कितनी कल्पना करते हैं। परन्तु अस्तु, आपने उत्तम निरूपण किया। (३९) जिस ज्ञान के अंश के हेतु योग इत्यादि परिश्रम किये जाते हैं वह तृप्ति का हेतु है। फिर उसमें भी आपका इस तरह का निरूपण हुआ है (१४०) मानों अमृत की एक सरीखी झड़ी लग रही हो या सुख के करोड़ों दिन आ रहे हों। (४१) लगातार पूर्णचन्द्र-सहित रातों का युग भी बीत जाय तो क्या चकोर उसकी ओर न देखते रहेंगे? (४२) वैसे ही ज्ञान का निरूपण और ऐसी सरसता से, तो फिर सुनते हुए बस कौन कहेगा? (४३) श्रीमान् पाहुना आवे और सुखद परोसनेवाली हो तो ऐसा हो जाता है कि रसोई ही नहीं चुकती। (४४) सम्प्रति वैसा ही हुआ है, क्योंकि हमें ज्ञान की रुचि है और तुम्हें भी उसी से प्रीति है। (४५) इसलिए इस व्याख्यान में चौगुना प्रेम बढ़ा है। इससे ना नहीं कहा जाता, तथापि तुम उत्तम ज्ञानी हो (४६) अब इसके उपरान्त बुद्धि के बल से निरूपण कर श्लोक के पदों का याथार्थ्य प्रकट करो। (४७) सन्तों के इन वचनों को सुनकर निवृत्ति के दास ज्ञानेश्वर ने कहा कि मेरी भी यही इच्छा है। (४८) इस पर आपने भी आज्ञा दी तो मैं वृथा बकवास नहीं बढ़ाता। (४९) उक्त प्रकार से ज्ञान के अठारह लक्षण श्रीकृष्ण ने अर्जुन से निरूपण किये (१५०) और कहा कि इन चिह्नों से ज्ञान समझना चाहिए। यह हमारा मत है और सम्पूर्ण ज्ञानी भी यही कहते हैं। (५१) हथेली पर गोल आँवला जैसे खोलकर दिखाया जाता है वैसे ही हमने तुम्हारी आँखों को ज्ञान दिखा दिया। (५२) अब हे धनञ्जय हे महामति! जिस अज्ञान कहते हैं उसका भी हम अनायास सविस्तर वर्णन करते हैं। (५३) यों तो ज्ञान स्पष्ट होते ही हे धनञ्जय! अज्ञान पहचाना जा सकता है क्योंकि जो ज्ञान नहीं है वह सहज अज्ञान ही है। (५४) देखो सम्पूर्ण दिन निकल जाने पर जैसे रात

भी ही जाती जाती है और कोई तीसरी वस्तु नहीं रहती, (५५) वैसे ही जहाँ ज्ञान नहीं है वहाँ अज्ञान ही है तथापि अज्ञान के चिह्नों का भी कुछ-कुछ वर्णन करते हैं। (५६) जो मनुष्य प्रतिष्ठा के हेतु जीवन रखता है, जो सन्मान की बाट जोहता है, सत्कार से जिसे सन्तोष होता है, (५७) जो गर्व से, पर्वत का शिखर जैसा, ऊँचे से नीचे नहीं उतरता, उसमें पूर्ण अज्ञान है। (५८) जो स्वधर्मरूपी गोरख को अपने वाचारूपी पीपल के पत्तों से बाँधता है, और जैसे कि मन्दिर में चँवर [चोरी] लगा ही रहता है (५९) वैसा जो अपनी विद्या का विस्तार बताता है, अपने परोपकार की डौंड़ी पीटता है, और जो कुछ करता है सो कीर्ति के हेतु करता है, (६०) बाबला जो शरीर को भभूत लगाता है, और लोग पूछते हैं तो उनसे कपट करता है, ऐसे मनुष्य को अज्ञान की खानि जानो। (६१) वन में आग का सञ्चार हो तो जैसे स्थावर-जङ्गम जल जाते हैं वैसे ही जिसके आचार से सब जगत् को दुःख होता है, (६२) और वह जिस जिस कुतूहल से जल्पता है वह सब्बल से भी तीक्ष्ण चुभता है, तथा जिसका संकल्प विष से भी अधिक मारक होता है, (६३) उसे अत्यन्त अज्ञान है। वह अज्ञान का घर ही है। जिसका जीवन हिंसा का आमय है, (६४) और धम्मन या धौंकनी जैसे फूँकने से फूलता है और छोड़ते ही दब जाता है वैसे ही जो लाभ अथवा हानि से सन्तोष और दुःख मानता है; (६५) वायु के बगूले में पड़ कर जैसे धूल आकाश में चढ़ जाती है, वैसे जिसे स्तुति के समय हर्ष होता है (६६) परन्तु थोड़ी-सी निन्दा सुनते ही जो सिर पीटता है जैसे कीचड़ पानी की बूँद से गल जाती है और वायु से सूख जाती है (६७) वैसे ही मानापमान से जिसकी स्थिति होती है, जो किसी का क्षोभ नहीं सह सकता, उसमें पूर्ण अज्ञान है। (६८) जिसके मन में गाँठ रहती है, बाहरतः जिसकी वाचा और दृष्टि सरल है, परन्तु जो किसी से शरीर से मिलता तो किसी से अन्तःकरण से विरोध करता है (६९) जिसका पालन करना व्याघ्र-पना है जैसा व्याधा का मृग को चारा डालना तथा जो मर्मों के अन्तःकरण को विपरीत कर देता है (१००) सफ़ेद पत्थर जैसे सेवार से लिपटा हो, अथवा जैसे पकी हुई निम्बोरी हो, वैसी जिसकी बाह्य-क्रिया रहती है, (७१) उसके पास अज्ञान रक्खा हुआ है, यह वचन मिथ्या नहीं,—

सत्य समझो। (७२) जो गुरुकुल से लजाता है, जो गुरुभक्ति से कतराता है, जो गुरु से विद्या प्राप्त कर उन्हीं से अभिमान करता है (७३) वाणी के लिए उस मनुष्य का नाम लेना शूद्र के अन्न के समान है, परन्तु हमें अन्य लक्षणों का वर्णन करते हुए वहाँ कहना पड़ा। (७४) इसलिए अब गुरु-भक्तों का नाम वर्णन करता हूँ और उससे वाणी को प्रायश्चित्त कराता हूँ। गुरु-भक्तों के नाम सूर्य के समान हैं। (७५) गुरुस्त्रीगमन करनेहारों के नाम से जो पाप का दोष वाणी को लगता है वह भी इनसे दूर होता है। (७६) यहाँ तक कि इन भक्तों के नामों का उच्चारण गुरुद्रोहियों के नाम के पाप का नाश करता है। अब अज्ञान के और भी चिह्न सुनो। (७७) शरीर से जो मनुष्य कर्मों का आलस रखता है, मनमें जिसके विकार भरा रहता है, जङ्गल के किसी अनजान कुएँ (७८) [जिसके मुख पर काँटे रहते हैं और भीतर केवल हड्डियाँ भरी रहती हैं] की तरह जो मनुष्य अन्तर-बाह्य अशुचि रहता है (७९) जैसे कुत्ता खुले या ढँके हुए अन्न का विचार न कर उसे खा जाता है वैसे ही जो द्रव्य के विषय में अपना और पराया नहीं पहचानता, (१८०) और इन कुत्तों में संयोग के विषय में जैसे ठौर-कुठौर का विचार नहीं रहता वैसे जो स्त्रियों के विषय में कुछ भी विचार नहीं करता (८१) कर्म का समय टल जाय या नित्य नैमित्तिक कर्म रह जाय तथापि जो अन्तःकरण में दुखी नहीं होता (८२) पाप के विषय में जो निर्लज्ज है या पुण्य के विषय में भ्रष्ट है, और जिसके मन में विकल्प का वेग रहता है (८३) उस मनुष्य को केवल अज्ञान का पुतला समझो। जो कौड़ियों पर चित्त की आशा का चरमा बाँधे रहता है, (८४) और तृण-बीज जैसे चिड़ैटी से हट जाता है वैसे ही जो अल्पमात्र स्वार्थ के लाभ से धैर्य से चलित हो जाता है, (८५) पाँव देते ही जैसे गड्ढे का पानी गँदला हो जाता है, वैसे ही जो डर के नाम से घबरा जाता है; (८६) जिसका मन मनोरथों के प्रवाह के अनुसार बहता है, मानों पानी में गिरी हुई तूँबी हो (८७) वायु के सहाय से जैसे धूम दिगन्तर को बढ़ जाती है वैसे ही दुःख-वार्ता से जिसकी स्थिति चल-विचल हो जाती है, (८८) आँधी के समान जो कहीं आश्रय नहीं लेता क्षेत्र में, तीर्थ में, नगर में, ठहरना नहीं जानता (८९) पागल गिरगिट जैसे बारम्बार वृक्ष पर चढ़ता और बार बार नीचे उतरता है वैसे ही जो कोर

परिभ्रमण करता रहता है, (६९) मिट्टी की नाँद जैसे गाड़े बिना स्थिर नहीं रह सकती वैसे ही जो लेटता है तभी ठहरता है अन्यथा अस्थिर घूमता रहता है, (६१) बस मनुष्य में अत्यन्त अज्ञान है। जो चपलता में बन्दर का ही भाइ, (६२) और हे धनुर्धर! जिसके अन्तःकरण को संयम का बन्धन नहीं है, (६३) नाले में आई हुई बाढ़ जैसे बालू की बँधिया को कुछ नहीं समझती, वैसे ही जो नियम की आज्ञा को नहीं करता (६४) जिसके कर्म व्रतों के प्रतिबन्ध को तोड़ डालते हैं, स्वधर्म का पाँवों से उल्लङ्घन करते हैं और नियम की आज्ञा तोड़ डालते हैं, (६५) जो पाप से नहीं पछताता, पुण्य की आदेशा नहीं जानता, और लज्जा की सीमा तोड़ डालता है; (६६) जो कुल के विपरीत चलता है, वेदाज्ञाओं से दूर रहता है, और कृत्याकृत्य व्यापार की छान-बीन नहीं करता; (६७) साँड़ जैसा मुक्त रहता है, वायु जैसे विस्तार से बहती है, अरण्य में जैसे फूटी हुई नहर का पानी चाहे जिस ओर बहता है, (६८) अन्धा हाथी जैसे पागल हो जाय, अथवा पर्वत में जैसे दावाग्नि लगे, वैसे ही जिसका चित्त विषयों में मुक्त सञ्चार करता है, (६६) घूरे पर क्या नहीं फेंका जाता? खुली जगह पर से कौन नहीं जाता? नगर के द्वार की देहरी कौन नहीं लाँघता? (७००) अमत्र^ का अन्न कौन नहीं लेता? साधारण मनुष्य को अधिकार प्राप्त हो तो वह किस पर अधिकार नहीं चलाता? बनिये की दूकान पर कौन नहीं जाता? (१) ऐसे ही जिसका अन्तःकरण है उस मनुष्य में सम्पूर्ण अज्ञान की सम्पत्ति समझो। (२) जो मरे या जीये परन्तु विषयों का प्रेम नहीं छोड़ता, स्वर्ग में भोगने के लिए भी यहीं से बाँध ले जाता है, (३) जो निरन्तर भोगों के लिए श्रम करता है, जिसे काम्यक्रीडा का व्यसन है, जो वैराग्यशील पुरुष का मुँह देखकर वस्त्रों-समेत स्नान करता है, (४) विषय थकता जावे परन्तु जो आप नहीं थकता है, स लालपन होता है और कोढ़ी जैसे सड़े हुए हाथों से खुजाता है, (५) जैसे गधा पिछले नहीं देखती, धूमती और लातों से मारे फेरती है तथापि नर पीछा नहीं छोड़ता (६) वैसे ही जो विषयों के लिए जलती हुई आग में कूदता है और शरीर में व्यसनों के कष्ट धूम पड़ता है; (७) जैसे मृग मुँह खुले हुए तक जल पीने की आशा रखता बढ़ाता है परन्तु मृगजल की माया नहीं समझता (८) वैसे ही जन्म

से मृत्यु तक अनेक प्रकार से स्त्रियों से व्याकुल होते हुए भी जो अकुलाहट नहीं समझता, वरन् और अधिक प्रेम करता जाता है, (९) जिसे प्रथम बाल्यावस्था में जहाँ माता पिता का भ्रम था, उसके समाप्त होते ही जो स्त्री के शरीर में भूला रहता है, (७१०) फिर स्त्री-भोग कर वृद्धावस्था आती है, तो जो वैसा ही प्रेमभाव पुत्रों पर करता है, (११) जैसे अन्धे का पुत्र हो वैसे ही जो अपने पुत्र का आलिङ्गन करता है, इस प्रकार जो मृत्यु तक स्त्रियों से नहीं उकताता (१२) उसके अज्ञान का पार ही न समझो। अब हम और भी कुछ चिह्नों का वर्णन करते हैं। (१३) देह ही आत्मा है ऐसा सोच कर जो कर्म का आरम्भ करता है, (१४) और ऊना-पूरा [सम-विषम] जो जो कर्म कर उसके आविर्भाव से चिल्लाने लगता है, (१५) सिर पर प्रसाद रखने से मन्दिर का पुजारी जैसा गर्व से फूलने लगता है वैसे ही जो विद्या और वय से गर्वित हो आँखें उठाये हुए चलता है, (१६) और समझता है कि मैं ही एक धनवान् हूँ, मेरे ही घर सम्पत्ति है, मेरे समान चाल-चलन किसका है? (१७) मेरे समान बड़ा कोई नहीं है, मैं ही एक सबल प्रसिद्ध हूँ, इस प्रकार जो सब बातों में घमण्डी हो रहता है, (१८) जैसे रोगी मनुष्य कोई उपभोग नहीं सह सकता वैसे ही जो दूसरे का भला नहीं सहता (१९) दीपक जैसा गुण—अर्थात् बत्ती—खा जाता है और स्नेह अर्थात् तेल जला डालता है, और जहाँ रक्खो वहाँ काजल अर्थात् कालिमा कर डालता है, (७२०) तथा जल सींचने से चिड़चिड़ाता है, वायु लगते ही प्राण छोड़ देता है, परन्तु कहीं सुलग जाय तो तिनका भी नहीं बचने देता, (२१) थोड़ा-सा प्रकाश करता है तो उतने से ही उष्णता करता है, उस [दीपक] के समान जो मनुष्य गुणी है, (२२) औषधि के नाम से भी दूध पीने से जैसे नवज्वर कुपित हो जाता है, अथवा सर्प को दूध पिलाने से जैसे वह विष बन जाता है (२३) वैसे ही सद्गुणों से जिसे मत्सर विद्वत्ता से अहङ्कार और तप और ज्ञान से अपार अभिमान बढ़ता है; (२४) शूद्र को जैसे राज्य पर बैठाया हो अथवा अजगर ने जैसे खम्भा लील लिया हो वैसा ही जो गर्व से फूला हुआ दिखाई देता है (२५) जैसे बेलन नवता नहीं पत्थर पसीजता नहीं और फुफकार छोड़नेवाला साँप जैसे बाजीगर के वश नहीं होता, वैसे ही जो मनुष्य गुणी जनों के वश नहीं होता (२६) बहुत

कहीं तक वर्णन करें, ऐसे मनुष्य के पास अज्ञान की वृद्धि होती है यह हम तुमसे निश्चय से कहते हैं। (२७) और भी हे अर्जुन! जो घर, देह, इत्यादि समुदाय में लगा हुआ पिछले जन्म का स्मरण नहीं कर सकता, (२८) कृतघ्न जैसे उपकार को भूल जाता है, अथवा दिये हुए धन को जैसे चोर दाब बैठता है, पूर्व स्तुति को जैसे निर्लज्ज मनुष्य भूल जाता है, (२९) सुरसुरी करते हुए हटाया जाय, तथापि कुत्ता जैसे फिर से वैसे ही पीछे कान-पूँछ फटफटाता और सुरसुरी करता हुआ आता है (७३०) दादुर जैसे सम्पूर्ण साँप के मुँह में जा रहा हो तथापि कीड़ों मक्खियों को खीलता रहना नहीं भूलता, (३१) वैसे ही नवों द्वार बह रहे हैं, और शरीर में मूर्तिमान् ताप हो रहा है पर उसका कारण जिसके चित्त में नहीं लगता (३२) यद्यपि वह माता के हृदयरूपी गुहा में विष्ठा की तहों में रह कर नव महीने तक उबाला गया था, (३३) तथापि उस गर्भव्यथा का अथवा उत्पन्न होने के समय की व्यथा का जो बिलकुल स्मरण नहीं करता (३४) गोद का बालक मल-मूत्र कीचड़ में लोट-पोट होता है उसे देखकर भी घिन ठीक नहीं आती या उकताहट नहीं होती; (३५) जो यह भी कुछ नहीं सोचता कि कल ही जन्म हुआ था और शीघ्र ही फिर होनेवाला है; (३६) तथा जीवन की चञ्चलता को देखता हुआ भी जो मृत्यु की चिन्ता नहीं करता (३७) जीवन का विश्वास रख जो मन में यह सच ही नहीं मानता कि संसार में मृत्यु नामक कोई वस्तु होती है, (३८) थोड़े पानी में रहनेवाली मछली जैसे इस आशा से कि यह पानी न सूखेगा अगाध दह में नहीं जाती, (३९) अथवा व्याध के गाने में भूल कर मृग जैसे व्याध की ओर दृष्टि नहीं देते अथवा मछली जैसे वंसी का काँटा न देख आमिष लील लेती है, (७४०) पतङ्ग को जैसे यह बात नहीं सूझती कि दीपक की जगमगाहट जलावेगी, (४१) मूर्ख जैसे निद्रा-सुख में पड़ा हुआ जलता हुआ घर नहीं देखता अथवा जैसे कोई विष से राँधा हुआ अन्न बिना जाने खा जाता है (४२) वैसे ही जो मनुष्य रजोगुणी सुख में भूला हुआ यह नहीं जानता कि इस जीवन के मिस से मृत्यु ही मिलता है (४३) और शरीर की वृद्धि दिन-रात का लाभ विषय-सुख की श्रेष्ठता आदि को जो सत्य मानता है (४४) परन्तु जो बेचारा यह नहीं जानता कि संसार में वेश्या का चरना

तन-मन-धन अर्पण करना ही, लूटना है, (४५) साधु चोरों की संगति प्राप्त होना है, चित्र को पोंछना ही उसका मारा जाना है, (४६) पाण्डुरोग से शरीर का फूलना ही उसका क्षय होना है [इस प्रकार न जानते हुए] जो आहार या निद्रा में भूलता है, (४७) सम्मुख रक्खी हुई शूली पर शीघ्रता से दौड़ने से प्रत्येक डग में जैसे मृत्यु समीप होती जाती है (४८) वैसे ही देह की ज्यों-ज्यों बाढ़ होती जाती है, ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, ज्यों-ज्यों शरीर के उपभोग की अनुकूलता होती जाती है, (४९) त्यों-त्यों मृत्यु अधिकाधिक आयुष्य को बीतती जाती है; पानी में जिस तरह नमक गल जाता है (७५०) उसी तरह जीवन नष्ट हो जाता है, इसलिए काल की ओर दृष्टि रखनी चाहिए, यह बात जिसे हाथों-हाथ नहीं मालूम होती, (५१) हे पाण्डव! बहुत क्या कहें, जो विषयों की माया के कारण शरीर में नित्य नूतन बनी हुई मृत्यु नहीं देखता। (५२) वह मनुष्य, हे महाबाहु अर्जुन! अज्ञान-देश का राजा है। इस वचन को मिथ्या न जानो। (५३) जीवन के सन्तोष से जैसे वह मृत्यु की ओर ध्यान नहीं देता वैसे ही वह तारुण्य के सन्तोष से वृद्धापकाल की ओर भी चित्त नहीं देता। (५४) जैसे पर्वत के कगार पर से चलती हुई गाड़ी, अथवा शिखर से गिरा हुआ पत्थर, सामने की किसी वस्तु की परवा नहीं करता वैसे ही जो आगे बुढ़ापे का विचार ही नहीं करता, (५५) अथवा जङ्गल के नाले में जैसे खूब बाढ़ आती है अथवा टक्कर के समय जैसे भैंसे मस्त हो जाते हैं, वैसे ही जिसे तारुण्य की धुन्ध छा जाती है, (७५६) यद्यपि पुष्टता कम होने लगती है, कान्ति खिसकना चाहती है, मस्तक शिरोभाग में कम्प आरम्भ करता है, (५७) दाढ़ी सफ़ेद हो जाती है, गर्दन हिलती हुई निषेध प्रकट करती है, तथापि जो माया का विस्तार करता है; (५८) आगला मनुष्य छाती पर आ गिरे तब तक जैसे अन्धे को दिखाई नहीं देता, अथवा घर में लगी हुई आग मुँह पर गिरते तक आलसी मनुष्य जैसे सन्तोष से सोता रहता है (५९) वैसे ही आज का तारुण्य भोगते हुए जो कल आनेवाले वृद्धापकाल का स्मरण नहीं करता वही मनुष्य यथार्थ में अज्ञानी है। (७६०) देखो, अशक्त और पंगु लोगों का देखकर जो उन्हें गर्व से चिढ़ाने लगता है, परन्तु यह नहीं समझता कि कल मेरा भी यही हाल होगा, (६१) और शरीर में वृद्धावस्थारूपी मृत्यु

क्षय चिह्न प्रकट होने पर भी जिसका तारुण्य का भ्रम नहीं मिटता (६९२) वह अज्ञान का घर है। यह हमारा सत्य उत्तर है। तथा उसके और भी बड़े-बड़े लक्षण सुनो। (६९३) व्याघ्र के जङ्गल में जैसे कोई पशु यदि एक बार भाग्यवशात् चर आवे तो उस विश्वास से वह फिर वहीं दौड़ जाता है, (६९४) अथवा जैसे साँप के बिल में रक्खा हुआ द्रव्य अकस्मात् बिना अपाय के कोई ले आवे तो वह इतने ही से उस स्थान में सर्प के विषय में निश्चय से नास्तिक बन जाता है, (६९५) तथा जैसे किसी को अकस्मात् एक-दो बार सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो वह यह नहीं मानता कि उस पर कोई सर्प रहता है, (६९६) वैरी सो गया और मेरा शत्रु समाप्त हो चुके ऐसा जो कोई सोचता है वह जैसे लड़कों-बच्चों-सहित प्राणों से वञ्चित हो रहता है, (६९७) वैसे ही आहार और निद्रा की बाढ़ से जब तक रोग नहीं आता तब तक जो व्याधि की चिन्ता नहीं करता (६९८) और स्त्री-पुत्र इत्यादि के समुदाय से ज्यों-ज्यों सम्पत्ति अधिक होती जाती है त्यों-त्यों धुन्ध से जिसके नेत्र अन्धे होते जाते हैं, (६९९) शीघ्र ही वियोग हो जायेगा अथवा दिन डूबते ही विपत्ति आ जायेगी इस प्रकार जो आगामी दुःख का विचार नहीं करता, (७००) वह मनुष्य हे पाण्डव! अज्ञान-रूप है। वह मनुष्य भी अज्ञानी समझा जाना चाहिए जो इन्द्रियों को मनमानी चरने देता है, (७०१) जो तारुण्य के सुख में और सम्पत्ति के समागम में रह कर सेव्य और असेव्य दोनों पदार्थ खाता जाता है, (७०२) जो करना न चाहिए सो करता है, जो सोचना न चाहिए सो सोचता है, जिसकी चिन्ता न करनी चाहिए उसकी चिन्ता करता है, (७०३) जहाँ न घुसना चाहिए वहाँ घुसता है जो लेना न चाहिए सो माँगता है, और जहाँ शरीर या मन से भी छूना न चाहिए वहाँ स्पर्श करता है, (७०४) जहाँ जाना न चाहिए वहाँ जाता है, जो देखना न चाहिए सो देखता है और जो खाना न चाहिए सो खाता और सन्तुष्ट होता है, (७०५) जो सङ्ग न करना चाहिए सो करता है, जहाँ सम्बन्ध न रखना चाहिए वहाँ रखता है, और जिस मार्ग से न चलना चाहिए उससे चलता है (७०६) जो न सुनना चाहिए सो सुनता है जो न बोलना चाहिए सो बकता है, तथा जो यह भी नहीं जानता कि ऐसा आचरण करने से कोई पाप होता है, (७०७) शरीर और मन को अच्छा लगने ही के कारण जिसे करणीयाकरणीय

का विस्मरण हो जाता है, तथा जो कर्तव्य के नाम से विपरीत ही करता है, (७८) परन्तु मुझे पाप होगा अथवा नरक-यातना प्राप्त होगी इन बातों का जो सर्वथा विचार नहीं करता (७९) ऐसे मनुष्य के समागम से जगत् में अज्ञान इतना बलवान् हो गया है कि वह ज्ञान के साथ भी मुठभेड़ी कर सकता है। (८०) परन्तु वह रहने दो, और भी अज्ञान के चिह्न सुनो जिससे तुम उसका स्वरूप ठीक समझ सको। (८१) नये निकले हुए सुगन्धित केसर में जैसे भ्रमरी आसक्त रहती है वैसे ही जिस मनुष्य की पूरी प्रीति घर में लगी हुई है, (८२) खाँड़ की राशि पर बैठी हुई मक्खी जैसे नहीं उठती वैसे ही जिसका मन स्त्री-चित्त में व्याप्त रहता है, (८३) दादुर जैसे कुण्ड में पड़ा रहता है, मशक जैसे नाक में चिपटा रहता है और जैसे सम्पूर्ण कीचड़ में फँसा रहता है, (८४) वैसे ही जो अन्तःकरण, मन और प्राण-पूर्वक घर से नहीं निकलता तथा जो अजगर भूमि में साँप होकर रहता है, (८५) प्राणप्यारे के कण्ठ से जैसे स्त्री आलिङ्गन देती है, वैसे ही जो अपना घर अन्तःकरण से लगा रखता है (८६) रस के हेतु जैसे भ्रमर मधु की रक्षा करता है वैसे ही जो अपने घर का संगोपन करता है, (८७) वृद्धापकाल में बड़ी कठिनता से उत्पन्न हुए पुत्र-रत्न पर जैसे माता-पिता का प्रेम रहता है (८८) उसी प्रकार हे पार्थ! जिसे अपने घर पर प्रेम की अवस्था रहती है, और जो स्त्री के सिवाय सर्वथा कुछ नहीं जानता, (८९) तथा जो अन्तःकरण से और सब भावों से स्त्री के शरीर में रहता हुआ, मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है यह कुछ नहीं जानता, (७९०) ब्रह्म-रूप होने पर जैसे सिद्ध पुरुष के चित्त के सब व्यापार बन्द हो जाते हैं (९१) वैसे ही जिसे हानि और लज्जा नहीं दिखाई देती, जो लोगों की निन्दा की ओर चित्त नहीं देता, जिसकी इन्द्रियाँ भी मैं एकत्र कर ली हैं, (९२) जो स्त्री के चित्त की आराधना करता है उसी की धुन से बाज़ीगर के बन्दर जैसा नाचता है, (९३) मित्र को कष्ट देता है, इष्ट-मित्रों का भी घुमाता है और जैसे लोभी धन की ही दृष्टि करता है (९४) वैसे ही जो दान-पुण्य की तो कमी करता है, गोत्र-कुटुम्बियों की वञ्चना करता है, परन्तु स्त्री के माँगे हुए विषयों में कभी नहीं पड़ने देता, (९५) जो पूजा के देवताओं की हाथमटोल करता है, शब्दों से गुरु की भी वञ्चना करता है, माता

पिता को दरिद्रता दिखाता है (६६) परन्तु स्त्री के लिए अनेक उप-भोगों की सम्पत्ति और जो वस्तु उत्तम दिखाई दे सो लाता है, (९७) प्रेम-सम्पन्न भक्त जैसे अपने कुल-देवता को भजता है वैसे ही जो एकाग्र चित्त से अपनी स्त्री की उपासना करता है, (९८) उत्तम और मूल्यवान् जो वस्तुयें हों सो सब स्त्री को ही देता है और दूसरों को निर्वाह के योग्य भी नहीं देता, (९९) जो यह समझता है कि यदि स्त्री को कोई आँख उठा कर देखे या उसका विरोध कर तो युग ही डूब जायेगा, (८००) दाद के चट्टों के डर से जैसे नागों की सोगन्ध नहीं तोड़ी जाती वैसे ही जो स्त्री की चिन्ह पूरी करता है, (१) बहुत क्या कहें, हे धनञ्जय! स्त्री ही जिसका सर्वस्व है, और उसी से उत्पन्न हुए बालकों पर जो प्रेम करता है (२) और जो उसकी समस्त सम्पत्ति है उसे जो प्राणों से भी प्यारी समझता है, (३) वह मनुष्य अज्ञान का मूल है। अज्ञान को उसी से बल प्राप्त होता है। (४) और मनुष्य समुद्र में छूटी हुई नावें जैसे लहरों के आन्दोलन से हिलोरें लेती हैं, (५) वैसे ही जो प्रिय वस्तु पाते ही सुख से उछलता और अप्रिय के संग ही दुःख से नीचे गिरता है (६) इस प्रकार जिसके चित्त में विषमता दिखाई देती है वह हे महामति! अज्ञानी है। (७) और जैसे मन के हेतु कोई वैराग्य का ढोंग बनावे वैसे जो फल के हेतु मेरी भक्ति की इच्छा करता है, (८) अथवा व्यभिचारिणी स्त्री जैसे मन में जारकर्म का हेतु रखकर ऊपर से पति की मर्जी के अनुसार चलती है (९) वैसे ही हे किरीटी! जो मेरी भक्ति के द्वारा विषयों पर दृष्टि रखता है, (८१०) और भजन करते ही वह विषय प्राप्त न हो तो भजन छोड़ देता है और कहता है कि यह सब झूठ है (११) जो किसी गँवार किसान के समान जुदे-जुदे देवों की पूजा करता है और जैसा एक देव का वैसा ही दूसरे देव का भजन करता है (१२) जहाँ ठाट-बाट देखता है उसी गुरुमार्ग का अवलम्बन करता है, उसी का मंत्र सीखता है और दूसरे का नहीं, (१३) प्राणियों पर निष्ठुर होता है पर पत्थरों पर निष्ठा रखता है तथा जिसका एकनिष्ठता से निर्वाह नहीं होता, (१४) जो मेरी मूर्त्ति बना कर घर के कोने में बैठाता है परन्तु आप अन्य देवताओं की यात्रा करता फिरता है, (१५) नित्य मेरी पूजा करता है पर किसी कार्य के समय कुलदेवता को भजता है तथा पर्व-विशेष आने पर किसी दूसरे की पूजा करता है, (१६) मेरी

स्थापना करता है परन्तु मानता दूसरे की करता है, श्राद्धकाल में पितरों का भक्त बनता है, (१७) एकादशी के दिन जितना हमारा आदर करता है उतना ही पञ्चमी के दिन नागों का करता है, (१८) चतुर्थी का दिन लगते ही वह गणेश का भक्त बन जाता है और चतुर्दशी के दिन कहता है कि हे दुर्गा! मैं तेरा हूँ, (१९) जो नित्य और नैमित्तिक कर्म छोड़ देता है और नवरात्र में चण्डीपाठ इत्यादि करता है, रविवार को भैरव के नाम की थाली परोसता है, (८२०) अनन्तर सोमवार आता है तो बेल का पत्ता लेकर शिवलिङ्ग पर चढ़ाता है इस प्रकार आप एक ही है पर सम्पूर्ण देवों की सेवा करता है, (२१) गाँव की वेश्या जैसे सभी पर प्रीति करती है, वैसे जो सबका भजन करता है और क्षण-भर भी स्वस्थ नहीं रहता, (२२) इस प्रकार जो चारों ओर दौड़नेहारा भक्त हो उसे मूर्तिमान् अज्ञान का अवतार जानो। (२३) और एकान्त, निर्मल तपोवन, तीर्थ, नदियों के तीर इत्यादि में जो अरुचि रखता है वह भी अज्ञानी है। (२४) जिसे बस्ती में सुख होता है और भीड़ में आनन्द होता है, तथा जिसे संसार की की हुई स्तुति भाती है वह भी वही है। (२५) और आत्मा प्रकाश करनेहारी जो विद्या है उसे सुन कर ही जो, विद्वान बन, बक-बक करता है, (२६) जो उपनिषद् नहीं पढ़ता, योगशास्त्र में रुचि, नहीं रखता, आध्यात्मिक ज्ञान में जिसका मन नहीं लगता, (२७) आत्मानात्म निरूपण कोई वस्तु है इस बुद्धिरूपी दीवार को तोड़ कर जिसकी बुद्धि स्वच्छन्द आचरण करती है (२८) जो कर्मकाण्ड जानता है, पुराण जिसे कण्ठ हैं जो ज्योतिषी है—जो भविष्य कहे सो होता है, (२९) शिल्पशास्त्र में जो अत्यन्त निपुण है, सूपशास्त्र में प्रवीण है, अथर्ववेद प्रतिपादक विधि में सम्पन्न है, (८३०) जिससे कामशास्त्र भी नहीं बचा जो सम्पूर्ण महाभारत पढ़ा है, और मूर्तिमान् धर्मशास्त्र अपना कर चुका है, (३१) जो नय नीतिशास्त्र समझता है, वैद्यक भी जानता है काव्य और नाटकों में जिसके बराबर चतुर दूसरा नहीं है, (३२) स्मृतियों की चर्चा करता है बाजीगरों का मर्म जानता है, और वेदों का कोष तो जिसके घर दास बनता है, (३३) जो व्याकरण में निपुण है, न्यायशास्त्र में पूर्ण है, परन्तु एक आत्मज्ञान में ही जो निश्चय से अन्धा बना है, (३४) उस मनुष्य का मुख न देखना चाहिए, जैसे कि मूल नक्षत्र में जन्मे हुए

खड़कों का मुख नहीं देखा जाता। बस, एक आत्मज्ञान के सिवाय यद्यपि वह सम्पूर्ण शास्त्रों के सिद्धान्तों का आधारभूत हो तथापि व्यर्थ जाय वह ज्ञान !! (३५) मोर के शरीर में बहुतेरे नेत्राकार-पुच्छ-पङ्ख होते हैं, परन्तु उनमें जैसे दृष्टि नहीं रहती वैसा ही उसका ज्ञान है। (३६) यदि परमाणु के बराबर भी अमृत-सञ्जीवनी जड़ी हाथ मिल जाय तो दूसरी वस्तुओं से गाड़ी भर कर क्या करना है ? (३७) आयुष्य के बिना जैसे शरीर के पिण्ड मस्तक के बिना श्रृङ्गार, वधू और वर के बिना जैसे बधाई केवल विडम्बना ही है, (३८) वैसे ही हे पार्थ! एक अध्यात्मज्ञान के बिना सब शास्त्र समूह सर्वथा भ्रम मात्र है। (३९) इसलिए हे अर्जुन! जिस शास्त्रसमूह को अध्यात्मज्ञान का नित्य-बोध नहीं रहता (८४०) उसका शरीर धारण करना अज्ञान के बीज की वृद्धि करना है। उसकी विद्वत्ता मानों अज्ञान की बेल है। (४१) वह जो-जो बोलता है सो अज्ञान के फूल हैं और उसका पुण्य अज्ञान के फल हैं। तथा जो आध्यात्मिक ज्ञान पर सर्वथा श्रद्धा नहीं रखता (४२) उसे कोई तत्त्वार्थ प्राप्त नहीं होता यह बात कहने की आवश्यकता ही क्या है ? (४३) जो इस पार भी न पहुँच, पलट कर भाग जाता है उसे उस पार की वार्ता कैसे मालूम हो सकती है ? (४४) अथवा देहरी में ही जिसका सिर काट कर गाड़ दिया जाय वह घर के भीतर रक्खा हुआ द्रव्य कैसे देख सकेगा ? (४५) वैसे ही हे धनञ्जय ! अध्यात्मज्ञान से जिसकी पहचान भी नहीं है उसे तत्त्वार्थ कैसे दिखाई दे सकता है ? (४६) अतएव यह बात और भी स्पष्ट रूप से कहने की कुछ आवश्यकता नहीं कि वह मनुष्य ज्ञान का तत्त्व नहीं देख सकता। (४७) गर्भिणी स्त्री को अन्न परोसना ही जैसे गर्भ के बालक की तृप्ति करना है वैसे ही पीछे जो ज्ञान का निरूपण किया उसी से अज्ञान का निरूपण हो चुका था। (४८) पुनः अलग निरूपण करने का कुछ कारण नहीं था। अन्धे को निमन्त्रण करने से उसके सङ्ग एक नेत्रवाला आ ही जाता है (४९) तथापि हमने अमानित्व इत्यादि ज्ञान-चिह्नों का ही फिर से उलटी रीति से वर्णन किया है। (८५०) क्योंकि ज्ञान के ये अठारह चिह्न उलटे करने से सहज ही अज्ञान के आकार को प्राप्त हो जाते हैं। (५१) श्रीमुकुन्द ने ग्यारहवें श्लोक के उत्तरार्ध के दूसरे अर्ध भाग में ऐसा कहा है कि इन्हीं ज्ञान-लक्षणों का उलटा अज्ञान होता है। (५२) इसलिए

मैंने भी इस प्रकार से विस्तार किया। अन्यथा कूप में चुल्लू-भर पानी मिला कर क्या करना है? (५३) मैं अधिक बक नहीं करता। पद की मर्यादा नहीं छोड़ता। केवल मूल-ध्वनि के प्रकट करने के लिए मैं एक निमित्त बनता हूँ। (५४) तब श्रोताओं ने कहा हे कवि-पोषक! ठहरो। इस आक्षेप के परिहार की क्या आवश्यकता है? वृथा क्यों करते हो? (५५) तुमसे श्रीकृष्ण ने ही कहा है कि जो अभिप्राय हमने गुप्त रक्खे हों उन्हें तुम प्रकट करो। (५६) वह देव का मनोगत ही तुम हमें स्पष्ट कर दिखा रहे हो। पर यह सुन कर भी तुम्हारा चित्त प्रेम से भर आवेगा, (५७) अतएव रहने दो। हम अधिक नहीं बोलते तथापि हमें बड़ा सन्तोष हुआ है कि हमें श्रवण-सुख देनेवाली ज्ञानरूपी नौका प्राप्त हुई है। (५८) अब, इस अनन्तर जो कुछ श्रीहरि ने कहा उसका शीघ्र वर्णन करो। (५९) यह सन्त-वचन सुनते ही निवृत्तिदास ने कहा—श्री सुनिए, देव ने कहा (८६०) हे पाण्डव! यह जो तुमने सम्पूर्ण ज्ञानगुणसमुदाय सुना उसे अज्ञान का भाग जानो। (६१) इस अज्ञान के भाग की ओर पीठ दे, ज्ञान के विषय भली भाँति दृढ़ होना चाहिए। (६२) तदनन्तर शुद्ध ज्ञान के द्वारा अन्तःकरण में ज्ञेय वस्तु की भेंट होगी। इस ज्ञेय को जानने की अर्जुन ने आशा प्रकट की (६३) तब उसका भाव जान कर सर्वज्ञों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि सुनो, अब हम ज्ञेय के अभिप्राय का वर्णन करते हैं। (६४)

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

परब्रह्म को ज्ञेय कहते हैं। उसका कारण यही है कि वह ज्ञान के सिवाय और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता। (६५) और जिसे जान कर कुछ कर्तव्य बाकी नहीं रहता, जिसका ज्ञान ही तद्रूपता प्राप्त करा देता है (६६) जिसके ज्ञान से, संसार को किनारे लगा जाननेवाला नित्यानन्द के पेट में डूब रहता है (६७) वह ज्ञेय एक ऐसी वस्तु है कि जिसका आरम्भ नहीं होता जो सहज है जिसे परब्रह्म कहते हैं (६८) जो—नहीं है—कहो तो विश्व के आकार से दिखाई देता है, और जो—विश्व ही है—कहो तो भी सत्य नहीं है, क्योंकि वास्तव में विश्व मायारूप है। (६९) उस ज्ञेय के रूप वर्ण,

क्योंकि नहीं है, वह दिखाई नहीं देता, देखनेहारा नहीं है, तो यह कैसे कहा जाय कि वह कौन है और कैसा है? (७०) और यदि यह सत्य माना जाय कि वह नहीं है, तो महत्तत्व इत्यादि किस आधार पर दिखाई देते हैं तथा क्या वस्तु बिना कुछ भी दिखाई दे सकता है? (७१) अतएव जिसे देखकर 'है' या 'नहीं है' कहने वाली भाषा ही गूँगी हो जाती है, जहाँ विचार का मार्ग ही बन्द हो जाता है, (७२) जैसे मटका, घड़ा या लहरी* में पृथ्वी ही सब आकार से रहती है वैसे ही जो सर्वत्र सर्वरूप से बस रहा है, (७३)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

—सब देशों और सब कालों में, देश-काल से भिन्न न होते हुए स्थूल और सूक्ष्मों की क्रियाएँ जिसके हाथ हैं, (७४) इसलिए जिसे विश्व बाहु कहते हैं, जो सबरूप होते हुए सर्वदा सब कुछ करता है, (७५) और हे धनञ्जय! जो एक ही समय सब ठौरों में आ पहुँचा है, इसलिए जिसे विश्वपाद कहते हैं, (७६) सूर्य के शरीर में जुदी जुदी आँखें न रहने पर भी वह स्वरूपतः देखनेहारा है वैसे ही जो सम्पूर्ण स्वरूप से सबद्रष्टा है, (७७) इसलिए जिसे विश्वचक्षु कहते हैं, इस प्रकार जिस अवस्तु का वर्णन करने के लिए वेद समर्थ हुए हैं, (७८) जो नित्य सबके सिरों पर सब प्रकार से रहता है, इस कारण जिसे विश्व मूर्धा कहते हैं, (७९) [illegible] मूर्ति ही मुख है क्योंकि वह [illegible] सब प्रकार से [illegible] है (८०) [illegible] (८१) और [illegible] (८२) [illegible] (८३) [illegible] (८४) [illegible]

है, (८५) देखने में यों दिखाई देता है कि मानों एक लहर को दूसरी लहर लील लेती है परन्तु क्या लीलनेहारी लहर लीली जानेवाली से जुदी है ? (८६) वैसे ही यथार्थ में जो एक ही है, उसमें व्याप्य और व्यापक कहाँ रह सकते हैं ? परन्तु बोलने में व्यय-भर ऐसा वर्णन करना पड़ता है। (८७) शून्य दिखाना हो तो एक बिन्दु बनाना पड़ता है। वैसे ही अद्वैत का वर्णन करना हो तो द्वैत का स्वीकार करना पड़ता है। (८८) नहीं तो हे पार्थ! गुरु-शिष्य के सम्प्रदाय को बाधा प्रतिबन्ध हो जायेगा और वर्णन करना असाध्य हो जायेगा। (८९) इसलिए श्रुति ने द्वैत की रीति से अद्वैत-निरूपण का मार्ग प्रचलित किया है। (९०) अब वही ज्ञेय नेत्रों को दिखाई देनेवाले आकार में किस प्रकार भरा है सो सुनो। (९१)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

हे किरीटी! वह ऐसा व्यापक है जैसा आकाश में आकाश अथवा जैसा पट में तन्तु पटरूप हो रहता है। (९२) रस जैसा जल होकर जल में रहता है, तेज जैसा दीपरूप से दीपक में रहता है, (९३) सुगन्ध जैसी कपूररूप से कपूर में रहती है, कर्म जैसा शरीररूप हो शरीर में रहता है, (९४) किंबहुना हे पाण्डव! सोने का कण जैसे सोना ही है वैसे ही जो सम्पूर्ण जगत् में मूर्तिमान् है (९५) सोना कण में रहता है तब कण-सा दिखाई देता है अन्यथा सोने सरीखा सोना ही है, (९६) टेढ़ा प्रवाह ही आड़ा-टेढ़ा होता है! परन्तु पानी सरल ही बना है, लोहे में अग्नि व्याप्त हो जाती है तो क्या लोहा नहीं रहता? (९७) आकाश जब घटाकार से व्याप्त होता है तब गोल दिखाई देता है, परन्तु मठ में वही आकाश चौकोन आकार का दिखाई देता है, (९८) परन्तु वे गोल आकार जैसे आकाश नहीं हैं, ऐसे ही जो पदार्थ विकार रूप होकर भी विकारी नहीं है, (९९) हे धनञ्जय! मन जिनमें मुख्य है ऐसी इन्द्रियों और सत्त्व इत्यादि गुणों के समान जो दिखाई देता है, (९००) परन्तु जैसे गुड़ की मधुरता उसकी भेली के आकार में नहीं रहती वैसे ही जिसमें गुण और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, (१) अजी, यह सत्य है कि क्षीर की स्थिति में घृत ही क्षीर के आकार से रहता है परन्तु हे धनुर्धर! जैसे घृत क्षीर नहीं है (२) वैसे ही जो इन

विकारों में तो रहता है परन्तु विकार नहीं है, वह ज्ञेय है। वास्तव में सोने के कुण्डल इत्यादि अलङ्कार आकार के ही नाम हैं, और सोना तो सोना ही है। (३) हे धनञ्जय! इस स्पष्ट भाषा से उस ज्ञेय का गुण और इन्द्रियों की भिन्नता समझ लो। (४) नाम और रूप का सम्बन्ध, जाति और क्रियाओं के भेद आदि सब आकार की ही संज्ञाएँ हैं, ब्रह्म की नहीं। (५) ब्रह्म कभी गुण नहीं होता। गुण से उससे सम्बन्ध नहीं है, परन्तु गुणों का आभास उसी में होता है। (६) इसी से अज्ञानियों के मन में ऐसा मालूम होता है कि ये गुण ब्रह्म में ही हैं। (७) परन्तु यह गुण-धारण करना ऐसा है जैसे आकाश मेघ को धारण करता है, अथवा दर्पण प्रतिबिम्ब धारण करता है, (८) अथवा जल जैसे सूर्य का प्रति-मण्डल धारण करता है, अथवा सूर्य की किरणें जैसे मृगजल को धारण करती हैं, (९) वैसे ही निर्गुण ब्रह्म, सम्बन्ध के बिना ही, सब कुछ धारण करता है परन्तु यह बात वृथा ही भ्रम की दृष्टि के कारण दिखाई देती है। (१०) निर्गुण गुणों को ऐसा भोगता है जैसे कोई रङ्क स्वप्न में राज्य करे। (११) अतएव निर्गुण के विषय में गुणों का सङ्ग अथवा गुणों का भोगरूपी सम्बन्ध कहना उचित नहीं है। (१२)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

हे पाण्डुसुत! जो चराचर भूतों में व्याप्त है, अथवा उष्णता जैसे अग्नि में अभिन्न रहती है, (१३) वैसे ही जो अविनाशी रहता हुआ सूक्ष्म दशा से सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है उसे ज्ञेय जानो। (१४) जो अन्तर्बाह्य एक है जो समीप और दूर एक है, जिसमें एक के सिवाय दूसरी बात ही नहीं है, (१५) जैसे क्षीर-समुद्र की मधुरता बीच में बहुत और तीर पर थोड़ी नहीं होती उसी प्रकार का पूर्ण है, (१६) स्वेदज इत्यादि अथवा अण्डज प्राणियों में जिसकी अखण्ड व्याप्ति है (१७) हे भाग्यों के मुख्य निवास! हज़ारों छोटे-बड़े घटों में प्रतिबिम्बित हुई चन्द्रिका जैसे भिन्न नहीं होती (१८) अथवा लवण की राशि के कणों में जैसे एक ही खारता रहती है अथवा करोड़ों ईखों में जैसे एक ही मधुरता रहता है (१९)

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

—वैसे ही अनेक प्राणिसमुदायों में जो एक ही व्याप्त है, हे सुमति! जो विश्वकाय का कारण है, (९२०) इसलिए जहाँ से यह भूताकार उत्पन्न होता है वही जिसका आधार है, जैसे कि समुद्र ही तरंगों का आधार होता है, (२१) बाल्य इत्यादि तीनों अवस्थाओं में काया जैसे एक ही रहती है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार में जो अखण्ड रहता है, (२२) जैसे कि प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल इत्यादि दिनमान होते जाते हैं तथापि आकाश नहीं बदलता, (२३) हे प्रियोत्तम! सृष्टि की उत्पत्ति के समय जिसे ब्रह्मदेव कहते हैं, स्थिति के समय जो विष्णु के नाम को प्राप्त होता है, (२४) और जब इस आकार का लोप होता है तब जिसे रुद्र कहते हैं, और तीनों गुणों का जब लोप हो जाता है तब जो शून्य (२५) नभ के शून्यत्व का ग्रास करके और तीनों गुणों का नाश करके शून्यरूप रह जाता है, वह श्रुति वचनों द्वारा स्वीकार किया हुआ ब्रह्म है। (२६)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

—जो अग्नि की अग्नि का तेज है, चन्द्र का जीवन है, सूर्य के नेत्र जिसके द्वारा देखते हैं, (२७) जिसके प्रकाश से तारागण प्रकट होते हैं, महातेज जिससे प्रकाशित होता है (२८) जो सबसे मूल पदार्थों की आदि है, वृद्ध को वृद्धित्व देनेहारा, बुद्धि का प्रकाशक और अन्तःकरण को चेतना देनेहारा है, (२९) जो मन को मनत्व देनेहारा, नेत्रों को दृष्टि देनेहारा, कानों को श्रवण करानेहारा और वाणी को वाचा-शक्ति देनेहारा है, (९३०) जो प्राणों का प्राण है, जिसके कारण गति को चलने की शक्ति और क्रिया को कर्तृत्व-शक्ति प्राप्त होती है, (३१) जिससे आकार को आकारता प्राप्त होती है, विस्तार फैला हुआ दीखता है, हे पाण्डुकुँवर! संहार को जिससे मारक-शक्ति प्राप्त होती है, (३२) जो पृथ्वी को धारण करने की शक्ति देनेहारा है, जो जल का जीवन है, जिस जल से जल को आधार है, जिस दीपक से यह तेज-रूपी दीपक जगाया जाता है, (३३) जो वायु का श्वासोच्छ्वास है, जो गगन का अवकाश है, बहुत क्या कहूँ, सम्पूर्ण

आभास जिसके कारण भासमान होता है, (३४) किंबहुना, हे पाण्डव ! जो सम्पूर्ण रूप से भरा हुआ है जिसमें द्वैतभाव का प्रवेश नहीं हो सकता, (३५) जिसे देखते ही दृश्य और द्रष्टा आदि सब एकत्र एक रस में मिल जाते हैं, (३६) और ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय एकरूप हो जाते हैं, जिसके द्वारा निदान का स्थान जाना जाता है, तथा जो वही स्थान-रूप भी है, (३७) जैसे जोड़ करने पर सब संख्याएँ एक हो जाती हैं वैसे ही साध्य और साधन इत्यादि जिस एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं, (३८) हे अर्जुन ! जहाँ द्वैत की गणना नहीं चलती, बहुत क्या कहें, वह सबके हृदय में बस रहा है। (३९)

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार हे सुहृद् ! हमने प्रथम तुम्हें क्षेत्र का स्पष्ट विवेचन कर बताया, (९४०) और क्षेत्र के उपरान्त तुम्हारे स्पष्ट समझने योग्य ज्ञान का वर्णन किया, (४१) और जब तक तुम्हारी इच्छा थक कर बस कहने की हो तब तक अज्ञान का भी खूब कुशलता से निरूपण किया (४२) और अब युक्ति के साथ ज्ञेय का भी स्पष्ट और विस्तृत निरूपण हो चुका। (४३) हे अर्जुन ! यह सब विवेचन बुद्धि में रख कर जो मेरी भावना से मद्रूपता प्राप्त करते हैं (४४) देह इत्यादि परिवार का त्याग करके जिन्होंने मुझे अपने अन्तःकरण की वृत्ति बना लिया है, (४५) वे पुरुष हे किरीटी ! मुझे इस प्रकार जान कर अन्त में निज को मुझ सदृश कर मद्रूप हो जाते हैं। (४६) यह हमने सब रूप से की सुगम और सब प्रकार से सुगम रीति रची है, (४७) जैसे कि मकान के ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनाते हैं, आकाश में ऊपर चढ़ने के लिए मचान बाँधते हैं अथवा अगाध पानी तय करने के लिए नाव में बैठते हैं (४८) अन्यथा हे धीरोत्तम ! यों कह देने से कि "सब कुछ आत्मा ही है" तुम्हारे मनोगम की समझ न पड़ेगी, (४९) इसलिए तुम्हारी बुद्धि की मन्दता देखकर हमने एक ही व्यापक वस्तु के चार विभाग किए। (९५०) बालक को जब भोजन कराते हैं तब एक कौर के तीन कौर करते हैं वैसे ही हमने एक ही वस्तु को चार प्रकार से बतला दिया है, (५१) अस्तु, तुम्हारा अवधान देखकर एक क्षेत्र, दूसरा ज्ञान, तीसरा ज्ञेय, और चौथा अज्ञान, ऐसे चार भाग

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

—वैसे ही अनेक प्राणिसमुदायों में जो एक ही व्याप्त है, हे सुमति! जो विश्वकार्य का कारण है, (९२०) इसलिए जहाँ से यह भूताकार उत्पन्न होता है वही जिसका आधार है जैसे कि समुद्र ही तरंगों का आधार होता है, (२१) बाल्य इत्यादि तीनों अवस्थाओं में काया जैसे एक ही रहती है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार में जो अखण्ड रहता है, (२२) जैसे कि प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल इत्यादि दिनमान होते जाते हैं तथापि आकाश नहीं बदलता, (२३) हे प्रियोत्तम! सृष्टि की उत्पत्ति के समय जिसे ब्रह्मदेव कहते हैं, स्थिति के समय जो विष्णु के नाम को प्राप्त होता है, (२४) और जब इस आकार का लोप होता है तब जिसे रुद्र कहते हैं, और तीनों गुणों का जब लोप हो जाता है तब जो शून्य (२५) नभ के शून्यत्व का ग्रास करके और तीनों गुणों का नाश करके शून्यरूप रह जाता है, वह श्रुति वचनों द्वारा स्वीकार किया हुआ ब्रह्म है। (२६)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

—जो अग्नि की अग्नि का तेज है, चन्द्र का जीवन है, सूर्य के नेत्र जिसके द्वारा देखते हैं, (२७) जिसके प्रकाश से तारागण प्रकट होते हैं, महातेज जिससे प्रकाशित होता है (२८) जो सबसे मूल आदि की आदि है, वृद्धि को वृद्धित्व देनेहारा, बुद्धि का प्रबोधक और अन्तःकरण को चेतना देनेहारा है, (२९) जो मन को मनत्व देनेहारा, नेत्रों को दृष्टि देनेहारा, कानों को श्रवण करानेहारा और वाणी को वाचा-शक्ति देनेहारा है, (९३०) जो प्राणों का प्राण है, जिसके कारण गति को चलने की शक्ति और क्रिया को कर्तृत्व-शक्ति प्राप्त होती है, (३१) जिससे आकार को आकारता प्राप्त होती है, विस्तार फैला हुआ दीखता है, हे पाण्डुकुँवर! संहार को जिससे मारक-शक्ति प्राप्त होती है, (३२) जो पृथ्वी को धारण करने की शक्ति देनेहारा है, जो जल का जीवन है, जिस जल से जल को आधार है, जिस दीपक से यह तेज-रूपी दीपक जगाया जाता है, (३३) जो वायु का श्वासोच्छ्वास है, जो गगन का अवकाश है, बहुत क्या कहूँ, सम्पूर्ण

यह प्रथम अहङ्कार के साथ इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और फिर उन्हें कारण की धुन लगा देती है। (६९) यही कारण प्राप्त करने के लिए जिस उपाय का अवलम्ब किया जाता उसे हे धनञ्जय ! कार्य कहते हैं। (९७०) यही प्रकृति प्रबल इच्छा के सहाय से मन को जागृत करती है, और फिर मन इन्द्रियों के द्वारा जो व्यापार करता है सो कर्तृत्व है। (७१) अतएव, सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि इन तीनों कार्य, कारण और कर्तृत्व का मूल प्रकृति है (७२) पर इन तीनों के एकत्र होने से प्रकृति कर्मरूप होती है परन्तु जिस गुण का अधिक बल हो उसी के समान यह आचरण करती है। (७३) जो सत्त्वगुण के आश्रय से निपजता है उसे सत्कर्म कहते हैं। जो रजोगुण से उत्पन्न होता है उसे मध्यम कर्म कहते हैं। (७४) और जो कर्म केवल तम से उत्पन्न होते हैं वे निन्द्य और अधम कहाते हैं। (७५) इस प्रकार भले और बुरे कर्म प्रकृति के कारण उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से सुख-दुःख का निर्णय किया जाता है। (७६) बुरे कर्मों से दुःख उपजता है, और भले कर्मों से सुख उत्पन्न होता है, और पुरुष इन दोनों का भोग लेता है। (७७) जब तक सुख-दुःख उत्पन्न होते रहते हैं तब तक वास्तव में प्रकृति उपज करती है और पुरुष भोगता है। (७८) प्रकृति और पुरुष का हविष्यापार बयान करने में अपरिचित मालूम होता है, क्योंकि उन दोनों में स्त्री कमाती है और पुरुष बैठा खाता है। (७९) इन स्त्री-पुरुषों का कभी सङ्गम या सम्बन्ध नहीं होता तथापि चमत्कार देखिए कि यह स्त्री जगत् को उत्पन्न करती है, (९८०)

> पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
> कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

क्योंकि जो निराधार है, अशक्त है, केवल दरिद्री है, प्राचीन है और अत्यन्त वृद्धों से भी वृद्ध है (८१) उसी को पुरुष नाम पुरुष कहते हैं। वस्तुतः न तो वह स्त्री है न नपुंसक है, किम्बहुना वह क्या है, इसका निश्चय नहीं हो सकता। (८२) वह नयन-रहित है, श्रवण-रहित है, और चरण-रहित है। उसका न रूप है न वर्ण है, न नाम है। (८३) हे अर्जुन! देखो जिसके कुछ भी नहीं है वह प्रकृति का भर्ता है और वही सुख-दुःख का भोगनेवाला है। (८४)

किये हैं। (५२) हे पार्थ! इस रीति से भी यदि यह अभिप्राय तुम्हारे हाथ न आवे, तो इस व्यवस्था का हम और एक बार वर्णन करते हैं। (५३) अब चार विभाग न करेंगे। पर वों कह कर भी अलग नहीं हो जायँगे कि सब कुछ एक है। अब आत्मा और अनात्मा (प्रकृति और पुरुष) की तुलना करते हैं, (५४) परन्तु तुम्हें एक बात करनी चाहिए, हम माँगते हैं सो देना चाहिए; अर्थात् पूर्ण ध्यान से सुनना चाहिए (५५) श्रीकृष्ण के इन वचनों से पार्थ रोमाञ्चित हो गया। तब देव ने कहा—भला, उमङ्ग मत आने दो। (५६) इस प्रकार आये हुए वेग को रोक कर श्रीकृष्ण ने कहा कि अब हम—प्रकृति और पुरुष—यह विभाग कर वर्णन करते हैं, सुनो। (५७) जिस मार्ग को संसार में योगी सांख्य कहते हैं, जिसका वर्णन करने के लिए मैं कपिल हुआ था, (५८) वह निर्मल प्रकृति-पुरुष-विवेक सुनो। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि (५९)

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

—पुरुष अनादि है और प्रकृति भी तभी से उसके साथ है। जैसे दिन और रात दोनों साथ ही रहते हैं, (११०) अथवा हे धनञ्जय! छाया जैसे रूप नहीं है, परन्तु रूप के साथ ही हुआ करती रहती है, अथवा कण के साथ जैसे कण-रहित भूसा भी बढ़ता है (११) वैसे ही ये दोनों [प्रकृति और पुरुष] अनादि काल से ऐसे ही एक जुड़े हुए प्रकट हैं। (१२) क्षेत्र नाम से हमने जिसका वर्णन किया है सो सब प्रकृति समझो, (१३) और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा है सो पुरुष है यह बात मिथ्या मत मानो। (१४) यह तात्पर्य बार-बार ध्यान में रक्खो कि ये नाम अलग-अलग हैं, परन्तु निरूप्य वस्तु कुछ दूसरी नहीं है। (१५) पाण्डुसुत! जो केवल अस्तित्व है उसे पुरुष कहते हैं, और जो समस्त क्रियायें हैं उनका नाम प्रकृति है। (१६) बुद्धि इन्द्रिय अन्तःकरण इत्यादि विकारों की उत्पत्ति और सत्त्व इत्यादि तीनों गुण, (१७) यह सब समुदाय मिल कर प्रकृति होती है। यही कर्मों की उत्पत्ति का कारण है। (१८)

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

यह प्रथम अहङ्कार के साथ इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और फिर उन्हें कारण की धुन लगा देती है। (६९) वही कारण प्राप्त करने के लिए जिस उपाय का अवलम्ब किया जाता उसे हे धनञ्जय! कार्य कहते हैं। (९७०) वही प्रकृति प्रबल इच्छा के सहाय से मन को जागृत करती है, और फिर मन इन्द्रियों के द्वारा जो व्यापार करता है सो कर्तृत्व है। (७१) अतएव सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि इन तीनों कार्य, कारण और कर्तृत्व का मूल प्रकृति है (७२) एवं इन तीनों के एकत्र होने से प्रकृति कर्मरूप होती है परन्तु जिस गुण का अधिक बल हो उसी के समान वह आचरण करती है। (७३) जो सत्वगुण के प्रभाव से निर्माण होता है उसे सत्कर्म कहते हैं। जो रजोगुण से उत्पन्न होता है उसे मध्यम कर्म कहते हैं। (७४) और जो कर्म केवल तम से उत्पन्न होते हैं वे निन्द्य और अधम कहलाते हैं। (७५) इस प्रकार भले और बुरे कर्म प्रकृति के कारण उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से सुख-दुःख का निर्णय किया जाता है। (७६) बुरे कर्मों से दुःख उपजता है, और भले कर्मों से सुख उत्पन्न होता है और पुरुष इन दोनों का भोग करता है। (७७) जब तक सुख-दुःख उत्पन्न होते रहते हैं तब तक वास्तव में प्रकृति उद्यम करती है और पुरुष भोगता है। (७८) प्रकृति और पुरुष का कर्मव्यापार बयान करने में विचित्र मालूम होता है, क्योंकि इन दोनों में स्त्री कमाती है और पुरुष बैठा खाता है। (७९) इन स्त्री-पुरुषों का कभी संगम या सम्बन्ध नहीं होता, तथापि चमत्कार देखिए कि वह स्त्री जगत् को उत्पन्न करती है (९८०)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

क्योंकि जो निराधार है, अकेला है, स्वयं दरिद्री है, प्राचीन है, और अत्यन्त बूढ़ों में भी बूढ़ा है (८१) उसी को आप लोग पुरुष कहते हैं। वस्तुतः न तो वह स्त्री है न नपुंसक है, निदान वह क्या है, इसका निश्चय नहीं हो सकता। (८२) वह नयनरहित है, पादरहित है, और हस्तरहित है। उसके न रूप है, न वर्ण है, न नाम है। (८३) हे अर्जुन! ऐसे जिसके कुछ भी नहीं है वह प्रकृति का भर्ता है और वही सुख-दुःख का भोगनेवाला है। (८४)

वह तो अकर्ता है, उदासीन है, और अभोक्ता है, परन्तु यह पतिव्रता प्रकृति उससे भोग कराती है। (८५) यह अपने रूप और गुणों की थोड़ी सी हलचल करके अपूर्व खेल प्रकट करती है। (८६) इससे उसे गुणमयी कहते हैं। किंबहुना उसे गुणों की ही मूर्ति समझो। (८७) यह प्रति-क्षण सम्पूर्ण रूप और गुणों की नित्य नई बनी है। उसका नशा जड़ वस्तुओं को भी मस्त कर देता है। (८८) नाम उसी के कारण प्रसिद्ध होते हैं, प्रेम उसी के कारण प्रेमल होता है और इन्द्रियाँ उसी से जागृत होती हैं। (८९) मन एक नपुंसक वस्तु है, परन्तु उसे यह तीनों लोकों में घुमाती है। ऐसी-ऐसी उसकी अलौकिक करनी है! (९९०) यह मानों भ्रम का महाद्वीप है, व्याप्ति का रूप है, तथा उसने अपरिमित विकार उत्पन्न किये हैं। (९१) यह काम की मण्डपी है, मोहरूपी वन की माधुरी है, और यही दैवी माया नाम से प्रसिद्ध है। (९२) यह शब्दसृष्टि की वृद्धि करनेहारी है, साकारता उत्पन्न करनेहारी है और निरन्तर प्रपञ्चरूपी राक्षसी है। (९३) कलाएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं, विद्याएँ उसी ने बनाई हैं, इच्छा, ज्ञान और क्रियाओं को उसी ने जन्म दिया है। (९४) यह ध्वनि की टकसाल है चमत्कारों का घर है, किंबहुना यह सब नाद उसी का खेल है। (९५) जो उत्पत्ति और प्रलय होते हैं सो उसी के सुबह शाम हैं। बहुत क्या कहूँ, यह एक अद्भुत मोहिनी है। (९६) यह अद्वितीयता की दूसरी मूर्ति है, निस्सङ्गता की सगोत्र है, और शून्य में घर बाँध कर रहती है। (९७) यहाँ तक उसके सौभाग्य की महिमा है। इसलिए यह उस पुरुष को भी लिपटाती है जिसका आकलन करना अशक्य है। (९८) उस पुरुष में बिलकुल कुछ भी नहीं है, परन्तु आप ही उसका सब कुछ बन जाती है। (९९) आप ही उस स्वयं-सिद्ध की उत्पत्ति बनती है, आप ही उस निराकार की मूर्ति बनती है, और आप ही उसकी प्रतिष्ठा का स्थान बन जाती है, (१०००) आप ही उस इच्छा-रहित की इच्छा, उस पूर्ण की तृप्ति, और उस कुल-रहित की जाति और गोत्र हो जाती है। (१) उस अनिर्वचनीय का लक्षण उस अपार का प्रमाण उस मन-रहित का मन और बुद्धि बन जाती है। (२) उस निराकार का आकार, व्यापार-रहित का व्यापार और निरहङ्कार का अहङ्कार बन बैठती है। (३) उस नाम-रहित का नाम, उस जन्म-रहित

का जन्म बनती है, और आप ही उसके कर्म और क्रिया बन जाती है। (४) आप ही उस निर्मल के गुण, उस चेष्टा-रहित के चेष्टा, उस श्रवण-रहित के श्रवण, उस नयन-रहित के नयन, (५) भावातीत के भाव, और निरवयव के अवयव, किंबहुना, उस पुरुष के सब विकार आप ही बन जाती है। (६) इस प्रकार यह प्रकृति अपनी सर्वव्यापकता के कारण उस अविकारी को विकार के वश करती है। (७) तब, जैसे चन्द्रमा अमावस्या के दिन लुप्त हो जाता है वैसे ही उसका पुरुषत्व इस प्रकृतिस्थिति से लुप्त हो जाता है। (८) एक रत्ती-भर भी हलका सोना बहुत से सोने में मिलाया जाय तो जैसे वह हलका हो जाता है, (९) अथवा सन्ध्याकाल जैसे साधु को भी अपवित्र स्थान में डाल देता है, अथवा प्रकाश रहते हुए भी जैसे आकाश मेघों से ढँक जाता है, (१०१०) जैसे दूध पशु के पेट में ढँका रहता है, अथवा अग्नि जैसे लकड़ी में गुप्त रहती है, अथवा रत्न का दीपक जैसे वस्त्र से आच्छादित हो, (११) अथवा राजा जैसे पराधीन हो, अथवा सिंह रोग से व्याप्त हो वैसे ही पुरुष प्रकृति की सङ्गति से स्वतेज से वञ्चित हो जाता है। (१२) जागता हुआ नर जैसे अकस्मात् निद्रा के वश हो स्वप्न के सुख-दुःख-भोग के अधीन हो जाता है (१३) वैसे ही प्रकृति के होने से पुरुष को गुण भोगने पड़ते हैं। उदासीन पुरुष भी स्त्री के द्वारा जैसे अधीन हो जाता है (१४) वैसे ही उस जन्म-रहित का भी हाल हो जाता है। जब वह गुणों का सङ्ग करता है तो शरीर में जन्म-मृत्यु के घाव पड़ने लगते हैं। (१५) परन्तु हे पाण्डुसुत! वे इस प्रकार होते हैं जैसे तपा हुआ लोहा पीटने से अग्नि पर ही घाव पड़ा जाता है (१६) अथवा पानी हिलाने से जैसे प्रतिबिम्ब इधर उधर हिलता है और लोगों को अनेक चन्द्र दिखाई देने लगते हैं (१७) अथवा दर्पण के समीप रहने से जैसे मुख को द्वितीयता प्राप्त होती है, अथवा कुंकुम के कारण स्फटिक जैसा लाल दिखाई देता है (१८) वैसे ही गुण के सङ्ग से जन्म-रहित पुरुष जन्म लेता-सा मालूम पड़ता है, अन्यथा नहीं। (१९) भली बुरी योनियाँ ऐसी समझो जैसे संन्यासी का स्वप्न में शूद्र इत्यादि का होना। (१०२०) अतएव केवल पुरुष को जन्म या भोग नहीं होते। इन सबका कारण गुण-सङ्ग ही है। (२१)

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

पुरुष प्रकृति के बीच खड़ा है, परन्तु इस प्रकार कि जैसे जुही की बेल का आश्रयभूत खम्भा। वस्तुतः उसमें और प्रकृति में पृथ्वी और आकाश का अन्तर होता है। (२२) हे किरीटी! यह पुरुष प्रकृति-नदी के तट का मेरु है, जो उसमें प्रतिबिम्बित तो होता है परन्तु उसके प्रवाह से बह नहीं जाता। (२३) प्रकृति का जन्म और नाश होता है परन्तु वह बना ही रहता है। अतएव वह ब्रह्मदेव से ले कर सब किसी का शासनकर्ता है। (२४) प्रकृति उसके कारण जीती है। उसी के होते हुए वह जग उत्पन्न करती है। इसलिए वह उसका भर्ता है। (२५) हे किरीटी! अनन्त काल में ये सृष्टियाँ सिमट कर कल्पान्त के समय जिसके पेट में प्रवेश करती हैं, (२६) वह माया का स्वामी ब्रह्माण्डगोल का चालक अपनी अपारता के द्वारा प्रपञ्च को नापता करता है। (२७) इस देह के बीच जिसे परमात्मा कहते हैं सो वही है। (२८) हे पाण्डुसुत! ऐसा जो कहा जाता है कि प्रकृति के परे एक वस्तु है सो यथार्थ में वही पुरुष है। (२९)

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो इस पुरुष को स्पष्टतः जानता है और गुण के कर्म प्रकृति-मूलक हैं, (१०३०) और 'यह रूप है और यह उसकी छाया है,' 'यह जल है और यह मृगजल है,'—इत्यादि निर्णय जिससे होता है (३१) ऐसा प्रकृति और पुरुष का विवेचन, हे अर्जुन! जिसके मन को प्रकट हो जाय (३२) वह शरीर के द्वारा चाहे सकल कर्म करे परन्तु आकाश जैसा धूम से मलिन नहीं होता वैसा बना रहता है। (३३) शरीर प्राप्त होते हुए जो शरीर के मोह के वश नहीं होता वह शरीर छोड़ने पर पुनः जन्म नहीं लेता। (३४) प्रकृतिपुरुषविवेक उस पर ऐसा एक अलौकिक उपकार करता है। (३५) अब अन्तःकरण में सूर्य के समान उस विवेक का उदय होने के लिए अनेक उपाय हैं। उनका वर्णन सुनो। (३६)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

हे सुभट! कोई विचार की अँगीठी बना कर उसमें आत्मा के अनात्मरूपी हलके सोने को पुट दे (३७) छत्तीस प्रकार के कस के

मैलों का नाश कर निश्चय से शुद्ध आत्मरूपी सोना चुन लेते हैं, (१८) कोई उस आत्मा को आत्मध्यान की दृष्टि से, आत्मरूप हो, देखते हैं, (१६) कोई भाग्यवान् सांख्य-योग की रीति से तथा कोई कर्म के आश्रय से उस आत्मा में चित्त को लाते हैं। (१०४०) इन चार प्रकारों से जो मुझमें पूर्ण मिल जाते हैं उन्हें कुछ मोक्षम्य नहीं पचता। (४१)

> अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
> तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

उपयु क्त उपायों-द्वारा वे निश्चय से इस सम्पूर्ण भ्रान्तिमय संसार के पार हो जाते हैं, (४२) परन्तु कोई कोई ऐसा भी करते हैं कि अपने अभिमान को दूर भगा कर विश्वास से एक के ही वचनों का आश्रय करते हैं। (४३) जो हिताहित बतलाते हैं हानि होती देखकर दयार्द्र होते हैं, तथा दु:खियों की खबर ले दु:ख हरते और सुख देते हैं (४४) उन पुरुषों के मुख से जो कुछ निकलता है उसे जो लोग प्रेम से सुन कर भली भाँति शरीर और मन से तदनुसार आचरण करते हैं, (४५) उनके वचन सुनने के लिए जो सम्पूर्ण व्यवहार अलग हटा देते हैं, और उन अक्षरों पर अन्तःकरण का राई-नून उतारते हैं, (४६) वे भी हे कपिध्वज! इस मृत्युरूपी समुद्र-समुदाय के पार भली भाँति निकल जाते हैं। (४७) ऐसे-ऐसे बहुत से उपाय एक ही वस्तु जानने के हैं। (४८) अब बहुत हुआ अब सब अर्थ के मन्थन करने से जो सिद्धान्तरूपी मक्खन निकलता है वही कहे देते हैं। (४६) हे पाण्डुसुत! इससे तुम्हें अनुभव की प्राप्ति भी बनी रहेगी और कष्ट भी कुछ न होंगे। (१०५०) इसलिए अब हम ऐसे ज्ञान का विवेचन करते हैं और अन्य मत-वादों का खण्डन कर शुद्ध पक्षितार्थ का वर्णन करते हैं। (५१)

> यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

क्षेत्रज्ञ शब्द से हमने तुमसे जो आत्मस्वरूप व्यक्त किया और क्षेत्र नाम से जो सब वर्णन किया (५२) उन एक-दूसरों के संयोग से सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं। जैसे वायु के संग से जल में तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, (५३) अथवा सूर्य-किरण और ऊसर के संयोग से

जैसे मृगजल की बाढ़ प्रकट होती है, (५४) अथवा वर्षा की धाराओं से पृथ्वी के भीगते ही जैसे नानाविध अंकुर फूटते हैं, (५५) वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर में जो कुछ जीव-नाम से प्रसिद्ध है वह प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है। (५६) अतएव हे अर्जुन! भूतव्यक्तियाँ पुरुष और प्रकृति से भिन्न नहीं हैं। (५७)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

वस्त्र यद्यपि तन्तु नहीं है तथापि वह तन्तु से ही व्याप्त है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ईश्वर और सृष्टि की एकता समझनी चाहिए। (५८) प्राणी बहुत हैं, एक से एक उत्पन्न होते हैं, परन्तु प्राणियों का अनुभव अलग अलग है। (५९) इनके नाम भी अलग-अलग हैं, व्यापार भी अलग-अलग हैं, और सबके रूप भी जुदे-जुदे हैं—(१०६०) यह देखकर हे किरीटी! यदि तुम अपने मन में भेद रक्खोगे तो कोटि जन्म तक यहाँ से बाहर न निकल सकोगे। (६१) जैसे एक ही तूँबी के लम्बे, टेढ़े, गोल और अनेक प्रकार के उपयोग में आनेवाले फल होते हैं, (६२) वे सरल हों या टेढ़े हों परन्तु जैसे बेर के नहीं कहे जाते वैसे ही भूत औपट हैं परन्तु ब्रह्म सरल है। (६३) अनेक प्रकारों के कणों में उष्णता जैसे समान ही रहती है, वैसे ही अनेक जीवराशियों में परमेश्वर समान है। (६४) आकाश भर में वर्षा की धाराएँ पड़ती हैं, परन्तु हे वीर! पानी जैसे एक ही है, वैसे ही इस भूताकारों के सर्वांग में परमेश्वर है। (६५) वे प्राणी भिन्न हैं परन्तु ब्रह्म समान है, जैसे घट और मठ में आकाश समान है। (६६) इस भूताभास का नाश होता है, परन्तु आत्मा अविनाशी बना रहता है, जैसे केयूर इत्यादि अलङ्कारों में सोने का कस बना रहता है (६७) एवं जीव-धर्म-रहित ब्रह्म को जो जीवों से अभिन्न देखता है वह ज्ञानियों में उत्तम ज्ञानी है। (६८) हे वीरेश! वह ज्ञानियों का नेत्र है और नेत्रवानों में नेत्रवान् है। यह स्तुति नहीं, वह अत्यन्त भाग्यवान् है। (६९)

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

यह शरीर गुण और इन्द्रियों की थैली है, वात पित्त, और कफ इन धातुओं की त्रिकुटी है, और पञ्चमहाभूतों का एक अत्यन्त बुरा मिश्रण है। (१०७०) स्पष्टतः यह पाँच डङ्कों का एक बिच्छू है जो शरीर में पाँच जगह काटता है। यह जीवरूपी व्याघ्र को मृगों के रहने की जगह मिल गई है, (७१) तिस पर भी इस शरीर के अनित्य भावरूपी पेट में नित्य-ज्ञानरूपी छुरी कोई नहीं मारता। (७२) हे पाण्डुसुत ! जो मनुष्य इस देह में रहते हुए आत्मघात नहीं करता और अन्त में उस पद में मिल जाता है। (७३) जहाँ योगी जन योग और ज्ञान की महिमा के द्वारा कोटि जन्म का उल्लङ्घन कर ऐसी प्रतिज्ञा-पूर्वक निमग्न हो जाते हैं कि अब यहाँ से न निकलेंगे, (७४) जो पर आकार का परतीर है, जो ध्वनि की परसीमा है और जो परब्रह्म तुर्यावस्था का मध्यगृह है, (७५) सागर में गङ्गा इत्यादि नदियों के समान जहाँ मोक्ष-सहित सब गतियाँ विश्राम लेती हैं, (७६) जो सुखरूपी पद इसी देह के सद्गुरु की कृपा के द्वारा वही प्राप्त कर सकता है जो प्राणियों की विषमता के कारण अपनी बुद्धि का भेद नहीं होने देता (७७) तथा जैसे करोड़ों दीपों में एक ही तेज समान है वैसे ही ईश्वर सर्वत्र बना है (७८) ऐसी समता देखते हुए हे पाण्डुसुत ! जो मनुष्य जीवन धारण करता है वह निश्चय से मृत्यु और जन्म के वश नहीं होता। (७९) इसलिए उस भाग्यवान् की हम अनेक बार स्तुति करते हैं, क्योंकि वह समतारूपी शय्या पर शयन कर रहा है। (१०८०)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
य पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो यह यथार्थतः जानता है कि मन और बुद्धि जिनमें प्रमुख हैं ऐसी ज्ञानेन्द्रियों के और सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों के कर्म प्रकृति ही करती है, (८१) घर के लोग घर में काम-काज करते हैं परन्तु घर कुछ नहीं करता अभ्र आकाश में घूमते हैं परन्तु आकाश स्थिर रहता है, (८२) वैसे ही प्रकृति आत्मा के प्रकाश से अनेक काम करने के लिए गुणों में विचलित होती है, परन्तु आत्मा अचल-स्तम्भ है और कौन कर्म कर रहा है यह नहीं जानता (८३) [इस प्रकार के निर्णय का जिसके अन्तःकरण में प्रकाश होता है] वह अकर्ता आत्मा को निश्चय से देख चुका है। (८४)

आकाश और पृथ्वी कैसे एक में मिलाये जा सकते हैं? (११००) एक पूर्व की ओर जानेहारा और दूसरा पश्चिम की ओर, ऐसे दो मनुष्यों की भेंट के समान ही यह सम्बन्ध है। (१) प्रकाश और अन्धकार का, मृत और जीवित का जो सम्बन्ध, वही इस आत्मा और देह का जानो। (२) जैसे रात और दिन का सुवर्ण और कपास का साम्य नहीं हो सकता वैसे ही देह और आत्मा का हाल है। (३) देह पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुआ है, कर्म की डोरियों से गुँथा हुआ है, और जन्म-मृत्यु के चक्के पर चढ़ाया हुआ घूमता है। (४) यह काल-रूपी अग्नि-कुण्ड में डाली हुई एक माखन की गोली है। मक्खी पङ्ख मारती है, बस इतनी ही देर में वह समाप्त हो जाता है। (५) कदाचित् अग्नि में पड़े तो भस्म होकर नष्ट जाता है और यदि कुत्तों को मिले तो उसकी विष्ठा हो बनती है। (६) यदि ये दोनों बातें न हों तो वह कीड़ों का समूह बन जाता है। इस प्रकार हे कपिध्वज! इसका परिणाम बुरा होता है। (७) देह की ऐसी दुर्दशा होती है परन्तु आत्मा अनादि, सहज, नित्य और शुद्ध है। (८) वह निर्गुण होने के कारण न पूर्ण है न अपूर्ण है, न क्रिया-रहित है न क्रियावान् है, और न सूक्ष्म है न स्थूल है। (९) निराकार रहने के कारण वह न भासमान है न भास-रहित है, न प्रकाशित है, न अप्रकाशित है, न अल्प है न बहुतेरा है। (१११०) शून्यरूप होने के कारण न रीता है न भरा है न रहित है न सहित है, और न व्यक्त है न अव्यक्त है। (११) आत्मा होने के कारण वह न सानन्द है न आनन्द-रहित है, न एक है न अनेक है और न मुक्त है न बद्ध है। (१२) प्रमाण-रहित होने के कारण वह न इतना है न उतना है, न बना-बनाया है न बनाया जाता है, और न बोलनेहारा है न मौन है। (१३) सृष्टि की उत्पत्ति होने से न वह उत्पन्न होता और न सृष्टि के संहार से उसका नाश होता है। वह उत्पत्ति और नाश दोनों का अपस्थान है। (१४) वह अव्यय होने के कारण न मापा जा सकता है न उसका वर्णन किया जा सकता है वह न बढ़ता है न घटता है न क्षीण होता और न खर्च होता है। (१५) हे प्रियोत्तम! इस प्रकार के आत्मा को देही समझना मानों आकाश को मठ के आकार का बतलाना है। (१६) वैसे ही उसकी अखण्डता से देहाकार उत्पन्न होते और विलीन होते जाते हैं, परन्तु हे सुमति! वह ये आकार

न धारण करता और न त्याग करता है, किन्तु जैसा का तैसा बना है। (१७) आकाश में जैसे रात और दिन होते जाते हैं वैसे ही आत्मसत्ता में शरीर होते जाते हैं। (१८) इसलिए इस शरीर में का आत्मा न कुछ करता है न कुछ कराता है, और न किसी कर्म-व्यापार में आसक्त होता है। (१६) अतएव स्वरूप से यह न्यून व पूर्ण नहीं कहा जा सकता तथा देह में रहता हुआ वह देह से लिप्त नहीं होता। (११२०)

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

भला, आकाश कहाँ नहीं है? वह कहाँ नहीं प्रवेश करता? परन्तु जैसे उसे कभी किसी पदार्थ से पीड़ा नहीं होती, (२१) वैसे आत्म भी सर्वत्र सब देहों में बना ही रहता है, परन्तु किसी के संसर्गदोष से कभी लिप्त नहीं होता। (२२) इस विषय में यही तत्त्व यथार्थ है कि क्षेत्रज्ञ को क्षेत्रविहीन समझना चाहिए। (२३)

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

चुम्बक आकर्षण से लोहे को चलायमान करता है, परन्तु लोहा कुछ चुम्बक नहीं है। यही अन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में है। (२४) दीपक की ज्योति से घर के व्यवहार होते हैं, परन्तु दीपक और घर में कोटिशः अन्तर है। (२५) हे किरीटी! काष्ठ के गर्भ में अग्नि रहती है, परन्तु वह काष्ठ नहीं है। इसी दृष्टि से इस आत्मा की ओर देखना चाहिए। (२६) अवकाश और मेघ के आकाश में, सूर्य और मृगजल में, जो अन्तर है वही इस क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में भी देखना चाहिए। (२७) और सब रहने दो। आकाश में से जैसे एक ही सूर्य पृथ्वी इत्यादि जुदे जुदे लोक प्रकट करता है, (२८) वैसे ही क्षेत्रज्ञ क्षेत्राभास का प्रकाशक है। इस पर अब और कोई भ्रम या शङ्का नहीं रही। (२६)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

हे शब्द-तत्त्व के सार के जाननेहारे! ज्ञान-मय बुद्धि वही समझी जानी चाहिए जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाने। (११३०) इनका

भेद जानने के लिए चतुर लोग ज्ञानी जनों के द्वार का आश्रय करते हैं। (३१) इसी हेतु हे सुमति! वे शास्त्र-सम्पत्ति जमाते हैं और शास्त्र रूपी दूध देनेहारी गायें पालते हैं, (३२) और इसी आशा से वे लोग योगरूपी आकाश में वेग से चढ़ते हैं, (३३) शरीर इत्यादि को तृण के समान मानते हैं, और अन्तःकरण से सन्तों की पाँवड़ियाँ सिर पर रखते हैं। (३४) ऐसे-ऐसे उपायों से वे ज्ञान की सामग्री प्राप्त कर अन्तःकरण में निश्चय करते हैं। (३५) और फिर इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यथार्थ भेद जान लेते हैं। उनके ज्ञान की हम आरती करते हैं। (३६) जो यह मिथ्या प्रकृति महाभूत आदि अनेक वस्तुओं में भिन्नता से विस्तृत हुई है, (३७) जो शुक और नलिकायन्त्र* की नाईं बिना सम्बन्ध के सम्बद्ध हुई है, उसे जैसी वह है वैसी ही जो जानता है, (३८) जैसे कोई हार को मिथ्या सर्प न जानकर आँखों से हार ही पहचान ले, (३९) अथवा चाँदी के भ्रम का नाश होकर जैसे सत्य प्रतीति हो जाती है कि सीप सीप ही है (११४०) वैसे ही इस भिन्न प्रकृति को जो अन्तःकरण से भिन्नता देखता है वह, मेरे मत में, ब्रह्म हो जाता है। (४१) जो वस्तु आकाश से भी बड़ी है, जो अव्यक्त का परतीर है, जिसके प्राप्त होते ही सम-विषम भेद नहीं रहता, (४२) आकार जहाँ समाप्त हो जाता है, जीवित्व लीन हो जाता है, जहाँ द्वैत नहीं बच रहता, और जो अद्वितीय है, (४३) वह परमतत्त्व है पार्थ! वे जो आत्मा और अनात्मा का निर्णय करनेहारे राजहंस हैं, सब प्रकार से बन जाते हैं। (४४) यों श्रीकृष्ण ने पाण्डव के अन्तःकरण में इस प्रकार का सम्पूर्ण अनुभव प्रकट कर दिया। (४५) एक कलश का पानी जैसे दूसरे में रितोया जावे वैसे ही श्रीहरि ने निज का अनुभव अर्जुन को दिया; (४६) पर वास्तव में कौन किसे देनेहारा है? जो नर वही नारायण है और श्रीकृष्ण भी अर्जुन को निज की विभूति समझते हैं। (४७) परन्तु अस्तु, यह बात मैं वृथा—बिना पूछे—कह रहा हूँ। बहुत क्या कहा जाय, देव ने अर्जुन को अपना सर्वस्व दे

---

* शिकार में तोते को पकड़ने के लिए जो यन्त्र लगाया जाता है उसमें बाँस की एक नली (पोर) भी लगी रहती है। तोते के उस नली पर बैठने से वह घूमने लगती है और तोता उसे और भी मजबूती से पकड़ने की चेष्टा कर फँस जाता है।

दर्शन करने का लाभ मिला है। (६७) इस पर भी मुझे आप सन्तों के चरण प्राप्त हुए हैं, जिससे मुझे कुछ भी अटक नहीं रही। (६८) हे प्रभु! सरस्वती के घर से कभी, भूला में भी, गूँगा उत्पन्न नहीं होता तथा लक्ष्मी का पुत्र कभी सामुद्रिक लक्षणों से हीन नहीं होता। (६६) वैसे ही आप सन्तों के पास अज्ञान की बात ही क्यों हो सकती है? अतएव मैं नवरसों की वर्षा करूँगा। (७) ज्ञानदेव ने कहा बहुत क्या कहूँ, हे देव! मुझे अवसर दीजिए कि मैं भली भाँति ग्रन्थ का निरूपण करूँ। (११७१)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायाँ त्रयोदशोऽध्यायः।

चौदहवाँ अध्याय

हे गुरु, देव सब्रह्म देवों में श्रेष्ठ, हे बुद्धिरूपी प्रातःकाल के सूर्य, हे आनन्द के उदय करानेहारे! आपका जय जयकार हो। (१) आप सबके विश्रान्तिस्थान हैं, सोऽहं-भाव के सुशोभित करनेहारे हैं अथवा लोकरूपी तरङ्गों के समुद्र हैं। आपका जय-जयकार हो। (२) हे दीनबन्धु, हे निरन्तर कृपा के सागर, हे शुद्ध विद्यारूपी वधू के वल्लभ! सुनिए। (३) आप जिन्हें अप्रकट हैं उन्हें यह विश्व ही दिखाई देता है, परन्तु आप जिन्हें प्रकट होते हैं उन्हें सम्पूर्ण जग आपरूप ही हो जाता है। (४) दूसरों की नजर चुराने की नजरबन्दी संसार में होती है परन्तु आपकी चतुराई कुछ अनोखी है जो आप मित्र को ही चुरा रखते हैं। (५) अजी, इस संसार में सब आप ही भर हैं, परन्तु इसमें कोई ज्ञानी है और कोई माया में फँसे हैं। इस प्रकार आप ही जो मित्रस्वरूप में लीला कर रहे हैं, उन आपको मैं नमस्कार करता हूँ। (६) मैं जानता हूँ कि जगत् में जल की आर्द्रता आपके ही कारण मधुर हुई है। आपके ही कारण पृथ्वी को सहनशीलता प्राप्त हुई है। (७) रवि, चन्द्र इत्यादि आपके सम्मुख सिपाहियों के समान हैं। वे तीनों लोकों को प्रकाशित करते हैं सो आपकी द्युति के प्रकाश के कारण। (८) वायु की जो हल-चल होती है वह हे देव! आपके ही बल से, और आकाश तो आप ही में लुकाछुपी का खेल खेलता है। (९) बहुत क्या कहें, इस सम्पूर्ण माया का ज्ञान आप ही के कारण होता है, तथा आपका वर्णन करने में श्रुति को भी भ्रम हुआ है। (१०) वर्णन करने में वेदों की चतुराई तभी तक है जब तक आपके स्वरूप का दर्शन नहीं हुआ। दर्शन होते ही उन्हें तथा हमें समान ही मौन धारण कर लेना पड़ता है। (११) अजी, सम्पूर्ण जल-मय होने पर प्रलयकाल के मेघों का भी पता नहीं लगता तो फिर महानदियों की खोज कहाँ लग सकती है? (१२) अथवा सूर्य के उदय होने पर चन्द्र जैसे खद्योत-सा हो जाता है वही उपमा आपके सामने हमें और वेदों को दी जा सकती है। (१३) जहाँ द्वैत का नाँव मिट जाता है, जहाँ परा वाणी समेत वैखरी का लोप हो

जाता है तब आपका हम किस मुख से वर्णन कर सकते हैं? (१४) इसलिए अब स्तुति की चेष्टा छोड़ चुपचाप आपके चरणों पर माथा रखना ही भला है। (१५) अतएव हे गुरुराज! आप जैसे हों वैसे ही आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरा ग्रन्थकथनरूपी व्यापार सफल होने के हेतु आप मेरे साहूकार बनें। (१६) कृपारूपी पूँजी निकाल कर मेरी बुद्धिरूपी थैली में भर दें और मुझे ज्ञान से भरा हुआ ग्रन्थ बनाने का महत् लाभ प्राप्त करा दें। (१७) इस कृपा से मैं अपनी स्थिति सँभाल लूँगा और सन्तों को उत्तम लक्षणों से युक्त विवेक-रूपी कर्णभूषण पहनाऊँगा। (१८) महाराज! मेरे नेत्रों में कृपारूपी अञ्जन डालिए जिससे मेरा मन गीतार्थरूपी द्रव्य को ढूँढ़ सके। (१९) अपने करुणारूपी निर्मल सूर्य का इस प्रकार उदय कीजिए कि जिससे मेरे बुद्धिरूपी नेत्र यथाक्रम सम्पूर्ण ग्रन्थसृष्टि देख सकें। (२०) हे प्रेमियों के शिरोमणि! आप ऐसा वसन्तकाल बन जायँ कि जिससे मेरी बुद्धिरूपी विस्तृत बेल में काव्यरूपी फल लग जायें। (२१) हे उदार! अपने प्रेम की दृष्टि से ऐसी कृपा कीजिए कि मेरी बुद्धिरूपी गङ्गा में सिद्धान्तों की अत्यन्त बाढ़ आ जाय। (२२) हे विश्वैकधाम! आपका कृपारूपी चन्द्रमा मेरे लिए काव्यस्फूर्ति की पूर्णमासी कर दे, (२३) जिसे देखते ही मेरे ज्ञानरूपी समुद्र में रसिकता का ऐसा ज्वार भाटा आवे कि वह स्फूर्ति में न समा सके और बह निकले। (२४) इस पर श्रीगुरुराज ने सन्तुष्ट होकर स्तुति तथा विनती के मिस से द्वैत की रचना की गई देखकर कहा (२५) कि अब यह वृथा बातें रहने दो शेष विषय का उत्तम निरूपण कर ग्रन्थार्थ प्रकट करो और रसपुष्ट का भङ्ग न होने दो। (२६) [तब ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा] ठीक है स्वामी मैं यही बाट जोह रहा था कि आप अपने श्रीमुख से ग्रन्थ निरूपण की आज्ञा दें (२७) क्योंकि मैंने यह वासना ही नहीं रक्खी है कि यह निरूपण मैंने किया है अथवा वह मेरे ही कारण हुआ है। (२८) दूब का अंकुर स्वभावतः ही अमर रहता है परन्तु उस पर जैसे अमृत की वर्षा हो (२९) उसी प्रकार आपकी कृपा के सहाय से मैं स्पष्टतर और विस्तार-पूर्वक गीता-शास्त्र के मूल पद्यों का विवेचन करूँगा। (३०) अतः जिससे अन्तःकरण में सन्देहों की मार टूट जावे और जिसे सुनते ही अधिक सुनने की इच्छा बढ़े (३१) इस प्रकार मेरी वाणी गुरुकृपा के घर भिक्षा माँग कर मधुरता से प्रकट हो। (३२)

पीछे तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह बात कही थी (३३) कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से यह जगत् उत्पन्न होता है और गुणों के सङ्ग से आत्मा संसारी बनता है। (३४) और इसी आत्मा का मायोपाधि-सहित होना उसके सुख-दुःख भोगों का कारण है, तथा गुणातीत होने से वही केवल हो रहता है। (३५) उस असङ्ग को किस प्रकार सङ्ग लग जाता है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग क्या है और उसे सुख-दुःख इत्यादि भोग कैसे होते हैं, (३६) गुण कैसे हैं और कितने हैं, वे किस प्रकार बन्धन करते हैं, तथा गुणातीतों के क्या लक्षण हैं, (३७) इन सब बातों का वर्णन करना इस चौदहवें अध्याय का विषय है। (३८) अतः अब वैकुण्ठ के निवासी विश्वेश श्रीकृष्ण के उस अभिप्राय का उपक्रम सुनिए। (३९) श्रीकृष्ण ने कहा हे अर्जुन! इस ज्ञान से अवधान की सम्पूर्ण सेना जमा कर रखो। (४०) पीछे यह ज्ञान हमने तुम्हें अनेक युक्तियों से समझाया है, तथापि अभी तक यह तुम्हारे अनुभव के पेट में प्रविष्ट नहीं हुआ है। (४१)

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

इसलिए हम तुम्हें वही ज्ञान फिर बताते हैं जिसे वेदों ने उनके परे बताया है। (४२) यों तो सब ज्ञान निज का ही है, परन्तु परे इसलिए कहाता है कि हमने स्वर्ग और संसार इत्यादि विषयों में रुचि कर ली है। (४३) इसी कारण से मैं इसे सब ज्ञानों में उत्तम समझता हूँ। क्योंकि यह ज्ञान अग्नि है और दूसरे ज्ञान इसके सामने तृणरूप हैं। (४४) जिन ज्ञानों से संसार और स्वर्ग जाने जाते हैं, जिनसे ही उत्तम समझे जाते हैं, जिनकी परछाईं वास्तव में द्वैत में ही हो सकती है (४५) वे सम्पूर्ण ज्ञान इस ज्ञान से स्वप्नवत् हो जाते हैं। जैसे वायु की लहरों को अन्त में आकाश लील लेता है (४६) अथवा सूर्योदय होते ही जैसे चन्द्र इत्यादि तेजस्वी तारों का लोप हो जाता है, अथवा जल का प्रलय होने से जैसे नद-नदियाँ लुप्त हो जाती हैं, (४७) वैसे ही इस ज्ञान का उदय होते ही अन्य ज्ञानों का समुदाय विलीन हो जाता है। इसलिए हे धनञ्जय! यह ज्ञान सब में उत्तम है। (४८) हे पाण्डुसुत! अपनी जो अनादि-मुक्तता है वह

इस ज्ञान से हाथ लगती है। (४९) इसके अनुभव के बल से सम्पूर्ण विवेकी जन जन्म-मृत्युरूपी संसार को सिर नहीं उठाने देते। (५०) विवेक से मन का नियमन कर, स्वाभाविक विश्राम प्राप्त होने पर, वे देह-धारी होते हुए भी वास्तव में देहाभिमानी नहीं रहते, (५१) और देह के परिमाण के परे जाकर योग्यता में एकदम मेरे बराबर हो जाते हैं। (५२)

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

हे पाण्डुसुत! वे मेरी नित्यता से नित्य और मेरी पूर्णता से परिपूर्ण हो रहते हैं। (५३) मैं जैसा अनन्त और आनन्दरूप हूँ मैं जैसा सत्य प्रसिद्ध हूँ वैसे ही वे हो रहते हैं। उनमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। (५४) मैं जो हूँ, जितना हूँ और जैसा हूँ वे भी वही और वैसे ही हो जाते हैं। जैसे घट का भङ्ग होने पर घटाकाश आकाश हो रहता है, (५५) अथवा दीपक की अनेक ज्योतियों के मूल ज्योति में मिल जाने से जैसी स्थिति होती है, (५६) वैसे ही हे अर्जुन! उनके लिए द्वैत की फेरी बन्द हो जाती है और हम-तुम इत्यादि भेद का लोप होकर नाम और अर्थ एक ही पंक्ति में आ बैठते हैं। (५७) इसी कारण से जब सृष्टि की मूल कल्पना होती है तब भी उन्हें उत्पन्न नहीं होना पड़ता। (५८) सृष्टि के मूलारम्भ में जिनकी देहरचना ही नहीं होती उनका प्रलयकाल में नाश कैसे हो सकता है? (५९) अतएव हे धनञ्जय! वे इस ज्ञान का अनुसरण करते हुए जन्म और नाश के परे हो मद्रूप हो जाते हैं। (६०) इस प्रकार श्रीकृष्ण ने प्रेम से ज्ञान की महिमा वर्णन की वह इस हेतु से भी की कि अर्जुन को इस ज्ञान की रुचि उत्पन्न हो। (६१) पर उसकी स्थिति और ही हो गई। वह ऐसा पूर्ण अवधानमय हो गया कि मानों उसके सब शरीर में कान उत्पन्न हो गये हों। (६२) अतएव श्रीकृष्ण का हृदय भी प्रेम से भर गया और उनकी निरूपण की इच्छा आकाश में भी समा न सकी। (६३) वे बोले, हे प्रज्ञाधनञ्जय अर्जुन! हमारी वक्तृता आज सफल हो चुकी जो हमारे निरूपण के अनुरूप तुम्हारा जैसा श्रोता प्राप्त हुआ है। (६४) मैं एक हूँ पर तो भी मुझे त्रिगुणरूपी बहेलिये अनेक देहरूपी पाशों में कैसे बाँध लेते हैं, (६५) सोत्र

के संयोग से मैं इस जगत् को कैसे उत्पन्न करता हूँ, अब इस विषय का निरूपण सुनो। (६६) इसे योनि नाम इस कारण दिया जाता है कि इसमें मेरे सत्तारूपी बीज से प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं। (६७)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

और भी, इसका नाम महद्ब्रह्म इस कारण है कि यह महत्तत्त्व इत्यादि की विश्रान्ति का स्थान है। (६८) यह विकारों की खूब वृद्धि करता है इस कारण भी इसे महद्ब्रह्म कहते हैं। (६९) अव्यक्त मत में इसका नाम अव्यक्त है और सांख्य-वादियों के मत में इसी को प्रकृति कहते हैं। (७०) हे बुद्धिमानों के राजा! वेदान्ती इसे माया कहते हैं। और कहाँ तक वृथा वर्णन करें? यही अज्ञान है। (७१) हे धनञ्जय! निज को निज-स्वरूप की जो विस्मृति हुई है वही इस अज्ञान का स्वरूप है। (७२) एक बात और है कि आत्मज्ञान के समय यह अज्ञान दिखाई नहीं देता जैसे दीपक से देखने से अँधेरा दिखाई नहीं देता, (७३) दूध की मलाई जैसे दूध हिलाने पर नहीं रहती और स्थिर रखने से जम जाती है, (७४) अथवा जब न जागृति रहती है न स्वप्न रहता है और न समाधि रहती है तब जैसे घोर निद्रा की स्थिति होती है, (७५) अथवा वायु उत्पन्न न होने पर आकाश जैसे वन्ध्या के समान रीता रहता है, वैसी ही स्थिति निश्चय से इस अज्ञान की है। (७६) जैसे कभी कभी यह निश्चयात्मक नहीं जान पड़ता कि सम्मुख दिखाई देनेवाली वस्तु खम्भा है या मनुष्य है परन्तु कुछ आभास तो सी दिखाई देता है, (७७) इसी प्रकार यथा जैसा है वैसा जब यथार्थ में दिखाई नहीं देता परन्तु कुछ दूसरा ही दिखाई देता है, (७८) अथवा न रात है न दिन है उस बीच के काल को जैसे सन्ध्या कहते हैं, उसी प्रकार जब न विपरीत ज्ञान होता है और आत्मज्ञान होता है (७९) ऐसी जो एक दशा है उसे अज्ञान कहते हैं और जिस चैतन्य पर उस अज्ञान का आवरण है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (८०) अज्ञान की महिमा बढ़ाना और अपना स्वरूप न जानना ही क्षेत्रज्ञ का रूप है। (८१) इन्हीं दोनों का संयोग अच्छी तरह से समझ लो। यह माया का नैसर्गिक स्वभाव है। (८२) ब्रह्म-स्वरूप ही सूक्ष्म

से निज को अज्ञानी जैसा समझने लगा और न जाने कौन कौन से अनेक रूप धारण करने लगा। (८३) जैसे कोई रङ्क भ्रमित हो कर ने लगे "अरे वा, मैं राजा हूँ," अथवा जैसे कोई मूर्च्छित हो स्वर्गलोक में जावे, (८४) वैसे ही आत्म-दृष्टि बिगड़ी हो जाने से जो-जो कुछ दिखाई दे वही सृष्टि कहलाती है। उसे मैं ही उत्पन्न करता हूँ। (८५) जैसे स्वप्न के मोह के वश मनुष्य अकेला होने पर भी बहुतेरी सृष्टि देखता है वैसी ही दशा आत्मस्मृति-रहित जीवात्मा की होती है। (८६) यही निश्चित सिद्धान्त हम आगे और विस्तार से वर्णन करेंगे। तथापि तुम यही प्रतीति जागृत रक्खो (८७) कि यह अविद्या मेरी गृहिणी है, अनादि है, तरुणी है, और इसके गुण अनिर्वचनीय हैं। (८८) अभाव ही इसका रूप है। इसकी आकृति बहुत बड़ी है। यह महानिद्रों के समीप रहती है। (८९) वास्तव में जब मैं स्वयं सो जाता हूँ तब यह जागती है, और मेरी सत्ता के सम्भोग से गर्भिणी होती है। (९०) महत्तत्त्वरूपी पेट में आठों विकारों के द्वारा प्रकृति गर्भ की वृद्धि करती है। (९१) आत्मा और प्रकृति दोनों के संग से प्रथम बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, और बुद्धि-तत्त्व से मन प्रकट होता है। (९२) मन की स्त्री ममता अहङ्कार तत्त्व की रचना करती है जिससे महाभूत उत्पन्न होते हैं। (९३) और भूतों का स्वभावतः विषय और इन्द्रियों से परस्पर सम्बन्ध रहता है, इसलिए उनके सङ्ग से विषय और इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। (९४) विकारों का क्षोभ होते ही त्रिगुण प्रकट होते हैं और तत्काल वासना का जन्म होता है। (९५) जल का संयोग होते ही जैसे उत्पन्न होनेहारे वृक्ष का आकार मानों बीज-कणिका मन में नियत कर लेती है, (९६) वैसे ही अविद्या मेरे सङ्ग से अनेक रूप—जगत् के अंकुर धारण करने लगती है। (९७) फिर हे सुभद्रेश! इस गर्भ-गोल का आकार कैसे प्रकट होता है सो सुनो। (९८) उसमें अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुजरूपी अवयव फूटते हैं। (९९) आकाश और वायु के द्वारा गर्भ के रस की वृद्धि होने से अण्डज अवयव निकलता है। (१००) अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण होने के कारण जल और अग्नि की अधिकता होने से स्वेदज अवयव उत्पन्न होता है। (१) जल और पृथ्वी के अधिकांश से और निकृष्ट वर्ग के तमोगुण से स्थावर अर्थात् उद्भिज अवयव उत्पन्न होता है। (२) और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को पाँच कर्म-

न्द्रियों की सहायता और मन, बुद्धि इत्यादि की स्थिरता ही अशुभ अवयव का हेतु है। (३) इस प्रकार ये चारों जिसके कर और चरण हैं, स्थूल महाप्रकृति जिसका सिर है, (४) प्रवृत्ति जिसका बढ़ा हुआ पेट है, निवृत्ति जिसकी सपाट पीठ है, और जिसके ऊपरी शरीर भाग में आठ प्रकार की देवयोनियाँ हैं, (५) आनन्दी स्वर्गलोक जिसका कण्ठ है, मृत्युलोक जिसका मध्य भाग है, और पाताल जिसका सुन्दर नितम्ब है, (६) ऐसा एक सुन्दर पुत्र इस माया से उत्पन्न हुआ है, जिसके वात्सल्य की पुष्टि तीनों लोकों के विस्तार से होती है। (७) चौरासी लाख योनियाँ इस बालक की अँगुलियों की गाँठें हैं। इस प्रकार यह बालक प्रतिदिन बढ़ता है। (८) अनेक प्रकार के देह और अवयवों में नामरूपी अलङ्कार पहना कर माया उसे नित्य नूतन मोहरूपी दूध पिला कर बढ़ाती है। (९) जुदी-जुदी सृष्टियाँ इस बालक के हाथों की अँगुलियाँ हैं, और भिन्न-भिन्न देहों का अभिमान उसमें पहनी हुई अँगूठियाँ हैं। (११०) इस प्रकार एक ही चराचर रूपी सुन्दर, अनामी और महान् पुत्र उत्पन्न कर माया भी प्रतिष्ठित हो रही है। (११) ब्रह्मा इस बालक के प्रातःकाल हैं विष्णु मध्याह्न हैं, और शङ्कर सन्ध्याकाल हैं। (१२) यह महाप्रलय-रूपी शय्या पर खेलते-खेलते शान्ति से सो रहता है और फिर कल्प का उदय होने पर विषम ज्ञान के कारण जागृत हो जाता है। (१३) इस प्रकार हे अर्जुन! यह बालक मिथ्या दृष्टि से एक के पीछे एक युगरूपी पग डालता हुआ क्रीड़ा करता है। (१४) सङ्कल्प इसका मित्र है। अहङ्कार इसका सेवक है और ज्ञान से इसका अन्त हो जाता है। (१५) अब अधिक वर्णन रहने दो। इस प्रकार माया जो विश्व उत्पन्न करती है मेरी सत्ता ही उसकी सहचारिणी होती है। (१६)

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

अतएव हे पाण्डुसुत! मैं पिता हूँ, माया माता है, और यह जगत् हमारा पुत्र है। (१७) शरीर जुदे-जुदे देखकर चित्त में भेद न रखना चाहिए; क्योंकि जगत् में मन, बुद्धि इत्यादि प्राणिगण एक ही हैं। (१८) अजी, एक ही देह में क्या जुदे जुदे अवयव नहीं होते? वैसे ही यह विश्व विविध होता हुआ भी एक ही है, (१९) जैसे कि

ऊँची-नीची, और छोटी-बड़ी डालें जुदी-जुदी होने पर भी एक ही बीज से उत्पन्न होती हैं। (१२०) और हमारा सम्बन्ध ऐसा है जैसे मिट्टी का बना हुआ घट मिट्टी का पुत्र माना जाय, अथवा जैसे वस्त्र कपास का नाती कहा जाय (२१) अनेक तरङ्गों की परम्परा जैसे समुद्र की सन्तति समझी जाय। हमारा और चराचर जगत् का सम्बन्ध ऐसा ही है (२२) अतएव अग्नि और ज्वाला दोनों जैसे केवल अग्नि ही हैं, वैसे ही सब कुछ मैं ही हूँ और सब सम्बन्ध मिथ्या है। (२३) यदि यों कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति होते ही मेरा स्वरूप मिट जाता है, तो जगत् को कौन प्रकाशित करता है? प्रकाशित होने के कारण क्या स्वयं माणिक का लोप हो जाता है? (२४) सुवर्ण का अलङ्कार बनता है तो क्या उसका सुवर्णत्व नष्ट हो जाता है? अथवा कमल विकसित होता है तो क्या वह कमलत्व से वञ्चित हो जाता है? (२५) हे धनञ्जय! अवयवी मनुष्य को अवयवों का आच्छादन है, अथवा उसका रूप ही वही है? कहो भला। (२६) जुआर का बीज उगने पर जो भुट्टा आता है उससे उस बीज की न्यूनता पाई जाती है कि वृद्धि? (२७) अतः मैं ऐसा नहीं हूँ कि जगत् को दूर करने से दिखाई दूँ, क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण जगत् हूँ। (२८) हे वीर! इस सत्य और निश्चित सिद्धान्त को अपने अन्तःकरण में गाँठ बाँध लो। (२९) मैंने निज को भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रकट किया है तथापि मैं ही गुणों से बँधा हुआ दिखाई देता हूँ। (१३०) हे कपिध्वज! जैसे स्वप्न में मनुष्य निज का मरण-दुःख भोगता है, (३१) अथवा जैसे पीलिया से पीड़ित मनुष्य की आँखों से पीला दिखाई देता है और उस पीलेपन का ज्ञान भी उन्हीं आँखों को होता है, (३२) अथवा जैसे सूर्य प्रकाशता है तब मेघ प्रकट होते हैं, और उसका अस्त भी उसी के द्वारा दिखाई देता है, (३३) अपने ही शरीर से उत्पन्न हुई अपनी छाया देखकर कोई भय पावे तो क्या वह कोई दूसरी वस्तु रहती है? (३४) इसी प्रकार मैं इन अनेक शरीरों को प्रकट कर अनेक-रूप हो जाता हूँ और यह सम्बन्ध भी मैं ही देखता हूँ। (३५) सम्बन्ध होते हुए भी उसका बन्धन न होना ही मेरा ज्ञान होता है। यह बन्ध स्वभावतः मेरे अज्ञान से उत्पन्न होता है। (३६) अब हे अर्जुनदेव! मैं निज को किस गुण से और किस प्रकार से बन्ध जैसा दिखाई देता हूँ,

न्द्रियों की सहायता और मन, बुद्धि इत्यादि की स्थिरता ही अमुक अवयव का हेतु है। (३) इस प्रकार ये चारों जिसके कर और चरण हैं, स्थूल महाप्रकृति जिसका सिर है, (४) प्रवृत्ति जिसका बढ़ा हुआ पेट है, निवृत्ति जिसकी सपाट पीठ है, और जिसके ऊपरी शरीर भाग में आठ प्रकार की देवयोनियाँ हैं, (५) आनन्दी स्वर्गलोक जिसका कण्ठ है, मृत्युलोक जिसका मध्य भाग है, और पाताल जिसका सुन्दर नितम्ब है (६) ऐसा एक सुन्दर पुत्र इस माया से उत्पन्न हुआ है, जिसके वात्सल्य की पुष्टि तीनों लोकों के विस्तार से होती है। (७) चौरासी लाख योनियाँ इस बालक की अँगुलियों की गाँठें हैं। इस प्रकार यह बालक प्रतिदिन बढ़ता है। (८) अनेक प्रकार के देह और अवयवों में नामरूपी अलङ्कार पहना कर माया इसे नित्य नूतन मोहरूपी दूध पिला कर बढ़ाती है। (९) जुदी-जुदी सृष्टियाँ इस बालक के हाथों की अँगुलियाँ हैं, और भिन्न-भिन्न देहों का अभिमान उनमें पहनी हुई अँगूठियाँ हैं। (११०) इस प्रकार एक ही चराचररूपी सुन्दर, अज्ञानी और महान् पुत्र उत्पन्न कर माया भी प्रतिष्ठित हो रही है। (११) ब्रह्मा इस बालक के प्रात:काल हैं विष्णु मध्याह्न हैं, और शङ्कर सन्ध्याकाल हैं। (१२) वह महाप्रलय-रूपी शय्या पर खेलते-खेलते शान्ति से सो रहता है और फिर कल्प का उदय होने पर विषम ज्ञान के कारण जागृत हो जाता है। (१३) इस प्रकार हे अर्जुन! यह बालक मिथ्या दृष्टि से एक के पीछे एक युगरूपी पग डालता हुआ क्रीड़ा करता है। (१४) सङ्कल्प इसका मित्र है। अहङ्कार इसका सेवक है और ज्ञान से इसका अन्त हो जाता है। (१५) अब अधिक वर्णन रहने दो। इस प्रकार माया को विश्व उत्पन्न करती है मेरी सत्ता ही उसकी सहकारिणी होती है। (१६)

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या: ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता ॥४॥

अतएव हे पाण्डुसुत! मैं पिता हूँ, माया माता है, और यह जगत् हमारा पुत्र है। (१७) शरीर जुदे-जुदे देखकर चित्त में भेद न रखना चाहिए; क्योंकि जगत् में मन, बुद्धि इत्यादि प्राणिगण एक ही हैं। (१८) अजी, एक ही देह में क्या जुदे जुदे अवयव नहीं होते? वैसे ही यह विश्व विचित्र होता हुआ भी एक ही है, (१९) जैसे कि

ऊँची-नीची, और छोटी-बड़ी शाखें जुदी-जुदी होने पर भी एक ही बीज से उत्पन्न होती हैं। (१२०) और हमारा सम्बन्ध ऐसा है जैसे मिट्टी का बना हुआ घट मिट्टी का पुत्र माना जाय, अथवा जैसे वस्त्र कपास का नाती कहा जाय, (२१) अनेक तरङ्गों की परम्परा जैसे समुद्र की सन्तति समझी जाय। हमारा और चराचर जगत् का सम्बन्ध ऐसा ही है (२२) अतएव अग्नि और ज्वाला दोनों जैसे केवल अग्नि ही हैं, वैसे ही सब कुछ मैं ही हूँ और सब सम्बन्ध मिथ्या है। (२३) यदि यों कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति होते ही मेरा स्वरूप मिट जाता है, तो जगत् को कौन प्रकाशित करता है? प्रकाशित होने के कारण क्या स्वयं माणिक का लोप हो जाता है? (२४) सुवर्ण का अलङ्कार बनता है तो क्या उसका सुवर्णत्व नष्ट हो जाता है? अथवा कमल विकसित होता है तो क्या वह कमलत्व से वञ्चित हो जाता है? (२५) हे धनञ्जय! अवयवी मनुष्य को अवयवों का आच्छादन है, अथवा उसका रूप ही वही है? कहो भला। (२६) जुवार का बीज लगाने पर जो जुवार आता है उससे उस बीज की न्यूनता पाई जाती है कि वृद्धि? (२७) अतः मैं ऐसा नहीं हूँ कि जगत् को ढूँढ़ना पड़ने से दिखाई दूँ, क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण जगत् हूँ। (२८) हे वीर! इस सत्य और निश्चित सिद्धान्त को अपने अन्तःकरण में गाँठ बाँध लो। (२९) मैंने निज को भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रकट किया है तथापि मैं ही गुणों से बँधा हुआ दिखाई देता हूँ। (१३०) हे कपिध्वज! जैसे स्वप्न में मनुष्य निज का मरण-दुःख भोगता है, (३१) अथवा जैसे पीलिया से पीड़ित मनुष्य की आँखों से पीला दिखाई देता है और उस पीलेपन का ज्ञान भी उन्हीं आँखों को होता है, (३२) अथवा जैसे सूर्य प्रकाशता है तब मेघ प्रकट होते हैं और उसका अस्त भी उसी के द्वारा दिखाई देता है, (३३) अपने ही शरीर से उत्पन्न हुई अपनी छाया देखकर कोई भय पावे तो क्या वह कोई दूसरी वस्तु रहती है? (३४) इसी प्रकार मैं इन अनेक शरीरों का प्रकट कर अनेक-रूप हो जाता हूँ और यह सम्बन्ध भी मैं ही देखता हूँ। (३५) सम्बन्ध होते हुए भी उसका बन्धन न होना ही मेरा ज्ञान होता है। वह बन्ध स्वभावतः मेरे अज्ञान से उत्पन्न होता है। (३६) अब हे अर्जुनदेव! मैं निज को किस गुण से और किस प्रकार से बन्ध जैसा दिखाई देता हूँ,

सुनो। (३७) और गुण कितने हैं, उनके क्या लक्षण हैं, उनके गमनरूप क्या हैं और वे कब उत्पन्न हुए हैं इत्यादि मर्म भी सुनो। (३८)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

इन तीनों को सत्त्व, रज, और तम कहते हैं। प्रकृति इनकी जन्मभूमि है। (३९) इनमें सत्त्व उत्तम है, रज मध्यम है, और तम स्वभावतः तीनों में कनिष्ठ है। (१४०) ये तीनों गुण एक ही वृत्ति में दिखाई देते हैं। जैसे एक ही देह में तीनों अवस्थायें दिखाई देती हैं; (४१) अथवा जैसे हीन सुवर्ण के संयोग से ज्यों-ज्यों सुवर्ण की तौल बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सोने का कस भी हलका होता जाता है (४२) अथवा जैसे आलस के वश हो जागृति गँवा दी जाय तो सुषुप्ति दृढ़ हो बैठती है, (४३) वैसे ही अज्ञान का स्वीकार करने से जो वृत्ति उठती है वह सत्त्व और रज के द्वारा विस्तृत होती है और फिर तमोरूप हो जाती है। (४४) हे अर्जुन! ये गुण हुए। अब हम इनके बन्धन के उपाय का वर्णन करते हैं। (४५) यह आत्मा ही थोड़ा सा क्षेत्रज्ञ-दशा में प्रवेश करता है और जब तक कि जन्म से लेकर मरण तक देह-धर्मों की प्रतिष्ठा का उपभोग न ले ले तब तक यही कल्पना करता रहता है कि मैं देहरूप ही हूँ। (४६,४७) जैसे मछली के मुँह में ज्यों ही आटे की गोली पड़ती है त्यों ही धीमर बंसी को खींच लेता है (४८)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चाऽनघ ॥६॥

—वैसे ही सत्त्वरूपी व्याधा सुख और ज्ञान के पाश से इस आत्मा को खींचता है। फिर वह मृग जैसा तड़पता, (४९) ज्ञान से युक्त होता, और मानों ज्ञातृत्वरूपी शस्त्र मार कर गाँठ का आत्मसुख बहा देता है। (५०) कोई थोड़ी विद्या का सम्मान करे तो उसे सन्तोष होता है, थोड़ा सा लाभ हो तो उसे दर्प होता है यह जान कर कि मैं सन्तुष्ट हूँ वह निज को धन्य समझने लगता है। (५१) वह समझता है कि मेरा कितना बड़ा भाग्य है कि आज मेरे समान सुखी दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार वह आठ सात्विक

मानों के गर्व से फूलता है। (५२) इतना ही नहीं किन्तु उसे और दूसरा बन्धन लगता है। उसके शरीर में विद्वत्तारूपी भूत का सञ्चार हो जाता है। (५३) उसे इस बात का दुःख नहीं होता कि मुझ ज्ञान स्वरूप होकर भी मुझे उसकी विस्मृति हो गई है, किन्तु विषयज्ञान से वह आकाश में फूला नहीं समाता। (५४) राजा जैसे स्वप्न में दरिद्री हो भिक्षा माँगे तो दो दाने मिलते ही निज को इन्द्र मानने लगता है, (५५) वही हाल, हे पाण्डुसुत! देहातीत का—देहवन्त हो जाने पर—बाह्य ज्ञान के कारण होने लगता है। (५६) वह प्रवृत्तिशास्त्र समझता है, यज्ञविद्या जानता है, किंबहुना उसे स्वर्ग का भी ज्ञान हो जाता है। (५७) और वह समझता है कि आज मेरे सिवाय कोई ज्ञानी नहीं है, चातुर्यरूपी चन्द्र के लिए मेरा चित्त गगन हो रहा है। (५८) इस प्रकार सत्त्व गुण जीव को सुख और ज्ञान की नाथें लगा कर लूले मनुष्य के बैल जैसा बना देता है। (५९) अब यही आत्मा जिस प्रकार रज से बाँधा जाता है उसका वर्णन सुनो। (१६०)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

इसे रज इसी लिए कहते हैं कि वह जीव को रिझाना जानता है। वह अभिलाषा से सदा युक्त बना रहता है। (६१) वह जीव में थोड़ा सा प्रवेश करता है त्योंही उसे काम की धुन लग जाती है और वह तृष्णारूपी वायु पर आरूढ़ हो जाता है। (६२) उसकी इच्छा इतनी प्रबल होती है कि उसके सामने घी से सींचा हुआ प्रखर अग्नि का प्रज्वलित पुंज भी अत्यन्त अल्प दिखाई देता है। दुःख भी उसे मधुर लगता है और इन्द्रपद भी उसे अल्प दिखाई देता है। (६३-६४) इस प्रकार तृष्णा की वृद्धि होने से मेरु भी हाथ लग जाय तो भी वह चाहता है कि कोई और दूसरा वस्तु ले लूँ। (६५) वह कौड़ी-कौड़ी के लिए जीवन को निछावर करने लगता है और एक तृण के लाभ से भी निज को कृतार्थ समझता है। (६६) यह सोच कर कि आज गाँठ का द्रव्य खर्च कर दूँ तो कल क्या करूँगा, वह आशा से बड़े बड़े उद्यम करता है। (६७) वह सोचता है कि स्वर्ग को जाऊँ तो वहाँ क्या खाऊँगा। अतएव वह दान करने की चेष्टा करता है। (६८) एक स एक बढ़ कर व्रत करता है, और यज्ञ आदि कर्मों की कामना के

सिवाय काम नहीं जगाता। (६९) जैसे ग्रीष्मान्त की वायु विश्राम लेना नहीं जानती वैसे ही यह रजोगुणी जीव व्यापार के विषय में फँसा रात और दिन नहीं देखता। (१७०) उसके सामने मछली क्या चपल होगी? वह स्वर्ग या संसार की आशा से क्रियारूपी अग्नि में ऐसे वेग से प्रवेश करता है मानों स्त्री का नेत्र-कटाक्ष हो। वैसी चपलता बिजली में भी नहीं है। (७१-७२) इस प्रकार वह देहातीत जीव देह में प्रवेश कर तृष्णा की शृङ्खला ले अपने ही गले में पहनने की चेष्टा करता है। (७३) इस प्रकार देही को इसी देह में रजोगुण का दारुण बन्धन होता है। अब तमोगुण के कौशल्य का बयान सुनो। (७४)

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

आँख में जिसका परदा आ जाने से व्यवहार की दृष्टि मन्द हो जाती है, जो मोहरूपी रात्रि के काले मेघ के समान है, (७५) अज्ञान का जीवन जिस एक वस्तु पर निर्भर है, जिससे सब जगत् मत्त हो नाचता है (७६) जो अविचार का महा-मन्त्र है जो मूर्खतारूपी मद्य का पात्र है, अधिक क्या कहें जीवों के लिए जो मोहनास्त्र है (७७) वह हे पार्थ! तम है। यह देह को ही आत्मा माननेवालों को चतुष्क लताओं की पटना द्वारा चारों ओर से कस कर बाँधता है। (७८) वह शरीर से यद्यपि एक ही है तथापि चराचर में भरा रहता है, और उसके सिवाय जगत् में दूसरी वस्तु नहीं रहती। (७९) इसके कारण मनुष्य की सब इन्द्रियाँ जड़ हो जाती हैं, मन में मूढ़ता समाती है और दृढ़ आलस्य छा जाता है। (१८०) शरीर ऐंठता है, सम्पूर्ण कार्यों

उन पर गाल रख कर, अथवा पाँवों में मस्तक जमा कर बैठता है। (८६) निद्रा भी तो उसके हृदय में अत्यन्त प्रीति रहती है। सोते ही स्वर्ग को भी तुच्छ समझता है। (८७) ब्रह्मदेव का आयुष्य प्राप्त हो और सोते ही रहें, इसके अतिरिक्त उसे दूसरी इच्छा नहीं रहती (८८) अथवा रास्ता चलते चलते यदि कहीं अकस्मात् लेटने के साथ आँख लग जाय तो नींद के सामने वह अमृत को भी स्वीकार नहीं करता। (८९) वैसे ही यदि बरबस कभी किसी व्यापार में प्रवृत्ति हो तो उसका वह व्यापार अन्धे के, क्रोध से किये हुए व्यापार की तरह ज्ञान-शून्य होता है। (१९०) वह यह नहीं जानता कि कब कैसी चाल चलनी चाहिए, किससे क्या बोलना चाहिए, कौन सी बात साध्य है और कौन सी असाध्य है। (९१) सम्पूर्ण दावाग्नि को अपने पङ्खों से पोंछ लेने की अभिलाषा से जैसे पतङ्ग उसमें जा पड़ता है (९२) वैसे ही वह धीरज से निषिद्ध कर्मों के विषय में ही साहस रखता है। बहुत क्या कहूँ, उससे ऐसे-ऐसे प्रमाद होते हैं। (९३) सारांश, तमोगुण शुद्ध और निरुपाधि आत्मा को निद्रा, आलस्य और प्रमादरूपी तीन बन्धों से बाँधता है। (९४) जैसे अग्नि जब काष्ठ में भर जाती है तो वह काष्ठाकार दिखाई देती है, अथवा जैसे आकाश घट से परिच्छिन्न हो, तो वह घटाकार रूप दिखाई देता है, (९५) अथवा भरे हुए सरोवर में जैसे चन्द्र प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही गुणों के पाश में बँधा हुआ आत्मा दिखाई देता है। (९६)

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

जब कफ और वात को अभिभूत कर शरीर में पित्त प्रबल हो जाता है, तो वह देह को सन्तप्त कर देता है, (९७) अथवा जब वर्षा और ग्रीष्म को जीत कर शीतकाल ही छा जाता है, तब जैसे सब आकाश शीतमय हो रहता है, (९८) अथवा स्वप्न और जागृत-अवस्था को ग्रास करके जब सुषुप्ति आ जाती है, तब जैसे क्षण-भर चित्त की वृत्ति तद्रूप ही हो जाती है, (९९) वैसे ही जब सत्त्वगुण रज

राज देती है, और जो आवाहन है सो उसकी लीम टाल देती है। (२१०) दीपक के सामने जैसे अँधेरा भाग जाता है, वैसे ही निषिद्ध विषय उसके इन्द्रियों के सामने नहीं आते। (११) वर्षाकाल में जैसे महानदी में बाढ़ आती है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रों में उसकी बुद्धि बढ़ी हुई दीखती है। (१२) पूर्णमासी के दिन चन्द्र की प्रभा जैसे सारे आकाश-भर में फैलती है, वैसे ही उसकी वृत्ति सम्पूर्ण ज्ञानों में विकास पाती है। (१३) उसकी वासना का सङ्कोच हो जाता है। प्रवृत्ति पीछे हटती है, और मन का विषयों की ओर आ जाती है, (१४) एवं सत्त्व की वृद्धि हो तो उपयुक्त लक्षण प्रकट होते हैं और यदि ऐसे समय में मृत्यु हो जाय (१५) तो—जैसे सुकाल प्राप्त हुआ हो और घर में पकवान बना हो और उस समय स्वर्ग से यदि कोई प्रेमी जन पाहुना आ जाय (१६) तो इधर जैसी घर में सम्पत्ति है वैसी ही उदारता और धर्म की बुद्धि होने के कारण कीर्ति और परलोक दोनों क्यों न प्राप्त होंगे, (१७) वैसे ही हे धनञ्जय! उस सत्त्वगुणी मनुष्य की उत्तम योग्यता होने के कारण उसका सत्त्व से युक्त देह और कहाँ जा सकता है? (१८) क्योंकि जो शरीर भोग भोगने के लिए ही समर्थ है उसका त्याग कर सत्त्वगुण का आचरण करनेहारा जो मनुष्य शुद्ध तत्त्व से निकलता है (१९) वह जो जाता है सो एकदम पुनः सत्त्व की ही मूर्त्ति बन जाता है। बहुत क्या कहें, उसे ज्ञानियों में जन्म प्राप्त होता है। (२२०) कहो हे धनुर्धर! राजत्व कायम रहते हुए यदि राजा पर्वत पर जा चढ़ा हो तो क्या कुछ न्यून हो जाता है? (२१) अथवा यहाँ का दीपक यदि कोई पड़ोस के गाँव में ले जाय तो वह जैसा यहाँ भी दीपक ही बना रहता है, (२२) वैसे ही शुद्ध सत्त्व की वृद्धि ज्ञान की वृद्धि-सहित बुद्धि को विचार-समुद्र में तैराने लगती है, (२३) और महत्तत्त्व इत्यादि की परिपाटी का विचार कर अन्त में विवेक-सहित, आत्म-स्वरूप में लीन हो जाती है। (२४) जो छत्तीस तत्त्वों के परे सैंतीसवाँ तत्त्व है, अथवा जो सांख्य मतानुसार चौबीस तत्त्वों के पर पचीसवाँ तत्त्व है, और जो तीनों पदों का निरसन होने पर स्वभावतः चौथा देह है, (२५) वह सर्वोत्तम पद जिसे सुगम हो गया है ऐसे ज्ञानी के द्वारा यह सत्त्वगुणी मनुष्य का निरुपम देह का लाभ होता है। (२६) इसी प्रकार, देखो, अब तम और सत्त्व गुणों को अधोमुख बैठा कर रजोगुण प्रतिष्ठा पाता

है (२७) और शरीररूपी गाँव में अपने कार्य की गड़बड़ मचा देता है तो ये लक्षण प्रकट होते हैं,—(२८) आँधी का वह जैसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ ऊपर ले जाती है वैसे ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने की मुख्यता हो जाती है (२९) परदारागमन इत्यादि करते हुआ वह मनुष्य उसे विपरीत आचरण नहीं समझता, और बकरी के मुँह के समान इन्द्रियों को चाहे जहाँ चरने देता है। (२३०) उसका लोभ यहाँ तक मनमाना आचरण करता है कि जो वस्तु इसकी पकड़ में न आ सके वही उससे बचती है। (३१) और है अनसुना ! कोई भी उद्यम उसके सामने आ जाय तो वह उसमें प्रवृत्त होता हुआ उसमें से हाथ नहीं निकालता। (३२) वह मन्दिर बनाना या अश्वमेध करना ऐसी कोई कुर्पट धुन पकड़ बैठता है (३३) नगर बसाना जलाशय खुदवाना, नानाविध बड़े-बड़े बगीचे लगाना (३४) ऐसे-ऐसे महान् कार्यों के समारम्भों का आरम्भ करता है। इस लोक की और परलोक की वासनाएँ उसके लिए काफी नहीं होतीं। (३५) वह ऐसा कुर्पट लोभ रखता है कि समुद्र भी उससे हार जाता है, और अग्नि की उसके सामने तीन कौड़ी की भी प्रतिष्ठा नहीं रहती। (३६) इच्छा उसके मन के आगे आगे आशारूपी दौड़ दौड़ती है, और सम्पूर्ण विश्व को वह उस इच्छा के पाँवों तले पाँवड़ा बना बिछा देता है। (३७) रजोगुण की वृद्धि होने से ये लक्षण सिद्ध होते हैं। इस लक्षण-समुदाय की उपस्थिति में यदि मरण प्राप्त हो (३८) तो वह मनुष्य इन्हीं सब चिह्नों-समेत दूसरे देह में प्रवेश करता है, तथापि उसे मनुष्ययोनि ही प्राप्त होती है। (३९) परन्तु दरिद्री मनुष्य यद्यपि राजमन्दिर में सुख का उपभोग ले तथापि क्या वह कभी राजा बन सकेगा ? (२४०) बैल को चाहे किसी श्रीमान् के बरात में ले जाओ तथापि उसकी घास नहीं छूटती। (४१) वैसे ही उस रजोगुणी मनुष्य को ऐसों के ही सहवास का लाभ होता है, कि उसे रात और दिन व्यापार से विश्राम नहीं मिलता। (४२) तात्पर्य यह कि जो रजोगुण के वृद्ध में डूब कर देह छोड़ देता है वह उन कर्मों में प्रवृत्त रहनेवालों के कुल में जन्म लेता है। (४३) इसी प्रकार जब रज और सत्त्वगुण को अभिभूत कर तमो-गुण उन्नत होता है (४४) तब शरीर में अन्य बाह्य जो चिह्न प्रकट [illegible] उनका भी वर्णन [illegible] करते हैं। मोतबत्र से भली भाँति [illegible] [illegible] उस समय [illegible] हो जाता है जैसा कि

अमावस्या की रात को रवि और चन्द्र से विहीन गगन होता है। (४६) अन्तःकरण स्फूर्ति-हीन, शून्य और जड़ पड़ जाता है और उसमें से विचार का नाम मिट जाता है। (४७) बुद्धि अपनी मृदुता यहाँ तक छोड़ देती है, कि पत्थर को भी कुछ नहीं समझती। स्मरण हद के पार निकाल दिया-सा दिखाई देता है। (४८) अविवेक के नशे से शरीर अन्तर्बाह्य भर जाता है और एक मूर्छा ही उसे आलिङ्गन देती है। (४९) इन्द्रियों के सम्मुख मूर्तिमान अनाचार खड़ा रहता है और मरते तक उसके कर्म अनाचार की ओर ही झुकते हैं। (२५०) और भी देखा जाता है कि घुग्घू को जैसे अँधेरे में ही दिखाई देता है, वैसे ही उसका चित्त दुष्कर्म से ही आनन्दित होता है। (५१) उसका चित्त निषिद्ध वस्तुओं में से चाहे जिसकी इच्छा करे इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ती हैं। (५२) वह मदिरा पिये बिना ही डोलता है, सन्निपात के बिना ही बड़बड़ाता है, और प्रेम के बिना ही पागल जैसा भूला हुआ रहता है। (५३) चित्त उड़ जाता है परन्तु वह उन्मनी अवस्था नहीं वह केवल मोह के नशे के वश हो जाता है। (५४) सारांश, जब तमोगुण अपनी सामग्री-सहित बढ़ता होता है, तब ये चिह्न बने हुए होते हैं। (५५) और प्रसङ्गवशात् ऐसे लक्षणों की उपस्थिति में मृत्यु आ जाय तो वह मनुष्य उन सब लक्षणों-सहित तमोगुण में ही प्रवेश करता है। (५६) राई अपना गुण बीज में रख कर नष्ट हो जाय और वृक्षरूप से उगे तो राई के अतिरिक्त क्या कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है? (५७) आग से दीपक की ज्योति सुलगाई जाय और आग बुझा दी जाय, तथापि जहाँ वह ज्योति लगेगी वहाँ सब अग्निमय ही हो जायेगा, (५८) वैसे ही संकल्प को तमोगुण की पोटली में बाँध कर देह का त्याग किया जाय तो वह देह फिर तमोरूप ही होता है। (५९) अब बहुत क्या कहा जाय जो कोई तमोगुण की वृद्धि होते हुए मृत्यु पाता है वह पशु या पक्षी, अथवा झाड़ या कीटरूप से उत्पन्न होता है (२६०)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

इसी लिए मुनियों ने कहा है कि सुकृत वह है जो सत्त्व-गुण से

है (२७) और शरीररूपी गाँव में अपने कार्य की गड़बड़ मचा देता है तो ये लक्षण प्रकट होते हैं,—(२८) आँधी आ कर जैसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ ऊपर से उड़ती हैं वैसे ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने की तृष्णा हो जाती है (२९) परदारागमन इत्यादि अयोग्य हुआ यह मनुष्य उसे विपरीत आचरण नहीं समझता, और बकरी के मुँह के समान इन्द्रियों को चाहे जहाँ चरने देता है। (२३०) उसका लोभ यहाँ तक मनमाना आचरण करता है कि जो वस्तु इसकी चाल में न आ सके वही उससे बचती है। (३१) और हे धनञ्जय! कोई भी उद्यम उसके सामने आजाय तो वह उसमें प्रवृत्त होता हुआ उसमें से हाथ नहीं निकालता। (३२) वह मन्दिर बनाना या अश्वमेध करना ऐसी कोई दुर्घट धुन पकड़ बैठता है, (३३) नगर बसाना, जलाशय खुदवाना, नानाविध बड़े-बड़े बगीचे लगाना (३४) ऐसे ऐसे महान कार्यों के समारम्भों का आरम्भ करता है। इस लोक की और परलोक की वासनाएँ उसके लिए काफी नहीं होतीं। (३५) वह ऐसा दुर्घट लोभ रखता है कि समुद्र भी उससे हार जाता है, और अग्नि की उसके सामने तीन कौड़ी की भी प्रतिष्ठा नहीं रहती। (३६) इच्छा उसके मन के आगे आगे आशारूपी दौड़ दौड़ती है, और सम्पूर्ण विश्व को वह उस इच्छा के पाँवों तले पाँवड़ा बना बिछा देता है। (३७) रजोगुण की वृद्धि होने से ये लक्षण सिद्ध होते हैं। इस लक्षण-समुदाय की उपस्थिति में यदि मरण प्राप्त हो (३८) तो वह मनुष्य इन्हीं सब चिह्नों-समेत दूसरे देह में प्रवेश करता है, यद्यपि उसे मनुष्ययोनि ही प्राप्त होती है। (३९) परन्तु दरिद्री मनुष्य यद्यपि राजमन्दिर में सुख का उपभोग ले तथापि क्या वह कभी राजा बन सकेगा? (२४०) बैल को चाहे किसी श्रीमान् के बरात में ले जाओ तथापि उसकी घास नहीं छूटती। (४१) वैसे ही उस रजोगुणी मनुष्य को पैलों के ही सहवास का लाभ होता है, कि उसे रात और दिन व्यापार से विश्राम नहीं मिलता। (४२) तात्पर्य यह कि जो रजोगुण के बढ़ में डूब कर देह छोड़ देता है वह कर्मों में श्रद्धा रखनेवालों के कुल में जन्म लेता है। (४३) इसी प्रकार जब रज और सत्त्ववृत्ति को अभिभूत कर तमो-गुण उमड़ होता है (४४) तब शरीर में अन्तर्बाह्य जो चिह्न प्रकट होते हैं उनका भी हम वर्णन करते हैं। श्रोत्रपात्र से भली भाँति सुनो। (४५) उस समय मन ऐसा हो जाता है जैसा कि

जैसे स्वप्न में बना हुआ राजा शत्रु की चढ़ाई देखता हुआ अपने में ही अपना जय या पराजय देखता है, (७८) वैसे ही स्वर्ग, मृत्यु और नरक गुणों की वृत्ति के भेद हैं। अन्यथा इस दृष्टि को छोड़ दो तो सब केवल ब्रह्म ही है। (७९)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

परन्तु यह बात रहने दो। तथापि यह ध्यान रक्खो कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए हमने पहले जो एक बात कही थी उसे फिर सुनो। (१८०) यह जान लो कि ब्रह्म की सत्ता द्वारा ये तीनों गुण ही स्वभावतः देह के मिस से उत्पन्न होते हैं। (८१) ईंधन के आकार में जैसे अग्नि ही प्रकट होती है, अथवा सम्पूर्ण वृक्षों के रूप में जैसे पृथ्वी का अन्तर्गत जल ही साकार हुआ दिखाई देता है, (८२) अथवा दही के रूप में जैसे दूध ही परिणत होता है, अथवा ईख के रूप में जैसे मिठास ही मूर्तिमती होती है, (८३) वैसे ही ये तीनों गुण अन्तःकरणसहित देहरूप हो जाते हैं। यही वस्तुतः बन्धन का कारण है; (८४) तथापि हे धनुर्धर! यह आश्चर्य देखो कि इनसे उत्पन्न होते हुए भी मोक्ष का विस्तार कुछ कम नहीं होता। (८५) यद्यपि तीनों गुण अपने अपने धर्मानुसार देह के सञ्चित या क्रियमाण कर्म करते हैं, तथापि ज्ञानियों की गुणातीतता कुछ कम नहीं होती। (८६) इस प्रकार जो सहज मुक्ति प्राप्त होती है उसे अब हम तुम्हें सुनाते हैं, क्योंकि तुम ज्ञानरूपी कमल के भ्रमर हो। (८७) हम जो एक सिद्धान्त वर्णन कर चुके हैं कि गुणों में जो चैतन्य है वह गुणों के समान नहीं है, वही बात यह है। (८८) ज्ञान होने पर यह गुण-संसार ऐसा दिखाई देता है जैसे जागृत होने पर स्वप्न जान पड़ता है। (८९) अथवा जैसे तीर पर बैठ कर देखनेवाला मनुष्य जान लेता है कि पार पार दिखता हुआ, तरङ्गों में दिखाई देनेहारा, प्रतिबिम्ब मेरा ही है, (१९०) अथवा नट ने कुशलता से वेष बदला हो तथापि वह जैसे निज को नहीं भूलता वैसे ही ज्ञानी जन इस गुणसमूह से एकरूप न होकर इसके साक्षी रहते हैं। (९१) जैसे आकाश तीनों ऋतुओं को धारण करता हुआ अपनी निजता में कुछ कमी नहीं होने देता (९२) वैसे ही जो गुणों के परे है और गुणों में स्वभावतः सिद्ध

है (२७) और शरीररूपी गाँव में अपने कार्य की गड़बड़ मचा देता है तो ये लक्षण प्रकट होते हैं,—(२८) आँधी आ कर जैसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ ऊपर से उड़ती हैं वैसे ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने की मुच्छा हो जाती है (२९) परदारागमन इत्यादि करता हुआ वह मनुष्य उसे विपरीत आचरण नहीं समझता, और बकरी के मुँह के समान इन्द्रियों को चाहे जहाँ चरने देता है। (२३०) उसका लोभ यहाँ तक मनमाना आचरण करता है कि जो वस्तु इसकी पाठ में न आ सके वही उससे बचती है। (३१) और हे धनञ्जय! ऐसी व्यवस्था उसके सामने आजाय तो वह उसमें प्रवृत्त होता हुआ उससे हाथ नहीं निकालता। (३२) वह मन्दिर बनाना या अश्वमेध यज्ञ ऐसी कोई दुर्घट धुन पकड़ बैठता है, (३३) नगर बसाना, जलाशय खुदवाना, नानाविध बड़े-बड़े बगीचे लगाना (३४) ऐसे-ऐसे महान कार्यों के समारम्भों का आरम्भ करता है। इस लोक की और परलोक की वासनाएँ उसके लिए कभी नहीं होतीं। (३५) वह ऐसा दुर्घट लोभ रखता है कि समुद्र भी उससे हार जाता है, और अग्नि की उसके सामने तीन कौड़ी की भी प्रतिष्ठा नहीं रहती। (३६) इच्छा उसके मन के आगे आगे आशारूपी दौड़ दौड़ती है, और सम्पूर्ण विश्व को वह उस इच्छा के पाँवों तले पाँवड़ा बना बिछा देता है। (३७) रजोगुण की वृद्धि होने से ये लक्षण सिद्ध होते हैं। इस लक्षण-सद्भाव की उपस्थिति में यदि मरण प्राप्त हो (३८) तो वह मनुष्य इन्हीं सब चिह्नों-समेत दूसरे देह में प्रवेश करता है, तथापि उसे मनुष्ययोनि ही प्राप्त होती है। (३९) परन्तु दरिद्री मनुष्य यद्यपि राजमन्दिर में सुख का उपभोग ले तथापि क्या वह कभी राजा बन सकेगा? (२४०) बैल को चाहे किसी श्रीमान् के बरात में ले जाओ तथापि उसकी घास नहीं छूटती। (४१) वैसे ही उस रजोगुणी मनुष्य को ऐसों के ही सहवास का लाभ होता है, कि उसे रात और दिन व्यापार से विश्राम नहीं मिलता। (४२) तात्पर्य यह कि जो रजोगुण के वृद्ध में घुस कर देह छोड़ देता है वह जड़ कर्मों में मग्न रहनेवालों के कुल में जन्म लेता है। (४३) इसी प्रकार जब रज और सत्त्ववृत्ति को अभिभूत कर तमो-गुण उभड़ता है (४४) तब शरीर में अन्त-र्बाह्य जो चिह्न प्रकट होते हैं उनका भी हम वर्णन करते हैं। श्रोत्रवत्स से भली भाँति सुनो। (४५) उस समय मन ऐसा हो जाता है जैसा कि

अमावस्या की रात को रवि और चन्द्र से विहीन गगन होता है। (४६) अन्तःकरण स्फूर्तिहीन, शून्य और ऊजड़ पड़ जाता है और उसमें से विचार का नाम मिट जाता है। (४७) बुद्धि अपनी मृदुता यहाँ तक छोड़ देती है, कि पत्थर को भी कुछ नहीं समझती। स्मरण हद के पार निकाल दिया-सा दिखाई देता है। (४८) अविवेक के नशे से शरीर अन्तर्बाह्य भर जाता है और एक मूढ़ता ही उस आलिङ्गन देती है। (४९) इन्द्रियों के सन्मुख मूर्तिमान् अनाचारमग्न सदा रहता है और मरण तक उसके कर्म अनाचार की ओर ही झुकते हैं। (२५०) और भी देखा जाता है कि घुग्घू को जैसे अँधेरे में ही दिखाई देता है वैसे ही उसका चित्त दुष्कर्म से ही आनन्दित होता है। (५१) उसका चित्त निषिद्ध वस्तुओं में से चाह जिसकी इच्छा कर इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ती हैं। (५२) वह मदिरा पिये बिना ही डोलता है सन्निपात के बिना ही बड़बड़ाता है, और प्रेम के बिना ही पागल जैसा भूला हुआ रहता है। (५३) चित्त रह जाता है परन्तु वह उन्मनी अवस्था नहीं वह केवल मोह के नशे के वश हो जाता है। (५४) भारत, जब तमोगुण अपनी सामग्री-सहित प्रबल होता है, तब ये चिह्न पड़े हुए होते हैं। (५५) और प्रसङ्गवशात् ऐसे लक्षणों की उपस्थिति में मृत्यु आ जाय तो वह मनुष्य उन सब लक्षणों-सहित तमोगुण में ही प्रवेश करता है। (५६) राई अपना गुण बीज में रख कर नष्ट हो जाय और वृक्षरूप से उगे तो राई के अतिरिक्त क्या कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है? (५७) आग से दीपक की ज्योति सुलगाई जाय और आग बुझा दी जाय, तथापि जहाँ वह ज्योति लगेगी वहाँ सब अग्निमय ही हो जायेगा (५८) वैसे ही संकल्प को तमोगुण की पाटली में बाँध कर देह का त्याग किया जाय तो वह देह फिर तमोरूप ही होता है। (५९) अब बहुत क्या कहा जाय जो कोई तमोगुण की वृद्धि होते हुए मृत्यु पाता है वह पशु या पक्षी अथवा झाड़ या कीटकरूप से उत्पन्न होता है (२६०)

> कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
> रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

इसलिए मुनियों ने कहा है कि सुकृत ... है जो सत्त्वगुण से

है (२२७) और शरीररूपी गाँव में अपने कार्य की गड़बड़ मचा देता है तो ये लक्षण प्रकट होते हैं,—(२२८) आँधी का ज़ोर जैसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ ऊपर ले उड़ती है वैसे ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने की उत्कण्ठा हो जाती है (२२९) परदारागमन इत्यादि अथवा हुआ वह मनुष्य उसे विपरीत आचरण नहीं समझता, और बकरी के मुँह के समान इन्द्रियों को चाहे जहाँ चरने देता है। (२३०) उसका लोभ यहाँ तक मनमाना आचरण करता है कि जो वस्तु इसकी पकड़ में न आ सके वही उससे बचती है। (२३१) और हे अर्जुन! कोई भी उद्यम उसके सामने आ जाय तो वह उसमें प्रवृत्त हुआ हुआ उसमें से हाथ नहीं निकालता। (२३२) वह मन्दिर बनाना या अश्वमेध यज्ञ ऐसी कोई उद्घट धुन पकड़ बैठता है, (२३३) नगर बसाना, जलाशय खुदवाना, नानाविध बड़े-बड़े बगीचे लगाना (२३४) ऐसे-ऐसे महान कर्मों के समारम्भों का आरम्भ करता है। इस लोक की और परलोक की वासनाएँ उसके लिए काफी नहीं होतीं। (२३५) वह ऐसा उद्घट और रखता है कि समुद्र भी उससे हार जाता है, और अग्नि की उसके सामने तीन कौड़ी की भी प्रतिष्ठा नहीं रहती। (२३६) इच्छा उसके मन के आगे आगे आशारूपी दौड़ दौड़ती है, और सम्पूर्ण विश्व को वह उस इच्छा के पाँवों तले पाँवड़ा बना बिछा देता है। (२३७) रजोगुण की वृद्धि होने से ये लक्षण सिद्ध होते हैं। इस लक्षण-समुदाय की उपस्थिति में यदि मरण प्राप्त हो (२३८) तो वह मनुष्य इन्हीं सब चिह्नों-समेत दूसरे देह में प्रवेश करता है, तथापि उसे मनुष्ययोनि ही प्राप्त होती है। (२३९) परन्तु दरिद्री मनुष्य यद्यपि राजमन्दिर में सुख का उपभोग ले तथापि क्या वह कभी राजा बन सकेगा? (२४०) बैल को चाहे किसी श्रीमान् के बरात में ले जाओ तथापि उसकी घास नहीं छूटती। (४१) वैसे ही उस रजोगुणी मनुष्य को ऐसों के ही सहवास का लाभ होता है, कि उसे रात और दिन व्यापार से विश्राम नहीं मिलता। (४२) तात्पर्य यह कि जो रजोगुण के देह में पूर्ण कर देह छोड़ता है वह कर्मों में सदा रत रहनेवालों के कुल में जन्म लेता है। (४३) इसी प्रकार जब रज और सत्त्वादि को अभिभूत कर तमो-गुण प्रबल होता है (४४) तब शरीर में अन्त बाह्य जो चिह्न प्रकट होते हैं उनका भी हम वर्णन करते हैं। ओज-भाव से भली भाँति सुनो। (४५) उस समय मन ऐसा हो जाता है जैसा कि

अमावस्या की रात को रवि और चन्द्र से विहीन गगन होता है। (४६) अन्तःकरण स्फूर्ति-हीन, शून्य और जड़ पड़ जाता है और उसमें से विचार का नाम मिट जाता है। (४७) बुद्धि अपनी मृदुता यहाँ तक छोड़ देती है, कि पत्थर को भी कुछ नहीं समझती। स्मरण हद के पार निकाल दिया-सा दिखाई देता है। (४८) अविवेक के नशे से शरीर अन्तर्बाह्य भर जाता है और एक मूढ़ता ही उसे आलिङ्गन देती है। (४९) इन्द्रियों के सन्मुख मूर्तिमान अनाचार खड़ा रहता है और मरते तक उसके कर्म अनाचार की ओर ही झुकते हैं। (२५०) और भी देखा जाता है कि घुग्घू को जैसे अँधेरे में ही दिखाई देता है वैसे ही उसका चित्त दुष्कर्म से ही आनन्दित होता है। (५१) उसका चित्त निषिद्ध वस्तुओं में से चाहे जिसकी इच्छा करे इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ती हैं। (५२) वह मदिरा पिये बिना ही डोलता है, सन्निपात के बिना ही बड़बड़ाता है, और प्रेम के बिना ही पागल जैसा भूला हुआ रहता है। (५३) चित्त पड़ जाता है परन्तु वह उन्मनी अवस्था नहीं, वह केवल मोह के नशे के वश हो जाता है। (५४) सारांश, जब तमोगुण अपनी सामग्री-सहित प्रबल होता है, तब ये चिह्न बढ़े हुए होते हैं। (५५) और प्रसङ्गवशात् ऐसे लक्षणों की उपस्थिति में मृत्यु आ जाय तो वह मनुष्य उन सब लक्षणों-सहित तमोगुण में ही प्रवेश करता है। (५६) राई अपना गुण बीज में रख कर नष्ट हो जाय और वृक्षरूप से उग तो राई के अतिरिक्त क्या कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है? (५७) आग से दीपक की ज्योति सुलगाई जाय और आग बुझ दी जाय, तथापि जहाँ वह ज्योति लगेगी वहाँ सब अग्निमय ही हो जायेगा (५८) वैसे ही संकल्प को तमोगुण की पोटली में बाँध कर देह का त्याग किया जाय तो वह देह फिर तमोरूप ही होता है। (५९) अब बहुत क्या कहा जाय जो कोई तमोगुण की वृद्धि होते हुए मृत्यु पाता है वह पशु या पक्षी अथवा झाड़ या कीटरूप से उत्पन्न होता है (२६०)

> कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
> रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

इसी लिए श्रुतियों में कहा है कि सुकृत वह है जो सत्त्व-गुण से

उत्पन्न हो। (६१) इसी लिए स्वभावतः उसमें सुख और ज्ञान-रूपी अपूर्व निर्मल और सात्त्विक फल लगते हैं। (६२) और जो रजोगुणी क्रियाएँ हैं वे कटु इन्द्रायण के फल की तरह बाहर से सुन्दर दिखाई देती हैं परन्तु दुःख ही फलती हैं (६३) अथवा निमकौड़ियों की फसल ऊपर से जैसी सुन्दर परन्तु भीतर से विष के समान कड़वी होती है वैसे ही वे रजोगुण के फल भी होते हैं। (६४) विषांकुर से जैसे विष ही उत्पन्न होता है वैसे ही तामसकर्म जितना है उससे अज्ञान-रूपी फल ही पकता है। (६५)

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

अतएव हे अर्जुन! दिनमान का हेतु जैसे सूर्य है वैसे ही संसार में सत्त्व ही ज्ञान का हेतु है। (६६) और निज का विस्मरण जैसे द्वैत का हेतु है वैसे ही रज लोभ का कारण है। (६७) इसी प्रकार हे सुभट! मोह, अज्ञान और प्रमाद इन मलिन दोषसमूहों का बार-बार तमोगुण ही कारण होता है। (६८) एवं हथेली के आँवले के समान हमने विवेक की दृष्टि से तीनों गुणों का अलग-अलग वर्णन किया। (६९) इनमें रज और तम की वृद्धि से निपतन होता है, तथा सत्त्व के बिना मनुष्य ज्ञान की ओर नहीं आता। (२७०) अतएव जैसे ज्ञानी जन सबको छोड़ चौथी भक्ति का स्वीकार करते हैं, वैसे ही कोई आजन्म सात्त्विक वृत्ति रखने का ही व्रताचरण करते हैं। (७१)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

इस प्रकार का सत्त्वाचरण करते रहते हैं उन्हें देह छोड़ने पर स्वर्ग का लाभ होता है। (७२) वैसे ही जिनका जीवन और मृत्यु रजोगुण में ही होती है वे मृत्युलोक में मनुष्य-जन्म पाते हैं। (७३) यहाँ एक ही देहरूप थाली में सुखदुःखरूपी खिचड़ी खानी पड़ती है और मार्ग में बैठी हुई मृत्यु कभी नहीं टलती। (७४) इसी प्रकार तमोगुण में जो शरीर छोड़ते हैं उन्हें नरक-भूमि की सनद मिलती है। (७५) सारांश वस्तु की सत्ता से ये तीनों गुण सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं। (७६) परन्तु वस्तु निज-स्वरूप से पूर्ण होती हुई निज को गुणरूप समझ कर गुणों के कार्यों का अनुसरण करती है। (७७)

जैसे स्वप्न में बना हुआ राजा शत्रु की चढ़ाई देखता हुआ अपने में ही अपना जय या पराजय देखता है, (७८) वैसे ही स्वर्ग, मृत्यु और नरक गुणों की वृत्ति के भेद हैं। अन्यथा इस दृष्टि को छोड़ दो तो सब केवल भ्रम ही है। (७९)

> नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
> गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

परन्तु यह बात रहने दो। तथापि यह ध्यान रक्खो कि भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए हमने पहले जो एक बात कही थी उसे फिर सुनो। (९८०) यह जान लो कि ब्रह्म की सत्ता द्वारा ये तीनों गुण ही स्वभावतः देह के मिस से उत्पन्न होते हैं। (८१) ईंधन के आकार में जैसे अग्नि ही प्रकट होती है, अथवा सम्पूर्ण वृक्षों के रूप में जैसे पृथ्वी का अन्तर्गत जल ही साकार हुआ दिखाई देता है, (८२) अथवा दही के रूप में जैसे दूध ही परिणत होता है, अथवा ईख के रूप में जैसे मिठास ही मूर्तिमती होती है (८३) वैसे ही ये तीनों गुण अन्तःकरणसहित देहरूप हो जाते हैं। यही वस्तुतः बन्धन का कारण है; (८४) तथापि हे धनुर्धर! यह आश्चर्य देखो कि इतनी उलझन होते हुए भी मोक्ष का विस्तार कुछ कम नहीं होता। (८५) यद्यपि तीनों गुण अपने अपने धर्मानुसार देह के सञ्चित या क्रियमाण कर्म करते हैं, तथापि ज्ञानियों की गुणातीतता कुछ कम नहीं होती। (८६) इस प्रकार जो सहज मुक्ति प्राप्त होती है उसे अब हम तुम्हें सुनाते हैं, क्योंकि तुम ज्ञानरूपी कमल के भ्रमर हो। (८७) हम जो एक सिद्धान्त वर्णन कर चुके हैं कि गुणों में जो चैतन्य है वह गुणों के समान नहीं है, वही बात यह है। (८८) ज्ञान होने पर यह गुण संसार ऐसा दिखाई देता है जैसे जागृत होने पर स्वप्न जान पड़ता है। (८९) अथवा जैसे तीर पर बैठ कर देखनेवाला मनुष्य जान लेता है कि यार बार हिलता हुआ, तरङ्गों में दिखाई देनेवाला, प्रतिबिम्ब मेरा ही है (९९०) अथवा नट ने कुशलता से वेष बदला हो तथापि वह जैसे निज को नहीं भूलता वैसे ही ज्ञानी जन इस गुणसमूह से एकरूप न होकर इसके साक्षी रहते हैं। (९१) जैसे आकाश तीनों ऋतुओं को धारण करता हुआ अपनी भिन्नता में कुछ कमी नहीं होने देता (९२) वैसे ही जो गुणों के परे है और गुणों में स्वभावतः सिद्ध

है, उस मूल अहङ्कार में विवेक अहङ्कार आ बैठे (९३) और वहाँ से देखते हुए जिसे दिखाई दे कि मैं साक्षी और अकर्त्ता हूँ और ये गुण ही सम्पूर्ण कर्मों के नियोजक हैं, (९४) सत्व, रज और तम इन भेदों से जो कर्म का विस्तार है वह इन्हीं गुणों का विकार है (९५) और इनमें मैं ऐसा हूँ जैसे वन में वनश्री की शोभा का कारण वसन्त होता है, (९६) अथवा जैसे तारागणों का लुप्त होना, सूर्यकान्तमणि का प्रकाशित होना, कमलों का विकसित होना, अथवा अन्धकार का नाश होना (९७) इनमें से कोई भी बात सूर्य नहीं करता वैसे ही मैं अकर्त्ता होता हुआ देह में सत्ता रूप हूँ, (९८) मैं गुणों को प्रकट करता हूँ तथा उसका साक्षी हूँ, गुण-धर्मों का पोषण मेरे ही कारण होता है और इनका निरास होने पर जो शेष रहता है वही मैं हूँ, (९९) इस प्रकार जिसमें विवेक का उदय हो, उसे, हे धनञ्जय! गुणातीतता इन्हीं मार्गों से प्राप्त होती है। (१००)

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

फिर निर्गुण ब्रह्म जो वस्तु है उसे वह ठीक जान लेता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा वह वहीं स्वरूप टीका लगाये रहता है। (१) बहुत क्या, हे पाण्डुसुत! जैसे नदी समुद्र में पहुँच जाती है, वैसे वह गुणातीत मनुष्य उपर्युक्त रीति से मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है। (२) नली पर से उड़ कर तोता जैसे वृक्ष की शाखा पर जा बैठे वैसे ही वह मद्रूपी मूल-अहङ्कार को जा पहुँचता है—(३) अर्थात् हे ज्ञानी अर्जुन! जो अज्ञानरूपी निद्रा में जोर से खर्राटे ले सो रहा था वह आत्म-स्वरूप में जागृत हो जाता है, (४) अथवा हे वीरेश! बुद्धिभेद-रूपी दर्पण उसके हाथ से गिर पड़ता है जिससे वह प्रकृति के मुख का आभास देखने से वञ्चित हो जाता है। (५) हे वीर! जब देहाभिमान-रूपी वायु का चलना बन्द हो जाता है तब जीव और ईश्वररूपी तरङ्ग और समुद्र की एकता हो जाती है। (६) अतः वर्षाकाल के अन्त में सब मेघसमूह जैसे आकाश में मिल जाते हैं वैसे ही वह गुणातीत मनुष्य एकदम मुझमें मिल जाता है। (७) और वास्तव में वह मद्रूप होता हुआ देह में रहता है, इसलिए वह देह से उत्पन्न हुए गुणों के वश नहीं होता। (८) जैसा काँच के घर में दीप का प्रकाश नहीं रोका जा

सकता, अथवा समुद्र से बड़वानल नहीं बुझाई जा सकती, (९) वैसे ही आने-जानेवाले गुणों से उसका ज्ञान मलिन नहीं होता। आकाश में जैसा चन्द्र, वैसा ही वह देह में बना रहता है। (११) तीनों गुण अपने अपने बल से देह को अलग अलग भेष दे नचाते हैं, परन्तु वह अपने अहङ्कार को उनका खेल देखने के लिए नहीं पहुँचाता। (११) यहाँ तक कि वह, अन्तरात्मा में निश्चल रह, शरीर में क्या होता है सो भी नहीं जानता। (१२) साँप जैसे अपने शरीर की केंचुली छोड़ कर बिल में घुस जाता है, और तब उस केंचुली की रक्षा करने की ओर वह ध्यान नहीं देता, वैसे ही इस गुणातीत मनुष्य का हाल होता है, (१३) अथवा खुल कर बीतें हुए कमल की सुगन्ध जैसे आकाश में मिल जाती है और फिर लौट कर कमल की ओर नहीं आती, (१४) वही हाल आत्मस्वरूप में मिल जाने से उस गुणातीत का हो जाता है। उस समय वह नहीं जानता कि शरीर किन भावों का और कैसा है। (१५) इसलिए जन्म, जरा, मरण इत्यादि जो शरीर के छः गुण हैं वे देह में ही रह जाते हैं। उसे उनसे सम्बन्ध नहीं रहता। (१६) घट टूट कर उसकी खपरियाँ अलग हो जायँ, तो जैसे घटपरिच्छिन्न आकाश स्वभावतः महदाकाश ही हो रहता है, (१७) वैसे ही यदि देह बुद्धि का नाश होने पर आत्मस्मृति हो तो क्या आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ रह जायगा? (१८) इस प्रकार वह मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञान के साथ देह में रहता है, इसलिए मैं उसे गुणातीत कहता हूँ। (१९) श्रीकृष्ण के इन वचनों से अर्जुन को ऐसा आनन्द हुआ जैसा कि मेघों का शब्द सुन कर मोर को होता है। (१२०)

अर्जुन उवाच—

> कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
> किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

उस आनन्द के साथ अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि महाराज! जिसमें इस प्रकार ज्ञान रहता है वह किन चिह्नों से जाना जाता है? (२१) निर्गुण होता हुआ वह किस प्रकार व्यवहार करता है? गुणों का कैसे निवारण करता है? सो हे कृपा के मूलस्थान! वर्णन कीजिए। (२२) अर्जुन के इस प्रश्न पर षड्गुणों के राजा श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया सो सुनो। (२३) वे बोले—हे पार्थ! हमें तुम्हारे प्रश्न पर

आश्चर्य मालूम होता है। तुम क्या यही बात पूछते हो ? उस पुरुष को वास्तव में गुणातीत अर्थात् गुणों के पार गया हुआ कहना ही मिथ्या है (२४) क्योंकि जिसे मैं गुणातीत कहता हूँ वह कभी गुणों के अधीन रहता ही नहीं, अथवा गुणों में व्यापार करता हुआ दिखाई देने पर भी वह गुणों के वश में नहीं रहता। (२५) परन्तु गुणों की हलचल के बीच रहते हुए उनके अधीन होना या उनके वश न होना कैसे जाना जाय, (२६) इस बात का यदि तुम्हें सन्देह हो तो तुम मुझ से पूछ सकते हो। उसका हम वर्णन करते हैं सुनो। (२७)

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

यद्यपि रजोगुण के वश से शरीर से कर्म उत्पन्न होने पर प्रवृत्ति फँसा ले (२८) तथापि कर्म सफल होने से उस पुरुष को यह अभिमान नहीं होता कि मैं कर्म करनेहारा हूँ, अथवा निष्फल होने से भी उसकी बुद्धि को कुछ घबराहट नहीं होती। (२९) वैसे ही, जब सत्वगुण की प्रबलता से सब इन्द्रियों में ज्ञान प्रकाशित होता है, तब वह उत्तम ज्ञान के कारण सन्तोष से नहीं फूलता, (२१०) अथवा तमोगुण बढ़ जाने से वह मोह या भ्रम के वश भी नहीं होता, तथा न अज्ञान से दुःखी होता और न अज्ञान का अङ्गीकार करता है। (११) मोह के समय ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा नहीं रखता, और ज्ञान के समय न कर्म का त्याग करता है, न दुःखी होता है। (१२) सूर्य जैसे प्रातःकाल मध्याह्नकाल या सायंकाल इन तीनों कालों की गिनती नहीं रखता वैसे ही वह गुणातीत पुरुष रहता है। (१३) उसे क्या किसी दूसरे के ज्ञान से ज्ञान की प्राप्ति की अपेक्षा रहती है ? समुद्र क्या वर्षा के पानी से परिपूर्ण होता है ? (१४) अथवा कर्म में प्रवृत्त होने से क्या पुरुष की कर्मठता जान पड़ती है ? हिमालय पर्वत क्या कभी शीत से कँपता है ? (१५) अथवा मोह उत्पन्न होने से क्या उस पुरुष के ज्ञान का नाश हो सकता है ? ग्रीष्म क्या महा अग्नि को जला सकता है ? (१६)

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव ,योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उसी प्रकार, सब गुणागुणों का कार्य स्वयं आप ही होने के कारण उसे किसी एक वस्तु की बुराई नहीं मालूम होती। (३७) ऐसे अनुभव के साथ वह देह में इस प्रकार रहता है जैसे कोई मार्ग से चलता हुआ बटोही किसी प्रतिबन्ध के कारण बीच में ठहर गया हो। (३८) रणभूमि के समान उसकी न जीत होती है और न हार, वैसे ही वह न गुणों के वश होता और न उनसे कर्म करवाता है। (३९) अथवा वह ऐसा उदासीन रहता है जैसे शरीर में रहनेवाला प्राण, या घर आया हुआ ब्राह्मण अतिथि या चौरस्ते का खम्भा। (१४०) हे पाण्डव! मृगजल के आन्दोलन से जैसे मेरु पर्वत नहीं डिगता वैसे ही वह गुणों के आवागमन से नहीं हिलता-डुलता। (४१) बहुत कहाँ तक कहें, आकाश जैसे वायु से नहीं हिलता सूर्य जैसे अन्धकार से नहीं लीला जाता (४२) अथवा जागते हुए मनुष्य को जैसे स्वप्न का भ्रम नहीं होता, वैसे ही उस पुरुष को गुण नहीं बाँध सकते। (४३) वह निश्चय से गुणों के वश नहीं होता परन्तु उन्हें दूर से कुतूहल के साथ देखता है, मानों वे पुतलियाँ हों और आप खेल देखने वाला प्रेक्षक! (४४) वह सत्कर्म के द्वारा सात्त्विक गुणों में रजो-विषयक कर्मों के द्वारा रजोगुण में और तम-मोहादिक विषयों में व्यवहार करता है। (४५) परन्तु सूर्य जैसे लौकिक व्यवहारों का साक्षी है वैसे ही वह निश्चय से जानता है कि ये गुणों की क्रियायें उसी की सत्ता से होती हैं। (४६) समुद्र में ज्वार-भाटा होता है, सोमकान्त मणि पसीजती है, चन्द्र विकासी कमल खिलते हैं, परन्तु चन्द्र जैसे कुछ नहीं करता (४७) अथवा आकाश में वायु चलती है और बन्द होती है परन्तु आकाश जैसे निश्चल रहता है, वैसे ही जो गुणों की गड़बड़ से नहीं डिगता (४८) उस पुरुष को हे अर्जुन! उपयुक्त लक्षणों के कारण गुणातीत समझना चाहिये। अब वह पुरुष जो आचरण करता है सो सुनो। (४९)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

हे किरीटी! जैसे वस्त्र में आगे-पीछे सूत के सिवाय और कुछ नहीं रहता वैसे ही वह चराचर में मेरा ही रूप देखता है। (१५०) इसलिए जैसे मोहरि अपने वैरी अथवा भक्तों को समान

ही फल देते हैं, वैसे ही वह सुख और दुःख को समान जान कर ही आचरण करता है। (५१) यों भी, स्वभावतः सुख-दुःख तभी भोगे जाते हैं जब मनुष्य देह-रूपी जल में मछली बन कर रहे। (५२) पर देहाभिमान का त्याग कर वह पुरुष आत्मस्वरूप प्राप्त कर युक्त रहता है। जैसे अनाज की उड़ावनी कर बीज निकाल लिया जाता है, (५३) अथवा प्रवाह छोड़ कर गङ्गा समुद्र में मिलती है तो जैसे उसका कलकलनाद एकदम बन्द हो जाता है, (५४) वैसे ही हे धनञ्जय! जो आत्मस्वरूप में बस्ती करता है उसे आप ही आप देह में रहते हुए सुख-दुःख समान हो जाते हैं। (५५) जैसे खम्भे को रात और दिन समान ही हैं, वैसे ही आत्मानन्द में निमग्न पुरुष को देह में प्राप्त हुए सुख-दुःख समान हैं। (५६) सोते हुए मनुष्य के शरीर को साँप का स्पर्श, अथवा उर्वशी अप्सरा का आलिङ्गन, दोनों समान ही हैं, वैसे ही स्वरूपस्थित पुरुष को देह के सुख-दुःख समान ही होते हैं। (५७) इसलिए उसे सुवर्ण और गोबर में अन्तर नहीं जान पड़ता, अथवा रत्न और पत्थर में भी कुछ भेद नहीं दिखाई देता। (५८) मूर्तिमान् स्वर्ग प्राप्त हो, अथवा बाघ ऊपर आ पड़े, तथापि उसकी आत्मबुद्धि का कदापि भङ्ग नहीं होता। (५९) जैसे मरा हुआ जीव कभी जीवित नहीं होता, अथवा भूँजा हुआ बीज कभी उगता नहीं, वैसे ही उसकी एकरूपता की स्थिति का भङ्ग नहीं होता। (६०) 'आप ब्रह्मदेव हैं'—इस प्रकार उसकी स्तुति कीजिए, अथवा—'तू नीच है'—इस प्रकार निन्दा कीजिए, परन्तु राख जैसे न जलती है न बुझती है, (६१) वैसे ही निन्दा और स्तुति उसे कुछ भी नहीं जान पड़ती। सूर्य के घर न अँधेरा रहता है न दिया-बाती होती है। (६२)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

ईश्वर समझ कर उसकी पूजा की जाय अथवा चोर मान कर उसे क्लेश दिया जाय अथवा उसे वृषभ और हाथियों से युक्त राजा बना दिया जाय, (६३) अथवा चाहे उसके पास मित्र आ बसे अथवा कोई शत्रु प्राप्त हो परन्तु जैसे सूर्य का तेज रात या दिन नहीं जानता (६४) अथवा छहों ऋतुओं के आने से जैसे आकाश भिन्न नहीं होता वैसे ही उस पुरुष के मन को विषमता नहीं जान पड़ती।

(६५) और भी एक बात सुनो। वह आचरण करता है तथापि उसे कोई व्यापार उत्पन्न हुआ नहीं दिखाई देता, (६६) क्योंकि जब उसने कर्मारम्भों का त्याग कर दिया तब प्रवृत्ति का अन्त ही हो जाता है, जिसमें कर्मों के फल जल जाते हैं। (६७) उसके मनमें संसार या स्वर्ग के विषय में कोई इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। जो स्वभावतः प्राप्त हो उसी फल का वह उपभोग लेता है। (६८) पत्थर जैसे न सुखी होता है और न दुःखी वैसे ही उसके मन ने कर्तव्याकर्तव्य व्यापारों का त्याग किया है। (६९) अब कहाँ तक विस्तार करूँ, इतने से ही जान लो कि जिसका उपर्युक्त आचार हो वही यथार्थ में गुणातीत है। (१००) फिर श्रीकृष्णनाथ ने कहा कि अब जिस उपाय से मनुष्य गुणों के पार जा सकता है सो सुनो। (७१)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो मनुष्य चित्त में दूसरा विषय न रख कर भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह गुणों का नाश कर सकता है। (७२) अतएव मैं कैसा हूँ भक्ति कैसी होती है, एकनिष्ठ भक्ति का क्या लक्षण है, ये सब बातें स्पष्ट जाननी चाहिएँ। (७३) हे पार्थ! सुनो। संसार में मैं ऐसा हूँ जैसे रत्न का तेज और रत्न [पानी एक ही वस्तु], (७४) अथवा जैसे द्रवत्व ही पानी है, अवकाश ही आकाश है, या मधुरता ही शक्कर है दूसरी वस्तु नहीं। (७५) जैसे अग्नि ही ज्वाला है, कमलदल का ही नाम जैसे कमल है वृक्ष ही जैसे शाखा या फूल इत्यादि हैं, (७६) अथवा आकर्षित किया हुआ हिम ही जैसे हिमाचल कहा जाता है अथवा जमा हुआ दूध ही जैसे दही कहलाता है, (७७) वैसे ही विश्व के नाम से सम्पूर्ण में ही प्रकट हुआ हूँ। चन्द्रकला को जैसे चन्द्र से छीन कर अलग करने की आवश्यकता है (७८) जमा हुआ घी जैसे पिघलाया न जाय तथापि घी ही है अथवा कड़ुआ जैसे गलाया न जाय तथापि सोना ही है (७९) वस्त्र की तह जैसे खोली न जाय तथापि तन्तु ही है घट जैसे चूर न किया जाय तथापि मट्टी ही है, (१८०) वैसे ही मैं ऐसा नहीं हूँ कि विश्वत्व दूर करने पर ही दिखाई दूँ। सब विश्व-समेत मैं ही हूँ। (८१) इस प्रकार मुझे जानना अव्यभिचारिणी भक्ति कहाती है। संसार में कुछ भी

भेद जान पड़ा कि यह व्यभिचार हुआ। (८२) इसलिए भेद को छोड़ अभेद चित्त से निज के समेत सब मद्रूप ही जानो। (८३) हे पार्थ! जैसे सोने के ताबीज में सोने का ही कुन्दा रहता है वैसे ही निज को कोई दूसरा मत मानो। (८४) रश्मि जैसे सूर्य की होती है, सूर्य से ही उत्पन्न होती है, परन्तु सूर्य से ही लगी हुई है, ऐसे ही निज को जानो। (८५) पृथ्वी पर जैसे परमाणु रहते हैं, अथवा हिमाचल में जैसे हिमकण रहते हैं, वैसे ही निज को मुझमें जानो। (८६) तरङ्गें छोटी हों परन्तु जैसे वे समुद्र से भिन्न नहीं रहतीं, वैसे ही जब दृष्टि ऐसी एकता से विकसित होती है कि मैं ईश्वर में हूँ, अतएव जुदा नहीं हूँ, तब उसे हम भक्ति कहते हैं। (८७-८८) ज्ञान की उत्तम स्थिति भी इसी दृष्टि को समझनी चाहिए, तथा योग का सर्वस्व भी यही है। (८९) समुद्र और मेघ दोनों के बीच जैसे जलधारा लगी रहने से दोनों एक हुए दिखाई देते हैं वैसे ही यह भक्ति की वृत्ति प्रवृत्त होती है (३९०) अथवा जैसे कुएँ के मुँह और आकाश में कोई जोड़ न रह कर दोनों एक में ही मिले रहते हैं वैसे ही यह भक्त परमपुरुष में मिला रहता है। (९१) सूर्यबिम्ब से लेकर जल में पड़े हुए उसके प्रतिबिम्ब तक, जैसे सूर्य-प्रभा का ही उत्कर्ष दिखाई देता है वैसे ही उस भक्ति की सोऽहंवृत्ति हो जाती है। (९२) इस प्रकार जब उससे ईश्वर तक उसकी सोऽहंवृत्ति प्रकट होती है, तब वह उस वृत्ति-समेत आप ही आप ईश्वर में लीन हो जाता है। (९३) जैसे सेंधव का कण जल में गलते ही उसका गलना बन्द हो जाता है, (९४) अथवा घास को जला कर आग जैसे आप भी बुझ जाती है, वैसे ही भेद का नाश कर ज्ञान आप भी नहीं रहता। (९५) यह भेद नहीं रहता कि मैं दूर हूँ और भक्त यही है। अनादि काल से जो हमारी एकता है वही बनी रहती है। (९६) फिर गुणों को जीतने की बात ही नहीं रहती, क्योंकि यहाँ एकता की प्राप्ति की चाह भी नष्ट हो जाती है। (९७) बहुत क्या कहें, हे मर्मज्ञ अर्जुन! ऐसी जो दशा है वही ब्रह्मत्व है। यह दशा उसे प्राप्त होती है जो मेरी भक्ति करता है, (९८) और इन लक्षणों से युक्त जो मेरा भक्त हो उसकी यह ब्रह्मता पतिव्रता कामिनी बनती है। (९९) जैसे गङ्गा के प्रवाह में जो पानी बहता हुआ जाता है उसके लिए योग्य स्थान समुद्र ही है, दूसरा नहीं, (४००) वैसे ही हे किरीटी! जो ज्ञान-दृष्टि से मेरी भक्ति करता

है वह ब्रह्मता के मुकुट का चूड़ामणि बनता है। (१) इसी ब्रह्मत्व को सायुज्यता कहते हैं। इसी का नाम चौथा पुरुषार्थ है। (२) परन्तु यह देखकर कि मेरी सेवा ब्रह्मत्व को पहुँचने का मार्ग है, कहीं यह न समझ लेना कि मैं ब्रह्मत्व का साधन हूँ, क्योंकि (३) मेरे अतिरिक्त ब्रह्म कुछ दूसरी वस्तु नहीं है। (४)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

हे पाण्डव! ब्रह्मनाम का जो अर्थ है वह मैं ही हूँ। इन शब्दों से मेरा ही कथन किया जाता है। (५) हे मर्मज्ञ! चन्द्रमण्डल और चन्द्रमा जैसे दो वस्तुयें नहीं हैं वैसे ही मुझमें और ब्रह्म में भेद नहीं है। (६) जो नित्य है, अचल है, अनावृत है, धर्मरूप है, अपार है, अद्वितीय है, (७) अधिक क्या कहूँ, अपना ही नाश कर ज्ञान जिस सिद्धान्त के अपरिमित स्थान में लीन होता है वह वस्तु मैं ही हूँ। (८) सुनिए, इस प्रकार उस एकनिष्ठ भक्तों के प्रेमी श्रीकृष्ण ने अर्जुन वीर से निरूपण किया। (९) तब धृतराष्ट्र ने कहा हे सञ्जय! यह बात तुमसे किसने पूछी थी? बिना पूछे वृथा क्यों बोलते हो? (१०) मेरी चिन्ता का निरसन करो। विजय की बात कहो। तब सञ्जय ने मन में कहा—विजय की बात ही छोड़ो। (११) सञ्जय ने विस्मययुक्त मन से निरूपण के रस की उत्तमता की बड़ाई कर कहा कि इस धृतराष्ट्र का भाग्य कैसा है कि इसे पुष्ट ही सूझ रहा है! (१२) तथापि कृपालु ईश्वर प्रसन्न हो ऐसा करे कि यह इस ज्ञान का भोग ले सके और उसका मोहरूपी महारोग दूर हो जाय! (१३) ऐसा विचारते हुए सञ्जय ने श्रीकृष्ण के संवाद की ओर चित्त दिया तो उसके चित्त में हर्ष की उमङ्ग आ गई। (१४) अब सञ्जय उस आनन्द के आवि र्भाव से श्रीकृष्ण का संवाद वर्णन करेंगे। (१५) निवृत्तिनाथ के ज्ञानदेव कहते हैं कि उन्हीं शब्दों का भाव मैं आपके हृद्गत करता हूँ, सुनिए। (४१६)

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ।

अञ्जन लगाने से पाताल का द्रव्य भी दिखाई दे सकता है, परन्तु आँखें उस मनुष्य की सी होनी चाहिए, जो उसका जानता हो, (३४) वैसे ही ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, परन्तु उसके लिए मन ऐसा शुद्ध होना चाहिए कि ज्ञान स्थिर रह सके। (३५) इसलिए श्रीकृष्ण ने अपने विवेचन से यह सिद्ध किया कि ज्ञान की स्थिरता भी विरक्तता के बिना नहीं होती (३६) तथा विरक्तता किस प्रकार मन को जयमाल पहनाती है, इस विषय में भी सर्वज्ञानी श्रीहरि ने निर्णय कर दिया (३७) कि जैसे भोजन को बैठा हुआ मनुष्य यह जाने ही कि रसोई विष मिला कर राँधी गई है, थाली का त्याग कर चला जाता है, (३८) वैसे ही यदि इस सम्पूर्ण संसार की अनित्यता का ज्ञान हो जाय तो वैराग्य पीछे दौड़ता है। (३९) अब इस संसार की अनित्यता का स्वरूप श्रीकृष्ण इस पन्द्रहवें अध्याय में उस वृक्षाकार की उपमा से बतलाते हैं। (४०) सहज ही किसी पेड़ को उखाड़ लो तो वह जैसा उलटा हुआ हाथ आता है, और शीघ्र सूख जाता है, वैसा यह संसार का झाड़ नहीं है। (४१) इस प्रकार श्रीकृष्ण संसार का आवागमन बन्द करने के हेतु, रूपक की कुशलता के साथ, निरूपण करते हैं। (४२) इस पन्द्रहवें अध्याय का यही हेतु है कि संसार का मिथ्यात्व सिद्ध हो और आत्मा स्वरूप में स्थित हो। (४३) अब ग्रन्थ के इस सम्पूर्ण गर्भितार्थ का मैं विस्तार से आदरपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे सुनिए। (४४) महानन्दरूपी समुद्र के पूर्णमासी के पूर्ण चन्द्र द्वारका के नरेन्द्र श्रीकृष्ण ने कहा (४५) हे पाण्डुकुमार! स्वस्वरूपी घर को जाते हुए मार्ग में जो विश्वाभास प्रतिबन्ध करता है (४६) सो यह आडम्बर है। यह संसार नहीं, इसे एक विशाल फैला हुआ वृक्ष ही समझो। (४७) परन्तु अन्य वृक्षों की भाँति इसकी जड़ें नीचे और शाखाएँ ऊपर नहीं होतीं, इसलिए यह किसी के ध्यान में नहीं आता। (४८) जड़ में आग लगा दी जाय अथवा कुल्हाड़ी का घाव किया जाय तो, ऊपरी भाग कितना भी विस्तृत हो तथापि, (४९) साधारण वृक्ष जड़ से टूटने के कारण शाखाओं सहित गिर पड़ेगा; परन्तु इस वृक्ष में वैसी बात क्यों है? टूटने के लिए यह वृक्ष सहज नहीं है। (५०) हे अर्जुन! यह कुतूहल वर्णन करने में अलौकिक मालूम होता है कि इस वृक्ष की बाढ़ नीचे की ओर होती है। (५१) जैसे [illegible] ऊँचे दिखती है, परन्तु

उसकी किरणों का समुदाय नीचे की ओर फैलता है, वैसे ही यह संसार भी एक आश्चर्यकारक झाड़ है। (५२) और जैसे कल्पान्त के जल से आकाश व्याप्त हो जाता है वैसे ही जगत् में जो कुछ है वह सब इसी एक वृक्ष से व्याप्त है। (५३) अथवा सूर्य के अस्त होने पर रात्रि जैसे अँधेरे से भर जाती है, वैसे ही यह वृक्ष आकाश में समाया हुआ है। (५४) खाने के लिए इसमें न कोई फल लगता है और न सूँघने के लिए कोई फूल लगता है। जो कुछ है सो सब यह वृक्ष ही है। (५५) इसकी जड़ ऊपर है परन्तु यह उखड़ा हुआ नहीं है। इसी लिए यह सदा हरा-भरा रहता है। (५६) और यद्यपि हम कहते हैं कि इसकी जड़ ऊपर होती है तथापि नीचे की ओर भी इसकी जड़ें होती हैं। (५७) यह प्रबलता से चारों ओर उगा हुआ है, जैसे कि पीपल या बड़ जिसके बीज-बीज से शाखाओं का विस्तार होता है। (५८) और भी हे धनञ्जय! यह भी नहीं कि इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर ही होती हों। (५९) ऊपर की ओर भी इसकी शाखाओं के अपार समूह फैले हुए हैं। (६०) मानों आकाश ही पल्लवित हुआ हो अथवा वायु ही वृक्षाकार हो रही हो अथवा जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाएँ मूर्तिमती हो गई हों (६१) ऐसा यह एक विश्वरूपी ऊर्ध्वमूल निबिड़ वृक्ष उत्पन्न हुआ है। (६२) अब इसका ऊर्ध्व क्या है, वह किस प्रकार की है, अथवा इसका अधोमुखत्व या इसकी शाखाएँ कैसी हैं, (६३) अथवा इस वृक्ष की जो जड़ें नीचे की ओर हैं वे क्या हैं, ऊर्ध्व शाखाएँ कैसी हैं, (६४) और यह अश्वत्थ नाम से क्यों प्रसिद्ध है, तथा आत्मज्ञानियों ने इसके विषय में क्या क्या निर्णय किये हैं (६५) इत्यादि बातें हम तुम्हें उत्तम प्रकार से ऐसे स्पष्ट निरूपण द्वारा समझाते हैं कि तुम्हें प्रतीति हो जाय। (६६) हे सुभग! सुनो, यह निरूपण तुम्हारे ही सुनने योग्य है। अन्तःकरण पूर्वक सब शरीर श्रवणमय कर दो। (६७) इस प्रकार ज्यों ही यादववीर श्रीकृष्ण ने प्रेम से भरे हुए वचन कहे, त्यों ही मानों श्रवण ही अर्जुन रूप से मूर्तिमान् हो गया। (६८) अर्जुन का श्रवणावधान ऐसा बढ़ गया कि देव का निरूपण उसके सामने अल्प दिखाई देने लगा। मानों दसों दिशाएँ आकाश को आलिङ्गन दे रही हों। (६९) श्रीकृष्ण के वचनरूपी सागर के लिए अर्जुन मानों दूसरा अगस्त्य ही उत्पन्न हो गया ॥ यह

अञ्जन लगाने से पाताल का द्रव्य भी दिखाई दे सकता है, परन्तु वे आँखें उस मनुष्य की सी होनी चाहिए, जो उलटा जनमा हो, (१४) वैसे ही ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, परन्तु उसके लिए मन ऐसा शुद्ध होना चाहिए कि ज्ञान स्थिर रह सके। (३५) इसलिए श्रीकृष्ण ने अपने विवेचन से यह सिद्ध किया कि ज्ञान की स्थिरता कभी विरक्तता के बिना नहीं होती (३६) तथा विरक्तता किस प्रकार मन को जयमाला पहनाती है इस विषय में भी सर्वज्ञानी श्रीहरि ने निर्णय कर दिया (३७) कि जैसे भोजन को बैठा हुआ मनुष्य यह जाने ही कि रसोई विष मिला कर राँधी गई है, थाली का त्याग कर चला जाता है, (३८) वैसे ही यदि इस सम्पूर्ण संसार की अनित्यता का ज्ञान हो जाय तो वैराग्य पीछे दौड़ता है। (३९) अब इस संसार की अनित्यता का स्वरूप श्रीकृष्ण इस पन्द्रहवें अध्याय में उस वृक्षाकार की उपमा से बतलाते हैं। (४०) सहज ही किसी पेड़ को उखाड़ लो तो वह जैसा उलटा हुआ बन जाता है, और शीघ्र सूख जाता है, वैसा यह संसार का झाड़ नहीं है। (४१) इस प्रकार श्रीकृष्ण संसार का आवागमन बन्द करने के हेतु, रूपक की कुशलता के साथ, निरूपण करते हैं। (४२) इस पन्द्रहवें अध्याय का यही हेतु है कि संसार का मिथ्यात्व सिद्ध हो और अहङ्कार स्वरूप में स्थित हो। (४३) अब मन्थ के इस सम्पूर्ण गर्भितार्थ का मैं विस्तार से सुन्दरतापूर्वक कथन करता हूँ, उसे सुनिए। (४४) महाआनन्दरूपी समुद्र के पूर्णमासी के पूर्ण चन्द्र द्वारका के नरेन्द्र श्रीकृष्ण ने कहा (४५) हे पाण्डुकुमार! स्वस्वरूपी घर को जाते हुए मार्ग में जो विश्वाभास प्रतिबन्ध करता है (४६) सो यह आडम्बर है। यह संसार नहीं, इसे एक विशाल फैला हुआ वृक्ष ही समझो। (४७) परन्तु अन्य वृक्षों की भाँति इसकी जड़ें नीचे और शाखाएँ ऊपर नहीं होतीं, इसलिए यह किसी के ध्यान में नहीं आता। (४८) जड़ में आग लगा दी जाय अथवा कुल्हाड़ी का घाव किया जाय तो, ऊपरी भाग कितना भी विस्तृत हो तथापि, (४९) साधारण वृक्ष जड़ से टूटने के कारण शाखाओं-सहित गिर पड़ेगा परन्तु इस वृक्ष में वैसी बात कहाँ है? टूटने के लिए यह वृक्ष सहज नहीं है। (५०) हे अर्जुन! यह कुतूहल वर्णन करने में अलौकिक मालूम होता है कि इस वृक्ष की बाढ़ नीचे की ओर होती है। (५१) जैसे सूर्य की ऊँचाई न जाने कितनी है, परन्तु

उसकी किरणों का समुदाय नीचे की ओर फैलता है, वैसे ही यह संसार भी एक आश्चर्यकारक झाड़ है। (५२) और जैसे कल्पान्त के जल से आकाश व्याप्त हो जाता है वैसे ही जगत् में जो कुछ है वह सब इसी एक वृक्ष से व्याप्त है। (५३) अथवा सूर्य के अस्त होने पर रात्रि जैसे अँधेरे से भर जाती है, वैसे ही यह वृक्ष आकाश में समाया हुआ है। (५४) खाने के लिए इसमें न कोई फल लगता है और न सूँघने के लिए कोई फूल लगता है। जो कुछ है सो सब यह वृक्ष ही है। (५५) इसकी जड़ ऊपर है परन्तु यह उखड़ा हुआ नहीं है। इसी लिए यह सदा हरा-भरा रहता है। (५६) और यद्यपि हम कहते हैं कि इसकी जड़ ऊपर होती है तथापि नीचे की ओर भी इसकी जड़ें होती हैं। (५७) यह प्रबलता से चारों ओर फैला हुआ है, जैसे कि पीपल या बड़ जिसके बीज-बीज से शाखाओं का विस्तार होता है। (५८) और भी हे धनञ्जय! यह भी नहीं कि इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर ही होती हों। (५९) ऊपर की ओर भी इसकी शाखाओं के अपार समूह फैले हुए हैं। (६०) मानों आकाश ही पल्लवित हुआ हो, अथवा वायु ही वृक्षाकार हो रही हो अथवा जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाएँ मूर्तिमती हो गई हों (६१) ऐसा यह एक विश्वरूपी ऊर्ध्वमूल निबिड़ वृक्ष उत्पन्न हुआ है। (६२) अब इसका ऊर्ध्व क्या है, जड़ किस प्रकार की है, अथवा इसका अधोमूलत्व या इसकी शाखाएँ कैसी हैं, (६३) अथवा इस वृक्ष की जो जड़ें नीचे की ओर हैं वे क्या हैं, ऊर्ध्व शाखाएँ कैसी हैं, (६४) और यह अश्वत्थ नाम से क्यों प्रसिद्ध है तथा आत्मज्ञानियों ने इसके विषय में क्या क्या निर्णय किये हैं (६५) इत्यादि बातें हम तुम्हें उत्तम प्रकार से ऐसे स्पष्ट निरूपण द्वारा समझाते हैं कि तुम्हें प्रतीति हो जाय। (६६) हे सुभग! सुनो, यह निरूपण तुम्हारे ही सुनने योग्य है। अन्तःकरण पूर्वक सब शरीर अवधानमय कर दो। (६७) इस प्रकार ज्यों ही यादववीर श्रीकृष्ण ने प्रेम से भरे हुए वचन कहे, त्यों ही मानों अवधान ही अर्जुन रूप से मूर्तिमान् हो गया। (६८) अर्जुन का अवधानपन ऐसा बढ़ गया कि देव का निरूपण उसके सामने अल्प दिखाई देने लगा; मानों दसों दिशाएँ आकाश को आलिङ्गन दे रही हों। (६९) श्रीकृष्ण के वचनरूपी सागर के लिए अर्जुन मानों दूसरा अगस्त्य ही उत्पन्न हो गया जो पद

इस सम्पूर्ण जनके निरुपण का घूँट ही पिया चाहता हो। (७०) इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अमर्याद उमड़ती हुई अर्जुन की उत्सुकता देखी, तो उन्हें जो आनन्द हुआ उससे उन्होंने उसकी बलैयाँ लीं। (७१)

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

और फिर उन्होंने कहा कि हे धनञ्जय! इस वृक्ष का ऊर्ध्व वह है जिसे केवल इसी वृक्ष के कारण ऊर्ध्वता मिलती है, (७२) अन्यथा जिसमें मध्य, ऊर्ध्व या अध आदि भेद नहीं होते, जहाँ अद्वैत की ही एकता है, (७३) जो सुनाई न देनेवाला शब्द है, सूँघी न जानेवाली सुगन्ध है, जो रति बिना ही प्राप्त हुआ मूर्तिमान् आनन्द है (७४) जिसके इस पार और उस पार नहीं है, आगे-पीछे नहीं है, जो स्वयं अदृश्य रहता हुआ, तथा अन्य कोई दृश्य न रहते हुए भी, देखता है (७५) जिसको उपाधिरूपी द्वैत की सहायता मिलते ही नाम रूप रूपी संसार प्रकट होता है, (७६) जो ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ही केवल ज्ञान-रूप है, जो सुख के निष्कर्ष से भरा हुआ आकाश है (७७) जो न कार्य है न कारण जो द्वैत है न अद्वैत, जो स्वयं ही निज को जाननेहारा है, (७८) ऐसा जो परब्रह्म परमात्मा है वह इस वृक्ष का ऊर्ध्व है। अब इसकी जड़ से अंकुर फूटने की रीति यों है। (७९) जो वास्तव में कुछ न होने पर भी माया नाम से प्रसिद्ध है, अथवा वन्ध्या की की सन्तति की कथा की भाँति (८०) जो न सत्य है न असत्य है, जो इस प्रकार की है कि विचार का नाम भी नहीं सह सकती, जिसे अनादि कहते हैं, (८१) जो मानों अनेक सिद्धान्तों की सन्दूकची है, जगरूपी आभ का आकाश है, सम्पूर्ण आकारवान् वस्तुओं का तह किया हुआ वस्त्र है, (८२) जो जगद्रूपी वृक्ष का बीज है जो प्रपञ्चरूप चित्र खींचने की भूमि है, जो विपरीत ज्ञानरूपी प्रकाशित दीपक है (८३) वह माया ब्रह्म के समीप ऐसी है जैसे मानों हई नहीं। वास्तव में ब्रह्म का ही प्रभाव प्रकट होता है। (८४) जैसे नींद हमें मूढ़ बना देती है, अथवा दीपक में जैसे काजल और मन्द ज्योति हो जाती है, (८५) तथा स्वप्न में जैसे प्रियतम के पास सोई हुई तरुणी उसे जगा कर, सचमुच में आलिङ्गन

किये बिना ही उसको आलिङ्गन करती और काम की वासना जाग्रत कराती है, (८४) वैसे ही ब्रह्मस्वरूप में माया प्रकट हुई है। आत्मा को अपने स्वरूप का अज्ञान है वही है अन्वय! इस संसार-वृक्ष की पहली जड़ है। (८५) ब्रह्म-स्वरूप का—अपना—अज्ञान ही इस वृक्ष के ऊर्ध्व भाग में घनीभूत कन्द बन जाता है। इसी को वेदान्त में संसार का बीजभाव कहते हैं। (८६) घोर अज्ञान अथवा सुषुप्ति को बीजांकुर भाव कहते हैं, और स्वप्न और जागृति उसका फलभाव कहा जाता है। (८७) वेदान्त में इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है। परन्तु यह बात रहने दो। सम्प्रति यह सिद्ध हुआ कि इस संसार वृक्ष का मूल अज्ञान है। (९०) उसका ऊर्ध्व निर्मल आत्मा है, और वह मायारूपी दृढ़ थाँवला [आलवाल] बाँधता है जिसमें से नीचे ऊपर जड़ें निकलती हैं। (९१) प्रथम जो जड़ें अनेक भिन्न भिन्न शरीरों के रूप से प्रकट होती हैं वही चारों ओर से अंकुरित हो नीचे की ओर फैलती हैं। (९२) इस प्रकार इस संसार-वृक्ष का मूल जब ऊपर से जोर करता है तो नीचे की ओर उसके अङ्कुरों का समूह प्रकट होता है। (९३) फिर उनमें से प्रथम ज्ञान-वृत्ति अर्थात् महत्तत्त्वरूपी एक कोमल और विकसित पत्ती निकलती है। (९४) और सत्त्व, रज और तम-रूपी तीन प्रकार का जो अहङ्कार है वही मानो एक तीन पत्तीवाला अङ्कुर अधोमुख फूटता है। (९५) वह बुद्धि की शाखा का आश्रय कर अनेक भेदांकुरों को पैदा करता है और उनसे हरा-भरा होने पर उनमें से ममरूपी शाखा निकलती है। (९६) इस प्रकार उस मूल में से उसकी दृढ़ता और भेदरूपी कोमल रस के द्वारा अन्तःकरण-चतुष्टयरूपी शाखाओं के अङ्कुर फूटते हैं, (९७) फिर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूतरूपी सुन्दर सीधी कोपलें निकलती हैं (९८) और उनमें से श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ और उनके विषयरूपी कोमल और विचित्र पत्तियाँ फूटती हैं। (९९) शब्दांकुर प्रकट होते ही श्रोत्रेन्द्रियाँ आगे बढ़ कर सुनने की इच्छा पूर्ण करती हैं। (१००) स्पर्शांकुरों में शरीर की त्वचारूपी बेलें और पत्र मानो दौड़ कर आ लगते हैं और फिर उनसे और भी अनेक नूतन विकार उत्पन्न होते हैं। (१) फिर जब रूपरूपी पत्र विकसित होते हैं तब आँखें दूर तक दौड़ती हैं और व्यामोहरूपी भली भाँति पल्लवित हो जाती है; (२) तथा ज्यों ही रस की शाखा वेग से और अधिकाधिक

अब सम्पूर्ण ज्ञान के निरूपण का घूँट ही पिया चाहता हो। (७०) इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अमर्याद उमड़ती हुई अर्जुन की उत्सुकता देखी, तो उन्हें जो आनन्द हुआ उससे उन्होंने उसकी बलैयाँ लीं। (७१)

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

और फिर उन्होंने कहा कि हे धनञ्जय! इस वृक्ष का ऊर्ध्व वह है जिसे केवल इसी वृक्ष के कारण ऊर्ध्वता दिखाई देती है, (७२) अन्यथा जिसमें मध्य, ऊर्ध्व या अधः आदि भेद नहीं होते, जहाँ अद्वैत की ही एकता है, (७३) जो सुनाई न देनेवाला शब्द है, सूँघी न जानेवाली सुगन्ध है, जो रति बिना ही प्राप्त हुआ मूर्तिमान् आनन्द है, (७४) जिसके इस पार और उस पार नहीं है, आगे-पीछे नहीं है, जो स्वयं अदृश्य रहता हुआ, तथा अन्य कोई दृश्य न रहते हुए भी देखता है, (७५) जिसको उपाधिरूपी द्वैत की सहायता मिलते ही नाम-रूपी संसार प्रकट होता है (७६) जो ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ही केवल ज्ञान-रूप है, जो सुख के निष्कर्ष से भरा हुआ आकाश है, (७७) जो न कार्य है न कारण जो द्वैत है न अद्वैत, जो स्वयं ही निज को जाननेवाला है, (७८) ऐसा जो परब्रह्म परमात्मा है वह इस वृक्ष का ऊर्ध्व है। अब इसकी जड़ से अंकुर फूटने की रीति यों है। (७९) जो वास्तव में कुछ न होने पर भी माया नाम से प्रसिद्ध है, अथवा वन्ध्या स्त्री की सन्तति की कथा की भाँति (८०) जो न सत्य है न असत्य है, जो इस प्रकार की है कि विचार का भार भी नहीं सह सकती, जिसे अनादि कहते हैं, (८१) जो मानों अनेक सिद्धान्तों की सन्दूकची है, जगद्रूपी अभ्र का आकाश है, सम्पूर्ण आकारवान् वस्तुओं का तह किया हुआ वस्त्र है, (८२) जो जगद्रूपी वृक्ष का बीज है जो प्रपञ्चरूप चित्र खींचने की भूमि है, जो विपरीत ज्ञानरूपी प्रकाशित दीपक है (८३) वह माया ब्रह्म के समीप ऐसी है जैसे मानों हुई नहीं। वास्तव में ब्रह्म का ही प्रभाव प्रकट होता है। (८४) जैसे नींद हमें मूढ़ बना देती है, अथवा दीपक में जैसे कज्जल और मन्द ज्योति हो जाती है, (८५) तथा स्वप्न में जैसे प्रियतम के पास सोई हुई तरुणी उसे जगा कर, सचमुच में आलिङ्गन

कभी घटता और न बढ़ता है,—परन्तु यह मूल तभी तक होती है जब तक मेघ और नदीरूपी कली नहीं खुलती, [भाव यह कि नदियों का बहना और वर्षा होना बन्द हो जाय तो समुद्र के न सूखने का भेद खुले।] (१२०) वैसे ही इस वृक्ष की उत्पत्ति और नाश—शीघ्रता से होने के कारण—जान नहीं पड़ता, इसलिए संसार इसे अव्यय समझता है। (२१) यों भी दान-शील पुरुष जैसे दान करने के कारण ही संचय करनेवाला समझा जाता है, वैसे ही इस वृक्ष का निरन्तर व्यय होने से ही यह अव्यय जान पड़ता है। (२२) अथवा जैसे अत्यन्त वेग से दौड़ता हुआ रथ का चक्र भूमि में लगता हुआ नहीं जान पड़ता, (२३) वैसे ही प्राणि रूपी शाखा कालान्तर से सूख कर जब टूट कर गिर जाती है तो उसके स्थान में और करोड़ों अंकुर निकलते हैं, (२४) और आषाढ़ मास में घमड़े हुए मेघों के समान यह नहीं जान पड़ता कि वह एक शाखा कब टूट गई और दूसरी करोड़ों कब उत्पन्न हो गईं। (२५) जैसे महाकल्प के अन्त में ज्योंही इस उत्पन्न हुई सृष्टि का नाश हो जाता है, त्यों ही दूसरी सृष्टि का विस्तृत वन उत्पन्न हो जाता है, (२६) जैसे प्रचण्ड संहार-वायु से ज्यों ही प्रलयान्तरूपी छाल निकल जाती है त्योंही नवीन कल्प की आरम्भरूपी पत्तियों का समुदाय प्रकट हो जाता है, (२७) ईख की वृद्धि के सदृश जैसे गँडेरी पर गँडेरी बढ़ती जाती है, एक मनु के पश्चात् जैसे दूसरा मनु होता जाता है एक वंश के बाद जैसे दूसरा वंश उत्पन्न होता जाता है, (२८) जैसे कलि-युग के अन्त में ज्यों ही चारों युगरूपी छाल गिर पड़ती है, त्योंही फिर कृतयुगरूपी नई छाल झट से उत्पन्न हो जाती है (२९) जैसे वर्तमान वर्ष समाप्त होते ही वह दूसरे वर्ष का मूल हो जाता है, जैसे यह नहीं जान पड़ता कि पहले दिन का अन्त हो रहा है कि दूसरे दिन का आरम्भ हो रहा है, (१३०) जैसे वायु के झोंकों की सन्धियाँ नहीं जान पड़ती वैसे ही इस संसार की अनन्त शाखाओं का गिरना और उत्पन्न होना भी नहीं जान पड़ता। (३१) एक शरीर रूपी अंकुर के टूटते ही अनेक शरीरांकुर उगने लगते हैं। इस प्रकार यह संसार-वृक्ष अव्यय जैसा जान पड़ता है। (३२) जैसे बहता हुआ जल ज्योंही वेग से आगे बढ़ता है त्योंही और भी जल उसे पीछे से मिलता जाता है उसी प्रकार यह संसार अस्थिर है तो भी लोग इसे स्थिर मानते हैं। (३३) अथवा पलक मारते मारते करोड़ों बार टूटने और

बढ़ती है, त्यों ही नीचे की स्वार्थेच्छारूपी अनेक पत्ते निकलते हैं। (३) उसी प्रकार गन्ध के अंकुर निकलते ही प्राणरूपी शाखा पर होती है और वहाँ आनन्द से भ्रमर का झुण्ड आ बैठता है। (४) इस प्रकार महत्तत्त्व, अहंबुद्धि, मन और महाभूतों का समुदाय ये सब संसार के अन्त तक विस्तृत होते रहते हैं। (५) किम्बहुना, संसार अधिकतर इन्हीं आठों विभागों में विस्तृत है। परन्तु जैसे सिर्फ सीप हो उसके ही अधिष्ठान पर भ्रम से चाँदी की प्रतीति होती है, (६) अथवा समुद्र का विस्तार हो जैसे उसकी तरंगों का विस्तार दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म ही इस अज्ञान-मूल संसार वृक्ष के स्वरूप से दिखाई देता है। (७) और मनुष्य जैसे अपने स्वप्न का सब परिवार आप ही बन जाता है वैसे ही यह सब विस्तार उसी एक ब्रह्म का है, तथा वही इस विस्तार का कारण है। (८) परन्तु यह सब रहने दो। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रकार से एक ऐसा आश्चर्यकारक वृक्ष प्रकट होता है जिसमें महत्तत्त्व इत्यादि अंकुर और नीचे की ओर फूटी हुई शाखाएँ होती हैं। (९) अब इसे ज्ञानी लोग अश्वत्थ क्यों कहते हैं उसका कारण भी हम सुनाते हैं, सुनो। (११०) अश्वत्थ का अर्थ यह है कि यह प्रपञ्चरूपी वृक्ष दूसरे दिन प्रातःकाल होने तक एक-सा नहीं रहता। (११) क्षण न व्यतीत होते जैसे मेघ अनेक रंग बदलता है, अथवा जैसे विद्युत् पूरे क्षण भर भी नहीं ठहरती, (१२) कंपायमान होते हुए कमल-पत्र पर जैसे जल नहीं ठहरता, अथवा व्याकुल मनुष्य का चित्त जैसे स्थिर नहीं रहता, (१३) वैसी ही इस संसार वृक्ष की स्थिति है। इसका क्षण-क्षण में नाश होता जाता है इसलिए इसे अश्वत्थ कहते हैं। (१४) अश्वत्थ शब्द से साधारणतः पीपल का अर्थ होता है। परन्तु श्रीहरि के वचनों का यह भाव नहीं है। (१५) अन्यथा किन्हीं को पीपल कहना मुझे तो भला दिखाई देता है। परन्तु आपको लौकिक बातों से क्या मतलब ? (१६) अतएव इस प्रस्तुत अलौकिक ग्रन्थ का ही विवरण सुनिए। इस संसार वृक्ष को इसकी चपलता के कारण ही अश्वत्थ कहते हैं। (१७) इस वृक्ष की और भी एक बड़ी प्रसिद्धि इसके अविनाशित्व के विषय में है। परन्तु उसका भीतरी अर्थ यह है कि (१८) जैसे समुद्र एक ओर से मेघों के द्वारा रिक्त होता जाता है तथा दूसरी ओर से नदियाँ उसे भरती रहती हैं, (१९) जिससे ऐसा जान पड़ता है कि वह परिपूर्ण ही है—न

कभी घटता और न बढ़ता है,—परन्तु यह भूल तभी तक होती है जब तक मेघ और नदीरूपी कली नहीं सूखती, [भाव यह कि नदियों का बहना और वर्षा होना बन्द हो जाय तो समुद्र के न सूखने का भेद सूझे ।] (१२०) वैसे ही इस वृक्ष की उत्पत्ति और क्षय—शीघ्रता से होने के कारण—जान नहीं पड़ता इसलिए संसार इसे अव्यय समझता है। (२१) यों भी दान शील पुरुष जैसे व्यय करने के कारण ही सञ्चय करने-वाला समझा जाता है, वैसे ही इस वृक्ष का निरन्तर व्यय होने से ही यह अव्यय जान पड़ता है। (२२) अथवा जैसे अत्यन्त वेग से दौड़ता हुआ रथ का चाक भूमि में लगता हुआ नहीं जान पड़ता, (२३) वैसे ही प्राणि रूपी शाखा कालान्तर से सूख कर जब टूट कर गिर जाती है तो उसके स्थान में और करोड़ों अंकुर निकलते हैं, (२४) और आषाढ़ मास में उमड़े हुए मेघों के समान यह नहीं जान पड़ता कि यह एक शाखा कब टूट गई और दूसरी करोड़ों कब उत्पन्न हो गईं। (२५) जैसे महाप्रलय के अन्त में ज्योंही इस उत्पन्न हुई सृष्टि का नाश हो जाता है, त्यों ही दूसरी सृष्टि का विस्तृत वन उत्पन्न हो जाता है, (२६) जैसे प्रचण्ड संहार-वायु से ज्यों ही मन्वन्तररूपी छाल निकल जाती है त्योंही नवीन कल्प की आरम्भरूपी पत्तियों का समुदाय प्रकट हो जाता है, (२७) कल की वृद्धि के साथ जैसे गँड़री पर गँड़री बढ़ती जाती है, एक मनु के पश्चात् जैसे दूसरा मनु होता जाता है एक वंश के बाद जैसे दूसरा वंश उत्पन्न होता जाता है, (१२८) जैसे कलि-युग के अन्त में ज्यों ही चारों युगरूपी छाल गिर पड़ती है त्योंही फिर कृतयुगरूपी नई छाल झट से उत्पन्न हो जाती है, (२९) जैसे वर्तमान वर्ष समाप्त होते ही वह दूसरे वर्ष का मूल हो जाता है, जैसे यह नहीं जान पड़ता कि पहले दिन का अन्त हो रहा है कि दूसरे दिन का आरम्भ हो रहा है (१३०) जैसे वायु के झोंकों की सन्धियाँ नहीं जान पड़तीं वैसे ही इस संसार की अनन्त शाखाओं का गिरना और उत्पन्न होना भी नहीं जान पड़ता। (३१) एक शरीर रूपी अङ्कुर के टूटने ही अनेक शरीराङ्कुर पनपने लगते हैं। इस प्रकार यह संसार-वृक्ष अव्यय जैसा जान पड़ता है। (३२) जैसे बहता हुआ जल ज्योंही वेग से आगे बढ़ता है त्योंही और भी जल उसे पीछे से मिलता जाता है उसी प्रकार यह संसार अस्थिर है तो भी लोग इसे स्थिर मानते हैं। (३३) अथवा पलक मारते मारते करोड़ों बार टूटने और

उत्पन्न होनेवाली समुद्र-तरंगें जैसे अज्ञानियों को नित्य जान पड़ती हैं, (३४) कौआ अपनी एक ही पुतली को सरलता से दोनों ओर फेरता है तो जैसे लोगों को भ्रम होता है कि उसकी दो आँखें हैं, (३५) लट्टू अत्यन्त वेग में घूमे तो जैसे पृथिवी में गड़ा हुआ जान पड़ता है वैसे ही इस संसार की उत्पत्ति और नाश के वेग की अधिकता ही भूल का हेतु है। (३६) किंबहुना, अँधेरे में वेग से लुकैठी फिराने से जैसे चक्राकार आकृति दिखाई देती है, (३७) वैसे ही यह न जान कर कि यह संसार-वृक्ष निरन्तर उत्पन्न और नष्ट होता रहता है लोग भ्रम से इसे अव्यय समझते हैं। (३८) परन्तु जो इसका वेग पहचानते हैं, जो जानते हैं कि यह क्षणिक है उन्हें मालूम है कि यह एक निमिष में करोड़ों बार उत्पन्न होता और नाश पाता जाता है। (३९) तात्पर्य यह कि इस भव-वृक्ष का मूल अज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं। वास्तव में इसका अस्तित्व मिथ्या है। इस प्रकार जिसने इस वृक्ष को क्षणिक जान लिया है (१४०) उसे हे पाण्डुसुत! मैं सर्वज्ञ भी ज्ञानी समझता हूँ। वेदों के सिद्धान्तों के अनुसार वही वन्द्य है। (४१) सम्पूर्ण योग की समृद्धि उसी एक के उपयोगी हुई समझनी चाहिए। बहुत क्या कहें, ज्ञान भी उसी के कारण जीवन धारण करता है। (४२) अब बहुत वर्णन रहने दो। क्योंकि जो इस प्रकार संसार-वृक्ष की अनित्यता जानता है उसका कौन वर्णन कर सकता है? (४३)

> अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
> गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
> अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
> कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इस प्रपञ्च-रूपी अध-शाखा वृक्ष की बहुतेरी शाखाएँ सीधी ऊपर की ओर भी फूटती हैं। (४४) और जो हमने इस विषय के आरम्भ में कहा था कि जो शाखाएँ नीचे की ओर फैलती हैं वे मूल बनती हैं और उनके नीचे भी और बेलें और पत्ते फूटते हैं उसका भी हम सरल शब्दों से विवेचन करते हैं, सुनो। (४५-४६) अज्ञान-रूपी मूल दृढ़ होने से वेद रूपी बड़े विस्तार कर्म-सहित महत्त्व आदि की बहार आती है (४७)

प्रथम उस जड़ में से स्वेदज, फिर जरायुज, फिर उद्भिज और अण्डज-रूपी चार विशाल शाखाएँ निकलती हैं। (४८) उन एक एक के शरीर से चौरासी लाख शाखाएँ फूटती हैं, और उनसे फिर अनेक जीव रूपी शाखाएँ निकलती हैं (४९) उनकी शाखाओं से नाना प्रकार की सृष्टि-रूपी आड़ी शाखाएँ मालाकार उत्पन्न होती हैं। (१५०) स्त्री, पुरुष और नपुंसक नामक व्यक्ति-भेद-रूपी डालें स्वाभाविक विकार रूपी बोझे से आन्दोलित होती है। (५१) वर्षाकाल में जैसे आकाश में नवीन मेघ छा जाते हैं वैसे ही अज्ञान के कारण सम्पूर्ण आकार विस्तार पाते हैं। (५२) फिर अपने शरीर के भार से शाखाएँ झुकती और एक दूसरी में उलझती हैं, जिससे गुणक्षोभ-रूपी वायु उत्पन्न होती है। (५३) और गुणों के उस अपरिमित क्षोभ से यह ऊर्ध्व-मूल वृक्ष तीन जगह से फट जाता है। (५४) इस प्रकार रजोगुण के झोंके से अत्यन्त आन्दोलित होने पर मनुष्य जातिरूपी शाखा ऊँची पड़ती है। (५५) वह न ऊपर न नीचे वरिक बीच में ही आड़ जाती है और उसमें से चार वर्ण-रूपी आड़ी शाखाएँ फूटती हैं। (५६) उनमें विधि और निषेध वाक्यों से विस्तार पाये हुए वेदरूपी अपूर्व और उत्तम पल्लव अपनी अपनी शक्ति के अनुसार डोलते हैं। (५७) अर्थ और काम के विस्तार-रूपी काम पल्लव बनते हैं। (५८) फिर प्रवृत्ति मार्ग की वृद्धि की इच्छा से अनेक शुभ और अशुभ कर्मों की अगणित छोटी छोटी डालें निकलती हैं। (५९) वैसे ही पूर्व-भोग क्षीण होने पर ज्योंही शरीर-रूपी सूखी डालें गिरती हैं त्यों ही नये शरीरों की वृद्धि के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं, (१६०) और सुन्दर शब्द इत्यादि स्वाभाविक और मोहक रङ्गों से विचित्र विषय-रूपी नूतन पल्लव नित्य बनते जाते हैं। (६१) इस प्रकार रजोगुणरूपी प्रचण्ड वायु से मनुष्य-शाखाओं के झुण्ड की वृद्धि होती है। उसे ही संसार में मनुष्य-लोक कहते हैं। (६२) वैसे ही जब रजोगुण-रूपी वायु धीमा पड़ बन्द हो जाती है, और तमोगुणरूपी भयङ्कर हवा चलती है (६३) तब इसी मनुष्य-शाखा की, नीच की ओर कुकर्मरूपी डालें निकलती हैं और उनमें नीच-वासनारूपी पल्लव फूटते हैं। (६४) और उद्दाम कुमार्गरूपी सीधे पर मज़बूत अंकुर निकलते हैं जिनमें प्रमाद रूपी पत्ते, पत्ता और डालें उत्पन्न होती हैं। (६५) यजुर्वेद और सामवेद में जो निषेध-वचन कहे हैं वे उनके अग्रभाग में डोलते हुए

पल्लव हैं। (६६) परपीड़ाकारक शास्त्र जो मारण मारण इत्यादि प्रतिपादन करते हैं वे मानों पत्र हैं (६७) जिनके साथ ज्यों ज्यों वासनारूपी बेलें विस्तृत होती जाती हैं त्यों त्यों अधर्मरूपी पीढ़ें बढ़ती और जन्मरूपी शाखाएँ आगे आगे दौड़ती हैं। (६८) और कर्मभ्रष्टों की भूल के कारण चाण्डाल इत्यादि निकृष्ट जातियों की शाखाओं की जातियाँ बनती (६६) तथा पशु, पक्षी शूकर, बाघ, बिच्छू साँप इत्यादि आड़ी-टेढ़ी शाखाओं के झुरमुट बनते जाते हैं। (१७०) पाण्डु के पायदव ! ऐसी शाखाओं में नित्य नूतन नरक-भोग रूपी फल आते हैं। (७१) और, उनमें हिंसा-विषय की प्रवृत्ति करने में कुकर्म-सङ्ग के द्वारा श्रेष्ठता पानेवाले जन्म-रूपी अंकुर उगते हैं। (७२) इस प्रकार तरु, तृण, लोहा, मिट्टी पत्थर इत्यादि रूपवाली शाखाएँ होती जाती हैं और वैसे ही उनके फल भी होते जाते हैं। (७३) हे अर्जुन ! सुनो, मनुष्य से स्थावर तक इस प्रकार शाखाओं की वृद्धि होती है, (७४) इसलिए जो मनुष्य-रूपी डालें हैं उन्हीं को नीचे की शाखाओं का मूल समझना चाहिए क्योंकि उन्हीं से इस संसार-तरु का विस्तार होता है। (७५) अन्यथा हे पार्थ ! ऊपर की ओर का मुख्य मूल देखो तो वे नीचे की शाखाएँ मध्यस्थ दिखाई देंगी। (७६) परन्तु तामसी और सात्विक अथवा बुरे-भले कर्म-रूपी अंकुर इन्हीं नीचे ऊपर की शाखाओं में फूटते हैं। (७७) और हे अर्जुन ! वेदत्रयरूपी पत्र और कोई शाखाओं में नहीं लगते क्योंकि वेद की विधियाँ मनुष्य के सिवाय और किसी के विषय नहीं हैं। (७८) इसलिए ये मनुष्यतनुरूपी शाखाएँ यद्यपि ऊर्ध्व-मूल से उत्पन्न होती हैं तथापि कर्मवृद्धिशाखाओं की जड़ें यही हैं। (७९) और जैसे अन्य वृक्षों में भी शाखा-वृद्धि होने से जड़ें दृढ़ होती हैं, और ज्यों ज्यों जड़ें दृढ़ होती हैं त्यों त्यों उस वृक्ष का विस्तार होता जाता है, (१८०) वैसे ही इस शरीर में जब तक कर्म होता है तब तक देह की बढ़ती होती है, और जब तक देह है तब तक व्यापार का नाश करना नहीं हो सकता। (८१) इस प्रकार लक्ष्मीनाथ श्रीकृष्ण ने कहा कि यह बात मेटी नहीं जा सकती कि मनुष्य-शरीर ही अन्य-कर्मरूपी शाखाओं का मूल है। (८२) फिर जब तमोगुण रूपी दारुण आँधी शान्त हो जाती है और सत्वगुण रूपी महा तूफान छूटता है, (८३) तब इसी मनुष्य-देहरूपी जड़ों से सुवासनारूपी अंकुर निकलते हैं और उनमें से सुकृत-रूपी पल्लव

फूटते हैं। (८४) ज्ञान की वृद्धि के साथ प्रज्ञाकौशल्य की सीधवा डालें निमिष भर में विस्तृत हो निकलती हैं। (८५) बुद्धि की लम्बी डालें स्फूर्ति के बल से दृढ़ होती और बुद्धितेज के सहाय से विवेक पर्यंत लम्बी बढ़ती हैं। (८६) फिर उनमें से बुद्धिरस से भरे हुए आस्थारूपी पत्तों से सुशोभित सीधे सम्प्रवृत्तिरूपी अंकुर फूटते हैं (८७) और पश्चात् सदाचाररूपी अनेक कोंपलें फूटती हैं जो वेद-वाक्य ध्वनि से सनसनाती रहती हैं (८८) तथा उनमें से शिष्टाचार और अनेक यज्ञादिकर्मविस्तार-रूपी पत्तियाँ निकलती रहती हैं (८९) इस प्रकार नियम-यमरूपी गुच्छों से युक्त तपरूपी शाखाएँ बढ़ती हैं और प्रेम से वैराग्यशाखाओं को छाती से लगाती हैं। (१९०) विशिष्ट-व्रतरूपी टहनियाँ धैर्यरूपी सीधवा झोकों से युक्त हो जन्मरूपी वेग से ऊपर उठती हैं (९१) और बीच में जो वेदरूपी सघन कोंपल रहती है उसकी सुविद्यारूपी फड़फड़ाहट, जब तक सत्त्वरूपी वायु चलती है तब तक, होती रहती है। (९२) धर्मशाखाएँ विस्तृत होती हैं और उनमें से जन्मशाखा सीधी निकलती हुई दिखाई देती है और उसमें स्वर्गादिक फल लगते हैं (९३) तथा उपरति की रक्षा से लाल दीखती हुई धर्म-मोक्ष-शाखाओं की पत्तियाँ नित्य नूतन बढ़ती रहती हैं। (९४) रवि, चन्द्र, इत्यादि श्रेष्ठ ग्रह, पितर, ऋषि विद्याधर इत्यादि आड़ी शाखाओं के गट्ठ भी बढ़ते हैं (९५) और उनसे भी ऊँचे गुच्छफलरूपी पीढ़ से इन्द्रादिक महाशाखाओं के झुण्ड उत्पन्न होते हैं (९६) तथा उनके भी ऊपर तपोधनी ऋषियों की शाखाएँ उठती हैं। मरीची, कश्यप इत्यादि ऊपरी शाखाएँ हैं (९७) एवं लगातार शाखाओं पर शाखाएँ लगी हैं। ऊर्ध्व शाखाओं का ऐसा विस्तार मूल में छोटा पर अग्रभाग की ओर बड़ा और श्रेष्ठ फलदायक होता है। (९८) इन शाखाओं के भी और ऊपरवाली शाखाओं में जो फल लगते हैं उनमें से ब्रह्मा और शिव पर्यन्त नोकदार अंकुर निकलते हैं (९९) और फलों के भार से वे दुगनी नीचे झुक जाती हैं, यहाँ तक कि वे फिर जड़ से ही जा लगती हैं। (२००) सामान्य वृक्ष की शाखा भी जो फलों से भर जाती है वह झुक कर जड़ से लग जाती है। (१) वैसे ही हे पाण्डव! ये ज्ञानवृद्धि की शाखाएँ, जहाँ से यह संसार-वृक्ष उत्पन्न होता है उसी मूल से भिड़ जाती हैं। (२) इसलिए ब्रह्मा या शिव के परे जीव की वृद्धि नहीं होती। उसके

पल्लव हैं। (६६) परपीड़ाकारक शास्त्र का आरम्भ, मारण इत्यादि प्रतिपादन करते हैं वे मानों पत्ते हैं (६७) जिनके साथ ज्यों ज्यों वासनारूपी बेलें विस्तृत होती जाती हैं त्यों त्यों अकर्मरूपी पीढ़ें जाती और जन्मरूपी शाखायें आगे आगे दौड़ती हैं। (६८) और कर्मभ्रष्टों की भूल के कारण चाण्डाल इत्यादि निकृष्ट जातियों की शाखाओं की जातियाँ बनती (६९) तथा पशु, पक्षी शूकर, बाघ, बिच्छू साँप इत्यादि आड़ी-टेढ़ी शाखाओं के झुण्ड बनते जाते हैं। (१७०) परन्तु हे पाण्डव! ऐसी शाखाओं में नित्य नूतन नरक-भोग रूपी फल आते हैं। (७१) और उनमें हिंसा-विषय की प्रवृत्ति करने में कुकर्म-सङ्ग के द्वारा श्रेष्ठता पानेवाले जन्म-रूपी अंकुर उगते हैं। (७२) इस प्रकार तरु, तृण लोहा, मिट्टी पत्थर इत्यादि रूपवाली शाखायें होती जाती हैं और वैसे ही उनके फल भी होते जाते हैं। (७३) हे अर्जुन! सुनो, मनुष्य से स्थावर तक इस प्रकार शाखाओं की वृद्धि होती है, (७४) इसलिए जो मनुष्य-रूपी डालें हैं उन्हीं को नीचे की शाखाओं का मूल समझना चाहिए क्योंकि उन्हीं से इस संसार-तरु का विस्तार होता है। (७५) अन्यथा हे पार्थ! ऊपर की ओर का मुख्य मूल देखो तो वे नीचे की शाखायें मध्यस्थ दिखाई देंगी। (७६) परन्तु तामसी और सात्त्विक अथवा बुरे-भले कर्म-रूपी अंकुर इन्हीं नीचे ऊपर की शाखाओं में फूटते हैं। (७७) और हे अर्जुन! वेदत्रयरूपी पत्ते और कोई शाखाओं में नहीं लगते क्योंकि वेद की विधियाँ मनुष्य के सिवाय और किसी के लिए नहीं हैं। (७८) इसलिए ये मनुष्यतनुरूपी शाखायें यद्यपि ऊर्ध्व-मूल से उत्पन्न होती हैं तथापि कर्मवृद्धिशाखाओं की जड़ें यही हैं। (७९) और जैसे अन्य वृक्षों में भी शाखा-वृद्धि होने से जड़ें दृढ़ होती हैं, और ज्यों ज्यों जड़ें दृढ़ होती हैं त्यों त्यों उस वृक्ष का विस्तार होता जाता है (१८०) वैसे ही इस शरीर में जब तक कर्म होता है तब तक देह की बढ़ती होती है और जब तक देह है तब तक व्यापार का म करना नहीं हो सकता। (८१) इस प्रकार ज्ञानात्मक श्रीकृष्ण ने कहा कि यह बात झूठी नहीं कह सकती कि मनुष्य शरीर ही अन्य-कर्मरूपी शाखाओं का मूल है। (८२) फिर जब तमोगुण रूपी दारुण आँधी शान्त हो जाती है और सत्त्वगुण रूपी महा पवन चलता है, (८३) तब इसी मनुष्य-देहरूपी जड़ों से सुवासनारूपी अंकुर निकलते हैं और उनमें से सुकृत-रूपी पल्लव

फूटते हैं। (८४) ज्ञान की वृद्धि के साथ प्रज्ञाकौशल्य की तीक्ष्ण डालें निमिष भर में विस्तृत हो निकलती हैं। (८५) बुद्धि की लम्बी डालें स्फूर्ति के बल से दृढ़ होती और बुद्धितेज के सहाय से विवेक पर्यंत लम्बी बढ़ती हैं। (८६) फिर उनमें से बुद्धिरस से भरे हुए आस्थारूपी पत्तों से सुशोभित सीधे सद्वृत्तिरूपी अंकुर फूटते हैं (८७) और पञ्चम सदाचाररूपी अनेक कोंपलें फूटती हैं जो वेद-वाक्य ध्वनि से सनसनाती रहती हैं (८८) तथा उनमें से शिष्टाचार और अनेक यज्ञादिकर्मविस्तार-रूपी पत्तियाँ निकलती रहती हैं (८९) इस प्रकार नियम-दमरूपी गुच्छों से युक्त तपरूपी शाखायें बढ़ती हैं और प्रेम से वैराग्यशाखाओं को छाती से लगाती हैं। (१९०) विशिष्ट-व्रतरूपी टहनियाँ धैर्यरूपी तीक्ष्ण नोकों से युक्त हो जन्मरूपी वेग से ऊपर उठती हैं (९१) और बीच में जो वेदरूपी सघन कोंपल रहती है उसकी सुविद्यारूपी फड़फड़ाहट, जब तब सत्वरूपी वायु चलती है तब तक, होती रहती है। (९२) धर्मशाखायें विस्तृत होती हैं और उनमें से कर्मशाखा सीधी निकलती हुई दिखाई देती है, और उसमें स्वर्गादिक फल लगते हैं (९३) तथा उपरति की रक्तता से लाल दीखती हुई धर्म-मोक्ष-शाखाओं की पत्तियाँ नित्य नूतन बढ़ती रहती हैं। (९४) रवि चन्द्र, इत्यादि ग्रेह ग्रह, पितर ऋषि विद्याधर इत्यादि आगे शाखाओं के मेद भी बढ़ते हैं (९५) और उनसे भी ऊँचे गुणफलरूपी पीढ़ से इन्द्रादिक महाशाखाओं के झुण्ड उत्पन्न होते हैं (९६) तथा उनके भी ऊपर तपोधनी ऋषियों की शाखायें उठती हैं। मरीची, कश्यप इत्यादि ऊपरी शाखायें हैं (९७) एवं तत्पश्चात् शाखाओं पर शाखायें लगी हैं। ऊर्ध्व शाखाओं का ऐसा विस्तार मूल में छोटा पर अग्रभाग की ओर बड़ा और मेद फलदायक होता है। (९८) इन शाखाओं के भी और फलवाली शाखाओं में जो फल लगते हैं उनमें से ब्रह्मा और शिव पर्यन्त मोक्षदार अंकुर निकलते हैं (९९) और फलों के भार से वे दुगनी नीचे झुक जाती हैं, यहाँ तक कि वे फिर जड़ से ही जा लगती हैं। (२००) सामान्य वृक्ष की शाखा भी जो फलों से भर जाती हैं वह झुक कर जड़ से लग जाती है। (१) वैसे ही हे पाण्डव! ये ज्ञानवृद्धि की शाखायें, जहाँ से यह संसार-वृक्ष उत्पन्न होता है उसी मूल से मिल जाती हैं। (२) इसलिए ब्रह्मा या शिव के परे जीव की वृद्धि नहीं होती। उसके

परे फिर ब्रह्म ही रह जाता है। (३) परन्तु अस्तु। इस प्रकार ब्रह्मा इत्यादि अपने सामर्थ्य से ऊर्ध्वमूल ब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकते। (४) और भी जो ऊपरी शाखाएँ समस्त इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं वे फल और मूल का स्पर्श न कर ब्रह्म में ही भर गई हैं। (५) इस प्रकार मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोकपर्यंत पत्र-पुष्प शाखाओं की उत्तम बढ़ती होती रहती है। (६) हे पार्थ! ऊपर की ब्रह्म इत्यादि शाखाओं की मूल-शाखाएँ मनुष्य ही हैं इसलिए हमने इन्हें नीचे की ओर की जड़ें कहा है। (७) इस प्रकार हमने तुमसे इस ऊर्ध्वमूल और नीचे ऊपर शाखावाले अलौकिक संसार-वृक्ष का वर्णन किया। (८) और यह जो विधान किया या इसकी नीचे की ओर भी जड़ें रहती हैं उसकी उपपत्ति भी विस्तारपूर्वक कह सुनाई। अब इस वृक्ष का उन्मूलन कैसे किया जाता है सो सुनो। (९)

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

हे किरीटी! कदाचित् तुम अपने मन में सोचते होगे कि इतने बड़े झाड़ का उन्मूलन करनेहारी कौन-सी वस्तु हो सकती है? (९१०) क्योंकि इस वृक्ष की ऊपरवाली शाखाएँ ब्रह्मलोक की सीमा तक बढ़ी हुई हैं और इसका मूल तो निराकार ब्रह्म में ही है, (११) नीचे की ओर भी इसकी अधःशाखाएँ विस्तृत हुई हैं, और मध्यभाग में भी दूसरी, मनुष्यरूपी, जड़ें फैली हुई हैं (१२) इस प्रकार विस्तृत और दृढ़ यह वृक्ष है अतएव इसका अन्त कौन कर सकता है? परन्तु ऐसी क्षुद्र कल्पना मन में मत आने दो। (१३) इसके उन्मूलन में परिश्रम ही क्या होते हैं? बालक के हौवे को दूर भगाना क्या चीज़ है? (१४) आकाश में दीखनेहारे अभ्रों के किले क्या गिराने पड़ते हैं? खरहे के सींग क्या तोड़ने पड़ते हैं? आकाश-पुष्प का अस्तित्व हो तो उसे तोड़ने की सम्भावना हो! (१५) वैसे ही हे वीर! यह संसार कोई सचमुच का वृक्ष नहीं है। तो फिर इसके उन्मूलन में कष्ट ही क्या हो सकते हैं? (१६) हमने जो जड़ों और शाखाओं के विस्तार के विषय में वर्णन किया उसे वन्ध्या के मर-मरे बालकों के

समान समझो। (१७) स्वप्न में कहे हुए मधुर चेत आने पर किस काम के? वैसे ही इस संसार-वृक्ष की कथा को भी निर्मूल ही समझो। (१८) अन्यथा जैसा हमने वर्णन किया वैसा यदि इसका मूल अवश्य होता और वैसा यह सत्य होता (१९) तो उसे उन्मूलन करनेवाला कौन माई का लाल उत्पन्न हो सकता था? आकाश क्या कभी फूँक से उड़ सकता है? (२०) अतएव हे धनञ्जय! हमने जो वर्णन किया वह माया का वर्णन किया। मानों जैसे राजा को कछुए के घी का भोजन परोसा गया हो। [अर्थात् असम्भव घटना बतलाई क्योंकि जब कछुए के दूध ही नहीं होता तो फिर घी कहाँ से होगा?] (२१) मृगजल के सरोवर केवल दूर से ही देख लो, अन्यथा क्या वह जल, धान या गन्ने के वृक्षों को उपयोगी हो सकता है? (२२) मूल अज्ञान ही मिथ्या है तो फिर उसका कार्य कहाँ से सत्य हो सकता है? अतएव संसार-वृक्ष निश्चय से मिथ्या है। (२३) परन्तु ऐसी जो उक्ति है कि इसका अन्त नहीं होता वह भी एक प्रकार से सत्य ही है। (२४) क्योंकि जब तक चेत नहीं आता तब तक क्या निद्रा का अन्त होता है? अथवा रात बीतने के पूर्व ही क्या प्रातःकाल हो सकता है? (२५) वैसे ही हे पार्थ! जब तक विवेक सिर नहीं उठाया करता तब तक इस संसार-वृक्ष का अन्त नहीं होता। (२६) जब तक चलती हुई वायु कहीं की कहीं शान्त न हो जाय, तब तक तरङ्गों को अनन्त ही कहना चाहिए। (२७) अतएव जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर मृगजल का आभास मिट जाता है अथवा जैसे दीपक बुझाने पर प्रभा का लोप हो जाता है, (२८) वैसे ही जब मूल-बीज अविद्या का नाश करनेवाला ज्ञान प्रकट होता है तभी इस संसार-वृक्ष का अन्त होता है, अन्यथा नहीं। (२९) इसी प्रकार ऐसी जो वार्ता है कि यह वृक्ष अनादि है यह भी मिथ्या नहीं—वस्तुतः अभिप्राय के अनुरूप ही है। (१३०) क्योंकि संसार-वृक्ष में कुछ सत्यता तो हुई नहीं तो फिर जो नहीं है उसका आरम्भ ही क्या हो सकता है? (३१) सत्य वस्तु जहाँ से उत्पन्न होती है उसे आदि कहना योग्य है। परन्तु जो हुई सी भी नहीं वह कहाँ से उत्पन्न हुई कहीं जा सकती है? (३२) अतएव जिसका न जन्म हुआ न अस्तित्व है उसकी मता कौन है बतलाओ? तात्पर्य यह कि इसके न होने के कारण ही इसे अनादि कहते हैं। (३३) वन्ध्या के पुत्र की जन्म

परे फिर ब्रह्म ही रह जाता है। (३) परन्तु अस्तु! इस प्रकार ब्रह्म इत्यादि अपने सामर्थ्य से ऊर्ध्वमूल ब्रह्म की बराबरी नहीं कर सके। (४) और भी जो ऊपरी शाखायें सनक इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं वे फल और मूल का स्पर्श न कर ब्रह्म में ही भर गई हैं। (५) इस प्रकार मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोकपर्यंत पत्र-युक्त शाखाओं की उत्तम बढ़ती होती रहती है। (६) हे पार्थ! ऊपर की ब्रह्म इत्यादि शाखाओं की मूल-शाखायें मनुष्य ही हैं इसलिए हमने इन्हें नीचे की ओर की जड़ें कहा है। (७) इस प्रकार हमने तुमसे इस ऊर्ध्वमूल और नीचे-ऊपर शाखावाले अलौकिक संसार-वृक्ष का वर्णन किया। (८) और वह जो निदान किया था इसकी नीचे की ओर भी जड़ें रहती हैं उसकी उपपत्ति भी विस्तारपूर्वक कह सुनाई। अब इस वृक्ष का उन्मूलन कैसे किया जाता है सो सुनो। (९)

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

हे किरीटी! कदाचित् तुम अपने मन में सोचते होगे कि इतने बड़े झाड़ का उन्मूलन करनेहारी कौन-सी वस्तु हो सकती है? (२१०) क्योंकि इस वृक्ष की ऊपरवाली शाखायें ब्रह्मलोक की सीमा तक बढ़ी हुई हैं और इसका मूल तो निराकार ब्रह्म में ही है, (११) नीचे की ओर भी इसकी अधःशाखायें विस्तृत हुई हैं, और मध्यभाग में भी दूसरी मनुष्यरूपी जड़ें फैली हुई हैं, (१२) इस प्रकार विस्तृत और दृढ़ वह वृक्ष है अतएव इसका अन्त कौन कर सकता है? परन्तु ऐसी क्षुद्र कल्पना मन में मत आने दो। (१३) इसके उन्मूलन में परिश्रम ही क्या होते हैं? बालक के हौवे को दूर भगाना क्या कठिन है? (१४) आकाश में दीखनेहार अभ्रों के किले क्या गिराने पड़ते हैं? खरहे के सींग क्या तोड़ने पड़ते हैं? आकाश पुष्प का अस्तित्व हो तो उसे तोड़ने की सम्भावना हो! (१५) वैसे ही हे वीर! यह संसार कोई सचमुच का वृक्ष नहीं है। तो फिर इसके उन्मूलन में कष्ट ही क्या हो सकते हैं? (१६) हमने जो जड़ों और शाखाओं के विस्तार के विषय में वर्णन किया उसे वन्ध्या के घर-भरे बालकों के

आत्मज्ञान के शस्त्र से तोड़ डालो। (४८) अन्यथा, एक ज्ञान के अतिरिक्त जितने इसे तोड़ने के उपाय करोगे उनसे तुम इस वृक्ष में और भी अधिक उलझते जाओगे। (४९) और फिर इसकी ऊपर नीचे की शाखा और उपशाखाओं में कहाँ तक घूमते रहोगे? इसलिए इसका मूल जो अज्ञान है उसे यथार्थ-ज्ञान से छाँट डालो, (२५०) नहीं तो रस्सी होकर भी जो साँप दिखाई देता है उसे मारने के लिए लकड़ी खोजना वृथा परिश्रम करना है। (५१) मृगजलरूपी गङ्गा के पार जाने के हेतु नाव के लिए दौड़नेवाला जैसे किसी अद्भुत क माल में सचमुच ही डूब जाय, (५२) वैसे ही इस न होते संसार का अन्त करने के लिए अन्य उपायों की खोज करता करता मनुष्य अपना नाश कर लगा तथा उसका भ्रम और अधिक बढ़ जावेगा। (५३) अतएव हे धनञ्जय! स्वप्न में लगे हुए घाव की औषधि जैसे जागृति ही है, वैसे ही इस अज्ञान-मूल संसार के लिए ज्ञान ही एक शस्त्र है। (५४) परन्तु बुद्धि में इतना वैराग्यरूपी भूलन और अटूट बल होना चाहिए कि यह शस्त्र सहज में चलाते बने (५५) वैराग्य उत्पन्न होते ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का यह समझ कर त्याग कर देना चाहिए कि ये कुत्ते क तात्कालिक वमन के सदृश हैं। (५६) हे पाण्डव! यहाँ तक पदार्थमात्र को ठीक जाने लगे। ऐसा दृढ़ वैराग्य होना चाहिए। (५७) फिर देहाहङ्काररूपी म्यान में से निकाल कर ब्रह्मात्मरूपी शस्त्र—जो विवेकरूपी सिल पर पैनाया गया हो, जो ब्रह्मास्मि-बोधरूपी तीक्ष्णता से युक्त हो और जिसमें पूर्ण-एकता-ज्ञानरूपी चमक लगा हो,—(५८) दृढ़ता हाथ में धरना चाहिए। (५९) परन्तु एक-दो बार अपना निश्चयरूपी मूठ का बल आजमा लेना चाहिए और अत्यन्त शुद्ध-मननरूपी सोम को सँभालना चाहिए। (२६०) फिर ज्ञानरूपी शस्त्र और स्वयं तुम जब निदिध्यासन के द्वारा एकरूप हो जाओगे तो प्रहार के लिए दूसरी कोई वस्तु ही न रहेगी। (६१) ऐसा यह आत्मज्ञान का शस्त्र, जो अद्वैतज्ञान का निष्कर्ष है वह इस संसार वृक्ष को कभी बचने न देगा। (६२) जैसे वायु शरत्काल के आरम्भ में आकाश का सम्पूर्ण कचरा उड़ा देती है, अथवा सूर्य उदय होते ही जैसे अन्धकार का घूँट पी जाता है, (६३) अथवा जागृति होते ही जैसे स्वप्न की गड़बड़ का ठौर ही मिट जाता है, वैसी ही स्थिति आत्मानुभव की धार लगे हुए शस्त्र के

पत्रिका कैसे बन सकती है ? आकाश में नीलवर्ण धरती की कल्पना कैसे सत्य हो सकती है ? (१४) हे पाण्डव ! आकाश-पुष्प का डंठल कौन तोड़ सकता है ? अतएव, न होते संसार का आदि भी कैसे हो सकता है ? (१५) जैसे घट का प्रागभाव किसी के उत्पन्न किये बिना ही सिद्ध है, वैसे ही यह सम्पूर्ण वृक्ष भी अनादि समझो। (१६) इस प्रकार हे अर्जुन ! इसका न आदि है, न अन्त है। बीच में ही किसी प्रकार इसकी स्थिति दिखाई देती है परन्तु वह मिथ्या है। (१७) जैसे मृगजल न किसी पर्वत से निकलता है और न किसी समुद्र में जा मिलता है, परन्तु बीच में ही झूठ-मूठ दिखाई देता है, (१८) वैसे ही वास्तव में इस संसार के आदि और अन्त नहीं हैं, और यह कभी सत्य भी नहीं है, परन्तु सत्य मिथ्यात्व देखिए कि उसका प्रतिभास मात्र होता है। (१९) इन्द्रधनुष जैसे अनेक रङ्गों से चित्रित दिखाई देता है वैसे ही यह वृक्ष अज्ञान से सत्य-सा जान पड़ता है। (२४०) इस प्रकार, बहुरूपिये के वेष से जैसे लोग भूल में पड़ते हैं वैसे ही इस संसार की स्थिति के समय अज्ञानियों की दृष्टि में भूल पड़ती है। (४१) और यद्यपि आकाश में न होती हुई भी नीलिमा दिखाई देती है तथापि वह जैसे प्रत्येक क्षण में उत्पन्न और विलीन होती है, (४२) [स्वप्न मिथ्या है परन्तु क्या वह एकसा ही बना रहता है ?] वैसे ही यह आभास भी क्षण में विलीन हो जाता है। (४३) देखने से इसका अस्तित्व जान पड़ता है, परन्तु जल में दिखाई देनेहारे प्रतिबिम्ब से जैसे बानर की स्थिति हो जाती है वैसे ही इस आभास को सत्यत्व ग्रहण करने की चेष्टा करने पर भी वह हाथ नहीं लगता। (४४) इसकी उत्पत्ति और नाश इतनी शीघ्रता से होते रहते हैं कि समुद्र की लहरों की उत्पत्ति और नाश उसकी बराबरी नहीं कर सकते। और विद्युत् भी उससे होड़ बाँधने के योग्य नहीं होती। (४५) ग्रीष्म-काल के अन्त की वायु जैसे आगे-पीछे नहीं देखती वैसे ही यह संसाररूपी महावृक्ष भी स्थिर नहीं रहता (४६) पर इस वृक्ष का न आदि है न अन्त है न स्थिति है न रूप है, तो फिर इसके उन्मूलन में क्या प्रयास पड़ सकता है ? (४७) जो वास्तव में न होता हुआ भी अपने अज्ञान के ही कारण बढ़ा हुआ था उसे हे किरीटी !

आत्मज्ञान के शस्त्र से तोड़ डालो। (४८) अन्यथा, एक ज्ञान के अतिरिक्त जितने इसे तोड़ने के उपाय करोगे उनसे तुम इस वृक्ष में और भी अधिक उलझ जाओगे। (४९) और फिर इसकी ऊपर नीचे की शाखा और उपशाखाओं में कहाँ तक घूमते रहोगे? इस लिए इसका मूल जो अज्ञान है उसे यथार्थ-ज्ञान से छाँट डालो, (२५०) नहीं तो रस्सी होकर भी जो साँप दिखाई देता है उसे मारने के लिए लकड़ी खोजना वृथा परिश्रम करना है। (५१) मृग-जलरूपी गङ्गा के पार जाने के हेतु नाव के लिए दौड़नेहारा जैसे किसी जङ्गल के मार्ग में सचमुच ही डूब जाय, (५२) वैसे ही इस मन होते संसार का अन्त करने के लिए अन्य उपायों की खोज करता करता मनुष्य अपना नाश कर लेगा तथा उसका भ्रम और अधिक बढ़ जायेगा। (५३) अतएव हे धनञ्जय! स्वप्न में लगे हुए घाव की ओषधि जैसे जागृति ही है, वैसे ही इस अज्ञान-मूल संसार के लिए ज्ञान ही एक शस्त्र है। (५४) परन्तु बुद्धि में इतना वैराग्यरूपी मूलन और कट्टर पन होना चाहिए कि यह शस्त्र सहज में चलाते बने (५५) वैराग्य उत्पन्न होते ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का यह समझ कर त्याग कर देना चाहिए कि ये कुत्ते के तात्कालिक वमन के सदृश हैं। (२६) हे पाण्डव! यहाँ तक पदार्थमात्र को छीक आने लगे। ऐसा दृढ़ वैराग्य होना चाहिए। (५७) फिर देहाहङ्काररूपी म्यान में से निकाल कर प्रत्यगात्मरूपी शस्त्र—जो विवेकरूपी सिल पर पैनाया गया हो, जो ब्रह्मास्मि-बोधरूपी तीक्ष्णता से युक्त हो और जिसमें पूर्ण-एकता-ज्ञानरूपी चमक लगा हो—(५८) एकदम हाथ में धरना चाहिए। (५९) परन्तु एक-दो बार अपना निश्चयरूपी मूठ का बल आजमा लेना चाहिए और अत्यन्त शुद्ध-मननरूपी तोल को सँभालना चाहिए। (२६०) फिर ज्ञानरूपी शस्त्र और स्वयं तुम जब निदिध्यासन के द्वारा एकरूप हो जाओगे तो प्रहार के लिए दूसरी कोई वस्तु ही न रहेगी। (६१) ऐसा यह आत्मज्ञान का शस्त्र, जो अद्वैतज्ञान का निदर्शक है वह इस संसार वृक्ष को कभी बचने न देगा। (६२) जैसे वायु शरत्काल के आरम्भ में आकाश का सम्पूर्ण कचरा बहा देती है, अथवा सूर्य उदय होते ही जैसे अन्धकार को पूँछ भी जाता है, (६३) अथवा जागृति होते ही जैसे स्वप्न की गड़बड़ का पता हो मिट जाता है, वैसी ही स्थिति आत्मानुभव की धार लगे हुए शस्त्र के

पत्रिका कैसे पढ़ सकती है ? आकाश में नीलवर्ण परती भी अन्य कैसे सत्य हो सकती है ? (३४) हे पाण्डव ! आकाश-कुसुम का डंठल कौन तोड़ सकता है ? अतएव, न होने वाले संसार का आदि भी कैसे हो सकता है ? (३५) जैसे घट का प्रागभाव किसी के उत्पन्न किये बिना ही सिद्ध है, वैसे ही यह सम्पूर्ण वृक्ष भी अनादि समझो। (३६) इस प्रकार हे अर्जुन ! इसका न आदि है, न अन्त है। बीच में ही किसी प्रकार इसकी स्थिति दिखाई देती है परन्तु वह मिथ्या है। (३७) जैसे मृगजल न किसी कैलास पर्वत से गिरता है और न किसी समुद्र में जा मिलता है, परन्तु बीच में ही झूठ-मूठ दिखाई देता है, (३८) वैसे ही वास्तव में इस संसार के आदि और अन्त नहीं हैं, और वह कभी सत्य भी नहीं है, परन्तु नक्ल मिथ्यात्व देखिए कि उसका प्रतिभास मात्र होता है। (३९) इन्द्रधनुष जैसे अनेक रङ्गों से चित्रित दिखाई देता है वैसे ही यह वृक्ष अज्ञान से सत्य-सा जान पड़ता है। (४०) इस प्रकार, बहुरूपिये के भेष से जैसे लोग भूल में पड़ते हैं वैसे ही इस संसार की स्थिति के समय अज्ञानियों की दृष्टि में भूल पड़ती है। (४१) और यद्यपि आकाश में न होती हुई भी नीलिमा दिखाई देती है तथापि वह जैसे प्रत्येक क्षण में उत्पन्न और विलीन होती है, (४२) [स्वप्न मिथ्या है परन्तु क्या वह पड़ा ही बना रहता है ?] वैसे ही यह आभास भी क्षण में विलीन हो जाता है। (४३) देखने से इसका अस्तित्व जान पड़ता है; परन्तु जल में दिखाई देनेहार प्रतिबिम्ब से जैसे बन्दर की स्थिति हो जाती है वैसे ही इस आभास को सत्यत्व ग्रहण करने की चेष्टा करने पर भी वह हाथ नहीं लगता। (४४) इसकी उत्पत्ति और नाश इतनी शीघ्रता से होते रहते हैं कि समुद्र की लहरों की उत्पत्ति और नाश उसकी बराबरी नहीं कर सकते। और विद्युत् भी उससे होड़ बाँधने के योग्य नहीं होती। (४५) ग्रीष्म-काल के अन्त की वायु जैसे आगे-पीछे नहीं देखती वैसे ही यह संसाररूपी महावृक्ष भी स्थिर नहीं रहता (४६) एवं इस वृक्ष का न आदि है न अन्त है न स्थिति है न रूप है, तो फिर इसके उन्मूलन में क्या आयास पड़ सकता है ? (४७) जो वास्तव में न होता हुआ भी अपने अज्ञान के ही कारण बढ़ा हुआ था उसे हे किरीटी !

जाते हैं, (७८) ज्ञानी जन अहंता इत्यादि अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को छोड़ जिस घर का पट्टा प्राप्त करते हैं, (७९) जिस स्थान से यह विश्व-परम्परा अभागियों की सूखी आशा वृद्धि के समान बढ़ रही है, (८०) जिस वस्तु के अज्ञान के कारण इस महान् संसार का ज्ञान प्रकट हुआ है तथा (८१) जगत् में अवास्तव हम-तुम भाव का प्रतिपादन हो रहा है, उस आद्य वस्तु को हे पार्थ! स्वयं आपरूप हो देखना चाहिए, मानो जैसे हिम को हिम ही ओढ़ता हो (८२) हे धनञ्जय! उस वस्तु का एक लक्षण और है। उसकी भेंट होते ही वहाँ से कोई लौटकर नहीं आता। (८३) पर उसकी भेंट उन्हीं को होती है जो पुरुष ज्ञान के द्वारा सर्वत्र ऐसे एकरूप हो गये हैं जैसे मानो महाप्रलय का जल ही भरा हुआ हो। (८४)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
　　अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
　　र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

वर्षाकाल के अन्त में जैसे मेघ आकाश का त्याग कर चले जाते हैं, वैसे ही जिन पुरुषों के मनों से मोह और मान को छोड़ दिया है, या (८५) जो पुरुष विकारों के पक्ष में वैसे ही नहीं फँसते, जैसे कि अत्यन्त दरिद्री मनुष्य के नातेदार उसका तिरस्कार करते हैं, (८६) जैसे का वृक्ष फलते ही बस उसकी बाढ़ समाप्त हो जाती है, वैसे ही जिनकी क्रिया आत्मस्वरूप के लाभ से प्रसन्न हो धीरे धीरे मन्द हो जाती है, (८७) वृक्ष में आग लगी देखकर जैसे पक्षी इधर-उधर भाग जाते हैं वैसे ही जिन्हें देखकर सम्पूर्ण विकल्प भाग जाते हैं, (८८) सकल तृणरूपी दोष उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीरूपी भेद-बुद्धि जिनमें नहीं रहती (८९) सूर्योदय होते ही जैसे रात्रि आप ही आप चली जाती है वैसे ही जिनका देहाहंकार अविद्या-सहित चला गया है (९०) आयुष्य-हीन जीव को जैसे शरीर एकदम छोड़ देता है वैसे ही जिन्हें मायात्मक द्वैत ने छोड़ दिया है। (९१) पारस को जैसे लोहे का दारिद्र्य रहता है, अथवा सूर्य को जैसे अँधेरा नहीं सूझता, वैसे ही जिन्हें द्वैत-बुद्धि का अकाल बना रहता है (९२) देह में सुख-दुःख के रूप

चलने से होती है। (६४) उस समय, चाँदनी में जैसे मृगजल नहीं दीखता वैसे ही ऊर्ध्व या अधोमूल अथवा नीचे की शाखायें या उपशाखायें कुछ भी दिखाई न देंगी। (६५) इस प्रकार हे वीरोत्तम! आत्मज्ञान के खड्ग से इस संसाररूपी ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ का छेदन कर। (६६)

> ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
> यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
> तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
> यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इदंवृत्ति के परे जो अहंता-रहित रूप प्रसिद्ध है वह अपना स्वरूप स्वयं आप ही देखना चाहिए। (६७) परन्तु मूढ़ जन जैसे दर्पण के आधार से एक ही रूप को भिन्न देखते हैं, वैसा इस आत्मस्वरूप का देखना नहीं है। (६८) हे वीर! यह देखना ऐसा है जैसे जल का सोता कुएँ में भरने के पूर्व उद्गम में ही भरा रहता है, (६९) अथवा पानी सूख जाने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में ही मिल जाता है, अथवा घट फूट जाने पर घटाकाश जैसे आकाश में मिल जाता है, (२७०) अथवा इन्धनांश समाप्त होते ही अग्नि जैसे फिर अपने स्वरूप-मय हो जाती है। (७१) जीभ जैसे अपना ही स्वाद चाखे, आँखें अपनी ही पुतलियाँ देखें वैसा ही यह निजस्वरूप का देखना है। (७२) अथवा प्रकाश जैसे प्रकाश में जा मिले आकाश आकाश में जा मिले अथवा जल जलाशय में जा मिले (७३) वैसा ही स्वयं आप ही अद्वैत स्वरूप को देखना है। यह बात हम निश्चय से कहते हैं। (७४) जिसे दृश्य न होकर देखना चाहिए, किसी वस्तु का ज्ञाता न होकर जानना चाहिए, जिस स्थान को आद्य पुरुष कहते हैं (७५) उसके विषय में वेद उपाधि का आश्रय कर, वृथा मुँह चलाते और नाम रूपों का वर्णन करते हैं (७६) मुमुक्षु जन संसार और स्वर्ग से ऊब कर, योग और ज्ञान का आश्रय कर पुनः लौट कर न आने की प्रतिज्ञा से, जिस स्थान को जाने के लिए निकलते हैं, (७७) जिसके लिए विरक्त जन संसार के आगे निकल उसे प्रतिज्ञापूर्वक जीतते और ब्रह्मलोकरूपी कर्म पर्वत का भी उल्लङ्घन कर आगे निकल

जाते हैं, (७८) ज्ञानी जन अहंता इत्यादि अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को छोड़ जिस पद का पक्ष ग्रहण करते हैं, (७९) जिस स्थान से यह जिस-परम्परा अभागियों की सूखी आशा वृद्धि के समान बढ़ रही है, (८००) जिस वस्तु के अज्ञान के कारण इस महान् संसार का ज्ञान प्रकट हुआ है तथा (८१) जगत् में अवास्तव इस-तुम भाव का प्रतिपादन हो रहा है, उस आद्य वस्तु को हे पार्थ! स्वयं आपरूप हो देखना चाहिए, मानो जैसे हिम को हिम ही जोड़ता हो (८२) हे धनञ्जय! उस वस्तु का एक लक्षण और है। उसकी भेंट होते ही वहाँ से कोई लौटकर नहीं आता। (८३) पर उसकी भेंट उन्हीं को होती है जो पुरुष ज्ञान के द्वारा सर्वत्र ऐसे एकरूप हो गये हैं जैसे मानो महाप्रलय का जल ही भरा हुआ हो। (८४)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

वर्षाकाल के अन्त में जैसे मेघ आकाश का त्याग कर चले जाते हैं, वैसे ही जिन पुरुषों के मनों ने मोह और मान को छोड़ दिया है, या (८५) जो पुरुष विकारों के पाले में वैसे ही नहीं फँसते, जैसे कि अत्यन्त दरिद्री मनुष्य के नातेदार उसका तिरस्कार करते हैं, (८६) फले का वृक्ष फलते ही जैसे उसकी बाढ़ समाप्त हो जाती है, वैसे ही जिनकी क्रिया आत्मस्वरूप के लाभ से प्रबल हो धीरे धीरे बन्द हो जाती है, (८७) वृक्ष में आग लगी देखकर जैसे पक्षी इधर-उधर भाग जाते हैं वैसे ही जिन्हें देखकर सम्पूर्ण विकल्प भाग जाते हैं, (८८) सकल दूषणरूपी घोर उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीरूपी भेद-बुद्धि जिनमें नहीं रहती (८९) सूर्योदय होते ही जैसे रात्रि आप ही आप चली जाती है वैसे ही जिनका देहाहङ्कार अविद्या-सहित चला गया है (१९०) आयुष्य-हीन जीव को जैसे शरीर एकदम छोड़ देता है वैसे ही जिन्हें मोहकारक द्वैत ने छोड़ दिया है। (९१) पारस का जैसे लोहे का हानिरूप रहता है, अथवा सूर्य को जैसे अँधेरा नहीं सूझता, वैसे ही जिन्हें द्वैत-बुद्धि का अकाल पड़ा रहता है, (९२) देह में सुख-दुःख के रूप

से जो द्वन्द्व दिखाई देते हैं वे जिनके सम्मुख आते भी नहीं (९३) स्वप्न का राज्य या मरण जैसे जागृत होने पर हर्ष या शोक का हेतु नहीं होता, (९४) अथवा गरुड़ जैसे कभी सर्पों से पराजित नहीं होते, वैसे ही जो सुख-दु:खरूपी द्वन्द्व या पाप-पुण्यों के वश नहीं होते, (९५) जो विवेकी राजहंस अनात्मारूपी जल का त्याग कर आत्मरसरूपी दूध का पान करते हैं, (९६) पृथ्वीतत्त्व पर वर्षा कर सूर्य जैसे पुनः अपना रस अपने बिम्ब में खींच लेता है (९७) वैसे ही आत्मभ्रम के कारण जो आत्मवस्तु अनेक-रूप से बिखरी हुई है उसे जो पुरुष निरन्तर ज्ञान-दृष्टि से एकरूप कर लेते हैं, (९८) किम्बहुना, गङ्गा का प्रवाह जैसे समुद्र में आ डूबता है वैसे ही जिनका विवेक आत्मनिश्चय में ही डूब रहा है (९९) आकाश जैसे यहाँ से अन्यत्र नहीं जाता वैसे ही सर्वत्र आत्मा होने के कारण जिन्हें और कुछ अभिलाषा नहीं होती, (१००) अग्नि के पर्वत पर जैसे कोई बीज नहीं उगता वैसे ही जिनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता (१) मन्दराचल निकाल लेने पर क्षीर-समुद्र जैसा निश्चल हो गया था वैसे ही जिनमें काम की ऊर्मि नहीं उठती, (२) सम्पूर्ण कलाओं से पूर्ण हुआ चन्द्रमा जैसे किसी भाग में न्यून दिखाई नहीं देता वैसे ही जिनमें अपेक्षारूपी न्यूनता नहीं रहती, (३) [यह अनुपम वर्णन कहाँ तक करें] वायु के सम्मुख जैसे परमाणु नहीं रहता वैसे ही जिन्हें विषयों का नाम भी नहीं भाता, (४) ऐसे जो पुरुष ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त हो ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त हो गये हैं वे उस पद में ऐसे मिल जाते हैं जैसे सोने में सोना। (५) यदि तुम पूछो कि 'उस पद में मिल जाते हैं" कहने से किस पद का निर्देश किया तो सुनो। वह पद ऐसा है कि जिसका नाश नहीं होता (६) तथा वह ऐसा नहीं है कि जो दृश्यरूप से दिखाई दे अथवा ज्ञेयरूप से जाना जा सके, अथवा 'यह अमुक है' यों पहचाना जा सके। (७)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

दीपक के उजियाले से अथवा चन्द्रमा के प्रकाश से, और तो क्या कहें सूर्य के प्रकाश से भी जो कुछ दिखाई देता है (८) वह सब दृश्य का दिखाई देना जिसका न देखना है, जिसके अगोचर

रहते हुए मिश्र का आभास होता है, (६) जैसे सीप का भाव ज्यों ज्यों विलीन होता है त्यों त्यों चाँदी का रूप सत्य जान पड़ता है, अथवा रस्सी के भाव का लोप होने से सर्प की सत्यता उत्पन्न होती है, (३१०) वैसे ही चन्द्र-सूर्य इत्यादि जो तेजोगोल दिखाई देते हैं वे जिस अधिष्ठान पर प्रकाशते हैं (११) वह वस्तु मानों एक तेजो-राशि है जो सम्पूर्ण भूतमात्रों में समान ही भरी है और जो चन्द्र और सूर्य के हृदय में भी प्रकाशती है। (१२) इस प्रकार से चन्द्रमा और सूर्य मानो ब्रह्म के प्रकाश में केवल परछाईं डालनेहार हैं। तात्पर्य यह कि तेजस्वी पदार्थों में जो तेज है सो ब्रह्म का ही प्रभाव है। (१३) और जैसे सूर्योदय के समय चन्द्रमा-सहित नक्षत्रों का लोप हो जाता है, वैसे ही जिसका प्रकाश होते ही सूर्य और चन्द्र-सहित सम्पूर्ण जगत् का लोप हो जाता है (१४) अथवा जागृत होते ही जैसे स्वप्न की सवारी का अन्त हो जाता है, अथवा सन्ध्या के समय जैसे मृग जल नहीं रहता (१५) वैसे ही जिस वस्तु में कोई आभास नहीं रहता उसे मेरा मुख्य धाम जानो। (१६) जो पुरुष आगे बढ़ कर वहाँ पहुँच जाते हैं वे फिर महा-समुद्र में मिले हुए सोतों के समान पीछे नहीं पलटते। (१७) अथवा लवण की बनाई हुई हथिनी समुद्रमें डाली जाय तो वह जैसे पलट कर नहीं आती (१८) अथवा अग्नि की ज्वालाएँ जैसे आकाश में उठती हैं तो पीछे नहीं लौटतीं, अथवा तपे हुए लोहे पर डाला हुआ जल जैसे फिर हाथ नहीं लगता (१९) वैसे ही जो पुरुष शुद्ध ज्ञान के द्वारा मुझसे एकरूप हो जाते हैं उनका जन्म-मरण का मार्ग ही बन्द हो जाता है। (३२०) इस पर महात्मा पृथ्वी के राजा अर्जुन ने कहा, महाराज! आपका बड़ा प्रसाद हुआ। परन्तु मेरी एक विनती की ओर देव ध्यान दें। (२१) हे देव! जो स्वयं आपसे एकरूप हो जाते हैं और फिर लौट कर नहीं आते वे आपसे भिन्न रहते हैं या अभिन्न? (२२) जो अनादिसिद्ध भिन्न ही रहते हों तो वे पलट कर नहीं आते कहना अयुक्त है। क्योंकि भ्रमर जो फूलों का चुम्बन करते हैं वे क्या फूल ही हो जाते हैं? (२३) नहीं। लक्ष्य से भिन्न रहते हुए बाण जैसे लक्ष्य का स्पर्श कर फिर पलट कर गिर पड़ते हैं, वैसे ही वे भी लौट आते हैं। (२४) अथवा यदि वे पुरुष स्वभावतः आपके ही रूप हैं तो कौन किससे जा मिलता है? शस्त्र आप ही अपने में कैसे घुस सकता है? (२५) इसलिए

से जो द्वन्द्व दिखाई देते हैं वे जिसके सम्मुख आते भी नहीं (९३) स्वप्न का राज्य या मरण जैसे जागृत होने पर हर्ष या शोक का हेतु नहीं होता, (९४) अथवा गरुड़ जैसे कभी सर्पों से पराजित नहीं होते, वैसे ही जो सुख-दुःखरूपी द्वन्द्व या पाप-पुण्यों के वश नहीं होते, (९५) जो विवेकी राजहंस अनात्मारूपी जल का त्याग कर आत्मरसरूपी दूध का पान करते हैं, (९६) पृथ्वीतल पर वर्षा कर सूर्य जैसे पुनः अपना रस अपने बिम्ब में खींच लेता है (९७) वैसे ही आत्मभ्रम के कारण जो आत्मवस्तु अनेक-रूप से बिखरी हुई है उसे जो पुरुष निरन्तर ज्ञान-दृष्टि से एकरूप कर लेते हैं, (९८) किम्बहुना, गङ्गा का प्रवाह जैसे समुद्र में जा डूबता है वैसे ही जिनका विवेक आत्मनिश्चय में ही डूब रहा है, (९९) आकाश जैसे कहीं से अन्यत्र नहीं जाता वैसे ही सर्वत्र आत्मा होने के कारण जिन्हें और कुछ अभिलाषा नहीं होती, (१००) अग्नि के पर्वत पर जैसे कोई बीज नहीं उगता वैसे ही जिनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता (१) मन्दराचल निकाल लेने पर क्षीर-समुद्र जैसा निश्चल हो रहा था वैसे ही जिनमें काम की ऊर्मि नहीं उठती, (२) सम्पूर्ण कलाओं से पूर्ण हुआ चन्द्रमा जैसे किसी भाग में न्यून दिखाई नहीं देता वैसे ही जिनमें अपेक्षारूपी न्यूनता नहीं रहती, (३) [यह अनुपम वर्णन कहाँ तक करें] वायु के सम्मुख जैसे परमाणु नहीं रहता वैसे ही जिन्हें विषयों का नाम भी नहीं भाता, (४) ऐसे जो पुरुष ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त हो ऊपर चढ़े हुए गुणों से मुक्त हो गये हैं वे उस पद में ऐसे मिल जाते हैं जैसे सोने में सोना। (५) यदि तुम पूछो कि "उस पद में मिल जाते हैं" कहने से किस पद का निर्देश किया तो सुनो। वह पद ऐसा है कि जिसका नाश नहीं होता, (६) तथा वह ऐसा नहीं है कि जो दृश्यरूप से दिखाई दे अथवा ज्ञेयरूप से जाना जा सके, अथवा 'यह अमुक है' यों पहचाना जा सके। (७)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

दीपक के उजियाले से अथवा चन्द्रमा के प्रकाश से, और तो क्या कहें, सूर्य के प्रकाश से भी जो कुछ दिखाई देता है (८) उस सब दृश्य का दिखाई देना जिसका न देखना है, जिसके अगोचर

रहते हुए बिंब का आभास होता है, (६) जैसे सीप का भाव ज्यों ज्यों विलीन होता है त्यों त्यों चाँदी का रूप सत्य ज्ञान पड़ता है, अथवा रस्सी के भाव का लोप होने से सर्प की सत्यता उत्पन्न होती है, (११०) वैसे ही चन्द्र-सूर्य इत्यादि जो तेजोगोल दिखाई देते हैं वे जिस अधिष्ठान पर प्रकाशते हैं (११) वह वस्तु मानों एक तेजो-राशि है जो सम्पूर्ण भूतमात्रों में समान ही भरी है और जो चन्द्र और सूर्य के हृदय में भी प्रकाशती है। (१२) इस प्रकार से चन्द्रमा और सूर्य मानो ब्रह्म के प्रकाश में केवल परछाईं डालनेहारे हैं। तात्पर्य यह कि तेजस्वी पदार्थों में जो तेज है सो ब्रह्म का ही प्रभाव है। (१३) और जैसे सूर्योदय के समय चन्द्रमा-सहित नक्षत्रों का लोप हो जाता है वैसे ही जिसका प्रकाश होते ही सूर्य और चन्द्र-सहित सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान हो जाता है (१४) अथवा जागृत होते ही जैसे स्वप्न की पसारे का अन्त हो जाता है, अथवा सन्ध्या के समय जैसे मृग जल नहीं रहता (१५) वैसे ही जिस वस्तु में कोई आभास नहीं रहता उसे मेरा मुख्य धाम जानो। (१६) जो पुरुष आगे बढ़ कर वहाँ पहुँच जाते हैं वे फिर महा-समुद्र में मिले हुए सोतों के समान पीछे नहीं पलटते। (१७) अथवा लवण की बनाई हुई हथिनी समुद्रमें डाली जाय तो वह जैसे पलट कर नहीं आती (१८) अथवा अग्नि की ज्वालाएँ जैसे आकाश में उठती हैं तो पीछे नहीं लौटती, अथवा तपे हुए लोहे पर डाला हुआ जल जैसे फिर हाथ नहीं लगता (१९) वैसे ही जो पुरुष शुद्ध ज्ञान के द्वारा मुझसे एकरूप हो जाते हैं उनका जन्म-मरण का मार्ग ही बन्द हो जाता है। (१२०) इस पर प्रज्ञारूप पृथ्वी के राजा अर्जुन ने कहा, महाराज! आपका बड़ा प्रसाद हुआ। परन्तु मेरी एक विनती की ओर देव ध्यान दें। (२१) हे देव! जो स्वयं आपसे एकरूप हो जाते हैं और फिर लौट कर नहीं आते वे आपसे भिन्न रहते हैं या अभिन्न? (२२) जो अनादिसिद्ध भिन्न ही रहते हों तो 'वे पलट कर नहीं आते' कहना अयुक्त है। क्योंकि भ्रमर जो फूलों का चुम्बन करते हैं वे क्या फूल ही हो जाते हैं? (२३) नहीं। लक्ष्य से भिन्न रहते हुए बाण जैसे लक्ष्य का स्पर्श कर फिर पलट कर गिर पड़ते हैं, वैसे ही वे भी लौट आते हैं। (२४) अथवा यदि वे पुरुष स्वभावतः आप ही रूप हैं तो कौन किससे जा मिलता है? शस्त्र आप ही अपने में कैसे घुस सकता है? (२५) इसलिए

हे देव! जैसे अवयव और शिर का वैसे ही आपसे अभिन्न जीवों का और आपका संयोग अथवा वियोग होना नहीं कहा जा सकता (२६) तथा जो सर्वथा आपसे भिन्न हैं वे तो कभी एकरूप हो ही नहीं सकते। फिर वे पलट कर आते हैं या नहीं इस वृथा उक्ति का क्या प्रयोजन है? (२७) अतएव, हे सर्वतोमुखी श्रीकृष्ण! मुझे यह समझाइए कि वे कौन हैं जो आपको प्राप्त कर फिर पलट कर नहीं आते। (२८) अर्जुन के इस आक्षेप से सज्जनों के मुकुटमणि श्रीकृष्ण शिष्य का ज्ञान देखकर सन्तुष्ट हुए। (२९) वे बोले कि हे महामति! जो मुझे प्राप्त कर फिर लौट कर नहीं आते वे मुझसे भिन्न और अभिन्न दोनों रीति से रहते हैं। (१३०) गहरे विवेक से देखा जाय तो जो मैं हूँ वही स्वभावतः वे हैं, अन्यथा ऊपरी और देखने से वे भिन्न भी दिखाई देते हैं। (३१) जल पर जैसे तरङ्ग हिलोरते हुए भिन्न दिखाई देते हैं पर वस्तुतः वे जल ही हैं, (३२) अथवा सुवर्ण के छोटे-छोटे अलङ्कार जैसे भिन्न दिखाई देते हैं पर असल में सब सुवर्ण ही हैं (३३) वैसे ही हे किरीटी! ज्ञान की दृष्टि से वे पुरुष मुझसे अभिन्न हैं। परन्तु मेरे अज्ञान के कारण भिन्नता दिखाई देती है। (३४) सत्य वस्तु के विचार से देखो तो मैं जो एक ही हूँ उसके साथ दूसरी वस्तु ही कहाँ है जिससे भिन्नाभिन्न व्यवहार उत्पन्न हो सके? (३५) सूर्य के बिम्ब का वर्तुल यदि सम्पूर्ण आकाश को ही अपने में समा कर विद्यमान रहे तो प्रतिबिम्ब कहाँ जाकर पड़ेगा और रश्मियाँ कहाँ प्रकाश करेंगी? (३६) अथवा हे धनञ्जय! कल्पान्त के जल से क्या क्यारियाँ भर लेने की घटना हो सकती है? वैसे ही मुझ अद्वैत और भिन्नाभिन्न के भेद कैसे हो सकते हैं? (३७) परन्तु जैसे सीधा बहता हुआ जल अन्य प्रवाह के मेल से टेढ़ा बहने लगता है, पानी के कारण जैसे सूर्य दूसरा दिखाई देने लगता है, (३८) आकाश चौकोन है या गोल है यह कैसे जाना जाय परन्तु वह जैसे जिस घट या मठ का आच्छादन करे वैसा ही कहा जाता है, (३९) निद्रा के आधार से मनुष्य जिस समय स्वप्न में राजा बन जाता है उस समय उस (राजा) का शासित संसार भी क्या वही अकेला नहीं बनता? (१४०) अथवा उत्तम सोलह के भाव के सोने के कस अशुद्ध धातु से मिलन के कारण जैसे भिन्न भिन्न होते हैं, वैसे ही जब मेरा शुद्ध स्वरूप स्वमाया से आच्छादित होता है (४१) तब एक अज्ञान

प्रकट होता है। उससे ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूँ और फिर सोच कर ऐसा निश्चय होता है कि मैं शरीर हूँ। (४२)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

इस प्रकार आत्मा जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है, तब उसकी अल्पता के कारण वह मेरा अंश जान पड़ता है। (४३) वायु के कारण समुद्र का जल जब तरङ्गाकार हो सकता है तो जैसे वह समुद्र का थोड़ासा अंश ही दिखाई देता है, (४४) वैसे ही हे पाण्डु-सुत! इस जीव-लोक में मैं जड़ को चेतना देनेहारा, देह में अहंता उपजानेहारा जीव जान पड़ता हूँ। (४५) जीवों की बुद्धि द्वारा गोचर जो यह सब व्यापार है यही 'जीव-लोक' शब्द का अभिप्राय है। (४६) जन्म और मृत्यु को सत्य मानने के लिए ही मैं जीव-लोक या संसार समझता हूँ। (४७) इस प्रकार के जीव-लोक में मुझे ऐसा समझो जैसे जल के परे रहनेहारा चन्द्र जल में दिखाई देता है। (४८) हे पाण्डव! स्फटिक का टुकड़ा कुङ्कुम पर रक्खा हो तो लोगों को आरक्त दिखाई देगा, पर वास्तव में वह आरक्त नहीं रहता। (४९) वैसे ही मेरे अनादित्व का भङ्ग नहीं होता, मेरा अक्रियत्व भी खंडित नहीं होता; तथा मेरा कर्ता-भोक्ता दिखाई देना भ्रान्ति समझो। (१५०) बहुत क्या कहूँ, शुद्ध आत्मा ही प्रकृति से एक जीव हो, जिस पर ही प्रकृतिधर्म के कर्मों का आरोपण करता है (५१) तथा मोह इत्यादि मन-समेत छहों इन्द्रियाँ जो प्रकृति से उत्पन्न हुई हैं, उन्हें अपनी समझ कर व्यापार में प्रवृत्त होता है। (५२) स्वप्न में जैसे संन्यासी आप ही अपना कुटुम्ब बनता है और फिर उसके मोह से इधर-उधर दौड़ता है, (५३) वैसे ही आत्मा अपनी विस्मृति के कारण आप ही प्रकृति-रूप होकर उसी में अनुरक्त होता है। (५४) वह मनरूपी रथ पर चढ़ता है, श्रवण-द्वार से निकलता है, और शब्दरूपी वन में प्रवेश करता है, (५५) तथा प्रकृति की बागडोर त्वचारूपी दिशा की ओर खींचकर स्पर्शरूपी घोर वन में घुसता है। (५६) किसी समय वह नेत्रद्वार से निकल कर रूपरूपी पर्वत पर इधर-उधर घूमता है, (५७) अथवा हे सुभट! रसना के मार्ग से रसरूपी गुहा में प्रवेश करता है। (५८) अथवा

कभी यह मेरा अंश प्राणमार्ग से निकल कर सुगन्धरूपी हाथ मन के पार चला जाता है। (५९) इस प्रकार देह और इन्द्रियों का पालक यह जीव मन को छाती से लगा शब्द इत्यादि विषयों के साधनों का भोग लेता है। (१६०)

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

परन्तु जीव का यह कर्तृत्व या भोक्तृत्व तभी दिखाई देता है जब वह किसी शरीर में प्रवेश करे। (६१) जैसे हे धनञ्जय! सम्पत्तिमान् और विलासी मनुष्य तभी जाना जाता है जब वह किसी राजा के रहने योग्य स्थान में बसे। (६२) वैसे ही, देखनेहारों को अहंकार की वृद्धि या विषयेन्द्रियों की धींगाधींगी तभी दिखाई देती है जब जीव किसी देह का आश्रय करे, (६३) तथा जब वह शरीर का त्याग करता है तब भी इस इन्द्रिय-समुदायरूपी सम्पत्ति को अपने संग ले जाता है। (६४) जैसे अतिथि का अपमान करने से वह अपने संग अपमान करनेहारे का पुण्य भी खींच ले जाता है, अथवा डोरी जैसे कठपुतलियों को इधर उधर खींच ले जाती है, (६५) अथवा अस्त हुआ सूर्य जैसे लोगों के नेत्रों के प्रकाश को भी संग ले जाता है, और रहने दो पवन जैसे सुगन्ध हर ले जाता है (६६) वैसे ही हे धनञ्जय! यह देहराज जब देह का त्याग करता है तो इन इन्द्रियों को, जिनमें छठवाँ एक मन है अपने साथ ले जाता है। (६७)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

फिर वह संसार में या स्वर्ग में जहाँ-जहाँ और जैसे-जैसे देहों का आश्रय करता है, वहाँ-वहाँ मन इत्यादि भी फिर से पूर्ववत् प्रवृत्त हो जाते हैं, (६८) जैसे दीपक बुझा देने से वह प्रभा-सहित अदृश्य हो जाता है परन्तु फिर से जलाते ही फिर वही वैसा ही प्रकाशमान हो जाता है। (६९) तथापि हे किरीटी, [illegible] व्यवस्था अवि-

जन्म होना या मृत्यु होना, कर्म करना या भोग लेना ये सब धर्म वस्तुतः प्रकृति के हैं जिनको आत्मा अपना समझता है। (७२)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

शरीर का एक आकार तैयार होता है और उसमें चेतना उत्पन्न होती है। उस हलचल को देखकर लोग कहते हैं कि जन्म हुआ। (७३) तथा उसके संग से इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में व्याप्त होती हैं, उसी से सुखदुःखप्राप्ति। भोग लेना कहते हैं। (७४) तदनन्तर भोग लेते-लेते जब देह क्षीण हो छूट जाती है, और चेतना नहीं दिखाई देती तो कहते हैं कि मृत्यु हो गई। (७५) परन्तु हे पाण्डुसुत! वृक्ष वायु से हिलते हुए दिखाई दें क्या तभी वायु चलती माननी चाहिए? वृक्ष का हिलना नहीं दिखाई देता तब क्या वायु नहीं रहती? (७६) अथवा दर्पण सामने रक्खा और उसमें अपना स्वरूप देखो तभी क्या उस स्वरूप की उत्पत्ति समझनी चाहिए? उसके पूर्व क्या वह स्वरूप नहीं था? (७७) तथा दर्पण को हटा लेने से स्वरूपाभास का लोप हो जाता है तब क्या यह समझ लेना चाहिए कि हम नहीं हैं? (७८) शब्द वास्तव में आकाश से उत्पन्न होता है, परन्तु वह जैसे मेघों पर आरोपित किया जाता है, अथवा लोग जैसे अभ्रों की गति को चन्द्रमा की गति समझते हैं, (७९) वैसे ही वे अन्ध जन मोह के कारण देह का उत्पन्न होना और नाश होना अविकारी आत्मसत्ता पर निश्चित करते हैं। (८०) परन्तु आत्मा आत्मा की ही जगह है तथा शरीर में दिखाई देनेवाले धर्म शरीर के ही हैं, यह जाननेहारे दूसरे ही होते हैं (८१) जिनके नेत्र, ज्ञान के कारण, इस देह-रूपी आच्छादन को ही देखकर नहीं रह जाते। किन्तु जैसे सूर्य की किरणें ग्रीष्म ऋतु में तीव्रता से निकलती हैं (८२) वैसी ही जिनकी स्फूर्ति विस्तृत विवेक के द्वारा स्वरूप में जा बैठती है, वे ज्ञानी जन आत्मा को ऐसा देखते हैं (८३) जैसा कि नक्षत्र तारागणों से भरा हुआ गगन, जो समुद्र में प्रतिबिम्बित होता है पर जो उसमें अपनी

कभी यह मेरा अंश मायामार्ग से निकल कर मूलस्वरूपी ब्रह्म के पार चला जाता है। (५९) इस प्रकार देह और इन्द्रियों का यह जीव मन को छाती से लगा शब्द इत्यादि विषयों के साधनों का भोग लेता है। (३६०)

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

परन्तु जीव का यह कर्तृत्व या भोक्तृत्व तभी दिखाई देता है जब वह किसी शरीर में प्रवेश करे। (६१) जैसे हे धनञ्जय! लक्ष्मीवान् और विलासी मनुष्य तभी जाना जाता है जब वह किसी ठाठ के रहने योग्य स्थान में बसे। (६२) वैसे ही, देखनेहारों को अहङ्कार की वृद्धि या विषयेन्द्रियों की धींगाधींगी तभी दिखाई देती है जब जीव किसी देह का आश्रय करे, (६३) तथा जब वह शरीर का त्याग करता है तब भी इस इन्द्रिय-समुदायरूपी सम्पत्ति को अपने सङ्ग ले जाता है। (६४) जैसे अतिथि का अपमान करने से वह अपने सङ्ग अपमान करनेहारे का पुण्य भी खींच ले जाता है, अथवा डोरी जैसे कठपुतलियों को इधर उधर खींच ले जाती है, (६५) अथवा अस्त हुआ सूर्य जैसे लोगों के नेत्रों के प्रकाश को भी सङ्ग ले जाता है, और बहने वो पवन जैसे सुगन्ध हर ले जाता है (६६) वैसे ही हे धनञ्जय! यह देहराज जब देह का त्याग करता है तो इन इन्द्रियों को, जिनमें छठवाँ यह मन है अपने साथ ले जाता है। (६७)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

फिर वह संसार में या स्वर्ग में जहाँ-जहाँ और जैसे-जैसे देहों का आश्रय करता है, वहाँ-वहाँ मन इत्यादि भी फिर से पूर्ववत् प्रवृत्त हो जाते हैं, (६८) जैसे दीपक बुझा देने से वह प्रभा-समेत अदृश्य हो जाता है परन्तु फिर से उँजोरते ही फिर वही वैसा ही प्रकाशमान् हो जाता है। (६९) तथापि हे किरीटी! यह व्यवस्था अविवेकियों की दृष्टि से ही ऐसी मालूम होती है, (३७०) क्योंकि वे यह सत्य मानते हैं कि आत्मा देह धारण करता है और वही विषयों का भोग लेता है तथा देह का त्याग भी वही करता है। (७१) अन्यथा

जन्म होना या मृत्यु होना, कर्म करना या भोग लेना ये सब धर्म वस्तुतः प्रकृति के हैं जिनको आत्मा अपना समझता है। (७२)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

शरीर का एक आकार तैयार होता है और उसमें चेतना उत्पन्न होती है। उस हलचल को देखकर लोग कहते हैं कि जन्म हुआ। (७३) तथा उसके सङ्ग से इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में व्यापृत होती हैं, उसे ही सुखप्राप्ति। भोग लेना कहते हैं। (७४) तदनन्तर भोग लेते-लेते जब वह क्षीण हो छूट जाती है, और चेतना नहीं दिखाई देती तो कहते हैं कि मृत्यु हो गई। (७५) परन्तु हे पाण्डव! वृक्ष वायु से हालते हुए दिखाई दें क्या तभी वायु बहती माननी चाहिए? वृक्ष का हिलना नहीं दिखाई देता तब क्या वायु नहीं रहती? (७६) अथवा दर्पण सामने रक्खो और उसमें अपना स्वरूप देखो तभी क्या उस स्वरूप की उत्पत्ति समझनी चाहिए? उसके पूर्व क्या वह स्वरूप नहीं था? (७७) तथा दर्पण को हटा लेने से स्वरूपाभास का लोप हो जाता है तब क्या यह समझ लेना चाहिए कि हम नहीं हैं? (७८) शब्द वास्तव में आकाश से उत्पन्न होता है, परन्तु वह जैसे मेघों पर आरोपित किया जाता है, अथवा लोग जैसे अभ्रों की गति को चन्द्रमा की गति समझते हैं, (७९) वैसे ही वे अन्य जन मोह के कारण देह का उत्पन्न होना और नाश होना अविकारी आत्मसत्ता पर निश्चित करते हैं। (३८०) परन्तु, आत्मा आत्मा की ही जगह है तथा शरीर में दिखाई देनेवाले धर्म शरीर के ही हैं, यह जाननेहारे दूसरे ही होते हैं (८१) जिनके नैत्र, ज्ञान के कारण इस देह-रूपी आच्छादन को ही देखकर नहीं रह जाते। किन्तु जैसे सूर्य की किरणें ग्रीष्म ऋतु में तीव्रता से निकलती हैं (८२) वैसी ही जिनकी दृष्टि विस्तृत विवेक के द्वारा स्वरूप में जा बैठती है वे ज्ञानी जन आत्मा को ऐसा देखते हैं (८३) जैसा कि प्रत्यक्ष तारागणों से भरा हुआ गगन, जो समुद्र में प्रतिबिम्बित होता है पर जो उसमें अपनी

जगह से टूट कर नहीं गिरता। (८४) आकाश आकाश की ही जगह रहता है और समुद्र में जो दिखाई देता है सो मिथ्या है वैसे ही वे देह में आत्मा को देखते हैं। (८५) प्रवाह में दिखाई देनेवाली लहर का कारण प्रवाह ही है। इस दृष्टि से देखिए तो जैसे यह निश्चय होता है कि चन्द्रिका चन्द्रमा में ही निश्चल है (८६) अथवा गड्ढा ही भरता या सूखता है पर जैसे सूर्य जैसा का तैसा बना रहता है, वैसे ही वे ज्ञानी जन देह की उत्पत्ति और मृत्यु होती देखकर भी मुझको अविछिन्न जानते हैं। (८७) घट या मठ की घटना होती है, और पश्चात् उसका नाश हो जाता है, परन्तु आकाश वैसा ही भरा हुआ बना है, (८८) वैसे ही वे निश्चय से जानते हैं कि आत्मसत्ता अखण्ड बनी है और उसमें अज्ञान-दृष्टि की कल्पना से ही शरीर का जन्म और उसकी मृत्यु होती है। (८९) शुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा वे जानते हैं कि परब्रह्म न घटता है न बढ़ता है, और न वह कोई चेष्टा कराता है न करता है। (९०) परन्तु चाहे ज्ञान भी प्राप्त हो, बुद्धि परमाणु की भी खोज से उसे, सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्य हाथ आ जाय (९१) परन्तु उस विद्या के अनुरूप यदि अन्तःकरण में वैराग्य का प्रवेश न हुआ हो तो मुझ सर्वात्मा से भेंट नहीं हो सकती। (९२) मुख में विवेक भरा हो पर अन्तःकरण में विषयों की बस्ती हो तो हे धनुधर! यह सत्य जानो कि उस मनुष्य को मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। (९३) स्वप्न में बर्रानेवालों के मन्त्रों से क्या संसार का उपद्रव मिट सकता है? अथवा स्पर्श करने से ही क्या पोथी पढ़ने का कार्य हो सकता है? (९४) आँखें बाँध कर मोती नाक से लगाये जायँ तो उनका मोल-भाव कैसे मालूम हो सकेगा? (९५) वैसे ही, चित्त में अहङ्कार बसता हो, और सम्पूर्ण शास्त्रों का मौखिक अभ्यास हो तो ऐसे कोटि जन्म हो जायँ तथापि मेरी प्राप्ति न होगी। (९६) मैं जो एक हूँ और सम्पूर्ण भूतमात्र में व्यापक हूँ उस व्याप्ति का अब निरूपण करता हूँ, सुनो। (९७)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

जिसमें सूर्यसहित सम्पूर्ण विश्वरचना प्रकट होती है वह प्रकाश आदि से अन्त तक मेरा समझना चाहिए। (९८) सूर्य जल का शोषण कर अस्त हो जाता है, तदनन्तर आ फिर से आर्द्रता पहुँचानी

है वह हे पाण्डुसुत ! चन्द्र में रहनेहारी मेरी ही कान्ति है। (९९) और जो निरन्तर दहन या पचन-क्रिया करती है वह अग्नि में रहनेहारी दीप्ति भी मेरी ही है। (४००)

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

भूतल में मैंने ही प्रवेश किया है। इसी से समुद्र के महाजल में भी यह पृथ्वीरूपी रजःकणों का ढेला नहीं गलता (१) और पृथ्वी जो अपार चराचर भूतमात्र को धारण करती है सो मैं ही उसमें प्रवेश कर धारण करता हूँ। (२) गगन में भी हे पाण्डुसुत ! मैं चन्द्रमा के रूप से एक चलता हुआ अमृत का सरोवर ही बना हुआ हूँ। (३) उसमें से जो किरणें निकलती हैं उनसे मैं ही अनन्त रस-प्रवाहों के द्वारा सम्पूर्ण ओषधियों का कोश भरता हूँ। (४) इस प्रकार मैं सकल धान इत्यादि धान्यमात्र का सुकाल करता हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियों को अन्नद्वारा जीवन देता हूँ। (५) अन्न पकाया जाता है परन्तु जिससे उसे पचाकर जीव समाधान का भोग ले वह दीपन योंही कैसे हो सकता है ? (६)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

इसलिए सकल प्राणियों के शरीर में नाभिस्थान की जगह अँगीठी बना कर उसकी जठराग्नि भी हे किरीटी ! मैं ही बनता हूँ। (७) तथा पेट में प्राण और अपान वायु की जुड़ी हुई धौंकनी से रात दिन धौंक-धौंक कर न जाने कितना अन्न पचाता हूँ। (८) शुष्क हो या स्निग्ध हो, अच्छा पका हुआ हो या भूँजा हुआ हो, सब—चारों प्रकार का—अन्न मैं ही पचाता हूँ। (९) सार यह है कि मैं ही सम्पूर्ण प्राणीगण्य हूँ, उनका निर्वाह करनेहारा जीवन भी मैं ही हूँ, और जीवन का मुख्य साधन जो अग्नि है वह भी मैं ही हूँ। (४१०) अब इससे अधिक मैं अपनी व्यापकता की अपूर्वता और क्या वर्णन करूँ ! संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है। सर्वत्र मुझे ही देख लो। (११) तो फिर कोई प्राणी सर्वदा सुखी और कोई अत्यन्त दुःख से आक्रान्त दिखाई देते हैं सो किस भेद के कारण ? (१२) नगर भर में यदि एक ही

जगह से टूट कर नहीं गिरता। (८४) आकाश आकाश ही तो बना रहता है और समुद्र में जो दिखाई देता है सो मिथ्या है वैसे ही [illegible] में आत्मा को देखते हैं। (८५) प्रवाह में दिखाई देनेवाली [illegible] का कारण प्रवाह ही है। इस दृष्टि से देखिए तो जैसे यह निश्चय [illegible] कि चन्द्रिका चन्द्रमा में ही निश्चल है (८६) अथवा गड्ढा ही [illegible] या सूखता है पर जैसे सूर्य जैसा का तैसा बना रहता है, वैसे ही [illegible] जन देह की उत्पत्ति और मृत्यु होती देखकर भी मुझको अविच्छिन्न [illegible] हैं। (८७) घट या मठ की घटना होती है, और पश्चात् [illegible] जाता है, परन्तु आकाश वैसा ही भरा हुआ बना है, (८८) वैसे ही वे निश्चय से जानते हैं कि आत्मसत्ता अखण्ड बनी है और [illegible] अज्ञान-दृष्टि की कल्पना से ही शरीर का जन्म और उसकी मृत्यु [illegible] है। (८९) शुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा वे जानते हैं कि परमात्मा न [illegible] है न बढ़ता है, और न वह कोई चेष्टा कराता है न करता है। (९०) परन्तु चाहे ज्ञान भी प्राप्त हो, बुद्धि परमाणु की भी खोज से [illegible] सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्य हाथ आ जाय (९१) परन्तु यह [illegible] अनुरूप यदि अन्तःकरण में वैराग्य का प्रवेश न हुआ हो तो [illegible] सर्वात्मा से भेंट नहीं हो सकती। (९२) मुख में विवेक भरा हो [illegible] अन्तःकरण में विषयों की बस्ती हो तो हे धनुर्धर! वह सत्य [illegible] उस मनुष्य को मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। (९३) स्वप्न में [illegible] के मन्त्रों से क्या संसार का दुःखभाव मिट सकता है? [illegible] करने से ही क्या पोथी पढ़ने का कार्य हो सकता है? (९४) [illegible] बाँध कर मोती नाक से लगाये जायँ तो उनका मोल-भाव कैसे [illegible] हो सकेगा? (९५) वैसे ही, चित्त में अहङ्कार बसता हो, [illegible] सम्पूर्ण शास्त्रों का मौखिक अभ्यास हो तो ऐसे कोटि जन्म हो [illegible] तथापि मेरी प्राप्ति न होगी। (९६) मैं जो एक हूँ और सम्पूर्ण [illegible] में व्यापक हूँ उस व्याप्ति का अब निरूपण करता हूँ, सुनो। (९७)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जिससे सूर्यसहित सम्पूर्ण विश्वरचना प्रकट होती है वह [illegible] आदि से अन्त तक मेरा समझना चाहिए। (९८) सूर्य [illegible] शोषण कर अस्त हो जाता है तदनन्तर जो फिर से आर्द्रता [illegible]

है वह हे पाण्डुसुत! चन्द्र में रहनेहारी मेरी ही कान्ति है। (६६) और जो निरन्तर दहन या पचन-क्रिया करती है वह अग्नि में रहनेहारी दीप्ति भी मेरी ही है। (४००)

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

भूतल में मैंने ही प्रवेश किया है। इसी से समुद्र के महाजल में भी यह पृथ्वीरूपी रज:कणों का ढेला नहीं गलता (१) और पृथ्वी जो अपार चराचर भूतमात्र को धारण करती है सो मैं ही उसमें प्रवेश कर धारण करता हूँ। (२) गगन में भी हे पाण्डुसुत! मैं चन्द्रमा के रूप से एक चलता हुआ अमृत का सरोवर ही भरा हुआ हूँ। (३) उसमें से जो किरणें निकलती हैं उनसे मैं ही अनन्त रस-प्रवाहों के द्वारा सम्पूर्ण ओषधियों का कोश भरता हूँ। (४) इस प्रकार मैं सकल धान इत्यादि धान्यमात्र का सुकाल करता हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियों को अन्नद्वारा जीवन देता हूँ। (५) अन्न पकाया जाता है परन्तु जिससे उसे पचाकर जीव समाधान का भोग ले वह दीपन योंही कैसे हो सकता है? (६)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

इसलिए सकल प्राणियों के शरीर में नाभिस्थान की जगह अँगीठी बना कर उसकी जठराग्नि भी हे किरीटी! मैं ही बनता हूँ। (७) तथा पेट में प्राण और अपान वायु की जुड़ी हुई धौंकनी से रात-दिन धौंक धौंक कर न जाने कितना अन्न पचाता हूँ। (८) शुष्क हो या स्निग्ध हो, अच्छा पका हुआ हो या भूँजा हुआ हो, सब—चारों प्रकार का—अन्न मैं ही पचाता हूँ। (९) भाव यह है कि मैं ही सम्पूर्ण प्राणीगण हूँ, उनका निर्वाह करनेहारा जीवन भी मैं ही हूँ, और जीवन का मुख्य साधन जो अग्नि है वह भी मैं ही हूँ। (४१०) अब इससे अधिक मैं अपनी व्यापकता की अपूर्वता और क्या वर्णन करूँ? संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है। सर्वत्र मुझे ही देख लो। (११) तो फिर कोई प्राणी सदा सुखी और कोई अत्यन्त दुःख से आक्रान्त दिखाई देते हैं सो कि[illegible] के कारण? (१२) नगर भर में यदि एक ही

दीपक से सब दीपक जलाये गये हों तो फिर उनमें कोई अप्रकाशित क्यों रह जायें ? (१३) ऐसा यदि तुम मन में तर्क-वितर्क करते हो तो उस शङ्का का भी हम निवारण करते हैं, सुनो। (१४) यह बात वस्तुतः मिथ्या नहीं है कि सर्वत्र मैं ही हूँ। परन्तु मैं प्राणियों को उनकी बुद्धि के अनुसार प्रकट होता हूँ। (१५) जैसे आकाश का गुण जो ध्वनि है सो एक ही है, परन्तु यह जुदे जुदे बाजों में भिन्न भिन्न नादरूप हो बजती है, (१६) अथवा सूर्य एक ही है परन्तु जुदे जुदे लोक-व्यवहारों के कारण उसका भिन्न-भिन्न उपयोग होता है, (१७) अथवा जल बीजधर्म के अनुरूप वृक्षों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मेरा स्वरूप भी सम्पूर्ण जीवों में परिणत हुआ है। (१८) स्वामी ! जैसे अज्ञानियों और चतुरों के सम्मुख रखा हुआ सुन्दर हार अज्ञानियों को सर्प प्रतीत होता पर ज्ञानियों को सुख का हेतु होता है, (१९) और रहने दो, जैसे स्वाती का जल सीप में मोती और सर्प में विष उत्पन्न करता है वैसे ही ज्ञानियों को मैं सुखरूप हूँ और अज्ञानियों को दुःखरूप। (५२०)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

अन्यथा सब प्राणियों के अन्तःकरण में 'मैं अमुक हूँ' जो एक बुद्धि रात-दिन स्फुरती है सो मैं हूँ। (२१) परन्तु सत्समागम करते करते योग और ज्ञान का अभ्यास करते करते, वैराग्य-सहित गुरु-चरणों की उपासना करते करते (२२) उन सत्कर्मों के द्वारा जिनके अशेष अज्ञान का नाश हो जाता है और जिनकी बुद्धि आत्म स्वरूप में विश्राम पाती है (२३) वे स्वयं अपना स्वरूप देखकर उस दर्शन से शुद्ध आत्मरूप से सर्वदा सुखी होते हैं। उस सुख का कारण मेरे अतिरिक्त क्या कोई दूसरी वस्तु है ? (२४) हे धन-ञ्जय ! सूर्योदय होने पर जैसे सूर्य के प्रकाश से ही सूर्य को देखते हैं, वैसे ही मुझे जानने के लिए मैं ही कारण होता हूँ (२५) परन्तु केवल शरीराभिमानियों की सेवा करते हुए और संसार की प्रतिष्ठा

मुझसे हुए ही जिनकी अहंता शरीर में ही डूब रही है, (२६) वे स्वर्ग और संसार की प्राप्ति के लिए कर्म-मार्ग में दौड़ते हुए दुःख के चुने हुए भाग के ही विभागी होते हैं। (२७) तथापि यह प्राप्ति भी हे फाल्गुन! उन अज्ञानियों को मेरे ही कारण होती है। जैसे निद्रा के लिए भी जागृति ही कारण होती है, (२८) अथवा अभ्र से सूर्य छिप जाता है सो भी जैसे सूर्य के ही कारण जाना जाता है, वैसे ही प्राणी जो मुझे न जानते विषयों का सेवन करते हैं सो भी मेरे ही कारण। (२९) हे धनञ्जय! तात्पर्य यह कि, निद्रा या जागृति का हेतु जैसे प्रबोध ही है, वैसे ही जीवों के ज्ञान या अज्ञान का मूल मैं ही हूँ। (४३०) जैसे सर्प या रस्सी का अधिष्ठान रस्सी ही है, वैसे ही संसार के ज्ञान या अज्ञान की सिद्धि मेरे ही कारण है। (३१) मैं जैसा हूँ वैसा मुझे न पहचान कर वेद ने मुझे जानने की चेष्टा की उससे उसके विभाग हो गये। (३२) तथापि पूर्व तथा पश्चिम को बहती हुई नदियों की अन्तिम सीमा जैसे समुद्र ही है, वैसे ही उन शाखाभेदों से निःसन्देह मैं ही जाना जाता हूँ। (३३) और जैसे आकाश में वायु की सुगन्धयुक्त लहरों की खोज नहीं मिलती, वैसे ही महासिद्धान्त के पास पहुँचते ही शब्द-सहित श्रुति का भी लोप हो जाता है, (३४) तथा जहाँ सम्पूर्ण श्रुति-समूह लज्जित हो रहे ऐसा जो एकान्त-स्वरूप है उसे मैं ही यथावत् प्रकाशित करता हूँ। (३५) तदनन्तर श्रुति-सहित सम्पूर्ण जगत् जहाँ निःशेष विलीन हो जाता है उस शुद्ध आत्मज्ञान का जाननेहारा भी मैं ही हूँ। निद्रा से जब (३६) चेत आता है तब जैसे स्वप्न में दिखाई देनेवाला द्वैत निःसन्देह नहीं रहता तथापि अपना एकता भी निज को ही प्रतीत होती है (३७) वैसे ही मैं भी द्वैत के न रहने के कारण, अपनी अद्वितीयता जानता हूँ और उस बोध का कारण जाननेहारा भी मैं ही हूँ। (३८) तथा हे वीर! कपूर जले तो न काजल होता है न अग्नि ही अवशेष बचती है (३९) वैसे ही जो अविद्या का समूल नाश करता है वह ज्ञान भी जब नष्ट हो जाता है, तब वास्तव में न तो अभाव रहता है और न भाव ही कहा जा सकता है। (४४०) जो विश्व का नाम-निशान तक मिटा ले जाय उस चोर को कौन कहाँ खोज सकता है? तात्पर्य यह कि ऐसी जो कोई एक स्थिति होती है वह निर्मल स्वरूप मैं हूँ। (४१) इस प्रकार कैवल्यपति श्रीकृष्ण ने जड़ और अजड़ की व्याप्ति का

निरूपण करते हुए अपने उपाधिरहित स्वरूप में ही अन्तिम विश्राम किया। (४२) यह सम्पूर्ण ज्ञान अर्जुन के हृत्पट पर इस प्रकार चित्रित हो गया जैसे आकाश में उदित हुआ चन्द्रमा क्षीरसागर में प्रतिबिम्बित हुआ हो। (४३) अथवा जैसे किसी निर्मल दीवार पर सामने की भीत पर लिखा हुआ चित्र प्रतिबिम्बित दिखाई दे वैसी ही स्थिति अर्जुन और श्रीकृष्ण के बीच ज्ञान की हुई। (४४) वस्तुस्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ है, ज्यों ज्यों उसकी प्राप्ति होती है त्यों त्यों उसका माधुर्य बढ़ता जाता है। अतएव, अनुभवियों के राजा अर्जुन ने कहा— (४५) हे देव! अपनी व्यापकता का निरूपण करते हुए आपने प्रसङ्गवशात् जिस निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन किया (४६) वह एक बार मुझे पूर्ण समझा दीजिए। इस पर श्रीद्वारकानाथ ने कहा बहुत अच्छा। (४७) वास्तव में हे अर्जुन! हमें भी सप्रेम और अखण्ड बोलने की इच्छा रहती है, परन्तु क्या किया जाय, ऐसा प्रश्न करनेहारा ही नहीं मिलता। (४८) आज मानों हमारे मनोरथ सफल हुए जो तुम एक मिल गये क्योंकि केवल एक तुमने ही मुँह खोल के प्रश्न किया है। (४९) जिसका उपभोग अद्वैत से भी बढ़ कर है उस अनुभव का सूचक प्रश्न पूछ कर तुमने हमें निजी सुख प्राप्त कर दिया है। (१५०) जैसे दर्पण समीप आ जाय तो मनुष्य को अपने नेत्र आप ही दिखाई देते हैं, वैसे ही हे निर्मल संवादियों के शिरोमणि! तुम हमें दर्पणरूप जान पड़ते हो। (५१) हे बन्धु! तुम्हारा हमारा सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि ज्ञान न होने के कारण तुम प्रश्न करो और फिर हम तुम्हें निरूपण सुनाने बैठें। (५२) ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गले से लगा लिया और कृपादृष्टि से उसकी ओर देखा और फिर कहा (५३) कि वास्तव में दोनों ओठों से जैसे एक ही शब्द निकलता है, दोनों चरणों से एक ही गति उत्पन्न होती है, वैसे ही तुम्हारा प्रश्न और हमारा निरूपण है। (५४) तात्पर्य यह कि संसार में तुम्हें और हमें एक ही समझना चाहिए। यहाँ प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों एक ही हैं। (५५) ऐसा कह प्रेम में भूले हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को आलिङ्गन दिए हुए हो रहे। परन्तु फिर शङ्कित हो बोले कि इतना प्रेम योग्य नहीं है। (५६) ईख के रस की भेली बनाते समय जैसे उसमें खार-

जा सकता अलगना पड़ता है* वैसे ही जो यह रसीला संवाद-सुख चल रहा है उसमें यदि द्वैत न हो तो वह बिगड़ जावेगा। (४७) अर्जुन और हम नर-नारायण हैं, अतएव हममें पहले से ही कुछ भेद नहीं है। परन्तु अब यह प्रेम का वेग जहाँ का तहाँ शान्त करना चाहिए। (४८) यह सोच कर तत्काल श्रीकृष्ण ने कहा कि हे वीरेश! तुमने क्या प्रश्न किया? (४९) इधर अर्जुन उस समय श्रीकृष्णस्वरूप में घुस रहा था। उसे प्रश्न की वार्ता सुन फिर से देह स्थिति की स्मृति हुई। (४१०) तब अर्जुन ने गद्गद वाणी से कहा महाराज! आपने निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन कीजिए (४११) यह सुन कर वे शार्ङ्गी उस स्वरूप का प्रकटीकरण करने के पहले रूप से उपाधि का दो प्रकार से निरूपण करते हैं। (४१२) यदि किसी को यह आशङ्का हुई हो कि प्रश्न निरुपाधिक स्वरूप के विषय में है फिर उपाधि का वर्णन क्या किया जाता है (४१३) तो जैसे मट्ठे के अंश के अलगाने को ही माखन निकालना कहते हैं, उत्तम सोना शुद्ध करने के हेतु जैसे निकृष्ट सोना अलग किया जाता है, (४१४) जैसे सेवार ही हाथ से हटाना पड़ता है अन्यथा पानी जैसे का तैसा भरा ही रहता है, जैसे अभ्र ही निकल जाना चाहिए फिर आकाश तो वैसे ही सिद्ध है, (४१५) जैसे ऊपरी भूसा को मांडकर अलग करते ही धान के कण हाथ लगने में देर नहीं लगती (४१६) वैसे ही जहाँ विचार के द्वारा उपाधि और उपाहित वस्तुओं का अन्त हुआ वहाँ निरुपाधिक वस्तु ही बच रहती है इसमें पूछना ही क्या है। (४१७) और जैसे नाम न लेकर ही कुल-स्त्री अपने पति का निर्देश करती है, वैसे ही शब्द के स्तब्ध होने से ही उस अवर्णनीय वस्तु का निर्देश होता है (४१८) तात्पर्य यह कि वह स्वरूप अवर्णनीय है। उसका वर्णन उपर्युक्त रीति से ही हो सकता है। इसलिए प्रथम उपाधिभञ्जन कहना चाहिए। (४१९) पड़वा (प्रतिपदा) की चन्द्ररेखा स्पष्टतः दिखाने के लिए जैसे प्रथम शाखा दिखाई जाती है वैसा ही यह उपाधि का वर्णन है। (४२०)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

फिर श्रीकृष्ण ने कहा हे सव्यसाची! इस संसाररूपी नगर की

* यह दृष्टान्त की रीति है।

बस्ती छोटी थी अर्थात् केवल दो पुरुषों की है। (७१) सम्पूर्ण आकाश में जैसे रात और दिन यही दोनों वस्तुएँ रहती हैं वैसे ही इस संसार रूपी राजधानी में यही दो पुरुष हैं। (७२) तीसरा पुरुष एक और है, परन्तु उसे इन दोनों का नाम भी नहीं भाता। अपना रूप होते ही वह इन दोनों का इस नगर समेत नाश कर डालता है। (७३) परन्तु इस समय उसकी वार्ता रहने दो। पहले इन दोनों की कथा सुनो जो इस संसार नगर में बसने के उद्देश से आये हैं। (७४) इनमें से एक अन्धा है, भ्रमयुक्त है, और पंगु है, दूसरा पूर्णांग और भला चंगा है। इन दोनों का समागम ग्राम-गुण के कारण हुआ है। (७५) एक का नाम क्षर है और दूसरे को अक्षर कहते हैं। इन दोनों से ही सब संसार भरा है। (७६) अब हम इस अभिप्राय का पूर्ण विवेचन करते हैं कि यह क्षर कौन है और अक्षर के क्या लक्षण हैं। (७७) हे धनुर्धर! महत्तत्त्वाहंकार से लेकर तृणाग्र तक (७८) जो कुछ छोटी या बड़ी, जङ्गम या स्थावर वस्तु है, अधिक क्या कहें जो कुछ भी मन या बुद्धि से गोचर है, (७९) जिसकी रचना पञ्चमहाभूतों से होती है, जो नाम और रूप के हाथ आती है, जो तीन गुणों की टकसाल में ढाली जाती है, (८०) जिस सुवर्ण से भूताकृति-रूप सिक्के बनाये जाते हैं, जिन कौड़ियों से काल जुआ खेलता है, (८१) जो वस्तु विपरीत ज्ञान से ही जानी जाती है, जो प्रतिक्षण उत्पन्न होती और विलीन होती जाती है (८२) जिस भ्रान्तिरूपी वन की लकड़ी से सृष्टि के स्वरूप की रचना होती है, बहुत क्या कहें, जिस वस्तु का नाम जगत् है, (८३) जो हमने प्रकृति नाम से आठ प्रकार की अलग वर्णन की थी तथा जिसे क्षेत्र नाम से उसके छत्तीस भाग किये थे, (८४) पिछली बात कहाँ तक कहें, अभी इसी अध्याय में हमने रूपक के द्वारा जिसका वृक्षाकार रूप किया था (८५) वह सम्पूर्ण साकार वस्तु को अपने रहने का स्थान समझ कर चैतन्य तदनुसार ही हो गया है। (८६) जैसे सिंह कुएँ में प्रतिबिम्बित हो और अपना प्रतिबिम्ब देखकर क्रोधयुक्त हो और उस क्रोध के आवेश में कुएँ में कूद पड़े (८७) अथवा आकाश जैसे जल में भी बना है तथापि उसमें ऊपरी आकाश प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही अद्वैत रहते हुए भी चैतन्य द्वैत का आश्रय करता है। (८८) इस प्रकार हे अर्जुन! आत्मा साकार-नगर को बस्ती कर उसमें

विस्मृतिरूपी निद्रा होता है। (८९) परन्तु इस नगर में आत्मा का शयन ऐसा समझो जैसे कोई स्वप्न में शय्या देखे और उस पर निद्रा ले। (४९०) उस निद्रा के वेग में आत्मा मानों मैं सुखी या दुःखी कहता हुआ घर्राटे मार रहा है, तथा अहंता या ममता द्योतक शब्दों से बर्रा रहा है। (९१) यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मैं गोरा अङ्गहीन या सम्पूर्णाङ्ग हूँ, यह पुत्र, धन या कान्ता मेरी ही है न ? (९२) इत्यादि स्वप्न का आश्रय कर जो संसार और स्वर्गरूपी वन में इधर-उधर दौड़ रहा है उस चैतन्य का नाम हे अर्जुन। क्षर पुरुष है। (९३) और सुनो ! जो क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारा जाता है, अथवा जो इस जगत् में जीव कहाती है, (९४) जो अपनी विस्मृति के कारण सब में अनुगत हुआ है उस आत्मा का निर्देश क्षर पुरुष नाम से किया जाता है। (९५) वह वस्तुतः पूर्ण है इसी लिए उसे पुरुष कहते हैं तथा वह देहरूपी पुर में सोया हुआ है इसलिए भी उसका नाम पुरुष पड़ा है। (९६) और उसको क्षरता का मिथ्या आल इस कारण लगाया गया है कि वह उपाधिरूप ही बन गया है। (९७) जैसे हिलते हुए नाले के जल के संग उसमें प्रतिबिम्बित हुई चन्द्रिका भी आरोपित हुई दिखाई देती है वैसे ही आत्मा भी उपाधि के विकारों जैसा दिखाई देता है (९८) तथा नाला जैसे सूख जाता है और साथ ही चन्द्रिका का भी लोप हो जाता है वैसे ही उपाधि का नाश होते ही औपाधिक आत्मा भी नहीं दिखाई देता। (९९) इस प्रकार उपाधि के कारण उसे क्षणिकता प्राप्त होती है और उस विनाशत्व के कारण उसे क्षर नाम प्राप्त हुआ है। (५००) अतः इस सब जीवचैतन्य को क्षर पुरुष समझो। अब हम अक्षर का निरूपण करते हैं। (१) हे धनुर्धर ! अक्षर नामक जो दूसरा पुरुष है वह पर्वतों में मेरु के समान मध्यस्थ है (२) क्योंकि जैसे मेरु पृथ्वी, पाताल या स्वर्ग इन तीनों लोकों से भिन्न भिन्न नहीं होता वैसे ही वह पुरुष ज्ञान या अज्ञान से भिन्न नहीं होता। (३) अथवा न यथार्थ ज्ञान से एकरूप होना और न अनेकता के द्वारा द्वैत-रूप होना ऐसा जो नितान्त अज्ञान है वही अक्षर का रूप है। (४) जिसका रजःकणत्व सम्पूर्ण नष्ट हो गया है परन्तु जिसके घट आदि बासन नहीं बनाये गये हैं उस मिट्टी के पिण्ड के समान जो मध्यस्थ है, (५) जैसे सरोवर सूख जाने पर उसमें न लहरें रहती हैं न पानी वैसे ही जिसकी

आकार-रहित स्थिति रहती है, (६) हे पार्थ! जैसे जागृति का नाश हो चुके और स्वप्न की कुछ भी घटना न हो ऐसी निद्रा के समान जिसका स्वरूप है, (७) सम्पूर्ण विश्व विलीन हो जाय और आत्म-बोध प्रतीत न हो ऐसी जो स्थिति है, उस केवल अज्ञान-दशा का नाम अक्षर है। (८) अमावास्याके दिन जैसे सब कलाओं से परित्यक्त चन्द्रमा का केवल चन्द्रत्व ही रह जाता है वैसा ही स्वरूप अक्षर का समझो। (९) सब उपाधियों का नाश होने पर यह जीव-दशा जहाँ प्रवेश करती है, फल-रूप से परिपक्व होने पर वृक्ष जैसे बीज में ही स्थिर हो रहता है। (५१०) वैसे ही उपाधिगत चैतन्य उपाधि-सहित जहाँ लय रहता है उसे अव्यक्त कहते हैं। (११) घोर अज्ञान-रूप जो सुषुप्ति है सो बीज-भाव कहाता है, और स्वप्न या जागृत फल-भाव कहलाता है। (१२) पर वेदान्त में जो बीजभाव नामक रूप कहा है वह इस अक्षर पुरुष का स्थान है। (१३) जहाँ से विपरीत ज्ञान का विकास हो जागृति स्वप्न तथा बुद्धि का व्यापार बन प्रकट होता है, (१४) हे किरीटी! जहाँ से जीवत्व संसार को उत्पन्न करता हुआ स्वयं उत्पन्न होता है, वही उन दोनों के भेद का उपस्थान अक्षर पुरुष है। (१५) दूसरा जो संसार में 'क्षर' पुरुष प्रसिद्ध है, जो जागृति या स्वप्न में शरीर में क्रीड़ा करता है, वह अवस्था जहाँ से उत्पन्न होती है, (१६) जो अज्ञान, घोर सुषुप्ति इत्यादि नामों से विख्यात है, तथा इसी एक बात के अतिरिक्त जो केवल ब्रह्म-प्राप्ति ही है, (१७) जिसके अनन्तर हे वीर! स्वप्न या जागृति न आती तो जिसे सचमुच में ब्रह्मभाव ही कह सकते थे, (१८) जिस आधारा-स्थिति से प्रकृति और पुरुष दोनों उत्पन्न होते हैं जिस अवस्था में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूपी स्वप्न दिखाई देता है, (१९) और सब रहने दो, जो इस अधःशाखी संसाररूपी वृक्ष का मूल है वही अक्षर पुरुष का स्वरूप है। (५२०) इसे पुरुष क्यों कहते हैं? यह पुर सोया हुआ रहता है इसलिए, तथा यह माया-रूपी पुर में सोया हुआ रहता है इस कारण भी। (२१) और विकारों का आवागमन जो अन्यथा ज्ञानका स्वरूप है उसका जिसमें भान नहीं होता वह सुषुप्ति इसी पुरुष का रूप है। (२२) अतः इसका विनाश आपही आप नहीं हो सकता तथा ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से भी इसका अन्त नहीं होता। (२३) अतएव, संसार में

वेदान्त का यह सिद्धान्त, कि यह पुरुष अक्षर है, प्रसिद्ध है। (२४) तात्पर्य यह कि जो जीवरूपी कार्य का कारण है और माया-सहित ही जिसका स्वरूप है उस चैतन्य को अक्षर पुरुष ही जानो। (२५)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

जब संसार में जागृति और स्वप्न जो दो अवस्थाएँ हैं वे अन्यथा ज्ञान के द्वारा जिस घोर अज्ञान तत्त्व में विलीन हो जाती हैं (२६) उस अज्ञान का जब ज्ञान में क्षय होता है, और ज्ञान ही सन्मुख रहता है, तब जैसे अग्नि काष्ठ को जला कर स्वयं भी बुझती है, (२७) वैसे ही ज्ञान अज्ञान का नाश कर आप भी ब्रह्मस्वरूप का परिचय दे जाता है और तदनन्तर ज्ञातृत्व से विहीन जो जाननेहारा बच रहता है (२८) वह उत्तम पुरुष है, जो मानों तीसरा या अन्तिम पुरुष है तथा जो पूर्वोक्त दोनों पुरुषों से अलग है। (२६) हे अर्जुन! जैसे सुषुप्ति और स्वप्न से जागृतावस्था नितान्त भिन्न बोध का परिचय देनेवाली रहती है, (४६०) अथवा जैसे सूर्य-किरण और मृगजल से सूर्यमण्डल अत्यन्त भिन्न होता है, वैसे ही यह उत्तम पुरुष भिन्न है। (११) अथवा काष्ठ में रहनेहारी अग्नि जैसी काष्ठ से भिन्न रहती है वैसे ही यह उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर से भिन्न है। (१२) कल्पान्त के समय जैसे सर्वत्र एक ही समुद्र पूर्ण हो अपनी सीमा का उल्लंघन कर नद-नदियों का एकाकार कर चलता है, (१३) प्रलय के तेज से जैसे दिन और रात का अन्त हो जाता है वैसे ही उस उत्तम पुरुष के समीप न स्वप्न की, न सुषुप्ति की और न जागृति की वार्ता रहती है। (१४) तथा जहाँ न एकत्व है, न द्वैत है, अथवा जहाँ यह भी जान नहीं पड़ता कि कुछ है या नहीं, (१५) ऐसी जो कोई एक स्थिति है उस स्थिति को उत्तम पुरुष जानो। वह परमात्मा नाम से विख्यात है। (१६) यह बयान भी हे पाण्डुसुत! उस पद से एक न होने के कारण जीवत्व का अभिमान करने से ही किया जाता है। जैसे डूबते हुए मनुष्य का बयान कोई तटस्थ करे (१७) वैसे ही हे किरीटी! वेद भी विवेक के किनारे खड़े हो परतीरस्थ परमात्मा का बयान करते हैं। (१८) क्षर और अक्षर दोनों पुरुष इसी पार हैं, ऐसा देख कर ही उत्तम पुरुष को परतीरस्थ आत्मा कहते हैं। (१६) है।

अर्जुन! इस प्रकार परमात्मा शब्द से पुरुषोत्तम की सूचना होती है। (५४०) अन्यथा मौन ही जिसका शब्द है, सम्पूर्ण वस्तु-मात्र का ज्ञान न होना जिसका ज्ञान है किसी वस्तु के स्वरूप का न होना जिसका अस्तित्व है, ऐसी जो वस्तु है, (४१) सोऽहंभाव का भी जहाँ अस्त हो जाता है, वक्ता ही जहाँ वक्तव्य रूप हो जाता है, जहाँ दृश्य—द्रष्टा-सहित —विलीन हो जाता है (४२) परन्तु जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच रहनेहारी प्रभा हाथ नहीं लगती तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है (४३) अथवा नाक और फूल के बीच रहनेवाली सुगन्ध दिखाई नहीं देती तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व नहीं है, (४४) वैसे ही द्रष्टा और दृश्य दोनों के विलीन हो जाने पर क्या रह जाता है सो कौन कह सकता है? परन्तु ऐसी जो स्थिति है उसकी प्रतीति ही उस पुरुषोत्तम का रूप है। (४५) जो प्रकाश्य वस्तु के बिना ही प्रकाशता है, जो शासितव्य वस्तु के बिना ही शासन करता है, जो निज से ही सब आकाश को बसाता है, (४६) जो स्वयं नाद के सुनने योग्य नाद है, स्वाद के चखने योग्य स्वाद तथा आनन्द के ही भोगने योग्य आनन्द है, (४७) जो पूर्णता का परिणाम है, जो सब पुरुषों में श्रेष्ठ है जहाँ विश्रान्ति का भी विश्राम समाया हुआ है, (४८) जो सुख को प्राप्त हुआ सुख है, जो तेज को उपलब्ध हुआ तेज है, जिस महाशून्य में शून्य भी विलीन हो गया है, (४९) जो स्वयं विकसित होने पर भी शेष रहता है, जो संहार का भी संहार कर बच रहता है, जो बड़ी से बड़ी वस्तु से भी अनेकशः बड़ा है, (५५०) जैसे सीप चाँदी न होकर भी अज्ञानी को चाँदीरूप से प्रतीत होती है, (५१) अथवा सुवर्ण जैसे स्वयं गुप्त न रहकर अनेक अलङ्कार-रूपों में छिपा हुआ रहता है, वैसे ही जो वास्तव में विश्व न होता हुआ विश्व को धारण किये है, (५२) यह रहने दो, जल और तरङ्ग में जैसे भिन्नता नहीं है वैसे ही जो आप ही जगत् की सत्ता और प्रकाशरूप है, (५३) हे वीरेश! जल में दिखाई देनेहारे चन्द्र का कारण जैसे वह पूर्णचन्द्र है, वैसे ही जो आप ही अपने उदय और अस्त का कारण होता है, (५४) तथा जो विश्व के प्रकट होने से न उत्पन्न होता या उसके क्षय से न नहीं जाता, जैसे रात और दिन भिन्न होने से सूर्य छिपा नहीं होता (५५) वैसे ही जिसका कभी भी या किसी कारण

से भी कुछ भी भय नहीं होता, जिसकी सूचना स्वयं उसी से हो सकती है, (५६)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम ॥१८॥

—हे धनञ्जय ! जो आप ही निज को प्रकाशित करता है, बहुत क्या कहूँ, जिसे द्वैत नहीं है, (५७) ऐसा उपाधिरहित पुरुष एक मैं हूँ, जो क्षर और अक्षर पुरुषों से उत्तम हूँ। अतएव वेद और शास्त्र मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं। (५८)

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

परन्तु यह रहने दो। हे धनञ्जय ! ज्ञानरूपीसूर्य के प्रकाश से जो मुझ पुरुषोत्तम को पहचान लेता है (५९) उसके लिए यह दिखाई देता हुआ त्रिभुवन उसी प्रकार वृथा हो जाता है जिस प्रकार जागृत होने पर निज का ज्ञान होता है और स्वप्न मिट जाता है, (५१) अथवा हार हाथ में लेते ही जैसे सर्पाभास का भय मिट जाता है वैसे ही मेरा ज्ञान होने पर वह व्यक्ति मिथ्या ज्ञान के वश नहीं होता। (६१) जो जानता है कि अलङ्कार सुवर्ण ही है वह अलङ्कारता को मिथ्या समझता है। वैसे ही जिसने मुझे जान कर भेद का त्याग कर दिया है, (६२) और जो समझता है कि सर्वत्र सच्चिदानन्द स्वरूप से एक मैं ही स्वयंसिद्ध हूँ, तथा जो मुझे निज से अभिन्न जानता है (६३) उसी ने सब कुछ जाना है—यह बात कहना भी उसके विषय के न्यून ही है क्योंकि उसके लिए तो द्वैत का नाम निशान भी नहीं बच रहता। (६४) अतः हे अर्जुन ! मेरे भजन के लिए वही योग्य है। जैसे गगन का आलिङ्गन करने के लिए गगन ही योग्य है, (६५) जैसे क्षीरसागर की पहुनई क्षीरसमुद्र बन कर ही हो सकती है, अथवा जैसे अमृतरूप होकर ही अमृत में मिलना हो सकता है, (६६) जैसे उत्तम सोने में मिलाने के लिए उत्तम सोना ही चाहिए, वैसे ही मेरी भक्ति की सम्भावना मद्रूप होकर ही हो सकती है। (६७) अजी ! गङ्गा समुद्र से भिन्न होती तो समुद्र में कैसे मिल जाती ? वैसे ही मद्रूप न होते हुए मेरी भक्ति करना केवल एक सम्बन्ध जोड़ना है। (६८) सारांश

तरङ्ग जैसे सब प्रकार से समुद्र से अनन्य रहता है वैसे जो मुझे भजता है (६९) उसका भजन मैं—सूर्य और प्रभा की जिस प्रेम के कारण पड़ता है—उसी योग्यता का समझता हूँ। (५७०)

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इस प्रकार इस अध्याय के आरम्भ से यहाँ तक किया हुआ निरूपण सब शास्त्रों की एकवाक्यता से प्राप्त है, तथा कमलवत् सरीखे उपनिषदों की सुगन्ध है। (७१) यह हमने मीमांसा की प्रज्ञा से शब्दब्रह्म का मन्थन कर बना-बनाया सारभूत माखन निकाला है। (७२) यह गीता ज्ञानामृत से भरी हुई गङ्गा है, विवेकरूपी क्षीरसमुद्र की नवनवनी है (७३) अतएव यह अपने पदों से, वर्णों से, अर्थ से, जीव से, प्राणों से मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु होना जानती ही नहीं। (७४) उसके सन्मुख आते ही क्षर और अक्षर पुरुषों का पुरुषत्व नष्ट हो गया है, और फिर उसने अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तम को समर्पित कर दिया है। (७५) इसलिए यह गीता जो तुमने अभी हाल ही सुनी है सो मुझ आत्मा के कारण ही जगत् में पतिव्रता कहलाती है। (७६) असल में यह शास्त्र शब्दों से कहने योग्य नहीं है। यह संसार का पराभव करनेहारा शास्त्र है। इसके अक्षर आत्मा का प्रकटीकरण करनेहारे मन्त्र हैं। (७७) हे अर्जुन! हमने जो तुम्हें यह गीता कह बताई सो मानों तुमने हमारा गुप्त धन प्रकट किया। (७८) हे पार्थ! चैतन्य-शङ्कररूपी मेरे मस्तक में गङ्गारूपी जल रक्खा था उसके लिए आज तुम महानिधि गौतम बन गये। (७९) हे धनञ्जय! अपनी स्वच्छता के द्वारा जो सम्मुख खड़े रहनेहारे को उसका निजस्वरूप दिखाई देता है उस दर्पण का ही काम आज तुमने हमारे संग किया है (५८०) अथवा जैसे समुद्र चन्द्रमा और तारागणों से भरे हुए आकाश को निज में समा लेता है वैसे ही तुमने गीता-सहित मुझे अन्तःकरण में रख लिया है। (८१) हे सुभट! त्रिविध पापों ने तुम्हें छोड़ दिया है; अतः तुम गीता-सहित मेरे वसतिस्थान बन गये हो। (८२) परन्तु इसमें कहना ही क्या है? क्योंकि गीता मेरी ज्ञान-लता है। इसे जो जानता है वह सम्पूर्ण अज्ञान से मुक्त हो जाता है। (८३) हे पाण्डुसुत! सेवन करने से यह अमृत की नदी रोग का

नाश कर योग्य जनों को अमृतत्व समर्पण करती है। (८४) यह गीता ऐसी है। इसे जानते ही मोह का नाश हो जाने में क्या आश्चर्य है? इसके सहाय से तो आत्मज्ञान—जिस आत्मज्ञान से कर्म अपने आयुष्य का अन्त कर विलीन हो जाता है—के द्वारा आत्मस्वरूप में मिल जाते हैं। (८५-८६) हे वीरविलास अर्जुन! खोई हुई वस्तु को प्रकट कर खोज जैसे स्वयं मिट जाती है वैसे ही कर्मरूपी मन्दिर पर ज्ञान भी कलश हो पड़ता है। (८७) इससे ज्ञानी मनुष्य के कर्म की क्रिया समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अनाथों के सखा श्रीकृष्ण ने कथन किया। (८८) श्रीकृष्ण के श्रीमुख का अमृत पार्थ के हृदय में न समा कर उमड़ रहा था, अतः वह श्रीव्यास की कृपा से सञ्जय को भी प्राप्त हो गया। (८९) वही अमृत सञ्जय धृतराष्ट्र को पिला रहा था। इसी लिए उसे प्राणान्त का समय कष्टप्रद नहीं हुआ। (५९०) यों तो गीता श्रवण के समय वह अनधिकारी मालूम होता था परन्तु अन्त में उसे वही उत्तम गति मिली जो अधिकारियों को मिलती है। (९१) अंगूर की बेल को दूध देते समय वह वृथा गया-सा जान पड़ता है परन्तु फल पकने पर जैसे वह दुगुना हुआ दिखाई देता है (९२) वैसे ही श्रीहरि के मुख के वचन सञ्जय ने सप्रेम कहे तो उनसे उस अन्धे धृत-राष्ट्र को भी यथाकाल आनन्द हुआ (९३) वही कथा जैसी कुछ, अपने स्थूल ज्ञान के कारण मेरी समझ में आई या न आई वैसी मैंने भाषा के शब्दों में निरूपित की। (९४) सेवती का स्वरूप देखकर आलसियों को कुछ विशेषता नहीं जान पड़ती परन्तु उसकी विशेषता सुगन्ध हर ले जानेवाले भ्रमर ही जानते हैं। (९५) अतः जो सिद्धान्त आप रसिकों को मान्य हो उसी को आप ग्रहण करें, जो अयुक्त है उसे छोड़ दें क्योंकि अज्ञान स्वभावतः बालक का स्वरूप ही है। (९६) बालक यद्यपि अज्ञानी हो तथापि उसे देखकर माता-पिता का हर्ष हृदय में नहीं समाता तथा वे उसका अत्यन्त कौतुक मानते हैं। (९७) वैसे ही आप सन्त मेरे माता पिता हैं। आपकी भेंट होने ही में लाड से बोलता हूँ, अन्य का तो कथन बहाना समझिए। (९८) ज्ञानदेव कहते हैं कि अब मेरे विश्वात्मक स्वामी श्रीनिवृत्तराज यह वाक्पूजा ग्रहण करें। (५९९)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां पञ्चदशोऽध्यायः।

सोलहवाँ अध्याय

अब मैं विश्वाभास का अस्त कर उदित होनेवाले और अद्वैत-रूपी कमलिनी का विकास करनेहारे अनोखे सूर्य का वन्दन करता हूँ (१) जो अविद्यारूपी रात्रि को दूर कर ज्ञानाज्ञानरूपी चाँदनियों का नाश करता है, और ज्ञानियों के लिए आत्मबोधरूपी सुदिन प्रकाशित करता है (२) जिसका प्रातःकाल होते ही जीवरूपी पक्षी आत्मज्ञानरूपी आँखें खोलते और देहाभिमानरूपी घोंसलों में से बाहर निकलते हैं, (३) जिसका उदय होते ही सूक्ष्म-देहरूपी कमल के गर्भ में कैद हो रहनेवाला जीव चैतन्यरूपी भ्रमर बन्ध से मुक्त हो जाता है, (४) शास्त्र इत्यादि-रूपी विकट स्थलों में भेदरूपी नदी के दोनों तीरों पर जो बुद्धि और ज्ञानविरह से व्याकुल हो आक्रोश कर रहे हैं (५) उन चकवाकों की जोड़ी को जो चिदाकाशभुवन का दीपक समाधानरूपी मेल के भोग का लाभ करा देता है, (६) जिसके प्रातःकाल का प्रकाश होते ही भेदरूपी चोरी का समय बीत जाता है और पथिक योगी आत्मसाक्षात्काररूपी मार्ग चलने लगते हैं, (७) जिसकी विवेकरूपी किरणों के स्पर्श से ज्ञानरूपी सूर्यकान्तमणि की चिनगियाँ झड़ती और संसाररूपी अरण्य को जलाती हैं, (८) जिसके तीव्र किरणसमूह के आत्मस्वरूपरूपी पथरीली धरती पर स्थिर होते ही महासिद्धिरूपी मृगजल की बाढ़ आती है, (९) जिसके सोऽहंरूपी मध्याह्नकाल के समय आत्मबोधरूपी शिखर पर आते ही आत्मभ्रमरूपी परछाईं पाँवों-तले छिप जाती है, (१०) उस समय जब मायारूपी रात ही नहीं रहती तो विश्वरूपी स्वप्नसहित अन्यथा ज्ञानरूपी निद्रा को कौन आश्रय देता है? (११) अतएव उस अद्वैत ज्ञान-रूपी नगर में महानन्द की भीड़ लग जाती है और सुखानुभव के लेन-देन की मन्दी हो जाती है; (१२) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जिसके उत्तम दिन प्रकाश से सर्वदा मुक्त कैवल्य का लाभ होता है, (१३) जो चिदाकाश का राजा सर्वदा उदित है और उदित होते ही पूर्व इत्यादि दिशाओं-सहित उदय और अस्त का नाश कर देता

है, (१४) और जो ज्ञान-सहित अज्ञान का अस्त कर देता है, तथा ज्ञान और अज्ञान दोनों से छिपी हुई जो वस्तु है उसे प्रकट करता है। बहुत क्या वर्णन करें, वह सम्पूर्ण उपमाओं कुछ भिन्न ही वस्तु है। (१५) वह ज्ञानसूर्य दिन और रात का परवोर है। उसे कौन देख सकता है? जिसने प्रकाशितव्य पदार्थों के बिना ही प्रकाश का सुकाल कर दिया है (१६) उस ज्ञानसूर्य श्रीनिवृत्ति को मैं बारबार केवल नमस्कार ही करता हूँ। क्योंकि स्तुति करना शब्दों की बाधा ही करना है। (१७) देव की महिमा के प्रमाण से स्तुति तभी ठीक हो सकती है जब स्तुति का विषय बुद्धि के सङ्ग विलीन हो जाय। (१८) जो सम्पूर्ण विषयों के न जानने से ही जाना जा सकता है, मौन को आलिङ्गन देने से ही जिसकी स्तुति हो सकती है, अन्य रूप न होने से ही जिसकी प्रतीति मित्र में हो सकती है, (१९) जिसकी स्तुति करने के लिए वैखरी वाणी पश्यन्ती और मध्यमा को लीन होती और फिर परा सहित विलीन हो जाती है, (२०) उस आपको हे गुरु! मैं सेवकरूप से इस वाचनिक स्तुति के अलङ्कार पहनाता हूँ। हे आद्यानन्द! आपसे इनके स्वीकार की विनती करना भी न्यून है। (२१) परन्तु दरिद्री यदि अमृत का सागर देख ले तो उसे योग्या योग्य स्वागत की विस्मृति हो जाती है और वह साग-भाजी से ही उसकी पहुनई करने के लिए दौड़ता है। (२२) उस समय वस्तुतः उसकी साग-भाजी को ही बहुत समझना चाहिए। उसके दर्पोग की ओर ही ध्यान देना चाहिए। आरती कर दिव्यस्वरूप देवता को प्रकाशित करने की चेष्टा में आरती करनेहार की भक्ति ही देखनी चाहिए। (२३) बालक यदि योग्यायोग्य जाने तो बालकपन ही क्या रहा? पर सचमुच वह माता ही है जो उससे संतुष्ट होती है। (२४) स्वामी! गङ्गा के पोखर-नीच नाले का जल भी आ मिलता है तो क्या वह उसे 'दूर हट' कहती है? (२५) भृगु का कितना अपराध था पर उसको प्रेम का व्यवहार समझ कर क्या शार्ङ्गपर उनके गुरुत्व से सन्तुष्ट नहीं हुए? (२६) अथवा अन्धकारमय आकाश जब दिनपति के सम्मुख आता है तो क्या वह उसे 'दूर हट' कह देता है? (२७) वैसे ही मैंने आपको भेद-बुद्धि की तुला में रखकर सूर्योपमा के माप से तौलने की जो चेष्टा की उसके लिए एक बार क्षमा कीजिए। (२८) जिन्होंने आपको ध्यानरूपी नेत्रों से देखा और वेद इत्यादि

वाणियों से आपकी स्तुति की, वैसे उनकी चेष्टायें आपने सह लीं वैसे मुझे भी क्षमा कीजिए; (२९) तथा मैं एक सामान्य मनुष्य और आपके गुणों पर लुब्ध हुआ हूँ, इसे अपराध न समझिए। चाहे जो कीजिए परन्तु मैं कभी अतृप्त न रहूँगा। (३०) मैं गीतारूपी आपके सुन्दर प्रसादामृत का वर्णन करने के लिए उद्यत हुआ तो उससे भाग्यवशात् मुझे दुगुने बल का लाभ हो गया। (३१) मेरी वाचा ने कई कल्पों तक सत्यालाप का तप किया होगा जिससे हे प्रभु! मुझे इस गीतारूपी महाद्वीप की फल-प्राप्ति हुई। (३२) मैंने अनेक असाधारण पुण्यों का आचरण किया होगा वही पुण्य आज मुझे आपके गुण-वर्णन का फल समर्पण कर उऋण हो गये। (३३) स्वामी! मैं जीवितरूपी अरण्य में एक मरणरूपी गाँव में आ पड़ा था, वह सङ्कट आज बिलकुल मिट गया। (३४) जो गीता-नाम से प्रसिद्ध है, जो अविद्या को जीत कर बलवती हुई है वह आपकी कीर्ति सर्वथा स्तुत्य है। (३५) यदि निर्धन के घर कुतूहल से महालक्ष्मी आ बैठे तो क्या उसे निर्धन कहा जा सकता है? (३६) अथवा अन्धकार के स्थान में भाग्य से सूर्य आ जावे तो क्या वह अन्धकार ही संसार के लिए प्रकाशरूप न हो जावेगा? (३७) जिस देव की महिमा ऐसी है कि सम्पूर्ण विश्व उसके एक परमाणु की भी बराबरी नहीं कर सकता वह देव भी क्या, भाव के बल से, प्रसन्न नहीं हो सकता? (३८) वैसे ही वास्तव में मेरा गीता का निरूपण करना आकाश-पुष्प का सूँघना है परन्तु आप समर्थ ने वह इच्छा पूर्ण कर दी है। (३९) [ज्ञानदेव कहते हैं कि] अतएव मैं आपकी कृपा से गीता के इन अगाध श्लोकों का स्पष्ट निरूपण करता हूँ। (४०) पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त का विवरण किया। (४१) उत्तम वैद्य जैसे शरीरगत दोषों के रूप का वर्णन करता है वैसे ही श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण उपाधि का वृक्षोपमा की परिभाषा द्वारा ... किया। (४२) और अविनाशी ... आत्मा का जो पुरुषरूप

और शिष्य दोनों का प्रेम ही दिखाई दे रहा है, (४६) एवं ज्ञानी इस विषय को पूर्णतः समझ चुके हैं, परन्तु अन्य मुमुक्षु जन शङ्कित होते हैं। (४७) हे सर्वज्ञ! जो ज्ञान के द्वारा मुक्त पुरुषोत्तम से जा मिलता है वही सर्वज्ञ है तथा वही भक्ति की सीमा है (४८)—यह बात जो पन्द्रहवें अध्याय के एक श्लोक में त्रैलोक्यनायक श्रीकृष्ण ने कही उसमें उन्होंने सन्तोष के साथ प्रायः ज्ञान की ही स्तुति की। (४९) जिससे दुःख, प्रपञ्च का नाश कर, दर्शन के साथ ही तद्रूप हो जाय और जीव आनन्द के साम्राज्य पर आरूढ़ हो जाय (५०) ऐसा बलवत्तर उपाय ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। देव कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान सम्पूर्ण उपायों में राजा है। (५१) अतएव आत्म जिज्ञासुओं ने, अन्तःकरण में प्रसन्न हो, उस ज्ञान पर से अपने जीव को निछावर कर डाली है। (५२) परन्तु यह प्रेम का आशय है कि जिस वस्तु में वह लग जाता है उसमें अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है (५३) अतएव जिज्ञासुओं को जब तक अच्छी भाँति ज्ञान की प्रतीति नहीं होती तब तक उन्हें अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति करने की और प्राप्त ज्ञान की रक्षा करने की उत्कण्ठा अवश्य होगी। (५४) इसलिए—वह यथार्थ ज्ञान कैसे अधीन किया जा सकता है तथा अधीन होने पर उसकी वृद्धि की चेष्टा कैसे की जा सकती है, (५५) अथवा ऐसी कौन सी विरोधी वस्तु है जो ज्ञान को उपजने ही नहीं देती और उपजे तो उसे टेढ़े-मेढ़े मार्ग में लगा देती है—इत्यादि बातें जिससे मालूम हों (५६) और जो ज्ञानियों का विघ्न करता है उसे रास्ते से लगा दें तथा ज्ञान का जो हितकारी है उसी का सब भावों से विचार करें (५७) ऐसी जो आप सब जिज्ञासुओं के मन में इच्छा उत्पन्न हुई है उसे पूर्ण करने के लिए श्रीलक्ष्मीपति श्रीकृष्ण निरूपण करते हैं। (५८) अब वे उस दैवी सम्पत्ति की प्रशंसा बतावेंगे जिससे ज्ञानियों को उत्तम जन्म का लाभ होता है तथा उनकी शान्ति की भी वृद्धि होती है। (५९) अज्ञान के अधीन होने से जिसमें राग और द्वेष को आश्रय मिलता है उस घोर आसुरी सम्पत्ति का भी वे वर्णन करेंगे। (६०) इष्ट या अनिष्टकारक दोनों कुतूहल-धारिणी सम्पत्तियाँ यही हैं। इस बात का उपक्रम नवें अध्याय में हो चुका है। (६१) वहीं उनका आगे विचार किया जाता परन्तु उसमें में दूसरा प्रस्ताव आ पड़ा, तथापि देव अब प्रसङ्गानुसार निरूपण करते हैं। (६२) उस निरूपण के लिए इस सोलहवें

याचियों से आपकी स्तुति की, जैसे उनकी चेष्टायें आपने सह लीं वैसे मुझे भी क्षमा कीजिए, (२९) तथा मैं एक सामान्य मनुष्य और आपके गुणों पर लुब्ध हुआ हूँ, इसे अपराध न समझिए। चाहे जो कीजिए परन्तु मैं कभी अशुभ न करूँगा। (३०) मैं गीतारूपी आपके सुन्दर महासागर का वर्णन करने के लिए उद्यत हुआ तो उससे भाग्यवशात् मुझे दुगुने यश का लाभ हो गया। (३१) मेरी वाचा ने कई कल्पों तक सत्याभाष का तप किया होगा जिससे हे प्रभु! मुझे इस गीतारूपी महाद्वीप की फल-प्राप्ति हुई। (३२) मैंने अनेक असाधारण पुण्यों का आचरण किया होगा वही पुण्य आज मुझे आपके गुण-वर्णन का यश समर्पण कर उऋणी हो गये। (३३) स्वामी! मैं जीवितरूपी अरण्य में एक मरणरूपी गाँव में आ पड़ा था, वह सङ्कट आज बिलकुल मिट गया। (३४) जो गीता-नाम से प्रसिद्ध है जो अविद्या को जीत कर यशस्वी हुई है वह आपकी कीर्ति सर्वथा स्तुत्य है। (३५) यदि निर्धन के घर दुर्भाग्य से महा-लक्ष्मी आ बैठे तो क्या उसे निर्धन कहा जा सकता है? (३६) अथवा अन्धकार के स्थान में भाग्य से सूर्य आ जावे तो क्या वह अन्धकार ही संसार के लिए प्रकाशरूप न हो जावेगा? (३७) जिस देव की महिमा ऐसी है कि सम्पूर्ण विश्व उसके एक परमाणु की भी बराबरी नहीं कर सकता वह देव भी क्या, भाव के बल से, प्राप्त नहीं हो सकता? (३८) वैसे ही वास्तव में मेरा गीता का निरूपण करना आकाश-पुष्प का ऍंचना है परन्तु आप समर्थ ने वह इच्छा पूर्ण कर दी है। (३९) [ज्ञानदेव कहते हैं कि] अपढ़ मैं आपकी कृपा से गीता के इन अगाध श्लोकों का स्पष्ट निरूपण करता हूँ। (४०) पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त का विवरण किया। (४१) उत्तम वैद्य जैसे शरीरगत दोषों के रूप का वर्णन करता है वैसे ही श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण उपाधि का वृक्षोपमा की परिभाषा द्वारा निरूपण किया। (४२) और अविनाशी जीवात्मा का जो पुरुषरूप वर्णन किया उससे उपाधिगत चैतन्य का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया। (४३) अनन्तर 'उत्तम पुरुष' के बहाने शुद्ध आत्मतत्त्व ही प्रकट कर दिया (४४) तथा आत्मप्राप्ति का आन्तरिक और श्रेष्ठ साधन जो ज्ञान है उसका रूप भी विशद कर दिया। (४५) इसलिए अब इस अध्याय में निरूपण करने योग्य कुछ नहीं बचा है। अब केवल गुरु

और शिष्य दोनों का प्रेम ही दिखाई दे रहा है, (४६) एवं ज्ञानी इस विषय का पूर्णतः समझ चुके हैं, परन्तु अन्य मुमुक्षु जन शङ्कित होते हैं। (४७) हे समझ ! जो ज्ञान के द्वारा मुझ पुरुषोत्तम से आ मिलता है वही सर्वज्ञ है तथा वही भक्ति की सीमा है (४८)—यह बात जो पन्द्रहवें अध्याय के एक श्लोक में त्रैलोक्यनायक श्रीकृष्ण ने कही उसमें उन्होंने सन्तोष के साथ प्रायः ज्ञान की ही स्तुति की। (४९) जिससे इच्छा, प्रपञ्च का नाश कर, दर्शन के साथ ही इष्ट-रूप हो जाय और जीव आनन्द के साम्राज्य पर आरूढ़ हो जाय (५०) ऐसा पक्तवत्तर उपाय ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। इस कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान सम्पूर्ण उपायों में राजा है। (५१) अतएव आत्म जिज्ञासुओं ने, अन्तःकरण में प्रसन्न हो, उस ज्ञान पर से अपने जीव की निछावर कर डाली है। (५२) परन्तु यह प्रेम का लक्षण है कि जिस वस्तु में वह लग जाता है उसमें अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है (५३) अतएव जिज्ञासुओं को जब तक भली भाँति ज्ञान की प्रतीति नहीं होती तब तक उन्हें अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति करने की और प्राप्त ज्ञान की रक्षा करने की उत्कण्ठा अवश्य होगी। (५४) इसलिए—वह यथार्थ ज्ञान कैसे स्वाधीन किया जा सकता है तथा स्वाधीन होने पर उसकी वृद्धि की चेष्टा कैसे की जा सकती है, (५५) अथवा ऐसी कौन सी विरोधी वस्तु है जो ज्ञान को उत्पन्न ही नहीं होने देती और उत्पन्न भी हो तो उसे टेढ़े-मेढ़े मार्ग में लगा देती है—इत्यादि बातें जिससे मालूम हों (५६) और जो ज्ञानियों का हित करता है उस रास्ते में लगा दे तथा ज्ञान का जो हितकारी है उसी का सब बातों से विचार करें (५७) उसी को आप सब जिज्ञासुओं के मन में इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे पूर्ण करने के लिए श्रीलक्ष्मीपति और भक्ति निरूपण करते हैं। (५८) अब वे उस दैवी सम्पत्ति की प्रशंसा बखानेंगे जिससे ज्ञानियों का उत्तम जन्म का लाभ होता है तथा उनकी शान्ति की भी वृद्धि होती है। (५९) अज्ञान के अधीन होने से जिसमें राग और द्वेष का आश्रय मिलता है उस पार आसुरी सम्पत्ति का भी वे वर्णन करेंगे। (६०) इष्ट का अनिष्टकारक यानी शुभ-अशुभ सम्पत्तियाँ यही हैं। इस बात का उपक्रम नवें अध्याय में हो चुका है। (६१) वहीं उनका आगे विचार किया जाता परन्तु उसमें में दूसरा प्रस्ताव आ पड़ा, तथापि देव अब प्रसङ्गा-नुसार निरूपण करते हैं। (६२) उस निरूपण के लिए इस श्लोक में

अध्याय का सम्बन्ध पिछले अध्याय से लगाना चाहिए। (६३) परन्तु अस्तु, प्रस्तावित ज्ञान के हित या अहित के लिए यही दोनों सम्पत्तियाँ समर्थ हैं। (६४) इनमें से प्रथम उस दैवी सम्पत्ति का वर्णन सुनो जो मुमुक्षु-मार्ग को पहुँचाती है, तथा जो मोहरूपी रात्रि में धर्मरूपी मशाल है। (६५) संसार में सम्पत्ति उसे कहते हैं जिस एक के सम्पादन से एक दूसरे की वृद्धि करनेवाले अनेक पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है। (६६) इस दैवी सम्पत्ति से सुख की प्राप्ति होती है, और दैवगुण के कारण वही एक आश्रय करने के योग्य है, अतएव उसे दैवी सम्पत्ति कहते हैं। (६७)

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अब सुनो। उन दैवगुणों में जो सबसे आगे है, उसे अभय कहते हैं। (६८) बाढ़ में न कूदो तो जैसे डूबने का डर नहीं लगता, अथवा पथ्य सेवन करनेहारे के घर जैसे रोग की सम्भावना नहीं होती (६९) उसी प्रकार अहङ्कार की कर्माकर्म की ओर की प्रवृत्ति रोक कर संसार का भय छोड़ देना (७०) अथवा ऐक्य भाव के विस्तारद्वारा सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप जानकर भयवार्ता को हद के पार निकाल बाहर करना (७१) अथवा जल लवण को डुबाने जाय तो जैसे लवण ही जल बन जाता है वैसे ही स्वयं अद्वैत हो जाने पर भय का नाश हो जाना (७२) इसी को अभय कहते हैं। यह सम्पूर्ण सम्यक्-ज्ञान की सीमा है। (७३) अब जिसे सत्त्वशुद्धि कहते हैं सो इन लक्षणों से पहचानना चाहिए। राख जैसे न जलती है न बुझती है, (७४) अथवा जैसे चन्द्र, अमावास्या की क्षय की स्थिति पीछे छोड़ पड़वा की वृद्धि की अपेक्षा न करके, बीच में ही अति सूक्ष्म अवस्था में रहता है, (७५) अथवा गङ्गा जैसे वर्षाकाल के अनन्तर तथा ग्रीष्म ऋतु से मलिन होने के पूर्व बीच के काल में निज स्वरूप से रहती है, (७६) वैसे ही सङ्कल्प और विकल्पों से आकर्षित न होकर रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्ति छोड़ कर बुद्धि आत्मानन्द का उपभोग लेती हुई रहे, (७७) इन्द्रियगण यदि कोई अनुकूल या प्रतिकूल विषय बतावें तो कोई कुछ करे तो भी चित्त में विस्मय न उठे, (७८) जैसे पति किसी अन्य नगर को जाता है तो पतिव्रता उस विरह-दुःख के सामने कैसी भी हानि या

काम को नहीं गिनती, (७९) वैसे ही सत्स्वरूप की रुचि के कारण उसमें बुद्धि अनन्य हो रहे, ऐसी जो अवस्था है वह—केशी दैत्य के मारनेहारे श्रीकृष्ण कहते हैं—सत्त्वशुद्धि है। (८०) अब, आत्मलाभ के हेतु ज्ञान या योग इन दो में से जिस एक की अपने अन्तःकरण में इच्छा भरी हो (८१) उसमें सम्पूर्ण चित्त-वृत्ति का इस प्रकार समर्पण करना जैसे कि कोई निष्काम मनुष्य अग्नि में पूर्णाहुति समर्पण करता है, (८२) अथवा जैसे कोई कुलीन मनुष्य अपनी कन्या उत्तम कुल में ही समर्पित करता है, अथवा लक्ष्मी जैसे श्रीमुकुन्द में स्थिर हो रही है (८३) वैसे ही विकल्प-रहित हो योग और ज्ञान में ही वृत्तिस्थ होना, कृष्णनाथ कहते हैं, तीसरा गुण अर्थात् ज्ञानयोगव्यवस्था है। (८४) अब काया वाचा, मन से, तथा यथाप्राप्त धन से शत्रु हो तो भी किसी आर्त की अवमानना न करना, (८५) हे धनञ्जय! वृक्ष जैसे पान्थिक को फूल, फल, छाया, मूल या पत्तों से भी वञ्चित नहीं रखता (८६) वैसे ही अवसर आने पर मन से तथा धन से दुःखी जनों के इच्छा-नुसार उन्हें उपयोगी होना, (८७) दान कहलाता है जो मोक्षरूपी द्रव्य प्रकट करनेवाला अञ्जन है। अस्तु अब दम का लक्षण सुनो। (८८) वह विषयों और इन्द्रियों का सम्मेलन वियुक्त कर डालता है। फिट करी जैसे पानी का गँदलापन अलग कर देती है (८९) वैसे ही इन्द्रिय द्वारों को विषय-मात्र ही हवा नहीं लगने देता तथा उन्हें बाँध कर प्रत्याहार के हाथ सौंप देता है (९०) प्रवृत्ति को आन्तरिक चित्त प्रदेश तक पीछे हटा कर दसों द्वारों में वैराग्य की आग सुलगा देता है, (९१) श्वासोच्छ्वासों से भी बहुसंख्यक और कठिन व्रताचरण करता है और रात-दिन इस प्रकार व्रताचरण करते हुए उसे अवकाश नहीं मिलता। (९२) दम जिसे कहते हैं उसका स्वरूप उक्त प्रकार का होता है। अब संक्षेप से यज्ञ का अर्थ कहते हैं सुनो। (९३) ब्राह्मण से लगाकर स्त्री आदि तक अपने-अपने अधिकार के अनुसार (९४) जिसके लिए जो आचरण सर्वोत्तम हो, जो देवता या धर्म भजनीय हो, उसका उसे शास्त्रानुसार या विधिपूर्वक यजन करना चाहिए। (९५) ब्राह्मण का यजनादि षट्कर्म करना और शूद्र का उसको वन्दन करना ये दोनों यज्ञ समान ही हैं। (९६) अतः सबों को अपने अपने अधि-कार के अनुसार यज्ञ करना चाहिए। परन्तु उसमें फलाशारूपी विष न मिलना चाहिए, (९७) तथा— 'मैं यज्ञ-कर्ता हूँ' यह भाव देहद्वारों से

जगत् के सुख के हेतु शरीर से, वाणी से, और अन्तःकरण से चेष्टा करना अहिंसा का रूप मानो। (१४) अब, जो तीक्ष्ण हो परन्तु मृदु हो, जैसे कोई चमेली की खिली हुई कली अथवा चन्द्रमा का शीतल तेज, (१५) दिखाने के साथ ही जो रोग का निवारण करती है और नीम की भी जो कड़वी नहीं लगती वह औषधि ही नहीं, तो फिर उसे उपमा क्या दी जा सकती है? (१६) परन्तु जैसे पानी ऐसा मृदु रहता है कि कमलदल उसमें डुबोकर हैं तो भी नहीं चुभता और वैसे तो पहाड़ को भी फोड़ डालता है, (१७) वैसे ही जो सन्देह का नाश करने में लोहे के समान तीक्ष्ण होता है परन्तु श्रवणगुण में जो मधुरता को भी लजाता है, (१८) जिसे कुतूहल से सुनते ही कानों को बाणी-सी फूटती है और यथार्थता के बल से जो ब्रह्म का भी भेद करता है, (१९) बहुत क्या कहें, प्रिय होने के कारण जो किसी की प्रतारणा नहीं कर सकता और यथार्थ होता है तथापि जो किसी का मर्मभेद नहीं करता, (१२०) [अन्यथा बहेलिये का गायन भी सचमुच मधुर रहता है परन्तु वास्तव में देखो तो वह घातक होता है, अग्नि भी सच प्रत्यक्ष करती है परन्तु ऐसे सत्य का नाश हो!, (२१) श्रवण में मधुर हो पर अर्थ में जो हृदय के टुकड़े करे वह वाणी नहीं राक्षसी है (२२) परन्तु] जैसे अपराध के समय माता का स्वरूप ऊपर से कोपयुक्त और शासन करने में पुष्प के समान कोमल होता है, (२३) वैसे ही जो सुनने में सुखदायक होता है और परिणाम में यथार्थ होता है उस विकार-रहित भाषण को सत्य कहते हैं। (२४) अब, पत्थर पर जल सींचते ही रहो तथापि जैसे उसमें अंकुर नहीं फूटते अथवा काँजी का कितना भी मन्थन करो तथापि उसमें से जैसे मक्खन नहीं निकलता, (२५) साँप की केंचुली के सिर पर लात मारने से भी जैसे वह फन नहीं फैलाती अथवा वसन्तकाल भी हो तथापि जैसे आकाश में फूल नहीं लगते, (२६) अथवा रम्भा के स्वरूप को देखकर भी जैसे शुकदेव के मन में काम नहीं उत्पन्न हुआ, अथवा राख में घी डालने से भी जैसे अग्नि प्रदीप्त नहीं होती (२७) वैसे ही जिन शब्दों से बालक भी क्रोधयुक्त हो जाय ऐसे शब्दों के बीसियों भी यदि आक्षेप करने के हेतु इकट्ठे किये जाय (२८) तथापि जैसे ब्रह्मदेव के पाँव पकड़ने से भी मृत मनुष्य साकार नहीं होता वैसे ही

बाहर न निकलने देना चाहिए, किन्तु स्वयं वैराग्य का आश्रयस्थान बन रहना चाहिए, (९८) हे अर्जुन! शास्त्रोक्त यम ऐसा रहता है। यह मोक्षमार्ग का एक ज्ञानवान् सहायी है। (९९) अब, जैसे गेंद को भूमि पर मारना मारना नहीं उसे फिर हाथ में लेने की चेष्टा है, अथवा खेत में बीज फेंकना फेंकना नहीं अगली फसल की ओर ध्यान दे बोना है, (१) अथवा रक्खी हुई वस्तु ढूँढने के लिए जैसे दीपक का आदर किया जाता है, अथवा शाखा-फलों के हेतु जड़ में पानी सींचा जाता है, (१) और रहने दो, स्वयं अपना रूप देखने के लिए जैसे दर्पण बार बार प्रेम से स्वच्छ किया जाता है (२) वैसे ही प्रतिपादन करने के योग्य जो ईश्वर है वह गोचर हो जाय इसलिए निरन्तर श्रुतियों का अभ्यास करना, (३) ब्राह्मणों का ब्रह्मसूत्र पढ़ना, और अन्यों का तत्त्व प्राप्त करने के लिए स्तोत्र या नाममन्त्र का पठन करना, (४) हे पार्थ! स्वाध्याय कहाता है। अब तप शब्द का अभिप्राय कहते हैं, सुनो। (५) अपने सर्वस्व का दान कर देना, अन्यथा अर्थ व्यय वृथा समझना, जैसे वनस्पतियाँ फल कर स्वयं सूखती हैं, (६) अथवा जैसे धूप स्वयं अग्नि में जल कर सुगन्धित फैलाती है, अथवा जैसे शुद्ध किया हुआ सोना तौल में कम होता है, अथवा चन्द्र जैसे कृष्ण-पक्ष की वृद्धि करता हुआ नित्य का ह्रास करता है, (७) वैसे ही हे वीर! आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्राण, इन्द्रिय और शरीर का ह्रास करना ही तप है (८) अथवा तप का रूप यद्यपि भिन्न हो तथापि यह जान लो कि जैसे राजहंस दूध में चोंच डालता है (९) वैसे ही जो ऐसा विवेक उत्पन्न करता है कि जो परिचित होते ही देह और जीव का संगठन तोड़ दे, (११०) तथा जैसे जागृति में निद्रा सहित स्वप्न डूब जाता है वैसे ही जिससे आत्मा की ओर दृष्टि देते हुए बुद्धि का विस्तार कुण्ठित हो जाय (११) उस आत्मावलोकन में जो प्रवृत्ति होना है सो तप है। हे धनुर्धर! यह तप का निर्णय हुआ। (१२) अब, माता का दूध जैसे बालक के हितार्थ रहता है, चैतन्य जैसे अनेक भूतों में समान रहता है, वैसे ही सब प्राणियों से मुलायम रखना ही आर्जव है। (१३)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

जिसमें यत्न करने से भी क्रोध की लहर न उठे, (९६) ऐसी अवस्था को अक्रोधत्व जानो। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से वर्णन किया। (१३०) अब, मृत्तिका का त्याग करने से जैसे घट का भी त्याग हो जाता, अथवा तन्तु के त्याग से वस्त्र का या बीज के त्याग से वृक्ष का भी त्याग हो जाता, (३१) अथवा जैसे भीत का त्याग करने से उस पर लिखे हुए सम्पूर्ण चित्रों का भी त्याग हो जाता अथवा निद्रा के त्याग से जैसे नाना प्रकार के स्वप्नजाल का भी त्याग हो जाता, (३२) अथवा जल के त्याग से जैसे उसकी तरङ्गों का, वर्षा के त्याग से जैसे मेघों का, अथवा धन के त्याग से जैसे उपभोगों का भी त्याग हो जाता है, (३३) वैसे ही बुद्धिमानों को देहात्मबुद्धि का त्याग कर सम्पूर्ण सांसारिक विषयों का त्याग कर देना चाहिए। (३४) श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका नाम त्याग है। यह सुन कर भाग्यवान् अर्जुन ने कहा ठीक है, (३५) अब मुझे शान्ति का लक्षण स्पष्ट कर बताइए तब श्रीकृष्ण ने कहा बहुत अच्छा, सुनो। (३६) ज्ञेय और ज्ञाता को विलीन कर जब वास्तव में ज्ञान भी विलीन हो जाता है उस स्थिति को शान्ति कहते हैं। (३७) प्रलयकाल का जल जैसे जगत् के विस्तार को डुबा कर केवल आप ही बना भरा रह जाता है (३८) और फिर व्यवहार में यह भेद नहीं रहता कि यह उसका उद्गम है, यह प्रवाह है या यह समुद्र है, [बल्कि यह जाननेवाला भी कौन बच रहता है कि यह सब जल ही है] (३९) वैसे ही ज्ञेय से आलिङ्गन देते ही ज्ञातृत्व भी पेट में समा जाय और फिर जो बच रहे वही हे किरीटी! शान्ति का रूप है। (१४०) अब उत्तम वैद्य जैसे पीड़ाकारक रोग के निवारण करने के पूर्व यह नहीं सोचता कि यह अपना है और यह पराया है, (४१) अथवा गाय को कीचड़ में फँसी हुई देखकर उसके दुःख से व्याकुल होनेवाला मनुष्य जैसे यह नहीं सोचता कि यह दुधैल है या नहीं, (४२) अथवा डूबते हुए को निकालनेवाला कोई सदय मनुष्य जैसे उससे यह नहीं पूछता कि तू ब्राह्मण है या शूद्र बल्कि वह यही चाहता है कि इसे निकाल कर इसके प्राण बचाऊँ, (४३) अथवा किसी पापी ने दुर्भाग्य से किसी पतिव्रता को नग्न किया हो तथापि जैसे शिष्ट पुरुष उसे वस्त्र पहनाये बिना नहीं देखता (४४) वैसे अज्ञान, प्रमाद इत्यादि दोषों के कारण या पूर्व-जन्मकृत दोषों के कारण जो सब निन्द्य विषयों में डूबे हुए

प्राणायाम से कर्मेन्द्रियों का व्यवहार बन्द हो जाता है, (८३) अथवा सूर्य के अस्त होने के कारण जैसे उसकी किरणों का विस्तार भी बन्द हो जाता है, वैसा ही हाल मनोजय करने से बुद्धि और इन्द्रियों का होता है (८४) एवं मन और प्राणों का संयमन करने से दसों इन्द्रियों का पंगु हो जाना एक लक्षण के कारण अपापस्य कहलाता है। (८५)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अब, ईश्वर प्राप्ति के हेतु ज्ञानयोग में प्रवृत्त होने पर जैसे धैर्य की न्यूनता नहीं रहती, (८६) अग्नि में प्रवेश करने से मृत्यु-सरीखी हानि प्राप्त हो तथापि पतिव्रता जी जैसे अपने प्राणेश्वर के हेतु उस हानि की परवा नहीं करती, (८७) वैसे ही विषरूपी विषयों के समुदाय को आत्मनाथ की प्राप्ति के लिए नियोजित कर शून्यमार्ग में दौड़ने की जो इच्छा होती है, (८८) जहाँ निषेध का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, विधि की कोई मर्यादा नहीं रक्खी जाती अन्तःकरण में महासिद्धि की भी इच्छा नहीं उत्पन्न होती (८९) इस प्रकार जो मन स्वभावतः ईश्वर की ओर दौड़ता है, उसका नाम आध्यात्मिक तेज है। (९०) अब सब सहनेहारों में श्रेष्ठ होते हुए भी गर्व का न होना। ही क्षमा है, जैसे कि शरीर रोम धारण किये है, पर उसे उनकी खबर भी नहीं। (९१) और इन्द्रियों की गति मस्त हो जाय, अथवा प्रारब्धानुसार वे रोग-क्षुब्ध हो जायें, अथवा हिताहितों की प्राप्ति या अप्राप्ति (९२) इत्यादि सभी बातों की एक ही समय महाबाढ़ भी आ जाय तथापि जो मनुष्य को अगस्त्य ऋषि से भी धैर्यवान बना स्थिर रखती है, (९३) आकाश में उठी हुई अत्यन्त बड़ी धूम की रेखा को वायु जैसे एक ही झोंके में उड़ा देती है (९४) वैसे ही हे पाण्डव ! आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक इत्यादि संकट प्राप्त हों तो उनका जो नाश करती है (९५) तथा चित्त-क्षोभ के समय जो धैर्य बनाये रख स्थिरता रखती है वह धृति कहलाती है। (९६) अब शुचिता ऐसी होती है जैसे शुद्ध किये हुए सोने का कलश गङ्गा के जल से भरा हो। (९७) क्योंकि शरीर से निष्काम आचरण करना और अन्तःकरण में शुद्ध विवेक रखना अन्तर्बाह्य शुचित्व का ही रूप

कुछ भी गिनती नहीं, (६५) वैसे ही ऐहिक या पारलौकिक भोग अपनी इच्छा के सेवक बन रहें तथापि उनका उपभोग लेने का विचार भी मन में न लाना चाहिए। (६६) बहुत क्या, किसी कुतूहल से भी अन्तःकरण में विषय की अभिलाषा न हो ऐसी दशा को अलोलुपता जानो। (६७) अब, मधुमक्खी को जैसा उसका छत्ता, जलचरों को जैसा जल, अथवा पक्षियों को जैसा यह प्रतिबन्ध-रहित आकाश, (६८) अथवा बालक पर जैसा माता का स्नेह अथवा वसन्त के स्पर्श से युक्त जैसी मलयगिरि की कोमल वायु, (६९) नेत्रों को जैसे प्रियजन की भेंट, अथवा कछुए के बच्चों पर जैसी उसकी दृष्टि, वैसी ही कोमल रीति से सब भूतमात्र में व्यापार करना (७०)—स्पर्श में अति मृदु, खाने में स्वादयुक्त, सूँघने में सुगन्धित और शरीर से जो उज्ज्वल है (७१) ऐसा कपूर बहुतेरा खाने से यदि हानिकारक न होता तो उस कोमलता को कपूर की उपमा दी जा सकती थी, (७२) पर गगन जैसे महाभूतों को निज में लिये है तथा परमाणु में भी समाया हुआ है एवं विश्व के ही स्वरूप का है (७३) वैसे ही, बहुत क्या कहूँ, जगत् के जी और प्राणों के अनुसार अपना जीवन रखना हो—मार्दव है। (७४) अब, हार खाने से जैसे राजा लज्जा से दुःखी होता है, अथवा नीच स्थिति में जाने से जैसे मानी मनुष्य तेजहीन हो जाता है, (७५) अथवा अकस्मात् चाण्डाल के घर आ जाने से जैसे संन्यासी को अत्यन्त लज्जा उत्पन्न होती है, (७६) रण में से क्षत्रियों के भाग जाने की लज्जास्पद बात जैसे कौन सह सकता है? अथवा पतिव्रता को जैसे वैधव्य निमन्त्रण दे, (७७) रूपवती को कोढ़ हो जाय, किसी माननीय सज्जन को कोई निन्दास्पद दोष लगाया जाय तो जैसे उसके प्राणों पर संकट बीतता है, (७८) वैसे ही इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में शव के समान जीते रहना तथा बारम्बार उत्पन्न हो-होकर मरना (७९) गर्भ के रक्त या मूत्र के रस की मूर्ति बन कर रहना (८०) बहुत रहने दो यह धारण कर नामरूप का स्वीकार करना आदि बातों से अधिक और कुछ लज्जास्पद नहीं है, (८१) अतः ऐसे-ऐसे सम्पूर्ण दोषों के कारण शरीर से उकता जाना ही लज्जा है जो सत्पुरुषों को हुआ करती है। निर्लज्जों को उपयुक्त बातें प्रिय होती हैं। (८२) अब डोरी टूटने से जैसे कठपुतलियों का नाचना बन्द हो जाता है वैसे ही

प्राणायाम से कर्मेन्द्रियों का व्यवहार बन्द हो जाता है, (८३) अथवा सूर्य के अस्त होने के कारण जैसे उसकी किरणों का विस्तार भी बन्द हो जाता है, वैसा ही हाल मनोलय करने से बुद्धि और इन्द्रियों का होता है, (८४) एवं मन और प्राणों का संयमन करने से दसों इन्द्रियों का पंगु हो जाना उक्त कारण के कारण अथापरस्य कहलाता है। (८५)

तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अब, ईश्वर-प्राप्ति के हेतु ज्ञानयोग में प्रवृत्त होने पर जैसे धैर्य की न्यूनता नहीं रहती, (८६) अग्नि में प्रवेश करने से मृत्यु-सरीखी हानि प्राप्त हो तथापि पतिव्रता को जैसे अपने प्राणेश्वर के हेतु उस हानि की परवा नहीं करती (८७) वैसे ही विषरूपी विषयों के समुदाय को आत्मनाथ की प्राप्ति के लिए नियोजित कर शून्यमार्ग में दौड़ने की जो इच्छा होती है, (८८) जहाँ निषेध का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, विधि की कोई मर्यादा नहीं रक्खी जाती अन्तःकरण में महासिद्धि की भी इच्छा नहीं उत्पन्न होती (८९) इस प्रकार जो मन स्वभावतः ईश्वर की ओर दौड़ता है, उसका नाम आध्यात्मिक तेज है। (९०) अब सब सहनेहारों में श्रेष्ठ होते हुए भी गर्व का न होना ही क्षमा है, जैसे कि शरीर रोम धारण किये है, पर उसे उनकी खबर भी नहीं। (९१) और इन्द्रियों की गति मस्त हो जाय अथवा प्रारब्धानुसार वे रोग-क्षुब्ध हो जायँ, अथवा हिताहितों की प्राप्ति या अप्राप्ति (९२) इत्यादि सभी बातों की एक ही समय महाबाढ़ भी आ जाय तथापि जो मनुष्य को अगस्त्य ऋषि से भी धैर्यवान बना-स्थिर रखती है, (९३) आकाश में उठी हुई अत्यन्त बड़ी धूम की रेखा को वायु जैसे एक ही झोंके में उड़ा देती है (९४) वैसे ही हे पाण्डव! आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक इत्यादि सङ्कट प्राप्त हों तो उनका जो नाश करती है (९५) तथा चित्त-क्षोभ के समय जो धैर्य बनाये रख स्थिरता रखती है वह धृति कहलाती है। (९६) अब शुचिता ऐसी होती है जैसे शुद्ध किये हुए सोने का कलश गङ्गा के जल से भरा हो। (९७) क्योंकि शरीर से निष्काम आचरण करना और अन्तःकरण में शुद्ध विवेक रखना अन्तर्बाह्य शुचित्व का ही रूप

है। (९८) और गङ्गा का जल जैसे पाप और सन्ताप दोनों का नाश करता हुआ तथा तट पर के वृक्षों का पोषण करता हुआ समुद्र को जाता है, (९९) अथवा सूर्य जैसे संसार का अँधेरा मिटाता हुआ और सुन्दर प्रासाद प्रकट करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिए निकलता है, (२००) वैसे ही बद्धों को मुक्त करते हुए, डूबे हुओं को निकालते हुए, दुःखियों के सङ्कट मिटाते हुए, (१) बहुत क्या कहें, रात-दिन दूसरों का सुख बढ़ाते हुए स्वार्थ में प्रवेश करना, (२) तथा अपने कार्य के लिए प्राणिमात्र के मार्गों में अहित की इच्छारूपी प्रतिबन्ध न करना, (३) हे किरीटी! यह अद्रोहत्व है। यह हमने जैसा दिखाई दिया वैसा हमने वर्णन किया। (४) और हे पार्थ! गङ्गा जैसे शङ्कर के मस्तक पर पहुँचकर संकुचित हो गई है वैसे ही सम्मान से सर्वथा लजाना (५) हे सुमती! सच्चा अमानित्व जानो। पीछे हम इसका बहुत-कुछ बयान कर चुके हैं वही फिर कहते हैं। (६) यह-सम्पदा इन छब्बीस गुणों से युक्त रहती है। यह मानों मोक्षरूपी राजा का अमलदार है; (७) अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानों वैराग्य-रूपी सागर के भाग्य से इन गुणरूपी तीर्थों से युक्त नित्य नूतन गङ्गा ही है; (८) अथवा मानों यह मुक्तिरूपी बाला इन गुण पुष्पों की माला लेकर निरपेक्ष वैराग्यरूप वर का कण्ठ खोज रही है, (९) अथवा इन छब्बीस गुणों की ज्योति लगा कर मानों गीता ही अपने आत्मारूपी निज पति को नीराजन करने के लिए प्राप्त हुई है, (२१०) अथवा इस गीता-समुद्र में यह दैवी-सम्पत्ति एक शुक्ति दिखाई देती है और ये गुण उसमें से निकले हुए निर्मल मोती जान पड़ते हैं। (११) अधिक क्या वर्णन करूँ यह सम्पदा स्वाभावतः इस प्रकार प्रकट होती है। दैवी गुणराशिरूपी सम्पत्ति का बयान तो हो चुका। (१२) अब दोषरूप काँटों से भरी हुई आन्तरिक दुःखों की जो बेल है उस आसुरी सम्पत्ति का हम वर्णन करते हैं। (१३) यद्यपि यह अनुपयोगी है तथापि त्याज्य वस्तु के त्याग करने के लिए उसे जानना चाहिए। इसलिए अपनी श्रवण-शक्ति को सुस्थिर कर सुनो। (१४) घोर पापों ने मानों नरकदुःख की महिमा बढ़ाने के हेतु जो सम्मेलन किया है वही यह आसुरी-सम्पत्ति है, (१५) अथवा विषवर्गों के समूह का ही नाम जैसे कालकूट है वैसे ही यह आसुरी सम्पत्ति दोषों का ही समुदाय है। (१६)

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

अब, इन आसुरी दोषों में जिस वीर की श्रेष्ठता की कीर्ति है वह दम्भ ऐसा है। (१७) जैसे संसार में अपनी माता को नग्न कर दिखाने से, तीर्थ-रूपिणी होने पर भी वह पतन का कारण होती है, (१८) अथवा जैसे गुरूपदिष्ट विद्या को चौरस्ते में चिल्ला कर प्रकट करने से वह इच्छा होने पर भी अनिष्ट का हेतु बनती है, (१९) अथवा जैसे बाढ़ में डूबते हुए को जो तुरन्त ही बचा कर पार तीर पर पहुँचा देती है उस नाव को यदि कोई सिर से बाँध ले तो वही डुबा देती है, (२२०) हे पाण्डुसुत! जैसे जीवन का कारण जो अन्न है उसी का सेवन करते समय यदि कोई उसका वर्णन करे तो वह विषरूप हो जाता है, (२१) वैसे ही इह-परलोक का सखा जो धर्म है उसके लिए यदि घमण्ड किया जाय तो तारनेहारा होने पर भी वह पाप का हेतु हो जाता है। (२२) इसलिए धर्म के विस्तार को वाणी के चौरस्ते पर दिखाने से धर्म का अधर्म बन जाना ही दम्भ जानो। (२३) अब, मूर्ख की जिह्वा पर चार अक्षरों के छींटे पड़ते ही वह जैसे ब्रह्मज्ञानियों की सभा को कुछ नहीं समझता (२४) अथवा चाबुक-सवारों का घोड़ा जैसे ऐरावत को भी तुच्छ मानता है, अथवा कँटीली झाड़ी [बाड़] पर चढ़ा हुआ गिरगट जैसे स्वर्ग को भी तुच्छ समझता है, (२५) तृणरूपी ईंधन प्राप्त होते ही अग्नि जैसे आकाश की ओर दौड़ती है, डबरे का जल पाकर ही मीन जैसे समुद्र को कुछ नहीं समझती, (२६) वैसे ही स्त्री, धन, विद्या, स्तुति इनकी अधिकाई से ऐसा मत्त हो जाना, जैसे कि कोई दरिद्री एक दिन पराम मिलने से मत्त हो जावे, (२७) अथवा अभ्र की छाया मिलते ही जैसे कोई अभागी घर तोड़ डाले, अथवा जैसे कोई मूर्ख मृगजल को देख जलाशय फोड़ डाले, (२८) बहुत क्या कहें, सम्पत्ति के कारण इस इस प्रकार से उन्मत्त होना दर्प है। ये वचन अन्यथा मत समझो। (२९) और जगत् को वेदों में विश्वास है, और ईश्वर श्रद्धा से पूज्य है, तथा जगत् में प्रकाश देनेहारा एक सूर्य ही है, (२३०) संसार में स्पृहणीय वस्तु एक सार्वभौमपद है और जीवित रहना ही निश्चय से सबों को प्रिय है, (३१) इसलिए यदि उत्साह से इनका वर्णन

है। (१९८) और गङ्गा का जल जैसे पाप और सन्ताप दोनों का नाश करता हुआ तथा तट पर के वृक्षों का पोषण करता हुआ समुद्र से जाता है, (१९९) अथवा सूर्य जैसे संसार का अँधेरा मिटाता हुआ और सुन्दर प्रासाद प्रकट करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिए निकलता है (२००) वैसे ही बद्धों को मुक्त करते हुए, डूबे हुओं को निकालते हुए, दुःखियों के सङ्कट मिटाते हुए, (१) बहुत क्या कहें, रात-दिन दूसरों का सुख बढ़ाते हुए स्वार्थ में प्रवेश करना (२) या अपने कार्य के लिए प्राणिमात्र के मार्ग में अहित की इच्छा से प्रतिबन्ध न करना, (३) हे किरीटी! यह अद्रोहत्व है। यह मैंने जैसा दिखाई दिया वैसा हमने वर्णन किया। (४) और हे पार्थ! गङ्गा जैसे शङ्कर के मस्तक पर पहुँचकर संकुचित हो गई है वैसे ही सम्मान से सर्वथा लजाना (५) हे सुमती! उसका अमानित्व जानो। पीछे हम इसका बहुत-कुछ वर्णन कर चुके हैं वही फिर कहते हैं। (६) दैव-सम्पदा इन छब्बीस गुणों से युक्त रहती है। यह मानो मोक्षरूपी राजा का अग्रहार है। (७) अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानो वैराग्य-रूपी सागर के मन्थन से इस गुणरूपी तीर्थ से युक्त नित्य नूतन गङ्गा ही है; (८) अथवा मानो यह मुक्तिरूपी कन्या इन गुण पुष्पों की माला लेकर निरपेक्ष वैराग्यस्वरूप वर का वरण करने खड़ी रही है, (९) अथवा इन छब्बीस गुणों की ज्योति लगा कर मानो गीता ही अपने आत्मारूपी प्रिय पति को नीराजन करने के लिए प्राप्त हुई है, (२१०) अथवा इस गीता-समुद्र में यह दैवी-सम्पत्ति एक शुक्ति दिखाई देती है और ये गुण उसमें से निकले हुए निर्मल मोती जान पड़ते हैं। (११) अधिक क्या वर्णन करूँ, प्रकाशरूप स्वभावतः इस प्रकार प्रकट होती है। दैवी गुणराशिरूपी सम्पत्ति का वर्णन तो हो चुका। (१२) अब, दोषरूप काँटों से भरी हुई आत्यन्तिक दुःखों की जो बेल है उस आसुरी सम्पत्ति का हम वर्णन करते हैं। (१३) यद्यपि यह अनुपयोगी है तथापि त्याज्य वस्तु के त्याग करने के लिए उसे जानना चाहिए। इसलिए अपनी श्रवण-शक्ति को दुरुस्त कर सुनो। (१४) घोर पापों से मानो नरकदुःख की महिमा बढ़ाने के हेतु जो सम्मेलन किया है वही यह आसुरी-सम्पत्ति है, (१५) अथवा विषवर्गों के समूह का ही नाम जैसे कालकूट है वैसे ही यह आसुरी सम्पत्ति दोषों का ही समुदाय है। (१६)

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

अब, इन आसुरी दोषों में जिस वीर की श्रेष्ठता की कीर्ति है वह दम्भ ऐसा है। (१७) जैसे संसार में अपनी माता को नग्न कर दिखाने से, तीर्थ-स्वरूपिणी होने पर भी वह पतन का कारण होती है, (१८) अथवा जैसे गुरूपदिष्ट विद्या को चौरस्ते में चिल्ला कर प्रकट करने से वह इष्टा होने पर भी अनिष्ट का हेतु बनती है, (१९) अथवा जैसे बाढ़ में डूबते हुए को जो तुरन्त ही बचा कर पारतीर पर पहुँचा देती है वह नाव को यदि कोई सिर से बाँध ले तो वही डुबा देती है, (२२०) हे पाण्डुसुत! जैसे जीवन का कारण जो अन्न है उसी का सेवन करते समय यदि कोई उसका वर्णन करे तो वह विषरूप हो जाता है, (२१) वैसे ही इह-परलोक का सखा जो धर्म है उसके लिए यदि यमघट किया जाय तो तारनेहारा होने पर भी वह पाप का हेतु हो जाता है। (२२) इसलिए धर्म के विस्तार को वाणी के चौरस्ते पर दिखाने से धर्म का अधर्म बन जाना ही दम्भ जानो। (२३) अब, मूर्ख की जिह्वा पर चार अक्षरों के छींटे पड़ते ही वह जैसे ब्रह्मज्ञानियों की सभा को कुछ नहीं समझता (२४) अथवा चाबुक-सवारों का घोड़ा जैसे ऐरावत को भी तुच्छ मानता है, अथवा कँटीली बाड़ी [बाड़] पर चढ़ा हुआ गिरगट जैसे स्वर्ग को भी तुच्छ समझता है, (२५) तृणरूपी ईंधन प्राप्त होते ही अग्नि जैसे आकाश की ओर दौड़ती है, डबरे का जल पाकर ही मीन जैसे समुद्र को कुछ नहीं समझती (२६) वैसे ही स्त्री, धन, विद्या, स्तुति इनकी अधिकाई से ऐसा मत्त हो जाना, जैसे कि कोई दरिद्री एक दिन परान्न मिलने से मत्त हो जावे, (२७) अथवा अभ्र की छाया मिलते ही जैसे कोई अभागी पर तोड़ डाले, अथवा जैसे कोई मूर्ख मृगजल को देख जलाशय फोड़ डाले, (२८) बहुत क्या कहें, सम्पत्ति के कारण इस-इस प्रकार से उन्मत्त होना दर्प है। ये वचन अन्यथा मत समझो। (२९) और जगत् को वेदों में विश्वास है, और ईश्वर श्रद्धा से पूज्य है, तथा जगत् में प्रकाश देनेहारा एक सूर्य ही है, (२३०) संसार में स्पृहणीय वस्तु एक सार्वभौमत्व है, और जीवित रहना ही निश्चय सबों को प्रिय है, (३१) इसलिए यदि उन्माद से इनका वर्णन

करने लाइए तो उसे सुनकर जो मरसर करता और फूलने लगता (१२) और कहता है कि जा वाचो उस ईश्वर को, विष दो उस वेद को जो मेरी महिमा की मर्यादा को भङ्ग करता है, (१३) पतङ्ग को जैसे ज्योति नहीं भाती, खद्योत को जैसे सूर्य से घृणा उत्पन्न होती है, एक टिटहरी ने जैसे समुद्र से भी स्पर्धा की थी, (१४) वैसे ही जो अभिमान के मोह के कारण ईश्वर का नाम भी नहीं सहता, पिता को कहता है कि यह मेरा सौत जैसा वैरी है, (१५) ऐसा जो मान्यता से फूला हुआ हो वह उन्मत्त अभिमानी मानों नरक का एक रूढ़ मार्ग है (१६) दूसरों का सुख देखने का बहाना होते ही जो मनोवृत्ति को क्रोधाग्निरूपी विष चढ़ जाता है, (१७) तपे हुए तेल को ठण्डे जल की भेंट होते ही जैसे अग्नि भड़कती है, चन्द्रमा को देखते ही जैसे सियार मन में जलता है, (१८) विश्व की अवस्था जिससे प्रकाशित होती है उस सूर्य का उदय देखकर प्रातःकाल ही जैसे पापी घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं, (१९) जैसे संसार के लिए सुखकारी प्रातःकाल चोरों को मृत्यु से भी निकृष्ट मालूम होता है, अथवा जैसे सर्प द्वारा पिया गया दूध भी विष हो जाता है, (२४०) अथवा जैसे बड़वाग्नि अगाध समुद्र जल को पान करने पर भी जलती है और कभी शान्ति नहीं पाती, (४१) वैसे ही ज्यों-ज्यों दूसरों के विद्या, विनोद, ऐश्वर्य इत्यादि सौभाग्य दिखाई दें त्यों-त्यों जो रोष दुगुना हो उसे क्रोध जानो। (४२) जिसका मन सर्प की बाँबी हो, आँखें छूटे हुए बाण हों, भाषण बिच्छुओं की वर्षा हो, (४३) और अन्य क्रियासमूह फौलादी आरा हो, इस प्रकार जिसका बहिरन्तर तीक्ष्ण है (४४) उसे मनुष्यों में अधम पारुष्य का अवतार ही जानो। अब अज्ञान का लक्षण सुनो। (४५) शीतल या उष्ण स्पर्श का भेद जैसे पत्थर नहीं जानता अथवा जन्मान्ध जैसे रात और दिन नहीं पहचानता (४६) पेट में आग लग रही हो तो जैसे कोई खाने के विषय खाद्याखाद्य का विचार नहीं करता, अथवा पारस जैसे यह भेद नहीं करता कि यह सोना है अथवा लोहा (४७) अथवा करछी जैसे अनेक रसों में प्रवेश करती है परन्तु स्वयं रसास्वादन करना नहीं जानती, (४८) अथवा वायु जैसे भले-बुरे मार्ग की परीक्षा नहीं करती, वैसे ही कर्तव्याकर्तव्य के विषय में अन्धत्व होना (४९) बालक जैसे स्वच्छ या मलिन न देखकर जो दीखे उसे केवल मुँह में ही डाल लेता है (२५०) वैसे ही पाप पुण्य की खिचड़ी कर खाने पर बुद्धि को कड़वी या मधुर न मालूम होना, ऐसी जो दशा है (५१) उसका नाम अज्ञान है। ये वचन अन्यथा नहीं हैं।

इस प्रकार हम छहों दोषों के लक्षण कह चुके। (५१) इन छहों दोषों के आश्रय से यह आसुरी सम्पत्ति बलवती हुई है। जैसे सर्प का शरीर छोटा-सा पर विष बड़ा होता है, (५३) अथवा जैसे तीनों अग्नियों की पंक्ति देखने में छोटी-सी मालूम होती है परन्तु उसकी प्रत्याहुति के लिए विश्व भी पूरा नहीं पड़ता, (५४) अथवा त्रिदोष हो जाने पर जैसे ब्रह्मदेव की शरण जाने से भी मृत्यु नहीं टलती वैसे ही ये इन तीनों के दूने छः दोष जानो। (५५) इन सम्पूर्ण छहों से यह आसुरी सम्पत्ति उमड़ आई हुई है इसलिए यह न्यून नहीं है। (५६) परन्तु जैसे सभी दुष्ट ग्रहों का समुदाय एक ही राशि में स्थित हो जाता है, अथवा जैसे निन्दा करनेहारे के समीप सम्पूर्ण पाप पहुँच जाते हैं, (५७) मरनेहारे के शरीर को जैसे सभी रोग व्याप्त कर लेते हैं, अथवा जैसे बुरे मुहूर्त्त पर बुरे योग आ मिलते हैं, (५८) अथवा जैसे कोई विश्वास करनेहारा चोरों के हाथ लग जाता है, अथवा कोई थका हुआ मनुष्य बाढ़ में आ पड़ता है, जैसे ही ये दोष मनुष्य का आश्रय करते हैं, (५९) अथवा मृत्यु के समय बकरी को जैसे सात बिच्छुओं का बिच्छू मार देता है वैसे ही मनुष्य को ये छहों दोष आ लगते हैं। (२६०) मोक्षमार्ग की ओर जिसने पानी छोड़ दिया है, जो संसार से निकलना नहीं चाहता, इसी लिए उसमें डूबा रहता है, (६१) अधम योनियों से उतरते हुए हे किरीटी! जो स्थावरों के नीचे जा बैठता है (६२) और बर्ताव रखने हो, उस मनुष्य में ये छहों दोष आसुरी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं यह जानो। (६३) इस प्रकार ये दोनों सम्पत्तियाँ जो संसार में प्रसिद्ध हैं हमने अलग-अलग लक्षणों सहित कह बताईं। (६४)

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

इन दोनों में पहली जिसे हमने दैवी कहा वह, मानों मोक्षरूपी सूर्य का प्रकाशित अरुणोदय है, (६५) और दूसरी जो आसुरी सम्पत्ति है वह मानों जीव के लिए मोहरूपी लोहे की साँकल है। (६६) परन्तु यह सुन कर मन में डरो मत। दिन क्या रात्रि का डर रखता है? (६७) हे धनञ्जय! यह आसुरी सम्पत्ति उसके बन्धन के लिए है जो इन छहों दोषों का आश्रय बनता है। (६८) तुमने तो

करने आइए तो उसे सुनकर जो मत्सर करता और फूलने लगता (२२) और कहता है कि क्या शास्त्रो उस ईश्वर को, किए हो उस वेद को जो मेरी महिमा की मर्यादा को मङ्ग करता है, (२३) पतङ्ग को जैसे ज्योति नहीं भाती, खद्योत को जैसे सूर्य से घृणा उत्पन्न होती है, एक टिटहरी ने जैसे समुद्र से भी स्पर्धा की थी, (२४) वैसे ही जो अभिमान के मोह के कारण ईश्वर का नाम भी नहीं सहता, पिता को कहता है कि यह मेरा सौत जैसा वैरी है, (२५) ऐसा जो मान्यता से फूला हुआ हो वह उन्मत्तअभिमानी मानों नरक का एक खूब मार्ग है (२६) दूसरों का सुख देखने का बहाना होते ही जो मनोवृत्ति को क्रोधाग्निरूपी विष चढ़ जाता है, (२७) तपे हुए तेल को उसके जल की भेंट होते ही जैसे अग्नि भड़कती है, चन्द्रमा को देखते ही जैसे सियार मन में जलता है, (२८) विश्व की अवस्था जिससे प्रकाशित होती है उस सूर्य का उदय देखकर प्रातःकाल ही जैसे पापी घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं, (२६) जैसे संसार के लिए सुख-कारी प्रातःकाल चोरों को मृत्यु से भी निकृष्ट मालूम होता है, अथवा जैसे सर्प-द्वारा पिया गया दूध भी विष हो जाता है, (२४०) अथवा जैसे बड़वाग्नि अगाध समुद्र जल का पान करने पर भी जलती है और कभी शान्ति नहीं पाती, (४१) वैसे ही ज्यों-ज्यों दूसरों के विद्या, विनोद, ऐश्वर्य इत्यादि सौभाग्य दिखाई दें त्यों-त्यों जो रोष दुगुना हो उसे क्रोध जानो। (४२) जिसका मन सर्प की बाँबी हो, आँखें छूटे हुए बाण हों, भाषण बिच्छुओं की वर्षा हो, (४३) और अन्य क्रियासमूह फौलादी आरा हो, इस प्रकार जिसका बहिरन्तर तीक्ष्ण है (४४) उसे मनुष्यों में अधम पारुष्य का अवतार ही जानो। अब अज्ञान का लक्षण सुनो। (४५) शीतल या उष्ण स्पर्श का भेद जैसे पत्थर नहीं जानता अथवा जन्मान्ध जैसे रात और दिन नहीं पहचानता (४६) घर में आग लग रही हो तो जैसे कोई खाने के विषय खाद्याखाद्य का विचार नहीं करता, अथवा पारस जैसे यह भेद नहीं करता कि यह सोना है अथवा लोहा (४७) अथवा कलछी जैसे अनेक रसों में प्रवेश करती है परन्तु स्वयं रसास्वादन जानना नहीं जानती, (४८) अथवा वायु जैसे भले-बुरे मार्ग की परीक्षा नहीं करती वैसे ही कर्तव्या-कर्तव्य के विषय में अत्यन्त होना (४६) बालक जैसे स्वच्छ या मलिन न देखकर जो दीखे उसे केवल मुँह में ही डाल लेता है (२५०) वैसे ही पाप-पुण्य की खिचड़ी कर खाने पर बुद्धि को कड़ुवी या मधुर न मालूम होना, ऐसी जो दशा है (५१) उसका नाम अज्ञान है। ये वचन अन्यथा नहीं हैं।

और निवृत्ति दोनों नहीं जानते और शुचित्व तो वे स्वप्न में भी नहीं देखते। (८४) कोयला अपना कालापन छोड़ दे चाहे कौआ भी सुफेद हो जावे; राक्षस भी मांस खाने से अच्छा जावे, (८५) परन्तु हे धनञ्जय! मद्य का पात्र जैसे कभी पवित्र नहीं होता वैसे ही आसुर प्राणियों को शुचिता नहीं रहती। (८६) विध्युक्त कर्मों की इच्छा करना, अथवा अपने पूर्वजों की रीति के अनुसार चलना अथवा शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करना इत्यादि बातें वे जानते ही नहीं। (८७) जैसे बकरी का चरना या वायु का चलना या अग्नि का जलना चाहे जैसा होता है, (८८) वैसे ही वे आसुरजन स्वेच्छा को आगे कर आचरण करते हैं। सत्य से तो उन्हें सर्वदा वैर ही होता है। (८९) बिच्छू अपने डंक से यदि गुदगुदी पैदा करे तभी उनके सत्य भाषण बोलने की सम्भावना हो सकती है। (९१०) अपान द्वार से कभी सुगन्ध का निकलना हो सके तभी उन आसुरों के समीप सत्य दिखाई दे सकता है। (९१) इस प्रकार वे कुछ न करते हुए स्वभावतः बुरे होते हैं। अब हम उनके भाषण की अपूर्वता का वर्णन करते हैं। (९२) वास्तव में ऊँट का शरीर कैसे भला चङ्गा हो सकता है? वैसा ही आसुरों का भी हाल है। यह वर्णन भी अवसरानुसार सुनो। (९३) हम स्पष्ट कहते हैं कि धुँआरे का मुँह जैसा धुँए के ममके उगलता है वैसे ही उनके शब्द होते हैं। (९४)

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

यह जगत् एक अनादि स्थल है, इसका नियन्ता ईश्वर है यहाँ न्यायान्याय आचरणों का निर्णय वेद की कचहरी में होता है; (९५) वेद जिसे अन्यायी कहता है उसे नरकभोग का दण्ड भोगना पड़ता है और वह जिसे न्यायी कहता है वह सुख से स्वर्ग में जीवन धारण करता है। (९६) हे पार्थ! यह जो विश्व-व्यवस्था अनादिकाल से चली है उसे वे सब वृथा समझते हैं। (९७) वे कहते हैं कि यज्ञों ने मूर्ख याज्ञिकों को ठग लिया है, प्रतिमा या सिद्धों ने देवों पर विश्वास कराकर पागल लोगों को फँसाया है, और गेरुवे कपड़े पहननेवाले योगी भी समाधि के भ्रम में फँसे हैं। (९८) संसार में अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ मिले उसका उपभोग लेने के अतिरिक्त क्या

हे पाण्डव! हमने जो दैवी गुणों का वर्णन किया उनके समूह का जन्म लिया है। (६९) इसलिए हे पार्थ! तुम इस दैवी सम्पत्ति के स्वामी होकर कैवल्य के सुख को प्राप्त हो। (२७०)

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दैव और आसुर सम्पत्तिमान् मनुष्यों के व्यवहार का प्रसिद्ध मार्ग अनादिकाल से सिद्ध है। (७१) जैसे निशाचर रात्रि के समय व्यापार करते हैं और मनुष्य इत्यादि दिन के समय व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, (७२) वैसे ही हे किरीटी! संसार में दैवी और राक्षसी दोनों सृष्टियाँ अपने अपने व्यापार के अनुसार चलती हैं। (७३) इनमें से दैवी सम्पत्ति का वर्णन हम पीछे ज्ञानकथन इत्यादि प्रस्ताव के समय उत्तम रीति से विस्तार-सहित कर चुके हैं। (७४) अब जो आसुरी सृष्टि है यहाँ की वार्ता कहते हैं, खूब ध्यान से सुनो। (७५) बाद्य के बिना किसी को ध्वनि नहीं सुनाई दे सकती, अथवा पुष्प के बिना जैसे मकरन्द नहीं मिल सकता (७६) वैसे ही यह आसुरी प्रकृति भी एक-आध शरीर का स्वीकार किये बिना केवल अकेली गोचर नहीं होती। (७७) ईंधन में प्रकट हुई अग्नि जैसे दिखाई देती है, वैसे ही प्राणियों के शरीर का आश्रय ले यही यह प्रकृति बढ़ जाती है। (७८) उस समय प्राणियों की देह-दशा ऐसी हो जाती है जैसी कि ईख की। ईख की बाढ़ की ही तरह उसके आन्तरिक रस की भी बाढ़ होती है। (७९) अब हे धनञ्जय! हम उन प्राणियों का वर्णन करते हैं जो आसुरी दोषों के समूह से बने हैं। (२८०)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

इस बात का कि पुण्य में प्रवृत्त होना चाहिए और पाप से निवृत्त होना चाहिए उनके मन में अन्धकार रहता है। (८१) जैसे [रेशम] का कीड़ा जैसे निकलने या प्रवेश करने के मार्ग की ओर चित्त न दे कर शीघ्र ही संकट में पड़ता है, (८२) अथवा मूर्ख जैसे इस बात की बात का कि दिया हुआ मूल्य वसूल होगा, कि न होगा, विचार न करके चोरों को द्रव्य दे देता है (८३) वैसे ही आसुर जन प्रवृत्ति

नास्तिकता का एक निशान खड़ा कर देते हैं। (१५) उस समय स्वर्ग के लिए आदर अथवा नरक का डर आदि वासनाओं का अंकुर ही जल जाता है, (१६) और हे सुहृद ! वे केवल अपने देहरूपी लोष्ठ में विषयरूप कीचड़ में अपवित्र जल के बुलबुले के समान डूब जाते हैं। (१७) जलचरों की जब मृत्यु आती है तब दह में डीमर उपस्थित हो जाते हैं अथवा शरीर छूटने का समय आता है तो रोगों का उदय हो जाता है (१८) अथवा केतु का उदय जैसे जगत् के अहित के हेतु होता है वैसे ही वे आसुर जन लोगों की मृत्यु के लिए ही जन्म लेते हैं। (१९) अशुभरूपी वृक्ष उगने पर उसके जो अंकुर फूटें वैसे ही वे हैं, अथवा वे मानों पाप के चलते फिरते कीर्तिस्तम्भ हैं। (२२०) और अग्नि जैसे आगे-पीछे जलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती वैसे ही वे हर किसी का विपरीत ही करते हैं। (२१) अब मीकृष्ण पार्थ से कहते हैं कि ऐसे कर्म वे जिस बल के सहाय से करते हैं। उसका वर्णन सुनो। (२२)

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

जाल पानी से नहीं भरता। आग ईंधन से शान्त नहीं होती। ऐसे कभी न अघानेहारों में श्रेष्ठ जो भूखा काम है (२३) उसका प्रेम अन्तःकरण में रख। हे पाण्डव ! वे दम्भ, सन्मान इत्यादि का समुदाय इकट्ठा करते हैं। (२४) हाथी के मत्त हो जाने से जैसे मदिरा की विशेषता प्रकट होती है वैसे ही ज्यों ज्यों शरीर वृद्ध होता जाता है त्यों-त्यों वे अभिमान से फूलते हैं (२५) और आग्रह के स्थल भी वही बनते हैं। उस पर उन्हें मूर्खता जैसा सहायक मिल जाता है, फिर उनके निश्चय की स्थिति का क्या वर्णन करें ! (२६) जिनसे दूसरों को दुःख हो जिनसे दूसरों के अन्तःकरण व्याकुल हों ऐसे कर्म करते हुए उनकी जन्मवृत्ति दृढ़ हो जाती है। (२७) फिर वे अपने कर्मों की शेखी मारते हैं और सब संसार को धिक्कारते हैं और दसों दिशाओं में अपनी वासना का जाल फैलाते हैं। (२८) ऐसे गुणों के विस्तार से जैसे कोई धमार्थ छोड़ी हुई गाय खेतों का नाश करती फिरती है वैसे, वे पापों की ही महिमा बढ़ाते हैं। (२९)

और कोई पुण्य है ? (९९) अथवा निज की निर्धनता के कारण यदि स्त्रियों का उपार्जन नहीं हो सकता है तो विषय-सुख से विहीन हो दुःखी होना ही पाप है। (१००) धनवानों के प्राण लेना यद्यपि पाप हो तथापि उनका सर्वस्व हाथ लगना वास्तव में पुण्य का फल है। (१) बलवान् का निर्बल को खाना जो निषिद्ध धर्म कहा जाय तो मछलियों का निर्वंश क्यों नहीं हो जाता ? (२) और यदि ऐसा कहो कि प्रजारम्भ के हेतु उत्तम कुल देखकर कुमार और कुमारी का विवाह उत्तम मुहूर्त पर करना चाहिए (३) तो पशु-पक्षी इत्यादि के विवाह—जिनकी सन्तति की गणना नहीं की जा सकती—कौन से विधि-विधान-पूर्वक हुए हैं ? (४) चोरी का लाया हुआ धन किसे विषरूप हुआ है ? अपनी रुचि के अनुसार व्यभिचार करने से क्या कोई कोढ़ी हो जाता है ? (५) इसलिए ईश्वर अपना स्वामी है, वह धर्माधर्म का भोग करवाता है, और जो धर्माधर्म करता है वही परलोक में सुखदुःख भोगता है (६) आदि विधान करना, परलोक या ईश दिखाई नहीं देता इसलिए, वृथा है। कर्ता हमेशा ही मर जाता है तो भोगों के लिए स्थल ही कौन-सा रहा ? (७) वास्तव में स्वर्गलोक में उर्वशी के साथ इन्द्र जैसा सुखी है वैसा ही कृमि भी नरक में पड़ा हुआ सन्तोष मानता है। (८) अतएव नरक या स्वर्ग पाप या पुण्य के स्थान नहीं हैं, क्योंकि दोनों स्थानों में कामसुख का ही भाग है। (९) सदा सकाम स्त्री-पुरुषों के मिलने के संयोग से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, (११०) और वह अपने स्वार्थ के लिए अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न वस्तुओं का पोषण करता है उनका नाश भी परस्पर द्वेष के द्वारा काम ही करता है। (११) अतः काम के अतिरिक्त इस जगत् का दूसरा मूल ही नहीं है। यह उन आसुरों का मत है। (१२) अस्तु, अब इस निन्दास्पद कथन का विस्तार नहीं करते। इसका वर्णन करना वृथा बोलना है। (१३)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

ये आसुर जन ईश्वर के विरुद्ध केवल बकवाद ही करते हैं। यह भी नहीं कि अन्तःकरण में कोई एक निश्चय रखते हों। (१४) बहुत क्या, जिन को सुस्पष्ट पाखण्डी कहना चाहिए अन्तःकरण में मानो

नास्तिकता का एक निशान खड़ा कर देते हैं। (१५) उस समय स्वर्ग के लिए आदर अथवा नरक का डर आदि वासनाओं का अंकुर ही जल जाता है, (१६) और हे सुव्रत! वे केवल अपने देहरूपी खोल में विषयरूप कीचड़ में अपवित्र जल के बुलबुले के समान डूब जाते हैं। (१७) जलचरों की जब मृत्यु आती है तब वह में धीमर उपस्थित हो जाते हैं, अथवा शरीर छूटने का समय आता है तो रोगों का उदय हो जाता है (१८) अथवा केतु का उदय जैसे जगत् के अहित के हेतु होता है वैसे ही वे आसुर जन लोगों की मृत्यु के लिए ही जन्म लेते हैं। (१९) अशुभरूपी वृक्ष उगने पर उसके जो अंकुर फूटें वैसे ही वे हैं अथवा वे मानों पाप के चलते-फिरते कीर्तिस्तम्भ हैं। (१२०) और अग्नि जैसे आगे-पीछे जलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती वैसे ही वे हर किसी का विपरीत ही करते हैं। (२१) अब श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं कि ऐसे कर्म वे जिस बल के सहाय से करते हैं। उसका वर्णन सुनो। (२२)

कामभाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

जाल पानी से नहीं भरता। आग ईंधन से शान्त नहीं होती। ऐसे कभी न अघानेहारों में श्रेष्ठ जो मूला काम है (२३) उसका प्रेम अन्तःकरण में रख। हे पाण्डव! वे दम्भ, सम्मान इत्यादि का समुदाय इकट्ठा करते हैं। (२४) हाथी के मत्त हो जाने से जैसे मदिरा की विशेषता प्रकट होती है वैसे ही ज्यों ज्यों शरीर वृद्ध होता जाता है त्यों-त्यों वे अभिमान से फूलते हैं (२५) और आग्रह के स्थान भी वही बनते हैं। उस पर उन्हें मूर्खता जैसा सहायक मिल जाता है, फिर उनके निश्चय की स्थिति का क्या वर्णन करें! (२६) जिससे दूसरों को दुःख हो, जिससे दूसरों के अन्तःकरण व्याकुल हों ऐसे कर्म करते हुए उनकी जन्मवृत्ति दृढ़ हो जाती है। (२७) फिर वे अपने कर्मों की शेखी मारते हैं और सब संसार को धिक्कारते हैं और दसों दिशाओं में अपनी वासना का जाल फैलाते हैं। (२८) ऐसे गुणों के विस्तार से जैसे कोई धर्मार्थ छोड़ी हुई गाय खेतों का नाश करती फिरती है वैसे वे पापों की ही महिमा बढ़ाते हैं। (२९)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

केवल उपर्युक्त सामग्री के सहाय से वे कर्म में प्रवृत्त होते हैं तथा जीवन के अनन्तर की भी चिन्ता करते हैं। (३१०) जो पाताल से भी गहरी होती है, जिसकी विशालता के सामने आकाश भी छोटा है, तथा जिसके सम्मुख त्रिभुवन एक अणु के बराबर भी नहीं है, (११) जो भोगरूपी यम का माप करनेहारी है, जैसे उनकी अपने प्रिय मनुष्य को छोड़ना नहीं जानती वैसे ही जो हृदय में निरन्तर चिन्तन करती है, (१२) ऐसी अपार चिन्ता को वे सर्वदा बढ़ाते रहते हैं और अन्तःकरण में निःसार विषय इत्यादि का संकल्प करते हैं। (१३) स्त्रियों के गीत सुनने चाहियें, आँखों से स्त्रियों के रूप देखने चाहियें, सब इन्द्रियों से स्त्रियों का ही आलिङ्गन करना चाहिए, (१४) जिस पर से अमृत भी निछावर की जावे ऐसा सुख स्त्री के अतिरिक्त है ही नहीं, इस प्रकार का निश्चय उनके चित्त में रहता है। (१५) और उसी स्त्री भोग के लिए वे स्वर्ग पाताल या दिशाओं की सीमा के बाहर भी दौड़ते फिरते हैं। (१६)

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

मछली जैसे बिना विचारे बड़ी आशा से आमिष का कौर लील लेती है, वही हाल उनका विषयों की आशा से हो जाता है। (१७) जिस वस्तु की इच्छा हो वह तो प्राप्त नहीं होती पर उनकी आशा-तन्तु बढ़ते-बढ़ते वे कोये के कीड़े बन जाते हैं (१८) और जो अभिलाष फैलाते हैं उसका अपूर्ण होना ही द्वेष है, एवं उनका पुरुषार्थ काम या क्रोध के सिवाय कोई अधिक नहीं है। (१९) सिपाही जैसा दिन को मालिक के आगे-आगे चलता है और रात को पहरा देता है, अर्थात् जैसे हे पाण्डव ! उसे रात और दिन विश्राम ही नहीं मिलता, (२०) वैसे ही काम ऊँचे से ढकेलता है या वे क्रोध की टेकड़ी पर आ गिरते हैं, तथापि वे राग और द्वेष के प्रेम के कारण नहीं फूले नहीं समाते। (२१) मन के अभिप्रायानुसार विषय-वासना का उपराय इकट्ठा किया हो तथापि उसका भोग तो द्रव्य

के ही द्वारा हो सकेगा, कि नहीं ? (४२) अतएव उस भोग के लिए आवश्यक द्रव्य का उपार्जन करने के हेतु वे चारों ओर से संसार से छीना-झपटी करते हैं। (४३) किसी को अवसर देख मारते हैं, किसी का सर्वस्व हर लेते हैं, किसी के नाश के लिए अनेक यन्त्रों का प्रबन्ध करते हैं। (४४) जैसे बहेलिये जङ्गल को जाते समय फन्दे, डोरे, जालियाँ, कुत्ते, बाज, पक्षी, चिमटियाँ भाले इत्यादि ले जाते हैं, (४५) और अपना पेट पालने के लिए प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड मार के खाते हैं, वैसा ही निकृष्ट कर्म वे आसुर लोग करते हैं। (४६) दूसरों के प्राणों का घात कर द्रव्य प्राप्त करते हैं और द्रव्य मिलने पर उन्हें अन्तःकरण में अत्यन्त सन्तोष होता है। (४७)

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

वे मन में कहते हैं कि आज हमने बहुतेरों की सम्पत्ति हस्तगत कर ली ! हम धन्य हुए कि नहीं ? (४८) इस प्रकार ज्योंही वे निज की प्रशंसा करते हैं त्योंही मन में और भी अभिलाषा उत्पन्न होती है। और साथ ही वे सोचने लगते हैं कि अब और दूसरों का धन हर लावेंगे, (४९) तथा यह जितना धन प्राप्त किया है उतनी पूँजी से शेष सब चराचर का नफ़ा प्राप्त करेंगे, (५०) और इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के धन के स्वामी हमीं बनेंगे और फिर जिसी देखेंगे उसे बचने न देंगे। (५१)

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

ये शत्रु जिनका हमने वध किया है थोड़े से हैं और भी अनेकों को मारेंगे और फिर हमीं अकेले प्रतिष्ठा के साथ रहेंगे। (५२) फिर हमारे जो आज्ञाधारक होंगे उनके अतिरिक्त अन्यों का नाश कर डालेंगे। बहुत क्या कहें, संसार में ईश्वर हमीं हैं। (५३) हम भोगरूपी राज्य के राजा हैं। आज हम सब सुखों के आश्रय हैं, अब एक इन्द्र भी हमारे सम्मुख तुच्छ है। (५४) हम काया-वाचा-मन से जो करना चाहें वह कैसे न होगा ? आज हमारे अतिरिक्त आज्ञा पालन करानेहारा दूसरा कौन है ? (५५) अभी तभी तक बलवान

समस्तना चाहिए कम एक हमसे महाबलवान् हम नहीं दिखाई दिये। सच तो यह है कि सुख की एकमात्र राशि हमीं हैं। (५६)

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

कुबेर धनाढ्य कहलाता है पर वह भी हमें नहीं पाता। हमारे समान सम्पत्ति विष्णु के भी नहीं है। (५७) हमारे कुल के महत्त्व अथवा हमारी जाति या गोत्रसमुदाय के सामने ब्रह्मा भी कुछ घटिया जान पड़ता है। (५८) अतएव ईश्वर इत्यादि सब वृथा नाम की ही प्रतिष्ठा बघारते हैं। हमारी बराबरी कर सके ऐसा कोई भी नहीं है। (५९) जादू-टोना जो लुप्त हो गया है उसका हम उद्धार करेंगे। शत्रुओं को पीड़ा करनेहारे यज्ञों की भी स्थापना करेंगे। (६०) जो लोग हमारी स्तुति गावेंगे, हमारा वर्णन करेंगे, नाट्य या नाच कर हमें रिझावेंगे उन्हें हम जो वे माँगेंगे सो देंगे। (६१) मादक मद्य का पान सेवन कर, स्त्रियों का आलिङ्गन कर, हम त्रिभुवन में आनन्दरूप हो रहेंगे। (६२) बहुत क्या वर्णन करें, वे आसुरी प्रकृति से उत्पन्न हुए जन इस प्रकार अपरिमित मनोरथों के वश हो आकाश-पुष्प सूँघने की चेष्टा करते हैं। (६३)

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

ज्वर के आवेश में रोगी जैसे चाहे जैसी बकबक करता है वैसे ही वे आसुर जन सङ्कल्प के वश हो बका करते हैं। (६४) अज्ञानरूपी धूल में जा पड़ने से वे आशारूपी आँधी के साथ मनोरथरूपी आकाश में घूमते रहते हैं। (६५) आषाढ़ के मेघ जैसे निरन्तर बने रहते हैं, अथवा समुद्र की लहरें जैसे अखण्डित रहती हैं वैसे ही वे सदैव अनेक मनोरथों की इच्छा करते हैं, (६६) तब उनके हृदयों में मनोरथों की बेलों की जालियाँ बन जाती हैं मानों कमलों के फूल काँटों से फट गये हों (६७) अथवा हे पार्थ! पत्थर पर जैसे कोई हाँडी फूट जाय और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ वैसे उनका अन्तःकरण अनेकधा

जाता है। (६६) और ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है त्यों-त्यों विषय प्रीति भी बढ़ती जाती है और जहाँ विषय है वहाँ पाप का ठौर है। (१७०) बहुतेरे पाप मिल कर जब अपना बल प्रकट करते हैं तो जीते-जी मानों नरक ही उपस्थित हो जाता है। (७१) अतएव हे सुमति! जो मनोरथों का पालन करते हैं वे उस नरक की बस्ती पाते हैं। (७२) जहाँ तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्तों के वृक्ष हैं, खेर के अङ्गारों के पर्वत हैं और तपे हुए तेल के उफनते हुए समुद्र हैं, (७३) जहाँ यातनाओं की पंक्ति ही नित्य नूतन यमदण्ड है, उस दारुण नरकलोक में वे आ पड़ते हैं (७४) ऐसे नरक के चुने हुए भाग में जिन-जिन का जन्म होता है वे भी देखो तो यज्ञ-यागादि करने में भूले हुए रहते हैं। (७५) यों तो वे सब यज्ञादि क्रियाओं की मूर्तियाँ ही हैं परन्तु हे धनञ्जय! उनका आचरण केवल नटों के समान होने के कारण वे क्रियायें विफल हो जाती हैं। (७६) जैसे कुलटा स्त्रियाँ वल्लभ की प्रीति सम्पादन कर केवल पति के अस्तित्व से ही सन्तोष मानती हैं, (७७)

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

—वैसे ही वे आप ही निज को श्रेष्ठ समझ कर असामान्य गर्व से फूलते हैं। (७८) गलाये हुए लोहे के खम्भे अथवा आकाश में ऊँचे चढ़े हुए पर्वत जैसे नम्र होना नहीं जानते वैसा ही उनका भी हाल समझो। (७९) वे अपनी महत्ता से आप ही अन्तःकरण में सन्तुष्ट हो और सबको तृण से भी तुच्छ समझते हैं। (१८०) हे धनुर्धर! इसके अतिरिक्त वे धनरूपी मदिरा से मत्त हो कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार को त्याग कर देते हैं। (८१) जिनके समीप वस्तु रूप सामग्रियाँ हैं उनके पास यज्ञ की वार्ता ही क्या पूछना है? तथापि पागल क्या नहीं करते? (८२) वे किसी समय व मूर्खता-रूपी मदिरा की धुन में यज्ञों की भी अवहेलना आरम्भ कर देते हैं। (८३) न कुण्ड बनाते हैं, न वेदी न मण्डप और न योग्य साधन-सामग्री रखते हैं तथा विधि से और उससे तो सदा ही विरोध रहता है। (८४) देव या ब्राह्मण का नाम लिये हुए तो हवा भी आती नहीं आ सकती—ऐसी जहाँ स्थिति है वहाँ देव या ब्राह्मण कौन आने लगा? (८५) पर चतुर लोग

समझना चाहिए जब तक उसे महाबलवान् हम नहीं दिखाई दिये। सच तो यह है कि सुख की एकमात्र राशि हमीं हैं। (५६)

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

कुबेर धनाढ्य कहलाता है पर वह भी हमें नहीं पाता। हमारे समान सम्पत्ति विष्णु के भी नहीं है। (५७) हमारे कुल के महत्त्व अथवा हमारी जाति या गोत्रसमुदाय के सामने ब्रह्मा भी तुच्छ घटिया जान पड़ता है। (५८) अतएव ईश्वर इत्यादि सब वृथा नाम की ही प्रतिष्ठा बघारते हैं। हमारी बराबरी कर सके ऐसा कोई भी नहीं है। (५९) जादू-टोना जो लुप्त हो गया है उसका हम उद्धार करेंगे। शत्रुओं को पीड़ा करनेहारे यज्ञों की भी स्थापना करेंगे। (६६०) जो लोग हमारी स्तुति गावेंगे, हमारा वर्णन करेंगे, नाच या गान कर हमें रिझावेंगे उन्हें हम जो वे माँगेंगे सो देंगे। (६१) मादक अन्न या पान सेवन कर, स्त्रियों का आलिङ्गन कर, हम त्रिभुवन में आनन्दरूप हो रहेंगे। (६२) बहुत क्या बखान करें, वे आसुरी प्रकृति से उन्मत्त हुए जन इस प्रकार अपरिमित मनोरथों के वश हो आकाश-पुष्प सूँघने की चेष्टा करते हैं। (६३)

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

ज्वर के आवेश में रोगी जैसे चाहे जैसी बकबक करता है वैसे ही वे आसुर जन सङ्कल्प के वश हो बका करते हैं। (६४) अज्ञानरूपी धूल में आ पड़ने से वे आशारूपी आँधी के साथ मनोरथरूपी आकाश में घूमते रहते हैं। (६५) आषाढ़ के मेघ जैसे निरन्तर बने रहते हैं, अथवा समुद्र की लहरें जैसे अखण्डित रहती हैं वैसे ही वे सदैव अनेक मनोरथों की इच्छा करते हैं, (६६) एवं उनके हृदयों में मनोरथों की बेलों की जालियाँ बन जाती हैं मानों कमलों के फूल काँटों से फट गये हों (६७) अथवा हे पार्थ! पत्थर पर जैसे कोई हाँडी फूट जाय और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ वैसे उनका अन्तःकरण अनेकधा हो जाता है। (६८) तब फिर ज्यों-ज्यों रात होती है त्यों-त्यों जैसे अँधेरा अधिक होता जाता है वैसे ही उनके हृदय में मोह बढ़ता

स्थान वेद-विहित होमकर्मों से शुद्ध हुए हैं (३) उन्हें वे दुर्जन द्वेषरूपी तीखे अकूट विष का लेप कर दुर्वचनों के तीव्र बाण मारते हैं। (४)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इस प्रकार जो सब तरह से मुझसे ही वैर करने में प्रवृत्त हैं उन पापियों का मैं क्या करता हूँ सो सुनो। (५) मनुष्य-देह को एक बखाच्छादन समझ कर संसार से रहने की योग्यता उनसे मैं हर लेता हूँ और उन्हें ऐसे रखता हूँ (६) कि उन मूर्खों को क्लेश रूपी गाँव का पूरा या संसारसमुद्र का पनघट जैसी तमोयोनियों की वृत्ति ही दे देता हूँ, (७) और फिर मैं ऐसा करता हूँ कि जहाँ आहार के नाम से तृण भी नहीं उगता ऐसे वन के रहनेहारे बाघ बिच्छू इत्यादि वे बनें। (८) वहाँ वे भूख से अत्यन्त व्याकुल हो निज को ही काट-काट खाते और मर-मर कर फिर जन्म लेते ही रहते हैं (९) अथवा मैं उन्हें सर्प बनाता हूँ, जो विष भटका हुआ निज की विषाग्नि से अपने ही शरीर की त्वचा जला लेता है; (४१०) तथा, लिया हुआ श्वास बाहर छोड़ने में जितना काल लगता है। उतनी भी विश्रान्ति उन दुर्जनों को न मिले (११) ऐसी स्थिति में रख कर मैं उन्हें उस क्लेश में से कोटिशः कल्प भी गिनती में थोड़े हों इतने काल तक, बाहर नहीं निकालता। (१२) तथापि अन्त में उन्हें जहाँ जाना पड़ता है वहाँ का यह पहला मुकाम समझो। अन्त के स्थान को पहुँचने पर जो दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं उनके सामने अन्य दुःख कुछ वास्तव नहीं हैं। (१३)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी सम्पत्ति इतनी घोर रहती है। यह सम्पत्ति नहीं उन लोगों को प्राप्त की हुई अधोगति ही समझो। (१४) इसके अनन्तर व्याघ्र इत्यादि तामस योनियों में जो थोड़ी-सी देहाधाररूपी स्वस्थता रहती है (१५) उसका हेतु भी मैं हर लेता हूँ। और फिर उनके लिए सब कुछ एकदम तमोरूप ही हो जाता है, जहाँ जाने से कि अँधेरा

जैसे कृत्रिम बछड़ा बना कर गाय के सम्मुख रख दूध दुह लेते हैं (८६) वैसे ही वे आसुर जन बड़ी महत्त्वाकांक्षा रख कर यज्ञ के नाम से सम्पूर्ण जगत् का निमन्त्रण कर व्यवहार के बहाने सबको लूटते हैं। (८७) एवं जो कुछ वे अपने करने के लिए हवन करते हैं उससे मानों सर्वेश्वर प्राणियों के नाश की इच्छा करते हैं। (८८)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

और फिर स्वयं अपने दीक्षितपन का मानों बड़ा और बेजा बजा कर संसार में वृथा डौंडी पीटते हैं, (८९) तथा उस गर्व से उन अधमों को और अधिक घमण्ड चढ़ता है। जैसे अन्धकार में अमावस के पुट दिये जायें। (९०) उसी प्रकार उनकी मूर्खता अद्भुत होती है, उनका औद्धत्य बढ़ता है तथा अहङ्कार और अभिमान दुगुना होता है। (९१) फिर मानों दूसरे बलवान् की वार्ता ही बिलकुल मिटा देने के लिए उनमें बलवानों से भी अधिक बल आ जाता है। (९२) इस प्रकार अहङ्कार और बल का ऐक्य हो जाने से उनका दर्प-रूपी समुद्र अपनी सीमा-रेखा का उल्लङ्घन कर उफनाता है। (९३) दर्प के उमड़ने से काम का चित्त भी भड़कता है और उसके प्रकोप से क्रोधाग्नि भी खूब भभक उठती है, (९४) तब जैसे ग्रीष्मऋतु में तेल या घी के कोठे में अत्यन्त प्रखर आग लगे और उस पर हवा भी खूब तेज चले। (९५) वैसे ही जिनमें अहङ्कार बलवान् हो गया हो और दर्प काम और क्रोध से वह संयुक्त हो गया हो, (९६) वे हे वीरेश! अपने इच्छानुसार किन प्राणियों का वध कर डाला न करेंगे। (९७) हे धनुर्धर! पहले तो वे जारण-मारण इत्यादि में अपना ही मांस या रक्त खर्च करते हैं। (९८) उसमें जिन शरीरों को वे पीड़ा देते हैं उसमें रहनेवाला मैं जो आत्मा हूँ उसे वे घाव सहने पड़ते हैं (९९) तथा वे जारण-मारण करनेहारे और जो कुछ उपद्रव करते हैं उसमें मुझ चैतन्य को ही पीड़ा पहुँचती है। (५००) उनके जारण-मारण से कदाचित् कोई बच जाय तो उस पर वे दुष्टता का पत्थर फेंकते हैं। (१) पतिव्रता या सत्पुरुष दानशील याज्ञिक तपस्वी या कोई असाधारण संन्यासी, (२) अथवा कोई भक्त या महात्मा आदि जो मेरे निज के निवास-

स्थान वेद-विहित होमधर्मों से शुद्ध हुए हैं (३) उन्हें वे दुर्जन द्वेषरूपी तोप से अप्रकूट विष का लेप कर दुर्वचनों के तीव्र बाण मारते हैं। (४)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इस प्रकार जो सब तरह से मुझसे ही वैर करने में प्रवृत्त हैं उन पापियों का मैं क्या करता हूँ सो सुनो। (५) मनुष्य-देह को एक बड़ाआच्छादन समझ कर संसार से उठने की योग्यता उनसे मैं हर लेता हूँ और उन्हें ऐसे रखता हूँ (६) कि उन मूर्खों को क्लेश-रूपी गाँव का घूरा या संसारसमुद्र का पनघट जैसी तमोयोनियों की वृत्ति ही दे देता हूँ, (७) और फिर मैं ऐसा करता हूँ कि जहाँ आहार के नाम से तृण भी नहीं उगता ऐसे वन के रहनेहारे बाघ बिच्छू इत्यादि वे बनें। (८) वहाँ वे भूख से अत्यन्त व्याकुल हो निज को ही काट-काट खाते और मर मर कर फिर जन्म लेते ही रहते हैं (९) अथवा मैं उन्हें सर्प बनाता हूँ, जो विल भटका हुआ निज की विषाग्नि से अपने ही शरीर की त्वचा जला लेता है, (४१०) तथा, लिया हुआ श्वास बाहर छोड़ने में जितना काल लगता है। उतनी भी विश्रान्ति उन दुर्जनों को न मिले (११) ऐसी स्थिति में रख कर मैं उन्हें उस क्लेश में से कोटिशः कल्प भी गिनती में थोड़े हों उतने काल तक, बाहर नहीं निकालता। (१२) तथापि अन्त में उन्हें जहाँ जाना पड़ता है वहाँ का यह पहला मुकाम समझो। अन्त के स्थान को पहुँचने पर जो दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं उनके सामने अन्य दुःख कुछ दारुण नहीं हैं। (१३)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी सम्पत्ति इतनी घोर रहती है। वह सम्पत्ति जहाँ उन लोगों को प्राप्त की हुई अधोगति ही समझो। (१४) इसके अनन्तर व्याघ्र इत्यादि तामस योनियों में जो थोड़ी-सी देहधारणरूपी स्वस्थता रहती है (१५) उसका हेतु भी मैं हर लेता हूँ। और फिर उनके लिए सब कुछ एकदम तमोरूप ही हो जाता है, जहाँ जाने से कि अँधेरा

जैसे कृत्रिम बछड़ा बना कर गाय के सम्मुख रख दूध दुह लेते हैं (८८) वैसे ही वे आसुर जन बड़ी महत्त्वाकांक्षा रख कर यज्ञ के नाम से सम्पूर्ण जगत् का निमन्त्रण कर व्यवहार के चाले उनको लूटते हैं। (८७) एवं जो कुछ वे अपने उत्कर्ष के लिए कर्म करते हैं उससे मानों सर्वश: प्राणियों के नाश की इच्छा करते हैं। (८८)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

और फिर स्वयं अपने ढीठपन का मानों बड़ा और ढोल बजा कर संसार में वृथा डौंडी पीटते हैं, (८६) तथा उस महत्त्व से उन अधर्मों को और अधिक धमण्ड चढ़ता है। जैसे अन्धकार में काजल के पुट दिये जायें। (६०) उसी प्रकार उनकी मूढ़ता बढ़ी हुई होती है, उनका औद्धत्य बढ़ता है तथा अहङ्कार और अविचार दुगुना होता है। (६१) फिर मानों दूसरे बलवान् की मात्रा ही बिलकुल मिटा देने के लिए उनमें बलवानों से भी अधिक बल आ जाता है। (६२) इस प्रकार अहङ्कार और बल का ऐक्य हो जाने से उनका दर्प-रूपी समुद्र अपनी सीमा-रेखा का उल्लङ्घन कर उफनाता है। (६३) दर्प के चमकने से काम का पित्त भी भड़कता है और उसके प्रकोप से क्रोधाग्नि भी खूब धमक उठती है, (६४) तब जैसे ग्रीष्मऋतु में तेल या घी के कोठे में अत्यन्त प्रखर आग लगे और उस पर हवा भी खूब तेज चले। (६५) वैसे ही जिनमें अहङ्कार बलवान् हो गया हो और दर्प काम और क्रोध से वह संयुक्त हो गया हो, (६६) वे हे वीरेश! अपने इच्छानुसार किन प्राणियों का वध भला किया न करेंगे! (६७) हे धनुर्धर! पहले तो वे जारण-मारण इत्यादि में अपना ही मांस या रक्त खर्च करते हैं। (६८) उसमें जिन शरीरों को वे पीड़ा देते हैं उसमें रहनेवाला मैं जो आत्मा हूँ उसी के घाव सहने पड़ते हैं, (६६) तथा वे जारण-मारण करनेहारे और जो कुछ उपद्रव करते हैं उसमें मुझ चैतन्य को ही पीड़ा पहुँचती है। (४०) उनके जारण-मारण से कदाचित् कोई बच जाय तो उस पर वे दुर्जनता का पत्थर फेंकते हैं। (१) पतिव्रता या सत्पुरुष दानशील याज्ञिक तपस्वी या कोई असाधारण संन्यासी, (२) अथवा कोई भक्त या महात्मा आदि को मेरे निज के निवास-

स्थान वेद-विहित होमधर्मों से शुद्ध हुए हैं (३) उन्हें वे दुर्जन द्वेषरूपी तीखे कालकूट विष का लेप कर दुर्वचनों के तीव्र बाण मारते हैं। (४)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इस प्रकार जो सब तरह से मुझसे ही वैर करने में प्रवृत्त हैं उन पापियों का मैं क्या करता हूँ सो सुनो। (५) मनुष्य-देह को एक बड़ाप्पन समझ कर संसार से छूटने की योग्यता उनसे मैं हर लेता हूँ और उन्हें ऐसे रखता हूँ (६) कि उन मूर्खों को क्लेश-रूपी गाँव का धूरा या संसारसमुद्र का पनघट जैसी तमोयोनियों की वृत्ति ही दे देता हूँ, (७) और फिर मैं ऐसा करता हूँ कि जहाँ आहार के नाम से तृण भी नहीं उगता ऐसे वन के रहनेहारे बाघ बिच्छू इत्यादि वे बनें। (८) वहाँ वे भूख से अत्यन्त व्याकुल हो निज को ही काट-काट खाते और मर-मर कर फिर जन्म लेते ही रहते हैं (९) अथवा मैं उन्हें सर्प बनाता हूँ, जो बिल भटकता हुआ निज की विषाग्नि से अपने ही शरीर की त्वचा जला लेता है; (४१०) तथा, लिया हुआ श्वास बाहर छोड़ने में जितना काल लगता है उतनी भी विश्रान्ति उन दुर्जनों को न मिले (११) ऐसी स्थिति में रख कर मैं उन्हें उस क्लेश में से कोटिशः कल्प भी गिनती में थोड़े हों उतने समय तक, बाहर नहीं निकालता। (१२) तथापि अन्त में उन्हें जहाँ जाना पड़ता है वहाँ का यह पड़ाव सुगम समझो। अन्त के स्थान को पहुँचने पर जो दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं उनके सामने अन्य दुःख कुछ वास्ता नहीं है। (१३)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी सम्पत्ति इतनी घोर रहती है। वह सम्पत्ति नहीं उन लोगों की प्राप्त की हुई अधोगति ही समझो। (१४) इसके अनन्तर व्याघ्र इत्यादि तामस योनियों में जो थोड़ी-सी देहाधाररूपी स्वस्थता रहती है (१५) उसका हेतु भी मैं हर लेता हूँ। और फिर उनके लिए सब कुछ पक्का तमोरूप ही हो जाता है, जहाँ जाने से कि अँधेरा

भी काला-कलूटा हो जाता है। (१६) पाप को भी जिनसे घृणा होती है, नरक जिनसे डरता है, खेद भी जिनसे खिन्न हो मूर्च्छित होता है, (१७) मल जिनके सम्बन्ध से मलिन होता है, सन्ताप जिनसे सन्तप्त होता है। जिनके नाम से महाभय भी काँपता है, (१८) पाप जिनसे घबरा जाते हैं, अमङ्गल को भी जिन्हें देख असगुन होता है तथा छूत भी जिनकी छूत से डरती है, (१९) ऐसे इस संसार के निकृष्ट जनों में जो अधम हैं उनका जन्म उन आसुरों को, तामस योनियाँ भोगने के पश्चात्, प्राप्त होता है। (४२०) हाय! वर्णन करते हुए वाणी को रोना आता है तथा स्मरण होते ही मन पीछे हटता है। हाय! हाय! इन मूर्खों ने कितना पाप जोड़ रक्खा है। (२१) वे ऐसी आसुर सम्पत्ति का उपार्जन क्यों करते हैं जिससे ऐसी अधोगति प्राप्त होती है? (२२) इसलिए हे धनुर्धर! जहाँ आसुर-सम्पत्तिवाले लोग रहते हैं उस मार्ग से ही न चलना चाहिए, (२३) तथा दम्भ इत्यादि छहों दोष जिनमें सम्पूर्ण बसते हैं उनका त्याग करना चाहिए, इसमें—यदि पूछो तो—कहना ही क्या है? (२४)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम क्रोध और लोभ इन तीनों का बल जहाँ विशेष बढ़ा हुआ हो वहाँ अशुभ ही उपजे समझो। (२५) हे धनञ्जय! हर किसी को अपना ही दर्शन देने के लिए सब दुःखों ने इन तीनों को मार्ग-दर्शक बना रक्खा है, (२६) अथवा पापियों को नरक भोगने के लिए पहुँचाने के हेतु उनका मेल मानों संसार में पापों की एक बड़ी-सभा ही है। (२७) नरक नरक तभी तक पापियों में सुन लो जब तक ये तीनों हृदय में जागृत नहीं होते। (२८) अपाय इन्हीं के कारण सुगम हो जाते हैं। यातना इन्हीं के कारण सस्ती हो जाती है और हानि हानि कुछ नहीं है, इन तीनों का होना ही हानि है। (२९) हे सुभट! बहुत क्या कहें, हमने ऊपर जिस निकृष्ट नरक का वर्णन किया था यह त्रिपुटी उसका द्वार है। (४३०) इन काम, क्रोध, लोभ के बीच जो स्थिर रहेगा उसे नरकपुरी की सभा यहीं प्राप्त हो जायेगी। (३१) अतएव हे किरीटी! सब रिपुओं में इन

कामादि दोषों की त्रिपुटी का निरन्तर त्याग ही करना चाहिए। (३२)

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों में से कोई भी पुरुषार्थ तभी सिद्ध हो सकता है जब इस दोष-समुदाय का त्याग किया जाय। (३३) जब तक ये तीनों जागृत हैं तब तक वेद भी कहते हैं कि कल्याण की प्राप्ति की वार्ता हमारे काम नहीं सुन सकते। (३४) जिसे निज की प्राप्ति हो, जो आत्मनाश से डरता हो उसे यह मार्ग ही न लेना चाहिए तथा सावधान रहना चाहिए। (३५) समुद्र में तैरने के लिए जैसे कोई छाती से पत्थर बाँध कर कूदे, अथवा जीते रहने के लिए कालकूट भोजन करे, (३६) वैसा कार्यसिद्धि इन काम, क्रोध और लोभ से होती है। इसलिए इनका नाम ही मिटा दो। (३७) जो कदाचित् यह तीन कड़ियों की साँकल टूट जाय तो अपने मार्ग से सुख से चलते बनेगा। (३८) त्रिदोष शरीर से निकल जाये गुल्मी, चोरी, छिनाली तीनों कुयुक्तों से नगर मुक्त हो जाय, अथवा अन्तःकरण के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सन्ताप शान्त हो जावें, तो जैसा सुख होता है (३९) वैसा ही सुख संसार में काम आदि तीनों दोषों का त्याग करने से प्राप्त होता है, तथा मोक्षमार्ग में सज्जनों की सङ्गति प्राप्त होती है। (४०) फिर सत्सङ्ग से और सच्छास्त्र के बल से जन्म-मृत्यु-रूपी पथरीला जङ्गल पार हो सकता है। (४१) और फिर गुरुकृपा से उस नगरी का लाभ होता है जो सदा भली भाँति सम्पूर्ण आत्मानन्द से बसी है। (४२) वहाँ प्रेमियों की जो परम सीमा है उस आत्मा-रूपी माता की भेंट होती है और उस हृदय से लगाते ही यह सांसारिक कोलाहल बन्द हो जाता है। (४३) अतः जो काम-क्रोध-लोभ को झटकार कर इनसे दूर रहता होगा वही ऐसे लाभ का स्वामी होगा। (४४)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

अन्यथा जो आत्मघात पसन्द करना नहीं चाहता और काम

भी काला कलूटा हो जाता है। (१६) पाप को भी जिनसे घृणा होती है, नरक जिनसे डरता है, खेद भी जिनसे खिन्न हो मूर्च्छित होता है, (१७) मल जिनके सम्बन्ध से मलिन होता है, सन्ताप जिनसे सन्तप्त होता है। जिनके नाम से महाभय भी काँपता है, (१८) पाप जिनसे उकता जाते हैं, अमङ्गल को भी जिन्हें देख असगुन होता है, तथा छूत भी जिनकी छूत से डरती है, (१९) ऐसे इस संसार के निकृष्ट जनों में जो अधम हैं उनका जन्म उन आसुरों को, तामस योनियाँ भोगने के पश्चात्, प्राप्त होता है। (४२०) हाय! वर्णन करते हुए वाणी को रोना आता है तथा स्मरण होते ही मन पीछे हटता है। हाय! हाय! इन मूर्खों ने कितना पाप जोड़ रक्खा है। (२१) वे ऐसी आसुर सम्पत्ति का उपार्जन क्यों करते हैं जिससे ऐसी अधोगति प्राप्त होती है? (२२) इसलिए हे धनुर्धर! जहाँ आसुर-सम्पत्तिवाले लोग रहते हैं उन मार्गों से ही न चलना चाहिए, (२३) तथा दम्भ इत्यादि छहों दोष जिनमें सम्पूर्ण बसते हैं उनका त्याग करना चाहिए इसमें—सच पूछो तो—कहना ही क्या है? (२४)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम क्रोध और लोभ इन तीनों का बल जहाँ विशेष बढ़ा हुआ हो वहाँ अशुभ ही उपजे समझो। (२५) हे धनञ्जय! हर किसी को अपना ही दर्शन देने के लिए सब दुःखों ने इन तीनों को मार्ग-दर्शक बना रक्खा है, (२६) अथवा पापियों को नरक भोगने के लिए पहुँचाने के हेतु उनका मेल मानों संसार में पापों की एक सभा-सभा ही है। (२७) नरक नरक तभी तक पोथियों में सुन पड़ते हैं जब तक ये तीनों हृदय में जागृत नहीं होते। (२८) अपाय इन्हीं के कारण सुगम हो जाते हैं। यातना इन्हीं के कारण सस्ती हो जाती है और हानि हानि कुछ नहीं है, इन तीनों का होना ही हानि है। (२९) हे सुभट! बहुत क्या कहें, हमने ऊपर जिस निकृष्ट नरक का वर्णन किया था यह त्रिपुटी उसका द्वार है। (४३०) इन काम, क्रोध, लोभ के बीच जो दिल से रहेगा उसे नरकपुरी की सभा वहीं प्राप्त हो जायेगी। (३१) अतएव हे किरीटी! सब विषयों में इस

इत्यादि दोषों के बीच सिर दिये रहता है, (४८) संसार में सब पर समान कृपावान् और हिताहित दिखानेवाला दीपक जो वेद है उसका जो अपमान करता है, (४६) जो विधि की मर्यादा नहीं रखता, आत्महित की इच्छा नहीं रखता, केवल इन्द्रियों की इच्छा बढ़ाता जाता है (४७) जो मानों इसी शपथ का पालन करता है कि काम क्रोध और लोभ का पीछा न छोड़ूँगा, तथा जो स्वेच्छाचार के असीम वन में प्रवेश करता है (४-) उसे फिर कभी मुक्ति-रूपी नदी का पानी पीने के लिए नहीं मिल सकता। उस मुक्ति की कहानी उसे स्वप्न में भी दुर्लभ है। (४६) और परलोक का नाश तो उसका निश्चय से होता ही है परन्तु उसे ऐहिक भोग भी भोगने का काम नहीं होता। (४८०) जैसे कोई ब्राह्मण मछली के लोभ से धीमरों में मिल जाय पर वहाँ भी नास्तिक कहलाया जाय (५१) वैसे ही विषयों की इच्छा से जो अपना परलोक खो देता है मरण उसे और दूसरी ओर ले जाता है। (५२) इस प्रकार न परलोक या स्वर्ग और न ऐहिक विषयों का भोग मिलता है, फिर वहाँ मोक्ष प्राप्ति का मौका ही कैसे हो सकता है? (५३) अतः जो काम के अधीन हो बलात्कार से विषयों का सेवन करना चाहता है उसे न विषय मिलते हैं न स्वर्ग मिलता है। उसका उद्धार नहीं होता। (५४)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए हे तात! जिसे निज पर करुणा हो उसे वेदों के सन्देश की अवज्ञा न करनी चाहिए। (५५) पतिव्रता स्त्री जैसे पति की सम्मति के अनुसार चल अनायास आत्महित प्राप्त कर लेती है, (५६) अथवा शिष्य जैसे श्रीगुरु के वचनों की ओर ध्यान रखता हुआ प्रयत्न से आत्मारूपी घर में प्रवेश कर लेता है, (५७) अथवा अपना रक्खा हुआ धन प्राप्त करना हो तो जैसे दीपक आगे कर देखना चाहिए, (५८) वैसे ही जो सब पुरुषार्थों का स्वामी होना चाहता है उसे हे पार्थ! श्रुति-स्मृति को सिर पर धारण करना चाहिए। (५६) शास्त्र जिसका त्याग करता है वह राज्य हो तथापि उसे तृणवत् समझना चाहिए, तथा शास्त्र जिसका ग्रहण करता है वह विष भी हो तो भी उसे विरुद्ध न समझना चाहिए। (४६०) ऐसी वेदनिष्ठा

सत्रहवाँ अध्याय

हे श्रीगुरुराज, हे गणेन्द्र ! जिनकी योग-समाधि के द्वारा जगत् का विकसित स्वरूप विलीन हो जाता है उन आपको मैं नमन करता हूँ। (१) यह जगत् जो त्रिगुण-रूपी त्रिपुरों से वेष्टित है तथा जीवरूपी किले में बन्द है उसे आत्म-रूपी शङ्कर आपका स्मरण करते ही मुक्त कर देते हैं। (२) अतएव शिव से तुलना करने से गुरुत्व में आप ही अधिक दिखाई देते हैं। तथापि आप लघु भी हैं क्योंकि आप माया-सागर के पार लगा देनेवाली नौका हैं। (३) जो आपके विषय में मूढ़ हैं उनके लिए आप वक्रतुण्ड हैं, परन्तु ज्ञानियों के लिए आप निरन्तर सरल ही हैं। (४) आपकी दृष्टि देखने में सूक्ष्म दिखाई देती है परन्तु आप नेत्र खोलते और बन्द करते ही उत्पत्ति और प्रलय दोनों आसानी से कर देते हैं। (५) प्रवृत्ति-रूपी कान हिलाते ही मदगन्ध-युक्त वायु से आकर्षित होनेहारे जीवरूपी भ्रमर आपके गण्डस्थल पर ऐसे शोभा देते हैं मानों आपकी नील कमलों से पूजा की गई हो। (६) अनन्तर जब निवृत्ति-रूपी कान की फटकार से भ्रमर उड़ जाते या पूजा का विसर्जन हो जाता है तब आपके निर्मुक्त शरीर का लावण्य शोभा देता है। (७) आपकी वामाङ्गी जो माया है उसकी नृत्यलीला जो यह जगदूप आभास है वह वास्तव में ताण्डव के मिष से आपके ही कौतुक का परिचय देता है। (८) यह रहने दीजिए। हे आश्चर्यकर्ता ! आपसे जिसका बन्धुत्व का सम्बन्ध हो जाता है वह बन्धुत्व के व्यवहार से वञ्चित हो रहता है। (९) अपने से मिलते ही वह—आपके जगद्बन्धु—भाव के द्वारा आपमें ही आनन्द प्राप्त कर लेता है। (१०) हे देवराज ! जिसके मिष से आप ही दूसरे रूप से दिखाई देते हैं उस द्वैत के लिए उसका शरीर भी शेष नहीं रहता। (११) आपको दूसरा समझ कर जो अनेक पदार्थों की ओर दौड़ते हैं उनके लिए आप प्रायः पीछे ही रह जाते हैं। (१२) जो ध्यान के द्वारा आपको मन में रखने की चेष्टा करता है उसके लिए आप उसके प्रदेश में नहीं रहते, पर जो

ध्यान भी भूल जाता है उस पर आप प्रेम करते हैं। (१३) जो सिद्ध सनातन बन रहता है वह भी वास्तव में आपको नहीं जानता। वेदों की जैसी वाणी भी आपके कानों तक नहीं पहुँचती। (१४) मौन आपका शाश्विनाम हो रहा है, फिर मैं कहाँ तक स्तुति करने का हौसला रक्खूँ। जो दिखाई देता है वह तो सब माया है फिर किसका भजन करूँ। (१५) आप देव और मैं आपका सेवक होना चाहूँ तो इस प्रकार भेद करने से दोष ही प्राप्त होगा। इसलिए महाराज! मैं अब आपका कोई नहीं होता। (१६) हे अद्वय, हे आराध्य मूर्ति! जब कोई सत्‍य या कुछ भी न हो तभी आपको प्राप्त कर सकता है, आपका यह मर्म मैं जानता हूँ। (१७) अतएव जिस प्रकार जैसे भिन्न न रहता हुआ जल से युक्त हो जाता है वैसे ही मैं आपका भजन करता हूँ। और अधिक क्या कहूँ? (१८) रीता घड़ा समुद्र में डाला जाय तो वह जैसा चमकता हुआ भर जाता है, अथवा बत्ती जैसे दीप के संग से दीपक ही बन जाती है (१९) वैसे ही हे श्रीनिवृत्ति मैं आपको नमन करने से पूर्ण हो गया हूँ। अब मैं गीतार्थ प्रकट करता हूँ। (२०) सोलहवें अध्याय के अन्त में अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण देव ने इस सिद्धान्त का निर्णय किया (२१) कि हे पार्थ! कार्याकार्य व्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिए तुम्हें सर्वथा शास्त्र ही एक प्रमाण मानना चाहिए। (२२) इस पर अर्जुन ने मन में कहा कि ऐसा क्यों होना चाहिए कि कर्म के लिए शास्त्र के बिना गति ही न हो। (२३) मनुष्य तक्षक का फन पाकर उसमें से मणि निकाले और तब सिद्धि की नाक का पात्र होय? (२४) सिंह की दाढ़ में और वहाँ मणि पोह कर पहने तभी क्या उसे अलङ्कार मिल सकता है? अन्यथा क्या यह निष्फल रहेगा? (२५) वैसे ही शास्त्र अर्थाभिप्राय है, उसे कौन कब काम ले सकता है? तथा वे एकवाक्यता के पद पर कब पहुँच सकते हैं? (२६) और एकवाक्यता भी हो तथापि उसके अनुसार अनुष्ठान करने के लिए समय कब मिल सकता है? मनुष्य का जीवन इतना कहाँ है? (२७) शास्त्रार्थविषय द्रव्य, देश और काल इन सबकी अनुकूलता प्राप्त हो ऐसा सुयोग सदैव हाथ नहीं आता है? (२८) इसलिए शास्त्र का अनुष्ठान नहीं हो सकता। इसी कारण से अन्तिम मुमुक्षुओं के लिए क्या गति है? (२९) यह अभिप्राय पूछने के लिए अर्जुन ने जो प्रश्न किया वही अगले

अध्याय की भूमिका है। (२०) सब विषयों से जो निरिच्छ हो गया है, जो सकल कलाओं में प्रवीण है अर्जुनरूप से जो श्रीकृष्ण के चित्त का भी आकर्षण करनेहारा एक अपूर्व कृष्ण है, (२१) जो शूरता का अधिष्ठान है, सोमवंश की शोभा है, सुख इत्यादि उपकार करना जिसका खेल है, (२२) जो प्रज्ञारूपी स्त्री का प्रियोत्तम है, ब्रह्मविद्या का विश्रान्ति-स्थान है और जो श्रीकृष्ण का सहचारी मनोधर्म है, (२३)

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

—उस अर्जुन ने कहा—हे तमालपत्र के समान नीलवर्ण श्रीकृष्ण! हे इन्द्रियों को दिखाई देनेहारे ब्रह्म! आपके वचन हमें संशय भरे जान पड़ते हैं (२४) क्योंकि आपने यह क्योंकर कहा कि प्राणियों को शास्त्र के बिना मोक्ष नहीं मिल सकती? (२५) ऐसा हो तो जिन्हें शास्त्रानुकूल देश नहीं प्राप्त होता शास्त्राभ्यास करने के लिए काल का अवकाश नहीं मिलता, शास्त्राभ्यास करनेहारा गुरु भी प्राप्त नहीं होता (२६) तथा जो सामग्री अभ्यास के लिए आवश्यक होती है वह भी जिन्हें यथाकाल प्राप्त नहीं होती (२७) प्रारब्ध अनुकूल नहीं होता बुद्धि सहाय नहीं करती, इस प्रकार जो शास्त्रसम्पादन नहीं कर सकते (२८) किंबहुना शास्त्र के विषय में जो एक अक्षर के बराबर भी प्राप्ति नहीं कर सकते इसलिए जिन्होंने शास्त्रविचार की झटपट ही त्याग दी है, (२९) परन्तु शास्त्र का निर्णय कर तथा उसके अनुसार पवित्र अनुष्ठान कर जो परलोक पधारे हैं (४०) उनके समान होने की जो मन में इच्छा रख उन्हीं के आचरित-मार्गों से चलते हैं, (४१) हे गुरु! किसी पाठ के अक्षरों के नीचे ही बालक जैसे देख-देख लिखता है अथवा अन्धा जैसे आँखवाले साथी को आगे कर पीछे-पीछे चलता है, (४२) वैसे ही जो सर्वशास्त्रनिपुण लोगों का आचरण प्रमाण मान कर उस पर श्रद्धा रखते हैं (४३) और श्रद्धा से शिव इत्यादि देवों का पूजन भूमि इत्यादि वस्तुओं का महादान और अग्निहोत्र इत्यादि यजन करते हैं, (४४) उन्हें हे पुरुषोत्तम! सत्त्व, रज या तम इनमें से कौन-सी गति होती है, सुनाइए। (४५) इस पर जो वैकुण्ठभूमि के कुमुद हैं, जो वेदरूपी कमल के पराग हैं,

जिनकी अङ्गच्छाया से यह जगत् जीवन धारण करता है, (४६) सहज-बुद्धि पाया हुआ काल तथा अलौकिक रूप से विस्तार पाया हुआ और अद्वितीय गुरु और आनन्दरूपी मेघ (४७) ये जिस बल के द्वारा प्रशंसा पाते हैं वह बल जिसके शरीर का है उन श्रीकृष्ण ने निज मुख से कहा (४८)—

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

हे पार्थ! तुम्हारी अभिरुचि हम जानते हैं। तुम शास्त्राभ्यास को एक प्रतिबन्ध समझते हो (४९) और केवल श्रद्धा से परमपद प्राप्त करना चाहते हो। परन्तु हे प्रबुद्ध! यह बात इतनी सहज नहीं है। (५०) हे किरीटी! यह श्रद्धा हो तो ऐसा विश्वास नहीं हो सकता कि वह निर्मल श्रद्धा है। ब्राह्मण क्या शूद्र के संसर्ग से शूद्र नहीं हो जाता? (५१) गङ्गाजल भी हो तथापि यह विचार देखो कि यदि वह मद्य के बासन में रक्खा हो तो कुछ भी हो उसे न पीना चाहिए। (५२) चन्दन शीतल होता है, परन्तु अग्नि से सम्बन्ध हो जाने पर क्या वह दाहक नहीं हो सकता? (५३) हीन सुवर्ण को गला कर उस पर उत्तम सोने का पुट दिया हो तो उसे उत्तम समझ कर लेने से हे किरीटी! क्या हानि नहीं है? (५४) वैसे ही श्रद्धा का स्वरूप सचमुच स्वभावतः सुन्दर है परन्तु जब वह प्राणियों के भाग में आती है (५५) तो प्राणी तो सब स्वभावतः अनादि माया के प्रभाव के कारण त्रिगुणों के ही बने हुए होते हैं। (५६) उनमें से जब दो गुण दब जाते हैं और एक उन्नत होता है तब जीवों की वृत्तियाँ उसी उन्नत गुण के अनुसार होती हैं (५७) वृत्तियों के अनुरूप उनका मन हो जाता है, मन के अनुसार वे क्रियाएँ करते हैं और जैसी क्रियाएँ करते हैं मरने पर वैसा ही शरीर धारण करते हैं। (५८) जैसे बीज नष्ट हो जाता है पर उसका वृक्ष होता है और वृक्ष नष्ट हो जाता है पर बीज में समाया रहता है इस प्रकार करोड़ों कल्प बीत जावें परन्तु पदार्थ की जाति का नाश नहीं होता (५९) वैसे ही जन्मान्तर अनेक हुआ करें परन्तु प्राणियों के त्रिगुणों में अन्तर नहीं पड़ता। (६०) इसलिए प्राणियों के भाग में आई हुई श्रद्धा भी इन्हीं तीनों गुणों के

अभ्यास की भूमिका है। (१०) सब विषयों से जो निरिच्छ हो गया है, जो सकल कलाओं में प्रवीण है अर्जुनरूप से जो श्रीकृष्ण के चित्त का भी आकर्षण करनेहारा एक अपूर्व कृष्ण है, (११) जो शूरता का अधिष्ठान है, सोमवंश की शोभा है, सुख इत्यादि उपचार करना जिसका खेल है, (१२) जो प्रज्ञारूपी स्त्री का प्रियोत्तम है, ब्रह्मविद्या का विश्रान्ति स्थान है और जो श्रीकृष्ण का सहचारी मनोधर्म है, (१३)

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

—उस अर्जुन ने कहा—हे तमालपत्र के समान नीलवर्ण श्रीकृष्ण! हे इन्द्रियों को दिखाई देनेहारे ब्रह्म! आपके वचन हमें संशय भरे जान पड़ते हैं (१४) क्योंकि आपने यह क्योंकर कहा कि प्राणियों को शास्त्र के बिना मोक्ष नहीं मिल सकती? (१५) ऐसा हो तो जिन्हें शास्त्रानुकूल देश नहीं प्राप्त होता, शास्त्राभ्यास करने के लिए काल का अवकाश नहीं मिलता, शास्त्राभ्यास करनेहारा गुरु भी प्राप्त नहीं होता (१६) तथा जो सामग्री अभ्यास के लिए आवश्यक होती है वह भी जिन्हें यथाकाल प्राप्त नहीं होती (१७) प्रारब्ध अनुकूल नहीं होता, बुद्धि सहाय नहीं करती, इस प्रकार जो शास्त्रसम्पादन नहीं कर सके (१८) किंबहुना शास्त्र के विषय में जो एक नख के बराबर भी प्राप्ति नहीं कर सके इसलिए जिन्होंने शास्त्रविचार की झंझट ही छोड़ दी है, (१९) परन्तु शास्त्र का निर्णय कर तथा उसके अनुसार पवित्र अनुष्ठान कर जो परलोक पधारे हैं (२०) उनके समान होने की जो मन में इच्छा रख उन्हीं के आचरित-मार्ग से चलते हैं, (२१) हे गुरु! किसी पाठ के अक्षरों के नीचे ही बालक जैसे देख-देख लिखता है अथवा अन्धा जैसे आँखवाले साथी को आगे कर पीछे-पीछे चलता है, (२२) वैसे ही जो सर्वशास्त्रनिपुण लोगों का आचरण प्रमाण मान कर उस पर श्रद्धा रखते हैं (२३) और श्रद्धा से शिव इत्यादि देवों का पूजन भूमि इत्यादि वस्तुओं का महादान और अग्निहोत्र इत्यादि यजन करते हैं, (२४) उन्हें हे पुरुषोत्तम! सत्त्व, रज या तम इनमें से कौनसी गति होती है सुनाइए। (२५) इस पर जो वैकुण्ठभूमि के सुन्दर देव हैं, जो वेदरूपी कमल के पराग हैं,

जिनकी आज्ञारूपी छाया से यह जगत् जीवन धारण करता है, (४६) सत्कीर्ति पाया हुआ काल तथा अलौकिक रूप से विस्तार पाया हुआ और अद्वितीय गुरु और आनन्दरूपी मेघ (४७) ये जिस बल के द्वारा प्रशंसा पाते हैं वह बल जिसके शरीर का है उन श्रीकृष्ण ने निज मुख से कहा (४८)—

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

हे पार्थ! तुम्हारी अभिरुचि हम जानते हैं। तुम शास्त्राभ्यास को एक प्रतिबन्ध समझते हो (४९) और केवल श्रद्धा से परमपद प्राप्त करना चाहते हो। परन्तु हे प्रबुद्ध! यह बात इतनी सहज नहीं है। (५०) हे किरीटी! यह श्रद्धा हो तो ऐसा विश्वास नहीं हो सकता कि यह निर्मल श्रद्धा है। ब्राह्मण क्या शूद्र के संसर्ग से शूद्र नहीं हो जाता? (५१) गङ्गाजल भी हो तथापि यह विचार देखो कि यदि वह मद्य के बर्तन में रक्खा हो तो शुद्ध भी हो उसे न पीना चाहिए। (५२) चन्दन शीतल होता है, परन्तु अग्नि से सम्बन्ध हो जाने पर क्या वह दाहक नहीं हो सकता? (५३) हीन सुवर्ण को गला कर उस पर उत्तम सोने का पुट दिया हो तो उसे उत्तम समझ कर लेने से हे किरीटी! क्या हानि नहीं है? (५४) वैसे ही श्रद्धा का स्वरूप सचमुच स्वभावतः सुन्दर है परन्तु जब वह प्राणियों के भाग में आती है (५५) तो प्राणी तो सब स्वभावतः अनादि माया के प्रभाव के कारण त्रिगुणों के ही बने हुए होते हैं। (५६) इनमें से जब दो गुण दब जाते हैं और एक प्रबल होता है तब जीवों की वृत्तियाँ उसी प्रबल गुण के अनुसार होती हैं (५७) वृत्तियों के अनुरूप उनका मन हो जाता है, मन के अनुसार वे क्रियाएँ करते हैं और वैसी क्रियाएँ करते हैं मरने पर वैसा ही शरीर धारण करते हैं। (५८) जैसे बीज नष्ट हो जाता है पर उससे वृक्ष होता है, और वृक्ष नष्ट हो जाता है पर बीज में समाया रहता है, इस प्रकार करोड़ों कल्प बीत जायँ परन्तु पदार्थ की जाति का नाश नहीं होता (५९) वैसे ही जन्मान्तर अनेक होते जायँ परन्तु प्राणियों के त्रिगुणों में अन्तर नहीं पड़ता। (६०) इसलिए प्राणियों के भाग में आई हुई श्रद्धा भी इन्हीं तीनों गुणों के

अनुसार हो जाती है। (६१) कभी शुद्ध सत्वगुण बढ़ जाय तो उससे ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु दूसरे दो गुण उस एक के विरोधी होते हैं। (६२) सत्व के सम्बन्ध से श्रद्धा जब मोक्ष-सुख की ओर प्रवृत्त होती है तब रज और तम क्योंकर चुप बैठे रहें? (६३) अतः सत्व के व्यापार का नाश कर रजो-गुण जब उन्नत होता है तब वही श्रद्धा कर्म करनेहारी हो जाती है। (६४) और जब तमरूपी प्रवृत्ति ऊँची उठती है तब वही श्रद्धा भिन्न हो अनेक भोगों की इच्छा करती है। (६५)

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

और हे ज्ञानी! इस जीव-समुदाय में श्रद्धा सत्व, रज या तम के अतिरिक्त नहीं रहती। (६६) सारांश श्रद्धा स्वभावतः इन सत्व, रज और तम के भेद से त्रिगुणात्मक है। (६७) जैसे जल जीवन ही है पर विष के सम्बन्ध से वह मारक हो जाता है, अथवा काली मिर्च के संग तीखा या ईख के संग मीठा होता है (६८) वैसे ही जो प्राणी तम से सम्बन्ध हो सर्वदा उत्पन्न होता या मरता है उसकी श्रद्धा भी तद्रूप ही प्रकट होती है। (६९) काजल में और स्याही में जैसे कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता वैसे ही यह श्रद्धा और तामसी वृत्ति कुछ जुदी नहीं होती। (७०) इसी प्रकार राजस जीव में श्रद्धा रजोमय होती है और सात्विक जीव में उसे सम्पूर्ण सत्वमय ही जानो। (७१) इस तरह से यह सब जगत् सम्पूर्ण श्रद्धा का ही ढला हुआ है, (७२) परन्तु इस श्रद्धा में गुणत्रय के कारण जो त्रिविधता के चिह्न बन गये हैं उन्हें पहचान लो। (७३) इसलिए जैसे फूल से झाड़ पहचाना जाता है, अथवा सम्भाषण से मनुष्य के अन्तःकरण का परिचय होता है, अथवा भोगों से जैसे पूर्वजन्म के कर्म जाने जाते हैं (७४) वैसे ही भिन्न-भिन्न चिह्नों से श्रद्धा के तीनों रूप पहचाने जाते हैं उनका बयान सुनो। (७५)

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

जिसकी पहचान सात्विक श्रद्धायुक्त होती है उसकी बुद्धि प्रायः स्वर्ग विषयक रहती है। (७६) वे सकल विद्याएँ पढ़ते हैं, उत्तमोत्तम

यज्ञक्रियाएँ करते हैं, बहुत क्या कहें वे देवलोक प्राप्त करते हैं, (७७) और हे वीरेश! जो राजसी श्रद्धा के बने हैं वे राक्षसों और पिशाचों को पूजते हैं। (७८) अब जो तामसी श्रद्धा है उसका भी हम वर्णन करते हैं। जो केवल पापों की राशि हैं, निर्दय और अत्यन्त कठोर स्वभाव के हैं, (७९) जो प्राणियों को मार कर बलि देते हैं और श्मशान में सन्ध्या के समय अमङ्गल भूत-प्रेत-समूहों की पूजा करते हैं (८०) वे मनुष्य तमोगुण का सार निकाल कर बनाये गये हैं। उन्हें तामसी श्रद्धा के घर जानो। (८१) इस प्रकार संसार में श्रद्धा इन तीनों चिह्नों के कारण त्रिविध हो गई है। यह वर्णन हमने इसलिए किया है (८२) कि हे प्रबुद्ध! जो सात्त्विक श्रद्धा है उसी की रक्षा करनी चाहिए और दूसरी दोनों श्रद्धाओं का त्याग करना चाहिए। (८३) हे धनञ्जय! यह सात्त्विक बुद्धि जिसकी सहकारिणी होती है उसके लिए कैवल्य कोई दूर नहीं है। (८४) वह चाहे ब्रह्मसूत्र न पढ़ा हो, सब शास्त्र उसके देखे हुए न हों, सिद्धान्त स्वतन्त्रतः उसके हाथ न लगे हों, (८५) तथापि जिनके रूप से श्रुतिस्मृतियों के अर्थ ही मूर्तिमान् हुए हैं, और जो तदनुसार अनुष्ठान कर प्रसिद्ध हुए हैं, ऐसे जो सत्पुरुष हैं (८६) उनके आचरण-मार्ग से जो सात्त्विक मनुष्य श्रद्धापूर्वक चलता है उसे भी वही फल ऐसा अनायास मिलता है मानों उसके लिए रक्खा ही हुआ था। (८७) कोई एक मनुष्य आयास से दिया जलावे और दूसरा उस दिये से दिया लगाने जावे तो क्या प्रकाश उस वञ्चित रहेगा? (८८) किसी ने यदि अपार द्रव्य खर्च कर घर बनाया तो क्या उस घर का सुख उसमें कोई दूसरा रहनेवाला नहीं भोग सकता? (८९) यह उपमा रहने दीजिए। तालाब क्या, जो खोदता है, उसी की तृषा हरता है? घर में अन्न क्या रसोइये के ही लिए है और दूसरों के लिए नहीं? (९०) बहुत क्या कहूँ, गङ्गा क्या एक गौतम के लिए ही गङ्गा है और जगत् में दूसरों के लिए क्या वह नाली बन जाती है? (९१) सारांश जो एक से एक शास्त्रानुष्ठान में निपुण हैं, जो श्रद्धालु उनका अनुसरण करता है वह मूर्ख हो तो भी तर जाता है। (९२)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

पर्यन्त भी उन पापियों के त्याग के हेतु से किया गया है। (८) अत हे अर्जुन! तुम इन्हें देखो तो मत स्मरण किया करो, क्योंकि इनके विषय में और दूसरा कोई प्रायश्चित् उपयुक्त न होगा। (६) सारांश जो सात्विक श्रद्धा है उसी एक की सब या भली भाँति और बार-बार रक्षा करनी चाहिए। (११०) और इसलिए ऐसे पुरुषों का समागम करना चाहिए जिनसे सात्विक सम्बन्ध की पुष्टि हो तथा सत्वपुष्टि के मार्ग का ही आहार सेवन करना चाहिए। (११) साधारणतः भी यही देखा जाता है कि स्वभाव-वृद्धि के लिए आहार के अतिरिक्त कोई बलिष्ठ हेतु नहीं है। (१२) हे वीर! यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जो सावधान मनुष्य मदिरा सेवन करता है वह तत्काल उन्मत्त हो जाता है, (१३) अथवा जो समाधान्य का बनाया हुआ अन्न सेवन करता है वह वात या श्लेष्मा दोनों से व्याप्त हो जाता है। ज्वर प्राप्त होने पर क्या दूध इत्यादि पदार्थ उसका वारण कर सकते हैं? (१४) अथवा अमृतपान करने से मृत्यु का निवारण हो जाता है, अथवा विष जैसे अपना ही जैसा करता है (१५) वैसे ही जैसा आहार किया जाय तदनुसार ही धातु का आधार बनता है और जैसी धातु वैसा ही अन्तःकरण का भाव उत्पन्न होता है। (१६) जैसे बासन के तपने से उसके भीतर का जल भी तपता है वैसे ही धातु के अनुसार ही चित्तवृत्ति परिणाम पाती है। (१७) इसलिए जो सात्विक अन्न लिया जाय तो सत्व की वृद्धि तथा अन्य प्रकार के अन्नों का सेवन करने से राजस या तामस वृत्ति बनेगी। (१८) अब सात्विक आहार कौन है तथा राजस या तामस आहार का क्या स्वरूप है, उसका हम वर्णन करते हैं सुनो। (१६)

> आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय ।
>
> यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

और हे वीर! एक ही आहार क्योंकर त्रिविध हुआ है यह भी हम स्पष्ट कर बताते हैं। (१२०) संसार में अन्न खानेवाले की रुचि के अनुसार बनाया जाता है और खानेवाला जो गुणों का दास रहता है। (१) जो जीव कर्ता या भोक्ता है वह स्वभावतः गुणों के कारण त्रिविधता पाकर त्रिधा व्यापार करता है। (२२) इसलिए आहार त्रिविध है। यज्ञ भी तीन प्रकार का है। तप और दान के व्यापार

अन्यथा जो जन्म भर शास्त्र के नाम लवलेश भी नहीं जानते वरन् जो शास्त्रों को अपनी हद नहीं छूने देते (९३) अपने पूर्वजों की क्रियाएँ देखकर जो उन्हें चिढ़ाते हैं, पण्डितों को चुटकियों पर नचाते हैं, (९४) जो अपनी ही शेखी और धनिकता के घमण्ड के मद से सचमुच पाखण्डरूपी तप का आदर करते हैं, (९५) अपने और दूसरों के शरीर में याज्ञिकों के वस्त्र पहना कर यज्ञपात्र को रक्त और मांस से भर-भर कर (९६) जलते हुए कुण्डों में डालते हैं और बालक देवता के मुँह से लगाते हैं, तथा मानता किये हुए बालकों की बलि देते हैं, (९७) जो हठ की चढ़ाई मारते हुए क्षुद्र देवताओं से वर-प्राप्ति के लिए सात-सात दिन तक अन्न त्याग करते हैं, (९८) इस प्रकार हे सुभट! जो तमरूपी क्षेत्र में अपने और दूसरों के लिए पीड़ारूपी बीज बोते हैं जिससे कि फिर वैसा ही फल होता है, (९९) हे धनञ्जय! जिसके निज के बाहु नहीं हैं और जो नाव का भी आश्रय नहीं करता उस मनुष्य का समुद्र में जो हाल होता है, (१००) अथवा जो वैद्य से द्वेष करता है और ओषधि को लात से धकेल देता है वह रोगी जैसे स्वयं व्याकुल ही रहता है, (१) अथवा उपाय न करके कोई अपनी आँखें ही निकाल ले तो वह जैसे आप ही अपनी इच्छा से अन्धा बन जाता है, (२) वही हाल उन असुरों का होता है जो शास्त्र के प्रबन्ध की निन्दा कर मोह से इधर उधर जङ्गल में भटकते हैं। (३) काम जो कराते सो वे करते हैं, क्रोध जिसे मारने के लिए प्रवृत्त करे उसे मारते हैं, बहुत क्या कहूँ वे मुझे दुःख रूपी पत्थरों से पूर देते हैं। (४)

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

वे निज के शरीर को अथवा दूसरों के शरीर को जो-जो पीड़ा देते हैं उतना सब क्लेश मुझ आत्मा को ही होता है। (५) वास्तव में इन पापियों का स्पर्श वाचा-पक्ष से भी न करना चाहिए, परन्तु हमें जो उनका बयान करना पड़ा है वह यही बताने के लिए कि उनका त्याग करना चाहिए। (६) मुर्दे को बाहर निकालते हैं अथवा सम्भाषण से नाश हो जानेवाले शूद्र का त्याग करते हैं, अथवा हाथ में लगी हुई कीचड़ को धो डालते हैं, (७) उस समय मन में शुद्धता का हेतु रहता है इसलिए उस संसर्ग का कोई दोष नहीं माना जाता। वैसे ही यह

भी त्रिविध हैं। (२३) इनमें से हमने पहले जो आहार वर्णन करने की सूचना दी थी उसका निरूपण करते हैं। उसे भली भाँति सुनो। (२४)।

> आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
> रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

भोक्ता जब भाग्यवशात् सत्त्वगुण की ओर आकृष्ट रहता है तब उसकी रुचि मधुर रसों में बढ़ती है। (२५) जो पदार्थ स्वभावतः सुरस रहते हैं, स्वभावतः मीठे रहते हैं, तथा जो स्वभावतः सुरस से भरे और पके हुए होते हैं, (२६) आकार में जो बड़े नहीं होते, स्पर्श में जो अत्यन्त कोमल तथा जीभ को जो सान्द्र और स्वादु होते हैं, (२७) जिनमें रस अटूट और मृदु रहता है, जो द्रवभाव से भरे हुए परन्तु कहीं-कहीं अग्नि की गरमी के कारण जिनका द्रवत्व निकल गया है, (२८) जो गीगुरु के मुख के अक्षरों के समान तन से छोटे पर परिणाम में बड़े होते हैं तथा जो छोटे होते हैं तथापि जिनसे अपार तृप्ति बनी रहती है (२९) और ऊपर से जैसे सुन्दर वैसे ही जो भीतर से भी मीठे रहते हैं, उन पदार्थों के भक्षण पर सात्त्विक मनुष्यों की रुचि बढ़ती है। (३०) सात्त्विक आहार ऐसे गुण और लक्षणों का रहता है। यह आहार आयुष्य का नित्य नूतन रक्षक है। (३१) जब शरीर में ऐसे सात्त्विक रस-रूपी मेघ बरसते हैं तब आयुष्य-रूपी नदी दिन दिन बढ़ती जाती है। (३२) हे सुमति! दिन की वृद्धि के लिए जैसे सूर्य होता है वैसे ही सत्त्व की रक्षा के लिए यह आहार कारण होता है (३३) और शरीर और मन दोनों को इसी आहार के बल का आश्रय मिलता है। तो फिर रोग कहाँ से प्रकट हो सकते हैं? (३४) इस सात्त्विक आहार का सेवन करने से ही शरीर को आरोग्योपभोग-रूपी सौभाग्य प्राप्त होता है (३५) तथा इस आहार से सब व्यापार भली भाँति सुलक्ष्य दिखाई देते हैं इससे आनन्द की विशेष भी वृद्धिगत होती है। (३६) इस प्रकार इस सात्त्विक आहार का बहुत बड़ा परिणाम होता है। यह बाह्य और अन्तर दोनों का उपकारी है। (३७) अब रजोगुणी मनुष्य की जिन रसों में रुचि रहती है उन्हें भी प्रसङ्गवशात् विशद कर बताते हैं। (३८)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।९।।

केवल मारक गुण के अतिरिक्त जो कालकूट विष के ही समान कटु एवं अथवा चूने से भी अधिक दाहक और अम्ल होते हैं, (३९) आटे में जैसे पानी डाला जाता है वैसा ही मानों नमक का गोला ही बनाया हो, और उसमें अन्य रस मिलाये गये हों (१४०) ऐसे अत्यन्त खारे पदार्थों पर राजसी मनुष्यों की रुचि होती है। राजसी मनुष्य उष्ण पदार्थों के मिस से मानों आग ही खाता है। (४१) वह ऐसे गरम पदार्थ खाना चाहता है कि जिनकी भाफों के अग्र भाग पर दिया जलाना चाहे तो जल जावे। (४२) सब्बल* की यह बात प्रसिद्ध है कि वह पत्थर को भी फोड़ती है पर राजसी मनुष्य ऐसे-ऐसे तीक्ष्ण पदार्थ खाता है कि जिनमें कोई घाव नहीं होता परन्तु वे चुभते अवश्य हैं। (४३) और वह ऐसी चटनियाँ अत्यन्त खाता है जो राख से भी रूखी और अन्दर-बाहर समान ही रहती हैं। (४४) जिन पदार्थों के खाते ही दाँतों की आपस में टक्कर हो उनके मुँह में पड़ते ही उसे आनन्द होता है। (४५) जो पदार्थ स्वभावतः चिरपरे हों और फिर उनमें राई पड़ी हो जिनको खाते हुए नाक और मुँह से पानी बहती हो (४६) और जो सदा आग को भी दुर करनेवाले अचार जैसे पदार्थ राजसी मनुष्य को प्राणों से प्यारे होते हैं। (४७) इस प्रकार तृप्त न होते हुए जो मनुष्य जिह्वा के वश हो पागल हो जाता है वह मानों अग्नि के रूप से पेट में एकदम अग्नि ही भर लेता है। (४८) और जब दाह होने लगती है तब पलंग से धरती पर और धरती से पलँग पर लोट-पोट होता रहता है, तथा उसके मुँह से जल का लोटा भी नहीं छूटता। (४९) उसने वे राजस आहार ग्रहण नहीं किये बल्कि मानों व्याधिरूपी सर्प जो सोया हुआ था उसे जागृत करने के लिए न्योता ही दिया; (१५०) एवं उसके शरीर में एकदम एक दूसरे से स्पर्धा करनेवाले रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार राजस आहार केवल दुःखरूप फल देता है। (५१) हे धनुर्धर! यह राजस आहार का बयान हुआ और हम उसके परिणाम की कथा भी कह चुके। (५२)

*पत्थर उखाड़ने आदि के लिए लोहे का यन्त्र।

अब तामस मनुष्य को कैसा आहार भाता है इसका भी वर्णन करते हैं। उस पर तुम घृणा न आने दो। (४३) भैंस जैसे जूँठन खाती है वैसे ही तामसी मनुष्य जूठा और सड़ा हुआ अन्न खाते हुए कुछ अहित नहीं समझता। (४४)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

उसी प्रकार, जिस अन्न को पके हुए दोपहर या एक दिन बीत जाता है उसे तामसी मनुष्य खाता है (४५) अथवा जो अधकच्चा पकाया गया हो या निःशेष जल गया हो तथा जिसका रस बिगड़ गया हो, ऐसा भी अन्न वह खाता है। (४६) जो पूर्ण पका हुआ हो, जिसमें रस भरा हुआ दिखाई देता है उस अन्न का अनुभव तामसी मनुष्य को नहीं रहता। (४७) कदाचित् उसे कभी ऐसा उत्तम अन्न मिल जाय तो वह उसे तब तक हाथ नहीं लगाता जब तक कि उसमें से दुर्गन्ध न छूटने लगे। व्याघ्र ऐसा ही करता है। (४८) जो कई दिनों का बासी हो जिसमें से स्वाद बिगड़ गया हो, जो सूख गया हो, सड़ गया हो या फूल गया हो (४९) ऐसे अन्न को भी, खाते समय, वह बालक की तरह गुड़-गुड़ कर सान लेता है, अथवा अपनी स्त्री को संग बैठा कर गायों के समान एक थाली में खाता है। (५०) इस प्रकार गोंदलेपन से जब वह खाता है तब उसे सुखभोजन-सा मालूम होता है। परन्तु वह पापी इतने से ही तृप्त नहीं होता, (५१) वरन् चमत्कार देखिए, जो बुरे पदार्थ निषिद्ध किये गये हैं, अथवा जो सदोष माने गये हैं (५२) उन अपेय पदार्थों के पीने के लिए, अथवा अखाद्य पदार्थों के खाने के लिए उस तामसी मनुष्य की इच्छा बढ़ती ही रहती है। (५३) सारांश तामस भोजन करनेहारे की रुचि उपर्युक्त प्रकार की रहती है। उसका फल मिलने के लिए उसे कुछ दूसरा काल नहीं लगता (५४) क्योंकि ज्योंही उसका मुख उन अपवित्र पदार्थों का स्पर्श करता है त्योंही वह पाप का भोजन बन जाता है। (५५) इस पर जो वह खाता है वह खाना नहीं केवल पेट भरने की चेष्टा समझनी चाहिए। (५६) शिरश्छेद का क्या परिणाम होता है, अथवा अग्नि में प्रवेश करने से क्या होता है, क्या इन बातों का अनुभव लेना चाहिए? पर वह ऐसी बातें भी

सह लेता है। (६७) इस प्रकार श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं रही कि तामस कर्म का परिणाम सात्त्विक या राजस कर्म से बुरा होता है। (६८) इसके उपरान्त अब आहार के समान यज्ञ भी तीन प्रकार का होता है। (६९) परन्तु इन तीनों में, हे उत्तम कीर्तिमानों के शिरोमणि! प्रथम सात्त्विक यज्ञ का मर्म सुनो। (१७०)

> अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
> यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

पतिव्रता के मन में जैसे अपने एक प्रिय पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के विषय में काम नहीं उत्पन्न होता, (७१) अथवा गङ्गा जैसे समुद्र को पहुँच कर फिर आगे प्रवेश नहीं करती, अथवा वेद जैसे आत्मा को देख कर चुपचाप ही रहते हैं, (७२) वैसे ही जो अपने निज के हित के विषय में सम्पूर्ण चित्तवृत्ति लगा कर उसके फल के लिए अहङ्कार शेष नहीं रख छोड़ते, (७३) वृक्ष के मूल तक पहुँचा हुआ जल जैसे पीछे लौटना नहीं जानता किन्तु केवल वृक्ष में ही सोख जाता है, (७४) वैसे ही मन से और शरीर से जो यजन-निश्चय में ही मग्न हो और किसी बात की इच्छा नहीं करते, (७५) वे याज्ञिक स्वधर्म को छोड़ अन्य विषयों से विरक्त हो, फलेच्छा-त्याग-पूर्वक जिस सर्वाङ्गसुन्दर यज्ञ का यजन करते हैं, (७६) और जैसे दर्पण के द्वारा अपना स्वरूप देखा जाता है, अथवा हथेली का रत्न दीपक द्वारा देखा जाता है, (७७) अथवा जिस मार्ग से चलना है वह सूर्य उदय होने पर स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही वेदों के निर्णय देखकर (७८) कुण्ड, मण्डप वेदी और अन्य सामग्री ऐसी जमाते हैं मानों स्वयं वेदों ने ही रची हो, (७९) जैसे शरीर के सब अवयवों में उचित अलङ्कार पहने जायँ वैसे ही जिस यज्ञ में सब पदार्थ जहाँ के तहाँ योग्य प्रबन्ध से रक्खे जाते हैं, (१८०) बहुत क्या वर्णन करूँ जैसे सकल अलङ्कारों से युक्त यज्ञविद्या ही यजन के मिस से मूर्तिमती हो आई हो (८१) ऐसा यज्ञ और उपाङ्गों-सहित और प्रतिष्ठा की इच्छा के बिना जो यज्ञ किया जाता है, (८२) सब पेड़ों में जैसे तुलसी के पेड़ का प्रतिपाल अच्छी तरह किया जाता है परन्तु उससे न फल की न फूल

अब तामस मनुष्य को कैसा आहार भाता है उसका भी वर्णन करते हैं। उस पर तुम घृणा न आने दो। (५३) जैसे भैंसे सूँठ खाती है वैसे ही तामसी मनुष्य जूठा और सड़ा हुआ अन्न खाते हुए कुछ अहित नहीं समझता। (५४)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

उसी प्रकार, जिस अन्न को पके हुए दोपहर या एक दिन बीत जाता है उसे तामसी मनुष्य खाता है (५५) अथवा जो अधकच्चा पकाया गया हो, या निःशेष जल गया हो तथा जिसका रस निकल गया हो, ऐसा भी अन्न वह खाता है। (५६) जो पूर्ण पका हुआ हो, जिसमें रस भरा हुआ दिखाई देता है उस अन्न का अनुभव तामसी मनुष्य को नहीं रहता। (५७) कदाचित् उसे कभी ऐसा उत्तम अन्न मिल जाय तो वह उसे तब तक हाथ नहीं लगाता जब तक की उसमें से दुर्गन्ध न छूटने लगे। व्याघ्र ऐसा ही करता है। (५८) जो कई दिनों का बासी हो, जिसमें से स्वाद निकल गया हो, जो सूख गया हो, सड़ गया हो या फूल गया हो (५९) ऐसे अन्न को भी, खाते समय, वह बालक की तरह गड़-बड़ कर सान लेता है, अथवा अपनी स्त्री को संग बैठा कर पात्रों के समान एक थाली में खाता है। (६०) इस प्रकार गँदलेपन से जब वह खाता है तब उसे सुखभोजन-सा मालूम होता है। परन्तु वह पापी इतने से ही तृप्त नहीं होता (६१) वरन् चमत्कार देखिए, जो बुरे पदार्थ निषिद्ध किये गये हैं, अथवा जो सदोष माने गये हैं (६२) उन अपेय पदार्थों के पीने के लिए, अथवा अखाद्य पदार्थों के खाने के लिए उस तामसी मनुष्य की इच्छा बढ़ती ही रहती है। (६३) सारांश तामस भोजन करनेहारे की रुचि उपर्युक्त प्रकार की रहती है। उसका फल मिलने के लिए उसे कुछ दूसरा क्षण नहीं लगता (६४) क्योंकि ज्योंही उसका मुख उन अपवित्र पदार्थों का स्पर्श करता है त्योंही वह पाप का भोजन बन जाता है। (६५) उस पर जो वह खाता है वह खाना नहीं केवल पेट भरने की चेष्टा समझनी चाहिए। (६६) शिरच्छेद का क्या परिणाम होता है अथवा अग्नि में प्रवेश करने से क्या होता है, क्या इन बातों का अनुभव लेना चाहिए? पर वह ऐसी बातें भी

का आसरा रहता है, (८३) बहुत क्या कहूँ, इस प्रकार से फलाश के बिना जो यज्ञ रचा जाता है उसे सात्त्विक यज्ञ कहते हैं। (८४)

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अब हे वीरेश! यज्ञ तो पूर्वोक्त प्रकार से ही किया जाय परन्तु जैसे कोई श्राद्ध के दिन राजा को भोजन के लिए निमन्त्रण दे, (८५) इस हेतु से कि राजा अपने घर आवेगा तो बहुत लाभ होगा और संसार में कीर्ति भी होगी, (८६) वैसे ही यदि वह यज्ञ भी इस हेतु से किया जाय कि उससे स्वर्ग का लाभ तो बना ही हुआ है, और संसार में दीक्षित का भी सम्मान मिले, तो (८७) हे पार्थ! इस प्रकार केवल फल की आशा और संसार में बड़ाई अथवा प्रसिद्धि के लिए यज्ञ किया जाय तो उसे राजस यज्ञ कहते हैं। (८८)

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

और पशुपक्षियों के विवाह के समय जैसे काम के अतिरिक्त कोई विवाह करनेवाला जोशी नहीं रहता, वैसे ही तामस यज्ञ में केवल आग्रह ही मुख्य है। (८९) वायु को चाहे कहीं मार्ग न मिले, मृत्यु मुहूर्त चिन्तन किया करे, अग्नि निषिद्ध पदार्थों को जलाने से डर जाय, (१९०) ये घटनाएँ हो जायँ तथापि तामस मनुष्य के आचार को विधि की मर्यादा नहीं हो सकती। हे धनुर्धर! वह स्वच्छन्द होता है। (९१) उसे विधि की परवा नहीं रहती। मन्त्र इत्यादि की उसको जरूरत नहीं होती। मक्खी के समान उसका मुँह भी किसी अन्न के विषय में बन्द नहीं होता। (९२) जहाँ ब्राह्मण-मात्र से वैरभाव रहता है वहाँ दक्षिणा की गुजर कहाँ हो सकती है, तथा जैसे वायु को आग की सहायता मिल जाय (९३) तो वह सब नाश कर देती है वैसे ही वह श्रद्धा का मुख न देख कर अपना सर्वस्व वृथा खर्च कर देता है, जैसे कि अपुत्र मनुष्य का धन उसकी मृत्यु के पश्चात् वृथा ही लुट जाता है। (९४) लक्ष्मी के निवास श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार जो केवल यज्ञ का आभास प्रकट किया जाता है उसका नाम तामस यज्ञ है। (९५) अब, गङ्गा का जल एक ही है पर

जुदे-जुदे प्रकाशों में ले जाने से जैसे एक मैला और एक शुद्ध दिखाई देता है (९६) वैसे ही तप भी संसार में तीन गुणों के कारण त्रिरूप हो गया है। इनमें से एक प्रकार के तप के आचरण से पाप, और दूसरे से उद्धार होता है। (९७) अब हे सुबुद्धि! यही तप तीन प्रकार का कैसा होता है; यह जानने की इच्छा हो तो प्रथम तप क्या है सो सुनो। (९८) तप क्या वस्तु है, उसका स्वरूप हम व्यक्त कर बताते हैं और फिर वह तीन गुणों के कारण जैसा भिन्न होता है उसका वर्णन करेंगे। (९९) अब, जो उत्तम तप है वह भी त्रिविध है, अर्थात् *शारीरिक, मानसिक* और *शब्द*। (२००) इन तीनों में से सम्प्रति शारीरिक का रूप सुनो। जिसे शङ्कर अथवा श्रीहरि प्रिय होते हैं (१)

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

—उसने, आठों पहर अपने प्रिय देवता के मन्दिर की यात्रा इत्यादि करने के लिए, अपने पाँव मानों अगार में दिये रहते हैं। (२) उसके हाथ, देवता का आँगन सुशोभित करने के लिए, गन्ध पुष्प इत्यादि उपचार लाने के लिए तथा आज्ञा लेखने के लिए, शोभते हैं। (३) दृष्टि से शिवलिङ्ग या श्रीमूर्ति दिखाई पड़ते ही वह शरीर से ऐसा लोट-पोट होता है मानों कोई लकड़ी पड़ी हो। (४) वेद और विनय इत्यादि गुणों में श्रेष्ठ जो ब्राह्मण हैं उनकी उत्तम सेवा करना, (५) अथवा जो प्रवास से या किसी पीड़ा से या किसी संकट से कष्टी हों उन्हें सुखस्थिति को पहुँचाना (६) सकल तीर्थों में श्रेष्ठ जो माता पिता हैं उनकी सेवा के लिए वास्तव में शरीर को निछावर करना (७) भेंट होते ही जो संसार जैसा दारुण दुःख हर लेता है उस ज्ञानदानी और करुणापूर्ण गुरु का भजन करना, (८) हे सुभट! स्वधर्मरूपी अँगीठी में स्थूलदेहबुद्धि-रूपी हलके सामने जो अभ्यास-योगरूपी पुट में रखकर जला देना (९) प्राणिमात्र में ईश्वर समझ कर उसे नमन करना, परोपकार के द्वारा उसका भजन करना स्त्रीविषय से इन्द्रियों का पूर्णतः नियमन करना, (२१०) जन्म के समय ही शरीर से स्त्री-देह का स्पर्श हो पर पश्चात् सम्पूर्ण जन्म भर शुद्ध रहना, (११) सबमें भाया है यह जान कर तृण को भी पकड़ा

न जगाना अथवा क्या कहें किसी का छेद व भेद न करना, (१२) इत्यादि शुद्ध व्यापार यदि शरीर से हों तो शारीरिक तप पूर्णता को पहुँच गया समझना चाहिए। (१३) हे पार्थ! ये सम्पूर्ण कर्म शरीर की प्रधानता के कारण होते हैं इसलिए मैं इसे शारीरिक तप कहता हूँ। (१४) इस प्रकार शारीरिक तप का रूप व्यक्त कर बताया। अब निष्पाप वाङ्मय या वाचिक तप सुनो। (१५)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

पारस जैसे लोहे के परिमाण को न घटा कर उस को सोना बना देता है (१६) वैसे ही जिस वाणी में ऐसी साधुता दिखाई दे कि वह किसी का जी नहीं दुखाती तथा सुननेहारे को स्वभावतः सुख उपजाती है (१७) जल मुख्यतः वृक्ष को दिया जाता है पर उससे प्रसङ्गवशात् उस स्थल का तृण भी हरा-भरा रहता है वैसे ही जो वाणी ऐसी हो कि उसका एक से आलाप करना सभी को हितकारी हो, (१८) अमृत की गङ्गा प्राप्त हो तो वह जैसे प्राणों को अमर करती तथा स्नान करने से पाप या सन्ताप का निवारण करती और माधुर्य भी देती है (१९) वैसे ही जिस वाणी के सुनने से अविचार दूर हो और अपने अनादित्व की भेंट हो तथा जिसे सुनते हुए अमृतरुचि, अमृत की रुचि जैसी, कभी नहीं अघाती (२२०) ऐसी वाणी से प्रश्न का उत्तर देना अन्यथा वेद या भगवन्नाम का आवर्तन करना, (२१) जैसे मुख में वेदशाला ही भरी है इस प्रकार वाचारूपी मन्दिर में ऋग् इत्यादि तीनों वेदों की प्रतिष्ठा करना (२२) अथवा शिव या विष्णु के किसी नाम का वाचा पर बसना वाग्मय तप कहाता है। (२३) फिर लोकपालों के धनी श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मानसिक तप का भी वर्णन करते हैं, सुनो। (२४)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

तरङ्गों के बिना जैसा सरोवर मेघों से वियुक्त जैसा आकाश अथवा सर्पों से रहित जैसा चन्दन का उद्यान, (२५) अथवा कलाओं की विषमता से वियुक्त चन्द्रमा, अथवा चिन्ता-विरहित राजा

अथवा मन्द्राचल से रहित जैसा क्षीरसागर, (२६) वैसा ही अनेक विकल्पों की लाखों पूर्णता निकल जाने पर जब मन केवल स्वरूपाकार से रह जाता है, (२७) बिना उष्णता के प्रकाश, बिना जड़ता के रस अथवा बिना पोलेपन के अवकाश (२८) की तरह जब मन अपने स्वरूप से रहता और अपने स्वभाव का इस प्रकार त्याग कर देता है जैसे हिम अपने शरीर को ठण्ड नहीं लगने देता, (२९) एवं कलंक-रहित चन्द्रमा जैसा निश्चल, नित्य और परिपूर्ण रहता है वैसा ही मन जब शुद्ध और प्रकाशित रहता है, (२३०) वैराग्य का क्लेश होना जब बन्द हो जाता है, हृदय का धड़कना और कँपना बन्द हो जाता है और उसके स्थान में आत्मबोध की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। (३१) अतः शास्त्र-परिशीलन के लिए मुख का व्यापार जो चलता है उसका भी कभी उपयोग नहीं किया जाता (३२) अथवा जैसे अपनी मूलस्थिति अर्थात् जल का स्पर्श करते ही लवणस्वरूप नहीं रह सकता वैसे ही आत्मलाभ की प्राप्ति के कारण मन जब मनत्व ही नहीं रख सकता (३३) तो उसमें ऐसे भाव कहाँ से उठ सकते हैं जिनसे इन्द्रिय-रूपी मार्गों से दौड़ कर विषय-रूपी नगर प्राप्त किये जावें (३४) अतः जैसे हाथ की हथेली में बाल नहीं रहते वैसे उस समय मन में भी स्वभावतः भावशुद्धि रहती है, (३५) बहुत कहाँ तक कहूँ हे अर्जुन! मन की जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब उस स्थिति को मानसिक तप नाम प्राप्त होता है। (३६) परन्तु अस्तु। देव ने कहा कि यहाँ तक हमने मानसिक तप के सम्पूर्ण लक्षणों का वर्णन किया, (३७) एवं हमने काया, वाचा और मन के द्वारा जो त्रिविध हुआ है उस सामान्य तप का विवरण कह सुनाया। (३८) अब तीन गुणों के सङ्ग से वही तप तीन प्रकार से भिन्न हो जाता है उसका विवेचन भी अपनी बुद्धि बल के द्वारा भली भाँति ग्रहण करो। (३९)

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

हे ज्ञानी! जिसका अभी बयान किया इसी त्रिविध तप का आचरण, पूर्ण श्रद्धा से और फल की इच्छा छोड़ कर करना चाहिए। (२४०) जब यह तप पूर्ण सत्त्वशुद्धि के हेतु से आस्तिक्य बुद्धि से किया जाता है तब उसको ज्ञानीजन सात्त्विक कहते हैं, (४१)

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अथवा तपाचरण के द्वारा संसार में द्वैत का मण्डन कर अब महत्त्व-रूपी पर्वत की शिखा पर बैठने का हेतु होता है, (४२) त्रिभुवन का सन्मान मेरे अतिरिक्त और कहीं न जाय, भोजन के समय मुझे सबसे श्रेष्ठ स्थान मिले, (४३) मैं सब जगत् की स्तुति का पात्र हो जाऊँ, सब संसार मेरी यात्रा करे, (४४) संसार की विविध पूजाओं को मेरे अतिरिक्त आसरा न मिले, तथा मुझे उत्तम प्रकार के बड़े-बड़े उप-भोग प्राप्त हों, (४५) इस प्रकार जैसे बूढ़ा वेश्या अपने बुढ़ापे को ऊपर से शृङ्गार करके छिपाये रहती है वैसे ही जब निज का महत्त्व बढ़ाने के हेतु से शरीर या वाणी में तप का मुलम्मा किया जाता है, (४६) तथा धन की इच्छा रख कर तप के कष्ट किये जाते हैं तब उस तप को राजस कहते हैं। (४७) जिसका दूध एक प्रकार का कीड़ा पी जाता है वह गाय जैसी ब्याने पर भी दूध नहीं देती अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे नाज हाथ नहीं आता (४८) वैसे ही जब अपने तप की बड़ाई मारी जाय तो उसका फल भी बिलकुल ही वृथा होता है। (४९) उसको इस प्रकार निष्फल होता देख कर तपस्वी उसे बीच में ही छोड़ देते हैं, इसलिए उस तप में स्थिरता नहीं रहती। (२५०) यों भी जो आकाश में व्याप्त ही रहता है और गर्जना से ब्रह्माण्ड का भेद करता है वह अकाल-मेघ क्या एक क्षणभर भी टिकता है ? (५१) वैसे ही जो राजस तप है वह भी फल के विषय में बन्ध्या होता है और उसका आचरण भी टिकाऊ नहीं होता। (५२) अब वह तप तामसी रीति से किया जाय तो उससे परलोक और कीर्ति दोनों की हानि होती है। (५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

हे धनुर्धर ! अन्तःकरण में केवल मूर्खता की हवा भर कर, शरीर को जो बैरी समझते हैं (५४) और उसके चारों ओर पञ्चाग्नि की तप्त ज्वालाएँ सुलगाते हैं, अथवा शरीर को ईंधन बना उसे अग्नि के भीतर जलाते हैं (५५) सिर पर गुग्गुल जलाते हैं, पीठ पर काँटे बाँधते हैं और शरीर को लकड़ी बना जला कर अङ्गार बनाते हैं, (५६)

श्वासोच्छ्वास करना बन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं। (५७) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर खड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर बैठते हैं जहाँ वे जीते-जी अपने शरीर के मांस के टुकड़े तोड़ते हैं, (५८) ऐसे नाना प्रकार से शरीर को क्लेश देते हुए हे धनञ्जय! जो दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं, (५९) निज की जड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीज़ों को भी रगड़ डालता है (२६०) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं, (६१) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जो बुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप को हे किरीटी! तामस तप कहते हैं। (६२) तात्पर्य यह कि सत्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है, उसे हमने भली भाँति व्यक्त कर बताया। (६३) अब कथा कहते हुए प्रसङ्गानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं। (६४) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्त्विक दान सुनो। (६५)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए। (६६) उत्तम बीज प्राप्त हो परन्तु उसे खेत खेत और अनुकूल भाप न मिले, वैसा ही सम्बन्ध दान का भी दिखाई देता है। (६७) अनमोल रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और सोना दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलङ्कार पहनने योग्य नहीं होता, (६८) पर जब सौभाग्य का उत्कर्ष होता है तब त्योहार स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं (६९) वैसे ही दान की पन्था के लिए जब सत्त्व गुण सहकारी होता है तो देश काल पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं। (२७०) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र या काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई इस ढंग का होना चाहिए जो योग्यता में उनकी बराबरी का हो। (७१) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यकाल अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

कि उस दान से दान लेनेवाले का गुज़ारा हो और वह बार-बार दाता का नाम ले—उसका यश गावे, (८८) अथवा हे पाण्डुसुत ! रास्ता चलते कोई प्रत्युपकार न करनेहारा उत्तम ब्राह्मण मिले (८९) तो उसे एक कौड़ी देने के साथ ही उसके हाथ सम्पूर्ण कुटुम्बियों के प्रायश्चित्त का संकल्प छोड़ा जाय, (१९०) इसी प्रकार यदि अनेक स्वर्गीय फलों की इच्छा से दान दिया जाय और वह भी इतना-सा कि एक ही मूठ के लिए भी काफ़ी न हो, (९१) तथा ब्राह्मण के दान लेकर जाते ही यदि दान देनेहारा उसे हानि समझ कर ऐसा दुःखी हो मानों कोई चोर द्रव्य हरण कर ले गया हो, (९२) बहुत कहाँ तक कहें, हे सुमति ! ऐसी मनोवृत्ति से यदि दान दिया जाय तो उस दान को संसार में राजस कहते हैं। (९३)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अब म्लेच्छों की बस्ती, जङ्गल, अपावन स्थल अथवा डेरे या शहर के चौरस्ते (९४) के समान स्थल हों साँझ का अथवा रात का समय हो, और उस समय चोरी से प्राप्त किये हुए धन का दान किया जाय, (९५) दान का पात्र कोई भाट या बाज़ीगर हो, अथवा कोई वेश्या या जुआरी हो जो मूर्तिमान् भ्रम के रूप से दान देनेहारे को भुलाते हैं, (९६) जिस पर और नृत्य होता हो सम्मुख आदू भरी आँखें हों भाटों की स्तुति होती हो जो कानों में गूँजती रहे (९७) फूलों की तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध फैल रही हो, तो वह दान देनेहारा तत्काल भ्रम का केवल ही बन जाता है, (९८) और लोगों को लूट कर लाये हुए अनेक पदार्थों के भस्म करने के लिए यमदूतों का आरम्भ करता है। (९९) इस प्रकार के दान को मैं तामस दान कहता हूँ। और भाग्यवशात् और भी एक घटना हो सकती है, सुनो। (१००) जैसे कभी घुन लगने से लकड़ी पर अक्षर का भी आकार हो जाता है अथवा कभी ताली बजाते ही कौआ गिर पड़ता है, वैसे ही कभी तामस मनुष्य को भी पुण्यस्थल में पर्वकाल का लाभ हो जाता है। (१) वहाँ उसे श्रीमान् जान कर कोई योग्य पुरुष दान माँगने के लिए आवे तो उस समय यद्यपि वह अभिमान से फूल कर प्रसिद्ध होता है, (२) तथापि

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अथवा तपाचरण के द्वारा संसार में द्वैत का मस्तक पर बल महत्त्व-रूपी पर्वत की शिखा पर बैठने का हेतु होता है, (४२) त्रिभुवन का सम्मान मेरे अतिरिक्त और कहीं न जाय, भोजन के समय मुझे सबसे श्रेष्ठ स्थान मिले, (४३) मैं सब जगत् की स्तुति का पात्र हो जाऊँ, सब संसार मेरी यात्रा करे, (४४) संसार की विविध पूजाओं को मेरे अतिरिक्त आसरा न मिले, तथा मुझे उत्तम प्रकार के बड़े-बड़े उपभोग प्राप्त हों, (४५) इस प्रकार जैसे बूढ़ा वेश्या अपने बुढ़ापे को रूप से शृङ्गार करके छिपाये रहती है वैसे ही जब निज का महत्त्व बढ़ाने के हेतु से शरीर या वाणी में तप का मुलम्मा किया जाता है, (४६) तथा धन की इच्छा रख कर तप के कष्ट किए जाते हैं तब उस तप को राजस कहते हैं। (४७) जिसका दूध एक प्रकार का कीड़ा पी जाता है वह गाय जैसी ब्याने पर भी दूध नहीं देती अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे नाज हाथ नहीं आता (४८) वैसे ही जब अपने तप की बड़ाई मारी जाय तो उसका फल भी बिल्कुल ही वृथा होता है। (४९) उसको इस प्रकार निष्फल होता देख कर तपस्वी उसे बीच में ही छोड़ देते हैं, इसलिए उस तप में स्थिरता नहीं रहती। (५०) यों भी जो आकाश में व्याप्त ही रहता है और गर्जना से ब्रह्माण्ड का भेद करता है वह अकाल-मेघ क्या एक क्षणभर भी टिकता है? (५१) वैसे ही जो राजस तप है वह भी फल के विषय में बन्ध्या होता है और उसका आचरण भी टिकाऊ नहीं होता। (५२) अब वह तप तामसी रीति से किया जाय तो उससे परलोक और कीर्ति दोनों की हानि होती है। (५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

हे धनुर्धर! तामस करना में केवल मूर्खता की हवा भर कर, शरीर को जो बैरी समझते हैं (५४) और उसके चारों ओर पञ्चाग्नि की तप ज्वालायें सुलगाते हैं, अथवा शरीर को ईंधन बना उसे अग्नि के भीतर जलाते हैं (५५) सिर पर गुग्गुल जलाते हैं, पीठ पर काँटे चुभाते हैं और शरीर को लकड़ी बना जला कर अङ्गार बनाते हैं, (५६)

श्वासोच्छ्वास करना बन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं। (५७) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर खड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर बैठते हैं जहाँ वे जीते-जी अपने शरीर के माँस के टुकड़े तोड़ते हैं, (५८) ऐसे नाना प्रकार से शरीर को क्लेश देते हुए हे धनञ्जय! जो दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं, (५९) निज की जड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीज़ों को भी रगड़ डालता है (२६०) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं, (६१) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जो बुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप को हे किरीटी! तामस तप कहते हैं। (६२) तात्पर्य यह कि सत्त्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है, उसे हमने अच्छी भाँति व्यक्त कर बताया। (६३) अब कथा कहते हुए प्रसङ्गानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं। (६४) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्त्विक दान सुनो। (६५)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए। (६६) उत्तम बीज प्राप्त हो परन्तु उसे जैसे खेत और अनुकूल भाप न मिले, वैसा ही सम्बन्ध दान का भी दिखाई देता है। (६७) बहुमोल रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और सोना दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलङ्कार पहनने योग्य नहीं होता, (६८) पर जब सौभाग्य का उत्कर्ष होता है तब त्योहार स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं (६९) वैसे ही दान की घटना के लिए जब सत्त्व गुण सहकारी होता है तो देश, काल पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं। (२७०) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र या काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई देश होना चाहिए जो योग्यता में उसकी बराबरी कर सके। (७१) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यप्रद अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

(७२) ऐसे काल में और ऐसे देश में दान का पात्र भी ऐसा होना चाहिए मानों शुचिता ही मूर्तिमती हो आई हो। (७३) इस प्रकार शुद्धाचरण की भूमिका, अथवा वेदों का वसतिस्थान जैसा निर्मल द्विजरत्न प्राप्त कर (७४) उसे अपने द्रव्य का स्वत्व अर्पण करना चाहिए। परन्तु प्रिय पति के सन्मुख जैसे कान्ता जाती है, (७५) अथवा जैसे कोई किसी की अमानत में रक्खी हुई वस्तु लौटा कर उऋण हो जाता है, अथवा खिदमतगार जैसे राजा को पान अर्पण करता है (७६) वैसे ही निष्काम-बुद्धि से भूमि इत्यादि अर्पण करनी चाहिए। कुछ क्या कहें, अन्तःकरण में कोई कामना न उठने देनी चाहिए। (७७) और जिसे दान दिया जाय वह ऐसा मनुष्य होना चाहिए जो उस लिये हुए दान का प्रत्युपकार न करे। (७८) आकाश में ध्वनि करने से जैसे प्रतिध्वनि नहीं उठती, अथवा दर्पण की दूसरी ओर देखने से जैसे रूप दिखाई नहीं देता, (७९) अथवा जल की भूमिका पर गेंद मारने से जैसे वह उछल कर हाथ में नहीं आ सकती (८०) अथवा छूटे हुए साँड को चारा देने से या कृतघ्न मनुष्य के साथ उपकार करने से जैसे वे प्रत्युपकार नहीं करते (८१) वैसे ही जिसे दान दिया जाय वह मनुष्य ऐसा होना चाहिए जो दाता के दान का किसी तरह से प्रत्युपकार न करे। (८२) इस प्रकार की सामग्री से जिस दान की घटना होती है उसे सब दानों में श्रेष्ठ सात्त्विक दान कहते हैं। (८३) और देश या काल वैसा ही प्राप्त हो, पात्र-सम्बन्ध वैसा ही मिले और द्रव्य भी शुद्ध और न्याय से प्राप्त हुआ हो, (८४)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

परन्तु गाय को जैसे दूध की इच्छा से चारा दिया जाय, अथवा खत्ता भरने के लिए कपड़ा बनाकर जैसे बोनी की जाय, (८५) अथवा व्यवहार की ओर दृष्टि देकर जैसे सम्बन्धियों को निमन्त्रण दिया जाय, अथवा जैसे मतस्य मनुष्य के घर परोसा (पत्तल) भेजा जाय, क्योंकि उसके यहाँ से वह वापिस ही आवेगा, (८६) अथवा जैसे ब्याज को पहले गाँठ में धर लेने पर द्रव्य द्वारा किसी की सहायता की जाय, अथवा द्रव्य लेकर जैसे रोगियों को औषधि दी जाय, (८७) वैसे ही यदि इस भाव से दान दिया जाय

कि उस दान से दान लेनेवाले का गुजारा हो और वह बार-बार दाता का नाम ले—उसका यश गावे, (८८) या जैसा है पाण्डुसुत! रास्ता चलते कोई प्रत्युपकार न करनेहारा उत्तम ब्राह्मण मिले (८९) तो उसे एक कौड़ी देने के साथ ही उसके हाथ सम्पूर्ण कुटुम्बियों के प्रायश्चित्त का संकल्प छोड़ा जाय, (१९०) इसी प्रकार यदि अनेक स्वर्गीय फलों की इच्छा से दान दिया जाय और वह भी इतना-सा कि एक की भूख के लिए भी काफ़ी न हो (९१) तथा ब्राह्मण के दान लेकर जाते ही यदि दान देनेहारा उसे हानि समझ कर ऐसा दुखी हो मानों कोई चोर द्रव्य हरण कर ले गया हो, (९२) बहुत कहाँ तक कहें, हे सुमति! ऐसी मनोवृत्ति से यदि दान दिया जाय तो उस दान को संसार में राजस कहते हैं। (९३)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अब म्लेच्छों की बस्ती, जङ्गल, अपावन स्थान अथवा डेरे या शहर के चौरस्ते (९४) के समान स्थान हों, साँझ का अथवा रात का समय हो, और उस समय चोरी से प्राप्त किये हुए धन का दान किया जाय, (९५) दान का पात्र कोई भाट या बाज़ीगर हो, अथवा कोई वेश्या या जुआरी हो जो मूर्तिमान् भ्रम के रूप से दान देनेहारे को भुलाते हैं, (९६) जिस पर और नृत्य होता हो, सन्मुख रूपवती आँखें हों भाटों की स्तुति होती हो जो कानों में गूँजती रहे (९७) फूलों की तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध फैल रही हो, तो वह दान देनेहारा तत्काल भ्रम का वेताल ही बन जाता है, (९८) और लोगों को लूट कर लाये हुए अनेक पदार्थों के बल कलाकारों के लिए आमसत्रों का आरम्भ करता है। (९९) इस प्रकार के दान को मैं तामस दान कहता हूँ। और अकस्मात् और भी एक घटना हो सकती है, सुनो। (१००) जैसे कभी घुन लगने से लकड़ी पर अक्षर का भी आकार हो जाता है, अथवा कभी ताली बजाते ही कौआ गिर पड़ता है, वैसे ही कभी तामस मनुष्य को भी पुण्यपर्व में पर्वकाल का लाभ हो जाता है। (१) वहाँ उसे श्रीमान् जान कर कोई योग्य पुरुष दान माँगने के लिए आवे तो उस समय यद्यपि वह अभिमान से फूल कर प्रमित होता है, (२) तथापि

श्वासोच्छ्वास करना बन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं। (४७) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर खड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर बैठते हैं जहाँ वे जीते-जी अपने शरीर के मांस के टुकड़े तोड़ते हैं, (४८) ऐसे नाना प्रकार से शरीर को क्लेश देते हुए वे अन्ततः दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं, (४९) जिस की लड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीजों को भी रगड़ डालता है (४५०) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं, (४५१) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जो बुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप को हे किरीटी! तामस तप कहते हैं। (४५२) तात्पर्य यह कि सत्त्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है, उसे हमने अच्छी भाँति व्यक्त कर बताया। (४५३) अब कथा कहते हुए प्रसङ्गानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं। (४५४) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्त्विक दान सुनो। (४५५)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वकर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए। (४५६) उत्तम बीज प्राप्त हो परन्तु उस जैसे खेत और अनुकूल भाव न मिले, वैसा ही सम्बन्ध दान का भी दिखाई देता है। (४५७) महामोल रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और स्वर्ण दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलङ्कार पहनने योग्य नहीं होता, (४५८) पर जब सौभाग्य का उत्कर्ष होता है तब त्योहार स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं (४५९) वैसे ही दान की घटना के लिए जब सत्त्व गुण सहकारी होता है तो देश, काल पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं। (४६०) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र या काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई देश होना चाहिए जो योग्यता में उनकी बराबरी कर सके। (४६१) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यकाल अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अथवा तपाचरण के द्वारा संसार में द्वैत का मयडल का महत्त्व रूपी पर्वत की शिखा पर बैठने का हेतु होता है, (४२) त्रिभुवन में सन्मान मेरे अतिरिक्त और कहीं न जाय, भोजन के समय मुझे सबसे श्रेष्ठ स्थान मिले, (४३) मैं सब जगत् की स्तुति का पात्र हो जाऊँ सब संसार मेरी यात्रा करे, (४४) संसार की विविध पूजाओं को मेरे अतिरिक्त आसरा न मिले, तथा मुझे उत्तम प्रकार के भोगों का भोग प्राप्त हों, (४५) इस प्रकार जैसे वृद्धा वेश्या अपने बुढ़ापे को रस से शृङ्गार करके छिपाये रहती है वैसे ही जब निज का महत्त्व पाने के हेतु से शरीर या वाणी में तप का मुलम्मा किया जाता है, (४६) तथा धन की इच्छा रख कर तप के कष्ट किए जाते हैं तब उस तप को राजस कहते हैं। (४७) जिसका दूध एक प्रकार का थोड़ा भी नहीं है वह गाय जैसी ब्याने पर भी दूध नहीं देती अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे नाज हाथ नहीं आता (४८) वैसे ही जब अपने तप की बड़ाई मारी जाय तो उसका फल भी बिल्कुल ही वृथा होता है। (४९) उसको इस प्रकार निष्फल होता देख कर तपस्वी उसे बीच में ही छोड़ देते हैं, इसलिए उस तप में स्थिरता नहीं रहती। (५०) यों भी जो आकाश में व्याप्त ही रहता है और गर्जना से ब्रह्माण्ड का भेद करता है वह अकाल-मेघ क्या एक क्षणभर भी टिकता है? (५१) वैसे ही जो राजस तप है वह भी फल के विषय में वन्ध्या होता है और उसका आचरण भी टिकाऊ नहीं होता। (५२) अब यदि तप तामसी रीति से किया जाय तो उससे परलोक और कीर्ति दोनों की हानि होती है। (५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

हे धनुर्धर! अन्त करण में केवल मूर्खता की हवा भर कर शरीर को वह वैरी समझते हैं (५४) और उसके चारों ओर पञ्चाग्नि की धूम ज्वालाएँ सुलगाते हैं अथवा शरीर को ईंधन बना उसे अग्नि के भीतर जलाते हैं (५५) सिर पर गुग्गुल जलाते हैं, पीठ पर काँटे बाँधते हैं और शरीर को लकड़ी सा जला जला कर अङ्गार करते हैं, (५६)

श्वासोच्छ्वास करना बन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं। (५७) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर खड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर बैठते हैं जहाँ वे जीते जी अपने शरीर के मांस के टुकड़े तोड़ते हैं, (५८) ऐसे नाना प्रकार से शरीर को क्लेश देते हुए हे धनञ्जय! जो दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं, (५९) निज की जड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीजों को भी रगड़ डालता है (२६०) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं, (६१) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जो बुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप को हे किरीटी! तामस तप कहते हैं। (६२) तात्पर्य यह कि सत्त्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है, उसे हमने भली भाँति व्यक्त कर बताया। (६३) अब कथा कहते हुए प्रसङ्गानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं। (६४) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्त्विक दान सुनो। (६५)

> दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
> देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए। (६६) उत्तम बीज प्राप्त हो परन्तु उस क्षेत्र खेत और अनुकूल भाव न मिले, वैसा ही सम्बन्ध दान का भी दिखाई देता है। (६७) बहुमोल रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और सोना दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलङ्कार पहनने योग्य नहीं होता, (६८) पर जब सौभाग्य का उदय होता है तब त्योहार स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं; (६९) वैसे ही दान की चेष्टा के लिए जब सत्त्व गुण सहकारी होता है तो देश, काल पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं। (२७०) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र या काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई ऐसा होना चाहिए जो योग्यता में उनकी बराबरी का हो। (७१) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यकाल अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अथवा तपाचरण के द्वारा संसार में द्वैत का मण्डन कर कर महत्त्व रूपी पर्वत की शिखा पर बैठने का हेतु होता है, (४२) त्रिभुवन में सन्मान मेरे अतिरिक्त और कहीं न जाय, भोजन के समय मुझ ही को श्रेष्ठ स्थान मिले, (४३) मैं सब जगत् की स्तुति का पात्र हो जाऊं, सब संसार मेरी यात्रा करे, (४४) संसार की विविध पूजाओं को मेरे अतिरिक्त आसरा न मिले, तथा मुझे उत्तम प्रकार के भोगों के भोग प्राप्त हों, (४५) इस प्रकार जैसे वृद्धा वेश्या अपने बुढ़ापे को कम से शृङ्गार करके छिपाये रहती है वैसे ही जब निज का महत्त्व बढ़ने के हेतु से शरीर या वाणी में तप का मुलम्मा किया जाता है, (४६) तथा मन की इच्छा रख कर तप के कष्ट किए जाते हैं तब उस तप को राजस कहते हैं। (४७) जिसका दूध एक प्रकार का थोड़ा भी नष्ट है वह गाय जैसी ब्याने पर भी दूध नहीं देती अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे नाज हाथ नहीं आता (४८) वैसे ही जब अपने तप की बड़ाई मारी जाय तो उसका फल भी बिलकुल ही नष्ट होता है। (४९) उसको इस प्रकार निष्फल होता देख कर तपस्वी उसे बीच में ही छोड़ देते हैं, इसलिए उस तप में स्थिरता नहीं रहती। (५०) यों भी जो आकाश में व्याप्त ही रहता है और गर्जना से ब्रह्माण्ड का भेद करता है वह अकाल-मेघ क्या एक क्षणभर भी टिकता है ? (५१) वैसे ही जो राजस तप है वह भी फल के विषय में बन्ध्या होता है और उसका आचरण भी टिकाऊ नहीं होता। (५२) अब वह तप तामसी रीति से किया जाय तो उससे परलोक और कीर्ति दोनों की हानि होती है। (५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

हे धनुर्धर ! अन्तःकरण में केवल मूर्खता की हवा भर कर, शरीर को जो बैरी समझते हैं (५४) और उसके चारों ओर पञ्चाग्नि की तप्त ज्वालायें सुलगाते हैं, अथवा शरीर को ईंधन बना उसे अग्नि के भीतर जलाते हैं (५५) सिर पर गुग्गुल जलाते हैं पीठ पर कांटे बांधते हैं और शरीर को जलती धूनी लगा कर अङ्गार बनाते हैं (५६)

श्वासोच्छ्वास करना बन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं। (५७) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर पड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर बैठते हैं जहाँ वे जीते-जी अपने शरीर के मांस के टुकड़े तोड़ते हैं, (५८) ऐसे नाना प्रकार से शरीर को क्लेश देते हुए हे धनञ्जय! जो दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं, (५९) निज की जड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीज़ों को भी रगड़ डालता है (२६०) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं, (६१) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जो बुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप को हे किरीटी! तामस तप कहते हैं। (६२) तात्पर्य यह कि सत्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है, उसे हमने भली भाँति व्यक्त कर बताया। (६३) अब कथा कहते हुए प्रसङ्गानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं। (६४) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्त्विक दान सुनो। (६५)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए। (६६) उत्तम बीज प्राप्त हो परन्तु उस जैसा खेत और अनुकूल भाप न मिले, वैसा ही सम्बन्ध दान का भी दिखाई देता है। (६७) अमूल्य रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और सोना दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलङ्कार पहनने योग्य नहीं होता, (६८) पर जब सौभाग्य का उत्कर्ष होता है तब त्योहार स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं; (६९) वैसे ही दान की घटना के लिए जब सत्व गुण सहकारी होता है तो देश, काल पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं। (२७०) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र या काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई देश होना चाहिए जो योग्यता में उनकी बराबरी का हो। (७१) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यकाल अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

(७२) ऐसे काल में और ऐसे देश में दान का पात्र भी ऐसा होना चाहिए मानों शुचिता ही मूर्तिमती हो आई हो। (७३) इस प्रकार शुद्धाचरण की भूमिका, अथवा वेदों का वसतिस्थान जैसा निर्मल द्विजरत्न प्राप्त कर (७४) उसे अपने द्रव्य का स्वत्व अर्पण करना चाहिए। परन्तु प्रिय पति के सन्मुख जैसे कान्ता जाती है, (७५) अथवा जैसे कोई किसी की अमानत में रक्खी हुई वस्तु लौटा कर उऋण हो जाता है, अथवा खिदमतगार जैसे राजा को पान अर्पण करता है (७६) वैसे ही निष्काम-बुद्धि से भूमि इत्यादि अर्पण करनी चाहिए। बहुत क्या कहें, अन्तःकरण में कोई कामना न उठने देनी चाहिए। (७७) और जिसे दान दिया जाय वह ऐसा मनुष्य होना चाहिए जो कभी लिये हुए दान का प्रत्युपकार न करे। (७८) आकाश में ध्वनि करने से जैसे प्रतिध्वनि नहीं उठती, अथवा दर्पण की दूसरी ओर देखने से जैसे रूप दिखाई नहीं देता, (७९) अथवा जल की भूमिका पर गेंद मारने से जैसे वह उछल कर हाथ में नहीं आ सकती, (२८०) अथवा छूटे हुए साँड को चारा देने से या कृतघ्न मनुष्य के साथ उपकार करने से जैसे वे प्रत्युपकार नहीं करते (८१) वैसे ही जिसे दान दिया जाय वह मनुष्य ऐसा होना चाहिए जो दाता के दान का किसी तरह से प्रत्युपकार न करे। (८२) इस प्रकार की सामग्री से जिस दान की घटना होती है उस सब दानों में श्रेष्ठ सात्त्विक दान कहते हैं। (८३) और देश या काल वैसा ही प्राप्त हो, पात्र-सम्बन्ध वैसा ही मिले और दानद्रव्य भी शुद्ध और न्याय से प्राप्त हुआ हो, (८४)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

परन्तु गाय को जैसे दूध की इच्छा से चारा दिया जाय, अथवा अनाज भरने के लिए बखार बनाकर जैसे कोठी [illegible] (८५) अथवा व्यवहार की ओर द[illegible]र जैसे सम्बन्धि[illegible] [illegible] दिया जाय अथवा जैसे [illegible] मनुष्य के घर [illegible] जाय, क्योंकि उस[illegible] वह वापिस [illegible] जैसे ब्याज को प[illegible] पर [illegible] को सहायता की [illegible] द्रव्य [illegible] औषधि दी जाय, [illegible]

कि उस दान से दान लेनेवाले का गुजारा हो और वह बार-बार दाता का नाम ले—उसका यश गावे, (८८) अन्यथा हे पाण्डुसुत! रास्ता चलते कोई प्रत्युपकार न करनेहारा उत्तम ब्राह्मण मिले (८९) तो उसे एक कौड़ी देने के साथ ही उसके हाथ सम्पूर्ण कुटुम्बियों के प्रायश्चित्त का संकल्प छोड़ा जाय, (९०) उसी प्रकार यदि अनेक स्वर्गीय फलों की इच्छा से दान दिया जाय और वह भी इतना-सा कि एक की भूख के लिए भी काफ़ी न हो, (९१) तथा ब्राह्मण के दान लेकर जाते ही यदि दान देनेहारा उसे हानि समझ कर ऐसा दुःखी हो मानों कोई चोर द्रव्य हरण कर ले गया हो, (९२) बहुत कहाँ तक कहूँ, हे सुमति! ऐसी मनोवृत्ति से यदि दान दिया जाय तो उस दान को संसार में राजस कहते हैं। (९३)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अब म्लेच्छों की बस्ती, जङ्गल, अपावन स्थल अथवा डेरे या शहर के चौरस्ते (९४) के समान स्थल हों सॉझ का अथवा रात का समय हो, और उस समय चोरी से प्राप्त किये हुए धन का दान किया जाय (९५) दान का पात्र कोई भाट या बाजीगर हो, अथवा कोई वैश्या या जुआरी हो जो मूर्तिमान् भ्रम के रूप से दान देनेहारे को भुलाते हैं, (९६) जिस पर और नृत्य होता हो, सन्मुख जादू भरी आँखें हों भाटों की स्तुति होती हो जो कानों में गूँजती रहे (९७) फूलों की तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध फैल रही हो तो वह दान देनेहारा तत्काल भ्रम का वैताल ही बन जाता है, (९८) और लोगों को लूट कर लाये हुए अनेक पदार्थों के बल अस्त्रादों के लिए आमसत्रों का आरम्भ करता है। (९९) इस प्रकार के दान को मैं तामस दान कहता हूँ। और भाग्यवशात् और भी एक घटना हो सकती है, सुनो। (१००) जैसे कभी घुन लगने से लकड़ी पर अक्षर का भी आकार हो जाता है, अथवा कभी ताली बजाते ही कौआ गिर पड़ता है, वैसे ही कभी तामस मनुष्य को भी पुण्यस्थल में पर्वकाल का लाभ हो जाता है। (१) वहाँ उसे श्रीमान् जान कर कोई योग्य पुरुष दान माँगने के लिए आवे तो उस समय यद्यपि वह अभिमान से फूल कर भ्रमित होता है, (२) तथापि

मन में श्रद्धा नहीं रखता। उस माँगनेवाले के सम्मुख सिर नहीं झुकाता; स्वयं अर्घ्य इत्यादि नहीं देता और न किसी दूसरे से दिलवाता है। (३) उसे बैठने के लिए वह आसन तक नहीं देता फिर गन्ध या अक्षत का तो कहना ही क्या है। योग्य प्रसङ्ग पर तामसी लोग निश्चय से ऐसा अनुचित आचरण करते हैं। (४) किसी ऋण के लगानेवाले को जैसे ऋणी थोड़ा सा देकर रास्ते लगाता है वैसे ही वह माँगनेवाले की अवज्ञा करता है। कड़े-कड़े का प्रयोग वह बहुत करता है (५) हे किरीटी! वह जिसे जो कुछ देता है उसका उस दान के द्वारा अपमान करता है, अथवा अवहेलना कर उसे दुर्वचन बोलता है। (६) अस्तु, बहुत हुआ। इस प्रकार जो द्रव्य खर्च करता है उसे संसार में तामसदान कहते हैं; (७) एवं हे राजसतम अर्जुन! अपने अपने लक्षणों से अलंकृत तीनों दानों का स्पष्ट वर्णन हो चुका। (८) अब हे विद्वान्! मैं जानता हूँ कि तुम कदाचित् अपने मन में ऐसी कल्पना करोगे (९) कि संसार-बन्ध से छुड़ानेवाला एक सात्त्विक कर्म ही है तो फिर इन दूसरे विरोधी और दोषयुक्त कर्मों के वर्णन की क्या आवश्यकता है। (११०) परन्तु जैसे भूत को हटाये बिना गड़ा हुआ द्रव्य हाथ नहीं आता, अथवा धुआँ सहे बिना जैसे आग नहीं सुलगती, (११) वैसे ही शुद्धसत्त्व की ओट में रज और तम के पट लगे हैं, उनका भेद क्या बुरा कहा जा सकता है? (१२) हमने जो बयान किया कि श्रद्धा से दान तक सम्पूर्ण क्रियासमूह तीनों गुणों से व्याप्त है (१३) उसमें निश्चय से हमारा अभिप्राय तीनों गुणों के उपदेश करने का नहीं है, हमने तो केवल सत्त्व का परिचय देने के लिए अन्य दोनों का वर्णन किया है, (१४) क्योंकि दो वस्तुओं के बीच जो तीसरी वस्तु रहती है वह दोनों का त्याग करने से ही दिखाई देती है। जैसे दिन या रात्रि के त्याग से सन्ध्या का रूप व्यक्त होता है, (१५) वैसे ही रज और तम के विनाश से तीसरा जो उत्तम दिखाई देता है वही सत्त्व है और वह आप ही प्रतीत हो जाता है। (१६) सत्त्व ही बताने के लिए हमने रज और तम का निरूपण किया। इन रज-तमों को छोड़ कर अपना काम साधो। (१७) सम्पूर्ण यज्ञ इत्यादि इसी शुद्ध सत्त्व के द्वारा करो। तब तुम्हें अपना स्वरूप हाथ लगेगा। (१८) सूर्य का प्रकाश होते ही, क्या

नहीं दिखाई देता ? वैसे ही सत्त्व से किया हुआ कौन-सा कर्म सफल न होगा ? (१९) सत्त्व गुण में निश्चय से चाहे जिस फल का लाभ कर देने की उत्तम शक्ति है। परन्तु जो मोक्ष से एकरूप हो मिलना है (२२०) वह एक जुदी ही वस्तु है। उसकी सहायता प्राप्त हो तब मोक्ष के गाँव में प्रवेश होता है। (२१) जैसे सोना पल्लुह के भाव का हो तथापि उस पर राजमुद्रा के आकार पड़ते हैं तब वह सिक्का बनता है, (२२) अन्य स्थलों के जल स्वच्छ शीतल, सुगन्धित और सुख दायक होते हैं, परन्तु पवित्रता तीर्थ के सम्बन्ध से ही होती है, (२३) नदी चाहे जितनी बड़ी हो परन्तु जब गङ्गा उसका अङ्गीकार करे तभी उसका प्रवेश समुद्र में हो सकता है, (२४) वैसे ही हे किरीटी! सात्त्विक कर्म को मोक्ष की भेंट के लिए जाते हुए कोई प्रतिबन्ध न हो, इसलिए एक वस्तु और आवश्यक है। (२५) यह वचन सुनते ही अर्जुन के हृदय में उत्कण्ठा न समा सकी। वह बोला, हे देव! कृपा कर उस वस्तु का वर्णन कीजिए। (२६) तब कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि सात्त्विक कर्म को जिस वस्तु के द्वारा मुक्ति-रूपी रत्न दिखाई दे सकता है उसका स्पष्टीकरण सुनो। (२७)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

आद्य इत्यादि सबका विश्रान्ति-स्थान जो अनादि परब्रह्म है उसका नाम एक ही परन्तु त्रिधा है। (२८) ब्रह्म वस्तुतः नाम रहित या जाति रहित है। परन्तु अविद्यारूपी रात्रि में उसे पहचानने के लिए वेदों ने उसका एक नाम रख दिया है। (२९) बालक उत्पन्न होता है तो उसका कोई नाम नहीं रहता परन्तु रखते हुए नाम से पुकारने पर वह उत्तर देता है (२३०) वैसे ही जो लोग संसार व्यथा से कष्टी हो कर दुःख का निवेदन करने के लिए ईश्वर के पास जाते हैं उन्हें वह जिस नाम से उत्तर देता है उसी नाम से हमारा अभिप्राय है। (३१) मौन वेद ने कृपा-पूर्वक ऐसा एक मन्त्र ढूँढ़ निकाला है कि जिससे ब्रह्म की अनिर्वाच्यता मिट जाती और उसकी अद्वैत-पूर्वक प्राप्ति हो जाती है। (३२) जब वेदोपदिष्ट मन्त्र से पुकारते ही ब्रह्म जैसा से पीछे अथवा सन्मुख आ खड़ा होता है, (३३) परन्तु यह प्रतीति उन्हीं को होती है जो वेदरूपी पर्वत के शिखर पर उपनिषदों के अर्थरूपी नगर में ब्रह्म की ही पंक्ति में बैठे हुए हों। (३४) अस्तु, प्रजापति

और शक्ति को सृष्टि उत्पन्न करते हैं वे जिस एक नाम के अनुष्ठान से उत्पन्न करते हैं, (३४) हे वीरोत्तम! सृष्टि के आरम्भ के पूर्व ब्रह्मा अकेले एक पागल मनुष्य के समान थे, (३५) वे मुझ ईश्वर को नहीं जानते थे और न उनमें सृष्टि रचने की सामर्थ्य थी, किन्तु उन्हें जिस एक नाम ने श्रेष्ठ बना दिया, (३७) अन्तःकरण में जिसके एक नाम के अर्थ का ध्यान करने से, जिन तीन अक्षरों का जप करने से उन्हें विश्व रचने की योग्यता प्राप्त हो गई, (३८) और फिर उन्होंने ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हें आचरण के लिए वेदों का उपदेश किया और उनके निर्वाह के लिए यज्ञ का अनुष्ठान नियत कर दिया, (३६) और अनन्तर न जाने कितने अन्य लोक उत्पन्न किये जिनकी गणना नहीं हो सकती और उन्हें तीनों भुवन मानों इनाम में दे दिये, (४०) श्रीलक्ष्मीपति कहते हैं, इस प्रकार जिस नाम-मन्त्र के द्वारा ब्रह्मा भी श्रेष्ठ हो गये उसका स्वरूप सुनो। (४१) सब मन्त्रों का राजा ओंकार उस नाम का पहला अक्षर है। तत्कार दूसरा अक्षर है और सत्कार तीसरा; (४२) एवं ब्रह्म का नाम 'ओंतत्सत्' इन तीन अक्षरों का है। उपनिषद् इसी सुन्दर फूल की सुगन्ध लेते हैं। (४३) इस नाम से युक्त हो जब सात्विक कर्म किया जाता है तो वह मोक्ष को घर का अछूता बना देता है। (४४) जैसे भाग्य से यदि कपूर के अलङ्कार प्राप्त हो भी जायें तो यह दिक्कत होती है कि वे पहने किस तरह जायें (४५) वैसे ही सत्कर्म का आचरण हो सकेगा ब्रह्म के नाम का जप भी हो सकेगा परन्तु यदि उसके उपयोग का मर्म ज्ञात न हो (४६) तो जैसे कोटयवधि महन्त जन आप ही आप घर पर पधारें और उनका सन्मान न किया जाय तो पुण्य का नाश होता है (४७) अथवा जैसे सुन्दर अलङ्कार पहनने की इच्छा से कुछ अलङ्कार और सोना एकत्रित कर गले में बाँध लिया जाय (४८) वैसे ही मुख से ब्रह्म नाम का जप हो और हाथों से सत्कर्म होता हो तथापि उसका विनियोग मालूम न हो तो वह सब काम निष्फल है। (४६) अरी! अन्न और भूख दोनों समीप हों तथापि खाना न जानने वाले बालक को सहज ही लङ्घनी होगी (४५०) अथवा तेल बत्ती और अग्नि तीनों मिलें तथापि हे वीर! उन्हें सुलगाने की युक्ति न मालूम हो तो प्रकाश का काम नहीं हो सकता (५१) वैसे ही समयानुसार कर्म किया जाय और उसका मन्त्र भी याद हो तथापि

विनियोग के बिना यह सब वृथा है। (५२) इसलिए अब यह जो तीन अक्षरों का परब्रह्म का एक ही नाम है उसका विनियोग कैसे किया जाता है सो सुनो। (५३)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इस नाम के तीनों अक्षर कर्म के आरम्भ में, मध्य में और अन्त में इस प्रकार तीनों स्थानों में लगाने चाहियें। (५४) हे किरीटी! इसी एक युक्ति के सहाय से ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्म की भेंट हुई है। (५५) ब्रह्मानुभव होने के हेतु वे शास्त्रों के कहे हुए यज्ञों का त्याग नहीं करते, (५६) परन्तु प्रथम ध्यान के द्वारा ओंकार को प्रत्यक्ष करते हैं, और अनन्तर उसका वाणी से उच्चारण करते हैं, (५७) और ऐसे प्रत्यक्ष ध्यान और स्पष्ट ओंकारोच्चार के साथ क्रियाओं का आरम्भ करते हैं। (५८) कर्म के आरम्भ में ओंकार को ऐसा समझो जैसे अँधेरे में जाने के लिए एक अखण्ड दीपक, अथवा जङ्गल में जाने के लिए कोई बलवान् साथी। (५६) वे ब्रह्म-ज्ञानी लोग वेदोक्त देवताओं के उद्देश्य से नीति से उपार्जित बहुतेरा द्रव्य खर्च कर ब्राह्मणों के द्वारा अग्नि का यजन करते हैं। (६०) आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिण इन तीनों अग्नियों से निक्षेपरूपी हवन का विधि पूर्वक और दृढ़ता से यजन करते हैं। (६१) बहुत क्या कहें, वे अनेक यज्ञकर्मों की सहायता से अप्रिय उपाधि का त्याग करते हैं, (६२) अथवा न्याय से सम्पादन की हुई भूमि इत्यादि पवित्र और स्वतन्त्र वस्तुओं का शुद्ध देश और काल में सत्पात्र को दान देते हैं, (६३) अथवा एक दिन के अन्तर से कृच्छ्र-चान्द्रायण इत्यादि व्रत कर, महीनों उपवास के द्वारा शरीर की धातुओं को सुखा कर तप करते हैं। (६४) इस प्रकार यज्ञ, दान, तप, जो बन्धरूप कहे जाते हैं वही उन ब्रह्म-ज्ञानियों को सुगम मोक्ष के साधन होते हैं। (६५) क्यों भाई नहीं जल सकती वहाँ लोग तैर कर पार जाते हैं वैसे ही इस नाम के द्वारा बन्धकारक कर्मों से मुक्ति हो सकती है। (६६) परन्तु अस्तु। ये यज्ञ, दान इत्यादि क्रियाएँ ओंकार की सहायता से प्रवृत्त होने पर (६७) जब अक्षर ही फलप्रद होने लगती हैं उस समय तत्कार का प्रयोग किया जाता है। (६८)

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

तत् शब्द से वह परब्रह्म कहा गया है जो सम्पूर्ण जगत् के परे है तथा जो एक सर्व-साक्षी है। (६९) ज्ञानी जन उसे स्वयं आदि ज्ञान अन्तःकरण में उसके रूप का ध्यान कर उच्चारण-द्वारा भी उसे प्रत्यक्ष करते हैं, (१००) और फिर कहते हैं कि तद्रूप ब्रह्म को ये सब क्रियाएँ उनके फलों-सहित अर्पण हों, हमारे भोगों के लिए कुछ शेष न रहे। (७१) इस प्रकार व तत्स्वरूपी ब्रह्म को सब कर्म समर्पण कर "न मम" [यह मेरा नहीं है] कह कर अलग हो जाते हैं। (७२) अब जो ओंकार से आरम्भ किया जाता है और तत्कार से समर्पित किया जाता है [इस प्रकार जिस कर्म को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है] (७३) वह वास्तव में ब्रह्माकार हो जाता है; तथापि उससे भी कुछ सफलता नहीं होती क्योंकि जो कर्म बनता है उसका द्वैत-भाव रह जाता है। (७४) यद्यपि जल में नमक जाता है पर उसकी खारता शेष रह जाती है, वैसे ही ब्रह्माकार कर्म द्वैत ही जान पड़ता है। (७५) और वेद ने ही निजमुख से वेद वाणी-द्वारा कहा है कि जब-जब द्वैत की घटना होती है तब-तब संसार-भय प्राप्त होता है। (७६) अतएव लिङ्ग से परे जो ब्रह्म उसका पर्यवसान आत्मस्वरूप में हो इस बात की पूर्ति के लिए वेद ने सत्शब्द की योजना की है। (७७) अतः ओंकार और तत्कार के द्वारा जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, जो प्रशस्त इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं (७८) उन प्रशस्त कर्मों में सत्शब्द का जो विनियोग किया जाता है वह सुनने योग्य है। उसका हम वर्णन करते हैं। (७९)

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

इस सत्शब्द से असद्रूपी लिङ्ग छोड़ निष्कलङ्क सत्ता का स्वरूप व्यक्त होता है। (१८०) जो सत् है वह वस्तु किसी काल में या देश में निजस्वरूप से भिन्न नहीं हो सकती। वह स्वयं अपनी जगह अबाधित बनी रहती है। (८१) जब यह ज्ञात हो जाता है कि यह जो कुछ दिखाई देता है वह अनित्य होने के कारण सत् नहीं है तब जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है (८२) उस ब्रह्म से सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूपाकार हो जाने-

वाले प्रशस्त कर्म का साम्य कर उसे यथारूप देखना चाहिए। (८३) इस प्रकार ओंकार या तत्कार से कर्म ब्रह्माकार होता है पर उसके भी परे जाकर उत्तम सद्रूप प्राप्त हो जाय, (८४) ऐसा इस सच्छब्द का अन्तर्गत विनियोग है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने विवरण किया, मैंने नहीं। (८५) क्योंकि यदि मैं कहूँ कि यह सब मैंने कहा तो यह हानि होगी कि श्रीकृष्ण के विषय में द्वैतभाव दिखाई देगा अतः यह प्रवचन श्रीकृष्ण का ही है। (८६) अब यह सच्छब्द सात्त्विक कर्म का एक प्रकार से और उपकारी होता है। (८७) उत्तम सत्कर्म अपने अधिकारानुसार किये जा रहे हैं, परन्तु वे यदि किसी बात में न्यून हों (८८) तो जैसे सम्पूर्ण शरीर किसी एक अवयव से विहीन रहता है अथवा जैसे चक्रहीन रथ की गति बन्द हो जाती है (८९) वैसे ही जिस समय किसी एक गुण के अभाव के कारण सत् कर्म भी असद्रूप धारण करता है (४९०) उस समय ओंकार और तत्कार की उत्तम प्रकार की सहायता से युक्त हो सच्छब्द ही उस कर्म की त्रुटि की पूर्ति करता है। (९१) सच्छब्द उस असत्स्वरूप को मिटाता है और अपने सत्त्व के बल से उसे सद्भाव की स्थिति को जा पहुँचाता है। (९२) दिव्यौषधि जैसे रुग्ण रोगी की सहकारिणी होती है वैसे ही न्यूनाङ्ग कर्म के लिए सच्छब्द है, (९३) अथवा किसी प्रमाद से यदि कर्म अपनी मर्यादा का त्याग कर निषिद्ध मार्ग में जा पड़े, (९४) [क्योंकि चलनेहारा ही मार्ग भूलता है, परीक्षा करनेहारे को ही भ्रम हो जाता है, व्यवहार में ऐसी कौन-सी घटना नहीं होती? (९५) अतः इसी प्रकार यदि अविचार के कारण कर्म अपनी सीमा छोड़ कर असाधु अर्थात् बुरे नाम का पात्र बना चाहता हो] (९६) तो उस समय हे प्रबुद्ध! ओंकार और तत्कार की अपेक्षा इस सच्छब्द के विनियोग से ही उस कर्म को साधुता प्राप्त होती है। (९७) लोहा जैसे पारस से मिला जाय नाले को जैसे गङ्गा की भेंट हो, अथवा मृत मनुष्य पर जैसे अमृत की वृष्टि हो (९८) वैसे ही हे वीरेश! सच्छब्द का प्रयोग असाधु कर्म का उपकारी होता है। अस्तु, इस नाम की ऐसी ही महिमा है। (९९) इस विवेचन का मर्म समझ कर यदि इस नाम का विचार करोगे तो तुम्हें ज्ञात होगा कि यह केवल ब्रह्म ही है। (५००) देखो 'ओं तत्सत्' ये अक्षर मुमुक्षु को वहाँ ले जाते हैं जहाँ से यह दृश्यमान जगत् प्रकाशित होता है। (१) वह तो अपरिच्छिन्न

है, शुद्ध परब्रह्म है, क्यों तत्सत् उसका अन्तर्गत और व्यक्त नाम है, (२) तथापि जैसे आकाश का आश्रय आकाश ही है, वैसे ही इस नाम का आश्रय वही नामरहित परब्रह्म है तथा वह उस नाम से अभिन्न है। (३) आकाश में उदित होने पर सूर्य ही सूर्य को प्रकाशित करता है वैसे ही ब्रह्म को यह नाम-व्यक्ति प्रकाशित करती है। (४) अतः यह नाम तीन अक्षरों का शब्द नहीं, यह केवल ब्रह्म ही है। यहाँ तक कि जो जो कर्म किया जाय (५)

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

—वह यज्ञ हो, या दान हो, या गहन तप इत्यादि हो पूर्ण किये गये हों या अपूर्ण रह गये हों, (६) परन्तु पारस की कसौटी पर जैसे सोने के उत्तम या हीन भेद नहीं होते वैसे ही वे सब कर्म ब्रह्म को समर्पित करते ही ब्रह्म ही हो जाते हैं। (७) समुद्र में मिलने पर जैसे नदियाँ जुदी नहीं की जा सकतीं वैसे ही ब्रह्म में मिलने पर यह भेद शेष नहीं रहता कि यह अधूरा है और यह पूरा है। (८) इस प्रकार हे पार्थ हे ज्ञानी! ब्रह्म नाम की शक्ति का सोपपत्तिक वर्णन हुआ। (९) और हे वीर! एक-एक अक्षर का अलग अलग विनियोग भी हम उत्तम रीति से दिखा चुके। (४१०) हे राजा! अब तुम यह मर्म समझ गये कि यह ब्रह्म नाम कितना श्रेष्ठ है। (११) अब आज से सब दा इसी नाम की श्रद्धा का विस्तार होने दो, जिसके होने से जन्म-बन्ध शेष नहीं रह सकता। (१२) जिस कर्म में इस नाम का उत्तम-विनियोग किया जायगा वह कर्म वेद के ही पूर्ण अनुष्ठान के बराबर होगा। (१३)

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अन्यथा, यह मार्ग छोड़ कर श्रद्धा का आसरा छोड़ कर, दुराग्रह की सीमा बढ़ाकर (१४) कोई कोटि अश्वमेध करे रत्नों-सहित पृथ्वी का दान दे, एक अँगूठे पर खड़े रह कर सहस्रावधि तप करे, (१५) जलाशय की जगह चाहे नवीन समुद्र ही रचे, तथापि बहुत क्या कहें, ये सम्पूर्ण बातें वृथा हैं। (१६) जैसे पत्थर पर जल बरसना, अथवा राख में हवन करना, अथवा छाया को आलिङ्गन

देना, (१७) अथवा हे अर्जुन! जैसे आकाश को थप्पड़ मारना—वैसे ही वह कर्म भी वृथा जाता है। (१८) और कोल्हू में पत्थर पेरने से जैसे न तेल और न खली हाथ आती है, वैसे ही उस कर्म से केवल दरिद्रता का ही लाभ होता है। (१९) गाँठ में केवल ठपरी बँधी हो तो वह जैसे, देश हो या परदेश हो, कहीं नहीं बिकती और भूखों मारती है, (२२०) वैसे ही उपर्युक्त कर्म-समूह से इस लोक के ही भोग प्राप्त नहीं हो सकते तो फिर परलोक की इच्छा ही कौन कर सकता है? (२१) अतः ब्रह्म नाम की श्रद्धा छोड़ कर जो कुछ कर्म किया जाय वह, बहुत क्या कहें, इस लोक या परलोक दोनों के सम्बन्ध से केवल कष्ट करता है। (२२) इस प्रकार पापरूपी हाथी के नाशक सिंह त्रिताप-रूपी अन्धकार के सूर्य, कमलापति सकल वीरों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा। (२३) तब जैसे चन्द्रमा चाँदनी से ढँक जाता है वैसे ही अर्जुन निःसीम आत्मानन्द में डूब गया। (२४) आश्चर्य है कि यह संग्राम एक ऐसा व्यापार है जिसमें बाणों की नोकें मानों नाप हैं और उनमें शरीर का मांस और जीवन भी भर कर नापा जाता है। (२५) ऐसे कठिन अवसर पर स्वानन्द का राज्य कैसे भोगा जा सकता है? आज ऐसा भाग्योदय और दूसरी जगह नहीं है। (२६) सञ्जय कहते हैं कि हे कौरवराज! शत्रु है तथापि उसके सद्गुणों से आनन्द होता है। इस समय तो वह हमें यह आनन्द प्राप्त करा देनेवाला गुरु ही है। (२७) अर्जुन यदि यह बात न निकालता तो श्रीकृष्ण क्यों यह सब प्रकट करते? और हमें परमार्थ की प्राप्ति कैसे होती? (२८) हम अज्ञान के अँधेरे में अपनी जन्मपीड़ा काटते हुए पड़े थे वहाँ से वह हमें आत्म प्रकाशरूपी मन्दिर में ले आया। (२९) उतना बड़ा उपकार उसने तुम्हारे और हमारे ऊपर किया है इसलिए वह मुझे गुरुत्व की दृष्टि से व्यास मुनि का भाई ही दिखाई देता है। (४३०) इतने में सञ्जय के मन में आया कि हम क्या बात कह रहे हैं यह बड़ाई राजा के हृदय में चुभेगी। (३१) अतः उसने वह वर्णन छोड़ दिया और दूसरी बात छेड़ दी जिसके विषय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया था। (३२) निवृत्तिनाथ के ज्ञानदेव कहते हैं कि जैसा सञ्जय ने बयान किया वैसा मैं भी करता हूँ सुनिए। (४३३)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां सप्तदशोऽध्यायः ।

तब कहा जा सकता है जब तक वह पूर्ण चन्द्र को उदित हुआ न देखे। (१३) सोमकान्त पसीजता है सो कुछ चन्द्रमा को अर्घ्य अर्पण करने के हेतु नहीं, किन्तु चन्द्रमा ही उसे द्रवीभूत करता है। (१४) वसन्त-काल आते ही न जाने कैसे अकस्मात् वृक्षों के अंकुर इतनी अधिकाई से फूटते हैं कि अनेक मनुष्य वृक्ष उन्हें धारण नहीं कर सकते। (१५) पद्मिनी को रविकिरणों का काम होते ही वह लज्जा का अङ्गीकार न करके प्रफुल्लित होती है, अथवा जल का स्पर्श होते ही जैसे लवण अपने शरीर की सुधि भूल जाता है, (१६) वैसे ही जब मैं आपका स्मरण करता हूँ तब अपनापन भूल जाता हूँ। अघाया हुआ मनुष्य जैसे डकारें लेता है, (१७) वैसी ही स्थिति आपने मेरी कर दी है। पागल जैसे बोलता ही रहता है, वैसे ही आपने मेरी अवस्था देशान्तर को भगा मेरी वाणी को स्तुति की धुन लगा दी है। (१८) परन्तु यों भी यदि मैं निज की स्मृति रख कर आपकी स्तुति करूँ तो आपके गुण और अगुणों की छान करनी पड़ेगी। (१९) परन्तु आप तो एकरसात्मक लिङ्ग हैं, आपके गुण या अगुण-रूपी विभाग कैसे हो सकते हैं। मोती को फोड़ कर टुकड़े करना भला कि समूचा रखना भला? (२०) आप माता पिता हैं ऐसा कहने से भी आपकी स्तुति नहीं होती क्योंकि उसमें बालक-रूपी उपाधि का दोष आता है। (२१) इसमें कहना ही क्या है कि मैं आपका सेवक हूँ और आप स्वामी हैं? पर ऐसा उपाधि से दूषित बखान क्या करूँ? (२२) यदि यह कहूँ कि सब कुछ आप ही एक आत्मस्वरूप हैं, तो हे गुरु! आप जो अन्तर्यामी हैं उन्हें बाहर निकाला-सा दिखाई देगा। (२३) अतः वास्तव में आपकी स्तुति करने के लिए संसार में कुछ दिखाई नहीं देता। आप मौन के अतिरिक्त कोई अलङ्कार भी शरीर में धारण नहीं करते। (२४) कुछ न बोलना ही वास्तव में आपकी स्तुति है, कुछ न करना ही आपकी पूजा है, किसी विषय के पास न समट होना ही आपमें रहना है। (२५) जैसे कोई भ्रम के वश हो पागल की तरह बकबक करे वैसा ही मेरा स्तुति करना है। हे माता! इसको आप क्षमा करें। (२६) अब मेरी वाणी को गीतार्थ-रूपी मोती की अँगूठी से अलंकृत कीजिए जिससे वह इन सज्जनों की सभा में सम्मान पावे। (२७) इस पर श्रीनिवृत्ति देव ने कहा कि बार बार ऐसी भावना का प्रयोजन नहीं है। बाद को पारस से क्या बराबर

पिसना पड़ता है ? (२८) तब ज्ञानदेव ने निवेदन किया कि यह आपका प्रसाद हुआ, अब देव ग्रन्थ की ओर अवधान दें। (२९) महाराज! यह अठारहवाँ अध्याय अर्थरूपी चिन्तामणि का बना हुआ इस गीतारत्न-मन्दिर का कलश है जो सम्पूर्ण गीता-दर्शन का मुकुट है। (३०) संसार में भी ऐसी ही प्रथा है कि दूर से मन्दिर का कलश ही दिखाई देता है, और उस कलश के दर्शन से देवता-दर्शन के फल की प्राप्ति समझी जाती है। (३१) यही हाल इस अध्याय का है। क्योंकि इसी एक अध्याय के देखने से सम्पूर्ण गीता-शास्त्र अवगत हो जाता है। (३२) इसी लिए मैं इस अठारहवें अध्याय को, श्रीव्यासजी-द्वारा गीता-मन्दिर पर चढ़ाया गया कलश, समझता हूँ। (३३) जैसे मन्दिर पर कलश के अनन्तर कुछ काम शेष नहीं रह जाता वैसे ही यह अध्याय गीता की समाप्ति का द्योतक है। (३४) व्यास जी स्वभावतः बड़े श्रेष्ठ शिल्पकार हैं। उन्होंने वेद-रूपी रत्नों के पर्वत पर उपनिषदार्थ-रूपी पथरीली धरती खोदी (३५) और उसमें से जो धर्म, अर्थ, और काम-रूपी बहुत-सी अनुपयोगी मिट्टी निकली उसका बाँध और महाभारत-रूपी परकोटा बना दिया। (३६) उसके बीच में कृष्णार्जुन-संवाद-रूपी कुशलता से अखण्ड आत्मज्ञान-रूपी शुद्ध और उत्तम पत्थरों का समुदाय रखा (३७) और परमार्थ-रूपी डोरियाँ थाम कर और सब शास्त्रों की सहायता से मोक्ष-मर्यादा का आकार सिद्ध किया। (३८) इस प्रकार इस मन्दिर की रचना करते हुए पन्द्रह अध्याय तक उसके पन्द्रह स्तर पूरे हो चुके। (३९) तदनन्तर सोलहवाँ अध्याय मानों उसका मण्डप है और सत्रहवाँ अध्याय कलश रखने की भूमि है। (४०) उस पर यह अठारहवाँ अध्याय मानों कलश चढ़ाया गया है और उस पर श्रीव्यास ने गीता के नाम की ध्वजा लगा दी है। (४१) अतः यह अध्याय बताता है कि पिछले अध्याय जो एक पर एक चढ़ते हुए क्रमशः हैं उनकी पूर्णता मुझसे हुई है। (४२) कलश होने से जैसे कोई काम छिपा नहीं रखा जा सकता वरन् प्रकट होता ही है वैसे ही अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण गीताशास्त्र को प्रकट करता है। (४३) इस प्रकार श्रीव्यासजी ने कुशलता से गीता-मन्दिर की रचना कर प्राणियों की बहुतेरी रक्षा की है। (४४) कोई इसका पाठ करते अर्थात् इसकी बाहरी ओर से प्रदक्षिणा करते हैं, कोई श्रवण-मिस से मानों गीता-मन्दिर की छाया का सेवन करते हैं। (४५) कोई अवधान-रूपी

ताम्बूल और दक्षिणा लेकर इसके अर्थ-ज्ञानरूपी गर्भ-गृह में प्रवेश करते हैं (४६) और जल्दी से आत्मज्ञान के द्वारा श्रीहरि परमात्मा से जा मिलते हैं, तथापि इस मोक्ष-मन्दिर में इन सब साधनों की योग्यता समान ही है। (४७) भोजों के घर पंक्ति में भोजन करनेवाले नीचे ऊपर बैठे हुए सब लोगों को समान ही पक्वान्न परोसे जाते हैं, वैसे ही इस गीता के श्रवण से अर्थज्ञान से या पाठ से मोक्ष का ही लाभ होता है। (४८) अतः उपर्युक्त भेद जानकर मैं कहता हूँ कि गीता मन्त्र विष्णु का मन्दिर है और अठारहवाँ अध्याय उसका कलश है। (४९) अब सत्रहवें अध्याय के अनन्तर अठारहवें अध्याय की रचना कैसी की गई है, वह सम्बन्ध जैसा मुझे जान पड़ता है वैसा निवेदन करता हूँ। (५०) गङ्गा और यमुना का जल यद्यपि प्रवाह-भेद से अलग जान पड़ता है तथापि जलतत्त्व में एक ही है, (५१) अथवा अर्द्धनारीनटेश्वर के रूप में दोनों आकृतियों की कुछ हानि न होकर दोनों को मिला कर एक ही रूप रचा हुआ दिखाई देता है, (५२) अथवा चन्द्रकला दिन-दिन बढ़ती हुई चन्द्रबिम्ब में विस्तृत दिखाई देती है पर चन्द्रमा एक ही है, उस पर चन्द्रकला की कोई जुदी-जुदी तह नहीं चढ़ती (५३) वैसे ही प्रति अध्याय में प्रति श्लोक के चारों चरण जुदे-जुदे जान पड़ते हैं। (५४) परन्तु जो सिद्धान्त व्यक्त किया गया है उसके रूप कोई जुदे-जुदे नहीं हैं। जैसे एक ही डोरी अनेक रत्न-मणि धारण करनेहारी रहती है, (५५) अथवा अनेक मोती मिलने पर जैसे एक ही हार बनता है और उसकी शोभा देनेहारी कान्ति भी एक ही होती है, (५६) फूलों का हार बनाते हुए फूलों की संख्या अधिक होती जाती है तथापि उनकी सुगन्ध की गणना करने के लिए एक के अतिरिक्त दूसरी अंगुली का उपयोग नहीं हो सकता उसी प्रकार इन अध्यायों का और श्लोकों का हाल समझना चाहिए। (५७) श्लोक सात सौ हैं और अध्यायों की संख्या अठारह है, परन्तु श्रीकृष्ण ने जिस तत्त्व का निरूपण किया वह एक ही है, दूसरा नहीं। (५८) और मैंने भी उस मार्ग का अवलम्बन न छोड़ कर ग्रन्थ का स्पष्टी करण किया है। मतलब उसी मार्ग के अनुसार निरूपण करता हूँ सुनो। (५९) सत्रहवाँ अध्याय समाप्त होते समय अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा (६०) कि हे अर्जुन! ब्रह्म नाम के विषय में आस्थाबुद्धि छोड़ कर जितने कर्म किये जायँ उतने सब असत्कर्म होते हैं। (६१) श्रीकृष्ण के ये वचन सुनते ही अर्जुन को आनन्द हुआ। उसने सोचा

कि श्रीकृष्ण ने कर्मनिष्ठ लोगों को बोध किया। (६२) वे बेचारे अज्ञानान्ध सन्मुख खड़े हुए ईश्वर को नहीं पहचानते तो उन्हें नाम की श्रेष्ठता कैसे जान पड़े? (६३) और रज और तम दोनों का नाश हुए बिना श्रद्धा असत्य ही रहती है तो वह ब्रह्मनाम में कैसे लग सकती है? (६४) अतः सांप को आलिङ्गन देना, बातों सुनते ही छोंकना मागिन को खिलाना आदि बातें जैसी घातक होती हैं, (६५) वैसे ही दुष्ट कर्म करने से जन्मान्तर ही की प्राप्ति होती है। कर्म से ऐसा दुःख लाभ होता है। (६६) यदि सत्त्ववशात् कर्म बनाराग हो तभी उसे ज्ञान की योग्यता हो सकती है, अन्यथा उससे नरक ही प्राप्त होता है। (६७) जहाँ तक कर्म में अनेक अड़चनें हैं, तो फिर कर्मठों को मोक्ष की प्राप्ति कब आ सकती है? (६८) अतः कर्म की पराधीनता मिट जाय, इसलिए सम्पूर्ण कर्म का ही त्याग कर देना चाहिए, और पूर्ण संन्यास का स्वीकार करना चाहिए। (६९) जिनके द्वारा ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है कि जिससे कभी कर्म बाधा के भय की वार्ता ही नहीं रहती, (७०) जो ज्ञान के आवाहन-मन्त्र हैं अथवा ज्ञान के उत्तम खेत हैं, अथवा ज्ञान को आकर्षित करनेहारे सूत्र हैं, (७१) उन संन्यास और त्याग का अनुष्ठान करने से संसार की मुक्ति होती है, इसलिए यही बात उत्तम रीति से और स्पष्ट पूछ लेनी चाहिए। (७२) ऐसा सोच कर पार्थ ने त्याग और संन्यास का स्पष्टीकरण करने के लिए श्रीकृष्ण से प्रश्न किया। (७३) उस पर श्रीकृष्ण ने जो वचन कहे वही अठारहवें अध्याय के रूप से प्रकट हुए हैं। (७४) इस प्रकार जन्य-जनक भाव से एक अध्याय से दूसरा उत्पन्न हुआ है। अब जो प्रश्न किया गया उसे उत्तम रीति से सुनो। (७५) श्रीकृष्ण के वे अन्तिम वचन सुन कर पार्थ को मन में दुःख हुआ। (७६) यों तो वह तत्त्व के विषय में वास्तव में निःशङ्क हो गया था, परन्तु श्रीकृष्ण चुप हो रहे, यह उससे न सहा गया। (७७) बछड़ा दूध पीकर अघा जाता है तथापि वह यही चाहता है कि गाय उससे दूर न हो। अनन्य प्रीति ऐसी ही रहती है। (७८) जो प्रेमी रहता है उसकी यही इच्छा रहती है कि मेरा प्रेम-पात्र यद्यपि कारण न हो तथापि बोलता ही रहे; उसने मुझे देख लिया हो तथापि और भी देखता रहे। तात्पर्य कि प्रेम का भोग लेते हुए उसकी इच्छा दुगुनी बढ़ती जाती है। (७९) प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है, और पार्थ तो मूर्तिमान् प्रेम ही है। इसलिए श्रीकृष्ण का चुप

चाप रहना उसे दुःखद मालूम हुआ। (८०) जैसे दर्पण में देखना आत्म-रूप ही देखना है, वैसे ही श्रीकृष्ण के संवाद के मिस से वास्तव में निष्कर्म प्रभु का ही उपभोग लेना है। (८१) अतः संवाद के बन्द पड़ने से वह उपभोग भी न रहेगा। यह बात, जो उस सुख का आस्वाद लिये रहता है वह, कैसे सह सकता है। (८२) इसलिए त्याग और संन्यास के विषय में प्रश्न करने के बहाने अर्जुन ने श्रीकृष्ण से फिर गीता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करवाया। (८३) यह अठारहवाँ अध्याय नहीं, इसे एकाध्यायी गीता ही समझो। बत्स को गाय को दुहने लगे तो उसे समय असमय कहाँ रहता है (८४) वैसे ही समाप्ति के समय अर्जुन ने फिर से गीता कहवाई है। सेवक के प्रश्न करने पर क्या स्वामी उत्तर न देंगे? (८५) परन्तु अस्तु, अर्जुन ने यों कहा कि हे भगवान! मैं विनती करता हूँ सुनिए। (८६)

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

महाराज! संन्यास और त्याग दोनों का सम्बन्ध एक ही अर्थ से है। जैसे सङ्घात और सङ्घ दोनों का अर्थ एक समुदाय ही होता है (८७) वैसे ही त्याग और संन्यास दोनों से त्याग ही कहा जाता है। हम तो यही समझते हैं, (८८) पर यदि कोई भिन्न अर्थ हो तो देव उसे स्पष्ट करें। इस पर श्रीमुकुन्द ने कहा कि अवश्य अर्थ भिन्न है; (८९) तथापि हे अर्जुन! त्याग और संन्यास दोनों का अर्थ एक ही मालूम होता है यह मैं भी खूब समझता हूँ। (९०) इन दोनों शब्दों से असल में त्याग का ही अर्थ होता है, पर भेद इतना ही है (९१) कि जब सर्वथैव कर्म को छोड़ दिया जाता है तब उसे संन्यास कहते हैं और केवल फल का त्याग करना त्याग कहलाता है। (९२) अब किस कर्म का फल त्याग करना चाहिए और कौन कर्म का निःशेष त्याग करना चाहिए, उसका भी हम स्पष्ट वर्णन करते हैं, ध्यान दो। (९३) जङ्गल में और पर्वतों पर जैसे आप ही आप अगणित वृक्ष-जङ्गल होते हैं वैसे किसी धान्य के खेत या बगीचे का झाड़ नहीं उत्पन्न होते। (९४) बिना बोये जैसे घास जहाँ-तहाँ उगती है, वैसे राग

में बिना जमाये धान नहीं उग सकता, (९५), अथवा शरीर तो आप ही आप उत्पन्न होता है पर उसके आभरण उद्योग से ही तैयार होते हैं, नदी आप ही आप होती है पर कुएँ खुदवाये जाते हैं (९६) इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं, पर सकाम कर्म कामना से अलग नहीं होता। (९७)

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानांकर्मणां न्यास संन्यास कवयो विदु' ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अश्वमेध इत्यादि जो यज्ञ किये जाते हैं उनका अनुष्ठान करना कामनाओं का ही समूह इकट्ठा करना है। (९८) तालाब, कुएँ, बगीचे और बड़े-बड़े गाँव दान देना, और भी नाना प्रकार के व्रतों का आचरण करना (९९) इत्यादि जो सम्पूर्ण इष्टापूर्ति के कर्म हैं उनके मूल में केवल कामना ही रहती है, और उनसे कर्मानुसार फलों का भोग अवश्य ही प्राप्त होता है। (१००) हे धनञ्जय! शरीररूपी गाँव में आकर जैसे जन्म-मृत्यु का संस्कार नहीं मेटा जा सकता, (१) अथवा ललाट में जो लिखा रहता है वह जैसे, कुछ भी करो, नहीं टलता, अथवा मनुष्य का कालापन या गोरापन जैसे धोने से भी नहीं मिटता (२) वैसे ही सकाम कर्म फलभोग के लिए धरना दे बैठता है, जैसे कि साहूकार का तगादेवाला भृत्य वसूल करने के लिए धरना देकर बैठता है (३) अथवा यदि अकस्मात् कामना के बिना भी बन पड़े तथापि वह काम्य कर्म ऐसा घातक होता है जैसे झूठे युद्ध में भी लग जाने पर कोई घाव घातक होता है। (४) बिना जाने भी गुड़ मुँह में डाला जाय तो मीठा ही लगेगा अंगारे को राख समझ कर भी दबाया जाय तथापि हाथ अवश्य ही जलेगा (५) वैसे ही फल देना काम्य कर्म में एक स्वाभाविक सामर्थ्य है। अतएव मुमुक्षुओं को ऐसा कर्म कुतूहल से भी नहीं करना चाहिए। (६) बहुत क्या कहें, हे पार्थ! ऐसा जो काम्य कर्म है उसका त्याग उगले हुए विष के समान करना चाहिए। (७) हे सर्व-ज्ञानी! ऐसे त्याग को संसार में संन्यास [illegible] हते हैं (८) [illegible] का त्याग करना जैसे चोरी का [illegible] वैसे ही का[illegible] [illegible]म त्याग करना कामना का [illegible] । (९) [illegible] या सूप मरण

के समय श्राद्ध या दान करना, माता पिता की मृत्यु का दिन मानना, (११०) अथवा अतिथि की पूजा इत्यादि करना ऐसे जो कर्म करने पड़ते हैं वे नैमित्तिक कर्म समझने चाहिएँ। (११) क्या मृदु में आकाश अलबलाता है, वसन्त मृदु में वन की शोभा दुगुनी बढ़ती है, यौवन में शरीर की सुन्दरता प्रकट होती है, (१२) अथवा सोमकान्त-मणि चन्द्र को देखकर पसीजती है, कमल का फूल सूर्य का दर्शन होते ही खिलता है, इन सबों में जैसे उनका विद्यमान गुण ही विस्तार पाता है, दूसरा नहीं (१३) वैसे ही जो नित्य कर्म है वही जब किसी निमित्त के समय नियम से किया जाय तो वह श्रेष्ठ समझा जाता है, इससे उसे नैमित्तिक नाम दिया गया है। (१४) और प्रातःकाल मध्याह्न व सन्ध्या के समय जो प्रतिदिन कर्तव्य ही है परन्तु दृष्टि जैसे नेत्रों से परिमित रहती है और उनसे अधिक नहीं रहती, (१५) अथवा उपयोग के पूर्व गति जैसे चरणों में रहती है, अथवा प्रभा जैसे दीप बिम्ब में रहती है (१६) आने के पूर्व सुगन्धि जैसे चन्दन में ही रहती है, वैसे ही जो अधिकार का स्वरूप प्रकट करनेहारा कर्म है (१७) उसे हे पार्थ! संसार में नित्य कर्म कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें नित्य और नैमित्तिक दोनों कर्म समझा चुके। (१८) ये नित्य और नैमित्तिक कर्म अवश्यमेव कर्तव्य हैं। कोई उन्हें निष्फल भी समझते हैं। (१९) परन्तु जैसे भोजन से यह फल होता है कि तृप्ति होती तथा भूख का नाश होता है वैसे ही नित्य और नैमित्तिक कर्म सब तरह से फल-दायक हैं। (१२०) निकृष्ट सोना अग्नि में डाला जाय तो उसके मल का नाश होता और उसके कस का गुण बढ़ता जाता है, उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक-कर्म का फल समझो। (२१) क्योंकि ज्यों-ज्यों पाप का नाश होता है त्यों-त्यों मनुष्य का अधिकार बढ़ता जाता है और उस तरहसे सद्गति प्राप्त होती है। (२२) नित्य नैमित्तिक कर्मों का इतना बड़ा फल है। परन्तु उस फल का, मूल नक्षत्र में उपजे हुए बालक के समान, त्याग करना चाहिए। (२३) वसन्त मृदु में ज्योंही सम्पूर्ण लताएँ बढ़ने लगती हैं त्योंही आम्र वृक्ष भी पल्लवित होता है, परन्तु वसन्त मृदु जैसे उन्हें हाथ न लगा कर उनका त्याग कर चल जाता है, (२४) वैसे ही कर्म की सीमा का उल्लंघन न करके नित्य-नैमित्तिक-कर्मों की ओर चित्त देना चाहिए, परन्तु उनके

में बिना जमाये धान नहीं उग सकता, (९५), अथवा शरीर तो आप ही आप उत्पन्न होता है पर उसके आभरण उद्योग से ही तैयार होते हैं, नदी आप ही आप होती है पर कुएँ खुदवाये जाते हैं, (९६) इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं, पर सकाम कर्म कामना से अलग नहीं होता। (९७)

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानांकर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अश्वमेध इत्यादि जो यज्ञ किये जाते हैं उनका अनुष्ठान करना कामनाओं का ही समूह इकट्ठा करना है। (९८) तालाब, कुएँ, बगीचे और बड़े-बड़े गाँव दान देना, और भी नाना प्रकार के व्रतों का आचरण करना (९९) इत्यादि जो सम्पूर्ण इष्टापूर्ति के कर्म हैं उनके मूल में केवल कामना ही रहती है, और उनसे कर्मानुसार कर्मों का भोग अवश्य ही प्राप्त होता है। (१००) हे धनञ्जय! शरीरस्थी गाँव में आकर जैसे जन्म-मृत्यु का संस्कार नहीं मेटा जा सकता, (१) अथवा ललाट में जो लिखा रहता है वह जैसे कुछ भी करो, नहीं टलता, अथवा मनुष्य का कालापन या गोरापन जैसे धोने से भी नहीं मिटता (२) वैसे ही सकाम कर्म फलभोग के लिए धरना दे बैठता है, जैसे कि साहूकार का तगादेवाला भृत्य वसूल करने के लिए धरना देकर बैठता है (३) अथवा यदि अकस्मात् कामना के बिना भी बन पड़े तथापि वह काम्य कर्म ऐसा बाधक होता है जैसे झूठे युद्ध में भी लग जाने पर कोई घाव बाधक होता है। (४) बिना जाने भी गुड़ मुँह में डाला जाय तो मीठा ही लगेगा अंगारे को राख समझ कर भी दबाया जाय तथापि हाथ अवश्य ही जलेगा (५) वैसे ही फल देना काम्य कर्म में एक स्वाभाविक सामर्थ्य है। अतएव मुमुक्षुओं को ऐसा कर्म कुतूहल से भी नहीं करना चाहिए। (६) बहुत क्या कहें हे पार्थ! ऐसा जो काम्य कर्म है उसका त्याग उगले हुए विष के समान करना चाहिए। (७) हे सर्वज्ञानी! ऐसे त्याग को संसार में अन्तर्दृष्टिवाले संन्यास कहते हैं (८) द्रव्य का त्याग करना जैसे चोरी का डर छोड़ देना है वैसे ही काम्य कर्म का त्याग करना कामना का ही उन्मूलन करना है। (९) और चन्द्र या सूर्य ग्रहण

मार्ग में यदि शीघ्र ही विजय-सम्पादन करना हो तो कर्मरूपी शस्त्र को हाथ में लेने में आलस्य न करना चाहिए। (३६) सोना शुद्ध करना हो तो जैसे अग्नि से न डरना चाहिए, अथवा दर्पण स्वच्छ करना हो तो रजःकणों का संग्रह करना चाहिए (१४०) अथवा अपने स्वच्छ करने की इच्छा हृदय में हो तो जैसा धोबी की माँद अशुद्ध समझ कर न छोड़नी चाहिए (४१) वैसे ही कर्मों को क्लेशकारक समझ कर उनका अनादर नहीं करना चाहिए। रीन्धे बिना क्या सुन्दर अन्न का लाभ हो सकता है? (४२) ऐसे ऐसे वचनों से कई लोग काम-बूझ कर कर्म प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार त्याग के विषय में विरुद्ध-वाद मचा है (४३) तथापि वाद मिट जाय और त्याग का निश्चित धर्म-ज्ञान हो अतः हम उस मत का अच्छी तरह विवरण करते हैं सुनो। (४४)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

हे पाण्डव! संसार में त्याग तीन प्रकार का है। वे तीनों प्रकार हम जुदे-जुदे बयान करते हैं। (४५) परन्तु यद्यपि हम त्याग के तीन प्रकारों का वर्णन करेंगे तथापि उन सबका तात्पर्य और निष्कर्ष थोड़ा सा ही है। (४६) अतः मुझ सर्वज्ञ की बुद्धि को भी जो निश्चय से मान्य जान पड़ता है वह निश्चयतत्त्व पहले सुन लो। (४७) अपनी मुक्ति पाने के लिए जो मुमुक्षु जागृत रहना चाहता है उसे चाहिए कि हम जो बताते हैं वही एक बात हर तरह से करे। (४८)

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

पथिक को जैसे मार्ग में पगडण्डी या रास्ता न छोड़ने चाहियें वैसे ही मनुष्य को यज्ञ दान, तप इत्यादि जो आवश्यक कर्म हैं उनका त्याग न करना चाहिए। (४९) जैसे जब तक कोई हुई वस्तु न मिल जाय तब तक उसकी खोज न छोड़नी चाहिए अथवा तृप्त न हो तब तक सामने की थाली अलग न करनी चाहिए, (१५०) जब तक किनारे न लग जाय तब तक नाव न छोड़नी चाहिए, फल लगाने के पूर्व केले के वृक्ष का त्याग न करना चाहिए, रक्खी हुई वस्तु जब तक न मिले

सम्पूर्ण फलों को पचके हुए आम के समान त्याज्य समझना चाहिए। (२५) इस कर्मफल के त्याग को ज्ञानी जन त्याग कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें त्याग और संन्यास की व्याख्या सुना चुके। (२६) जब संन्यास किया जाता है तब काम्य कर्म की बाधा नहीं हो सकती तब निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः निषिद्ध होने के कारण ही तज दिया जाता है। (२७) जो नित्य इत्यादि कर्म रह गये वे फलत्याग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, जैसे सिर काँट डालने से शेष शरीर का भी अन्त हो जाता है। (२८) अन्त में फसल के पकने पर जैसे धान्य हाथ आता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्म का अन्त होने पर आत्मज्ञान आप ही आप खोजता हुआ आ पहुँचता है। (२९) ऐसी युक्ति के साथ त्याग और संन्यास दोनों का अनुष्ठान करने से वे आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त करा देते हैं। (१३०) अन्यथा इस युक्ति में भूल हो जाय और फिर यदि अनुमान से कर्मत्याग किया जाय तो कुछ त्याग नहीं होता, किन्तु और भी अधिक उलझाव हो जाता है। (३१) यदि रोग से अपरिचित औषधि का सेवन किया जाय तो वह विषरूप हो जाती है, अन्न का त्याग करने से क्या भूख से मृत्यु नहीं हो जाती? (३२) अतएव जो कर्म त्याज्य नहीं है उसका त्याग नहीं करना चाहिए, और जो त्याज्य है उसका लोभ भी न रखना चाहिए। (३३) त्याग के सूक्ष्म मार्ग में भूल हो जाय तो जो कुछ त्याग किया जाय वह सब बोझा ही होता है। अतः जो वैराग्यसम्पन्न हैं वे सर्वदा निषिद्ध कर्मों का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं। (३४)

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कुछ लोग, जो फल-त्याग नहीं कर सकते कहते हैं कि कर्म बन्धक ही होते हैं, जैसे कोई स्वयं नङ्गा हो और कहे कि संसार ही नङ्गा है, (३५) अथवा हे धनञ्जय! जैसे कोई जिह्वा-लम्पट रोगी नाना प्रकार के अन्नों को दूषण दे, अथवा जैसे कोई कोढ़ी अपने शरीर पर न रूठ कर मक्खियों पर कोप करे, (३६) वैसे ही जो फलेच्छा के वश रहते हैं वे कहते हैं कि कर्म करना ही बुरा है, और इसलिए वे निर्णय करते हैं कि कर्म का त्याग ही करना चाहिए। (३७) कोई कहते हैं कि यज्ञ इत्यादि कर्म अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि इनके अतिरिक्त चित्तशुद्धि करनेहारी दूसरी वस्तु ही नहीं है। (३८) मनशुद्धि के

मार्ग में यदि शीघ्र ही विजय-सम्पादन करना हो तो कर्मरूपी शस्त्र को हाथ में लेने में आलस्य न करना चाहिए। (३९) सोना शुद्ध करना हो तो जैसे अग्नि से न डरना चाहिए, अथवा दर्पण स्वच्छ करना हो तो रगड़ने का श्रम करना चाहिए (१४०) अथवा कपड़े स्वच्छ करने की इच्छा हृदय में हो तो जैसा धोबी की नाँद अशुद्ध समझ कर न छोड़नी चाहिए (४१) वैसे ही कर्मों को क्लेश-कारक समझ कर उनका अनादर नहीं करना चाहिए। राँधे बिना क्या सुन्दर अन्न का लाभ हो सकता है? (४२) ऐसे-ऐसे वचनों से कई लोग जान-बूझ कर कर्म प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार त्याग के विषय में विरुद्ध-वाद मचा है (४३) तथापि वाद मिट जाय और त्याग का निश्चित अर्थ-ज्ञान हो अतः हम उस अर्थ का अच्छी तरह विवरण करते हैं सुनो। (४४)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

हे पाण्डव! संसार में त्याग तीन प्रकार का है। वे तीनों प्रकार हम जुदे-जुदे वर्णन करते हैं। (४५) परन्तु यद्यपि हम त्याग के तीन प्रकारों का वर्णन करेंगे तथापि उन सबका तात्पर्य और निष्कर्ष थोड़ा सा ही है। (४६) अतः मुझ सर्वज्ञ की बुद्धि को भी जो निश्चय से मान्य जान पड़ता है वह निश्चयतत्त्व पहले सुन लो। (४७) अपनी मुक्ति पाने के लिए जो मुमुक्षु जागृत रहना चाहता है उसे चाहिए कि हम जो बताते हैं वही एक बात, हर तरह से करे। (४८)

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

पथिक को जैसे मार्ग में पगडण्डी का रास्ता न छोड़ने चाहिएँ वैसे ही मनुष्य को यज्ञ दान, तप इत्यादि जो आवश्यक कर्म हैं उनका त्याग न करना चाहिए। (४९) जैसे जब तक खोई हुई वस्तु न मिल जाय तब तक उसकी खोज न छोड़नी चाहिए, अथवा तृप्त न हो तब तक सामने की थाली अलग न करनी चाहिए, (१५०) जब तक किनारे न लग जाय तब तक नाव न छोड़नी चाहिए, फल लगाने के पूर्व केले के वृक्ष का त्याग न करना चाहिए, रक्खी हुई वस्तु जब तक न मिले

तब तक हाथ का दीपक रखना न चाहिए, (५१) वैसे ही जब तक आत्म-ज्ञान के विषय में उत्तम रीति से निश्चय न हो जाय तब तक यज्ञ इत्यादि कर्मों से उदासीन न होना चाहिए। (५२) वरन् अपने-अपने अधिकार के अनुसार उन यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मों का अनुष्ठान आग्रहपूर्वक तथा अधिकाधिक करना चाहिए। (५३) चलने का वेग यदि बढ़ता ही जाय तो उस वेग के कारण मनुष्य को थक कर बैठना ही पड़ता है, वैसे ही कर्मातिशय भी निष्कर्मता का हेतु होता है। (५४) औषधि खाने का धैर्य ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ता है त्यों-त्यों रोग का निवारण भी जल्दी होता जाता है। (५५) वैसे ही ज्यों-ज्यों बारम्बार विधिपूर्वक कर्म किये जाते हैं त्यों-त्यों रज और तम निर्दोष होते जाते हैं। (५६) सुवर्ण का ज्यों-ज्यों एक के अनन्तर एक इस प्रकार अनेक पुटों में क्षार दिया जाता है त्यों-त्यों उसकी अशुद्धता जल्दी-जल्दी निकलती जाती है और वह निर्दोष होता जाता है, (५७) वैसे ही निष्ठा से कर्म किया जाय तो वह रज और तम का नाश कर सत्वशुद्धि का स्थान प्रत्यक्ष करता है। (५८) अतः हे धनञ्जय! सत्वशुद्धि की प्राप्ति की इच्छा करनेहारे के लिए कर्म तीर्थों की बराबरी करते हैं (५९) तीर्थों से बाहरी मल की शुद्धि होती है और कर्मों से अन्तःकरण उज्ज्वल होता है। अतः सत्कर्म निर्मल तीर्थ ही है। (१६०) मरुदेश में चलती हुई धाम की लुएँ जैसे किसी प्यासे के लिए अमृत बरसा दें, अथवा किसी अन्ध के नेत्रों को जैसे सूर्य का प्रकाश ही प्राप्त हो जाय, (६१) डूबते हुए को जैसे नदी ही तारक हो जाय, अथवा गिरते हुए को पृथ्वी ही दया से बचा ले अथवा मरते हुए को स्वयं मृत्यु ही और अधिक आयुष्य अर्पण कर दे (६२) वैसे हे पाण्डुसुत! कर्म ही मुमुक्षुओं को कर्मबद्धता से मुक्त कर देते हैं। जैसे रसायन की रीति से लेने से विष ही मृत्यु से बचाता है, (६३) वैसे ही हे धनञ्जय! कर्म करने की भी एक युक्ति है जिससे वे बन्धन से छुड़ाने के लिए समर्थ होते हैं। (६४) अब हे किरीटी! हम उस युक्ति का वर्णन करते हैं जिससे कर्म करने से कर्म का नाश हो जाता है। (६५)

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

महायाग प्रमुख कर्म, युक्त रीति से करते हुए यह अभिमान न होना चाहिए कि मैं यह यज्ञ करनेहारा हूँ। (६६) जो दूसरे के देने से

तीर्थ को जाता है जैसे वह सन्तोष के साथ ऐसी डींग नहीं मार सकता कि मैं यात्रा कर रहा हूँ, (६७) अथवा हे राजा! जो किसी राजा की मोहरबन्द आज्ञा के आधार पर अकेला ही किसी को पकड़ लाता है वह जैसे ऐसा गर्व नहीं कर सकता कि मैं जीतनेहारा हूँ (६८) अथवा जो दूसरे के सहारे से तैरता है उसमें जैसे तैरने का अभिमान नहीं रहता, अथवा पुरोहित जैसे दातृत्व का अभिमान नहीं रख सकता (६९) वैसे ही कर्तृत्व का अहङ्कार ग्रहण न करके यथाप्राप्त सम्पूर्ण कर्मरूपी मोहरें सरकाते जाना चाहिए। (१५०) हे पाण्डव! किये हुए कर्म की जो फल-प्राप्ति हो उसकी ओर चित्त न जाने देना चाहिए। (७१) पहले से ही फल की आशा छोड़ कर कर्मों का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे की दाई पराये बालक को सँभालती है। (७२) फल की आशा से जैसे कोई पीपल के वृक्ष को जल नहीं देता, वैसे ही फल के विषय में निराश हो कर्म करना चाहिए। (७३) चरवाहा जैसे दूध की आशा न रख कर गाँव की सब गायें इकट्ठी करता है वैसे ही कर्म-फल की आशा छोड़नी चाहिए। (७४) ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करेगा उसे अपने में ही आत्मप्राप्ति हो जावेगी (७५) अतः मेरा उत्तम सन्देश यही है कि फल की आशा और देहाभिमान को छोड़ कर कर्म करना चाहिए। (७६) बन्ध से जो जीव थके हैं, और अपनी मुक्ति के लिए परिश्रम करता है उससे मैं बारबार कहता हूँ कि इस वचन के विपरीत आचरण मत करो। (७७)

> नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
> मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नहीं तो जैसे कोई अन्धकार पर क्रोध कर अपनी ही आँखें फोड़ने की चेष्टा करे वैसे ही कर्म के द्वेष से सम्पूर्ण कर्मों का जो त्याग करता है (७८) उसका कर्म-त्याग करना मैं तामस त्याग समझता हूँ मानों आपीसीसी पर क्रोध कर कोई सिर ही छाँट डाले। (७९) अजी! रास्ता बुरा है तो उसे पैरों से ही काटना चाहिए, कि रास्ते के अपराध के लिए उन पैरों का ही काट डालना चाहिए? (१८०) भूखे के सम्मुख रक्खा हुआ अन्न कितना भी उष्ण हो तथापि यदि वह बुद्धि का उपयोग न करे तो थाली को लात मार कर उपवास करता बैठा रहे (८१) वैसे ही कर्म की [illegible] करने के ही रहस्य से मिटती है।

सब क्रिया कारण-सहित विलीन हो जाती है। ऐसे कर्मत्याग का जो मोक्ष-फल होता है वह मोक्षफल (९७) हे अर्जुन! अज्ञानी त्यागी को नहीं मिलता। अतः वह त्याग राजस न समझना चाहिए। (९८) अब संसार में कौनसा त्याग करने से मोक्ष-फल घर आता है, उसका हम प्रसङ्गानुसार वर्णन करते हैं सुनो। (९९)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

जो अपने अधिकारानुसार स्वभावतः प्राप्त कर्म का विधि विधान सहित आचरण करता है (२००) परन्तु जिसके हृदय में यह स्मृति भी नहीं रहती कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ, तथा जो फल की आशा को तिलाञ्जलि देता है (१) [जैसे माता की अवज्ञा करना अथवा उसके विषय में काम रखना ये दोनों बातें अधोगति का हेतु होती हैं (२) अतः इन दोनों पापों का त्याग कर माता की सेवा करनी चाहिए अन्यथा गाय का मुँह अपवित्र है इसलिए क्या कोई गाय का ही त्याग कर देता है? (३) जो फल भाता है उसके छिलके और गुठली में रस न होने के कारण क्या कोई उस फल को ही फेंक देता है? (४) वैसे ही कर्तृत्व का अभिमान और कर्म-फल की इच्छा दोनों को कर्म का बन्ध कहते हैं, (५) अतः इन दोनों के विषय में जो इस प्रकार रहता है जैसा कि बाप बेटे के विषय में निरभिमान रहता है] वह मनुष्य विहित कर्म करता हुआ कभी दुःखी नहीं हो सकता। (६) यही त्याग एक श्रेष्ठ वृक्ष है जिसमें मोक्ष-रूपी महाफल लगता है। संसार में यही त्याग सात्त्विक नाम से प्रसिद्ध है। (७) अब जैसे बीज जला देने से वृक्ष निर्वंश हो जाता है वैसे ही जो फल का त्याग कर कर्म-त्याग करता है (८) उसके रज और तम ऐसे छूट जाते हैं जैसे पारस का स्पर्श होते ही लोहे का अमङ्गल दोष निकल जाता है। (९) फिर शुद्ध सत्त्व के कारण आत्मज्ञान-रूपी नेत्र खुलते हैं और सन्ध्या के समय जैसे मृगजल नहीं दिखाई देता (२१०) वैसे ही उस सात्त्विक मनुष्य को बुद्धि इत्यादि के सम्मुख इतना बड़ा विश्वाभास भी आकाश जैसा कहीं दिखाई नहीं देता। (११)

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

से ज्ञान प्रकट होता है और फिर रज्जु के ज्ञान से जैसे उस पर होनेवाला सर्प का भ्रम मिट जाता है (२८) वैसे ही उस आत्मज्ञान से अविद्या के साथ कर्म का नाश हो जाता है। हे पार्थ! ऐसा त्याग करना ही वास्तव में त्याग है। (२९) अतएव संसार में जो इस प्रकार कर्मों का त्याग करता है वही महात्यागी है। दूसरे जो त्यागी हैं वे ऐसे हैं जैसे कि किसी रोगी को मूर्च्छा आने से कोई समझे कि उसे आराम हुआ, (२३०) अथवा जैसे कोई छाती के बदले घूँसे की मार खाने को प्रवृत्त हो, वैसे ही वे एक कर्म से दुखी हो विश्रान्ति के हेतु दूसरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं। (३१) परन्तु अस्तु, दोनों लोकों में त्यागी वही है जिसने फलत्याग के द्वारा कर्म को निष्कर्मता की स्थिति प्राप्त करा दी है। (३२)

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

और हे धनञ्जय! इस त्रिविध कर्मफल का उपभोग लेने के लिए वही समर्थ होते हैं जो आशा का त्याग नहीं करते (३३) परन्तु कन्या को स्वयं उत्पन्न कर पिता जैसे "न मम" [मेरा नहीं] कह कर छूट जाता है और उसका दान लेनेवाला [दामाद] उससे सम्बद्ध हो जाता है, (३४) इन्द्रायन में जो विष का भंडार भर रहता है वे उस बेचते और जीते रहते हैं, पर जो मोल ले जाते हैं वही मरते हैं (३५) वैसे ही कर्म करनेवाला कर्ता और फलाशा न रखनेवाला अकर्ता इन दोनों से यद्यपि कर्म वश में नहीं हो सकता, (३६) जैसे मार्ग में पके हुए वृक्ष का फल जो चाहे सो ले सकता है वैसा ही साधारण यद्यपि कर्म का फल है, (३७) तथापि जो कर्म करके उसके फल की इच्छा नहीं रखता वह संसार विषयक कर्मों में बद्ध नहीं होता। क्योंकि यह सम्पूर्ण त्रिविध संसार कर्म का ही फल है। (३८) देव, मनुष्य और स्थावर को ही संसार कहते हैं और ये तीनों कर्मफल के ही प्रकार हैं। (३९) कर्मफल तीन प्रकार का है, एक अनिष्ट अर्थात् बुरा एक इष्ट अर्थात् भला और एक इष्टानिष्ट अर्थात् भले बुरे का मिश्रण (२४०) हृदय में विषय-प्रिय बुद्धि रख कर तथा विधि का त्याग कर निषिद्ध और बुरे कर्मों में प्रवृत्त होने से (४१) जो कृमि, कीट, मिट्टी इत्यादि निकृष्ट शरीरों की प्राप्ति होती है उसे अनिष्ट कर्मफल कहते हैं। (४२) परन्तु स्वधर्म का आदर कर अपने

और प्रारब्धानुसार जो भले बुरे कर्म प्राप्त होते हैं वे, जैसे मेघ आकाश में विलीन हो जायँ (११) वैसे, उस सात्विक मनुष्य की दृष्टि से निर्मूल हो जाते हैं। इसलिए वह सुख-दुःख से सन्तोषी व दुःखी नहीं होता। (१२) शुभ कर्म का ज्ञान होने पर आनन्द से उसका अनुष्ठान करना अथवा अशुभ कर्म का द्वेष करना ये दोनों बातें उसमें नहीं होतीं। (१४) जैसे जागृत मनुष्य को स्वप्न के विषय में कुछ सन्देह नहीं रहता वैसे ही उस सात्विक मनुष्य को इन शुभ-शुभ कर्मों के विषय में कुछ संशय नहीं रहता। (१५) अतः हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता-रूपी द्वैत भाव की वार्ता न जानना ही सात्विक त्याग है। (१६) इस त्याग के द्वारा कर्मत्याग किया जाय तभी उनका सर्वथा त्याग होता है, नहीं तो अन्य रीति से त्याग करने से वे और भी अधिक बन्धन करनेहारे होते हैं। (१७)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

हे सव्यसाची! शरीर धारण कर कर्म से ऊबते हैं वे अज्ञानी हैं। (१८) घट मिट्टी से ऊब कर क्या करेगा? घट वस्तु का त्याग क्यों कर सकेगा? (१९) वैसे ही अग्नि स्वयं उष्ण है, और उष्णता से उकतावे अथवा दीप अपनी प्रभा से द्वेष करे तो क्या होगा? (२२०) हींग अपनी गन्ध से उकतावे तथापि उस सुगन्ध कहाँ से प्राप्त हो सकती है? जल अपनी द्रवता छोड़कर कहाँ रह सकता है? (२१) वैसे ही मनुष्य जब तक शरीर के रूप से रहता है तब तक कर्म-त्याग का पागलपन वृथा है। (२२२) हम तिलक स्वयं लगाते हैं अतः उसे पोंछ भी सकते हैं, पर क्या माथे को भी वैसे ही आप मिटा सकते हैं? (२३) वैसे ही विहित कर्म हम स्वयं आरम्भ करते हैं, इसीलिए उसका त्याग किया जाय तो हो सकता है, परन्तु जो कर्म देहरूप ही हो गया है वह कैसे छोड़ा जा सकता है? (२४) क्योंकि श्वास और उच्छ्वास तो नींद में भी होते रहते हैं, कुछ भी न करो तथापि वे होते ही रहते हैं। (२५) इसी प्रकार इस शरीर के मिस से कर्म ही मनुष्य के पीछे लगा है, वह जीते-जी तथा मृत्यु के अनन्तर भी पीछा नहीं छोड़ता। (२६) इस कर्म के त्याग की रीति एक यही है कि कर्म करते हुए फलाशा के अधीन न होना चाहिए। (२७) कर्म का फल ईश्वर को समर्पित किया जाय तो उसके प्रसाद

से भ्रम प्रकट होता है और फिर रज्जु के ज्ञान से जैसे उस पर होनेवाला सर्प का भ्रम मिट जाता है (२८) वैसे ही उस आत्मज्ञान से अविद्या के साथ कर्म का नाश हो जाता है। हे पार्थ! ऐसा त्याग करना ही वास्तव में त्याग है। (२९) अतएव संसार में जो इस प्रकार कर्मों का त्याग करता है वही महात्यागी है। दूसरे जो त्यागी हैं वे ऐसे हैं जैसे कि किसी रोगी को मूर्च्छा आने से कोई समझे कि उसे आराम हुआ, (२१०) अथवा जैसे कोई छड़ी के बदले घूँसे की मार खाने को प्रवृत्त हो, वैसे ही वे एक कर्म से दुःखी हो विश्रान्ति के हेतु दूसरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं। (२११) परन्तु अर्जुन, तीनों लोकों में त्यागी वही है जिसने फलत्याग के द्वारा कर्म को निष्कर्मता की स्थिति प्राप्त करा दी है। (२१२)

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

अधिकार की ओर दृष्टि देकर वेदों की आज्ञा के अनुसार सत्कर्म करने से (४३) जो इन्द्र इत्यादि देवताओं के शरीर प्राप्त होते हैं वह कर्म-फल हे सव्यसाची! इष्ट-नाम से प्रसिद्ध है। (४४) जैसे खट्टे और मीठे के मिश्रण से एक तीसरा ही रस, दोनों से भिन्न और दोनों से सुस्वादु, उत्पन्न होता है, (४५) जैसे योग-प्रक्रिया के द्वारा रेचक ही कुम्भक का हेतु होता है वैसे ही सत्य और असत्य की एकता होने से सत्य और असत्य दोनों मीठे लगते हैं। (४६) उसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्मों के समभाग मिश्रण का अनुष्ठान करने से जो मनुष्य-देह का लाभ होता है वह कर्म का मिश्रफल है। (४७) इस प्रकार संसार में कर्मफल जिन तीन मार्गों में बँटा है उनका भोग उन लोगों से नहीं छूटता जो आशा के वश हैं। (४८) नीम का खाना ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों खाना तो मजा लगता है पर उसका परिणाम अवश्य मरण ही होता है। (४९) साधु चोर की मित्रता तभी तक भली रहती है जब तक जङ्गल नहीं आ पहुँचता वेश्या तभी तक भली है जब तक वह शरीर को हाथ नहीं लगाती (२५०) वैसे ही जब तक शरीर है तभी तक कर्मों का महत्त्व बढ़ा हुआ रहता है परन्तु मृत्यु होने पर उनके फल ही भोगने पड़ते हैं। (५१) कोई बलवान धनी अपने ऋणी से द्वार पर, अपना पावना धन माँगने के लिए आवे तो उसे टालते नहीं बनता, वैसे ही प्राणियों को कर्मफल का भोग भी अवश्य भोगना पड़ता है। (५२) और ज्वार के भुट्टे से जो दाना निकलता है वह पृथ्वी में बोया जाय तो फिर ज्वार के भुट्टे उत्पन्न होते हैं, फिर वही दाना पृथ्वी में बोया जाता है और फिर से वही धान्य उत्पन्न होता है, (५३) ऐसे ही कर्म-भोग से जो फल होता है उससे और दूसरे फल होते जाते हैं, जैसे कि चलते समय एक के अनन्तर एक पग पड़ता जाता है। (५४) मार्ग की नाव नदी के किसी तीर पर रहे, उसे फिर पलोपार जाना पड़ता है वैसे ही भोगों का चक्कर भी बन्द नहीं होता। (५५) मतलब यह है कि फलभोग साध्य और साधन-द्वारा संसार में फैला हुआ है, और जो अत्यागी हैं वे उसमें उपर्युक्त रीति से उलझे हुए हैं। (५६) चमेली का फूल जैसे खिलने के साथ ही सूखने लगता है वैसे ही कर्म के मिस से जो वास्तव में निष्कर्म हो जाते हैं, (५७) [जहाँ मोहरों को बीज ही बाँट दिया जाता है

हो। तब अर्जुन ने सावधान हो माथा नवाया (९६०) और कहा हे गुरु! मैं आपके छुते व्यक्तिसान्निध्य से ऊबकर आपसे एक-रूप हुआ चाहता हूँ। (६१) यह कौतुहल यद्यपि आप प्रेम से पूर्ण करते हैं, लेकिन महाराज! फिर यह जीव-रूपी प्रतिबन्ध क्यों बनाये रखते हैं? (६२) तब श्रीकृष्ण ने कहा कि ठीक! अभी दीवाने! तुम क्या अब तक यही नहीं जानते कि चन्द्र और चन्द्रिका को मिलने की आवश्यकता ही नहीं रहती। (६३) परन्तु यह भाव भी हम तुम से प्रकट करने में डरते हैं क्योंकि प्रेम तो वियोग होने से ही बढ़ जाता है। (६४) तथापि एक दूसरे के सहेल-द्वारा वियोग तत्काल नष्ट हो जाता है। परन्तु अब इस विषय की चर्चा रहने दो। (६५) हे पाण्डुसुत! हम यह वर्णन कर रहे थे कि आत्मा और कर्म किस प्रकार भिन्न हैं। (६६) तब अर्जुन ने कहा कि हे देव! मैं भी यही चाहता था। मैं जो चाहता था उसी का आपने प्रस्ताव किया। (६७) आपने प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हें सकल कर्मों का बीज जो कारण पञ्चक है वह सुनायेंगे (६८) और यह भी कहा था कि उससे और आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। यह प्रतिज्ञा-ऋण अब चुकाइए। (६९) इन वचनों से श्रीकृष्ण अत्यन्त सन्तुष्ट हो बोले कि इस विषय में धरना दे बैठनेवाला कौन मिलता है? (१०००) अतः हे अर्जुन! हम उस शब्दाभिप्राय का निरूपण करते हैं और तुम्हारे ऋण से मुक्त होते हैं। (१) तब अर्जुन ने कहा कि हे देव! क्या आप पिछली बातें भूल गये? ऐसा कहने से तुम-हम-रूपी द्वैत की रक्षा होती है। (२) इस पर श्रीकृष्ण ने कहा भला अब जो हम निरूपण कर रहे थे उसे भली भाँति ध्यान से सुनो। (३) हे धनुर्धर! यह सत्य है कि सब कर्मों की घटना परस्पर पाँच साधनों के द्वारा होती है। (४) और इन पाँच कारणों का समूह जिनके द्वारा कर्माकृति को प्राप्त होता है वे हेतु भी पाँच हैं। (५) इस विषय में आत्मा उदासीन रहता है। वह न कर्मों का हेतु है न उपादान है और न वह कर्मसिद्धि का सहचारी होता है। (६) जैसे आकाश में दिन और रात होते रहते हैं वैसे ही आत्मा के अधिष्ठान पर शुभ और अशुभ कर्म होते हैं। (७) अथवा, जल और धूम का वायु में सम्मेलन होते ही अभ्र बन जाता है, पर आकाश जैसे उससे जुदा रहता है; (८) अथवा काठ की नाव बनाई जाती है, उसे केवट चलाता है और वह वायु के सहाय से चलती है परन्तु पानी जैसे केवल उसका साक्षी रहता है, (९)

अन्तर है पार्थ! आत्मा और कर्म में होता है, परन्तु अज्ञान के कारण वे दोनों एक जान पड़ते हैं। (७५) सरोवर में शोभा देने वाली कमलिनी प्रफुल्लित होते ही जैसे सूर्य का स्वागत करती है और भ्रमरों से अपने मकरन्द का उपभोग कराती है (७६) वैसे ही आरम्भक्रिया भी अन्य कारणों से उत्पन्न होती है। उन्हीं पाँचों कारणों का हम निरूपण करते हैं। (७७)

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते मोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

ये पाँच कारण कदाचित् तुम भी जानते होगे। क्योंकि जिनका वर्णन शास्त्रों ने हाथ उठा कर किया है, (७८) जो वेदराज की राजधानी में सांख्य और वेदान्त के मन्दिरों में निरूपण-रूपी बड़ी की ध्वनि से गर्जना करते हैं (७९) वही संसार में सब कर्मों की सिद्धि की पूँजी हैं। यह निश्चय जानो कि आत्मराज कर्मसिद्धि का कारण नहीं है। (२८०) ऐसे वचनों का डङ्का बजाने से उनकी प्रसिद्धि हुई है। अतः तुम्हें उनका वर्णन सुनना चाहिए। (८१) और जब कि तुम्हारे हाथ मुझ जैसा ज्ञानरत्न है तो यह वर्णन कौन ऐसा बड़ी है कि दूसरों के मुख से सुनना चाहिए? (८२) सामने दर्पण रखा हुआ है तो फिर अपना मुख देखने के लिए क्या दूसरों के नेत्रों का सम्मान करना चाहिए? पानी शीशा रहने पर भी क्या दूसरों से यह पूछना चाहिए कि—कहो, मेरा स्वरूप कैसा है! (८३) क्यों? जिस भाव से भक्त मुझे देखें वहाँ मैं वही वस्तु बन जाता हूँ। मैं आज तुम्हारे हाथ का खिलौना बन रहा हूँ। (८४) इस प्रकार जब श्रीकृष्ण प्रीति के वेग में बोलते हुए निज का स्मरण भूल गये तब अर्जुन स्वयं आनन्द में डूब गया। (८५) जैसे चाँदनी चटक रही हो तो चन्द्रकान्तमणि-रूपी पर्वत पसीजता है और वहाँ एक सरोवर ही छोटा-सा दिखाई देता है, (८६) वैसे ही जब सुख और अनुभव इन दोनों भावों की भीत टूट गई और ये भाव केवल अर्जुनरूप से ही मूर्तिमान् दिखाई देने लगे, (८७) तब श्रीकृष्ण समर्थ थे इसलिए उन्हें उसकी स्मृति हुई और वे उस डूबे हुए अर्जुन को बचाने के लिये दौड़ गये। (८८) अर्जुन को ऐसे आनन्द की बाढ़ आई थी कि वह इतना ज्ञानी होने पर भी अपने बुद्धिविस्तार के साथ उसमें डूब गया। उस बाढ़ को श्रीकृष्ण ने खींच लिया (८९) और कहा कि हे पार्थ! सावधान

कारण खुले हुए चँवर की तरह फटी हुई-सी मालूम होती है, (२७) था घर में रक्खा हुआ एक ही दीपक जैसे झिलमिली में से अनेक ों में दिखाई देता है (२८) अथवा एक ही पुरुष जैसे नवों रसों का नुभव लेता हुआ नवविध जान पड़ता है, (२९) वैसे ही बुद्धि का ही ज्ञान इन श्रोत्र इत्यादि भेदों के कारण जिन जुदी-जुदी इन्द्रियों- रा बाहर आविष्कृत होता है, (२१०) उन जुदी-जुदी इन्द्रियों का न्ता हे अर्जुन! कर्म का तीसरा कारण है। (११) अब, पूर्व या श्चिम मार्ग से बहते हुए नाले जब नदियों में आ मिलते हैं तो उनका नी जैसे एक ही हो जाता है, (१२) वैसे ही प्राणवायु में जो अवि ाशी क्रियाशक्ति है वह जुदे-जुदे स्थानों में प्रकट होने के कारण जुदी- ान पड़ती है। (१३) वाचा में दिखाई देती है तब उसे वाणी हते हैं। हाथों में प्रकट होती है तब उसे लेने-देने की क्रिया कहते ैं। (१४) चरणों में वही क्रियाशक्ति गति कहलाती है और मल मूत्र द्वारों का कारण भी उसी शक्ति की क्रिया है। (१५) शरीर में नाभिस्थान से हृदय तक जो ओंकार की अभिव्यक्ति होती है उसी को प्राण कहते हैं, (१६) अनन्तर ऊपर की ओर जो श्वासोच्छ्वास होता है वह वही शक्ति है, पर वह उदान नाम से जानी जाती है। (१७) गुदा द्वार से निकलने के कारण उसे अपान कहते हैं, और सब शरीर में व्यापक होने से उसे व्यान नाम दिया गया है। (१८) खाये हुए रस को वह सब शरीर में एकसा भर देती है और आप उस शरीर को न छोड़ कर सब सन्धियों में बनी रहती है, (१९) इस व्यापार के कारण हे किरीटी! वही क्रियाशक्ति समान अथवा नाभिस्थ वायु कहलाती है। (२०) और जमुहाई लेना, छींकना, डकारना आदि जो व्यापार हैं वे नाग, कूर्म, कृकल इत्यादि कहलाते हैं। (२१) एवं ये सब व्यापार एक वायु के ही हैं, परन्तु हे सुभट! व्यापार के कारण उस वायु में जो भिन्नता जान पड़ती है (२२) वह वृत्तियों के कारण भिन्न होनेवाली वायुशक्ति ही कर्म का चौथा कारण है। (२३) तथा ऋतुओं में जैसे शरद् उत्तम होती है और उस ऋतु में भी शुक्लपक्ष और उसमें भी जैसे पूर्णमासी की रात्रि उत्तम होती है, (२४) अथवा वसन्त ऋतु में जैसे बगीचा सुखदायक होता है, बगीचे में जैसे प्रिया का समागम, और उसमें भी गन्ध चन्दन इत्यादि उपचारों का रहना सुखदायक होता है, (२५) अथवा

अथवा जैसे किसी मिट्टी के पिण्ड से कुम्हार के चक्र पर किसी बासन का आकार बनता है और डण्डे से घुमाने से वह चक्र घूमता है (११०) उसमें कर्तृत्व कुम्हार का है, और पृथ्वी का आश्रय के अतिरिक्त क्या कार्य होता है? (११) यह भी रहने दो, जैसे लोगों के सम्पूर्ण व्यापार होते हैं, पर उनमें से क्या कोई सूर्य का व्यापार कहा जा सकता है? (१२) वैसे ही पाँच हेतुओं से उत्पन्न पाँच कारणों के द्वारा कर्मलताएँ लगाई जाती हैं पर आत्मा उनसे दूर रहता है। (१३) अब हम भली भाँति इन पाँचों का अलग-अलग विवेचन करते हैं। जैसे मोती परख कर लिये जाते हैं (१४)

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

—वैसे ही इन पाँचों कारणों का लक्षणों-सहित वर्णन सुनो। इनमें पहला कारण देह है। (१५) इसे अधिष्ठान कहते हैं, यह इसी लिए कि इसमें भोक्ता अपने भोग्य के साथ रहता है। (१६) इन्द्रिय-रूपी दसों हाथों से रात और दिन कष्ट करके, प्रकृति के द्वारा जो सुख और दुःख प्राप्त होते हैं (१७) उन्हें भोगने के लिए पुरुष का और दूसरा स्थान ही नहीं है, इसलिए देह को अधिष्ठान कहा गया है। (१८) यह देह चौबीस तत्त्वों के रहने का कुटुम्बघर है। बन्ध और मोक्ष का उलझाव यहीं छूटता है। (१९) बहुत क्या कहें, हे धनञ्जय! यह देह जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठान है, इसलिए इसे अधिष्ठान नाम दिया गया है। (१२०) कर्म का दूसरा कारण कर्ता है जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहाता है। (२१) आकाश ही पानी बरसाता है, और जब वह पानी डबरों [गड्ढों] में भर जाता है तो वही आकाश आप ही उसमें प्रतिबिम्बित होता और तदाकार हो जाता है, (२२) अथवा घोर निद्रा के वश हो राजा अपना राजत्व भूल जाता और स्वप्न में रङ्क बन जाता है (२३) वैसे ही अपने विस्मृति के कारण जो चैतन्य ही देहाकार से प्रतिभासित होता और देह के रूप में प्रकट होता है, (२४) विशेषकर पूर्व जन्मों में जो जीव नाम से प्रसिद्ध है, जिसने मानों देह को सम्पूर्ण विजय प्राप्त करा देने की प्रतिज्ञा की है (२५) प्रकृति कर्म करती है तथापि जो भ्रम में पड़ा हुआ कहता है कि मैं करता हूँ उस जीव को यहाँ कर्ता नाम दिया गया है। (२६) फिर दृष्टि एक होते हुए यह जैसी पलकों के बालों [बरौनियों]

के कारण खुले हुए चँवर की तरह फटी हुई-सी मालूम होती है, (२७) अथवा घर में रक्खा हुआ एक ही दीपक जैसे झिलमिली में से अनेक रूपों में दिखाई देता है (२८) अथवा एक ही पुरुष जैसे नवों रसों का अनुभव लेता हुआ सर्वविध जान पड़ता है, (२९) वैसे ही बुद्धि का एक ही ज्ञान इन भेदों इत्यादि भेदों के कारण भिन्न जुदी-जुदी इन्द्रियों द्वारा बाहर अभिव्यक्त होता है, (२३०) यह जुदी-जुदी इन्द्रियों का होना हे अर्जुन! कर्म का तीसरा कारण है। (३१) अब, पूर्व या पश्चिम मार्गों से बहते हुए नाले जब नदियों में आ मिलते हैं तो उनका पानी जैसे एक ही हो जाता है, (३२) वैसे ही प्राणवायु में जो अवि-नाशी क्रियाशक्ति है वह जुदे-जुदे स्थानों में प्रकट होने के कारण जुदी जान पड़ती है। (३३) वाचा में दिखाई देती है तब उसे वाणी कहते हैं। हाथों में प्रकट होती है तब उसे लेने-देने की क्रिया कहते हैं। (३४) चरणों में वही क्रियाशक्ति गति कहलाती है और मल-मूत्र द्वारों का कारण भी उसी शक्ति की क्रिया है। (३५) शरीर में नाभिस्थान से हृदय तक जो ओंकार की अभिव्यक्ति होती है उसी को प्राण कहते हैं, (३६) अनन्तर ऊपर की ओर जो श्वासोच्छ्वास होता है वह वही शक्ति है, पर वह उदान नाम से जानी जाती है। (३७) गुदा द्वार से निकलने के कारण उसे अपान कहते हैं, और सब शरीर में व्यापक होने से उसे व्यान नाम दिया गया है। (३८) खाये हुए रस को वह सब शरीर में एकसा भर देती है और आप उस शरीर को न छोड़ कर सब सन्धियों में बनी रहती है, (३९) इस व्यापार के कारण हे किरीटी! वही क्रियाशक्ति समान अथवा नाभिस्थ वायु कहलाती है। (२४०) और जम्हाई लेना, छींकना, डकारना आदि जो व्यापार हैं वे नाग, कूर्म; कृकर इत्यादि उपप्राण हैं, (४१) एवं ये सब व्यापार एक वायु के ही हैं, परन्तु हे सुभट! व्यापार के कारण उस वायु में जो भिन्नता जान पड़ती है (४२) वह वृत्तियों के कारण भिन्न होनेवाली वायुशक्ति ही कर्म का चौथा कारण है, (४३) तथा ऋतुओं में जैसे शरद् उत्तम होती है और शर-द्ऋतु में भी शुक्लपक्ष और उसमें भी जैसे पूर्णमासी की रात्रि उत्तम होती है, (४४) अथवा वसन्त ऋतु में जैसे बगीचा सुखकारक होता है; बगीचे में जैसे प्रिया का सहवास, और उसमें भी सब चन्दन इत्यादि उपचारों का रहना सुखकारक होता है, (४५) अथवा

हे पाण्डव! कमल का विकास सुन्दर होता है और उस विकास में भी पराग का सम्भ्रम अधिक सुन्दर होता है; (४६) वाणी को कवित्व शोभा देता है, कवित्व में रसिकता अधिक शोभा देती है, और उस रसिकता में जैसे तत्त्वनिरूपण और भी अधिक शोभा देता है (४७) वैसे ही सब वृत्ति-वैभव से युक्त एक बुद्धि ही उत्तम है, और बुद्धि में भी नूतन इन्द्रिय बल का होना उत्तम है। (४८) इन्द्रिय-मण्डल की भी शोभा तभी है जब हे निष्पाप! उनके अधिष्ठाता देवताओं की अनुकूलता हो (४९) एवं सूर्य इत्यादि देवताओं के समूह कराङ्गु हो चक्षु इत्यादि दसों इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं। (५०) हे अर्जुन! यह देव-समूह ही कर्म का पाँचवाँ कारण है। (५१) इस प्रकार जिसमें तुम समझ सको ऐसी रीति से, हमने सब कर्मों के पञ्चविधि कारणों का निरूपण किया। (५२) अब इन्हीं कारणों की वृद्धि होते-होते जिन हेतुओं से कर्म-सृष्टि की रचना होती है उन पाँच हेतुओं को भी स्पष्ट कर बताते हैं। (५३)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अकस्मात् वसन्त ऋतु आ जाती है जो वही नूतन पल्लवों की उत्पत्ति का हेतु हो जाती है। पल्लवों से पुष्प-समुदाय उत्पन्न होता और पुष्पों से फल उत्पन्न होते हैं, (५४) अथवा वर्षाकाल के आने से मेघ उत्पन्न होते हैं, मेघों से वृष्टि होती और वृष्टि के कारण धान्य-सुख का उपयोग प्राप्त होता है; (५५) अथवा पूर्व दिशा से अरुण का उदय होता है, अरुण से सूर्योदय होता है और सूर्य से सम्पूर्ण दिन प्रकाशित होता है, (५६) वैसे ही हे पाण्डव! कर्मसङ्कल्प का हेतु मन है, उस सङ्कल्प से वाणी-रूपी दीपक प्रकाशित होता है (५७) और यह वाचा-दीपक सम्पूर्ण कर्मों के मार्गों को प्रकाशित करता है जिससे कर्ता कर्तृत्व के व्यापार में प्रवृत्त होता है। (५८) वस्तुतः शरीर इत्यादि समुदाय का हेतु शरीर ही है, जैसे लोहे का काम लोहे से किया जाता है, (५९) अथवा जैसे तन्तु का ही वस्त्र और तन्तु का ही बाना इस प्रकार हे ज्ञानी! तन्तु ही कपड़ा बनाता है (६०) वैसे ही मन, वाचा और देह के कर्म का हेतु मन इत्यादि ही है जैसे कि रत्नसमुदाय का हेतु रत्न ही है। (६१) यहाँ यदि

कोई यह पूछे कि शरीर इत्यादि जो कर्म के कारण हैं वही क्योंकर हेतु कहे जाते हैं तो सुनिए। (६२) देखिए, सूर्य के प्रकाश का हेतु और कारण जैसे सूर्य ही है, अथवा देव की गाँठें जैसे इस की बाढ़ का हेतु है, (६३) अथवा वाग्देवी की स्तुति करने के लिए जैसे वाचा को ही श्रम करना पड़ता है, अथवा वेदों की महिमा जैसे वेदों से ही बखानी जा सकती है, (६४) वैसे ही शरीर इत्यादि कर्म के कारण तो हैं ही पर यह भी मिथ्या नहीं कि वही कर्म के हेतु भी हैं। (६५) देह इत्यादि कारणों का देह इत्यादि हेतुओं से मेल होते ही जो कर्ममात्र की घटना होती है (६६) वह कर्म यदि शास्त्र-सम्मत मार्ग के अनुसार हो तो न्याय का हेतु [न्याय कर्म] होता है। (६७) जैसे बरसात के जल का प्रवाह कदाचित् धान में बह जाय तो वह वहाँ रोका जाता है, पर उससे लाभ भी खूब होता है, (६८) अथवा क्रोध से भी घर छोड़ कर कोई अकस्मात् द्वारका का मार्ग ले तो, वह दुखी हो तथापि, उसका उस मार्ग से चलना निष्फल नहीं जाता, (६९) वैसे ही हेतु और कारण के मेल से कोई अन्ध कर्म भी उत्पन्न हो तथापि उस पर यदि शास्त्र की दृष्टि पड़े तो वही न्याय्य कर्म कहलाता है। (३७०) अथवा दूध जब उफनता है तब बढ़ते-बढ़ते बरतन के मुँह तक पहुँच कर स्वभावतः बाहर गिरता है, वह भी वस्तुतः दूध का खर्च ही है, पर जैसे उसे खर्च नहीं कहते (७१) वैसे ही शास्त्र की सहायता के बिना किया हुआ कर्म यद्यपि वृथा न समझा जाय तथापि क्या द्रव्य का लुटा जाना दान किये जाने के समान लेखा जा सकता है? (७२) अजी हे पाण्डुसुत! ऐसा कौनसा मन्त्र है जो वर्णमाला के बावन अक्षरों में न हो? और ऐसा कौनसा जीव है जो इन्हीं बावन अक्षरों को न उच्चारता हो? (७३) परन्तु हे धनुर्धर पाण्डव! जब तक मन्त्र के उच्चारण-फल का भान नहीं होता, (७४) वैसे ही कारण और हेतु के मेल से जो अनियमित कर्म उत्पन्न होता है उसे जब तक शास्त्र की अनुकूलता का लाभ नहीं होता (७५) तब तक यद्यपि कर्म होता ही रहता है तथापि वह वास्तव में कर्म करना नहीं, अन्याय है तथा वह अन्याय का ही हेतु होता है। (७६)

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

इस प्रकार हे उत्तम कीर्तिमान् अर्जुन! कर्म के पाँच कारणों के ये पाँच हेतु होते हैं। अब कहो तो कि इनमें क्या आत्मा दिखाई देता है? (३७७) बात यह है कि सूर्य जैसे विषयरूप न होकर नेत्रों के विषयों को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा कर्मरूप न होकर कर्म प्रकट करता है। (७८) हे वीरेश! देखनेहारा जैसे प्रतिबिम्ब या दर्पण दोनों न होकर दोनों को प्रकाशित करता है, (७९) अथवा हे पाण्डुसुत! सूर्य जैसे दिन या रात्रि न होते हुए दिन और रात्रि को प्रकट करता है, वैसे ही आत्मा कर्म या कर्तारूप न होकर इन दोनों को प्रकट करता है। (३८०) परन्तु जिसकी बुद्धि को यह विस्मृति हुई है कि मैं देह हूँ और इस कारण जो बुद्धि देह में ही व्याप्त हो गई है उसे आत्मा के विषय में मानों मध्यरात्रि का अन्धकार रहता है। (८१) जो समझता है कि चैतन्यरूपी ईश्वर या ब्रह्म की परम सीमा देह ही है उसका यह दृढ़ विश्वास चाहे भले ही हो कि आत्मा कर्ता है (८२) परन्तु उसे यह तत्त्वतः निश्चय नहीं रहता कि आत्मा ही कर्म करता है। वह समझता है कि मैं जो देह हूँ यह कर्म करता है (८३) क्योंकि यह बात उसे कभी कानों से नहीं सुनाई कि मैं कर्म के परे हूँ और सब कर्मों का साक्षी हूँ (८४) इसलिए कुछ अपरिमित आत्मा को वह देह से मापने को चला करता है, इसमें क्या आश्चर्य है? घुग्घू क्या दिन की रात नहीं बना देता? (८५) जिसने कभी आकाशस्थित सत्य सूर्य नहीं देखा है वह क्या डबरे में दिखाई देनेहारे सूर्य को ही सत्य न समझेगा? (८६) डबरे का होना सूर्य की उत्पत्ति का कारण हो जाता है, तथा उसके नाश से सूर्य का भी नाश होता है और उसके कम्पायमान होने से सूर्य भी काँपता हुआ दिखाई देता है; (८७) निद्रस्थ मनुष्य को जब तक जाग नहीं आती तब तक स्वप्न सत्य ही रहता है, डोरी का अज्ञान होते हुए सर्प का डर रहे, इसमें आश्चर्य क्या है? (८८) जब तक आँखों में पीलिया रोग है तब तक चन्द्रमा पीला दिखाई देता है, मृग भी क्या मृग-जल की भूल में न पड़े? (८९) इसी प्रकार शास्त्र या गुरु का तो कहना ही क्या जो अपनी सीमा को इनकी हवा भी नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खता के बल जीवन धारण करता है (३९०) वह, जैसे गीदड़ मेघों के वेग को चन्द्र पर ही आरोपित करते हैं वैसे ही देहात्म-बुद्धि के कारण आत्मा पर देह-रूपी आभास फैलाता है। (९१)

और फिर वह उस मूल के कारण देह-रूपी कैदखाने में मानों कर्म की दृढ़गाँठ से बाँधा जाता है। (६२) देखो, दृढ़-बन्ध की भावना के कारण नली पर बैठा हुआ बेचारा तोता क्या पक्के मुक्त रहते हुए भी नहीं फँसता ? (६३) अतएव जो निर्मल आत्मस्वरूप पर प्रकृति के किये हुए कर्म आरोपित करता है वह कोट्यवधि कल्पों के माप से कर्मों की गणना करता रहता है। (६४) अब जो कर्म से व्यापृत है परन्तु समुद्र का जल जैसे बड़वानल को स्पर्श नहीं करता वैसे ही, जिसे कर्म स्पर्श नहीं करता, (६५) जो यों जुदा रहता हुआ कर्म से व्यापृत है उसे कौन पहचान सकता है, कहूँ ? (६६) क्योंकि जैसे अपनी खोई हुई वस्तु दीपक से देखने पर दिखाई देती है वैसे ही मुक्त का निश्चय करते हुए निज को ही मुक्ति का लाभ हो जाता है, (६७) अथवा जैसे दर्पण रगड़ कर साफ किया जावे तो अपना ही रूप दिखाई दे सकता है, अथवा जैसे लवण को जल का लाभ हो तो वह जल रूप ही हो जाता है, (६८) यह भी रहने दो, प्रतिबिम्ब यदि लौटकर बिम्ब को देखे तो वह देखना नहीं बिम्ब ही बन जाना है (६९) वैसे ही जिस आत्मा की विस्मृति हो गई है उसका जब लाभ हो जाय तभी सन्तों की स्थिति का निश्चय हो सकता है। अतएव सर्वदा सन्तों की ही स्तुति और उसका बखान करना चाहिए। (४००) अस्तु जो कर्मों में रह कर सुख-दुःखों के वश नहीं होता, तथा जैसे चर्म चक्षु के नाम से दृष्टि बद्ध नहीं रहती (१) वैसे ही जो मुक्त है, उसका हम रूपपरिरूपी हाथ बढ़ाकर बखान करते हैं। (२)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

हे स्वामी ! जो अनादि काल से अविद्यारूपी नींद में सोता हुआ विश्वरूप व्यापार का उपभोग ले रहा है (३) वह महावाक्य के द्वारा और गुरुकृपा के सहाव से, ज्यों ही गुरु उसके माथे पर हाथ रखते हैं—नहीं, मानों उसे जागृत करते हैं—(४) त्यों ही हे धनञ्जय ! वह विश्वरूपी स्वप्न-सहित मायारूपी निद्रा को छोड़ अद्वयानन्दस्वरूप में जागृत हो जाता है। (५) और फिर निरन्तर एक सी दिखाई देने वाली मृगजल की बाढ़ जैसे चन्द्रमा की किरणें प्रकाशित होते ही मिट जाती हैं, (६) अथवा बाल्यावस्था निकल जाने पर जैसे होवा

इस प्रकार हे उत्तम कीर्तिमान् अर्जुन ! कर्म के पाँच कारणों के ये पाँच हेतु होते हैं। अब कहो तो कि इसमें क्या आत्मा फिर्के देता है ? (७७) बात यह है कि सूर्य जैसे किरणरूप न होकर नेत्रों के विम्बों को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा कर्मरूप न होकर कर्म प्रकट करता है। (७८) हे वीरेश ! देखनेहारा जैसे प्रतिबिम्ब व दर्पण दोनों न होकर दोनों को प्रकाशित करता है, (७९) अथवा हे पाण्डुसुत ! सूर्य जैसे दिन या रात्रि न होते हुए दिन और रात्रि को प्रकट करता है, वैसे ही आत्मा कर्म या कर्तारूप न होकर इन दोनों को प्रकट करता है। (३८०) परन्तु जिसकी बुद्धि को यह विस्मृति हुई है कि मैं देह हूँ और इस कारण जो बुद्धि देह में ही आ हो गई है उसे आत्मा के विषय में मानों मध्यरात्रि का अन्धकार रहता है। (८१) जो समझता है कि चैतन्यरूपी ईश्वर का भी परम सीमा देह ही है उसका यह दृढ़ विश्वास चाहे भले ही हो कि आत्मा कर्ता है (८२) परन्तु उसे यह तत्त्वतः निश्चय नहीं रहता कि आत्मा ही कर्म करता है। वह समझता है कि मैं जो देह हूँ वह कर्म करता है (८३) क्योंकि यह बात वह कभी कानों से नहीं सुनता कि मैं कर्म के परे हूँ और सब कर्मों का साक्षी हूँ (८४) इसलिए इस अपरिमित आत्मा को वह देह से मापने की चेष्टा करता है, इसमें क्या आश्चर्य है ? उल्लू क्या दिन की रात नहीं बना देता ? (८५) जिसने कभी आकाशस्थित सत्य सूर्य नहीं देखा है वह क्या डबरे का दिखाई देनेहारे सूर्य को ही सत्य न समझेगा ? (८६) डबरे का होना सूर्य की उत्पत्ति का कारण हो जाता है, तथा उसके नाश से सूर्य का भी नाश होता है और उसके कम्पायमान होने से सूर्य भी काँपता हुआ दिखाई देता है (८७) निद्रस्थ मनुष्य को जब तक चेत नहीं आता तब तक स्वप्न सत्य ही रहता है, डोरी का अज्ञान होते हुए सर्प का डर रहे, इसमें आश्चर्य क्या है ? (८८) जब तक आँखों में पालिया रोग है तब तक चन्द्रमा पीला दिखाई देता है, तब भी क्या मृग-जल की भूल में न पड़े ? (८९) इसी प्रकार शास्त्र या गुरु का तो कहना ही क्या जो अपनी सीमा को उनकी हवा भी नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खता के बल जीवन धारण करता है (९०) वह, जैसे गीदड़ मेघों के वेग को चन्द्र पर ही आरोपित करते हैं वैसे ही, देहात्म-बुद्धि के कारण आत्मा पर देह-रूपी जाल फैलाता है। (९१)

और फिर वह उस भूल के कारण देह-रूपी कैदखाने में मानों कर्म की दृढ़गाँठ से बाँधा जाता है। (९२) देखो, दृढ़-बन्ध की भावना के कारण नली पर बैठा हुआ बेचारा तोता क्या उसे मुक्त रहते हुए भी नहीं फँसता? (९३) अतएव जो निर्मल आत्मस्वरूप पर प्रकृति के किये हुए कर्म आरोपित करता है वह कोट्यवधि कल्पों के माप से कर्मों की गणना करता रहता है। (९४) अब जो कर्म से व्यापृत है परन्तु समुद्र का जल जैसे बड़वानल को स्पर्श नहीं करता वैसे ही, जिसे कर्म स्पर्श नहीं करता, (९५) जो यों जुदा रहता हुआ कर्म से व्यापृत है उसे कौन पहचान सकता है, कहें? (९६) क्योंकि जैसे अपनी खोई हुई वस्तु दीपक से देखने पर दिखाई देती है वैसे ही मुक्त का निश्चय करते हुए मित्र को ही मुक्ति का लाभ हो जाता है, (९७) अथवा जैसे दर्पण रगड़ कर साफ किया जावे तो अपना ही रूप दिखाई दे सकता है, अथवा जैसे लवण को जल का लाभ हो तो वह जल रूप ही हो जाता है, (९८) वह भी रहने दो प्रतिबिम्ब यदि छोड़कर बिम्ब को देखे तो वह देखना नहीं बिम्ब ही बन जाता है, (९९) वैसे ही जिस आत्मा की विस्मृति हो गई है उसका जब लाभ हो जाय तभी सन्तों की स्थिति का निश्चय हो सकता है। अतएव सर्वदा सन्तों की ही स्तुति और उनका ध्यान करना चाहिए। (४००) अतः जो कर्मों में रह कर सुख-दुःखों के वश नहीं होता, तथा जैसे चर्म-चक्षु के चाम से दृष्टि बद्ध नहीं रहती (१) वैसे ही जो मुक्त है, उसका हम उपपत्तिरूपी हाथ उठाकर वर्णन करते हैं। (२)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

हे ज्ञानी! जो अनादि काल से अविद्यारूपी नींद में सोता हुआ विश्वरूप व्यापार का उपभोग ले रहा है (३) वह महावाक्य के द्वारा और गुरुकृपा के सहाय से, ज्यों ही गुरु उसके माथे पर हाथ रखते हैं—नहीं, मानों उसे जागृत करते हैं—(४) त्यों ही हे धनञ्जय! वह विश्वरूपी स्वप्न-सहित मायारूपी निद्रा को छोड़ अद्वयानन्दस्वरूप में जागृत हो जाता है। (५) और फिर निरन्तर एक सी दिखाई देने वाली मृगजल की बाढ़ जैसे चन्द्रमा की किरणें प्रकाशित होते ही थम जाती हैं, (६) अथवा बाल्यावस्था निकल जाने पर जैसे होआ

स्पष्ट नहीं जान पड़ता, अथवा ईंधन जल जाने पर जैसे पाक-क्रिया नहीं हो सकती, (७) अथवा नींद से चेत आने पर जैसे स्वप्न दिखाई नहीं देता, वैसे ही हे किरीटी! उसमें अहंता और ममता शेष नहीं रहती। (८) फिर अँधेरे की खोज करने के लिए सूर्य चाहे जिस सुरङ्ग में प्रवेश करे तथापि जैसे उसका काम उसके भाग्य में नहीं लिखा है, (९) वैसे ही वह मनुष्य आत्मस्वरूप से ही वेष्टित हो जाता है। वह जिस दृश्य को देखता है वह दृश्य द्रष्टासहित उसे आत्म-स्वरूप ही दिखाई देता है। (४१०) जैसे जिस पदार्थ में आग लगे वह स्वयं आग हो जाता है और फिर यह भिन्नता नहीं रहती कि एक वस्तु जलानेवाली है और दूसरी जलनेवाली (११) वैसे ही कर्म को भिन्न से भिन्न मान कर आत्मा को जो कर्तृत्व का भार लगाया जाता था उसके दूर हो जाने पर जो कुछ अवशेष बच रहे (१२) उस आत्मस्थिति का राजा क्या देह को कोई जुदी वस्तु मानेगा? प्रलय-काल का जल क्या किसी जुदे प्रवाह का अस्तित्व मानता है? (१३) वैसे ही हे पाण्डुसुत! उस मनुष्य की पूर्ण अहंता क्या देह से परिच्छिन्न हो सकती है? क्या सूर्य के प्रतिबिम्ब से सूर्य हाथ लग सकता है? (१४) छाँछ का मन्थन करने से जो माखन निकलता है, फिर छाँछ में डालने से क्या वह उससे लिप्त हो उसमें मिल सकता है? (१५) अथवा हे वीरेश! अग्नि को काष्ठ से जुदा करने पर क्या वह काष्ठ के सन्दूक में बन्द रह सकती है? (१६) अथवा रात्रि के गर्भ से निकला हुआ सूर्य क्या कभी रात्रि की बात भी सुनता है? (१७) वैसे ही जानने की वस्तु और जाननेहारा दोनों जिसमें विलीन हो जाते हैं उसे ऐसा अहङ्कार कैसे हो सकता है कि मैं देह हूँ? (१८) और, आकाश जिस स्थान से जिस स्थान को जावे वहाँ वह भरा ही हुआ है, अतएव वह स्वभावतः सर्वत्र व्याप्त है, (१९) वैसे ही वह मनुष्य जो कुछ करे वह स्वभावतः वह आप ही है, तो फिर कर्ता होकर कर्म से वेष्टित होने के लिए कौन बच रहता है? (४२०) आकाश से अलग कोई स्थान ही नहीं है, समुद्र का कभी प्रवाह नहीं होता ध्रुव नक्षत्र में कभी गति नहीं उत्पन्न होती वैसे ही उस मनुष्य की स्थिति हो जाती है। (२१) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा उसका अहङ्कार मिथ्या हो जाता है, तथापि जब तक उसका देह रहता है तब तक कर्म होते

ही रहते हैं। (९२) हवा चलते चलते बन्द हो जाय तथापि वृक्षों के हिलने का वेग शेष रहता है, अथवा डिब्बी में से कपूर निकाल लिया हो तथापि उसमें सुगन्ध रह जाती है (९३) अथवा गीत समाप्त होने पर भी उसमें मग्न होनेवालों के चित्त में प्रसन्नता बनी रहती है, पृथ्वी पर से जल बह जाने पर भी सील बनी रहती है, (९४) अथवा सन्ध्या के समय सूर्य अस्त हो जाता है तथापि उसकी ज्योति-दीप्ति दिखाई पड़ती रहती है, (९५) अथवा निशाने पर बाण लगने पर भी उसमें जब तक बल अवशेष रहता है तब तक वह उस निशाने में घुसता जाता है, (९६) अथवा कुम्हार चक्के पर बासन बना कर निकाल लेता है तथापि चाक पहले घुमाया हुआ रहता है इसलिए घूमता ही रहता है, (९७) उसी प्रकार हे धनञ्जय! देहाभिमान चला जाय तथापि जिस स्वभाव के कारण देह उत्पन्न हुआ है वह उससे कर्म कराता ही जाता है। (९८) संकल्प के बिना ही जैसे स्वप्न उत्पन्न होता है, जङ्गल की आग जैसे बिना लगाये ही लगती है, आकाश में दिखाई देने वाले गन्धर्वनगर जैसे बिना बनाये ही दिखाई देते हैं, (९९) वैसे ही आत्मा की चेष्टा बिना ही देह आदि पाँच कारणों से आप ही आप कर्म उत्पन्न होते हैं। (५१०) ये पाँच कारण और हेतु पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार अनेक कर्म कराते हैं। (११) उन कर्मों से चाहे सम्पूर्ण जगत् का संहार हो, चाहे उत्तम नूतन जगत् की रचना हो (१२) परन्तु कुमुदिनी कैसे सूखती है अथवा कमलिनी कैसे विकसती है, ये दोनों बातें जैसे सूर्य नहीं देखता (१३) अथवा मेघों से बिजली गिरने पर चाहे पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जाँय, अथवा वर्षा हो कर हरा चारा उत्पन्न हो (१४) तथापि आकाश जैसे ये दोनों बातें नहीं जानता, वैसे ही जो देह में ही देहातीत स्थिति में रहता है (१५) वह जागृत मनुष्य जैसे स्वप्न नहीं देखता वैसे ही, देह इत्यादि के कर्मों से सृष्टि की उत्पत्ति हो या लय हो तथापि उन्हें नहीं देखता। (१६) यों तो जो चर्म चक्षु से देखते हैं वे निश्चय से उस कर्म का कर्ता ही समझेंगे, (१७) क्योंकि तृणों का पुतला बनाया हो और खेत में खड़ा कर रक्खा हो तो क्या गीदड़ उस उसकी रख-वाला नहीं समझते? (१८) पागल मनुष्य कपड़ा पहने हुए है या नङ्गा है यह जैसे दूसरे ही जानते हैं, युद्ध में मरे हुए सैनिकों के

रूप नहीं जान पड़ता, अथवा ईंधन जल जाने पर जैसे पाक-क्रिया नहीं हो सकती (७) अथवा नींद से चेत आने पर जैसे स्वप्न दिखाई नहीं देता, वैसे ही हे किरीटी! उसमें अहंता और ममता शेष नहीं रहती। (८) फिर अँधेरे की खोज करने के लिए सूर्य चाहे बिल सुराख में प्रवेश करे तथापि जैसे उसका नाम उसके भाग्य में नहीं लिखा है, (९) वैसे ही वह मनुष्य आत्मस्वरूप से ही वेष्टित हो जाता है। वह जिस दृश्य को देखता है वह दृश्य द्रष्टासहित उसे आत्म-स्वरूप ही दिखाई देता है। (४१०) जैसे जिस पदार्थ में आग लगे वह स्वयं आग हो जाता है और फिर यह भिन्नता नहीं रहती कि एक वस्तु जलानेवाली है और दूसरी जलनेवाली (११) वैसे ही कर्म को भिन्न से भिन्न जान कर आत्मा को जो कर्तृत्व का नाम लगाया जाता था उसके दूर हो जाने पर जो कुछ अवशेष बच रहे (१२) उस आत्मस्थिति का राजा क्या देह को कोई दूसरी वस्तु मानेगा? प्रलय-काल का जल क्या किसी दूसरे प्रवाह का अस्तित्व मानता है? (१३) वैसे ही हे पाण्डुसुत! उस मनुष्य की पूर्ण अहंता क्या देह से परिच्छिन्न हो सकती है? क्या सूर्य के प्रतिबिम्ब से सूर्य हाथ लग सकता है? (१४) छाँछ का मन्थन करने से जो माखन निकलता है, फिर छाँछ में डालने से क्या वह उससे लिप्त हो उसमें मिल सकता है? (१५) अथवा हे वीरेश! अग्नि को काष्ठ से जुदा करने पर क्या वह काष्ठ के सन्दूक में बन्द रह सकती है? (१६) अथवा रात्रि के गर्भ से निकला हुआ सूर्य क्या कभी रात्रि की बात भी सुनता है? (१७) वैसे ही जानने की वस्तु और जाननेवाला दोनों जिसने विलीन कर डाले हैं उसे ऐसा अहङ्कार कैसे हो सकता है कि मैं देह हूँ? (१८) और, आकाश जिस स्थान से जिस स्थान को जावे वहाँ वह भरा ही हुआ है, अतएव वह स्वभावतः सर्व व्याप्त है, (१९) वैसे ही वह मनुष्य जो कुछ करे वह स्वभावतः तद्रूप ही है, तो फिर कर्ता होकर कर्म से वेष्टित होने के लिए कौन बच रहता है? (४२०) आकाश से अलग कोई स्थान ही नहीं है, समुद्र का कभी प्रवाह नहीं होता, ध्रुव नक्षत्र में कभी गति नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही उस मनुष्य की स्थिति हो जाती है। (२१) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा उसका अहङ्कार मिथ्या हो जाता है, तथापि जब तक उसका देह रहता है तब तक कर्म होते

रचना कर रहा है। (५४) इनमें पुण्य और पापरूपी द्विविध रूप रचे जाते हैं और तत्स्वरूप कर्मरूपी मन्दिर बनते जाते हैं। (५५) परन्तु यह निश्चय जानो कि इस बड़े काम में आत्मा सहायक नहीं होता। यदि तुम कहो कि आत्मा इस कर्म के आरम्भ में सहायक होता है, (५६) तो वह आत्मा तो साक्षीरूप है, ज्ञानस्वरूप है, फिर जो कर्मप्रवृत्ति का संकल्प उठता है उसे उठाने के लिए वह कैसे आज्ञा दे सकता है? (५७) अतः कर्मप्रवृत्ति के विषय में भी उसे कुछ श्रम नहीं करना पड़ता, क्योंकि प्रवृत्ति की बेगार भी जीव ही करते हैं। (५८) अतएव जो केवल आत्मस्वरूप हो रहा है वह कभी इस कर्मरूपी बन्दीखाने में नहीं जाता। (५९) परन्तु अज्ञान-रूपी तट पर जो विपरीत ज्ञान-रूपी चित्र प्रतिबिम्बित होता है उस चित्र के तीनों मेहराबों जो त्रिपुटी प्रसिद्ध है (५१०)

ज्ञान ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

—जिसे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं, जो तीन वस्तुएँ संसार की बीजभूत हैं, वही [त्रिपुटी] निःसन्देह कर्म की प्रवृत्ति है। (११) अब हे धनञ्जय! इन तीनों विषयों का जुदा-जुदा वर्णन करते हैं, सुनो। (१२) जीवरूपी सूर्यबिम्ब की किरणें जो श्रोत्र इत्यादि पाँच इन्द्रियाँ हैं उनके कारण जब विषय रूपी कमल की कली खिलती है (१३) अथवा जीवरूपी राजा के सुखी घोड़े के घोड़े जब इन्द्रिय-रूपी दौड़ लगा कर विषय-रूपी देश को लूट लाते हैं (१४) तब जो इन इन्द्रियों में व्यापार करता है, जो जीव को सुख या दुःख का लाभ करा देता है, वह ज्ञान पार निद्रा के समय जहाँ विलीन हो जाता है (१५) उस जीव को ज्ञाता कहते हैं। और हे पाण्डुसुत! अभी प्रथम जिसका वर्णन किया वह ज्ञान है (१६) और हे किरीटी! यह अविद्या के गर्भ से उत्पन्न होते ही निज को त्रिधा भिन्न कर लेता है (१७) तथा अपने दौड़ के सम्मुख ज्ञेयरूपी निशान खड़ा कर पीछे की ओर ज्ञाता को खड़ा करता है। (१८) एवं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के बीच में रहने के कारण जो इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ता है, (१९) ज्ञेय की सीमा पर पहुँचते ही जिसकी दौड़ बन्द हो जाती है, और जो सम्पूर्ण पदार्थों के नाम रखता है (५२०) वह सामान्य

पाप दूसरे ही गिनते हैं, (३९) अथवा महासती के भोगों [शृङ्गार, गहने पहनना आदि] को सम्पूर्ण जगत् देखता है, परन्तु वह अग्नि की ओर अथवा अपने शरीर की ओर अथवा लोगों की ओर भी नहीं देखती बल्कि अपने पति के प्रेम में ही निमग्न रहती है, (४४०) वैसे ही जो देखनेहारा आत्मस्वरूप प्राप्त कर दृश्य वस्तु-सहित विलीन हो जाता है वह नहीं जानता कि इन्द्रिय-समूह क्या व्यापार करता है। (४१) बड़ी लहरों में छोटी लहरें मिल जाती हैं तब यद्यपि तीर पर खड़े हुए लोग समझते हैं कि एक लहर में दूसरी समा गई (४२) तथापि वहाँ क्या कोई दूसरी वस्तु रहती है जो जल को लीलती है? वैसे ही जो पूर्ण हो चुका है उसे कोई दूसरा शेष नहीं रहता जिसका कि वह नाश करे। (४३) सोने की बनाई हुई देवी सोने के शूल से सोने के बनाये हुए महिषासुर का वध करती है। (४४) वह वध मन्दिर में पास खड़े रहनेहारे पुजारी को सत्य जान पड़ता है परन्तु वास्तव में वह देवी, शूल या महिष सब सुवर्ण ही रहता है। (४५) चित्र में लिखा हुआ जल या अग्नि केवल दृष्टि का ही भ्रम है, चित्रपट पर वस्तुतः अग्नि या जल दोनों नहीं रहते (४६) वैसे ही मुक्त मनुष्य का शरीर भी पूर्व-संस्कार के वश ही हिलता-डुलता देखकर अविद्य लोग उसे कर्ता समझते हैं। (४७) वस्तुतः उसके कर्मों से चाहे त्रैलोक्य का नाश क्यों न हो तथापि ऐसा न समझना चाहिए कि वह नाश उसने किया। (४८) स्वामी! अँधेरे में प्रकाश जाने पर वह कहने का अवकाश ही कहाँ रहता है कि वह प्रकाश उस अँधेरे का नाश करे? वैसे ही ज्ञानी को द्वैत ही नहीं रहता तो वह नाश किस वस्तु का करेगा? (४९) उसकी बुद्धि पाप और पुण्य की बात भी नहीं जानती जैसे कि गङ्गा में मिलने पर नदी में कोई अशुद्धता नहीं रहती। (४५०) हे धनञ्जय! अग्नि अग्नि से मिले तो क्या वह जलेगी? अथवा शस्त्र क्या स्वयं अपने पर ही घाव कर सकता है? (५१) वैसे ही जो सम्पूर्ण कर्म-समूह को अपने से जुदा नहीं समझता उसकी बुद्धि किस वस्तु में लिप्त हो सकती है? (५२) इस प्रकार कार्य कर्ता और क्रिया तीनों को जो अपना ही स्वरूप समझता है उसे शरीर इत्यादि के कारण कर्मबन्ध नहीं होता। (५३) क्योंकि कर्म करनेहारा जीव कुशलता के साथ पञ्चमहाभूतों की खानें खोद कर इन्द्रिय-रूपी दसों हथियारों से कर्मरूपी हवेलियों की

रचना कर रहा है। (५४) इनमें पुण्य और पापरूपी द्विविध रूप रचे जाते हैं और तत्काल कर्मरूपी मन्दिर बनते जाते हैं। (५५) परन्तु यह निश्चय जानो कि इस बड़े काम में आत्मा सहायक नहीं होता। यदि तुम कहो कि आत्मा इस कर्म के आरम्भ में सहायक होता है, (५६) तो वह आत्मा तो साक्षीरूप है, ज्ञानस्वरूप है, फिर जो कर्मप्रवृत्ति का सङ्कल्प उठता है उसे उठाने के लिए वह कैसे आज्ञा दे सकता है? (५७) अतः कर्मप्रवृत्ति के विषय में भी उसे कुछ श्रम नहीं करना पड़ता क्योंकि प्रवृत्ति की बेगार भी जीव ही करते हैं। (५८) अतएव जो केवल आत्मस्वरूप हो रहा है वह कभी इस कर्मरूपी बन्दीखाने में नहीं जाता। (५९) परन्तु अज्ञान-रूपी छत पर जो विपरीत ज्ञान-रूपी चित्र प्रतिबिम्बित होता है उस चित्र के बीचनेहारी जो त्रिपुटी प्रसिद्ध है (४६०)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

—जिसे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं, जो तीन वस्तुएँ संसार की बीजभूत हैं, वही [त्रिपुटी] निःसन्देह कर्म की प्रवृत्ति है। (६१) अब हे धनञ्जय! इन तीनों विषयों का जुदा-जुदा वर्णन करते हैं, सुनो। (६२) जीवरूपी सूर्यबिम्ब की किरणें जो श्रोत्र इत्यादि पाँच इन्द्रियाँ हैं उनके कारण जब विषय रूपी कमल की कली खिलती है (६३) अथवा जीवरूपी राजा के सुखी पीठ के घोड़े जब इन्द्रिय-रूपी दौड़ लगा कर विषय-रूपी देश को लूट लाते हैं (६४) तब जो इन इन्द्रियों में व्यापार करता है, जो जीव को सुख या दुःख का लाभ करा देता है, वह ज्ञान घोर निद्रा के समय जहाँ विलीन हो जाता है (६५) उस जीव को ज्ञाता कहते हैं। और हे पाण्डुसुत! अभी प्रथम जिसका वर्णन किया वह ज्ञान है (६६) और हे किरीटी! वह अविद्या के गर्भ से उत्पन्न होते ही निज को त्रिधा भिन्न कर लेता है (६७) तथा अपनी दौड़ के सम्मुख ज्ञेयरूपी निशान खड़ा कर पीछे की ओर ज्ञाता को खड़ा करता है, (६८) एवं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के बीच में रहने के कारण जो इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ता है, (६९) ज्ञेय की सीमा का उल्लङ्घन करते ही जिसकी दौड़ बन्द हो जाती है, और जो सम्पूर्ण पदार्थों के नाम रखता है (४७०) वह सामान्य

फिर वह उस ज्ञेय के त्याग या स्वीकार की चेष्टा करता है। (८९) उस समय, दूसरे मस्त को देखते ही जिसको की मस्तकयुद्ध करने को चाहता है वह चाहे सब सेना का सेनापति भले ही हो तथापि जैसे रथ का त्याग कर पैदल हो जाता है (४९०) वैसे ही जो ज्ञाता है वही कर्ता के रूप में प्रकट होता है। जैसे कोई भोजन करनेहारा भोज्य राँधने बैठे (९१) अथवा भ्रमर ही बगीचा लगावे, कसौटी ही कस लगानेवाला बन जावे अथवा देव ही मन्दिर बनाने के काम में प्रवृत्त हो, (९२) वैसे ही ज्ञेय की अभिलाषा से ज्ञाता इन्द्रियों के समुदाय से व्यापार कराता है और उससे वह, हे पाण्डव! कर्ता बन जाता है। (९३) और खुद कर्ता होने के कारण ज्ञान को करणता प्राप्त कराता है, इसलिए ज्ञेय भी स्वभावतः कार्य हो जाता है। (९४) इस प्रकार हे सुमति! ज्ञान की निजकी गति बदल जाती है, और रात को जैसे नेत्रों की शोभा बदल जाती है, (९५) अथवा प्रारब्ध प्रतिकूल हो जाने से जैसे श्रीमान् के विलासों में अन्तर पड़ता है, पूर्णमासी के अनन्तर जैसे चन्द्रमा बदल जाता है (९६) वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार द्वारा ज्ञाता कर्तृत्व से वेष्टित हो जाता है। वह दशा क्योंकर होती है उसका अब हम वर्णन करते हैं सुनो। (९७) बुद्धि, चित्त मन और अहङ्कार ये चतुर्विध अन्तःकरण अथवा आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं। (९८) और त्वचा श्रवण, नेत्र जिह्वा और नाक ये पाँच प्रकार की बाह्य इन्द्रियाँ हैं। (९९) अब आन्तरिक इन्द्रियों के द्वारा कर्ता जब कर्तव्य का निश्चय करता है तब यदि उसे सुख होता-सा मालूम हो (५००) तो वह बाह्य चक्षु इत्यादि दसों इन्द्रियों को जागृत कर व्यापार में प्रवृत्त करता है, (१) और जब तक कर्तव्य का लाभ हाथ नहीं आता तब तब उस इन्द्रियसमूह को उस व्यापार में ही लगाये रखता है, (२) अथवा यदि उसे मालूम हो कि इस कर्तव्य का फल दुःखद होगा तो वह उन दसों इन्द्रियों को उसके त्याग करने में प्रवृत्त करता है (३) और जब तक दुःख निर्मूल नहीं होता तब तक रात और दिन उन्हें श्रम में लगाये रखता है। जैसे कर-रहित नृप लिपट की वायु हो उतार पड़ता है (४) वैसे ही जब इन्द्रियों की प्रवृत्ति ज्ञाता के त्याग या स्वीकार के अनुसार होती है तब उस ज्ञाता को कर्ता कहते हैं। (५) और कर्ता के सब कर्मों में इन्द्रियाँ इस तरह काम देती हैं जैसे कि रानी में हल-बखर काम आते हैं, इसलिए हम उन्हें [इन्द्रियों को]

करण कहते हैं। (६) और इन्हीं कारणों के द्वारा कर्ता जो क्रिया करता है, उससे जो व्याप्त रहता है उसे यहाँ कर्म कहा गया है। (७) सुनार की बुद्धि से व्याप्त जैसा अलङ्कार, चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त जैसी चन्द्रिका, अथवा सुन्दरता से व्याप्त जैसी बेल, (८) अथवा प्रभा से व्याप्त जैसा प्रकाश, मधुरता से व्याप्त जैसा ईख का रस, अथवा अवकाश से व्याप्त जैसा आकाश, (६) वैसा ही है धनञ्जय! जो कर्ता की क्रिया से व्याप्त है उसे कर्म कहना अन्यथा नहीं है। (५१०) इस प्रकार हे ज्ञानियों के शिरोमणि! हम कर्ता, कर्म और करण तीनों के लक्षण कह चुके। (११) जैसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों से कर्म प्रवृत्ति होती है वैसे ही कर्ता, करण और कार्य कर्म का साहित्य है। (१२) अग्नि में जैसे धूम समाया रहता है, बीज में जैसे वृक्ष समाया रहता है, अथवा मन में जैसे मनोरथ सदा मौजूद रहता है (१३) वैसे ही कर्ता क्रिया और करण यही कर्म का जीवन है, जैसे कि सोने की खानि ही सोने की उत्पत्ति-स्थान है। (१४) हे पाण्डु सुत! तात्पर्य यह है कि जहाँ इस प्रकार प्रवृत्ति होती है कि यह कार्य है और मैं कर्ता हूँ वहाँ आत्मा सम्पूर्ण क्रियाओं से दूर रहता है। (१५) इसलिए हे सुमति! मैं बारम्बार कहता हूँ कि आत्मा कर्मों से भिन्न ही है। अस्तु, अब यह तुम कहाँ तक सुनोगे। (१६)

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१८॥

परन्तु जिन ज्ञान, कर्म और कर्ता का हमने वर्णन किया वे तीनों तीन गुणों के कारण भिन्न भिन्न हैं। (१७) इसलिए हे धनञ्जय! ज्ञान, कर्म या कर्ता का विश्वास न करना चाहिए क्योंकि तीन गुणों में से दो गुण बन्धकारक होते हैं और मुक्ति के लिए केवल एक ही समर्थ है। (१८) वह एक सात्त्विक गुण ज्ञात हो, इसलिए हम इन गुणों का निरूपण जैसा सांख्यशास्त्र में किया गया है वैसा, करते हैं। (१६) जो विचाररूपी क्षीरसागर है, आत्मज्ञानरूपी कुमुदिनी का चन्द्रमा है, जो ज्ञानरूपी नेत्रवान् शास्त्रों का राजा है (५२०) अथवा जो प्रकृति-पुरुषरूपी मिश्रित रात्रि और दिन को अलग करनेहारा त्रिभुवन का सूर्य है (२१) जिसमें इस अपरिमित माङ्-राशि को चौबीस तत्त्वों के माप से माप कर परतत्त्व का सुख वर्णन

किया है, (२२) वह सांख्यशास्त्र, हे अर्जुन! जिसका स्तुति-पाठ करता है उन गुणों की कथा ऐसी है (२३) कि उन्होंने अपने निज बल से और अपनी त्रिविधता के मिष से जितना दृश्यमात्र है सब आच्छादित कर डाला है, (२४) एवं सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की इतनी महिमा है कि यह त्रिविधता सृष्टि में सबसे आदि जो ब्रह्मा उनमें तथा सबसे अन्तिम जो कृमि उसमें भी है। (२५) अब सम्प्रति जिसके मिलने से यह सृष्टि-समुदाय गुणभेद में पड़ा हुआ है उस ज्ञान का कथन प्रथम करते हैं। (२६) क्योंकि यदि दृष्टि स्वच्छ हो तो चाहे जो वस्तु स्वच्छ दिखाई दे सकती है वैसे ही शुद्ध ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं का शुद्धस्वरूप मालूम हो सकता है। (२७) अतः कैवल्य-गुणनिधान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अब हम सात्त्विक ज्ञान का लक्षण कहते हैं, सुनो। (२८)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

हे अर्जुन! शुद्ध सात्त्विक ज्ञान असल में वह है जिसका उदय होते ही ज्ञेय वस्तु ज्ञाता-सहित विलीन हो जावे। (२९) जैसे सूर्य कभी अन्धकार नहीं देखता, समुद्र कभी यह नहीं जानता कि नदी कैसी होती है, अथवा जैसे कभी अपनी छाया को आलिङ्गन नहीं किया जा सकता (५३०) वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा शिव से लेकर तृण पर्यन्त सम्पूर्ण भूत-व्यक्तियाँ भिन्न नहीं दिखाई देतीं, (३१) अथवा जैसे लिखे हुए चित्र पर हाथ फेरने पर, अथवा को जल से धोने पर, अथवा स्वप्न से जागृत होने पर जैसी स्थिति होती है (३२) वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को देखते ही न ज्ञाता, न ज्ञान, न ज्ञेय शेष रहता है, (३३) जैसे अलङ्कार को गला कर सोना नहीं अलगाया जा सकता, अथवा पानी छान कर तरङ्ग अलग नहीं की जा सकती (३४) वैसे ही जिस ज्ञान से कोई दृश्य वस्तु भिन्न दिखाई नहीं देती वही ज्ञान वास्तव में सात्त्विक ज्ञान है। (३५) कुतूहल से दर्पण देखने जाइए तो देखनेहारा ही सम्मुख आ खड़ा होता है, वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय ज्ञाता का ही पलट कर आया हुआ स्वरूप जान पड़ता है (३६) वही, मैं फिर कहता हूँ, सात्त्विक ज्ञान है जो मानों मोक्ष-लक्ष्मी का मन्दिर है। अस्तु, अब राजस ज्ञान का लक्षण सुनो। (३७)

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

हे पार्थ ! सुनो, भेद का आश्रय कर जो ज्ञान प्रकट होता है वह राजस है। (३८) भूतमात्र में भिन्नता से व्याप्त हो जिस ज्ञान ने उसे विचित्रता प्राप्त करा दी है और उससे ज्ञाता को जिसने अत्यन्त भ्रम में डाल दिया है, (३९) जैसे निद्रा सत्यस्वरूप पर विस्मृतिरूपी परदा डाल कर जीव को स्वप्नरूपी कष्ट का अनुभव कराती है (४४०) वैसे ही आत्मज्ञान के मन्दिर के बाहर—मिथ्या मोह के बगुल के भीतर—जो ज्ञान जीव को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का खेल दिखाता है, (४१) अलङ्कारत्व से ढका हुआ सोना जैसे बालकों को प्रतीत नहीं होता वैसे ही जिस ज्ञान से नाम और रूप का ही ज्ञान होता और अद्वैत दूर रह जाता है, (४२) मूर्ख लोग जैसे घड़ों या मटकों के रूपवाली पृथ्वी को नहीं पहचान सकते, दीपक का रूप लेने से जैसे अग्नि अपरिचित हो जाता है, (४३) अथवा वस्त्र का आरोपण होने के कारण मूर्ख मनुष्य यह नहीं पहचानता कि यह तन्तु का ही रूप है, अथवा चित्र देख कर जैसे अज्ञानी मनुष्य को पट की विस्मृति होती है (४४) वैसे ही जिस ज्ञान के कारण भूत-व्यक्तियों को भिन्न देख कर एकता-ज्ञान की भावना नष्ट हो जाती है, (४५) और ईंधन भिन्न होने से जैसे अग्नि भिन्न जान पड़ती है, फूल जुदे-जुदे होने से जैसे सुगन्ध भिन्न जान पड़ती है, अथवा जुदे-जुदे जलाशय होने से जैसे चन्द्रमा, एक होने पर भी, भिन्न दिखाई देता है, (४६) वैसे ही पदार्थों में अनेक भेद देख कर जो सर्वत्र छोटा-बड़ा इत्यादि भेद से भरा हुआ है उसे राजस ज्ञान कहते हैं। (४७) अब तामस ज्ञान का वर्णन करते हैं। उसे भी भली भाँति पहचान लो जैसे कि डोम के घर से बचने के हेतु उसे पहचान रखते हैं। (४८)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

हे किरीटी ! जो ज्ञान, विधिरूपी वस्त्र से विहीन हो, संचार करता है उसके नग्न होने के कारण श्रुति उसकी ओर पीठ फेर लेती है, (४९) तथा जिस ज्ञान को दूसरे शास्त्र भी बाह्य समझ कर अपवित्र ठहराते और निन्दा कर म्लेच्छ-धर्म रूपी पर्वत की ओर

हाँक देते हैं, (५५०) जो ज्ञान ऐसा है कि तमोगुणरूपी नक्र उसका मद्य करते ही भ्रमिष्ट हो घूमता है, (५१) जो ज्ञान किसी सम्बन्ध की बाधा नहीं समझता किसी पदार्थ को निषिद्ध नहीं समझता, जैसे ओस पड़े हुए किसी गाँव में छूटा हुआ कुत्ता (५२) जो वस्तु मुँह में समा नहीं सकती अथवा जिसके खाने से मुँह जलता है उसी को छोड़ता है, बाकी सब कुछ खाता है (५३) सोने की चीज चुरा ले जाते हुए जैसे चूहा भला बुरा नहीं देखता, अथवा मांस खानेहारा जैसे यह नहीं देखता कि यह मांस काले जानवर का है या गोरे का, (५४) अथवा जङ्गल में लगी हुई आग जैसे कोई विचार नहीं करती अथवा मक्खी जैसे जीता या मरा हुआ जीव न देख कर हर कहीं बैठती है, (५५) कौए को जैसे यह विवेक नहीं है कि यह उगला हुआ अन्न है या परोसा हुआ, अथवा यह ताजा अन्न है या सड़ा हुआ, (५६) वैसे ही जो ज्ञान विषयों में व्यापार करता हुआ यह नहीं जानता कि निषिद्ध आचरण छोड़ देना चाहिए अथवा विहित आचरण करना चाहिए, (५७) जो कुछ उसकी दृष्टि के सन्मुख आता है उस सब विषय का जो सेवन करता है, स्त्री-विषय शिश्न को और द्रव्य-विषय उदर को बाँट देता है, (५८) जिससे तृषा शान्त हो उसी को जो सुखकारक जल समझता है, इसके सिवा जो जल के विषय में पवित्र या अपवित्र ये नाम भी नहीं जानता (५९) उसी प्रकार जो यह भी नहीं कहता कि यह खाने योग्य है, यह खाने योग्य नहीं है, अथवा यह निन्द्य है, यह अनिन्द्य है, जो समझता है कि जो मुँह को भावे वही पवित्र है, (५६०) और जितनी स्त्री-जाति है उतनी को केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही पहचानता है, उसकी मित्रता करने के लिए जो सदा अभिलाषी रहता है, (६१) जिस काम से अपना उपकार करनेहारा ही मित्र समझा जाता है, तथा जिससे देह-सम्बन्ध का अन्त नहीं होता, (६२) जैसे मृत्यु का सभी कुछ खाद्य है, और अग्नि के लिए सभी ईंधन है वैसे ही जो सारे जगत् को ही अपना धन समझता है वह तामस ज्ञान है। (६३) इस प्रकार जो सम्पूर्ण विश्व को विषय ही समझता है उसे देहपोषण ही एक हेतु रहता है। (६४) आकाश से गिरे हुए जल का एक आश्रय जैसे समुद्र ही होता है वैसे ही यह सब कर्म केवल एक उदर के ही हेतु समझता है। (६५) इसके अतिरिक्त कोई स्वर्ग या नरक है

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

हे पार्थ! सुनो, भेद का आश्रय कर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह राजस है। (३८) भूतमात्र में भिन्नत्व से व्याप्त हो जिस ज्ञान ने उसे विचित्रता प्राप्त करा दी है और उससे ज्ञाता को जिसने अत्यन्त भ्रम में डाल दिया है, (३९) जैसे निद्रा सत्यस्वरूप पर विस्मृतिरूपी परदा डाल कर जीव को स्वप्नरूपी कष्ट का अनुभव कराती है (४०) वैसे ही आत्मज्ञान के मन्दिर के बाहर—मिथ्या मोह के मण्डप के भीतर—जो ज्ञान जीव को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का खेल दिखाता है, (४१) अलङ्कारत्व से ढका हुआ सोना जैसे बालकों को प्रतीत नहीं होता वैसे ही जिस ज्ञान से नाम और रूप का ही ज्ञान होता और अद्वैत दूर रह जाता है, (४२) मूर्ख लोग जैसे घड़ों या मटकों के रूपवाली पृथ्वी को नहीं पहचान सकते, दीपक का रूप लेने से जैसे अग्नि अपरिचित हो जाता है, (४३) अथवा वस्त्रता का आरोपण होने के कारण मूर्ख मनुष्य यह नहीं पहचानता कि यह तन्तु का ही रूप है, अथवा चित्र देख कर जैसे अज्ञानी मनुष्य को पट की विस्मृति होती है (४४) वैसे ही जिस ज्ञान के कारण भूत-व्यक्तियों को भिन्न देख कर एकता-ज्ञान की भावना नष्ट हो जाती है, (४५) और ईंधन भिन्न होने से जैसे अग्नि भिन्न जान पड़ती है, फूल जुदे-जुदे होने से जैसे सुगन्ध भिन्न जान पड़ती है, अथवा जुदे-जुदे जलाशय होने से जैसे चन्द्रमा, पूर्ण होने पर भी, भिन्न दिखाई देता है, (४६) वैसे ही पदार्थों में अनेक भेद देख कर जो सर्वत्र छोटा-बड़ा इत्यादि भेद से भरा हुआ है उसे राजस ज्ञान कहते हैं। (४७) अब तामस ज्ञान का लक्षण कहते हैं। उसे भी भली भाँति पहचान लो जैसे कि डोम के घर से बचने के हेतु उसे पहचान रखते हैं। (४८)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

हे किरीटी! जो ज्ञान, विधिरूपी वस्त्र से विहीन हो, संचार करता है उसके नग्न होने के कारण श्रुति उसकी ओर पीठ फेर लेती है, (४९) तथा जिस ज्ञान को दूसरे शास्त्र भी बाह्य समझ कर अपवित्र ठहराते और निन्दा कर म्लेच्छ-धर्म रूपी पर्वत की ओर

अथवा प्रवृत्ति या निवृत्ति उसका हेतु है इत्यादि ज्ञान की उसे रात्रि ही रहती है। (६६) जो ज्ञान इस छोटे से देह को ही आत्मा कहता है और पत्थर की मूर्ति को ईश्वर समझता है, इसके परे जिसकी बुद्धि ही प्रवृत्त नहीं होती, (६७) जो समझता है कि शरीर-पात होते ही कर्म-सहित आत्मा का नाश हो जाता है फिर भोगनेवाला किस स्वरूप से शेष रह सकता है? (६८) अथवा ईश्वर देखता है, वह फलभोग करवाता है ऐसा कहिए, तो जो देव की मूर्ति ही बेच खाता है, (६९) नगर के मन्दिरों के देवता कर्म-फल देते हैं कहिए तो जो उत्तर देता है कि फिर दूर दिखाई देनेवाले पर्वत क्यों चुप रहते हैं? (५७०) इस प्रकार जो कदाचित् देवता को माने तो उसे पत्थर की मूर्ति ही समझता है तथा देह को ही आत्मा समझता है, (७१) और जो पाप, पुण्य इत्यादि हैं उन सबको जो मिथ्या कहता और अग्नि-मुख के समान चाहे जिस वस्तु का उपभोग लेना ही जो भला समझता है, (७२) जिसकी यही सत्य प्रतीति है कि चर्म-चक्षु जो वस्तु दिखावें, इन्द्रियाँ जिसका चसका लगा दें वही उत्तम है, (७३) बहुत क्या कहें हे पार्थ! जैसे धूम की रेख वृथा ही आकाश में ऊँची उठती है वैसे ही जिसकी स्थिति बढ़ती हुई दिखाई दे, (७४) एरंड नाम का वृक्ष [जो न गीला न सूखा उपयोगी होता है] जैसे बढ़ा हुआ हो तथापि टूटे के ही समान है, (७५) अथवा ईख के भुट्टे अथवा नपुंसक मनुष्य या निष्फल [सेमर?] का लगा हुआ वन, (७६) अथवा बालक के मनोरथ या चोरों के घर का धन या बकरी के गले के स्तन (७७) की तरह जो ज्ञान निष्फल और बुरा दिखाई देता है उसे मैं तामस ज्ञान कहता हूँ। (७८) उसे ज्ञान नाम देना ऐसा ही है जैसे जन्मान्ध के लिए यह कहना कि इसकी आँखें बड़ी हैं, (७९) अथवा बहिरे के विषय में कहना कि इसके कान बड़े तीक्ष्ण हैं, अथवा जो पीने-योग्य नहीं है उसे पेय वस्तु कहना, वैसे ही इस तामस ज्ञान को 'ज्ञान' नाम झूठमूठ दिया गया है। (५८०) अस्तु कहाँ तक वर्णन करें। तात्पर्य यह कि ऐसा जो ज्ञान देखो उसे ज्ञान नहीं प्रत्यक्ष अन्धकार जानो। (८१) हे श्रोताओं के शिरोमणि! तीनों गुणों से भिन्न ज्ञान के जो लक्षण हैं वे हम तुम्हें बतला चुके। (८२) अब हे धनुर्धर! इन्हीं तीन प्रकार से कर्ता की क्रियायें भी ज्ञान के प्रकाश से गोचर होती हैं। (८३) इसलिए जैसे बहते हुए जल के विभाग हो

जायें वैसे ही कर्म के भी तीन विभाग हो जाते हैं। (८४) उस ज्ञानत्रय के कारण त्रिधा हुए कर्म के विभागों में से सात्त्विक कर्म ऐसा है, सुनो। (८५)

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जैसे पतिव्रता अपने प्रियपति को आलिङ्गन देती है वैसे ही जो कर्म अपने अधिकारानुसार किया जाता है और मान्य होता है, (८६) साँवले शरीर पर जैसे चन्दन अथवा स्त्रियों के नेत्र में जैसे काजल शोभता है, वैसे ही जो कर्म सदा अधिकार को शोभा देनेहारा होता है (८७) वह नित्य कर्म उत्तम कहा है; और नैमित्तिक कर्म उसका सहभागी हो तो मानों सोने में सुगन्ध ही प्राप्त हो जाती है। (८८) माता जैसे तन-मन खर्च कर के बालक की रक्षा करती है तथापि उससे थकना कभी नहीं जानती (८९) वैसे ही अपना सर्वस्व समझ कर जो कर्म करता है, परन्तु उस कर्म का फल दृष्टि के सम्मुख नहीं रखता, सम्पूर्ण क्रिया ब्रह्म में ही समर्पित करता है (५९०) और जैसे प्रियजन भोजन को आवें तो कोई यह नहीं सोचता कि यह पदार्थ मेरे लिए बचेगा या नहीं, वैसे ही यदि सत्कर्म रह जाय (९१) तो जो कर्म के न होने से मन में दुःखी नहीं होता तथा कर्म बन पड़े तो उस आनन्द से वह फूलना भी नहीं जानता, (९२) ऐसी ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करता है उसके उस कर्म का हे धनञ्जय! सात्त्विक-सरीखा सत्त्वगुण-सम्बन्धी नाम दिया गया है। (९३) अब हम राजस कर्म के लक्षण वर्णन करते हैं, अवधान न्यून मत होने दो। (९४)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

मूर्ख जैसे घर में माता पिता से अच्छी तरह नहीं बोलता पर बाहर सब संसार का आदर करता है, (९५) अथवा तुलसी के पेड़ में दूर से एक छींटा भी नहीं डालता पर द्राक्षा की जड़ में दूध देता है, (९६) वैसे ही जो नित्य-नैमित्तिक आवश्यक कर्म हैं उनके नाम से बैठक छोड़ उठ नहीं सकता (९७) पर दूसरे काम्य कर्मों के लिए जो अपना [illegible] नहीं समझता, (९८)

प

स्वामी! जहाँ थोड़ा मूल्य आता है वहाँ बिक्री करने से जैसे कोई नहीं अघाता, बीज बोते हुए जैसे कोई नहीं थकता (९९) अथवा पारस हाथ लगे तो साधक जैसे थोड़ा मोल लेने के लिए सब सम्पत्ति खर्च कर देता है और उन्नति प्राप्त करता है, (१००) वैसे ही अगले फल देख कर कठिन-कठिन काम्य-कर्म करता हुआ जो उन्हें थोड़ा ही समझता है, (१) वह फलेच्छा करनेवाला जितनी काम्य क्रियाएँ यथाविधि और भली भाँति करता है उसकी सब क्रियाएँ राजस कर्म हैं। (२) और कर्म कर जो उसके साथ उस कर्म की ढोंडी पीटता है और अपने अधिकार के बायन बाँटता फिरता है (३) इस प्रकार जो कर्माभिमान से फूलता है और, अपस्मार जैसे औषधि को नहीं मानता वैसे ही, जो पिता या गुरु को भी नहीं मानता (४) ऐसे अहङ्कार से जो फल की इच्छा करनेवाला मनुष्य आदर के साथ जो-जो क्रिया करे वह राजस कर्म है; (५) एवं वह क्रिया भी जो प्रायः कष्ट के साथ करता है, बाजीगर लोग जैसे पेट भरने के लिए कष्ट करते हैं (६) अथवा चूहा जैसे एक कण के लिए सम्पूर्ण पहाड़ में छेद कर डालता है, या दादुर जैसे सेवार खोजने के लिए सम्पूर्ण समुद्र को गँदला कर डालता है (७) या सँपेरा जैसे भीख के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं करता तथापि साँप लिये फिरता है, वैसे ही क्या किया जाय जिसे कष्ट करना ही भाता है, (८) अथवा एक परमाणु के लाभ के लिए दीमक जैसे पाताल नाँघ जाती है वैसे ही जो स्वर्ग-सुख के लोभ से जो कुछ श्रम करता है (९) उस सक्लेश और सकाम कर्म को राजस कर्म समझना चाहिए। अब तामस कर्म के लक्षण सुनो। (९१)

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

तामस कर्म उसे कहते हैं जो निन्दा का काला या पापी घर है तथा जिससे निषेध का जन्म सार्थक हुआ है। (११) पानी पर लकीर खींचने से जैसे वह दिखाई नहीं देती वैसे ही जिस कर्म के उत्पन्न होने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता (१२) अथवा जैसे काँजी मथने से या राख फूँकने से अथवा कोल्हू में रेती पेरने से कुछ भी हाथ नहीं आता, (१३) अथवा जैसे भूसा फटकना या आकाश छेदना

या वायु को फूँकना (१४) इत्यादि सब चेष्टाएँ निष्फल हो नष्ट हो जाती हैं वैसे ही जो कर्म किया हुआ निष्फल होता है, (१५) परन्तु जिस कर्म के करने में नरदेह जैसा द्रव्य खर्च होता है तथा संसार सुख का नाश हो जाता है; (१६) जैसे कमलवन में कँटीली जाली फेंक कमल तोड़ने की चेष्टा करने से निज को क्लेश होता तथा कमलों का नाश होता है, (१७) अथवा पतङ्ग जैसे दीपक के द्वेष से स्वयं जलता है और दीपक को बुझाकर दूसरों के लिए अँधेरा कर देता है, (१८) वैसे ही सम्पूर्ण धन चला जाय और चाहे शरीर का भी नाश हो जाय तथापि जो कर्म दूसरों का अपाय ही करता है, (१९) जैसे कोई मक्खी निगल ले तो वह अपने शरीर का नाश करती तथा निगलनेहारे को वमन कराने का क्लेश पहुँचाती है वैसे ही जो कर्म दोषी होता है, (९२०) तथा जो कर्म यह विचार न करके किया जाता है कि मुझमें कर्म करने की सामर्थ्य है या नहीं; (२१) मेरा प्रयत्न कितना है, इसे करते हुए क्या मोल ध्यान पड़ेगा और करने पर भी क्या प्राप्ति होगी (२२) इत्यादि विचार को अविवेक के कारण, मिटा कर अभिमान से जो कर्म किया जाता है, (२३) जैसे आग जब अपने रहने का स्थान जला कर आसपास फैलती है अथवा समुद्र जब अपनी मर्यादा छोड़ फैल जाता है (२४) तब जैसे ये दोनों थोड़ा या बहुत नहीं विचारते, आगे पीछे नहीं देखते मार्ग या अमार्ग एकत्र करते चलते हैं, (२५) वैसे ही जो कर्म कर्तव्य या अकर्तव्य को एकसा ही रगड़ता चलता है, स्वधर्म या परधर्म कुछ भी श्रेष्ठ नहीं रहने देता वह निश्चय से तामस कर्म है। (२६) इस प्रकार हे अर्जुन ! हम तीनों गुणों के अनुसार विभिन्न हुए कर्म का विवेचन उत्पत्ति-सहित कर चुके। (२७) अब ऐसा कर्म करने से कर्माभिमानी कर्ता जो जीव है उसे भी त्रिविधता प्राप्त हुई है। (२८) जैसे एक ही पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रमों के कारण चार तरह का जान पड़ता है वैसे ही कर्म भेद से कर्ता को सात्त्विक, राजस और तामस-रूपी त्रिविधता प्राप्त हुई है। (२९) परन्तु इन तीनों में से सम्प्रति हम सात्त्विक का वर्णन करते हैं। उसे ध्यान देकर सुनो (९३०)

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जैसे मलय पर्वत के चन्दन वृक्षों की शाखायें फल की इच्छा छोड़कर सीधी बढ़ती रहती हैं, (३१) अथवा नागवेल* में फल न लगने पर भी वह जैसी उपयोगी होती है, वैसे ही जो नित्य नैमित्तिक इत्यादि हितकारी क्रियायें करता है, (३२) उसकी फलशून्यता का अर्थ विफलता न करना चाहिए। क्योंकि हे पाण्डुसुत! जो फल ही है उसमें और फल क्या लगेंगे? (३३) और जो आतुरसहित अनेक क्रियायें करता है परन्तु वर्षाऋतु के मेघसमूह के समान वह अभिमान नहीं रखता कि मैं कर्ता हूँ (३४) वैसे ही परमात्मस्वरूप को समर्पण करने के योग्य कर्म उत्पन्न हो, इसलिए (३५) जो काल का उल्लंघन नहीं करता देशशुद्ध भी प्राप्त करता है, तथा शास्त्रों के प्रकाश से कर्मों का निर्णय करता है, (३६) इन्द्रियों और मनोवृत्तियों की एकता कर जो चित्त को फल की ओर जाने नहीं देता तथा उसे नियमों की साँकल से बाँधे रखता है, (३७) और जो सदा यह चिन्ता करता रहता है कि उक्त प्रतिबन्ध साधने के लिए उत्तम धैर्य प्राप्त हो (३८) और आत्मप्राप्ति की इच्छा से जो आये हुए कर्म करता है पर देहसुख की परवाह नहीं रखता (३९) इस प्रकार ज्यों-ज्यों नींद दूर होती है ज्यों-ज्यों भूख का स्मरण नहीं होता ज्यों-ज्यों शरीर को सुख नहीं मिलता (६४०) त्यों-त्यों—जैसे सोने को आग में रखने से वह तौल में कम होता पर कस में उत्तम होता जाता है वैसे ही—वह अधिक-अधिक उत्साहित होता जाता है; (४१) यदि सच्चा प्रेम हो तो जीवन भी तुच्छरूप मालूम होता है, अग्नि में कूदती हुई सती के शरीर पर क्या रोमाञ्च हुए दिखाई देते हैं! (४२) फिर हे धनञ्जय! जो आत्मा जैसे प्रिय धन का प्रेमी है उसे क्या देह-कष्ट होने से दुःख होगा? (४३) इसलिए ज्यों-ज्यों विषय-प्रेम टूटता है, ज्यों-ज्यों देह-बुद्धि मिटती जाती है त्यों-त्यों जिसे कर्म करने का आनन्द दुगुना होता जाता है, (४४) इस प्रकार जो कर्म करता है, गाड़ी अगर पहाड़ से गिर कर टूट जाय तो भी गाड़ी को जैसे उसका दुःख नहीं होता वैसे ही कर्म बन्द हो जाने से जिसे दुःख नहीं होता (४५-४६) अथवा आरम्भ कर्म पूर्ण सिद्ध हुआ तो भी जो उसकी बड़ाई नहीं मारता (४७) जो ऐसे लक्षणों-सहित कर्म करता हुआ दिखाई देता है उसे तत्त्वतः सात्त्विक कर्ता कहते हैं। (४८)

---

* पान की बेल।

अब हे धनञ्जय ! राजस कर्ता की पहचान यह है कि वह संसार की अभिलाषा का आश्रयस्थान होता है। (४९)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जैसे गाँव के कूड़े-कचरे के लिए घूरा ही एक स्थान है, अथवा सम्पूर्ण अमङ्गलों को श्मशान में आश्रय मिलता है, (१५०) वैसे ही जो सम्पूर्ण संसार के मनोरथों के पाँवों के धोये हुए दोषों का घर बन रहा है, (५१) इसलिए जिस कर्म से सहज फल-प्राप्ति होती दिखाई दे उसका जो प्रथम उपक्रम करता है, (५२) और प्राप्त किये हुए धन में से एक कौड़ी खर्च नहीं करता, प्राण-त्याग में उस पर से अपने जी को भी निछावर करता है, (५३) जैसे कृपण अपना अन्तःकरण अपने धन की ओर रखता है, जैसे बगला मछली का ध्यान धरता है वैसे ही जो दूसरे के धन के विषय सावधान रहता है, (५४) बेर की झाड़ी जैसे पास जाने से, मनुष्य को उलझा लेती और स्पर्श करने से शरीर को छेदती है और उसके फल भी भीतर से पोले होते हैं (५५) वैसे ही जो मन से, वाणी से और शरीर से हर किसी को दुःख ही देता रहता है तथा स्वार्थ प्राप्ति करता हुआ दूसरों का हित नहीं विचारता, (५६) तथा जो शरीर से धर्मारूपी कर्म नहीं कर सकता और जिसके मन से भी मलिनता नहीं छूटती, (५७) धतूरे के फल में जैसे बाहर काँटे और भीतर नशा भरा रहता है वैसे ही जो अन्तर्बाह्य शुचिता के विषय में दुखिया हो रहा है, (५८) और हे धनञ्जय ! कर्म करने पर यदि फल प्राप्त हो तो जो हर्ष से संसार को चिढ़ाने लगता है, (५९) अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कर्म निष्फल हो जाय तो दुःख से व्याकुल हो उसका धिक्कार करने लगता है, (१६०) इस प्रकार जिसका कर्म का व्यवहार देखो वही निश्चय से राजस कर्ता है। (६१) अब इसके उपरान्त जो कुकर्मों का घर तामस कर्ता है उसका भी बयान करते हैं। (६२)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अग्नि जैसे यह नहीं जानती कि मेरे लगने पर पदार्थ कैसे जलता है (६३) तथा जैसे यह नहीं जानता कि मेरी तीक्ष्णता के कारण

मृत्यु कैसे हो जाती है, अथवा जैसे कालकूट विष अपना फल स्वयं नहीं खाता, (६४) वैसे ही हे धनञ्जय! जो दूसरों का तथा अपना भी घात करता हुआ बुरे कर्मों का आचरण करता है (६५) पर उस आचरण के समय जो यह नहीं सोच सकता कि मैं क्या कर रहा हूँ और आँधी की वायु के समान कर्म में प्रवृत्त होता है, (६६) वास्तव में हे धनञ्जय! कर्तव्य के साथ जिसका कुछ मेल नहीं मिलता जिसके सम्मुख पागल का भी कुछ ठिकाना नहीं लगता, (६७) और बैलों को लगी हुई किलनी के समान जो इन्द्रियों के सम्मुख डाला हुआ चारा चर कर अपना जीवन रखता है, (६८) बालक जैसे बिना अवसर के हँसने या रोने लगता है वैसे ही जो स्वच्छन्द व्यवहार करता है (६९) प्रकृति के अधीन होने के कारण जो कर्तव्य या अकर्तव्य कर्मों की रुचि नहीं रखता तथापि कूरे के घूरे की तरह जो तृप्त हो फूलता है, (७०) अतः सम्माननीयता के वश से युक्त हो जो ईश्वर के सम्मुख भी सिर नहीं झुकाता और स्तब्धता के विषय में पर्वत को भी कुछ नहीं समझता (७१) और जिसका मन कपटी, आचरण उचक्केपन का और दृष्टि मूर्तिमती हिंसा की ही होती है (७२) बहुत क्या जिसका मानों शरीर ही कपट का बना हुआ होता है जिसका जीता रहना जुआरी के खेल का स्थान है, (७३) उस मनुष्य का वह जन्म नहीं, केवल लुटेरे भीलों का गाँव है इसलिए वहाँ किसी को आवागमन न करना चाहिए। (७४) तथा दूसरों का भला करने से जिसे बैर है, जैसे लवण दूध में मिलते ही उसे अपेय बना देता है (७५) अथवा कोई ठण्डा पदार्थ अग्नि में डाला जाय तो अग्नि तत्काल भड़क कर प्रज्वलित हो जाती है (७६) अथवा हे किरीटी! उत्तम-उत्तम पदार्थ पेट में प्रविष्ट होने पर जैसे मलरूप हो जाते हैं (७७) वैसे ही दूसरे का हित जिसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर पूर्णतः अहित ही ... लगता है (७८) जो गुण जनों पर दोष ही देता है और ... लगाये गये ... जो तरह जो अमृत को भी विष ... हो कि इस लोक में क्या ... जाना चाहिए (८०) ... था ... कुकर्म के समय ... दूर रहती है (८१)

आमों में रस भरता है तब कोओं का मुँह सड़ जाता है, अथवा दिन के समय जैसे घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं, (८२) वैसे ही जब कल्याण का समय होता है तब जिसे आलस्य घेर लेता है परन्तु कुकर्म के समय वही आलस्य जिसकी आज्ञा में रहता है, (८३) समुद्र के पेट में जैसे बड़वाग्नि अँगीठी जल रही है वैसे ही जो अन्तःकरण में खेद बनाये रखता है, (८४) कण्डियों की आग में जैसे धुआँ अवश्य होता है, अपानद्वार से निकली हुई वायु जैसे अवश्य ही दुर्गन्ध से युक्त रहती है, वैसे ही जो अमर विषाद से युक्त रहता है (८५) और हे वीर! जो कल्पान्त के अनन्तर के लाभ की अभिलाषा से युक्त हो व्यापार में प्रवृत्त होता है, (८६) हृदय में चिन्ता तो संसार से भी परे की रखता है पर कर्तृत्व देखो तो जिसे तृण का भी लाभ नहीं होता (८७) ऐसा जो संसार में मूर्तिमान् पापों का समूह दिखाई दे वे सर्वथा तामस कर्ता है, (८८) एवं हे सुजनों के राजा! कर्म, कर्ता और ज्ञान तीनों के त्रिधा लक्षण हम तुमसे वर्णन कर चुके। (८९)

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

अब अविद्यारूपी नगर में मोहरूपी वस्त्र पहन कर और सन्देह रूपी अलङ्कार धारण कर (८९०) आत्मनिश्चयरूपी निज की सुन्दरता जिस बुद्धिरूपी दर्पण में मूर्तिमान् दिखाई देती है उस बुद्धि के भी तीन भेद हैं। (९१) भला, संसार में कौन सी वस्तु है जो सत्व इत्यादि गुणों से छिपा नहीं हुई है! (९२) जिसमें अग्नि नहीं है ऐसी कौनसी लकड़ी है, वैसे ही दृश्य जगत् में कौनसी वस्तु है जो त्रिविध नहीं है? (९३) अतः तीनों गुणों के कारण बुद्धि त्रिगुणित हुई है और उसी प्रकार धृति भी भिन्न हुई है। (९४) अतः इन भिन्न हुई वस्तुओं का वर्णन अलग-अलग लक्षणों-सहित करते हैं। (९५) प्रथम हे धनञ्जय! बुद्धि और धृति दोनों में से बुद्धि के भेदों का बखान सुनो। (९६) हे उत्तम योद्धा! संसार में प्राणियों के आने के मार्ग उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के हैं। (९७) जो कर्तव्य पर्व काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म हैं वे यही तीन प्रसिद्ध मार्ग हैं। इन्हीं से जीवों को संसार-भय की प्राप्ति होती है। (९८)

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

अब संसार में अपने अधिकारानुसार और विधि के मार्ग से आया हुआ जो नित्य कर्म है वही एक उत्तम है। (६९) आत्मप्राप्ति-रूपी फल को दृष्टि के सन्मुख रख उसी कर्म का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे कि प्यास बुझाने के लिए जल पान किया जाता है। (७००) इस रीति से वह कर्म जन्म-भय का दुःख मिटा देता है और मोक्ष का लाभ सुगम कर देता है। (१) जो सज्जन इस प्रकार कर्म करता है वह संसार-भय से मुक्त हो जाता है और उस कर्म के बल से मुमुक्षु का पद प्राप्त कर लेता है। (२) फिर, जो बुद्धि वैसा ही दृढ़ निश्चय रखती है उसे मोक्ष इस प्रकार प्राप्त हो जाती है मानों वह उसी के लिए रक्खी हुई थी। (३) इस प्रकार प्रवृत्ति की भूमिका पर निवृत्ति की ही रचना की गई है तो फिर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए कि न होना चाहिए? (४) प्यासे को जैसे जल से जीवन प्राप्त होता है, बाढ़ में गिरे हुए को जैसे तैरने से, अथवा अँधेरे कुएँ में गिरे हुए को सूर्य की किरणों से ही गति मिल सकती है, (५) अथवा जैसे पथ्य और ओषधि मिले तो रोगग्रस्त मनुष्य भी जी जाता है, अथवा मछली को जल का आश्रय मिले (६) तो जैसे उसके जीवन को कुछ अपाय नहीं होता वैसे ही इस नित्य कर्म के करने से अवश्य ही मोक्ष का लाभ होता है। (७) इस नित्य कर्म की ओर जो शुद्ध बुद्धि प्रवृत्त होती है, और आचरण के लिए जो कर्म हैं (८) अर्थात् जो काम्य इत्यादि संसार-भय देनेवाले कर्म हैं, जिन पर निषिद्धता की मुहर लगी हुई है, (९) उन अकरणीय और जन्म-मरण का भय देनेवाले कर्मों की ओर से जो बुद्धि, प्रवृत्ति को पिछले पाँवों भगाती है (७१०) अग्नि में जैसे प्रवेश करते नहीं बनता, अथाह पानी में जैसे कूदा नहीं जाता, अत्यन्त प्रखर शूल जैसे पकड़ा नहीं जाता, (११) काले नाग को फुफकारते देख उस पर जैसे हाथ नहीं डाला जाता अथवा बाघ की गुफा में जैसे जाया नहीं जाता, (१२) वैसे ही निषिद्ध कर्म देखकर जिस बुद्धि को अवश्य ही महाभय उत्पन्न होता है, (१३) विष मिला कर अन्न पकाया गया हो तो जैसे मृत्यु अवश्यम्भावी है,

वैसे ही जो बुद्धि जानती है कि निषिद्ध कर्मों से जन्म-मरण-रूपी बन्ध नहीं टूटता (१४) और ऐसे बन्ध-भय से भरे हुए निषिद्ध कर्म के प्राप्त होने पर जो बुद्धि उस कर्म को त्याग करने का प्रबन्ध करना जानती है, (१५) तथा जो कार्य और अकार्य का विवेक रखती है, जो प्रवृत्ति निवृत्ति का माप करनेवाली है रत्नों का पारखैया जैसे अच्छा बुरा रत्न पहचान लेता है (१६) वैसे ही जो कर्तव्य और अकर्तव्य की उत्तम परख करना जानती है वही बुद्धि सात्त्विक है। (१७)

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

बगुलों के गाँव में जैसे दूध और पानी मिला हुआ ही पिया जाता है [अलग नहीं किया जाता] अथवा अन्धा जैसे दिन और रात का भेद नहीं जानता, (१८) जो फूलों के मकरन्द का सेवन करता है वही लकड़ी में भी छेद करता है पर जैसे उसका भ्रमरत्व नष्ट नहीं होता, (१९) वैसे ही जो बुद्धि कार्य और अकार्य, धार्मिक और अधार्मिक विषयों को यथार्थ न समझ कर उनका आचरण करती है (७२०) अजी! जैसे परखे बिना मोती लिये जायँ तो कदाचित् ही अच्छे मिलें, बाकी अच्छे न मिलना तो रक्खा ही हुआ है, (२१) वैसे ही जो बुद्धि निषिद्ध कर्म कदाचित् प्राप्त न हो तो ही बचती है अन्यथा जो भले-बुरे दोनों कर्मों का समान ही आचरण करती है, (२२) जैसे कोई पात्रापात्र का विचार न करके सब जन-समुदाय को निमन्त्रण दे वैसे ही जो बुद्धि उत्तम कर्म की परख नहीं करती उसे राजसी कहते हैं। (२३)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

और जैसे राजा जिस मार्ग से जाता है वही चोर के लिए कुमार्ग रहता है [यानी राजमार्ग चोर के काम का नहीं], अथवा राक्षस के लिए जैसे दिन का प्रकाश ही रात है, (२४) अथवा भाग्यहीन के लिए गड़ा हुआ द्रव्य जैसे कोयले का ढेर बन जाता है, अथवा स्वयं विद्यमान रहते हुए भी जैसे कोई अपने को अविद्यमान समझता है (२५) वैसे ही जितने धर्म-निरूपण हैं उन्हें सब, जिस बुद्धि को, पातक दिखाई देते हैं सत्य को जो मिथ्या ही समझती है,

(२९) सम्पूर्ण शुद्ध अर्थों का जो विपरीत अर्थ करती है, जो-जो अच्छे गुण हैं उन्हें जो दोष ही मानती है, (२७) बहुत क्या, वेदों ने जिन विषयों को आश्रय दे मान्य किया है उन सबों को जो विपरीत ही समझती है (२८) उसे हे पाण्डुसुत ! बिना किसी से पूछे तामसी बुद्धि समझना चाहिए । रात की सत्यता सिद्ध करने के लिए क्या धर्मशास्त्रों के अर्थ देखने की आवश्यकता होती है ? (२९) इस प्रकार हे ज्ञानरूपी कमल के सूर्य ! बुद्धि के तीनों भेद हम तुमसे विशद रीति से कह चुके ? (७३०) अब इसी बुद्धिवृत्ति से उन कर्मों का निश्चय किया जाता है तब जिस धृति का उपक्रम होता है वह धृति भी त्रिविध है। (३१) उस धृति के भी तीनों विभागों का उनके लक्षणों-सहित वर्णन करते हैं, सुनो। (३२)

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

सूर्य का उदय होते ही जैसे चोरी और अन्धकार दोनों का अस्त हो जाता है, अथवा जैसे राजा की आज्ञा से बुरे कर्मों का प्रतिबन्ध हो जाता है, (३३) अथवा वायु का वेग तीव्र हो तो मेघ जैसे गरजना करते और स्वयं अपना शरीर भी छोड़ देते हैं, (३४) अथवा अगस्त्य का दर्शन होते ही समुद्र जैसे चुप हो जाते हैं, अथवा चन्द्र का उदय होते ही कमल जैसे बन्द हो जाते हैं (३५) अथवा सिंह यदि सम्मुख आ खड़ा हो तो मदोन्मत्त हाथी उठाया हुआ पाँव आगे नहीं रख सकता (३६) वैसे ही अन्तःकरण में जिस धैर्य का उदय होने से मन इत्यादि अपने व्यापार चौरस छोड़ देते हैं, (३७) और हे किरीटी ! इन्द्रियों के और विषयों के सम्बन्ध आप ही आप छूट जाते हैं, दसों इन्द्रियाँ मनरूपी माता के पेट में समा जाती हैं, (३८) ऊर्ध्ववायु और अधोवायु का मार्ग बन्द कर प्राण सबों वायुओं की गठड़ी बाँध सुषुम्ना में घुस पड़ता है, (३९) और मन संकल्प-विकल्प-रूपी आवरण छोड़ कर बुद्धि के पीछे चुपचाप जा बैठता है (७४०) इस प्रकार जो धैर्यराज मन प्राण और इन्द्रियों से उनके व्यापारों का समारम्भ छुड़वा देता है, (४१) और फिर उन सबों को अकेले रख योग की युक्ति से ध्यान के हृदयकमल में बन्द कर देता है, (४२) और जब तक वे परमात्मा-रूपी चक्रवर्ती को उसके हाथ बिना रिश्वत लिये न सौंप दें तब तक जो धैर्य उन्हें

पकड़े रहता है, (४३) वह धैर्य, श्रीलक्ष्मीकान्त अर्जुन से कहते हैं, केवल सात्त्विक धैर्य कहलाता है। (४४)

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

जो निज को शरीर समझ कर धर्म अर्थ और काम-रूपी तीन पदार्थों से स्वर्ग और संसार दोनों पर रहता और पेट भरता है (४५) वह मनुष्य मनोरथरूपी समुद्र में धर्म, अर्थ और कामरूपी जहाजों के द्वारा जिस बल से युक्त हो व्यापार करता है, (४६) जिस धृति के बल से ऐसा साहस करता है कि जिस कर्म की पूँजी लगावे उसके चौगुने का लाभ उठाता है (४७) उस हे पार्थ! राजस धृति कहते हैं। अब तीसरी जो तामस है सो सुनो। (४८)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

कोयला जैसे कालेपन का ही बनाया हुआ है वैसे ही जो सब अधम गुणों का ही रूप है, (४९)—यदि कोई कहे कि प्रकृत और निकृष्ट वस्तु भी क्या 'गुण' विशेषण के योग्य है तो राक्षस भी क्या पुण्यजन नहीं कहलाता? (५०) ग्रहों में जो अनिष्ट है उसे जैसे मङ्गल कहते हैं वैसे ही साधारणतः तम को गुण शब्द लगाया गया है—(५१) हे उत्तम योद्धा! जो शत्रु दोषों के बसने का स्थान है जिस मनुष्य की गठन तम को ही मिट्टी कर सङ्गठित हुई है (५२) वह आलस को बगल में ही दबाये रहता है। अब जैसे पापों का पोषण करने से दुःख नहीं छोड़ते वैसे ही उसे कभी निद्रा नहीं छोड़ती। (५३) और पत्थर को जैसे कठिनता नहीं छोड़ सकती वैसे ही शरीर और धन के लोभ के कारण उसे भी भय नहीं छोड़ता। (५४) कृतघ्न मनुष्य से जैसे पाप दूर नहीं हो सकता वैसे ही वह तामसी मनुष्य पदार्थ-मात्र से प्रीति होने के कारण, शोक का घर ही बन जाता है (५५) और वह रात दिन हृदय में असन्तोष रखता है इसलिए विषाद उससे मित्रता करता है। (५६) लहसुन को जैसे दुर्गन्ध नहीं छोड़ती, अथवा अपथ्य करनेहारे को रोग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार विषाद उससे, उसके मरते दम तक मित्रता रखता है। (५७) और वह अपने यौवन का,

(२६) सम्पूर्ण शुद्ध अर्थों का जो विपरीत अर्थ करती है, जो-जो उसके गुण हैं उन्हें जो दोष ही मानती है, (२७) बहुत क्या, वेदों ने जिन विषयों को आश्रय दे मान्य किया है उन सभों को जो विपरीत ही समझती है (२८) उसे हे पाण्डुसुत! बिना किसी से पूछे तामसी बुद्धि समझना चाहिए। रात की सत्यता सिद्ध करने के लिए क्या कसौटी के अर्थ देखने की आवश्यकता होती है? (२९) इस प्रकार हे ज्ञानरूपी कमल के सूर्य! बुद्धि के तीनों भेद हम तुमसे विशद रीति से कह चुके। (५३०) अब इसी बुद्धिवृत्ति से जब कर्मों का निश्चय किया जाता है तब जिस धृति का उपक्रम होता है वह धृति भी त्रिविध है। (३१) उस धृति के भी तीनों विभागों का उनके लक्षणों-सहित वर्णन करते हैं, सुनो। (३२)

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

सूर्य का उदय होते ही जैसे चोरी और अन्धकार दोनों का अन्त हो जाता है, अथवा जैसे राजा की आज्ञा से बुरे कर्मों का प्रतिबन्ध हो जाता है, (३३) अथवा वायु का वेग तीव्र होते ही मेघ जैसे गर्जना करते और स्वयं अपना शरीर भी छोड़ देते हैं, (३४) अथवा अगस्त्य का दर्शन होते ही समुद्र जैसे चुप हो जाते हैं, अथवा चन्द्र का उदय होते ही कमल जैसे बन्द हो जाते हैं, (३५) अथवा सिंह यदि सन्मुख आ खड़ा हो तो मदोन्मत्त हाथी उठाया हुआ पाँव आगे नहीं रख सकता (३६) वैसे ही अन्तःकरण में जिस धैर्य का उदय होने से मन इत्यादि अपने व्यापार चौरन छोड़ देते हैं, (३७) और हे किरीटी! इन्द्रियों का और विषयों के सम्बन्ध आप ही आप छूट जाते हैं, दसों इन्द्रियाँ मनरूपी माता के पेट में समा जाती हैं, (३८) ऊर्ध्ववायु और अधोवायु का मार्ग बन्द कर प्राण नवों वायुओं की गठरी बाँध सुषुम्ना में कूद पड़ता है, (३९) और मन संकल्प विकल्प-रूपी आवरण छोड़ कर बुद्धि के पीछे चुपचाप जा बैठता है (५४०) इस प्रकार जो धैर्यराज मन, प्राण और इन्द्रियों से उनके व्यापारों का समारम्भ छुड़वा देता है (४१) और फिर उन सबों को एकान्त में योग की युक्ति से ध्यान के हृदयकमल में बन्द कर देता है, (४२) और जब तक वे परमात्मा-रूपी चक्रवर्ती को उसके हाथ बिना रिश्वत दिये न सौंप दें तब तक जो धैर्य उन्हें

पकड़े रहता है, (४३) वह धैर्य, श्रीलक्ष्मीकान्त अर्जुन से कहते हैं, केवल सात्विक धैर्य कहलाता है। (४४)

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

जो लिंग को शरीर समझ कर धर्म अर्थ और काम-रूपी तीन उपायों से स्वर्ग और संसार दोनों पर रहता और पेट भरता है (४५) वह मनुष्य मनोरथरूपी समुद्र में धर्म, अर्थ और कामरूपी जहाजों के द्वारा जिस बल से युक्त हो व्यापार करता है, (४६) जिस धृति के बल से ऐसा साहस करता है कि जिस कर्म की पूँजी लगाये उसके चौगुने का लाभ उठाता है (४७) उस हे पार्थ! राजस धृति कहते हैं। अब तीसरी जो तामस है सो सुनो। (४८)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

कोयला जैसे कालेपन का ही बनाया हुआ है वैसे ही जो सब अधम गुणों का ही रूप है, (४९)—यदि कोई कहे कि महत्व और निकृष्ट वस्तु भी क्या 'गुण' विशेषण के योग्य है, तो राक्षस भी क्या पुण्यजन नहीं कहलाता? (५५०) ग्रहों में जो अनिष्टरूप है उस जैसे मङ्गल कहते हैं वैसे ही साधारणतः तम को गुण शब्द लगाया गया है—(५१) हे उत्तम योद्धा! जो शब्द दोषों के बसने का स्थान है, जिस मनुष्य की गठन तम को ही सिद्ध कर सङ्कलित हुई है (५२) वह आलस को बगल में ही दबाये रहता है। अतः जैसे पापों का पोषण करने से दुःख नहीं छोड़ते वैसे ही उसे कभी निद्रा नहीं छोड़ती। (५३) और पत्थर को जैसे कठिनता नहीं छोड़ सकती वैसे ही शरीर और धन के लोभ के कारण उसे भी भय नहीं छोड़ता। (५४) कृतघ्न मनुष्य से जैसे पाप दूर नहीं जा सकता वैसे ही वह तामसी मनुष्य, पदार्थ-मात्र से प्रीति होने के कारण शोक का घर ही बन जाता है (५५) और वह रात दिन हृदय में असन्तोष रखता है इसलिए विषाद उसका मित्र बना रहता है। (५६) लहसुन का जैसे दुर्गन्ध नहीं छोड़ती अथवा अपथ्य करनेहारे को रोग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार विषाद उसका उसके मरते दम तक मित्र बना रहता है। (५७) और वह अपने यौवन का,

अपने धन का और काम का घमण्ड रखता है इसलिए मद भी उसे अपना घर बना लेता है। (५८) उष्णता जैसे अग्नि को नहीं छोड़ती, ऊँची जाति का साँप जैसे बैर नहीं छोड़ता, अथवा भय जैसे सर्वदा सब जगत् से बैर रखता है, (५९) अथवा काल जैसे कभी शरीर को भूल नहीं सकता, वैसे ही मद भी तामसी मनुष्य में अटल बना रहता है। (७६०) इस प्रकार तामसी मनुष्य में निद्रा इत्यादि ये पाँचों दोष जिस धृति ने धारण किये हैं (६१) उस धृति का नाम—जगत् के देव श्रीकृष्ण कहते हैं—तामसी धृति है। (६२) यों त्रिविध बुद्धि के द्वारा प्रथम जो कर्म निश्चय किया जाता है वह इस धृति से सिद्ध होता है। (६३) सूर्य से मार्ग प्रकट होता है और पाँवों से उस मार्ग से चलते हैं पर जैसे चलने की क्रिया धैर्य के ही कारण होती है (६४) वैसे ही बुद्धि कर्म को प्रकट करती है और वह कर्म इन्द्रिय-सामग्री से किया जाता है, परन्तु उस क्रिया के लिए जो धैर्य आवश्यक है (६५) वही यह त्रिविध धृति है जिसका हमने अभी वर्णन किया। इस धृति से त्रिविध कर्मों की निष्पत्ति होने पर (६६) जो एक फल उत्पन्न होता है, जिसे कि सुख कहते हैं, वह भी कर्मानुसार त्रिविध हुआ है। (६७) अतः अब फलरूप जो सुख त्रिधा भिन्न है उसका हम उत्तम शब्दों से शुद्ध निरूपण करते हैं। (६८) पर कठिनता यही है कि शब्द के द्वारा उसके निरूपण का महत्व करने से कदाचित कर्णरूपी हाथ का मल उसे लग जाय (६९) इसलिए उसे प्रेमयुक्त अन्तःकरण से [जिसका कि उपयोग करने से ध्यान भी चला जाता है] श्रवण करना चाहिए। (७७०) ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने त्रिविध सुख के निरूपण का प्रस्ताव किया। उसी वृत्तान्त का हम वर्णन करते हैं। (७१)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं हे पार्थ! त्रिविध सुख के लक्षण कहने की जो हमने प्रतिज्ञा की थी सो सुनो। (७२) हे किरीटी! सुख का रूप हम यह समझते हैं कि जो जीव को आत्मा की भेंट होने पर प्राप्त हो। (७३) जैसे दिव्य औषधि मात्रा-मात्रा के प्रमाण से ही जाती है, अथवा ताँबे की चाँदी, कीमिया की कृति से पुटों पर पुट देकर बनाई जाती है (७४) अथवा [illegible] का पानी करने के लिए जैसे

उसे दो-चार बार जल से धोना पड़ता है, (७५) वैसे ही थोड़ा-सा सुख हो तो बारबार वही अभ्यास करने से जहाँ जीव-दशा के दुःख का नाश हो जाता है (७६) वही आत्मसुख है। वह त्रिगुणात्मक है। अब हम उस एक-एक रूप का वर्णन करते हैं। (७७)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ॥३७॥

साँपों से वेष्टित होने के कारण जैसे चन्दन की जड़ भयानक होती है, अथवा गड़े हुए ख़ज़ाने का मुँह जैसे उस पर रहनेहारे भूत के कारण—भयानक होता है (७८) स्वर्ग जैसे सुन्दर होता है पर उसको पाने के लिए यज्ञरूपी संकट आ पड़ते हैं [यानी यज्ञ किये जायँ तब कहीं स्वर्ग मिले] अथवा बालक उत्तम मचाता है अतः उसकी बाल्यावस्था पीड़ा कारक जान पड़ती है, (७९) अथवा दीपक जलाने के पूर्व जैसे धुआँ अटपट जान पड़ता है* अथवा मुँह पर रखते ही जैसे औषधि कड़ुवी लगती है, (८०) वैसा ही हे पाण्डव! जिस सुख का आरम्भ दुःखद होता है, तथा जिसमें यम, दम इत्यादि साधना का समुदाय इकट्ठा करना पड़ता है, (८१) जिससे ऐसा वैराग्य पड़ता है कि जो सब विषय-प्रीति को चपेट लेता और स्वर्ग और संसाररूपी प्रतिबन्ध को निकाल फेंकता है, (८२) जिसमें विवेक का श्रवण तथा तीव्र और कठोर व्रतों का आचरण करते-करते बुद्धि इत्यादि के लत्ते पड़ जाते हैं, (८३) जिसमें सुषुम्नारूपी मुँह में प्राण और अपान वायु के प्रवाह खींच लिए जाते हैं, आरम्भ में ही जहाँ इतने भारी क्लेश हैं, (८४) सारस की जोड़ी को वियोग होने से घबराई हुई गाय के पास से बछड़े को दूर खींचने से, भैंसे को परोसी हुई थाली पर से भगाने से जैसा दुःख होता है, (८५) अथवा माता के सामने से मृत्यु यदि उसके इकलौते बालक को उठा ले जाए तो उसे अथवा जल से जुदा होने पर मीन को जैसे दुःख होता है (८६) वैसे ही जहाँ वैराग्ययुक्त वीर, इन्द्रियों को विषयों का घर छोड़ते हुए जो युगान्त-सा दुःख होता है वह सहते हैं, (८७) इस प्रकार जिस सुख का आरम्भ कठिन और भयकारक है परन्तु क्षीरसमुद्र से जैसे

---

* पुराने ज़माने में चिराग़ जलाने के लिए आग बनानी पड़ती थी और आग बनाते समय कण्डों की धुआँ ज़रूर होती है

अपने धन का और काम का ममत्व रखता है इसलिए मद भी उसे अपना घर बना लेता है। (५८) उष्णता जैसे अग्नि को नहीं छोड़ती, ऊँची जाति का साँप जैसे वैर नहीं छोड़ता, अथवा भय जैसे सदैव सब जगत् से वैर रखता है, (५९) अथवा काल जैसे कभी शरीर को भूल नहीं सकता, वैसे ही मद भी तामसी मनुष्य में अटल बना रहता है। (६०) इस प्रकार तामसी मनुष्य में निद्रा इत्यादि ये पाँचों दोष जिस धृति ने धारण किये हैं (६१) उस धृति का नाम—जगत् के देव श्रीकृष्ण कहते हैं—तामसी धृति है। (६२) जो त्रिविध बुद्धि के द्वारा प्रथम जो कर्म निश्चय किया जाता है वह इस धृति से सिद्ध होता है। (६३) सूर्य से मार्ग प्रकट होता है और पाँवों से उस मार्ग से चलते हैं, पर जैसे चलने की क्रिया धैर्य के ही कारण होती है (६४) वैसे ही बुद्धि कर्म को प्रकट करती है और वह कर्म इन्द्रिय-सामग्री से किया जाता है, परन्तु उस क्रिया के लिए जो धैर्य आवश्यक है (६५) वही यह त्रिविध धृति है जिसका हमने अभी वर्णन किया। इस धृति से त्रिविध कर्मों की निष्पत्ति होने पर (६६) जो एक फल उत्पन्न होता है जिसे कि सुख कहते हैं वह भी कर्मानुसार त्रिविध हुआ है। (६७) अतः अब फलरूप जो सुख त्रिधा भिन्न है उसका हम उत्तम शब्दों से शुद्ध निरूपण करते हैं। (६८) वह शुद्धता ऐसी है कि शब्द के द्वारा उसके निरूपण का ग्रहण करने से कदाचित् कर्णरूपी हाथ का मल उसे लग जाय (६९) इसलिए उसे प्रेमयुक्त अन्तःकरण से [जिसका कि उपयोग करने से अमृतपान भी व्यर्थ जाता है] ग्रहण करना चाहिए। (७००) ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने त्रिविध सुख के निरूपण का प्रस्ताव किया। उसी वृत्तान्त का हम वर्णन करते हैं। (७१)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं हे पार्थ! त्रिविध सुख के व्याख्यान करने की जो हमने प्रतिज्ञा की थी सो सुनो। (७२) हे किरीटी! सुख का रूप हम यह समझते हैं कि जो जीव को आत्मा की भेंट होने पर प्राप्त हो। (७३) जैसे दिव्य औषधि मात्रा-मात्रा के प्रमाण से ली जाती है, अथवा ताँबे की चाँदी, कीमिया की कृति से पुटों पर पुट देकर बनाई जाती है, (७४) अथवा लवण का पानी करने के लिए जैसे

जाता है (२) उससे पापों का पक्ष बढ़ता है और वे नरक में जा रहे हैं। जिस सुख से परलोक में ऐसा अपाय होता है (३) जैसे मधुर नामक विष, जो नाम से तो मधुर है पर परिणाम में अवश्य ही मारक होता है, वैसे ही जो सुख प्रथम मधुर पर अन्त में कटु होता है (४) वह सुख हे पार्थ! सम्पूर्ण रजोगुण का ही बना हुआ है। अतएव उसे कभी स्पर्श न करो। (५)

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अपेय वस्तु के पीने से, अखाद्य वस्तु के खाने से, और इच्छानुसार स्वैराचार करने से जो सुख होता है, (६) अथवा दूसरों को मारने से या दूसरों का द्रव्य हर लेने से, अथवा भाटों के मुख से कीर्तिश्रवण करने से जो सुख उत्पन्न होता है, (७) जो आलस्य से पुष्ट होता है, जो निद्रा में दिखाई देता है, जिसके आरम्भ में तथा परिणाम में मनुष्य आत्म-लाभ का मार्ग भूल जाते हैं (८) उस सुख को हे पार्थ! सच का तामस जानो। इसका वर्णन विशेष नहीं बढ़ाते हैं क्योंकि वह निंद्य ही है। (९) इस प्रकार मुख्य फल का सुख भी जो कर्मभेद से तिहरा हुआ है, हम तुमसे शास्त्रानुसार व्यक्त कर चुके। (१०) तात्पर्य यह कि इस स्थूल या सूक्ष्मसृष्टि में केवल कर्ता कर्म और फलरूपी त्रिपुटी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (११) और यह त्रिपुटी तो, हे किरीटी! पट जैसे तन्तुओं से बुना हुआ रहता है, वैसे तीन गुणों से बुनी हुई है। (१२)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

इसलिए स्वर्ग में या मृत्युलोक में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो सत्त्व इत्यादि से [जो प्रकृति का आभास है] सम्बन्ध न हो। (१३) ऊन के बिना कम्बल कैसे रह सकता है, मिट्टी के बिना ढेला कैसे रह सकता है, अथवा जल के बिना तरङ्ग कैसे हो सकती है? (१४) वैसे ही गुण के न होने पर सृष्टि का व्यापार करनेवाला कोई प्राणी है नहीं। (१५) अतः यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल तीनों गुणों की बनी हुई है। (१६) गुणों ने ही देवों की—ब्रह्मा, विष्णु और महेश-रूपी—त्रयी की है। गुणों से ही लोकों की, स्वर्ग, मृत्यु और

अमृत का लाभ होता है (८८) वैसे ही यदि पहले वैराग्यरूपी विष को पिया धैर्यरूपी शङ्कर अपना कण्ठ आगे करें तो वहाँ ज्ञानरूपी अमृत का आनन्द दिखाई देता है, (८९) द्राक्षा के फलों की हरियाली सुवाक को भी हराती है पर पकने पर जैसे उसमें माधुर्य भर जाता है, (७०) वैसे ही आत्म-प्रकाश के बल से वैराग्य इत्यादि का जब परिपाक होता है तब वैराग्य के साथ अविद्या-समूह का नाश हो जाता है (९१) और फिर सागर में जैसे गङ्गा वैसे आत्मा में बुद्धि के मिलने से आप ही आप ब्रह्मानन्द की खानि प्रकट होती है, (९२) इस प्रकार जिस सुख के मूल में वैराग्य है और जो आत्मानुभवप्राप्तिरूपी परिणाम को प्राप्त होता है उसे सात्त्विक कहते हैं। (९३)

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

हे धनञ्जय! विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो सुख दोनों तीरों पर से उमराने लगता है, (९४) जैसे किसी अधिकारी के नगर प्रवेश का उत्सव अच्छा लगता है अथवा ऋण लेकर किया हुआ विवाह, करते समय, सुखकारी होता है, (९५) अथवा रोगी को मुँह पर रक्खा हुआ केला और शक्कर खाने में मीठी लगती है, अथवा जैसे बचनाग की आरम्भ की मिठास भली लगती है, (९६) अथवा जैसे साहु चोर की मित्रता प्रथम सुखदायक होती है, जैसे बाजार की वेश्या का आचरण प्रथम प्रिय मालूम होता है, जैसे बहुरूपियों के विचित्र खेलों से आनन्द होता है (९७) उसी प्रकार विषय और इन्द्रियों के संयोग से जीव को प्रथम सुख होता है परन्तु फिर परिणाम वैसा ही दुखदायक है जैसे हंस कुसुम पर से बहते हुए पानी में तारों के प्रतिबिम्ब को रत्न समझ कर कूदने पर फँस जाता है, (९८) इसी प्रकार सब पूर्वसम्पादित लाभ की हानि हो जाती है, जीवन का ठौर मिट जाता है और पुण्यरूपी धन की भी गाँठ छूट जाती है, (९९) और जो कुछ भोग भोग लिये हों वे स्वप्न के समान विलीन हो जाते हैं और केवल दुःख की राशि में लोटते रहना ही शेष रह जाता है। (८००) इस प्रकार जो सुख इस लोक में विपत्तिरूप परिणाम पाता है वह परलोक में विषरूप हो प्रकट होता है। (१) क्योंकि इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण कर धर्मरूपी बगीचा जला कर विषयों के समारोह का जो भोग किया

जाता है (२) उससे पापों का बल बढ़ता है और वे नरक में आ रहे हैं। जिस सुख से परलोक में ऐसा अपाय होता है (३) जैसे मधुर नामक विष, जो नाम से तो मधुर है पर परिणाम में अवश्य ही मारक होता है, वैसे ही जो सुख प्रथम मधुर पर अन्त में कटु होता है (४) वह सुख हे पार्थ! सचमुच रजोगुण का ही बना हुआ है। अतएव उसे कभी स्पर्श न करो। (५)

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अपेय वस्तु के पीने से, अभक्ष्य वस्तु के खाने से, और इच्छानुसार स्त्रीसंग करने से जो सुख होता है, (६) अथवा दूसरों को मारने से या दूसरों का द्रव्य हर लेने से, अथवा भाटों के मुख से कीर्तिश्रवण करने से जो सुख उत्पन्न होता है, (७) जो आलस्य से पुष्ट होता है, जो निद्रा में दिखाई देता है, जिसके आरम्भ में तथा परिणाम में मनुष्य आत्म-ज्ञान का मार्ग भूल जाते हैं (८) उस सुख को हे पार्थ! सच या तामस जानो। इसका वर्णन विशेष नहीं बढ़ाते हैं क्योंकि वह नित्य ही है। (९) इस प्रकार मुख्य फल का सुख भी जो कर्मभेद से त्रिधा हुआ है, हम तुमसे शास्त्रानुसार व्यक्त कर चुके। (८१०) तात्पर्य यह कि इस स्थूल या सूक्ष्मसृष्टि में केवल कर्ता कर्म और फलरूपी त्रिपुटी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (११) और यह त्रिपुटी तो, हे किरीटी! पट जैसे तन्तुओं से बुना हुआ रहता है, वैसे तीन गुणों से बुनी हुई है। (१२)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

इसलिए स्वर्ग में या मृत्युलोक में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो सत्त्व इत्यादि से [जो प्रकृति का आभास है] सम्बन्ध न हो। (१३) ऊन के बिना कम्बल कैसे रह सकता है, मिट्टी के बिना ढेला कैसे रह सकता है, अथवा जल के बिना तरङ्ग कैसे हो सकती है? (१४) वैसे ही गुणों के न होने पर सृष्टि का व्यापार करनेहारा कोई प्राणी है नहीं। (१५) अतः यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल तीनों गुणों की बनी हुई है। (१६) गुणों से ही देवों की—ब्रह्मा, विष्णु और महेश-रूपी—त्रयी की है। गुणों से ही लोकों की, स्वर्ग, मृत्यु और

पाखाण-रूपी त्रिपुटी हुई है, और गुणों से ही चारों वर्णों के जुदे-जुदे भेद निर्माण हुए हैं। (१७)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ये चारों वर्ण कौन से हैं? वही जिनमें कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, (१८) और दूसरे जो क्षत्रिय और वैश्य हैं वे भी ब्राह्मणों के समान ही माने जाते हैं क्योंकि वे भी वैदिक क्रियाओं के लिए योग्य हैं। (१९) चौथे जो शूद्र हैं उन्हें हे धनञ्जय! वेदों का अधिकार नहीं है, परन्तु उनकी उपजीविका अन्य तीनों वर्णों के अधीन होती। (८२०) उनकी सेवा-वृत्ति के सान्निध्य से ही मानों ब्राह्मण इत्यादि तीन वर्णों की पंक्ति में शूद्र एक चौथा वर्ण हो गया है। (२१) जैसे फूलों के साथ ही श्रीमान् मनुष्य डोरा भी सूँघते हैं उसी प्रकार श्रुति, ब्राह्मण के साथ के कारण, शूद्र का भी स्वीकार करती है। (२२) ऐसे हे पार्थ! यह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था है। अब इनके कर्म-मार्ग का स्पष्टीकरण करते हैं (२३) जिससे कि ये चारों वर्ण जन्ममृत्युरूपी चक्र से छूट कर ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट हो सकते हैं। (२४) आत्मस्वरूप ने सत्त्व इत्यादि तीन गुणों से कर्मों के चार विभाग कर उन्हें चारों वर्णों में बाँट दिया है। (२५) जैसे पिता का सम्पादित किया हुआ धन बेटों में बाँटा जाय अथवा सूर्य जैसे पथिकों को मार्ग बाँट देता है, अथवा स्वामी जैसे अपने सेवकों को जुदे-जुदे व्यापार बाँट दे, (२६) वैसे ही प्रकृति के गुणों ने इन चारों वर्णों में कर्मों का बँटवारा किया है। (२७) उनमें से सत्त्व ने अपने सम विषम भाग से ब्राह्मण और क्षत्रिय दो उत्तम वर्ण उत्पन्न किये (२८) और सत्त्वमिश्रित रज से वैश्य उत्पन्न हुए और तमोमिश्रित रज से शूद्र उत्पन्न हुए। (२९) इस प्रकार हे प्रबुद्ध! इन गुणों ने एक ही प्राणिसमूह में चार वर्णों का भेद उत्पन्न किया है। (८३०) और अपना ही रक्खा हुआ धन जैसे दीपक के सहाय से रक्खा-रखाया दिखाई देता है वैसे ही शास्त्र गुणानुसार भिन्न होनेवाले कर्मों को प्रकट करता है। (३१) अब वे वर्ण-विहित कर्म कौन-कौन से हैं, उनके आशय क्या हैं, सो कहते हैं। हे भाग्यवान्! सुनो (३२)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

प्रिया जैसे एकान्त में अपने पति से मिलती है वैसे ही जब सब इन्द्रिय-वृत्तियों को अपने हाथ में ले बुद्धि आत्मा से जा मिलती है, (३३) तब उसके इस प्रकार विराम पाने को शम कहते हैं। यह शम नामक गुण जिस कर्म के आरम्भ में है, (३४) और इन्द्रियों के समुदाय को विधिरूपी दण्ड से पीट कर कभी उस अधर्म की ओर न जाने देनेहारा (३५) तथा शम को सहाय करनेहारा दम नामक गुण जिस कर्म में दूसरा है, तथा तप नामक गुण [स्वधर्म का आचरण कर जीवन रखना (३६) तथा जन्म-दिन से छठी रात को जैसे दिया न बुझने देना चाहिए, वैसे ही सदा अन्तःकरण में ईश्वर का विचार करना (३७) तप कहलाता है] जिस कर्म में तीसरा है, और शौच [जहाँ दो प्रकार की पापरहित शुचिता है (३८) अर्थात् मन निर्मल विचारों से भरा है और शरीर सत्कर्मों से अलङ्कृत हो रहा है, इस प्रकार जीवन का जो अन्तर्बाह्य उत्तम होना है (३९) उसे हे पार्थ! शौच कहते हैं] जिस कर्म में चौथा गुण है और क्षमा [पृथ्वी के समान सब प्रकार से सब कुछ सहना हो (८४०) हे पाण्डव! क्षमा कहाता है] गुण जिस कर्म में पाँचवाँ है, [स्वरों में जैसा पञ्चम स्वर मधुर होता है वैसा ही यह पाँचवाँ गुण है] (४१) और ऋजुता [प्रवाह टेढ़ा चलता हो तथापि गङ्गा सरल ही है, अथवा ऊख टेढ़ा-मेढ़ा उत्पन्न हुआ हो तथापि उसकी मधुरता समान ही रहती है (४२) वैसे ही दुःखद प्राणियों से भी अच्छी भाँति सरल रहना ऋजुता है] जिस कर्म का छठा गुण है, और ज्ञान (४३) [जैसे माली प्रयत्न कर वृक्षों की जड़ों में पानी डालने में अथक श्रम करता है परन्तु वे सब फल-दायक होते हैं (४४) वैसे ही शास्त्र के अनुसार आचरण करने पर एक ईश्वर की ही प्राप्ति होने की बात निश्चय से जानना ही ज्ञान है] (४५) जिस कर्म का सातवाँ गुण है और गुणाढ्य विज्ञान (४६) [सत्त्वशुद्धि के समय, शास्त्र के विचार-द्वारा, अथवा ध्यान के बल से, निश्चयात्मिका बुद्धि ईश्वरतत्त्व से मिल जाय (४७) उसे उत्तम विज्ञान कहते हैं] जिस कर्म में आठवाँ है और आस्तिक्य (४८) राजा की मुहर जिसके हाथ है उस पर दास को, प्रजा उसका आदर करती है, वैसे ही

पाताल-रूपी त्रिपुटी हुई है, और गुणों से ही चारों वर्णों के जुदे-जुदे कर्म नियत हुए हैं। (१७)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ये चारों वर्ण कौन से हैं? वही जिनमें कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, (१८) और दूसरे जो क्षत्रिय और वैश्य हैं वे भी ब्राह्मणों के समान ही माने जाते हैं क्योंकि वे भी वैदिक क्रियाओं के लिए योग्य हैं। (१९) चौथे जो शूद्र हैं उन्हें हे धनञ्जय! वेदों का अधिकार नहीं है तथापि उनकी उपजीविका अन्य तीनों वर्णों के अधीन होती। (८२०) उस सेवा-वृत्ति के सान्निध्य से ही मानों ब्राह्मण इत्यादि तीन वर्णों की पंक्ति में शूद्र एक चौथा वर्ण हो गया है। (२१) जैसे फूलों के सङ्ग से श्रीमान् मनुष्य डोरा भी सूँघते हैं उसी प्रकार श्रुति, ब्राह्मण के सङ्ग के कारण, शूद्र का भी स्वीकार करती है। (२२) ऐसी हे पार्थ! यह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था है। अब इनके कर्म-मार्ग का स्पष्टीकरण करते हैं (२३) जिससे कि ये चारों वर्ण जन्ममृत्युरूपी सङ्कट से छूट कर ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट हो सकते हैं। (२४) आत्मप्रकृति के सत्त्व इत्यादि तीन गुणों ने कर्मों के चार विभाग कर उन्हें चारों वर्णों में बाँट दिया है। (२५) जैसे पिता का सम्पादित किया हुआ धन बेटों में बाँटा जाय अथवा सूर्य जैसे पथिकों को मार्ग बाँटे है, अथवा स्वामी जैसे अपने सेवकों को जुदे-जुदे व्यापार बाँटे है, (२६) वैसे ही प्रकृति के गुणों ने इन चारों वर्णों में कर्मों का बँटवारा किया है। (२७) उनमें से सत्त्व ने अपने सम विषम भाग से ब्राह्मण और क्षत्रिय दो उत्तम वर्ण उत्पन्न किये, (२८) और सत्त्वमिश्रित रज से वैश्य उत्पन्न हुए और तमोमिश्रित रज से शूद्र उत्पन्न हुए। (२९) इस प्रकार हे प्रबुद्ध! इन गुणों ने एक ही प्राणिसमूह में चार वर्णों का भेद उत्पन्न किया है। (८३०) और अपना ही रक्खा हुआ धन जैसे दीपक के सहाय से रक्खा-रखाया दिखाई देता है वैसे ही शास्त्र-गुणानुसार भिन्न होनेहारे कर्मों को प्रकट करता है। (३१) अब वे वर्ण-विहित कर्म कौन-कौन से हैं, उनके लक्षण क्या हैं, सो कहते हैं। हे भाग्यवान्! सुनो (३२)

के फूल जैसे सदा सूर्य के सन्मुख ही रहते हैं वैसे ही सदा शत्रु के सन्मुख रहना, (६५) गर्भवती स्त्री का समागम जैसे प्रयत्न के साथ टालना चाहिए वैसे ही युद्ध के समय शत्रु को पीठ न दिखाना (६६) यह क्षत्रियों के धर्म का पाँचवाँ और सबसे श्रेष्ठ गुण है, जैसे कि चारों पुरुषार्थों में भक्ति ही श्रेष्ठ है,—(६७) और वृक्ष की शाखा जैसे नित्य ही उत्पन्न हुए फूल और फल दे देती है, अथवा कमलों का सरोवर जैसे सुगन्ध के विषय में उदार रहता है, (६८) अथवा जैसे हर कोई चाहे जितनी चाँदनी ले सकता है, वैसे ही दूसरे के संकल्प के अनुसार देना, (६९) ऐसा अपरिमित दान जिस धर्म का छठा गुण रत्न है,—और वेदाज्ञा का एकनिष्ठता से पालन करना (८७०) जैसे अपने अवयवों का पोषण करने से ही उनके द्वारा अपने इच्छानुसार कर्म कर सकते हैं, वैसे ही केवल वेदाज्ञा पालन करने के लोभ से जगत् का उपभोग लेना (७१) ईश्वर-भाव कहाता है जो कि सब सामर्थ्य का घर है; वह गुणों का राजा जिस धर्म में सातवाँ है,— (७२) ऐसा जो धर्म इन शौर्य इत्यादि सात गुण विशेषों से अलंकृत है; जैसे सप्त ऋषियों से आकाश (७३) वैसे ही जो धर्म इन सात गुणों से चित्रित है, तथा जो जगत् में पवित्र समझा जाता है, वह क्षात्र नामक क्षत्रियों का स्वाभाविक धर्म है। (७४) अथवा वह पुरुष क्षत्रिय नहीं, वह सत्त्वरूपी सुवर्ण का मेरु ही है, अतः वह इन सप्त गुणरूपी स्वर्गों का आधार है; (७५) अथवा वह इन सप्त गुणों से युक्त धर्म नहीं करता, मानों सप्तगुणरूपी समुद्रों से वेष्टित पृथ्वी के राज्य का ही उपभोग लेता है, (७६) अथवा उसकी क्रिया संसार में मानों सात गुणरूपी प्रवाहों में बहती हुई गङ्गा है और वह स्वयं महासागर है जिसमें वह गङ्गा शोभा दे रही है। (७७) परन्तु यह सब जाने दो। तात्पर्य यह कि शौर्य इत्यादि गुणात्मक धर्म क्षत्र-जाति का स्वाभाविक धर्म है। (७८) अब हे महामते! वैश्य-जाति का जो उचित धर्म है उसका भी यथार्थ वर्णन करते हैं, सुनो। (७९)

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

भूमि, बीज, हल इत्यादि पूँजी के आधार पर अपार लाभ प्राप्त करना, (८८०) किसानी, खेती पर उपजीविका चलाना, गायें रखने

जिस मार्ग को शास्त्रों ने स्वीकार किया है (४९) उसको आदर से मानना ही आस्तिक्य है जिससे कि कर्म चरितार्थ होता है] जिसका नवाँ गुण है (८५०) इस प्रकार जिस कर्म में ये शम इत्यादि नवों गुण निर्दोष हैं उसी को ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म समझो। (५१) ब्राह्मण इन नौ गुणरत्नों का समुद्र होता हुआ, इन नौ रत्नों का हार कभी जुदा न करके पहने ही रहता है। प्रकाश अलग न करके जैसे सूर्य उससे अलङ्कृत रहता है (५२) अथवा चम्पा का वृक्ष जैसे चम्पा के फूल से सुशोभित रहता है, अथवा चन्द्रमा जैसे अपनी चाँदनी से प्रकाशित रहता है, अथवा चन्दन अपनी ही सुगन्ध से चर्चित रहता है (५३) वैसे ही इन नौ गुणों से जड़ा हुआ हार ब्राह्मण का निर्दोष अलङ्कार है। वह कभी ब्राह्मण के शरीर से जुदा नहीं होता। (५४) अब हे धनञ्जय! क्षत्रिय को जो कर्म उचित है उसका वर्णन करते हैं, तुम ध्यान से सुनो। (५५)

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

तेज के लिए जैसे सूर्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता अथवा जैसे सिंह कोई दूसरा सहकारी नहीं खोजता (५६) वैसे ही स्वयं आप ही बलवान् होना किसी की सहायता बिना ही शूर होना, यह जिसमें पहला गुण है—(५७) और जैसे सूर्य के प्रताप से करोड़ों तारे लुप्त हो जाते हैं, सूर्य न रहे तो चन्द्र और तारों का लोप नहीं होता (५८) वैसे ही अपने बलिष्ठ गुण से संसार को आश्चर्य-चकित करना और स्वयं किसी वस्तु से क्षुब्ध न होना ऐसा (५९) जो तेज का महत्मत्त्व है वह जिस कर्म का दूसरा गुण है—और धैर्य जिसका तीसरा गुण है, (८६०) [यहाँ धैर्य उसे समझो कि जिसके ऊपर यदि आकाश भी आ गिरे तथापि मनरूपी बुद्धि के नेत्र जरा भी न मिंचें] (६१) और जैसे पानी चाहे जितना हो पर कमल उसके ऊपर ही आ फूलता है, अथवा ऊँचाई में जैसे आकाश ने प्रत्येक वस्तु को जीत लिया है, (६२) वैसे ही हे पार्थ! अनेक अवस्थाएँ उपस्थित होते हुए उन्हें बुद्धि से जीत कर फलरूप अर्थ में प्रवेश करना (६३) यह जो दक्ष दक्षता है सो जिस कर्म का चौथा गुण है,—और असाधारण युद्ध करना जिसका पाँचवाँ गुण है, (६४) सूर्यमुखी

के फूल जैसे सदा सूर्य के सन्मुख ही रहते हैं वैसे ही सदा शत्रु के सन्मुख रहना, (६५) गर्भवती स्त्री का समागम जैसे प्रयत्न के साथ त्यागना चाहिए वैसे ही युद्ध के समय शत्रु को पीठ न दिखाना (६६) यह क्षत्रियों के धर्म का पाँचवाँ और सबसे श्रेष्ठ गुण है, जैसे कि चारों पुरुषार्थों में भक्ति ही श्रेष्ठ है,—(६७) और वृक्ष की शाखा जैसे निज से उत्पन्न हुए फूल और फल दे देती है, अथवा कमलों का सरोवर जैसे सुगन्ध के विषय में उदार रहता है, (६८) अथवा जैसे हर कोई चाहे जितनी चाँदनी ले सकता है, वैसे ही दूसरे के सङ्कल्प के अनुसार देना, (६९) ऐसा अपरिमित दान जिस धर्म का छठा गुण रत्न है,—और वेदाज्ञा का एकनिष्ठता से पालन करना (८७०) जैसे अपने अवयवों का पोषण करने से ही उनके द्वारा अपने इच्छानुसार कर्म कर सकते हैं वैसे ही केवल वेदाज्ञा पालन करने के लोभ से जगत् का उपभोग लेना (७१) ईश्वर-भाव कहाता है जो कि सब सामर्थ्य का घर है; यह गुणों का राजा जिस धर्म में सातवाँ है,—(७२) ऐसा जो धर्म इन शौर्य इत्यादि सात गुण विशेषों से अलंकृत है; जैसे सप्त ऋषियों से आकाश (७३) वैसे ही जो कर्म इन सात गुणों से चित्रित है तथा जो जगत् में पवित्र समझा जाता है, वह क्षात्र नामक क्षत्रियों का स्वाभाविक धर्म है। (७४) अथवा वह पुरुष क्षत्रिय नहीं, वह सत्त्वरूपी सुवर्ण का मेरु ही है, अतः वह इन सात गुणरूपी स्वर्गों का आधार है, (७५) अथवा वह इन सात गुणों से युक्त कर्म नहीं करता, मानों सप्तगुणरूपी समुद्रों से वेष्टित पृथ्वी के राज्य का ही उपभोग लेता है, (७६) अथवा उसकी क्रिया संसार में मानों सात गुणरूपी प्रवाहों में बटी हुई गङ्गा है और वह स्वयं महासागर है जिसमें वह गङ्गा शोभा दे रही है। (७७) परन्तु यह सब जाने दो। तात्पर्य यह कि शौर्य इत्यादि गुणात्मक कर्म क्षत्र-जाति का स्वाभाविक धर्म है। (७८) अब हे महामते! वैश्य-जाति का जो उचित कर्म है उसका भी यथार्थ वर्णन करते हैं सुनो। (७९)

> कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
> परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

भूमि बीज, हल इत्यादि पूँजी के आधार पर अपार लाभ प्राप्त करना, (८८०) किसानी, खेती कर उपजीविका चलाना, गायें रखने

का उपज करना, अथवा सस्ते मोल में ली हुई वस्तु महँगी भाव से बेचना, (८१) हे पाण्डव! इतना ही वैश्यों का कर्मसमुदाय है। यह वैश्य जाति का स्वाभाविक कर्म है। (८२) और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण ये जो तीनों द्विज वर्ण [अर्थात् दो जन्मवाले, एक सामान्य जन्म जिसे लौकिक कहते हैं और दूसरा उपनयन के समय सावित्री मन्त्र के उपदेश से माना हुआ जन्म जिसे सात्त्विक कहते हैं] हैं उनकी सेवा करना शूद्र-कर्म है। (८३) द्विजों की सेवा के अतिरिक्त शूद्रों का दूसरा कर्म ही नहीं है। अब यह चारों वर्णों के उचित कर्मों का निरूपण हो चुका। (८४)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

हे ज्ञानी! इन जुदे-जुदे वर्णों के लिए यही कर्म उचित हैं। जैसे जुदी-जुदी इन्द्रियों के लिए शब्द आदि विषय योग्य हैं, (८५) अथवा हे पाण्डुसुत! मेघों से गिरे हुए जल के लिए नदी, और नदी के लिए समुद्र ही उचित है, (८६) उसी प्रकार वर्णाश्रम के अनुरूप जो कर्तव्य गोरे मनुष्य के गोरेपन के समान स्वभावतः प्राप्त हुआ हो, (८७) उस स्वभाव-विहित कर्म का शास्त्राज्ञानुसार आचरण करने के लिए हे वीरोत्तम! अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए। (८८) जैसे रत्न अपना ही हो परन्तु पारखिये के हाथ से परखा लिया जाता है वैसे ही स्वकर्म भी शास्त्र के द्वारा अवगत करना चाहिए। (८९) जैसे अपने पास दृष्टि रहती है पर दीपक के बिना उसका उपयोग नहीं किया जा सकता अथवा रास्ता ही न मिला हो तो पाँव होने से ही क्या उपयोग हो सकता है? (९०) वैसे ही जाति के अनुसार जो अपना स्वाभाविक अधिकार हो उसे अपने शास्त्र से प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए (९१) फिर जैसे घर में ही द्रव्य रक्खा हुआ हो और वह दीपक के द्वारा दिखाई दे तो हे पाण्डव! उसकी प्राप्ति में क्या प्रतिबन्ध हो सकता है? (९२) वैसे ही जो स्वभावतः अपने बाँटे में आया है और शास्त्र से भी जिसकी प्रतीति होती है वह विहित कर्म जो करता है, (९३) तथा आलस्य को छोड़ फल की आशा का त्याग कर शरीर से और मन से जो उसी कर्म का आदर करता है, (९४) प्रवाह का [illegible] उधर [illegible] जाना नहीं जानता वैसे ही जो उस

कर्म के आचरण में ठीक प्रबन्ध से रहता है, (९५) हे अर्जुन! इस प्रकार जो स्वयं विहित-कर्म करता है वह मोक्ष के इस पार तक पहुँच जाता है। (९६) क्योंकि वह अकर्तव्य और निषिद्ध कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिए मोक्ष के विपरीत जो संसार है सो उससे छूट जाता है, (९७) और यदि चन्दन की मनी हो तथापि जैसे उसका कोई स्वीकार नहीं करता वैसे ही काम्य कर्म की ओर वह कुतूहल से भी नहीं फिरता। (९८) और नित्य कर्म तो वह सब फलत्याग द्वारा छोड़ ही देता है इसलिए वह मोक्ष की सीमा प्राप्त कर सकता है। (९९) इस प्रकार वह शुभ और अशुभ संसार से मुक्त हुआ पुरुष वैराग्य-रूपी मोक्ष के द्वार में जा खड़ा होता है। (९००) जो सकल भाग्य की सीमा है, मोक्ष-लाभ का निश्चय है, अथवा कर्म-मार्ग के श्रमों का जहाँ अन्त हो जाता है, (१) जो मानों मोक्ष-फल का रक्खा हुआ रहन है, जो सत्कर्म-रूपी वृक्ष का फूल है, उस वैराग्यपद पर वह पुरुष भ्रमर की तरह पाँव रखता है। (२) और देखो, वह आत्मज्ञानरूपी सूर्य के उदय की सूचना देनेहारे अरुणोदयरूपी वैराग्य की प्राप्ति कर लेता है। (३) बहुत क्या कहें, वह पुरुष मानों वैराग्यरूपी एक दिव्याञ्जन ही लगा लेता है जिससे आत्मज्ञान-रूपी गड़ा हुआ धन उसके हाथ लग जाता है। (४) इस प्रकार हे पाण्डुसुत! उस मनुष्य को विहित कर्म के आचरण से मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो जाती है। (५) हे पाण्डव! यह विहित कर्म करना एक ही व्यापार है, और इसका आचरण करना ही मुक्त नारायण ईश्वर की परम सेवा है। (६) सम्पूर्ण कामभोगों-सहित जैसे पतिव्रता अपने प्रिय पति के संग क्रीड़ा करे तो उसके लिए वही तपस्या है (७) अथवा बालक को एक माता के अतिरिक्त जीवन के लिए कौन सी वस्तु है? अतः उसकी सेवा करना ही उसका धर्म है, (८) अथवा गङ्गा में जल है यह जान कर मछली जैसे गङ्गा को न छोड़कर सब तीर्थों के माहात्म्य का लाभ प्राप्त करती है, (९) वैसे ही यदि विहित कर्म इस युक्ति से किया जाय कि उसे छोड़ दूसरा उपाय ही नहीं है तो ईश्वर पर उसका बोझ पड़ता है। (९१०) जिसका जो विहित कर्म है वही उसे करना चाहिए। यह ईश्वर की इच्छा है, अतः उस कर्म का आचरण करने से निस्सन्देह उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है। (११) हृदयरूपी कसौटी

का उद्यम करना, अथवा सस्ते मोल में ली हुई वस्तु महँगे भाव से बेचना, (८१) हे पाण्डव! इतना ही वैश्यों का कर्म समुदाय है। यह वैश्य जाति का स्वाभाविक कर्म है। (८२) और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण ये जो तीनों द्विज वर्ग [अर्थात् दो जन्मवाले, एक सामान्य जन्म जिसे लौकिक कहते हैं और दूसरा उपनयन के समय सावित्री मन्त्र के उपदेश से माना हुआ जन्म जिसे सावित्र कहते हैं] हैं उनकी सेवा करना शूद्र-कर्म है। (८३) द्विजों की सेवा के अतिरिक्त शूद्रों का दूसरा कर्म ही नहीं है। अब यह चारों वर्णों के उचित कर्मों का निरूपण हो चुका। (८४)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

हे ज्ञानी! इन जुदे-जुदे वर्णों के लिए यही कर्म उचित हैं। जैसे जुदी-जुदी इन्द्रियों के लिए शब्द आदि विषय योग्य हैं, (८५) अथवा हे पण्डुसुत! मेघों से गिरे हुए जल के लिए नदी, और नदी के लिए समुद्र ही उचित है, (८६) उसी प्रकार वर्णाश्रम के अनुरूप जो कर्तव्य गोरे मनुष्य के गोरेपन के समान स्वभावतः प्राप्त हुआ हो, (८७) उस स्वभाव-विहित कर्म का शास्त्रानुसार आचरण करने के लिए हे वीरोत्तम! अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए। (८८) जैसे रत्न अपना ही हो परन्तु परखैये के हाथ से परखा लिया जाता है वैसे ही स्वधर्म भी शास्त्र के द्वारा अवगत करना चाहिए। (८९) जैसे अपने पास दृष्टि रहती है पर दीपक के बिना उसका उपयोग नहीं किया जा सकता, अथवा रास्ता ही न मिला हो तो पाँव होने से ही क्या उपयोग हो सकता है? (९०) वैसे ही जाति के अनुसार जो अपना स्वाभाविक अधिकार हो उसे अपने शास्त्र से प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए (९१) फिर जैसे घर में ही द्रव्य रक्खा हुआ हो और वह दीपक के द्वारा दिखाई दे तो हे पाण्डव! उसकी प्राप्ति में क्या प्रतिबन्ध हो सकता है? (९२) वैसे ही जो स्वभावतः अपने बाँटे में आता है और शास्त्र से भी जिसकी प्रतीति होती है वह विहित कर्म जो करता है, (९३) तथा आलस्य को छोड़ फल की आशा का त्याग कर शरीर से और मन से जो उसी कर्म का आदर करता है, (९४) प्रवाह का जल जैसे इधर-उधर बहना नहीं जानता वैसे ही जो उस

खे के वृक्ष को देखकर निराशा-सी होती है, पर उसी समय उसका त्याग कर देने से उसके मधुर फल कैसे मिलेंगे ? (२५) उसी प्रकार स्वधर्म को कठिन जान कर दूर कर दिया जाय तो मनुष्य मोक्ष-सुख से वञ्चित रहेगा। (२६) अपनी माता यद्यपि कुब्जा हो तथापि जो प्रेम अपना जीवन है उसका वह प्रेम कुछ टेढ़ा नहीं है ? (२७) अन्य जो रम्भा से भी सुन्दर स्त्रियाँ हैं उनसे बालक को क्या मतलब ? (२८) अजी ! जल की अपेक्षा घी में निश्चय से बहुतेरे गुण हैं, तथापि मछली क्या घी में रह सकती है ? (२९) सम्पूर्ण जगत् के लिए जो विष है वही विष कीड़े के लिए अमृत है, और जगत् के लिए जो मधुर है वही वस्तु उस कीड़े के लिए मृत्युकारक होती है। (९३०) अतएव जिसके लिए जो कर्म विहित है [जिससे कि संसार का चरना छूटे,] वह कर्म यद्यपि कठिन हो तथापि उस उसी का आचरण करना चाहिए। (३१) दूसरों के आचार का आश्रय करने से ऐसा हाल होगा जैसे कि पाँवों से चलने की क्रिया सिर से की जाय। (३२) इसलिए अपने जातिस्वभाव के अनुसार जो कर्म प्राप्त हो वही करो। उसी कर्म-बन्धन टूटेगा। (३३) और हे पाण्डव ! यदि यह नियम न किया जाय कि स्वधर्म का पालन करना चाहिए और परधर्म का त्याग करना चाहिए (३४) तो जब तक आत्मा की प्रतीति नहीं होती तब तक कर्म करना क्या बन्द हो सकता है ? और जहाँ कर्म है वहाँ उसके आचरण के कष्ट पड़ते हैं (३५)

> सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

और फिर यदि हर किसी कर्म के आरम्भ में कष्ट होते हैं तो स्वधर्म में ही क्या दोष देखा ? (३६) अजी ! सीधे रास्ते से चलने से पाँवों को श्रम करना पड़ता है और ऊबड़-खाबड़ जङ्गली रास्ते से दौड़ने में भी उन्हीं को श्रम होता है। (३७) पत्थर बाँध के लाओ अथवा कलेवा बाँध कर लाओ बोझ दोनों वस्तुओं का पड़ता है, परन्तु जो विश्राम के लिए उपयोगी है वही वस्तु ले चलनी चाहिए। (३८) अन्न तथा भुस के कूटने में समान ही श्रम होता है, पकान का श्रम जितना कुत्ते के भोग के लिए होता है उतना ही हवि के लिए

की आँख से जो पसन्द पाई जाती है वह दासी भी हो तथापि स्वामिनी बन जाती है इस प्रकार उस दासी की सेवा विवाह में परिणत हो जाती है। (१२) अतः स्वामी के इच्छानुसार आचरण करने में भूल न करना ही उसकी परम सेवा है। हे पाण्डव! इसके अतिरिक्त आचरण करना वाणिज्य है। (१३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अतएव विहित कर्म करना कर्म करना नहीं, उस परमात्मा का मनोभाव पालना है जिससे कि सब भूतमात्र उत्पन्न हुए हैं, (१४) जो जीवरूपी गुड़िया को अविद्या रूपी चिन्धियाँ लपेट कर सत्व, रज और तम-रूपी तीन धागों की अहङ्कार-रूपी डोरी से नचाता है, (१५) और जो इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्बाह्य इस प्रकार भरा हुआ है जैसा कि दीपक तेज से भरा हुआ रहता है। (१६) हे वीर! विहित कर्म करना उस सर्वात्मक ईश्वर के अपार सन्तोष के हेतु उसकी स्वकर्मरूपी फूलों से पूजा करना ही है। (१७) अतः वह आत्मराज उस पूजा से सन्तुष्ट हो उस पुरुष को वैराग्य-सिद्धि का प्रसाद देता है। (१८) जिस वैराग्य-दशा में ईश्वर की ही धुन लग जाने के कारण अन्य सब विषय ऐसे अप्रिय हो जाते हैं मानों वमन किया हुआ अन्न हो। (१९) और जैसे प्राणनाथ की चिन्ता से विरहिन स्त्री को जीते रहना भी दुःख होता है, वैसे ही उस पुरुष को सम्पूर्ण सुख दुःख ही जान पड़ते हैं। (१२०) और वह मनुष्य ज्ञान की ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि उसे अपरोक्ष अनुभव होने के पूर्व ही केवल चिन्तन से ही तन्मयता हो जाती है। (२१) इसलिए मोक्ष का लाभ प्राप्त करने की जो मनुष्य इच्छा करता हो उसे स्वधर्म का आचरण उत्तम आस्थापूर्वक करना चाहिए। (२२)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

स्वामी! अपना धर्म यद्यपि आचरण में कठिन हो तथापि परिणाम में जो फल होनेवाला है उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। (२३) हे धनञ्जय! यदि अपने सुख के लिए नीम ही उपयोगी है तो उसकी कड़वाहट से उकताना नहीं चाहिए। (२४) फलने के पूर्व

कर लेने पर पुरुष सर्वत्र किस प्रकार रहता है, और पूर्ण होता हुआ क्या प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं। (५५)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जाली में जैसे वायु नहीं बाँधी जा सकती वैसे ही संसार में जो देह आदि जाल फैलाया है उसमें यह पुरुष नहीं उलझता। (५६) परिपाक के समय वृक्ष फल को नहीं सँभाल सकता अथवा फल जैसे वृक्ष को पकड़े नहीं रह सकता, वैसे ही उस पुरुष की आसक्ति सब विषयों के विषय में निर्बंध हो जाती है। (५७) पुत्र, धन या कलत्र उसके अधीन हो तथापि जैसे कोई विष के पात्र का स्वामित्व स्वीकार नहीं करता वैसे ही वह उन्हें भी अपने नहीं कहता। (५८) इतना ही नहीं वरन् जैसे कोई हाथ के जलते ही उसे पीछे खींच लेता है वैसे ही वह बुद्धि का विषय-मात्र से पीछे पलटा कर हृदय के एकान्त में प्रवेश करता है। (५९) इस प्रकार, स्वामी के भय से जैसे दासी उसकी आज्ञा का अनादर नहीं करती वैसे ही उसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के विषय में उसकी शपथ नहीं तोड़ता, (६१०) तथा वह अपने चित्त को एकता की मुट्ठी में दे उसे आत्मा का चसका लगा देता है। (६१) उस समय अग्नि को राख में दाब देने से जैसे धुआँ बन्द हो जाता है वैसे ही उसकी इस लोक की और परलोक की इच्छा आप ही आप बन्द हो जाती है। (६२) इसी प्रकार मन का नियमन करने से वासना अपने आप नष्ट हो जाती है। बहुत क्या कहें, उसे एक भूमिका (स्टेज) प्राप्त होती है। (६३) हे पाण्डव! उसका सम्पूर्ण विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता तथा उसका अन्तःकरण केवल ज्ञान का ही आश्रय लेता है। (६४) जमा किया हुआ पानी जैसे खर्च करते करते समाप्त हो जाता है वैसे ही वह प्रारब्ध का भोग भोगता रहता है और नया कर्म तो वह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। (६५) कर्म करने से जब इस प्रकार साम्य दशा हो जाती है तब हे वीरेश! उसे श्रीगुरु आप ही आप आ मिलते हैं। (६६) रात के चार पहर जाते ही जैसे नेत्रों को सूर्य का दर्शन होता है, (६७) अथवा फल आते ही जैसे केले के पेड़ की बाढ़ बन्द हो जाती है, वही बात मुमुक्षु की श्रीगुरु की भेंट होने पर होती है। (६८) चन्द्रमा जैसे

की कोख से जो उत्पन्न पाई जाती है वह दासी भी हो तथापि स्वामिनी बन जाती है इस प्रकार उस दासी की सेवा विवाह में परिणत हो जाती है। (१२) अतः स्वामी के इच्छानुसार आचरण करने में चूक न करना ही उसकी परम सेवा है। हे पाण्डव! इसके अतिरिक्त आचरण करना वाणिज्य है। (१३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अतएव विहित कर्म करना कर्म करना नहीं, उस परमात्मा का मनोगत पालना है जिससे कि सब भूतमात्र उत्पन्न हुए हैं, (१४) जो जीवरूपी गुड़िया को अविद्या रूपी चिन्दियाँ लपेट कर सत्त्व, रज और तम-रूपी तीन गुणों की अहङ्कार-रूपी डोरी से नचाता है, (१५) और जो इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्बाह्य इस प्रकार भरा हुआ है जैसा कि दीपक तेज से भरा हुआ रहता है। (१६) हे वीर! विहित कर्म करना उस सर्वात्मक ईश्वर के अपार सन्तोष के हेतु उसकी स्वकर्मरूपी फूलों से पूजा करना ही है। (१७) अतः वह आत्मराज उस पूजा से सन्तुष्ट हो उस पुरुष को वैराग्य-सिद्धि का प्रसाद देता है। (१८) जिस वैराग्य-दशा में ईश्वर की ही धुन लग जाने के कारण अन्य सब विषय ऐसे अप्रिय हो जाते हैं मानों वमन किया हुआ अन्न हो। (१९) और जैसे प्राणनाथ की चिन्ता से विरहिन स्त्री को जीते रहना भी दुःसह होता है, वैसे ही उस पुरुष को सम्पूर्ण सुख दुःख ही जान पड़ते हैं। (९२०) और वह मनुष्य ज्ञान की ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि उसे अपरोक्ष अनुभव होने के पूर्व ही केवल चिन्तन से ही तन्मयता हो जाती है। (२१) इसलिए मोक्ष का लाभ प्राप्त करने की जो मनुष्य इच्छा करता हो उसे स्वधर्म का आचरण उत्तम आस्थापूर्वक करना चाहिए। (२२)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

स्वामी! अपना धर्म यद्यपि आचरण में कठिन हो तथापि परिणाम में जो फल होनेवाला है उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। (२३) हे धनञ्जय! यदि अपने सुख के लिए नीम ही उपयोगी है तो उसकी कड़वाहट से घबराना नहीं चाहिए। (२४) फलने के पूर्व

की आँच से जो उत्तम पाई जाती है वह दासी भी हो तथापि स्वामिनी बन जाती है इस प्रकार उस दासी की सेवा विवाह में परिवर्त्त हो जाती है। (१२) अतः स्वामी के इच्छानुसार आचरण करने में भूल न करना ही उसकी परम सेवा है। हे पाण्डव! इसके अतिरिक्त आचरण करना वाणिज्य है। (१३)

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अतएव विहित कर्म करना कर्म करना नहीं, उस परमात्मा का मनोगत पालना है जिससे कि सब भूतमात्र उत्पन्न हुए हैं, (१४) जो जीवरूपी गुड़िया को अविद्या रूपी चिन्धियाँ लपेट कर सत्व, रज और तम-रूपी तीन लड़ों की अहङ्कार-रूपी डोरी से नचाता है, (१५) और जो इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्बाह्य इस प्रकार भरा हुआ है जैसा कि दीपक तेज से भरा हुआ रहता है। (१६) हे वीर! विहित कर्म उस सर्वात्मक ईश्वर के अपार सन्तोष के हेतु उसकी स्वकर्मरूपी फूलों से पूजा करना ही है। (१७) अतः वह आत्मराज उस पूजा से सन्तुष्ट हो उस पुरुष को वैराग्य-सिद्धि का प्रसाद देता है। (१८) जिस वैराग्य-दशा में ईश्वर की ही धुन लग जाने के कारण अन्य सब विषय ऐसे अप्रिय हो जाते हैं मानों वमन किया हुआ अन्न हो। (१९) और जैसे प्राणनाथ की चिन्ता से विरहिन स्त्री को जीते रहना भी दुःखप्रद होता है वैसे ही उस पुरुष को सम्पूर्ण सुख दुःख ही जान पड़ते हैं। (९२०) और वह मनुष्य ज्ञान की ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि उसे अपरोक्ष अनुभव होने के पूर्व ही केवल चिन्तन से ही तन्मयता हो जाती है। (२१) इसलिए मोक्ष का लाभ प्राप्त करने की जो मनुष्य इच्छा करता हो उसे स्वधर्म का आचरण उत्तम आस्थापूर्वक करना चाहिए। (२२)

> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
> स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अजी! अपना धर्म यद्यपि आचरण में कठिन हो तथापि परिणाम में जो फल होनेवाला है उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। (२३) हे धनञ्जय! यदि अपने सुख के लिए नीम ही उपयोगी है तो उसकी कड़वाहट से घबड़ाना नहीं चाहिए। (२४) फलने के पूर्व

कर लेने पर पुरुष सर्वत्र किस प्रकार रहता है, और पूर्ण होता हुआ क्या प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं। (५५)

असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाऽधिगच्छति ॥४९॥

आकाश में जैसे वायु नहीं बाँधी जा सकती वैसे ही संसार में जो देह आदि जाल फैलाया है उसमें वह पुरुष नहीं उलझता। (५६) परिपाक के समय उपठल फल को नहीं सँभाल सकता अथवा फल जैसे उपठल को पकड़े नहीं रह सकता, वैसे ही उस पुरुष की आसक्ति सब विषयों के विषय में निर्बल हो जाती है। (५७) पुत्र, धन या कलत्र उसके अधीन हो तथापि जैसे कोई विष के पात्र का स्वामित्व स्वीकार नहीं करता वैसे ही वह उन्हें भी अपना नहीं कहता। (५८) इतना ही नहीं बल्कि जैसे कोई हाथ के जलते ही उसे पीछे खींच लेता है वैसे ही वह बुद्धि को विषय-मात्र से पीछे पकड़ कर हृदय के एकान्त में प्रवेश करता है। (५९) इस प्रकार, स्वामी के भय से जैसे दासी उसकी आज्ञा का अनादर नहीं करती वैसे ही उसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के विषय में उसकी शपथ नहीं लाँघता, (९६०) तथा वह अपने चित्त को एकाग्रता की मुट्ठी में दे उसे आत्मा का चसका लगा देता है। (६१) उस समय अग्नि को राख में दाब देने से जैसे धुआँ बन्द हो जाता है वैसे ही उसकी इस लोक की और परलोक की इच्छा आप ही आप बन्द हो जाती है। (६२) इसी प्रकार मन का नियमन करने से वासना अपने आप नष्ट हो जाती है। बहुत क्या कहें, उसे एक भूमिका (स्थिति) प्राप्त होती है। (६३) हे पाण्डव! उसका सम्पूर्ण विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता तथा उसका अन्तःकरण केवल ज्ञान का ही आश्रय लेता है। (६४) जमा किया हुआ पानी जैसे खर्च करते करते समाप्त हो जाता है वैसे ही वह प्रारब्ध का भोग भोगता रहता है और नया कर्म तो वह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। (६५) यम करने से जब इस प्रकार साम्य दशा हो जाती है तब हे वीरेश! उसे श्रीगुरु आप ही आप आ मिलते हैं। (६६) रात के चार पहर जाते ही जैसे नेत्रों को सूर्य का दर्शन होता है, (६७) अथवा फल आते ही जैसे केले के पेड़ की बाढ़ बन्द हो जाती है, वही बात मुमुक्षु को सद्गुरु की भेंट होने पर होती है। (६८) चन्द्रमा जैसे

भी होता है। (३९) हे ज्ञानी! दही हो या मक्खन हो, मन्थन का श्रम दोनों में समान होता है। कोल्हू में तिल्ली डाली जाय या रेत, दोनों वस्तुएँ समान ही पेरी जाती हैं। (६४०) नित्य होम के लिए हो अथवा और किसी काम के लिए, आग सुलगाने के समय धुआँ सहने का कष्ट समान ही होता है (४१) धर्मपत्नी हो अथवा कोई व्यभिचारिणी स्त्री, दोनों के रखने में समान ही खर्च होता है, तो फिर धर्मपत्नी को छोड़ दूसरी स्त्री रखने की अपकीर्ति क्यों लेनी चाहिए? (४२) पीठ पर घाव लगने से यदि मृत्यु नहीं टलती तो शत्रु के घाव से मरना क्या अधिक कीर्तिकारक नहीं है? (४३) कुल-स्त्री दूसरे के घर में घुसे और फिर भी डण्डे की मार सहती रहे, तो उसने अपने पति को वृथा ही छोड़ दिया (४४) वैसे, चाहे जो कर्म हो यदि यह श्रम किये बिना नहीं हो सकता तो यह क्योंकर कहा जा सकता है कि विहित कर्म ही कठिन है? (४५) और हे पाण्डुसुत! जिससे जीवन को अविनाशिता का लाभ होता है वह अमृत थोड़ा सा भी लेने के लिए यदि सर्वस्व खर्च हो जाय तो कुछ हानि नहीं। (४६) पर जिस विष से मृत्यु प्राप्त होती है और आत्म-हत्या का दोष लगता है उसे मोल लेकर क्यों पीना चाहिए? (४७) वैसे ही इन्द्रियों को कष्ट दे सम्पूर्ण आयुष्य के दिन खर्च कर पापों का आचरण करने से दुःख के अतिरिक्त और क्या प्राप्त होता है? (४८) इसलिए स्वधर्म का आचरण [जो श्रम का परिहार करता है और उचित और श्रेष्ठ पुरुषार्थों के राजा मोक्ष को प्राप्त करा देता है] करना चाहिए। (४९) अतएव हे किरीटी! संकट के समय जैसे सिद्धमन्त्र को न भूलना चाहिए, वैसे ही स्वधर्माचरण कभी न छोड़ना चाहिए (६५०) अथवा समुद्र में जैसे नाव का त्याग न करना चाहिए महारोग में जैसे दिव्य औषधि को न त्यागना चाहिए, उसी प्रकार संसार में स्वधर्म न छोड़ना चाहिए। (५१) क्योंकि हे धनञ्जय! स्वधर्म करते रहने से ईश्वर स्वधर्म की महापूजा से सन्तुष्ट हो रज और तम को झाड़ कर (५२) अपनी वासना को सत्त्व के मार्ग पर ले जाता है और यह प्रतीत करा देता है कि संसार और स्वर्ग दोनों कालकूट विष हैं, (५३) अधिक क्या कहें, पहले हमने वैराग्य नाम के जिस संसिद्धि का वर्णन किया था वही पद प्राप्त करा देता है। (५४) अब यह भूमिका हस्तगत

कर लेने पर पुरुष सर्वत्र किस प्रकार रहता है, और पूर्ण होता हुआ क्या प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं। (५५)

असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥४९॥

जाली में जैसे वायु नहीं बाँधी जा सकती वैसे ही संसार में जो देह आदि जाल फैलाया है उसमें वह पुरुष नहीं उलझता। (५६) परिपाक के समय डण्ठल फल को नहीं सँभाल सकता अथवा फल जैसे डण्ठल को पकड़े नहीं रह सकता, वैसे ही उस पुरुष की आसक्ति सब विषयों के विषय में निर्बल हो जाती है। (५७) पुत्र, धन या कलत्र उसके अधीन हो तथापि जैसे कोई विष के पात्र का स्वामित्व स्वीकार नहीं करता वैसे ही वह उन्हें भी अपने नहीं कहता। (५८) इतना ही नहीं वरन् जैसे कोई हाथ के जलते ही उसे पीछे खींच लेता है वैसे ही वह बुद्धि को विषय-मात्र से पीछे पलटा कर हृदय के एकान्त में प्रवेश करता है। (५९) इस प्रकार, स्वामी के भय से जैसे दासी उसकी आज्ञा का अनादर नहीं करती वैसे ही उसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के विषय में उसकी शपथ नहीं तोड़ता, (६१०) तथा वह अपने चित्त को एकता की मुट्ठी में दे उसे आत्मा का वशवर्ती बना देता है। (११) उस समय अग्नि को राख में दाब देने से जैसे धुआँ मन्द हो जाता है वैसे ही उसकी इस लोक की और परलोक की इच्छा आप ही आप मन्द हो जाती है। (१२) इसी प्रकार मन का नियमन करने से कामना अपने आप नष्ट हो जाती है। बहुत क्या कहें, उसे एक भूमिका (स्टेज) प्राप्त होती है। (१३) हे पाण्डव! उसका सम्पूर्ण विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता तथा उसका अन्तःकरण केवल ज्ञान का ही आश्रय लेता है। (१४) जमा किया हुआ पानी जैसे खर्च करते करते समाप्त हो जाता है वैसे ही वह प्रारब्ध का भोग भोगता रहता है और नया कर्म तो वह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। (१५) कर्म करने से जब इस प्रकार साम्य दशा हो जाती है तब हे वीरेश! उसे श्रीगुरु आप ही आप आ मिलते हैं। (१६) रात के चार पहर जाने ही जैसे नेत्रों को सूर्य का दर्शन होता है, (१७) अथवा फल लगते ही जैसे केले [illegible] की बाढ़ बन्द हो जाती है, वही बात मुमुक्षु को श्रीगुरु के [illegible] ने पर होती है। (१८) चन्द्रमा जैसे

पूर्णमासी की भेंट होते ही अपनी न्यूनता छोड़ देता है वही स्थिति हे वीरोत्तम ! गुरु-कृपा के बल उसकी हो जाती है। (६६) जिस प्रकार अज्ञान हो सब गुरु-कृपा से नष्ट हो जाता है, तथा रात्रि के साथ जैसे अन्धकार का भी नाश हो जाता है। (६७०) वैसे ही अज्ञान के पेट में जो कर्म, कर्ता और कार्य-रूपी त्रिपुटी रहती है वह मानों गर्भिणी अवस्था में ही नष्ट हो जाती है। (७१) इस प्रकार अज्ञान के नाश के साथ सम्पूर्ण कर्म का नाश हो जाता है। अर्थात् मूल के साथ कर्म का त्याग करने से संन्यास सिद्ध होता है। (७२) इस मूल अज्ञान का संन्यास करने पर मनुष्य जहाँ देखे वहाँ स्वयं अपना ही स्वरूप देखता है। (७३) स्वप्न में यदि हम दह में गिरते हैं तो जाग पड़ने पर क्या हमें उस दह में से निकालना पड़ता है ? (७४) वैसे ही उस मनुष्य का 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं ज्ञान सीखता हूँ' आदि कुस्वप्न बन्द हो जाता है, और वह ज्ञाता या ज्ञेय के परे जाकर चिद्रूप हो जाता है। (७५) हे वीरेश ! जैसे दर्पण को मुख के प्रतिबिम्ब-सहित अलग करने से देखनेहारा बिना देखे ही रह जाता है (७६) वैसे ही अज्ञान चला जाता है तो उसके साथ ज्ञान भी नहीं रहता और फिर क्रिया-रहित ज्ञान स्वरूप ही शेष रह जाता है। (७७) उसकी स्वभावतः कोई क्रिया नहीं रहती इसलिए उसका नाम निष्क्रिय है। (७८) वह स्वयं भी अपना स्वरूप है तथापि वह भी मिथ्या ही विलीन हो जाता है, जैसे वायु के बन्द होते ही तरङ्ग विलीन हो केवल समुद्र ही रह जाता है। (७९) इस प्रकार जो निष्कर्मता उत्पन्न होती है। वही नैष्कर्म्यसिद्धि जानो। सब सिद्धियों में स्वभावतः श्रेष्ठ वही है। (९८०) मन्दिर के काम में जैसे कलश श्रेष्ठ है, गङ्गा के लिए जैसे समुद्र-प्रवेश श्रेष्ठ है, अथवा सुवर्ण-शुद्धि के विषय में जैसे सोलहवाँ वस श्रेष्ठ है, (८१) वैसे ही ज्ञान से अपना अज्ञान मिटा देना और फिर उस ज्ञान को भी खोकर बैठना—ऐसी दशा के (८२) अतिरिक्त और कुछ निष्पन्न नहीं हो सकता इसलिए उस दशा को परम सिद्ध कहते हैं। (८३) परन्तु जिस भाग्यवान् को श्रीगुरु कृपाप्राप्ति-पूर्वक आत्मसिद्धि प्राप्त हो जाय उसे (८४)

> सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
> समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

—सूर्य का उदय होते ही जैसे अन्धकार प्रकाशरूप हो जाता है, अथवा दीपक के संसर्ग से कपूर भी दीपरूप हो जाता है, (८९) लवण का कण जैसे जल में मिलते ही जलरूप हो जाता है, (८६) अथवा जगा देने पर जैसे सोये हुए मनुष्य की नींद का नाश स्वप्न-सहित हो जाता है और वह जैसे अपनी स्थिति को आ पहुँचता है, (८७) वैसे ही जिस किसी के भाग्य से गुरु-वाक्य-श्रवण के साथ ही द्वैत का नाश हो वृत्ति आप ही आप विश्राम पा जाती है (८८) उसे फिर कर्म करना शेष रह जाता है, यह कौन कह सकता है? आकाश क्या कहीं आता-जाता है? (८६) उसका निश्चय से कोई कर्तव्य नहीं रहता। परन्तु जिस किसी की ऐसी स्थिति नहीं होती (६६०) कि श्रवणों पर उपदेश-वचन पड़ते ही हे किरीटी! वह ब्रह्मस्वरूप हो जाय, (६१) परन्तु जिसने स्वधर्मरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म-रूपी ईंधन के रूप से प्रथम रज और तम दोनों को जला डाला है, (९२) पुत्र वित्त और परलोक इन तीनों की इच्छा जिसके घर की दासी बन गई है, (९३) जो इन्द्रियाँ विषयों में स्वच्छन्द प्रवेश कर पापमय हो गई थीं उन्हें जिसने संयमरूपी तीर्थ में नहलाया है (६४) और सब स्वधर्मरूपी फल ईश्वर को अर्पण कर अटल वैराग्य-पद प्राप्त कर लिया है—(६५) इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में परिणत होने वाला ज्ञान की उत्कर्ष दशा का लाभ करनेवाली सब सामग्री जिसने प्राप्त कर ली है, (६६) और उसी समय उसे सद्गुरु की भेंट हो गई है और उन्होंने भी उस किसी बात से वञ्चित नहीं रक्खा (६७) [तथापि क्या औषधि लेने के साथ ही आरोग्य प्राप्ति हो सकती है? अथवा दिन निकलते ही क्या मध्याह्न हो सकता है? (६८) खेत अच्छा हो और धरती भीगी हुई हो तो उसमें यदि उत्तम बीज बोया जाय तो भरपूर फल का लाभ होगा, परन्तु समय आने पर ही होगा, (६६) रास्ता सुगम हो और संग भी सज्जनों का मिले तो इष्ट स्थान को पहुँचेंगे अवश्य ही परन्तु समय ही लगेगा] (१०००) हाँ, तो जिसे वैराग्य का लाभ और सद्गुरु की भेंट हो जाय और अन्तःकरण में विवेक का अंकुर फूट हो (१) उसे इस बात की दृढ़ प्रतीति अवश्य हो जाती है कि ब्रह्म एक है और अन्य सब भ्रम है, (२) तथापि वास्तव में जो सर्वात्मक सर्वोत्तम और सर्वोत्तम है जहाँ मोक्ष का कोई नाम ही नहीं रहता, हे किरीटी! जो ज्ञान संकर की तीनों अव-

पूर्णमासी की भेंट होते ही अपनी न्यूनता छोड़ देता है वही स्थिति हे वीरोत्तम! गुरु-कृपा के वश उसकी हो जाती है। (६९) फिर जिस अज्ञान को सब गुरु-कृपा से नष्ट हो जाता है, तब रात्रि के साथ जैसे अन्धकार का भी नाश हो जाता है। (९७०) वैसे ही अज्ञान के पेट में जो कर्म, कर्ता और कार्य-रूपी त्रिपुटी रहती है वह गर्भिणी अवस्था में ही नष्ट हो जाती है। (७१) इस प्रकार अज्ञान के नाश के साथ सम्पूर्ण कर्म का नाश हो जाता है। अर्थात् मूल के साथ कर्म का त्याग करने से संन्यास सिद्ध होता है। (७२) इस तरह अज्ञान का संन्यास करने पर मनुष्य जहाँ देखे वहाँ उसे अपना ही स्वरूप देखता है। (७३) स्वप्न में यदि हम दह में गिरते हैं वे जाग पड़ने पर क्या हमें उस दह में से निकालना पड़ता है? (७४) वैसे ही उस मनुष्य का 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं ज्ञान सीखता हूँ' आदि दुःस्वप्न बन्द हो जाता है, और वह ज्ञाता या ज्ञेय के परे जाकर निराकार हो जाता है। (७५) हे वीरेश! जैसे दर्पण को मुख के प्रतिबिम्ब-सहित अलग करने से देखनेहारा बिना देखे ही रह जाता है (७६) वैसे ही अज्ञान चला जाता है तो उसके साथ ज्ञान भी नहीं रहता और फिर क्रिया-रहित ज्ञान स्वरूप ही शेष रह जाता है। (७७) उसकी स्वभावतः कोई क्रिया नहीं रहती इसलिए उसका नाम निष्क्रिय है। (७८) वह स्वयं भी अपना स्वरूप है तथापि वह भी मिथ्या ही विलीन हो जाता है, जैसे वायु के बन्द होते ही तरङ्ग विलीन हो केवल समुद्र ही रह जाता है। (७९) इस प्रकार जो निष्कर्मता उत्पन्न होती है। वही नैष्कर्म्यसिद्धि जानो। सब सिद्धियों में स्वभावतः श्रेष्ठ यही है। (९८०) मन्दिर के काम में जैसे कलश श्रेष्ठ है, गङ्गा के लिए जैसे समुद्र-प्रवेश श्रेष्ठ है, अथवा सुवर्ण-शुद्धि के विषय में जैसे सोलहवाँ कस श्रेष्ठ है, (८१) वैसे ही ज्ञान से अपना अज्ञान मिटा देना और फिर उस ज्ञान को भी लील बैठना—ऐसी दशा के (८२) अतिरिक्त और कुछ निष्पन्न नहीं हो सकता इसलिए उस दशा को परम सिद्धि कहते हैं। (८३) परन्तु जिस भाग्यवान् को श्रीगुरु कृपाप्राप्ति-पूर्वक आत्मस्थिति प्राप्त हो जाय उसे (८४)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

—सूर्य का उदय होते ही जैसे अन्धकार प्रकाशरूप हो जाता है, अथवा दीपक के संसर्ग से कपूर भी दीपरूप हो जाता है, (८५) लवण का कण जैसे जल में मिलते ही जलरूप हो जाता है, (८६) अथवा जगा देने पर जैसे सोये हुए मनुष्य की नींद का नाश स्वप्न-सहित हो जाता है और वह जैसे अपनी स्थिति को आ पहुँचता है, (८७) वैसे ही जिस किसी के भाग्य से गुरु-वाक्य-श्रवण के साथ ही द्वैत का नाश हो वृत्ति आप ही आप विश्राम पा जाती है (८८) उसे फिर कर्म करना शेष रह जाता है, यह कौन कह सकता है? आकाश क्या कहीं आता-जाता है? (८९) उसका निश्चय से कोई कर्तव्य नहीं रहता। परन्तु जिस किसी की ऐसी स्थिति नहीं होती (९९०) कि श्रवणों पर उपदेश-वचन पड़ते ही हे किरीटी! वह ब्रह्मस्वरूप हो जाय, (९१) परन्तु जिसने स्वकर्मरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म-रूपी ईंधन के रूप से प्रथम रज और तम दोनों को जला डाला है, (९२) पुत्र, वित्त और परलोक इन तीनों की इच्छा जिसके घर की दासी बन गई है (९३) जो इन्द्रियाँ विषयों में स्वच्छन्द प्रवेश कर पापमय हो गई थीं उन्हें जिसने संयमरूपी तीर्थ में नहलाया है (९४) और सब स्वधर्मरूपी फल ईश्वर को अर्पण कर अटल वैराग्य-पद प्राप्त कर लिया है—(९५) इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में परिणत होने वाला ज्ञान की उत्कर्ष दशा का लाभ करनेवाली सब सामग्री जिसने प्राप्त कर ली है, (९६) और उसी समय उसे सद्गुरु की भेंट हो गई है और उन्होंने भी उसे किसी बात से वञ्चित नहीं रक्खा (९७) [तथापि क्या औषधि लेने के साथ ही आरोग्य प्राप्ति हो सकती है? अथवा दिन निकलते ही क्या मध्याह्न हो सकता है? (९८) खेत अच्छा हो और धरती भीगी हुई हो तो उसमें यदि उत्तम बीज बोया जाय तो अटूट फल का लाभ होगा परन्तु समय आने पर ही होगा, (९९) रास्ता सुगम हो और संग भी सज्जनों का मिले तो इष्ट स्थल को पहुँचेंगे अवश्य ही परन्तु समय ही लगेगा] (१०००) हाँ तो जिसे वैराग्य का लाभ और सद्गुरु की भेंट हो जाय और अन्तःकरण में विवेक का अंकुर फूटा हो (१) उसे इस बात की दृढ़ प्रतीति अवश्य हो जाती है कि ब्रह्म एक है और अन्य सब भ्रम है, (२) तथापि वास्तव में जो परब्रह्म सर्वात्मक और सर्वोत्तम है, जहाँ मोक्ष का कोई काम ही नहीं रहता [illegible] किरीटी! जो ज्ञान संसार की तीनों अव-

पूर्णमासी की भेंट होते ही अपनी न्यूनता छोड़ देता है वही स्थिति हे वीरोत्तम! गुरु-कृपा के वश उसकी हो जाती है। (६९) फिर जिस अज्ञान को उस गुरु-कृपा से नष्ट हो जाता है, तथा रात्रि के साथ जैसे अन्धकार का भी नाश हो जाता है। (९७०) वैसे ही अज्ञान के पेट में जो कर्म, कर्ता और कार्य-रूपी त्रिपुटी रहती है वह सर्व गर्भिणी अवस्था में ही नष्ट हो जाती है। (७१) इस प्रकार अज्ञान के नाश के साथ सम्पूर्ण कर्म का नाश हो जाता है। अर्थात् मूल के साथ कर्म का त्याग करने से संन्यास सिद्ध होता है। (७२) इस मूल अज्ञान का संन्यास करने पर मनुष्य जहाँ देखे वहाँ स्वयं अपना ही स्वरूप देखता है। (७३) स्वप्न में यदि हम दह में गिरते हैं तो जाग पड़ने पर क्या हमें उस दह में से निकालना पड़ता है? (७४) वैसे ही उस मनुष्य का 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं अब सीखता हूँ' आदि दुःस्वप्न बन्द हो जाता है, और वह ज्ञाता या ज्ञेय के परे जाकर निराकार हो जाता है। (७५) हे वीरेश! जैसे दर्पण को मुख के प्रतिबिम्ब-सहित त्याग करने से देखनेहारा बिना देखे ही रह जाता है (७६) वैसे ही अज्ञान चला जाता है तो उसके साथ ज्ञान भी नहीं रहता और फिर क्रिया-रहित ज्ञान स्वरूप ही शेष रह जाता है। (७७) उसकी स्वभावतः कोई क्रिया नहीं रहती इसलिए उसका नाम निष्क्रिय है। (७८) वह स्वयं भी अपना स्वरूप है तथापि वह भी मिथ्या ही विलीन हो जाता है, जैसे वायु के बन्द होते ही तरङ्ग विलीन हो केवल समुद्र ही रह जाता है। (७९) इस प्रकार जो निष्कर्मता उत्पन्न होती है, वही नैष्कर्म्यसिद्धि जानो। उन सिद्धियों में स्वभावतः श्रेष्ठ वही है। (९८०) मन्दिर के काम में जैसे कलश श्रेष्ठ है, गङ्गा के लिए जैसे समुद्र-संगम श्रेष्ठ है, अथवा सुवर्ण-शुद्धि के विषय में जैसे सोलहवाँ कस श्रेष्ठ है, (८१) वैसे ही ज्ञान से अपना अज्ञान मिटा देना और फिर उस ज्ञान को भी खोकर बैठना—ऐसी दशा के (८२) अतिरिक्त और कुछ निष्पन्न नहीं हो सकता इसलिए उस दशा को परम सिद्ध कहते हैं। (८३) परन्तु जिस भाग्यवान् को श्रीगुरु कृपाप्राप्ति-पूर्वक आत्मसिद्धि प्राप्त हो जाय उसे (८४)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

—सूर्य का उदय होते ही जैसे अन्धकार प्रकाशरूप हो जाता है, अथवा दीपक के संसर्ग से कपूर भी दीपरूप हो जाता है, (८५) लवण का कण जैसे जल में मिलते ही जलरूप हो जाता है, (८६) अथवा जगा देने पर जैसे सोये हुए मनुष्य की नींद का नाश स्वप्न-सहित हो जाता है और वह जैसे अपनी स्थिति को आ पहुँचता है, (८७) वैसे ही जिस किसी के भाग्य से गुरु-वाक्य-श्रवण के साथ ही द्वैत का नाश हो वृत्ति आप ही आप विश्राम पा जाती है (८८) उसे फिर कर्म करना शेष रह जाता है, यह कौन कह सकता है? आकाश क्या कहीं आता-जाता है? (८९) उसका निश्चय से कोई कर्तव्य नहीं रहता। परन्तु जिस किसी की ऐसी स्थिति नहीं होती (९९०) कि श्रवणों पर उपदेश-वचन पड़ते ही हे किरीटी! वह ब्रह्मस्वरूप हो जाय, (९१) परन्तु जिसने स्वकर्मरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म-रूपी ईंधन के रूप से प्रथम रज और तम दोनों को जला डाला है, (९२) पुत्र, वित्त और परलोक इन तीनों की इच्छा जिसके घर की दासी बन गई है, (९३) जो इन्द्रियाँ विषयों में स्वच्छन्द प्रवेश कर पापमय हो गई थीं उन्हें जिसने संयमरूपी तीर्थ में नहलाया है (९४)-और सब स्वधर्मरूपी फल ईश्वर को अर्पण कर अटल वैराग्य-पद प्राप्त कर लिया है—(९५) इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में परिणत होनेवाला ज्ञान की उत्कर्ष दशा का लाभ करानेवाली सब सामग्री जिसने प्राप्त कर ली है, (९६) और उसी समय उसे सद्गुरु की भेंट हो गई है और उन्होंने भी उसे किसी बात से वंचित नहीं रक्खा (९७)-[तथापि क्या औषधि लेने के साथ ही आरोग्य प्राप्ति हो सकती है? अथवा दिन निकलते ही क्या मध्याह्न हो सकता है? (९८) खेत अच्छा हो और धरती भीगी हुई हो तो उसमें यदि उत्तम बीज बोया जाय तो अटूट फल का लाभ होगा परन्तु समय आने पर ही होगा, (९९) रास्ता सुगम हो और साथ भी सज्जनों का मिले तो इष्ट स्थान को पहुँचेंगे अवश्य ही परन्तु समय ही लगेगा] (१०००) हाँ, तो जिसे वैराग्य का लाभ और सद्गुरु की भेंट हो जाय और अन्तःकरण में विवेक का अंकुर फूटा हो (१) उसे इस बात की दृढ़ प्रतीति अवश्य हो जाती है कि ब्रह्म एक है और अन्य सब भ्रम है, (२) तथापि वास्तव में जो परब्रह्म सर्वात्मक और सर्वोत्तम है जहाँ मोक्ष का कोई काम ही नहीं रहता, किरीटी! जो ज्ञान संसार की तीनों अव-

पूर्णमासी की भेंट होते ही अपनी न्यूनता छोड़ दे[illegible] है (४) हे वीरोत्तम ! गुरु-कृपा के बल उसकी हो जाती है [illegible] की जीव अज्ञान हो सब गुरु-कृपा से नष्ट हो जा[illegible] शेष बच रहती जैसे अन्धकार का भी नाश हो जाता है [illegible] से ही प्राप्त हो पेट में जो कर्म, कर्ता और कार्य[illegible] जाय तथापि वह जैसे गर्भिणी अवस्था में ही नष्ट हो [illegible] (७) वैसे ही वैराग्य के नाश के साथ सम्पूर्ण कर्म[illegible] आने पर क्रमशः आत्मरूपी साथ कर्म का त्याग कर[illegible] आत्मसम्पत्ति का उपभोग लेने अज्ञान का संन्यास[illegible]नन्तर अलंकृत है (९) वह जिस क्रम के ही स्वरूप देख[illegible] कर लेता है उस क्रम का मर्म कथन करते हैं, जाग पड़ने वैसे ही [illegible] गुरु[illegible] हो

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
> शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

[illegible] गुरु के बताये हुए मार्ग से विवेकरूपी तीर्थ के किनारे [illegible] बुद्धि का मल धो डालता है (११) जिससे बुद्धि शुद्ध हो आत्मस्वरूप से जो मिलती है, मानों राहु के ग्रास से छूट हुई प्रभा को चन्द्रमा ने आलिङ्गन किया हो। (१२) कुल की जैसे दोनों कुलों का अभिमान छोड़ केवल अपने प्रिय पति का अनुसरण करती है वैसे ही वह बुद्धि द्वैत का त्याग कर आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाती है। (१३) और सच्चा ज्ञानरूपी प्रिय वस्तु खिला-पिला कर इन्द्रियों ने जिन शब्द इत्यादि विषयों की महिमा बढ़ा रक्खी है (१४) उन पाँचों विषयों का वह मनुष्य वृत्तिनिरोध के द्वारा ऐसा लय कर देता है जैसा कि किरणसमूह दूर होते ही मृगजल विलीन हो जाता है। (१५) जिन जाने यदि नीच मनुष्य का अन्न खाया जाय तो जैसे वमन कर देना चाहिए वैसे ही वह इन्द्रियों से वासना-सहित विषय को उगल डालता है (१६) और फिर उन इन्द्रियों को प्रत्यगात्मारूपी गङ्गा के तीर पर ले जाकर शुद्ध करता है। इस प्रकार वह शुद्ध प्रायश्चित्त करता है। (१७) अनन्तर वह उन इन्द्रियों का सात्त्विक धैर्य से शोधन कर उन्हें मन सहित योग-धारणा में प्रवृत्त करता है (१८) तथा अनुकूल या प्रतिकूल प्रारब्ध का भोग प्राप्त हो तो भी वह अनिष्ट भोग देखकर उसका तिरस्कार नहीं करता,

(१९) और यदि कदाचित् वह भोग सन्मुख रक्खे जायँ तो उनके लिए भी वह साभिलाष नहीं होता। (१०२०) इस प्रकार हे किरीटी! वह मनुष्य अनुकूल या प्रतिकूल विषयों का राग या द्वेष छोड़ कर गिरि-कन्दराओं या निर्जन वनों में जा बसता है। (२१)

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

संसार की गपचप बस्ती छोड़ वह वनस्थलों को अकेले अपने अङ्ग-समुदाय से बसाता है। (२२) शम, दम इत्यादि उसके खेल हैं, मौन उसका बोलना है, गुरुवाक्य के चिन्तन से उसे और काम के लिए समय ही नहीं मिलता। (२३) और भोजन करते समय वह—शरीर का बल बढ़े अथवा क्षुधा शान्त हो अथवा जीभ की रुचि तृप्त हो—इन तीनों बातों की परवा नहीं करता। वह अल्प आहार से सन्तोष मानता है पर उसका माप कभी नहीं करता। (२४-२५) कुछ भी न खाने से जठराग्नि प्रदीप्त होकर प्राणों का नाश होने की सम्भावना है, अतएव वह उतना ही थोड़ा सा आहार करता है जिससे प्राणों की रक्षा हो। (२६) और पर पुरुष इच्छा करे तथापि कुलस्त्री जैसे उसके वश नहीं होती वैसे ही वह इतना आहार नहीं करता कि निद्रा या आलस के वश हो जाय। (२७) केवल दण्डवत् करने के समय ही उसका शरीर धरती से लगता है, अन्यथा उससे और कुछ अविचार नहीं होता। (२८) वह उतने ही प्रमाण से हाथ-पाँव हिलाता है जितने से शरीर के व्यापार हों। किंबहुना, उसने अन्तर्बाह्य सब कुछ अपने अधीन कर लिया रहता है। (२९) और हे वीर! जब वह अपनी वृत्ति को मन की देहली भी नहीं खूँदने देता तो वहाँ वाणी के व्यापार के लिए कहाँ अवसर मिल सकता है? (१०३०) इस प्रकार शरीर, वाचा और मनरूपी बाह्य-प्रदेशों को जीत कर वह ध्यान के आकाश को अपने काबू में कर लेता है। (३१) और गुरु के उपदेश से जागृत हो वह अपने ज्ञान का इस प्रकार निश्चय कर लेता है जैसे कोई दर्पण में अपना रूप देख ले। (३२) स्वयं ध्याता परमेश्वर है, परन्तु वृत्ति में वही ध्यान-रूप होकर निज को ही ध्येय बना उसका ध्यान करता है। यह उसके ध्यान की रीति है। (३३) इस प्रकार जब तक ध्येय, ध्याता और ध्यान तीनों एकरूप न हो जायँ तब तक हे पाण्डुसुत! वह ध्यान करता रहता है।

-स्थानों का क्षय करता है उस ज्ञान को भी जो वस्तु चपेट लेती है, (४) जहाँ ऐक्य की एकता भी नहीं रहती, जहाँ आनन्द का अंश भी क्षीण हो जाता है, और कुछ भी न होते हुए जो एक वस्तु शेष बच रहती है, (५) उस ब्रह्म से एक ही ब्रह्मस्वरूप हो रहना क्रम से ही प्राप्त हो सकता है। (६) भूखे को षड्रस अन्न परोसा जाय तथापि वह जैसे कौर पर कौर लेकर ही तृप्ति प्राप्त करता है, (७) वैसे ही वैराग्य के आश्रय से विवेकरूपी दीपक प्रकाशित करने पर क्रमशः आत्मरूपी निधान हाथ लगता है। (अतः) जो आत्मसम्पत्ति का उपभोग लेने योग्य योग्यता की सिद्धि से निरन्तर अलंकृत है (९) वह जिस क्रम के द्वारा ब्रह्मरूप की प्राप्ति सुलभ कर लेता है उस क्रम का मर्म कथन करते हैं, सुनो। (१०१०)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

प्रथम वह गुरु के बताये हुए मार्ग से विवेकरूपी तीर्थ के किनारे पहुँचकर बुद्धि का मल धो डालता है (११) जिससे बुद्धि शुद्ध हो आत्मस्वरूप से जा मिलती है, मानों राहु के ग्रास से छूटी हुई प्रभा को चन्द्रमा ने आलिङ्गन किया हो। (१२) कुल की जैसे दोनों कुलों का अभिमान छोड़ केवल अपने प्रिय पति का अनुसरण करती है वैसे ही वह बुद्धि द्वैत का त्याग कर आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाती है। (१३) और सर्वदा ज्ञानरूपी प्रिय वस्तु खिला-पिला कर इन्द्रियों ने जिन शब्द इत्यादि विषयों की महिमा बढ़ा रक्खी है (१४) उन पाँचों विषयों का वह मनुष्य वृत्तिनिरोध के द्वारा ऐसा क्षय कर देता है जैसा कि किरणसमूह दूर होते ही मृगजल विलीन हो जाता है। (१५) बिना जाने यदि नीच मनुष्य का अन्न खाया जाय तो जैसे वमन कर देना चाहिए वैसे ही वह इन्द्रियों से वासना-सहित विषय को वमन डालता है (१६) और फिर उन इन्द्रियों को प्रत्यगात्मारूपी गङ्गा के तीर पर ले जाकर शुद्ध करता है। इस प्रकार वह शुद्ध प्रायश्चित्त करता है। (१७) अनन्तर वह उन इन्द्रियों का सात्त्विक धैर्य से शोधन कर उन्हें मन सहित योगधारणा में प्रवृत्त करता है (१८) तथा अनुकूल या प्रतिकूल प्रारब्ध का भोग प्राप्त हो तो भी वह अनिष्ट भोग देखकर उसका तिरस्कार नहीं करता

भी मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता, पैर कभी धीमे नहीं देता, और केवल इस इन्द्रियों के खंचे में ठसाठस भर देता है। (५१) हे वीर! उस देहाभिमान का देहरूपी किला जो आसरा है उसी को वह मुमुक्षु तोड़ डालता है। दूसरा वैरी, जिसे वह मारता है, बल है (५२) जो विषयों के नाम से चौगुना बलवान् हो जाता है और जिसके कारण अन्यत्र सब जगह मरी ही छा जाती है। (५३) वह विषयरूपी विष का घर है, सम्पूर्ण दोषों का राजा है, परन्तु वह ध्यानरूपी खड्ग का घाव कैसे सह सकता है? (५४) उसी प्रकार प्रिय विषयों की प्राप्ति होने से जो सुख उत्पन्न होता है उसी का आच्छादन ले जो शरीर में प्रकट होता है, (५५) जो सन्मार्ग भुला देता है और अधर्म रूपी जंगली रास्ते में डाल नरक इत्यादि-रूपी बाघों के वश करा देता है, (५६) उस दर्पनामक शत्रु को वह मुमुक्षु मद्दारूपी शस्त्र से मार उसका अन्त कर देता है। और तपस्वी जिससे भय खाते हैं, (५७) क्रोध-सरीखा महादोष जिसका परिणाम है, जिसकी जितनी ही पूर्ति की जाय उतना ही और अधिक रीता होता जाता है, (५८) उस काम को वह ऐसा अदृश्य कर डालता है कि वह फिर कभी दिखाई ही नहीं देता। वही स्थिति क्रोध की भी होती है। (५९) जड़ टूटना जैसे शाखाओं के नाश का हेतु हो जाता है वैसे ही काम के नाश से क्रोध का भी नाश हो जाता है। (१०६०) अतः जहाँ कामरूपी शत्रु छिपने लग गया वहाँ क्रोध का आवागमन भी बन्द हो गया समझना चाहिए। (६१) और राजा जैसे, मस्तिष्क से, जिसको बेड़ियाँ पहनानी हों उसी के सिर उनको ढुलवा ले जाता है, वैसे ही जो परिग्रह-भोग से और बलवान् हो (६२) सिर पर बैठता है, गले अवगुण लगा देता है, और अन्तःकरण के हाथ "यह मेरा है" ऐसा अभिमान का दण्ड धारण करवाता है, (६३) शिष्य-सम्प्रदाय-पद्धति के द्वारा और मठ इत्यादि या पाठशाला इत्यादि के मिस से निःसङ्ग भी जिसके फन्दे में आ जाते हैं (६४) पर देखिए जो कुटुम्ब का त्याग किया है पर वन में जो वनसम्बन्धी विषयों में ममत्व-रूप से दिखाई देता है, जो नङ्गों के शरीर में भी लगा हुआ है, (६५) ऐसा दुर्जय जो परिग्रह है उसका ठौर मिटा कर जो मुमुक्षु संसार के निर्मोहत्व का उपभोग लेता है, (६६) उसके समीप अमानित्व इत्यादि जो ज्ञान-गुणों का समुदाय है वे मानो माण्ड देश के राजाओं की तरह आते हैं (६७) और उस सम्यग्ज्ञान रूपी भेंट देकर गर्व

(३४) अतः वह मुमुक्षु आत्मज्ञान के विषय में समर्थ हो जाता है, परन्तु योग की प्रक्रिया के सहाय से। (३५) हे धनञ्जय! गुदा और शिश्न के बीच में एड़ी दबा कर वह मूल-बन्ध सिद्ध करता है। (३६) अधोमार्ग संकुचित कर मूल-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और जालन्धर-बन्ध तीनों सिद्ध कर सब वायुओं को समान करता है। (३७) कुण्डलिनी को जागृत कर सुषुम्ना का विकास कर आधार चक्र से लेकर आज्ञा-चक्र तक सबका भेद करता है, (३८) फिर सहस्र-दल कमल-रूपी मेघ में से जो उत्तम अमृत की वर्षा होती है उसका प्रवाह मूलाधार चक्र तक ला छोड़ता है। (३९) और अनन्तर आज्ञा-चक्ररूपी पुण्य-पर्वत पर नाचते हुए चैतन्यरूपी भैरव के भिक्षापात्र में मन और पवन-रूपी खिचड़ी भर देता है। (१०४०) इस प्रकार योग का बलिष्ठ समुदाय आगे कर उसके आसरे से वह ध्यान स्थिर करता है। (४१) और ध्यान और योग दोनों निर्विघ्नता के साथ आत्मतत्त्वज्ञान में प्रविष्ट हों, इसलिए वह पहले से ही (४२) वैराग्य जैसे मित्र को प्राप्त कर लेता है, जो कि सब भूमिकाओं में उसके संग ही रहता है। (४३) जो वस्तु देखनी है उसके दिखाई देने तक दीपक यदि दृष्टि का संग न छोड़े तो उस वस्तु के दिखाई देने में क्या अवकाश लगेगा? (४४) वैसे ही जो मोक्ष की ओर प्रवृत्त हुआ है उसकी वृत्ति के ब्रह्म में लीन होने तक वैराग्य उसका साथ देता है तो फिर उसकी मोक्ष-प्राप्ति का भङ्ग कैसे हो सकता है? (४५) अतः वह भाग्यवान् वैराग्य-सहित ज्ञान का अभ्यास कर आत्मप्राप्ति के योग्य हो जाता है, (४६) एवं शरीर में वैराग्यरूपी वज्र-कवच पहन कर वह राजयोगरूपी घोड़े पर चढ़ता है। (४७) और बीच में जिस छोटी बड़ी वस्तु पर दृष्टि पड़े उसका संहार अपनी विवेकरूपी मुट्ठि में धारण की हुई ध्यानरूपी तीक्ष्ण धार तलवार से करता है। (४८) इस प्रकार जैसे सूर्य अँधेरे में प्रवेश कर अँधेरे का नाश करता जाता है वैसा ही वह भी मोक्षरूपी विजयश्री का वर होने के हेतु इस संसार-रूपी रण में प्रवेश करता है। (४९)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥५३॥

वहाँ रास्ता रोकने के लिए आये हुए जिन दोषरूपी वैरियों को वह पछाड़ता है उनमें से पहला देहाभिमान है। (१०५०) जो मार कर

उसके परिवार हो रहते हैं। (६८) उसकी सवारी जब प्रवृत्ति-रूपी राज-मार्ग से निकलती है तब जागृति इत्यादि अवस्थारूपी स्त्रियाँ उप-मार्ग पर पग पर पग पर से अपने सुख की निछावर करती हैं (६९) और सामने विवेक-रूपी चोपदार ज्ञान-रूपी मनुष्य लेकर दृश्य-रूपी लोगों की भीड़ को हटाता हुआ चलता है और मानों योग-भूमिका-रूप स्त्रियाँ उसकी आरती करने के लिए खड़ी रहती हैं। (१०७०) उस समय प्रसङ्गवशात् ऋद्धि और सिद्धि के अनेक समुदाय मिलते हैं और उनकी पुष्पों की वर्षा से वह मानों नहा जाता है। (७१) इस प्रकार ब्रह्मैक्यतारूपी स्वराज्य प्राप्ति ज्यों-ज्यों समीप आती है त्यों-त्यों उसे तीनों लोक आनन्द से उछलते हुए दिखाई देते हैं। (७२) उस समय हे धनञ्जय! उसे "यह मेरा वैरी" अथवा "यह मेरा मित्र है" ऐसा कहने के लिए तुलना-बुद्धि ही शेष नहीं रहती, (७३) अथवा किसी मिस से भी वह किसी को 'मेरा' कहे, ऐसी दूसरी वस्तु भी उसे प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार वह अद्वितीय हो जाता है। (७४) तात्पर्य यह है कि हे पाण्डुसुत! वह सब संसार को एक अपनी ही सत्ता से लिपटा कर ममता का ऐसा त्याग कर देता है कि उसका कभी पता ही न लगे। (७५) इस प्रकार सब शत्रुओं को जीत कर जगत् की अवगणना कर उसका योगरूपी घोड़ा शान्त हो जाता है। (७६) उस समय वह जो वैराग्यरूपी दृढ़ कवच पहने था उसे भी क्षण-भर के लिए ढीला कर देता है। (७७) और ध्यानरूपी खड्ग के सम्मुख मारने के लिए दूसरी वस्तु ही नहीं रही इसलिए उसे धारण करनेहारी वृत्ति का हाथ भी पीछे खींच लेता है। (७८) जैसे सच्ची रसायन रोग का नाश कर स्वयं भी शेष नहीं रहती वैसे ही उसकी स्थिति हो जाती है। (७९) दौड़ने-वाला मनुष्य जैसे ठहरने का मुकाम देख कर दौड़ता हुआ रुक जाता है, वैसे ही वह ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर अभ्यास का वेग बन्द कर देता है। (१०८०) महासागर में मिलते ही गङ्गा जैसे अपना वेग छोड़ देती है, अथवा कामिनी जैसे अपने पति के समीप जा शान्त हो जाती है, (८१) अथवा केले के वृक्ष की बढ़ती जैसे फल का समय आते ही बन्द हो जाती है, अथवा गाँव का पहुँचने पर जैसे रास्ता भी समाप्त हो जाता है, (८२) वैसे ही वह मुमुक्षु आत्मसाक्षात्कार की प्रतीति पाते ही साधन-रूपी शस्त्र धीरे से

रख देता है। (८३) इसलिए हे धनञ्जय ! जब वह ब्रह्म से एकरूप होता है तब उसके साथ कोई साधन नहीं रहते। (८४) अतः वैराग्य की सीमा, ज्ञानाभ्यास की वृद्धावस्था, योगफल की परिणाम दशा, (८५) ऐसी जो शान्ति है वह, हे सुभग ! उस मुमुक्षु में पूर्ण रूप से छा जाती है। उस समय वह पुरुष ब्रह्म होने के योग्य हो जाता है। (८६) पूर्णमासी से जैसे चतुर्दशी के दिन चन्द्रमा कुछ हलका रहता है अथवा पूर्ण सोलह आने की अपेक्षा पन्द्रह आने सोने का कस जैसे कुछ कम होता है, (८७) अथवा जल है तो समुद्र के ही समान पर जो वेग से बहता है उस रूप को गङ्गा कहते हैं और जो निश्चल रहता है वह समुद्र है, (८८) वैसा ही भेद ब्रह्म और ब्रह्म होने की योग्यता में है। मुमुक्षु इस योग्यता को शान्ति के द्वारा प्राप्त कर लेता है। (८९) ब्रह्म न बन कर ब्रह्मत्व का अनुभव होना ही ब्रह्म होने की योग्यता समझो। (१०९०)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

फिर हे पाण्डुसुत ! ब्रह्म होने की योग्यता के द्वारा वह पुरुष आत्मज्ञान-प्रसन्नता के पद पर आ बैठता है। (९१) जिस अग्नि पर रसोई तैयार की जाती है वह जब शान्त हो जाती है तब रसोई का आनन्द लिया जाता है, (९२) अथवा शरत्काल में ज्वार-भाटा छोड़ जैसे गङ्गा शान्त हो जाती है, अथवा गीत समाप्त होते ही उसके उपाङ्ग—अवमा-तम्बूरा इत्यादि—भी जैसे बन्द हो जाते हैं, (९३) वैसे ही आत्मलाभ के लिए उपाय करने के जो श्रम होते हैं, वे भी जहाँ शान्त हो जाते हैं, (९४) उस दशा का नाम आत्मज्ञान-प्रसन्नता है। हे महामति ! वह योग्य पुरुष उस दशा का उपभोग लेता है। (९५) उस समय 'यह वस्तु मेरी है' ऐसा समझ कर शोच करना, अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना आदि बातों का अन्त हो जाता है। उसमें केवल ऐक्यभाव भरा हुआ रहता है। (९६) सूर्य का उदय होते ही सम्पूर्ण नक्षत्र जैसे अपनी दीप्ति खो देते हैं (९७) वैसे ही हे पार्थ ! आत्मानुभव प्राप्त होते ही वह पुरुष अनेक भूतव्यक्तियों की रचना तोड़ने-फोड़ने सब आत्मस्वरूप ही देखता है। (९८) जैसे पाटी पर लिखे हुए अक्षर हाथ से पोंछ लिये जायँ, वैसे ही उसकी दृष्टि से सब

उसके परिवार हो रहते हैं। (६८) उसकी सवारी जब प्रवृत्ति-रूपी राज-मार्ग से निकलती है तब जागृति इत्यादि अवस्थारूपी स्त्रियाँ पग-पग पर उस पर से अपने सुख को निछावर करती हैं (६९) और सामने विवेक-रूपी चोपदार ज्ञान-रूपी धनुष्य लेकर दृश्य-रूपी लोगों की भीड़ को हटाता हुआ चलता है और मानों योग-भूमिका-रूप स्त्रियाँ उसकी आरती करने के लिए खड़ी रहती हैं। (१०७०) उस समय प्रसङ्गवशात् ऋद्धि और सिद्धि के अनेक समुदाय मिलते हैं और उनकी पुष्पों की वर्षा से वह मानों नहा जाता है। (७१) इस प्रकार ब्रह्मैक्यरूपी स्वराज्य प्राप्ति ज्यों-ज्यों समीप आती है त्यों-त्यों उसे तीनों लोक आनन्द से छलकते हुए दिखाई देते हैं। (७२) इस समय हे धनञ्जय! उसे "यह मेरा वैरी" अथवा "यह मेरा मित्र है" ऐसा कहने के लिए तुलना-बुद्धि ही शेष नहीं रहती, (७३) अथवा किसी मिस से भी वह किसी को 'मेरा' कहे ऐसी दूसरी वस्तु भी उसे प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार वह अद्वितीय हो जाता है। (७४) तात्पर्य यह है कि हे पाण्डुसुत! वह सब संसार को एक अपनी ही सत्ता से लिपटा कर ममता का ऐसा त्याग कर देता है कि उसका कभी पता ही न लगा। (७५) इस प्रकार सब शत्रुओं को जीत कर जगत् की एकात्मता कर उसका योगरूपी घोड़ा शान्त हो जाता हो जाता है। (७६) उस समय वह जो वैराग्यरूपी दृढ़ कवच पहने था उसे भी क्षण-भर के लिए ढीला कर देता है। (७७) और ध्यानरूपी खड्ग के सम्मुख मारने के लिए दूसरी वस्तु ही नहीं रहा इसलिए उसे धारण करनेहारी वृत्ति का हाथ भी पीछे खींच लेता है। (७८) जैसे अच्छी रसायन रोग का नाश कर स्वयं भी शेष नहीं रहती वैसे ही उसकी स्थिति हो जाती है। (७९) दौड़नेहारा मनुष्य जैसे ठहरने का मुकाम देख कर धीरता हुआ रुक जाता है, वैसे ही वह ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर अभ्यास का वेग बन्द कर देता है। (१०८०) महासागर में मिलते ही गङ्गा जैसे अपना वेग छोड़ देती है, अथवा कामिनी जैसे अपने पति के समीप आ शान्त हो जाती है, (८१) अथवा केले के वृक्ष की बढ़ती जैसे फल का समय आते ही बन्द हो जाती है, अथवा गाँव का पहुँचने पर जैसे रास्ता भी समाप्त हो जाता है (८२) वैसे ही वह मुमुक्षु आत्मसाक्षात्कार की प्रतीति पाते ही साधन-रूपी शस्त्र धीरे से

हे कपिध्वज! भक्ति कहते हैं। (१७) अतः आर्तों में यह भक्ति इच्छारूप हो जिस वस्तु की अपेक्षा करती है वह मैं ही हूँ। (१८) जिज्ञासु में भी हे वीरेश! यही भक्ति जिज्ञासारूप हो मुझे जिज्ञास्य रूप से प्रकट करती है। (१९) और हे अर्जुन! यही भक्ति अर्थप्राप्ति की इच्छा बन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगा मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है, (११२०) एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो तो वह मुझे सर्वसाक्षी को दृश्यरूप से बताती है। (२१) दर्पण में मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है उसका हेतु दर्पण है। (२२) दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा का ही ग्रहण करती है पर एक चन्द्र के जो दो दिखाई देते हैं वह नेत्र-रोग के कारण। (२३) वैसे ही हे धनञ्जय! वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज को ही देखता हूँ परन्तु जो मिथ्या दृश्य पदार्थ दिखाई देते हैं वह अज्ञान का कारण है। (२४) वह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है, और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझमें ही समा जाती है। (२५) सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता है तब भी सोना ही रहता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे वह शुद्ध रूप से शेष रहता है, (२६) भला! पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या सावयव नहीं रहता परन्तु जैसे उस दिन उसकी पूर्णता उसी को मिलती है, (२७) वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूँ पर अज्ञान के कारण दृश्यरूप से और भिन्न दिखाई देता हूँ, और दृष्टत्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो जाती है। (२८) अतएव हे पार्थ! दृश्यपथ के परे जो मेरा भक्तिभाग है उसे मैंने चौथा कहा है। (२९)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

यह सुन सुन ही चुके हो कि इस ज्ञान-भक्ति से युक्त हो तो भक्त मुझसे एक रूप हो जाता है वह केवल मद्रूप है। (११३०) क्योंकि हे कपिध्वज! हम सातवें अध्याय में हाथ उठाकर कह चुके हैं कि ज्ञानी हमारा आत्मा है। (३१) इसी भक्ति के अत्यन्त उत्तम होने के कारण हमने कल्प के आरम्भ में श्रीभागवत के मिस से ब्रह्मदेव को उसका उपदेश किया। (३२) ज्ञानी इसे आत्मज्ञान कहते हैं, शिवोपासक

भेदान्तरों का लोप हो जाता है। (९९) जागृति और स्वप्न ये दो अवस्थायें जो विपरीत ज्ञान का प्रदर्शन करती हैं उन्हें वह सुषुप्तिरूपी अज्ञान में लीन कर देता है। (११००) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों वह अव्यक्त भी घटता जाता है और पूर्ण ज्ञान होते ही सम्पूर्ण विलीन हो जाता है। (१) जैसे भोजन करते समय भूख धीरे-धीरे बुझती जाती है और तृप्ति के समय सम्पूर्ण शान्त हो जाती है, (२) अथवा चलते चलते जैसे रास्ता घटता जाता है और इष्ट स्थान को पहुँचते ही समाप्त हो जाता है, (३) अथवा ज्यों-ज्यों जागृति आती जाती है त्यों-त्यों नींद छूटती जाती है और पूर्ण जागृत होने पर उसका पता ही नहीं रहता (४) अथवा वृद्धि समाप्त होने पर जब चन्द्र अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो शुक्लपक्ष भी निःशेष समाप्त हो जाता है, (५) वैसे ही वह पुरुष जब ज्ञेय विषयों को क्षीण कर ज्ञान के द्वारा मुझमें आ मिलता है तब सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाता है (६) तब कल्पान्त के समय जैसे नदी या समुद्र की सीमा के टूट जाने से आकाश तक जल ही जल भर जाता है, (७) अथवा घट या मठ का नाश होने पर जैसे एक आकाश ही सर्वत्र रहता है, अथवा लकड़ी जला कर जैसे अग्नि ही रह जाती है, (८) अथवा जैसे अलङ्कारों को साँचे में डालकर गलाने से उनके नाम और रूपों का नाश हो सोना ही रह जाता है (९) यह भी रहने दो, जागने पर जैसे स्वप्न का नाश हो जाता और मनुष्य केवल आप ही रह जाता है (१११०) वैसे ही उस पुरुष को केवल एक मेरे अतिरिक्त स्वयं अपने समेत और कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार वह मेरी चौथी भक्ति प्राप्त करता है। (११) दूसरे आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी जिन रीतियों से मेरी भक्ति करते हैं उनकी अपेक्षा से हम इसे चौथी भक्ति कहते हैं। (१२) अन्यथा यह न तीसरी है, न चौथी है, न पहली है, न अन्तिम है। वास्तव में मेरी अकर्तारूपी स्थिति का ही नाम भक्ति है। (१३) जो मेरे अज्ञान को प्रकाशित कर मुझे अन्यरूप से दिखा कर, सबको सब विषयों की रुचि लगा अन्यथा ज्ञान करा देता है, (१४) जिस अलौकिक प्रकाश से जो जहाँ जिस वस्तु को देखना चाहे वह वस्तु उसे वहाँ वैसी ही दिखाई देती है, (१५) स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है वैसे ही जिस प्रकाश से ही विश्व की उत्पत्ति या लय होता है (१६) वह मेरा जो स्वाभाविक प्रकाश है उसी को

हे कपिध्वज! भक्ति कहते हैं। (१७) आर्त्त भावों में यह भक्ति इच्छा-रूप हो जिस वस्तु की अपेक्षा करती है वह मैं ही हूँ। (१८) जिज्ञासु में भी हे वीरेश! यही भक्ति जिज्ञासारूप हो मुझे जिज्ञास्य रूप से प्रकट करती है। (१९) और हे अर्जुन! यही भक्ति अर्थप्राप्ति की इच्छा बन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगा मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है, (११२०) एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो तो यह मुझे सर्वसाक्षी को दृश्यरूप से बताती है। (२१) दर्पण में मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं, परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है उसका हेतु दर्पण है। (२२) दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा का ही ग्रहण करती है पर एक चन्द्र के जो दो दिखाई देते हैं वह नेत्र-रोग के कारण। (२३) वैसे ही हे धनञ्जय! वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज को ही देखता हूँ परन्तु जो मिथ्या दृश्य पदार्थ दिखाई देते हैं वह अज्ञान का कारण है। (२४) वह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है, और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझमें ही समा जाती है। (२५) सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता है तब भी सोना ही रहता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे वह शुद्ध रूप से शेष रहता है, (२६) अजी! पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या साबयव नहीं रहता, परन्तु जैसे उस दिन उसकी पूर्णता उससे आ मिलती है, (२७) वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूँ पर अज्ञान के कारण दृश्यरूप से और भिन्न दिखाई देता हूँ, और दृश्यत्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो जाती है। (२८) अतएव हे पार्थ! दृश्यपथ के परे जो मेरा भक्तियोग है उसे मैंने चौथा कहा है। (२९)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

यह तुम तुम ही सुके हो कि इस ज्ञान-भक्ति से युक्त हो तो भक्त मुझसे एक रूप हो जाता है वह केवल मद्रूप है। (११३०) क्योंकि हे कपिध्वज! हम सातवें अध्याय में हाथ उठाकर कह चुके हैं कि ज्ञानी हमारा आत्मा है। (३१) इसी भक्ति के अत्यन्त उत्तम होने के कारण हमने कल्प के आरम्भ में श्रीभागवत के मिस से ब्रह्मदेव को उसका उपदेश किया। (३२) ज्ञानी इसे आत्मज्ञान कहते हैं, शिवोपासक

भेदान्तरों का लोप हो जाता है। (९९) जागृति और स्वप्न ये दो अवस्थायें जो विपरीत ज्ञान का ग्रहण करती हैं उन्हें वह सुषुप्तिरूपी अज्ञान में लीन कर देता है। (११००) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों वह अव्यक्त भी घटता जाता है और पूर्ण ज्ञान होते ही सम्पूर्ण विलीन हो जाता है। (१) जैसे भोजन करते समय भूख धीरे-धीरे बुझती जाती है और तृप्ति के समय सम्पूर्ण शान्त हो जाती है, (२) अथवा चलते-चलते जैसे रास्ता कटता जाता है और इष्ट स्थान को पहुँचते ही समाप्त हो जाता है, (३) अथवा ज्यों-ज्यों जागृति आती जाती है त्यों-त्यों नींद छूटती जाती है और पूर्ण जागृत होने पर उसका पता ही नहीं रहता (४) अथवा वृद्धि समाप्त होने पर जब चन्द्र अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो शुक्लपक्ष भी निःशेष समाप्त हो जाता है, (५) वैसे ही वह पुरुष जब ज्ञेय विषयों को लांघ कर ज्ञान के द्वारा मुझमें आ मिलता है तब सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाता है (६) तब कल्पान्त के समय जैसे नदी या समुद्र की सीमा के टूट जाने से ब्रह्मलोक तक जल ही जल भर जाता है, (७) अथवा घट या मठ का नाश होने पर जैसे एक आकाश ही सर्वत्र रहता है, अथवा लकड़ी जल कर जैसे अग्नि ही रह जाती है, (८) अथवा जैसे अलंकारों को सांचे में डालकर गलाने से उनके नाम और रूपों का नाश हो सोना ही रह जाता है (९) यह भी रहने दो, जागने पर जैसे स्वप्न का नाश हो जाता और मनुष्य केवल आप ही रह जाता है (१११०) वैसे ही उस पुरुष को केवल एक मेरे अतिरिक्त स्वयं अपने समेत और कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार वह मेरी चौथी भक्ति प्राप्त करता है। (११) दूसरे आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी भिन्न रीतियों से मेरी भक्ति करते हैं उनकी अपेक्षा से हम इसे चौथी भक्ति कहते हैं। (१२) अन्यथा यह न तीसरी है न चौथी है, न पहली है, न अन्तिम है। वास्तव में मेरी स्वरूपी स्थिति का ही नाम भक्ति है। (१३) जो मेरे अज्ञान को प्रकाशित कर, मुझे अन्यरूप से दिखा कर, सबको सब विषयों की रुचि लगा उनका ज्ञान करा देता है, (१४) जिस प्रकार प्रकाश से जो जहाँ जिस वस्तु को देखना चाहे वह वस्तु उसे वहाँ वैसी ही दिखाई देती है, (१५) स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है वैसे ही जिस प्रकाश से ही विश्व की उत्पत्ति या लय होता है, (१६) वह मेरा जो स्वाभाविक प्रकाश है उसी को

मरती है, (४६) अथवा चन्दन की सुगन्ध जैसे चन्दन का ही सेवन करती है, अथवा चन्द्रिका जैसे स्वभावतः चन्द्रमा में ही अनुरक्त रहती है (११५०) वैसे ही अद्वैतस्थिति में वास्तव में कोई क्रिया न होते हुए भी, भक्ति हो सकती है। यह बात केवल अनुभव के ही योग्य है, शब्दों से कहने योग्य नहीं। (५१) अतः वह पुरुष प्रारब्धकर्मानुसार जो कुछ बोलता है उन शब्दों से वह मानों मुझे ही पुकारता है, और वही बोलना मेरा उत्तर देना है। (५२) जहाँ बोलनेहारे को केवल उसी बोलनेहारे की भेंट हो और दूसरा कोई न रहे वहाँ वास्तव में बोलने की क्रिया ही नहीं होती। ऐसा जो मौन है वही मेरा उत्तम स्तवन है। (५३) अतएव वह पुरुष जो कुछ बोलता है उससे मेरी [बोलने हार की] भेंट होते ही वह मौन हो जाता है, उसी मौनभाव से वह मेरी स्तुति करता है। (५४) उसी प्रकार हे किरीटी! वह बुद्धि या दृष्टि से जो कुछ देखने की चेष्टा करता है वह दर्शनक्रिया दृश्य का लोप कर उसे देखनेहारे का ही स्वरूप बनाती है। (५५) दर्पण में देखने के पूर्व जो देखनेहारे का स्वरूप है वही जैसे दर्पण में देखने से दिखाई देता है वैसे ही उस पुरुष का देखना देखनेहारे की प्राप्ति करा देता है। (५६) दृश्य का लोप होकर द्रष्टत्व जब द्रष्टा में ही लीन हो जाता है तब केवल एकता रहने के कारण द्रष्टात्व भी नहीं रह सकता। (५७) तब जैसे जागने पर स्वप्न में देखे हुए प्रिय जन को आलिङ्गन देने की चेष्टा करने के समय द्वैत न रह कर केवल आप ही अकेले रहते हैं (५८) अथवा जैसे दो लकड़ियाँ घिसने से उनमें से जो अग्नि उठती है वह लकड़ी और अग्नि नामक द्वैत का नाम मिटा कर केवल आप ही बच रहती है, (५९) अथवा सूर्य अपने प्रतिबिम्ब को हाथ में ले लो जैसे उसकी प्रतिबिम्बावस्था बिलकुल चली जाती है, (११६०) वैसे ही देखनेहारा यदि मद्रूप होकर दृश्य देखने जाय तो वह दृष्टत्व-सहित विलीन हो जाता है। (६१) सूर्य अन्धकार को प्रकाशित करता है तब जैसे प्रकाश्य न रहने से उसकी प्रकाशकता भी नहीं रहती वैसे ही मद्रूप होने पर दृश्य-सम्बन्धी द्रष्टत्व भी नहीं रहता। (६२) फिर देखना और न देखना इसी जो दशा होती है वह वास्तव में मेरा दर्शन है। (६३) हे किरीटी! उस दर्शन का उपभोग मेरा भक्त हर किसी पदार्थ को देख के, उसमें द्रष्टा या दृश्य के परे की दृष्टि द्वारा, सदैव लेता है, (६४)

इसे शक्ति कहते हैं, और हम अपनी परमभक्ति कहते हैं। (३३) कर्मयोगियों को मद्रूप होते समय इस भक्ति-फल का लाभ हो जाता है जिससे उन्हें सम्पूर्ण जगत् केवल मुझसे ही भरा दिखाई देता है। (३४) उस समय वैराग्य और विवेक सहित बन्ध मोक्ष में लय पाता है और वृत्ति भी निवृत्ति-सहित विलीन हो जाती है। (३५) जब तत् पद सहित त्वंपद भी विलीन हो जाता है, तब जैसे आकाश अन्य चारों भूतों को लील कर स्वयं शेष रहता है, (३६) वैसे ही साध्य और साधन के परे शुद्ध स्वरूप जो मैं हूँ उस मुझसे एकरूप हो वह पुरुष मेरा उपभोग लेता है। (३७) जैसे गङ्गा समुद्र से मिलकर भी समुद्र में डूबी शोभा देती है उसी प्रकार वह मेरा उपभोग करता है, (३८) अथवा दर्पण को जैसे कोई साफ घिसा हुआ दर्पण दिखाया जाय वैसा ही उस उपभोग का सुख जान पड़ता है, (३९) अथवा जब दर्पण अलग करने से चेहरे का दिखाई देना बन्द हो जाता है तब जैसे देखनेवाला केवल अपने में ही एकरूप सुख का अनुभव लेता है, (११४०) जागृत होने पर स्वप्न नहीं रहता और अपनी एकता ही दिखाई देती है उसका उपभोग जैसे द्वैत के बिना ही लिया जाता है, (४१) [जो समझते हों कि एकरूप होने पर उस वस्तु का उपभोग नहीं हो सकता वे शब्द से ही शब्द का उच्चारण कैसे करते हैं? (४२) उनके गाँव में सूर्य को प्रकाशित करने के लिए दीपक का उपयोग करते हों, अथवा आकाश को धारण करने के लिये मचान खड़ा करते हों तो दूसरी बात है। (४३) अजी! राजत्व प्राप्त किये बिना ही क्या कोई राजसुख का उपभोग ले सकता है? अन्धकार क्या सूर्य का आलिङ्गन कर सकता है? (४४) और जो आकाश नहीं हो जाता उसे आकाश की व्याप्ति क्या जान पड़ सकती है? घुँघुचियों के अलङ्कार रत्नों के अलङ्कारों की शोभा कहीं दे सकते हैं? (४५) अतएव जो मद्रूप नहीं होता उसे मेरा ज्ञान ही कहाँ होता है, फिर मेरी भक्ति का तो कहना ही क्या?] (४६) तरुणाई जैसे तारुण्य का भोग लेती है वैसे ही वह कर्मयोगी मद्रूप हो मेरा उपभोग लेता है। (४७) लहरें जैसे जल का चुम्बन करती हैं, प्रभा जैसे बिम्ब में सर्वत्र प्रकाशित होती है अथवा अवकाश जैसे आकाश में सर्वत्र व्याप्त है (४८) वैसे ही वह पुरुष मत्स्वरूप होकर कोई क्रिया किये बिना ही मेरा भजन करता है। सोने की चमक जैसे स्वभावतः सोने को ही

भजती है, (४६) अथवा चन्दन की सुगन्ध जैसे चन्दन का ही सेवन करती है, अथवा चन्द्रिका जैसे स्वभावतः चन्द्रमा में ही अनुरक्त रहती है (११५०) वैसे ही अद्वैतस्थिति में वास्तव में कोई क्रिया न होते हुए भी, भक्ति हो सकती है। यह बात केवल अनुभव के ही योग्य है, शब्दों से कहने योग्य नहीं। (५१) अतः वह पुरुष प्रारब्धकर्मानुसार जो कुछ बोलता है उन शब्दों से वह मानों मुझे ही पुकारता है, और वहीं बोलना मेरा उत्तर देना है। (५२) जहाँ बोलनेहारे को केवल उसी बोलनेहारे की भेंट हो और दूसरा कोई न रहे वहाँ वास्तव में बोलने की क्रिया ही नहीं होती। ऐसा जो मौन है वही मेरा उत्तम स्तवन है। (५३) अतएव वह पुरुष जो कुछ बोलता है उससे मेरी [बोलनेहारे की] भेंट होते ही वह मौन हो जाता है, उसी मौनभाव से वह मेरी स्तुति करता है। (५४) उसी प्रकार हे किरीटी! वह बुद्धि से या दृष्टि से जो कुछ देखने की चेष्टा करता है वह दर्शनक्रिया दृश्य का लोप कर उसे देखनेहारे का ही स्वरूप बनाती है। (५५) दर्पण में देखने के पूर्व जो देखनेहार का स्वरूप है वही जैसे दर्पण में देखने से दिखाई देता है वैसे ही उस पुरुष का देखना देखनेहारे की प्राप्ति करा देता है। (५६) दृश्य का लोप होकर दृश्यत्व जब द्रष्टा में ही लीन हो जाता है तब केवल एकता रहने के कारण द्रष्टत्व भी नहीं रह सकता। (५७) तब, जैसे जागने पर स्वप्न में देखे हुए प्रिय जन को आलिङ्गन देने की चेष्टा करने के समय द्वैत न रह कर केवल आप ही अकेले रहते हैं, (५८) अथवा जैसे दो लकड़ियाँ घिसने से उनमें से जो अग्नि उठती है वह लकड़ी और अग्नि नामक द्वैत का नाम मिटा कर केवल आप ही बच रहती है, (५९) अथवा सूर्य अपने प्रतिबिम्ब को हाथ में ले तो जैसे उसकी प्रतिबिम्बापेक्षित बिम्बता चली जाती है, (११६०) वैसे ही देखनेहारा यदि मद्रूप होकर दृश्य देखने जाय तो वह दृष्टत्व-सहित विलीन हो जाता है। (६१) सूर्य अन्धकार को प्रकाशित करता है तब जैसे प्रकाश्य न रहने से उसकी प्रकाशकता भी नहीं रहती वैसे ही मद्रूप होने पर दृश्य-सम्बन्धी द्रष्टत्व भी नहीं रहता। (६२) फिर देखना और न देखना ऐसी जो दशा होती है वह वास्तव में मेरा दर्शन है। (६३) हे किरीटी! उस दर्शन का उपभोग मेरा भक्त हर किसी पदार्थ की ओर से, उसमें द्रष्टा या दृश्य के परे की दृष्टि द्वारा, सदासर्वदा लेता है, (६४)

और आकाश, जैसे आकाश के ही बोझ से नहीं गिरता वैसे ही उसकी स्थिति मुझ आत्मा के कारण हो जाती है। (६५) जल के अन्त में जैसे जल जल से ही प्रतिरुद्ध हो जाता और उसका बहना बन्द हो जाता है वैसे वह एक मुझ आत्मा से ही भरा हुआ रहता है। (६६) पाँव निज को ही कैसे नाँघ सकता है? अग्नि निज को ही कैसे जला सकती है? जल स्वयं जल से स्नान करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है? (६७) अतः उसके सदा मद्रूप हो रहने के कारण उसका आवागमन जो बन्द हो जाता है वही मानों मुझ अद्वितीय की यात्रा करना है। (६८) जल की तरह यद्यपि अत्यन्त वेग से दौड़े तथापि उसे किसी भूमिभाग का आश्रय नहीं करना पड़ता (६९) क्योंकि वह जिस वस्तु का ग्रहण करे या त्याग करे अथवा उसका चलना या चलने का मार्ग सब एक सा ही है, (११७०) एवं तरह कहीं जाय तथापि हे पाण्डुसुत! अद्वय ही होने के कारण जैसे उसकी एकात्मता नहीं टूटती (७१) वैसे ही वह पुरुष—जो मुझसे लगा हुआ रहता है—सब मार्गों से मुझमें आ पहुँचता है और इस प्रकार यात्रा कर्मद्वारा बनता है। (७२) शरीर के स्वभाववश यदि वह कुछ कर्म करने लगे तो उसे मद्रूप समझ कर वह उसका अङ्गीकार करता है। (७३) उस समय हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता नहीं रहते बल्कि मैं ही निजरूप से निज को ही देखता हूँ। इस प्रकार वह केवल मद्रूप ही हो रहता है। (७४) दर्पण दर्पण को देखे तो जैसे वह देखना नहीं कहा जा सकता, सोने को सोने से ही ढाँकना ढाँकना नहीं कहा जा सकता (७५) दीपक को दीपक से ही प्रकाशित करना प्रकाशित करना नहीं हो सकता; वैसे हो मेरा कर्म करना 'करना' कैसे कहा जा सकता है? (७६) कोई कर्म करता ही रहे परन्तु यदि ऐसा न कहा जा सके कि वह कर्म करता है तो उसका करना न करना ही है। (७७) सम्पूर्ण क्रियायें मद्रूप हो जाने के कारण जो अकर्तृत्व की घटना होती है उसी का नाम मेरी सात्त्विक पूजा है। (७८) अतः हे कपिध्वज! कर्म जो किया जाने पर भी न किया सा होता है, उससे वह पुरुष मेरी महापूजा करता है (७९) एवं वह जो बोले सो मेरा स्तवन है जो देखे सो मेरा दर्शन है, और जो चले सो मुझ अद्वितीय की यात्रा है। (८०) वह जो करे सो मेरी पूजा है, [illegible] करे सो मे[illegible] और उसका नींद लेना

ही मेरी समाधि है। (८१) कछुआ जैसे सोने से अनन्य हो रहता है, वैसे ही वह भक्तियोग के द्वारा मुझमें अनन्य हो रहता है। (८२) जल में तरङ्ग, कपूर में सुगन्ध अथवा रत्न में प्रकाश जैसे अनन्य है (८३) किंबहुना, तन्तुओं से जैसा वस्त्र, मिट्टी से जैसा घट, वैसा ही मेरा भक्त मुझसे एकरूप हो रहता है। (८४) हे सुमति! इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वह आप ही सम्पूर्ण दृश्यमात्र में मुझे द्रष्टा को भरा हुआ देखता है। (८५) जागृति स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा उपाधि और उपाधियुक्त रूपों से तथा भाव अभाव रूपों से, जो कुछ दृश्य प्रतीत होता है (८६) वह सब "मैं ही द्रष्टा हूँ" ऐसे ज्ञान के बीच, हे सुभट! आत्मानुभव के आनन्द से नाचता है। (८७) सर्प का आभास दिखाई देने के पश्चात् जब रस्सी दृष्टिगोचर हो जाती है तब जैसे यह निश्चय हो जाता है कि वह सर्प नहीं रस्सी ही थी, (८८) अलङ्कार गलाने पर जैसे यह निश्चय हो जाता है कि उसमें सोने के अतिरिक्त अलङ्कारत्व एक रत्ती-भर भी नहीं है, (८९) यह जान कर कि जल के अतिरिक्त तरङ्ग कोई वस्तु नहीं है जैसे उस आकार का महत्व नहीं किया जाता, (११९०) अथवा स्वप्न-विकार के अनन्तर जागृत हो देखने पर जैसे अपने सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता (९१) वैसे ही उस पुरुष को ऐसा अनुभव होता है कि संसार में जो कुछ है या नहीं है उस सबसे ज्ञेय वस्तु ही प्रकाशित होती है और वह जाननेहारा भी मैं ही हूँ तथा वह उस अनुभव का उपभोग लेता है। (९२) वह जान लेता है कि मैं अजन्मा हूँ जरा-रहित हूँ, मैं अविनाशी हूँ तथा अक्षर हूँ, मैं अपूर्व हूँ तथा अपार आनन्दरूप हूँ, (९३) मैं अचल हूँ तथा अच्युत हूँ मैं अन्त-रहित हूँ तथा अद्वितीय हूँ, मैं आद्य हूँ तथा अव्यक्त और व्यक्त भी मैं ही हूँ, (९४) मैं ईश्य हूँ तथा मैं ही ईश्वर हूँ मैं अनादि हूँ तथा अमर हूँ मैं भयरहित हूँ तथा आधार और आधेय मैं ही हूँ (९५) मैं सदा सब का स्वामी हूँ, मैं सर्वदा स्वभावसिद्ध हूँ, मैं सर्वदा सर्वगत हूँ तथा सबके परे हूँ, (९६) मैं नूतन हूँ तथा पुराना हूँ, मैं शून्य हूँ तथा सम्पूर्ण हूँ, मैं सूक्ष्म हूँ तथा अणु से भिन्न जो कुछ है सो मैं ही हूँ, (९७) मैं क्रियारहित तथा एक हूँ, मैं सङ्गरहित तथा शोक-रहित हूँ, मैं व्याप्त हूँ तथा मैं व्यापक और पुरुषोत्तम हूँ (९८) मैं शब्द रहित तथा श्रवणरहित हूँ, अरूप तथा अगोत्र हूँ, मैं समान तथा

और आश्रय! जैसे आकाश के ही बोझ से नहीं गिरता वैसे ही उसकी स्थिति मुझ आत्मा के कारण हो जाती है। (६५) जल के मध्य में जैसे जल जल से ही प्रतिबद्ध हो जाता और उसका चलना बन्द हो जाता है वैसे वह एक मुझ आत्मा में ही भरा हुआ रहता है। (६६) पाँव निज को ही कैसे नाँप सकता है? अग्नि निज को ही कैसे जला सकती है? जल स्वयं जल से स्नान करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है? (६७) अतः उसके सब मद्रूप हो रहने के कारण उसका आवागमन जो बन्द हो जाता है वही मानो मुझ अद्वितीय की यात्रा करना है। (६८) जल की तरङ्ग यद्यपि अत्यन्त वेग से दौड़े तथापि उसे किसी भूमिभाग का आक्रमण नहीं करना पड़ता (६९) क्योंकि वह जिस वस्तु का त्याग करे या स्वीकार करे अथवा उसका चलना या चलने का मार्ग सब एक जल ही है, (११७०) एवं तरङ्ग कहीं जाय तथापि हे पाण्डुसुत! जल ही होने के कारण जैसे उसकी एकात्मता नहीं टूटती (७१) वैसे ही यह पुरुष—जो मुझसे लगा हुआ रहता है—सब मार्गों से मुझमें आ पहुँचता है और इस प्रकार यात्रा करनेहारा बनता है। (७२) शरीर के स्वभाववश यदि वह कुछ कर्म करने लगे तो उसे मद्रूप समझ कर मैं उसका अङ्गीकार करता है। (७३) उस समय हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता नहीं रहते बल्कि मैं ही निश्चय से निज को ही देखता हूँ। इस प्रकार वह केवल मद्रूप ही हो रहता है। (७४) दर्पण दर्पण को देखे तो जैसे वह देखना नहीं कहा जा सकता, सोने को सोने से ही घिसना घिसना नहीं कहा जा सकता (७५) दीपक को दीपक से ही प्रकाशित करना प्रकाशित करना नहीं हो सकता वैसे ही मेरा कर्म करना 'करना' कैसे कहा जा सकता है? (७६) कोई कर्म करता ही रहे परन्तु यदि ऐसा न कहा जा सके कि वह कर्म करता है तो उसका करना न करना ही है। (७७) सम्पूर्ण क्रियाएँ मद्रूप हो जाने के कारण जो अकर्तृत्व की घटना होती है उसी का नाम मेरी सात्त्विक पूजा है। (७८) अतः हे धनञ्जय! कर्म को किया जाने पर भी न किया सा होता है उससे वह पुरुष मेरी महापूजा करता है; (७९) एवं वह जो बोले सो मेरा स्तवन है जो देखे सो मेरा दर्शन है और जो चले सो मुझ अद्वितीय की यात्रा है। (११८०) वह जो करे सो मेरी पूजा है, वह जो कल्पना करे सो मेरा जप है, और उसका नींद लेना

स्वतन्त्र और परात्पर हूँ। (९९) इस प्रकार वह मुझ अद्वितीय को आत्मरूप जान इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वस्तुतः जानता है और इस ज्ञान का ज्ञाता भी मुझे ही जानता है। (१२००) जागृत होने पर जैसे अपनी एकता ही शेष रहती है, और वह निज को निज में ही ज्ञात होती है, (१) अथवा सूर्योदय होने पर जैसे वही सूर्य अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, तथा अपने से अपने अभेद का द्योतक भी वही होता है, (२) वैसे ही ज्ञेय वस्तुओं का लय हो जाने पर जो केवल ज्ञाता शेष रहता है वही निज को जानता है, तथा वह ज्ञान भी जिसे होता है (३) उसे अपनी अद्वितीयता के कारण हे धनञ्जय! इस बात की प्रतीति हो जाती है कि जो ज्ञान-क्रिया है वह मैं ईश्वर ही हूँ। (४) फिर यह जानकर कि द्वैत और अद्वैत के परे निश्चय से एक मैं ही आत्मा शेष रहता हूँ, उसका ज्ञान आत्मानुभव में लीन हो जाता है। (५) जब जागृत होने पर जो हमारी एकता दिखाई देती है वह भी नष्ट हो जाय तो जैसे हमारा स्वरूप न जाने कैसा होगा (६) अथवा अलङ्कार देखते ही जैसे उसे गलाये बिना ही उसके आधार तथा अलङ्कारत्व का नाश हो 'सुवर्ण' का निश्चय हो जाता है, (७) अथवा लवण जल हो जाता है तब उसकी क्षारता जल-रूप से रहती है और उस जल के भी नाश होने पर जैसे उसका जलरूप होना भी नष्ट हो जाता है (८) वैसे ही वह पुरुष मनुष्य के भाव को आत्मानुभव के आनन्द की एकता में मिलाकर मुझ में ही प्रवेश करता है (९) और जब संसार का नाम ही नहीं रहता तब 'मैं' शब्द का प्रयोग किसके लिए हो सकता है? इस प्रकार वह न मैं न वह ऐसी स्थिति में हो मेरे स्वरूप में ही समा जाता है। (१२१०) जब जैसे कपूर जल चुकता है उसी समय अग्नि भी बुझ जाती है, और दोनों के परे जो वस्तु आकाश शेष रहता है (११) अथवा एक में से एक घटाने से जैसा शून्य शेष रहता है, वैसे ही सब भावाभाव का शेष मैं ही बच रहता हूँ। (१२) और यहाँ आत्मा ईश्वर आदि शब्दों की इच्छा ही नहीं रहती तथा न जानने के लिए भी वहाँ कुछ अवकाश नहीं रहता। (१३) उस स्थिति में निःशब्दता हो बिना ही कौर मुँह भरके खाती रहती है तथा ज्ञान और अज्ञान दोनों न रहने पर ज्ञान होता है। (१४) अपने ज्ञान से ज्ञान को जानता है। आनन्द ही आनन्द

भाग्य करता है, सुख ही केवल सुख भोगता है, (१५) लाभ को ही लाभ प्राप्त होता है, प्रकाश ही प्रकाश का आलिङ्गन करता है, और विस्मय ही बड़ा-बड़ा आश्चर्य में डूब जाता है। (१६) उस स्थिति में शम शान्त हो जाता है, विश्रान्ति को विश्राम प्राप्त होता है और अनुभव अनुभूति के कारण बौरा जाता है। (१७) बहुत क्या कहें, इस प्रकार उस पुरुष को कर्मयोग की सुन्दर बेल की सेवा करने से केवल आत्मस्वरूपी फल प्राप्त होता है। (१८) हे किरीटी! मेरा भक्त निज को मुझे अपण कर, मैं जो कर्म-योगरूपी राजा के मुकुट में ज्ञानरूपी रत्न हूँ, वही बन जाता है, (१९) अथवा वह कर्मयोगरूपी मन्दिर का जो मोक्षरूपी कलश है उसके भी ऊपर का आकाशरूपी प्रसार बन जाता है। (१२२०) नहीं नहीं संसार रूपी जङ्गल में कर्मयोग एक सरल मार्ग है, उससे चलकर वह मेरी एकता-रूपी गाँव में पहुँच जाता है। (२१) यह भी रहने दो, कर्म योगरूपी प्रवाह से उसकी भक्तिरूपी त्रिवेणी आत्मानन्दरूपी समुद्र में जा पहुँचती है। (२२) हे मर्मज्ञ! कर्मयोग की महिमा यहाँ तक है। अतः हम तुम्हें बार-बार इसी का उपदेश करते हैं। (२३) मैं ऐसा नहीं हूँ कि देश-काल पदार्थ इत्यादि साधनों से मेरी प्राप्ति हो सके। मैं सबों का ही सर्वस्व बना-बनाया हूँ। (२४) इसलिए मेरे लिए कुछ आयास नहीं करना पड़ता। मैं इस कर्मयोग के उपाय से निश्चय से प्राप्त होता हूँ। (२५) एक शिष्य है और एक गुरु है ऐसा जो व्यवहार जारी हुआ है वह केवल मेरी प्राप्ति की रीति जानने के हेतु से है। (२६) अजी हे किरीटी! पृथ्वी के पेट में द्रव्य तो सिद्ध ही है, काष्ठ में अग्नि सिद्ध ही है, थनों में दूध सिद्ध ही है (२७) परन्तु इन सिद्ध वस्तुओं के पाने के लिए उपाय करने पड़ते हैं। वैसे ही मैं भी सिद्ध हूँ और उपायों से प्राप्त होता हूँ। (२८) यदि कोई पूछे कि देव! फल प्राप्ति के वर्णन के अनन्तर फिर उपाय का प्रस्ताव क्यों करते हैं तो इसका अभिप्राय यह है, (२९) कि गीतार्थ की उपमता सब मोक्ष प्राप्ति के विषय में है। अन्य शास्त्रों के उपाय अनुभवसिद्ध नहीं हैं। (१२३०) वायु से मेघ हट जाते हैं पर उससे सूर्य की रचना नहीं होती हाथ से सेवार अलग हो सकती है पर उससे जल नहीं बन सकता (३१) वैसे ही शास्त्र से आत्मानुभव का प्रतिबन्धक जो अविद्यामल है उसका नाश होता है पर जो निर्मल आत्मा है उस स्वयं

हो सुखी होता है। (४८) और जो विश्व को प्रकाशित करनेहारे मुझ निजात्मरूप को सर्वरूप जान समझता है (४९) [अथवा जैसे अपना प्रतिबिम्ब छोड़ कर जल का आश्रय करता है, अथवा वायु, जैसे सर्वत्र घूम कर फिर आकाश में स्थिर हो रहती है, (१२५०) वैसे ही जो बुद्धि से, काया से और वाणी से मेरा ही आश्रय कर रहता है] वह कदाचित् निषिद्ध कर्म भी करे (५१) तथापि जैसे गङ्गा में मिलने पर नाला या महानदी समान ही हैं वैसे ही उसे मेरा ज्ञान हो जाने के कारण शुभ और अशुभ कर्म समान ही हो जाते हैं। (५२) मलयगिरि चन्दन और सामान्य काठ का भेद तभी तक हो सकता है जब तक उनसे अग्नि लिपट नहीं जाती (५३) अथवा सोने के निकृष्ट या उत्तम होने के अपवाद तभी तक हैं जब तक पारस उन्हें स्पर्श कर एकरूप नहीं करता, (५४) वैसे ही पुण्य और पाप कर्मों का आभास तभी तक होता है जब तक सर्वत्र एक मैं ही नहीं दिखाई देता। (५५) अजी, रात और दिन का द्वैत अभी तक है जब तक सूर्य के प्रदेश में प्रवेश न किया जाय (५६) अतः हे किरीटी! मेरी प्राप्ति से सब कर्मों का नाश हो जाने पर वह सायुज्यता के पद पर आरूढ़ होता है, (५७) वह उसे मेरे अविनाशी पद का लाभ होता है जिसका देश काल या स्वभाव से क्षय होना असम्भव है। (५८) बहुना, हे पाण्डुसुत! उसे मुझ आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है जिसकी प्राप्ति होने पर ऐसा कौन लाभ है जो प्राप्त नहीं हो सकता? (५९)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिए हे धनञ्जय! तुम्हें अपने सब कर्मों का मुझमें संन्यास करना चाहिए। (१२६०) परन्तु हे वीर! संन्यास केवल वाचनः मत करो। चित्तवृत्ति आत्मविचार में स्थिर रक्खो। (६१) इस विचार के बल से तुम स्वयं कर्म से भिन्न हो जाओगे और सब कर्म मेरे निर्मल स्वरूप में ही दिखाई देंगे (६२) और कर्म की जन्मभूमि जो प्रकृति है वह तुमसे अत्यन्त दूर दिखाई देगी। (६३) अनन्तर [illegible] रूप के बिना जैसे छाया नहीं रह सकती वैसे ही आत्मा [illegible] प्रकृति भी नहीं रहती। (६४) [illegible] प्रकृति का नाश

न करना चाहिए जो तुम्हारे नैसर्गिक स्वभाव अर्थात् क्षात्रधर्म के सम्मुख वृथा है। (१२८०-८१) और मैं अर्जुन हूँ और ये मेरे आप्तजन हैं, इनका वध करना पाप है आदि बातें क्या माया के अतिरिक्त तत्वतः कुछ सत्य हैं ? (८२) तुम स्वभावतः योद्धा हो तो तुम्हें युद्ध करने के लिए शस्त्र उठाना चाहिए कि युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए ? (८३) अतः तुम्हारा युद्ध न करने का निश्चय वृथा है, तथा लोक-दृष्टि से भी लोक-व्यवहार के योग्य नहीं माना जा सकता, (८४) पर तुम यद्यपि मन में निश्चय कर रहे हो कि युद्ध न करेंगे तथापि प्रकृति तुमसे उसके विरुद्ध ही करायेगी। (८५)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

पानी पूर्व की ओर बहता हो तो पश्चिम की ओर तैरना केवल हठ करना है, क्योंकि तैरनेहार को पानी अपने प्रवाह की ओर ही खींचता है, (८६) अथवा धान का दाना कहे कि मैं धानरूप से न उगूँ तो स्वाभाव-धर्म के विपरीत होने के कारण क्या ऐसी बात हो सकती है ? (८७) वैसे ही हे प्रभुवर! प्रकृति ने तुम्हें क्षात्र संस्कारों से युक्त रचा है, अतः तुम्हारा यह कहना कि हम युद्ध नहीं करते केवल एक व्यापार है। परन्तु तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा। (८८) हे पाण्डुसुत! प्रकृति ने तुम्हें जन्म से ही शूरता, तेज, दक्षता इत्यादि गुण दिये हैं। (८९) अतः हे धनञ्जय! उस गुण-समुदाय के अनुरूप कर्म न करके तुम चुपचाप नहीं बैठ सकते। (१२९०) अतएव हे कोदण्डपाणि! तुम तीन गुणों से तीनों ओर बँधे रहने के कारण अवश्य ही क्षात्रधर्म के मार्ग में प्रवृत्त होगे, (९१) अथवा यद्यपि तुम अपने जन्म के मूल का विचार न करते हुए केवल यही अटल निश्चय कर लो कि मैं युद्ध न करूँगा (९२) तथापि जिसे हाथ-पाँव बाँधकर रथ में बैठा रक्खा हो वह जैसे स्वयं न चल कर भी देशान्तर को चला जाता है (९३) वैसे ही तुम अपनी ओर से यह कहकर चुपचाप रहो कि मैं कुछ कर्म नहीं करता तथापि तुम्हें अवश्य ही करना पड़ेगा। (९४) गोग्रहण के समय जब राजा उत्तर युद्ध में से भागता था तब तुमने क्यों युद्ध किया ? वही तुम्हारा क्षात्र-स्वभाव तुमसे अब भी युद्ध करायेगा। (९५) जिस स्वभाव-बल से ग्यारह अक्षौहिणी

होने पर अनायास ही कारण-सहित कर्मों का संन्यास हो जावेगा। (६५) फिर कर्मों का नाश होने पर मैं—केवल आत्मा—शेष रहता हूँ उस मुझमें बुद्धि को पतिव्रता स्त्री के समान स्थिर करनी चाहिए। (६६) ऐसी अनन्यता-पूर्वक जब बुद्धि मुझमें प्रवेश करती है तब चित्त सब विषयों का त्याग कर मेरा ही भजन करता है। (६७) इस प्रकार उत्तम और शीघ्र ही ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि विषयों का त्याग कर चित्त मुझसे ही युक्त हो रहे। (६८)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

फिर इस अनन्य सेवा से जब चित्त मेरे स्वरूप से ही सन जावेगा तब समझना कि मेरा पूर्ण प्रसाद हुआ। (६६) उससे सब दुःख के स्थान जो जन्म-मृत्यु द्वारा भोगे जाते हैं वे दुर्गम होने पर भी तुम्हें सुगम हो जावेंगे। (१२००) आँखें जब सूर्य-प्रकाश के सहाय से युक्त हो जाती हैं तब उनके सम्मुख अँधेरा क्या वस्तु है? (०१) वैसे ही मेरे प्रसाद से जिसका जीवांश नष्ट हो जाय वह संसार के हौवे से कैसे डर सकता है? (०२) अतएव हे धनञ्जय! तुम मेरे प्रसाद से इस संसार दुर्गति के पार हो जाओगे। (०३) परन्तु यदि अहङ्कार के वश हो तुम मेरा यह सम्पूर्ण उपदेश अपने कान या मन की हद में न आने दोगे (०४) तो तुम नित्य-मुक्त और अव्यय होते हुए भी वृथा देह-सम्बन्ध के घाव सहते रहोगे। (०५) इस देह-सम्बन्ध से पग-पग पर आत्मघात ही होता है और भोगों से कभी विश्राम नहीं मिलता। (०६) यदि तुम मेरा उपदेश न सुनोगे तो तुम्हें इतनी शास्त्र, बिना मृत्यु की मृत्यु प्राप्त होगी। (०७)

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

पथ्य का द्वेष करनेहारा रोगी जैसे ज्वर की पुष्टि ही करता है अथवा दीपक का द्वेष करनेहारा जैसे अन्धकार को ही बढ़ाता है, वैसे ही विवेक के द्वेष से अहङ्कार को बढ़ाकर (०८) तुम अपने शरीर को अर्जुन, शत्रुओं को अपने स्वजन और इस संग्राम को मलिन पापाचरण (०९) इस प्रकार अपने मतानुसार तीनों को तीन नाम दे हे धनञ्जय! अपने हृदय में जो यह दृढ़ निश्चय करते हो कि युद्ध

की सत्ता से व्यापार करते हैं। (११) हे धनञ्जय! जैसे समुद्र इत्यादि, एक चन्द्रमा के सान्निध्य से, अपने-अपने योग्यतानुरूप व्यापार करते हैं—(१२) समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, सोमकान्त मणि पसी-जता है और कुमुद और चकोर पक्षी आनन्द प्रदर्शित करते हैं, (१३) वैसे ही मूलप्रकृति के वश अनेक जीवों को जो व्यापार में प्रवृत्त करता है वह एक ईश्वर तुम्हारे हृदय में है। (१४) हे पाण्डुसुत! अर्जुनत्व को छोड़ तुममें जो अहंवृत्ति उठती है वही उस ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है। (१५) इसलिए यह निश्चय जानो कि वह प्रकृति को प्रवृत्त करेगा, और यद्यपि तुम युद्ध न करो तथापि वह प्रकृति तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगी। (१६) तात्पर्य कि ईश्वर स्वामी है, वह प्रकृति का नियमन करता है और प्रकृति अपने इच्छानुसार इन्द्रियों से कर्म करवाती है। (१७) तुम्हें चाहिए कि करना न करना दोनों प्रकृति को सौंप कर प्रकृति भी जिस हृदयस्थ ईश्वर के अधीन है (१८)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परांशान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

—उसे अपना अहङ्कार, काया वाचा और मन अर्पण कर गङ्गा जल जैसे समुद्र की शरण में जाता है वैसे उसकी शरण में जाओ। (१९) उसके प्रसाद से तुम सब विषयों की उपशान्तिरूपी स्त्री के पति हो आत्मानन्द से निजरूप में ही रममाण होगे। (१९२०) और उत्पत्ति जहाँ से उत्पन्न होती है, विश्रान्ति जहाँ विश्राम पाती है, अनुभूति जिस अनुभव का अनुभव लेती है, (२१) लक्ष्मीनाथ कहते हैं हे पार्थ! उस अव्यय स्वात्मपद के तुम राजा बन जाओगे। (२२)

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

यह जो गीता नाम से प्रसिद्ध है, जो सब वेदों का सार है, जिससे आत्मा रत्न के समान प्रगट हो सकती है, (२३) वेदान्त ने ज्ञान नाम से जिसकी महिमा वर्णन की है, अतः सब संसार में जिसकी उत्तम कीर्ति फैल गई है, (२४) बुद्धि इत्यादि ज्ञान जिस ज्ञान के सम्मुख अन्धकाररूप हैं, जिसका उदय होते ही मैं सर्वद्रष्टा दिखाई देता हूँ, (२५) वह आत्मज्ञान मुझ सर्वगुण का भी गुप्त धन है, परन्तु तुम्हें पराया समझ कर मैं उस गुप्त धन का क्या करूँ? (२६) अतएव है

सेना को तुमने अकेले ही युद्ध में पराजित किया वही स्वभाव है कोदण्डपाणि! तुम्हें अब भी जकड़ेगा। (९६) अजी! रोगी को क्या रोग की चाह रहती है, दरिद्र को क्या दरिद्रता की इच्छा रहती है, तथापि जिस बलिष्ठ प्रारब्धानुसार उन्हें रोग या दरिद्रता भोगनी ही पड़ती है (९७) वह प्रारब्ध ईश्वर के वश होने के कारण अन्यथा कभी नहीं होता। वह ईश्वर भी तुम्हारे हृदय में बसता है। (९८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

जो सब भूतों के भीतर रहनेवाले हृदय-रूपी महाकाश में ज्ञान-वृत्ति-रूपी हजारों किरणों-सहित उदित हुआ है, (९९) और जो जागृति स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थारूपी तीनों लोकों को सम्पूर्ण प्रकाशित कर विपरीत ज्ञानवाले पथिकों को जागृत करता है, (११०) जो देहा-रूपी जल के सरोवर में विषयरूपी कमलों के खिलते ही उन्हें इन्द्रियरूपी छः पाँववाले जीवरूपी भ्रमरों से चरवाता है—(१) अस्तु, रूपक जाने दो—वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के अहङ्कार से आवृत हो सर्वदा उल्लसित है। (२) त्रिगुणमायारूपी परदे की आड़ में जो हो वह अकेला डोरी हिलाता है और बाहर की ओर चौरासी लाख छायाचित्रों को घुमाता (३) और ब्रह्मा से लेकर कीटक तक सब भूतों को उनके योग्यतानुसार देहाकार दिखाता है, (४) एवं जिसके सम्मुख, उसके योग्यतानुसार, जो देह रहता है उसे वह जीव समझता है कि यह मैं ही हूँ। इस बुद्धि से वह जीव उस देह पर आरूढ़ हो जाता है। (५) सूत सूत से ही लपेटा गया हो, घास घास से ही बाँधी गई हो, अथवा बालक जैसे जल में अपना प्रतिबिम्ब देख भ्रम में पड़े (६) वैसे ही यह जान कर कि देहस्वरूप से दिखाई देनेहारा मैं ही हूँ, जीव आत्मबुद्धि प्रकट करता है। (७) इस प्रकार शरीररूपी यन्त्रों पर जीवों को बैठाकर वह ईश्वर आप पूर्वकर्मरूपी सूत्र हिलाता है। (८) तब जिसके लिए जो कर्मसूत्र स्वतन्त्र रच रक्खा हो वह वैसी ही गति को पहुँचता है। (९) बहुत क्या कहूँ, हे धनुर्धर! वायु जैसे तिनकों को आकाश में घुमाती है वैसे ही ईश्वर प्राणियों को स्वर्ग और संसार में घुमाता है। (१११०) चुम्बक के संग से लोहा जैसे चक्कर खाता है वैसे ही जीवरूप ईश्वर

की सत्ता से व्यापार करते हैं। (११) हे धनञ्जय! जैसे समुद्र इत्यादि, एक चन्द्रमा के सान्निध्य से, अपने-अपने योग्यतानुरूप व्यापार करते हैं—(१२) समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, सोमकान्त मणि पसी जता है और कुमुद और चकोर पक्षी आनन्द प्रदर्शित करते हैं (१३) वैसे ही मूलप्रकृति के वश अनेक जीवों को जो व्यापार में प्रवृत्त करता है वह एक ईश्वर तुम्हारे हृदय में है। (१४) हे पाण्डुसुत! अर्जुनत्व को छोड़ तुममें जो अहंवृत्ति उठती है वही उस ईश्वर को तात्त्विक स्वरूप है। (१५) इसलिए यह निश्चय जानो कि वह प्रकृति को प्रवृत्त करेगा, और यद्यपि तुम युद्ध न करो तथापि वह प्रकृति तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगी। (१६) तात्पर्य कि ईश्वर स्वामी है, वह प्रकृति का नियमन करता है और प्रकृति अपने इच्छानुसार इन्द्रियों से कर्म करवाती है। (१७) तुम्हें चाहिए कि करना न करना दोनों प्रकृति को सौंप कर प्रकृति भी जिस हृदयस्थ ईश्वर के अधीन है (१८)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

—उस अपना अहङ्कार, काया, वाचा और मन अर्पण कर गङ्गा जल जैसे समुद्र की शरण में जाता है वैसे उसकी शरण में जाओ। (१९) उसके प्रसाद से तुम सब विषयों की उपशान्तिरूपी स्त्री के पति हो आत्मानन्द से निजरूप में ही रममाण होगे। (१३२०) और उत्पत्ति जहाँ से उत्पन्न होती है, विश्रान्ति जहाँ विश्राम पाती है, अनुभूति जिस अनुभव का अनुभव लेती है, (२१) उसमें जाय कहते हैं हे पार्थ! उस अक्षय स्वात्मपद के तुम राजा बन जाओगे। (२२)

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

यह जो गीता नाम से प्रसिद्ध है, जो सब वेदों का सार है, जिससे आत्मा रत्न के समान प्राप्त हो सकती है, (२३) वेदान्त ने ज्ञान नाम से जिसकी महिमा वर्णन की है और सब संसार में जिसकी उत्तम कीर्ति फैल गई है, (२४) बुद्धि इत्यादि ज्ञान जिस ज्ञान के सम्मुख अल्पप्रकाश हैं जिसका उदय होते ही मैं सर्वद्रष्टा दिखाई देता हूँ (२५) वह आत्मज्ञान मुझ सर्वगुप्त का भी गुप्त धन है, परन्तु तुम्हें पराया समझ कर मैं उस गुप्त धन का क्या करूँ? (२६) अतएव हे

सेना को तुमने अकेले ही युद्ध में पराजित किया वही स्वभाव हे कोदण्डपाणि! तुम्हें अब भी पकड़ेगा। (९६) अर्जुन! रोगी को क्या रोग की चाह रहती है, दरिद्र को क्या दरिद्रता की इच्छा रहती है, तथापि जिस बलिष्ठ प्रारब्धानुसार उन्हें रोग या दरिद्रता भोगनी ही पड़ती है (९७) वह प्रारब्ध ईश्वर के वश होने के कारण अन्यथा कभी नहीं होता। वह ईश्वर भी तुम्हारे हृदय में बसता है। (९८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

जो सब भूतों के भीतर रहनेवाले हृदय-रूपी महाकाश में ज्ञान-वृत्ति-रूपी हजारों किरणों-सहित उदित हुआ है, (९९) और जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थारूपी तीनों लोकों को सम्पूर्ण प्रकाशित कर विपरीत ज्ञानवाले पथिकों को जागृत करता है, (११००) जो देह-रूपी जल के सरोवर में विषयरूपी कमलों के खिलने से उन्हें इन्द्रियरूपी छः पाँववाले जीवरूपी भ्रमरों से चराता है—(१) अस्तु, रूपक जाने दो—वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के अहंकार से आवृत हो सर्वदा प्रकाशित है। (२) निजमायारूपी परदे की आड़ में बड़ा हो वह अकेला डोरी हिलाता है और बाहर की ओर चौरासी लाख छायाचित्रों को सजाता (३) और ब्रह्मा से लेकर कीटक तक सब भूतों को उनके योग्यतानुसार देहाकार दिखाता है, (४) एवं जिसके सम्मुख, उसके योग्यतानुसार, जो देह रखता है उसे वह जीव समझता है कि यह मैं ही हूँ। इस बुद्धि से वह जीव उस देह पर आरूढ़ हो जाता है। (५) सूत सूत से ही लपेटा गया हो, अथवा घास से ही बाँधी गई हो, अथवा बालक जैसे जल में अपना प्रतिबिम्ब देख भ्रम में पड़े (६) वैसे ही यह जान कर कि देहस्वरूप से दिखाई देनेवाला मैं ही हूँ जीव आत्मबुद्धि प्रकट करता है। (७) इस प्रकार शरीर रूपी यन्त्रों पर जीवों को बैठाकर वह ईश्वर आप पूर्व-कर्मरूपी सूत्र हिलाता है। (८) तब जिसके लिए जो कर्मसूत्र स्वतन्त्र रच रक्खा हो वह वैसी ही गति को पहुँचता है। (९) खुद क्या कहूँ, हे धनुर्धर! वायु जैसे तिनकों को आकाश में घुमाती है वैसे ही ईश्वर प्राणियों को स्वर्ग और संसार में घुमाता है। (१११०) ... लोहा जैसे चक्कर खाता है वैसे ही जीवसमूह ईश्वर

धनञ्जय ! उसकी दृष्टि ही चन्द्रमा की है, चातक के लिए आकाश ही पानी भर लाता है (४३) जहाँ जो व्यवहार नहीं घटता वहाँ भाग्य वशात् उसका फल ही प्राप्त हो जाता है, दैव अनुकूल हो तो कौनसा काम नहीं हो सकता ? (४४) अन्यथा यह रहस्य, जिसका कि हम वर्णन करते हैं, ऐसा है कि उसका उपभोग द्वैतभाव को दूर कर एकता के घर में ही हो सकता है। (४५) और हे प्रियोत्तम ! जो निष्काम प्रेम का विषय है वह दूसरा नहीं, आत्मा ही है। (४६) हे धनञ्जय ! देखने के समय जो दर्पण साफ किया जाता है वह वैसे दर्पण के हेतु नहीं अपने ही लिए किया जाता है (४७) वैसे ही हे पार्थ ! मैं तुम्हारे मिस से केवल अपने लिए ही बोलता हूँ। हमारे तुम्हारे बीच क्या कोई द्वैतभाव है ? (४८) अत मैं अपने जीवरूप तुम पर अपना अन्तर्गत रहस्य प्रकट करता हूँ। मुझे इस एकनिष्ठता का मानों व्यसन है। (४९) हे पाण्डुसुत ! जैसे जल अपना देह जल में अर्पण करते ही निज को भूल जाता है और सम्पूर्ण जलरूप होते हुए लज्जित नहीं होता, (१३५०) वैसे ही जब तुम मुझसे कुछ भी छिपाव नहीं रखते तो मैं भी तुमसे क्या गुप्त रख सकता हूँ ? (५१) अतएव जिसके सम्मुख सम्पूर्ण गूढ़ बातें अत्यन्त प्रकट हो जाती हैं, ऐसा हमारा गुप्त और निर्मल वचन सुनो। (५२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

हे वीर ! अपने बाह्याभ्यन्तर सब व्यापारों का विषय मुझ व्यापक को ही बना दो। (५३) वायु जैसे पूर्णत: आकाश से मिली हुई रहती है वैसे ही तुम सब कर्मों के समय मुझसे ही मिले रहो। (५४) बहुत क्या कहूँ, अपने मन के लिए मुझ ही एक स्थान बना लो और अपने श्रवण मेरे ही गुणश्रवण से भर लो (५५) जो आत्मज्ञान से निर्मल हुए हैं तथा जो मेरे ही स्वरूप हैं उन सन्तों पर ही तुम्हारी दृष्टि पड़े जैसे कि कामी मनुष्य की दृष्टि उसकी इष्ट स्त्री पर ही पड़ती है। (५६) मैं सब संसार का वसतिस्थान हूँ। मेरे जो शुद्ध नाम हैं उन्हें अन्तःकरण में पाने के लिए वाणी के मार्ग से लगा दो। (५७) ऐसी चेष्टा करो कि हाथों का कर्म करना या पाँवों का चलना भी मेरे ही हेतु हो। (५८) हे पाण्डव ! अपना हो या पराया

पाण्डव ! मैंने कृपा से व्याप्त हो यह गुह्य धन तुम्हें दे दिया। (२७) जैसे प्रेम में भूली हुई माता बालक से प्रेम-युक्त वचन बोलती है मैंने केवल वैसा ही नहीं किया (२८) वरन् आकाश भी जैसे गलाया जाय, अमृत की भी छाल निकाली जाय, अथवा जो स्वयं दिव्य है उसे और दिव्य किया जाय, (२९) जिसके अङ्ग-प्रकाश से पाताल का भी परमाणु दिखाई दे सकता है उस सूर्य को भी जैसे अञ्जन लगाया जाय (११३०) वैसे ही मुझ सर्वज्ञ ने भी सब बातों की छान-बीन कर निश्चय किया और हे धनञ्जय ! जो तुम्हारे हित का था वही उपदेश किया। (३१) अब इस पर तुम्हें क्या करना चाहिए, स्वयं तुम ही विचार कर निश्चय करो और फिर जैसा चाहो वैसा करो। (३२) श्रीकृष्ण के ये वचन सुन कर अर्जुन चुपचाप हो रहा तब देव ने कहा तुम वञ्चना करनेहारे नहीं हो। (३३) परोसनेवाली परोसती हो तथापि भूखा मनुष्य यदि लज्जा से कह दे कि मैं अघा गया हूँ तो वही भूख से व्याकुल होगा अतः उसका दोष उसी पर है (३४) वैसे ही सर्वज्ञ श्रीगुरु मिलने पर यदि शिष्य लज्जावश हो आत्मनिश्चय न पूछे (३५) तो वह निज की ही वञ्चना करता है, और उस वञ्चना का पाप भी लगता है तथा वह आत्मस्वरूप से अवश्य ही वञ्चित हो रहता है। (३६) परन्तु हे धनञ्जय ! तुम चुप रहे हो इससे ऐसा यही मालूम होता है कि तुम एक बार फिर से उस ज्ञान का सार कह बतावें। (३७) तब अर्जुन ने कहा—हे गुरु ! आप मेरा अन्तःकरण जाननेहारे हो। पर इसमें कहना ही क्या है ? आपके अतिरिक्त क्या कोई दूसरा जाननेहारा है ? (३८) अन्य जो सम्पूर्ण वस्तुएँ हैं वे ज्ञेय हैं, आप ही एक स्वभावतः ज्ञाता हैं। अतः सूर्य को सूर्य कह कर स्तुति करने से क्या प्रयोजन है ? (३९) यह वचन सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा कि यह क्या थोड़ी स्तुति हुई ? यदि तुम जानना चाहते हो (११४०)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

—तो तुम सावधान होकर एक बार और मेरे निर्मल वचन सुन लो। (४१) यह बात ऐसी नहीं है कि बोलने के योग्य हो अथवा बोली जा सके, अथवा सुनने का विषय हो और सुनी जा सके। परन्तु तुम्हारा भाग्य अच्छा है। (४२) कछुवी के बच्चों के लिए है

धनञ्जय ! उसकी दृष्टि ही चमकाती है, चातक के लिए आकाश ही पानी भर लाता है, (४३) जहाँ जो व्यवहार नहीं घटता वहाँ मानव तत्काल उसका फल ही प्राप्त हो जाता है, दैव अनुकूल हो तो कौनसा काम नहीं हो सकता ? (४४) अन्यथा यह रहस्य, जिसका कि हम बयान करते हैं, ऐसा है कि उसका उपभोग द्वैतभाव को दूर कर एकता के घर में ही हो सकता है। (४५) और हे प्रियोत्तम ! जो निष्काम प्रेम का विषय है वह दूसरा नहीं, आत्मा ही है। (४६) हे धनञ्जय ! देखने के समय जो दर्पण साफ किया जाता है वह जैसे दर्पण के हेतु नहीं, अपने ही लिए किया जाता है (४७) वैसे ही हे पार्थ ! मैं तुम्हारे मिस से केवल अपने लिए ही बोलता हूँ। हमारे तुम्हारे बीच क्या कोई द्वैतभाव है ? (४८) अत मैं अपने जीवरूप तुम पर अपना अन्तर्गत रहस्य प्रकट करता हूँ। मुझे इस एकनिष्ठता का मानों व्यसन है। (४९) हे पाण्डुसुत ! जिसप्रकार अपना देह जल में अर्पण करते ही नमक जो भूल जाता है और सम्पूर्ण जलरूप होते हुए लज्जित नहीं होता, (१४५०) वैसे ही जब तुम मुझसे कुछ भी छिपाव नहीं रखते तो मैं भी तुमसे क्या गुप्त रख सकता हूँ ? (५१) अतएव जिसके सम्मुख सम्पूर्ण गूढ़ बातें अत्यन्त प्रकट हो जाती हैं, ऐसा हमारा गुप्त और निर्मल वचन सुनो। (५२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

हे वीर ! अपने अन्तर्बाह्य सब व्यापारों का विषय मुझ व्यापक को ही बना लो। (५३) वायु जैसे पूर्णतः आकाश से मिली हुई रहती है वैसे ही तुम सब कर्मों के समय मुझमें ही मिले रहो। (५४) बहुत क्या कहूँ, अपने मन के लिए मुझ ही एक स्थान बना लो और अपने कान मेरे ही गुणश्रवण से भर लो (५५) जो आत्मज्ञान से निर्मल हुए हैं तथा जो मेरे ही स्वरूप हैं उन सन्तों पर ही तुम्हारी दृष्टि पड़े जैसे कि कामी मनुष्य की दृष्टि तरुणी स्त्री पर ही पड़ती है। (५६) मैं सब संसार का विश्रामस्थान हूँ। मेरे जो शुद्ध नाम हैं उन्हें अन्तःकरण में पाने के लिए वाचा के द्वार में लगा दो। (५७) ऐसी चेष्टा करो कि हाथों का कर्म करना या पाँवों का चलना भी मेरे ही हेतु हो। (५८) हे पाण्डव ! अपना हो या पराया

उस पर उपकाररूपी घड़ा कर मेरे उत्तम पालिक बनो। (५९) एक-एक बात क्या सिखाऊँ, अपनी ओर केवल सेवकोई एक अन्य सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो (११६०) तथा भूत-भेद छोड़कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करने से तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रय का लाभ होगा (६१) और इस भरे हुए संसार में तीसरे की वार्ता मिटकर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा। (६२) फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावतः आनन्द की वृद्धि होगी। (६३) और हे अर्जुन! जब प्रतिबन्ध करनेहारी तीसरी वस्तु का नाश हो जावेगा तब तुम मद्रूप ही होने के कारण अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे। (६४) जल के प्रतिबिम्ब को जल के नाश होने पर बिम्ब में मिल जाने के लिए क्या कोई प्रतिबन्ध होता है? (६५) वायु को आकाश में मिलने के लिए, अथवा लहरों को समुद्र में मिलने के लिए किसका प्रतिबन्ध है? (६६) इसलिए तुम और हम-रूपी द्वैत देहधर्म के कारण दिखाई देता है। देहधर्म के नाश के समय तुम मद्रूप हो जाओगे। (६७) इस बात में सन्देह मत करो। इसमें कुछ मिथ्या हो तो तुम्हारी ही शपथ। (६८) तुम्हारी शपथ उठाना आत्मस्वरूप को ही स्पर्श करना है, परन्तु प्रेम की जाति ही ऐसी है कि लज्जा का स्मरण नहीं होने देती। (६९) अन्यथा जिसके कारण प्रपञ्च-सहित यह विश्वाभास सत्य प्रतीत होता है, तथा जिसकी आज्ञा का प्रताप काल को भी जीतता है (११७०) वह मैं सत्य-संकल्प ईश्वर हूँ और जगत् का हितचिन्तक पिता हूँ, फिर मुझे शपथ खाने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए? (७१) परन्तु हे अर्जुन! तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने ईश्वरत्व के चिह्नों का त्याग कर दिया है। अजी! तुम्हारी पूर्णता के सम्मुख मैं अपूर्ण हो रहा हूँ (७२) तथापि राजा जैसे अपने कार्य के हेतु अपनी ही शपथ लेता है वैसे ही इस बात को भी समझो। (७३) इस पर अर्जुन ने कहा हे देव! ऐसे अद्भुत वचन न कहिए। वास्तव में हमारे सब कार्य केवल आपके एक नाम से ही सिद्ध हो जाते हैं, (७४) तिस पर आप स्वयं उपदेश कर रहे हैं और उसमें शपथ भी खाते हैं! आपके इस विनोद का कहीं ठिकाना है? (७५) कमलों के वन को सूर्य की एक किरण प्रकाशित कर सकती है, परन्तु वह उसे सदा अपना सम्पूर्ण

प्रकाश ही देखा है, (७६) पृथ्वी को शान्त कर जो सागर भी भर देती है वह वर्षा केवल एक चातक के मिस से ही होती है, (७७) वैसे ही हे दानियों के राजा, हे कृपानिधि! आपकी उदारता के लिए मैं एक निमित्त हुआ हूँ। (७८) तब श्रीकृष्ण ने कहा—ठहरो, ऐसा कहने का कोई अवसर नहीं है। यह सच है कि उपर्युक्त उपाय से तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे। (७९) हे धनञ्जय! जिस प्रकार सैन्धव समुद्र में पड़ता है उसी क्षण वह गल जाता है, फिर शेष रहने का कारण ही कौन सा है? (११८०) वैसे ही सब भावों से मेरी भक्ति करने से, सर्वत्र मुझे ही देखने से, सम्पूर्ण अहङ्कार का नाश हो जावेगा और तुम तत्त्वतः मद्रूप हो जाओगे। (८१) इस प्रकार कर्म से लेकर मेरी प्राप्ति तक उपायों का स्पष्ट रीति से वर्णन हो चुका (८२) अर्थात् हे पाण्डुसुत! प्रथम सब कर्मों को मुझे समर्पित कर तब तू मेरा प्रसाद प्राप्त करना चाहिए। (८३) अनन्तर मेरे प्रसाद से मेरा ज्ञान सिद्ध होता है, और उससे अवश्य ही मेरे स्वरूप की सायुज्यता प्राप्त हो सकती है। (८४) फिर हे पार्थ! उस समय साध्य और साधन नहीं रहते, अधिक क्या कहूँ कुछ भी शेष नहीं रहता। (८५) तुमने अपने सब कर्म सर्वदा मुझे समर्पित किये हैं, इसलिए आज मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ (८६) तथा इस प्रसन्नता के बल से मुक्त हो इस अपूर्व युद्ध के प्रतिबन्ध की परवाह न करके मैं एकदम तुम पर भूल गया हूँ। (८७) क्योंकि जिससे मायका-सहित अज्ञान का नाश होता है, जिससे केवल मैं दृग्गोचर होता हूँ, जो गीतारूप है, उपपत्ति-पूर्वक ऐसे (८८) आत्मज्ञान का मैंने तुम्हें नाना प्रकार से उपदेश किया है जिससे कि तुम्हारे पाप-पुण्य-रूपी सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो चुका। (८९)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

आशा से जैसे दुःख अथवा निन्दा से पाप अथवा दुर्भाग्य से दरिद्रता उत्पन्न होती है, (११९०) वैसे ही स्वर्ग और नरक की सूचना करनेवाले अज्ञान से धर्म इत्यादि उत्पन्न होते हैं। उस अज्ञान को इस ज्ञान के बल से निःशेष नष्ट कर डालो। (९१) रज्जु हाथ में लेने से जैसे सर्पाभास नष्ट हो जाता है, अथवा नींद से उठने पर जैसे

इस पर उपकाररूपी पञ्च कर मेरे उत्तम पाहिक बनो। (५६) एक-एक बात क्या सिखाऊँ, अपनी ओर केवल सेवकोई रस कम सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो (११६०) तथा मूलदेव छोड़कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करने से तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रय का लाभ होगा (६१) और इस भरे हुए संसार में तीसरे की वार्ता मिटकर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा। (६२) फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावतः आनन्द की वृद्धि होगी। (६३) और हे अर्जुन! जब प्रतिबन्ध करनेहारी तीसरी वस्तु का नाश हो जावेगा तब तुम मद्रूप ही होने के कारण अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे। (६४) जल के प्रतिबिम्ब को जल के नाश होने पर, बिम्ब में मिल जाने के लिए क्या कोई प्रतिबन्ध होता है? (६५) वायु को आकाश में मिलने के लिए, अथवा लहरों को समुद्र में मिलने के लिए किसका प्रतिबन्ध है? (६६) इसलिए तुम और हम-रूपी द्वैत देहधर्म के कारण दिखाई देता है। देहधर्म के नाश के समय तुम मद्रूप हो जाओगे। (६७) इस बात में सन्देह मत करो। इसमें कुछ मिथ्या हो तो तुम्हारी ही शपथ। (६८) तुम्हारी शपथ खाना आत्मस्वरूप को ही स्पर्श करना है, परन्तु प्रेम की जाति ही ऐसी है कि लज्जा का स्मरण नहीं होने देती। (६९) अन्यथा जिसके कारण प्रपञ्च-सहित यह विश्वाभास सत्य प्रतीत होता है, तथा जिसकी आज्ञा का प्रताप काल को भी जीतता है (११७०) वह मैं सत्य-सङ्कल्प ईश्वर हूँ और जगत् का हितचिन्तक पिता हूँ, फिर मुझे शपथ खाने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए? (७१) परन्तु हे अर्जुन! तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने ईश्वरत्व के चिह्नों का त्याग कर दिया है। अजी! तुम्हारी पूर्णता के सम्मुख मैं अपूर्ण हो रहा हूँ, (७२) तथापि राजा जैसे अपने कार्य के हेतु अपनी ही शपथ लेता है वैसे ही इस ढङ्ग को भी समझो। (७३) इस पर अर्जुन ने कहा हे देव! ऐसे अनुचित वचन न कहिए। वास्तव में हमारे सब कार्य केवल आपके एक नाम से ही सिद्ध हो जाते हैं, (७४) तिस पर आप स्वयं उपदेश कर रहे हैं और उसमें शपथ भी खाते हैं! आपके इस विनोद का कहीं ठिकाना है? (७५) कमलों के वन को सूर्य की एक किरण प्रकाशित कर सकती है, परन्तु वह उसे सदा अपना सम्पूर्ण

सकती। (९) हे अर्जुन! सूर्य क्या कभी अँधेरा देखता है? अथवा जागृत होने पर क्या स्वप्न का भ्रम दिखाई दे सकता है? (१४१०) वैसे ही मुझसे एकरूप होने पर मेरे स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ क्योंकर शेष रह सकता है? (११) अतएव उसकी तुम अपने मन में कुछ चिन्ता न करो। तुम्हारा सब पाप-पुण्य मैं ही हो जाऊँगा। (१२) फिर सब बन्ध-चिह्नों सहित पाप का भिन्न रह जाना मेरे ज्ञान के कारण, मिथ्या हो जावेगा। (१३) जल में लवण डाला जाय तो उसका सर्वत्र जल ही हो रहता है वैसे ही हे ज्ञानी! अनन्य रीति से मेरी शरण में आने पर तुम्हें सर्वत्र मत्स्वरूप ही प्रतीत होगा। (१४) इस प्रकार हे धनञ्जय! तुम आप ही आप मुक्त हो जाओगे। मुझे जान लो तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। (१५) अतः मुक्ति की चिन्ता मत करो। हे सुमति! केवल मुझ अद्वितीय को जान कर मेरी शरण में आओ। (१६) सब रूपों के रूप, सब नेत्रों के नेत्र, सब स्थानों के निवासस्थान श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले, (१७) और अपना कङ्कण-युक्त और रमामक्त दाहिना बाहु फैला कर उन्होंने शरणागत भक्तराज अर्जुन को हृदय से लगा लिया। (१८) जिसकी प्राप्ति न होने के कारण वाणी बुद्धि को बगल में दबा कर, पीछे हटती है, (१९) ऐसी जो वस्तु है, जो वाचा और बुद्धि को अप्राप्य है, वह अर्जुन को देने के लिए श्रीकृष्ण ने मानों आलिङ्गन का बहाना किया। (१४२०) उनका हृदय से हृदय मिल गया। इस हृदय की वस्तु उस हृदय में भर दी गई। इस प्रकार द्वैत का नाश न करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना जैसा बना लिया। (२१) वह आलिङ्गन ऐसा हुआ मानो दीपक से दीपक लगाया गया हो। इस प्रकार द्वैत न मिटा कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निजस्वरूप कर डाला। (२२) तब अर्जुन को जो आनन्द की बाढ़ आई उसमें श्रीकृष्ण भी—जो इतने श्रेष्ठ थे—डूब गये। (२३) समुद्र यदि समुद्र को मिलने जाय तो मिलना तो अलग रहा वही दूना हो जाता है और ऊपर से आकाश भी सहायक हो जाता है, (२४) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन का मिलाप था। वह आनन्द दोनों से सँभाला नहीं सँभलता था तो उसे जान कौन सकता है? बहुत क्या कहें सम्पूर्ण विश्व श्रीकृष्ण-मय हो गया। (२५) इस प्रकार यह गीता-शास्त्र वेदों का मूलसूत्र है। यही एक ऐसी पवित्र वस्तु है जिसके विषय में सबों को अधिकार है।

स्वप्न का प्रपञ्च नष्ट हो जाता है, (९२) अथवा पीलिया रोग की निवृत्ति होने पर जैसे चन्द्रमा का पीला दिखाई देना बन्द हो जाता है, अथवा रोग नष्ट होने पर जैसे मुँह का कड़ुआपन भी चला जाता है, (९३) अथवा ! दिन के पीठ फेरते ही जैसे मृगजल भी अदृश्य हो जाता है, अथवा काठ का त्याग करने से जैसे उसमें रहनेवाली अग्नि का भी त्याग हो जाता है, (९४) वैसे ही जिससे धर्माधर्म का कोलाहल प्रतीत होता है उस मूल अज्ञान का त्याग कर सम्पूर्ण धर्म का त्याग करो। (९५) फिर अज्ञान मिट जाने पर स्वभावतः एक मैं ही शेष रहता हूँ। जैसे निद्रा-सहित स्वप्न का नाश हो जाने पर मनुष्य आप ही अकेला रह जाता है (९६) वैसे ही केवल एक मेरे अतिरिक्त कोई भिन्न पदार्थ नहीं रहता। ऐसा जो मैं हूँ उससे सोऽहं ज्ञान-द्वारा अनन्य हो रहो। (९७) निज को भिन्न न समझकर मेरी एकता जानना ही मेरी शरण में आना कहलाता है। (९८) जैसे घट के नाश से घटाकाश आकाश में मिल जाता है वैसी ही एकता मेरी शरण में आकर होनी चाहिए। (९९) सुवर्ण मणि जैसे सोने में मिल जाता है तरङ्ग जैसे पानी में मिल जाती है, वैसे ही हे धनञ्जय ! तुम मेरी शरण में आओ। (१४००) अन्यथा हे किरीटी ! बड़वाग्नि भी समुद्र के पेट की शरण में है तथापि वह खुदी ही जलाती रहती है वैसी ही सब बातें छोड़ दो। (१) मेरी शरण में आना और फिर जीवाभिमान रखना ! धिक्कार है ! ऐसा कहते हुए लोगों को लज्जा नहीं आती ? (२) अजी हे धनञ्जय ! सामान्य राजा का भी सम्बन्ध करने से उसकी दासी भी उसकी बराबरी की हो जाती है। (३) फिर मुझ विश्वेश्वर की भेंट हो और जीवदशा न छूटे ! इन अमङ्ग शब्दों को सुनना भी न चाहिए। (४) अतः ऐसा करो कि जिसमें मद्रूपता प्राप्त हो जाय और मेरी सेवा सहज में हो सके। इस से यह बात हाथ आती है। (५) फिर जैसे मट्ठे से निकाला हुआ मक्खन फिर मट्ठे में डालने से उसमें, चाहे कुछ भी क्यों न करो, नहीं मिलता (६) वैसे ही अद्वैत भाव से मेरी शरण में आने पर स्वभावतः धर्माधर्म भी तुम्हें स्पर्श न करेंगे। (७) निरे लोहे पर जङ्ग चढ़ता है, पर पारस के सङ्ग से जब वह लोहा सोना हो जाता है तब उस पर कोई मैल नहीं बैठ सकता (८) अथवा अगर काठ को रगड़ कर अग्नि निकाली जाय तो वह फिर से काठ में बन्द नहीं हो

सकती। (९) हे अर्जुन! सूर्य क्या कभी अँधेरा देखता है! अथवा जागृत होने पर क्या स्वप्न का भ्रम दिखाई दे सकता है? (१४१०) वैसे ही मुझसे एकरूप होने पर मेरे स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ क्योंकर शेष रह सकता है? (११) अतएव उसकी तुम अपने मन में कुछ चिन्ता न करो। तुम्हारा सब पाप-पुण्य मैं ही हो जाऊँगा। (१२) फिर सब बन्ध-चिह्नों सहित पाप का भिन्न रह जाना मेरे ज्ञान के कारण, मिथ्या हो जावेगा। (१३) जल में लवण डाला जाय तो उसका सर्वत्र जल ही हो रहता है वैसे ही हे ज्ञानी! अनन्य रीति से मेरी शरण में आने पर तुम्हें सर्वत्र मत्स्वरूप ही प्रतीत होगा। (१४) इस प्रकार हे धनञ्जय! तुम आप ही आप मुक्त हो जाओगे। मुझे जान लो तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। (१५) अतः मुक्ति की चिन्ता मत करो। हे सुमति! केवल मुझ अद्वितीय को जान कर मेरी शरण में आओ। (१६) सब रूपों के रूप, सब नेत्रों के नेत्र, सब स्थानों के निवासस्थान श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले, (१७) और अपना कङ्कण-युक्त और श्यामल दाहिना बाहु फैला कर उन्होंने शरणागत भक्तराज अर्जुन को हृदय से लगा लिया। (१८) जिसकी प्राप्ति न होने के कारण वाणी बुद्धि को बगल में दबा कर, पीछे हटती है, (१९) ऐसी जो वस्तु है, जो वाणी और बुद्धि को अप्राप्य है, वह अर्जुन को देने के लिए श्रीकृष्ण ने मानों आलिङ्गन का बहाना किया। (१४२०) उनका हृदय से हृदय मिल गया। इस हृदय की वस्तु उस हृदय में भर दी गई। इस प्रकार द्वैत का नाश न करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना जैसा बना लिया। (२१) वह आलिङ्गन ऐसा हुआ मानो दीपक से दीपक लगाया गया हो। इस प्रकार द्वैत न मिटा कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निजस्वरूप कर डाला। (२२) तब अर्जुन को जो आनन्द की बाढ़ आई उसमें श्रीकृष्ण भी—जो इतने श्रेष्ठ थे—डूब गये। (२३) समुद्र यदि समुद्र को मिलने जाय तो मिलना तो अलग रहा वही दूना हो जाता है और ऊपर से आकाश भी सहायक हो जाता है, (२४) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन का मिलाप था। वह आनन्द दोनों से समाया नहीं समाता था, तो उसे जान कौन सकता है? बहुत क्या कहें, सम्पूर्ण विश्व श्रीकृष्ण-मय हो गया। (२५) इस प्रकार यह गीता शास्त्र वेदों का मूलसूत्र है। यही एक ऐसी पवित्र वस्तु है जिसके विषय में सबों को अधिकार है।

वहाँ तक यही निरूपण चला गया है कि कर्म के द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिए। (४४) आठवें अध्याय में जो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यहाँ गीताशास्त्र बिना ओट या परदे के देवताकाण्ड का ही प्रतिपादन करता है। (४५) और उसी ईश्वर के प्रसाद से श्रीगुरु-सम्प्रदाय से प्राप्त होनेवाला जो कोमल और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है (४६) वह बारहवें अध्याय के "अद्वेष्टा सर्व भूतानां" इत्यादि श्लोकों में अथवा तेरहवें अध्याय के "अमानित्वमदम्भित्व" इत्यादि श्लोकों में भी विस्तार-पूर्वक कहा है इसलिए हम बारहवें अध्याय की गणना ज्ञानकाण्ड में करते हैं। (४७) उस बारहवें अध्याय से लेकर पन्द्रहवें अध्याय के अन्त तक ज्ञानरूपी फल की परिपाकसिद्धि का निरूपण किया गया है। (४८) इसलिए जिनके अन्त में 'ऊर्ध्व मूलमधःशाखं' इत्यादि श्लोकवाला पन्द्रहवाँ अध्याय है उन चारों अध्यायों में ज्ञान-काण्ड का बखान है। (४६) इस प्रकार यह एक काण्डत्रयरूपिणी छोटी-सी श्रुति ही है जो गीता के पद्यरूपी रत्नों के अलङ्कार पहने हुए है। (१४५०) परन्तु, काण्डत्रयात्मक श्रुति जो गर्जना कर कहती है कि एक मोक्षरूपी फल ही अवश्य प्राप्तव्य है, (५१) उस फल के साधन ज्ञान से जो प्रतिदिन वैर करता है उस अज्ञानवर्ग का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है, (५२) तथा सत्रहवें अध्याय में यह सन्देश है कि शास्त्र की सहायता लेकर उस वैरी को जीतना चाहिए। (५३) इस प्रकार पहले से ले सत्रहवें तक श्रीकृष्ण ने वेदों का ही तात्पर्य कहा है। (५४) और जिसमें इन सब अर्थों के अभिप्राय का विचार किया है वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है। (५५) इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान के समुद्र श्रीकृष्ण ने अत्यन्त उदार हो भगवद्गीता मन्त्ररूप से मानों मूर्तिमान् वेद ही रचा है। (५६) वेद स्वयं सम्पन्न है परन्तु उस जैसा कृपण भी दूसरा नहीं है। क्योंकि उसे तीन ही वर्ण सुन सकते हैं। (५७) अन्य—स्त्री शूद्र इत्यादि—प्राणियों को संसार-दुःख प्राप्त हुए भी वेदों से लाभ उठाने का अधिकार नहीं। (५८) मन में समझता हूँ कि श्रीकृष्ण ने इस पूर्व त्रुटि की पूर्ति करने के लिए ही वेदों को गीता रूप से रच दिया जिसमें हर कोई उसका लाभ कर सके। (५६) अथवा मन में उसका अर्थ समझना, कानों से सुनना अथवा जप के मिस से मुख में रखना (१४६०) जो इस गीता का पाठ करना जानता है उसकी

अनन्तर उन्होंने उसका कथन करने में भूल की। (७७) इससे सन्मुख को अमरत्व परोसा गया वही राहु के मरण का हेतु हो गया। उपभोग लेना न आता हो तो सम्पत्ति का फल ऐसा होता है। (७८) नहुष स्वर्ग का अधिपति हो गया परन्तु उसके अनुरूप बर्ताव करना भूल गया, इससे उसका जन्म सर्प का हुआ—यह बात क्या तुम नहीं जानते? (७९) अतएव हे धनञ्जय! तुमने बहुत पुण्य किये हैं जिससे आज तुम इस गीता-शास्त्र के अधिकारी हुए हो। [तुम्हारी ही वजह से गीता का कथन किया गया।] (१४८०) परन्तु अब इसी शास्त्र के सम्प्रदाय के अनुसार इस शास्त्रार्थ का उत्तम अनुष्ठान करो। (८१) नहीं तो हे अर्जुन! यदि सम्प्रदाय के अतिरिक्त अनुष्ठान की चेष्टा करोगे तो अमृत-मन्थन की कथा के समान हाल होगा। (८२) हे किरीटी! उत्तम और निर्दोष गाय प्राप्त हो तो भी अपने अनुरूप दूध वह तभी देगी जब कोई उसे दुहने की युक्ति जानता हो। (८३) वैसे ही श्रीगुरु प्रसन्न भी हो जायें और शिष्य को विद्या भी प्राप्त हो गई हो परन्तु वह सम्प्रदाय-द्वारा उपासना करने से ही फलती है। (८४) इसलिए इस शास्त्र में जो उचित सम्प्रदाय है वह अब अत्यन्त आस्थापूर्वक सुनो। (८५)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

हे पार्थ! यह गीता शास्त्र तुम्हें आस्था-द्वारा प्राप्त हुआ है इसे तपोहीन मनुष्य से कभी न कहना चाहिए; (८६) अथवा तपस्वी भी हो परन्तु गुरुभक्ति में शिथिल हो तो उसे भी ऐसे त्याग दो जैसे वेद शूद्रों का त्याग करता है (८७) अथवा यज्ञ का शेष पुरोडाश जैसे बूढ़े कौए को भी नहीं दिया जाता वैसे ही गीता भी गुरुभक्ति-हीन तपस्वी को न देनी चाहिए (८८) अथवा जिसने शरीर से तप भी किया हो और जो गुरु और देव की भक्ति भी करता हो परन्तु श्रवण करने की इच्छा नहीं रखता (८९) वह उपर्युक्त दोनों बातों से संसार में उत्तम गिना जाय तथापि गीता-श्रवण के लिए योग्य नहीं है। (१४९०) मोती चाहे कैसा हो परन्तु यदि उसमें छेद नहीं है तो क्या उसमें डोरी पोही जा सकती है? (९१) समुद्र गम्भीर होता है यह कौन नहीं कहता परन्तु वर्षा वृथा हो तो वह वृथा ही जाती है।

स्वाध्याय के लिए गीता को पुस्तक रूप से लिखना और लिखे लिखा (६१) इत्यादि मिस से संसार के चौरास्ते पर वेद ने मानों मोक्ष-सुख का उत्तम सदावर्त बैठाया है। (६२) आकाश में बसने के लिए, पृथ्वी पर बैठने के लिए, सूर्य-प्रकाश में व्यवहार करने के लिए, अथवा आकाश में अहाता घेरने के लिए किसी को प्रतिबन्ध नहीं होता (६३) वैसे ही इस कोई भी सेवन करे, वह नहीं पूछता कि तुम उत्तम वर्ण के हो या अधम वर्ण के। यह सब संसार को मोक्ष देकर समान ही सुख देता है। (६४) इससे जान पड़ता है कि वेद पिछली निन्दा से डर कर गीता के गर्भ में आकर अब उत्तम कीर्ति का पात्र हुआ है। (६५) अतः हे पाण्डुसुत! वेदों का रूप, हर किसी के सेवन करने योग्य, यह मूर्तिमती गीता ही है जिसका श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश किया। (६६) बछड़े के प्रेम से गाय का पन्हाना घर भर के लिए दूध दिलाता है वैसे ही पाण्डव के मिस से श्रीकृष्ण ने सब जगत् का उद्धार किया है। (६७) मेघ चातक पर दया कर, जल भर कर छोड़ जाते हैं पर उससे जैसे सम्पूर्ण चराचर की शान्ति होती है, (६८) अथवा सूर्य केवल एकनिष्ठ कमलों के लिए ही बार-बार उदित होता है पर उससे जैसे त्रिभुवन के नेत्रों को सुख होता है, (६९) वैसे ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मिस से गीता प्रकाशित कर जगत् का सफल-संसार भारी बोझा हल्का किया। (७०) ये श्रीकृष्ण नहीं, निजस्वरूपी आकाश के दोनों भागों में सकल शास्त्ररूपी रत्नगर्भा प्रकाशित करनेहारे सूर्य ही हैं। (७१) उस कुल को अत्यन्त पवित्र समझना चाहिए जिसमें इस ज्ञान का पात्र अर्जुन उत्पन्न हुआ और जिसने संसार के लिए गीतारूपी एक स्वतन्त्र बाड़ी बना दी। (७२) अस्तु, अर्जुन जो श्रीकृष्ण से एकरूप हो गया था उसे श्रीकृष्ण फिर द्वैतभाव पर ले आये (७३) और बोले हे पाण्डव! इस शास्त्र का तुम्हें ठीक परिज्ञान हुआ या नहीं? अर्जुन ने कहा— हे देव! आपही कृपा से। (७४) फिर देव कहने हैं—हे धनञ्जय! द्रव्य का लाभ चाहे भले ही भाग्य में बदा हो पर सम्पादित धन का उपभोग लेना कदाचित् ही होता है। (७५) क्षीरसागर सरीखे बिना थाह दूध के पात्र की प्राप्ति होने पर भी उसे मन्थन करने में देवताओं और राक्षसों को कितने कष्ट उठाने पड़े! (७६) तथापि उस श्रम का भी फल हुआ अर्थात् अमृत आँखों से दिखाई दिया। परन्तु

—ऐसे निर्मल भक्तरूपी मन्दिर पर इस गीतारत्नेश्वर की प्रतिष्ठा करो। ऐसा करने से तुम मेरी साम्यता पाने के योग्य हो जाओगे। (९) क्योंकि जो अव्यय एक 'ओं' अक्षर के रूप से अकार, उकार और मकाररूपी तीन मात्राओं के पेट में गर्भवास में अटका पड़ा था (१५१०) वह वेदरूपी बीज गीता-रूपी टहनियों-द्वारा विस्तृत हुआ है, और गीता के श्लोक उसके गायत्री-रूप फूल और फल हैं। (११) जो कोई ऐसी इस गुप्त मन्त्ररूपी गीता को मेरे भक्त को प्राप्त करा देता है, अनन्यगति बालक को जैसे माता आ मिले (१२) वैसे जो प्रेम से मेरे भक्तों को गीता की भेंट करा देता है, वह इस देह के पश्चात् मुझमें एकरूप ही हो जाता है। (१३)

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

और जब वह देहरूपी अलङ्कार धारण किये हुए जुदा रहता है तब भी मुझे वह प्राणों से और जी से प्यारा रहता है। (१४) ज्ञानी कर्मठ और तपस्वी इन सब में देहयुक्त मनुष्यों में जितना प्रिय मुझे वह है (१५) उतना हे पाण्डव! पृथ्वी में दूसरा नहीं दिखाई देता। जो भक्त जनों के समुदाय में गीता का निरूपण करता है, (१६) मुझ ईश्वर पर प्रेम रख जो स्थिर चित्त से गीता का निरूपण करता हुआ सन्तों की सभा का भूषण बनता है, (१७) श्रोताओं को वृक्ष के नये निकले हुए पत्तों के समान जो रोमाञ्चित करता है, मन्द वायु के समान डुलाता है, पुष्पों के बहते हुए गन्ध [मधु] के समान आनन्दाश्रु बहवाता है (१८) कोयल की मधुर वाणी के समान गद्गद वचन कहलाता है इस प्रकार जो मेरे भक्तरूपी बगीचे में मानों वसन्त-रूप हो पैदा होता है, (१९) अथवा आकाश में चन्द्रमा दिखाई देने ही जैसे चकोरों का जन्म सफल हो जाता है अथवा नये मेघ के गरजने ही जैसे मयूर मानों अपने टेर सुन हर्ष देता हुआ आ पहुँचता है (१५२०) वैसे ही जो सज्जनों की समाज में मेरे कलश को मार रख रखता हुआ, गीता-पदरूपी रत्नों को अङ्ग पर बरसा जाता है (२१) उसके समान प्यारा मुझे कोई नहीं है न पहले कभी था और न आगे होगा। (२२) हे अर्जुन! सन्तों की गोष्ठी को बढ़ाई करनेवाले को हम मन से हृदय में धारण करते हैं। (२३)

(९२) अफरे हुए को मिष्टान्न परोस कर वृथा खोने की अपेक्षा वह प्यासा क्षुधित के प्रति क्यों न खिलानी चाहिए? (९३) अथवा कोई चाहे कितना योग्य हो परन्तु यदि उसे सुनने की इच्छा न हो तो यह गीता उसे कभी कौतुक से भी न सुनाओ। (९४) नेत्र रूप देखनेहारा है तथापि उसे क्या सुगन्ध सुँघाना योग्य है? जहाँ जैसा करना योग्य हो वहाँ वैसा ही करना चाहिए। (९५) इसलिए हे सुभद्रापति! तपस्वी हों, भक्त हों, पर शास्त्र-श्रवण में इच्छा रखनेहारे न हों तो उन्हें छोड़ देना चाहिए (९६) अथवा तप है, भक्ति है, श्रवण करने की इच्छा है, ऐसी सामग्री भी दिखाई दे (९७) परन्तु गीता-शास्त्र की रचना करनेहारा और समस्त लोकों का शासन करनेहारा जो मैं हूँ उसके विषय में जो सामान्य शब्दों से बोले (९८) [मेरे और मेरे भक्तों के विषय में निन्दासूचक शब्दों से बोलनेवाले बहुत से हैं] उन्हें इस गीता के उपदेश के योग्य मत समझो। (९९) उसकी अन्य सामग्री ऐसी समझो जैसे रात के समय बिना चिराग का कोई चिरागदान रक्खा हो। (१५००) देह गोरा हो, और अवस्था तरुण हो, तथा अलङ्कार भी पहने हो, परन्तु उसमें से जैसे एक प्राण ही निकल गया हो; (१) घर सुन्दर सोने सरीखा बना हो, परन्तु उसका द्वार जैसे कोई नागिन रोके हुए हो; (२) उत्तम पक्वान्न बना हुआ हो, पर उसमें जैसे कालकूट विष मिलाया हुआ हो, मित्रता हो पर वह जैसे भीतर कपट से भरी हो (३) वैसे ही हे प्रबुद्ध! मेरी या मेरे भक्तों की निन्दा करनेवाले के तप, भक्ति या सद्बुद्धि को भी जानो। (४) इसलिए हे धनञ्जय! वह भक्त हो, बुद्धिमान् हो और तपस्वी हो तथापि उसे इस शास्त्र का स्पर्श न करने दो। (५) बहुत क्या कहूँ, निन्दक यदि ब्रह्मदेव के समान भी योग्य हो तथापि उसे यह गीताशास्त्र कुतूहल से भी न देना चाहिए। (६) अतएव हे धनुर्धर! जो तपरूपी नींव पर पूर्ण गुरुभक्तिरूपी मन्दिर बना है, (७) और जिसका श्रवणेच्छारूपी सामने का दरवाजा सदा खुला रहता है और जिस पर अनिन्दारूपी रत्न का उत्तम कलश चढ़ा हुआ है। (८)

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

है। और अधिक क्या कहूँ। (१५३८) इसलिए बस। परन्तु जिसके पीछे हमने इस शास्त्र का विस्तार किया उस तुम्हारे कार्य के विषय में अब तुमसे पूछते हैं। (३९)

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

तो कहो हे पाण्डव! यह सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त तुम सन्देह-रहित होकर समझ चुके या नहीं? (१५४०) हमने जो सिद्धान्त जिस रीति से तुम्हारे कानों को प्रदान किया उस उन्होंने वैसा ही तुम्हारे अन्तःकरण में पहुँचा दिया (४१) अथवा बीच ही में बखेर दिया? अथवा उपेक्षा कर छोड़ दिया? (४२) हमने जैसा निरूपण किया यदि वैसा ही तुम्हारे अन्तःकरण में जम गया हो तो जो कुछ हम पूछते हैं उसका शीघ्र उत्तर दो। (४३) पहले जिस अज्ञानजनित मोह में तुम भूले हुए थे वह अब शेष रहा है या नहीं? (४४) अधिक क्या पूछना है, यही बताओ कि क्या तुम्हें अपने में कर्म या अकर्म कुछ दिखाई देते हैं? (४५) इस प्रश्न के मिस से श्रीकृष्ण पार्थ को आत्मानन्द की सम्पन्नता में निमग्न हो जाने योग्य भेदबुद्धि की स्थिति पर ले आये। (४६) अर्जुन यदि पूर्णब्रह्म हो जाय तो उससे कार्यार्थ की सिद्धि न हो सकेगी, अतः श्रीकृष्णनाथ ने उसे भेद दशा की मर्यादा को लाँघने देना न चाहा। (४७) अन्यथा वे सर्वज्ञ क्या अपनी ही कृति न जानते थे। परन्तु उन्होंने उपर्युक्त हेतु से ही प्रश्न किया, (४८) एवं ऐसा प्रश्न कर उन्होंने अर्जुन से उसके प्राप्त पाये हुए अर्जुनत्व को उस छोड़कर, अपनी पूर्णता का वर्णन करवाया। (४९) फिर पूर्ण चन्द्रमा जैसे वास्तव में क्षीर समुद्र से भिन्न न होकर भी उसे छोड़ आकाश में एक गोलगोल रूप से दिखाई देता है (१५५०) वैसे ही अर्जुन ब्रह्मरूपता भूल गया और फिर सब जगत् को ब्रह्म से भरा हुआ समझने लगा। फिर उसने उस बुद्धि को भी छोड़ दिया जिससे उसके ब्रह्मत्व का ही लोप हो गया। (५१) इस प्रकार ब्रह्मरूपता का सम्पादन या लोप करते हुए वह बड़े कष्ट के साथ में अर्जुन हूँ एवं स्व प्रतीति सहित देह स्थिति पर आ पहुँचा। (५२) फिर अपने काँपते हुए हाथों से शरीर के रोमांच छिपाता हुआ स्वेदजल के बिन्दु पोंछता हुआ, (५३)

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

इसी प्रकार तुम्हारे-हमारे समागम की जो यह कथा है जिसमें मोक्षधर्म भी पराश्रित हो गया है (२४) उस सम्पूर्ण अर्थमय संवाद का—पदों का अर्थ न करके भी—जो केवल पाठ ही करेगा (२५) वह मानो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर उसमें मूल अविद्या की आहुति दे मुझ परमात्मा को सन्तुष्ट कर लेगा। (२६) हे बुद्धिमान्! ज्ञानी जिस गीतार्थ को खोज कर प्राप्त करता है वही उस पाठ करनेहारे को भी प्राप्त हो जाता है। (२७) अतः गीतापाठक को अर्थज्ञानी के समान ही फल मिलता है। गीता माता के पास ऐसा भेद नहीं है कि यह ज्ञानी बालक है और यह अज्ञानी बालक। (२८)

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

और जो सब तरह से निन्दा छोड़कर शुद्ध आस्थापूर्वक गीता श्रवण में श्रद्धा रखता है (२९) उसके कानों में गीता के अक्षर प्रविष्ट नहीं होने पाते कि उसका पाप एकदम भाग जाता है। (१५१०) जङ्गल में जब दावाग्नि लगती है तब जैसे पशु-पक्षी इत्यादि चारों तरफ भागते हैं (११) अथवा उदयाचल पर्वत पर चमकते हुए सूर्य के दिखाई देते ही जैसे अन्धकार आकाश में विलीन हो जाता है (१२) वैसे ही जब श्रवणरूपी महाद्वार में गीतारूपी गर्जना होती है तब सृष्टि के आरम्भ तक के पाप भाग जाते हैं। (१३) वंशावली इस प्रकार शुद्ध और पुण्यरूप हो जाती है, तथा उसे और एक बड़ा फल मिलता है—(१४) वह यह कि गीता के जितने अक्षर कान में जा पड़ें मानो उतने ही वह अश्वमेध यज्ञ कर चुका। (१५) अतः गीता श्रवण से पापों का नाश होता तथा धर्म की उन्नति होती है जिससे अन्त में स्वर्गरूपी सम्पत्ति प्राप्त होती है। (१६) वास्तव में गीता श्रवण करनेहारा मेरे पास पहुँचने के लिए, स्वर्ग का रास्ता सुगम करता है। पश्चात् चाहे जब मेरा उपभोग लेता और अनन्तर मुझमें ही मिल जाता है, (१७) इस प्रकार हे धनञ्जय! पठन करनेहारे को और सुननेहारे को गीता महा आनन्दरूपी फल देती

पर सवत्र बसता है, (६८) जिसके सम्बन्ध से बन्ध मिट जाता है, जिसकी आशा से अन्य आशाएँ टूट जाती हैं, जिसकी भेंट होने से सब त्र आत्मस्वरूप की ही भेंट होती है (६६) वही आपकी गुरुमूर्ति जो मुझ अकेले की सहकारिणी है [वह गुरु-मूर्ति कैसी है ? कि] जिसके लिए अद्वैत ज्ञान क परे जाना पड़ता है, (१५७०) प्रथम स्वयं ब्रह्म होकर कर्तव्याकर्तव्य का नाश कर फिर जिसकी निःसीम सेवा हो सकती है, (७१) समुद्र को पहुँचते ही जैसे गङ्गा समुद्र रूप हो जाती है वैसे ही जो भक्तों को निजपद का उत्तमोत्तम लाभ प्राप्त करा देती है, (७२) ऐसी जो आपकी निरुपाधिक सद्गुरुमूर्ति है वह, हे श्रीकृष्ण ! मुझ सेवनीय है। अतः महात्म्य का मैं इतना ही उपकार मानता हूँ (७३) कि आपमें और मुझमें जो भेद का प्रतिबन्ध था उसे मिटा कर उसने आपकी सेवा का सुख और भी अधिक मधुर कर दिया। (७४) अतः हे सकल देवों के आदिदेवराज ! अब मैं आपकी जो आज्ञा होगी सो करूँगा। आप चाहे जो आज्ञा कर। (७५) अर्जुन के ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण आनन्द में भूले हुए नाचने लगे और कहने लगे कि मुझे विश्वफल जो अर्जुनरूपी एक फल और उत्पन्न हुआ है। (७६) क्षीरसागर क्या अपने पुत्र चन्द्रमा को पूरा कलाओं से युक्त देखकर मर्यादा नहीं लाँघता ? (७७) इस प्रकार संवादरूपी विवाहभूमि पर दोनों के अन्तःकरणों का विवाह होता देखकर सञ्जय आनन्द में निमग्न हो गया। (७८) इस प्रकार सुखी हो सञ्जय ने कहा श्रीकृष्ण अत्यन्त कृपानिधि हैं जो उन्होंने अर्जुन को अपने हृदय की बात बताई। (७९) उस आनन्द में सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि महाराज श्रीव्यास ने हम दोनों की सुख रक्षा की। (१५८०) आपके तो चर्मचक्षु भी नहीं हैं तथापि आपको ज्ञानदृष्टि का व्यवहार करने की शक्ति प्राप्त करा दी (८१) और केवल घोड़ों की परीक्षा करने के लिए ही रथ पर चढ़नेवाले मुझको भी ये बातें मालूम हो गईं। (८२) इधर युद्धरूपी घोर और कठिन अवसर है, दोनों में से किसी की भी हार हो तथापि अपनी ही हार के बराबर है, (८३) ऐसे सङ्कट के विद्यमान रहते भी श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द का उपभोग कराते हैं यह उनका कितना बड़ा अनुग्रह है ? (८४) सञ्जय ने इतना कहा तथापि पत्थर पर चन्द्रकिरण पड़ें तो जैसे वह नहीं पसीजता है वैसे ही धृतराष्ट्र भी न पसीज कर चुप हो रहा। (८५) राजा की ऐसी स्थिति देखकर सञ्जय ने वह बात

भावों की क्षुब्धता से डोलते हुए देह को सँभालकर स्तब्ध रहता हुआ, और इसपर करता मूकता हुआ, (५४) आँखों के अग्रभाग से उमगती हुई आनन्दामृत की बाढ़ को रोकता हुआ (५५) अनेक उत्सुकताओं के समुदाय से जो अत्यन्त कण्ठ भर आया था उसे फिर हृदय में दबाता हुआ (५६) वाणी की जिनकी मैंच गई थी उसे तथा भावों को सँभालता हुआ अनियमित श्वासोच्छ्वासों को पूर्वस्थिति पर लाता हुआ (५७)

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

—अर्जुन बोला — हे देव आप क्या यह पूछते हैं कि मुझे अभी तक मोह हो रहा है या नहीं ? तो महाराज ! वह तो अपने कुटुम्ब-सहित अपना डेरा-डण्डा उठाकर चलता बना। (५८) सूर्य किसी के पास जावे और फिर उससे पूछे कि क्या तुम्हें अँधेरा दिखाई देता है ! ऐसा कभी हुआ है ? (५९) वैसे ही हे श्रीकृष्णराज ! जब आप हमारे नेत्रों के सन्मुख हैं तब कौन सी बात असम्भव हो सकती है ? (१५६०) इस पर भी आपने माता से भी अधिक प्रेम के साथ विस्तार पूर्वक ऐसे ज्ञान का उपदेश किया है जो और किसी उपाय से प्राप्त नहीं हो सकता। (६१) फिर अब आप कैसे पूछते हैं कि मेरा मोह शेष है या चला गया ? महाराज ! मैं आप की कृपा से कृतार्थ हो चुका। (६२) मैं अर्जुनत्व में उलझा हुआ था सो आपरूप हो मुक्त हो गया। अब पूछना या उत्तर देना दोनों बातें नहीं रहीं। (६३) आपकी कृपा से जो आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है वह मोह की जड़ों को बचने ही नहीं देता। (६४) अब कर्म करना या न करना जिस द्वैत के कारण उत्पन्न होता है वह सर्वत्र आपके अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। (६५) इस विषय में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं रहा। मैं निश्चय से वह वस्तु हूँ जहाँ कर्म का अस्तित्व हो नहीं है। (६६) आपकी कृपा से मुझे निजत्व की प्राप्ति हो गई तथा मेरे कर्म का नाश हो गया है। अब आपकी आज्ञा के अतिरिक्त मुझे कुछ कर्तव्य नहीं रहा। (६७) क्योंकि जिसे देखने से अन्य दृश्य का नाश हो जाता है जिस द्वैत से अन्य द्वैत का लोप हो जाता है, जो एक ही है

छोड़ दी परन्तु आनन्द से बौराया हुआ वह फिर बोलने लगा। (८६) वह हर्षवेग में भूला हुआ था इसी लिए धृतराष्ट्र से बोला अन्यथा वह जानता था कि ये वचन धृतराष्ट्र के सुनने योग्य नहीं हैं। (८७)

> इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
> संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

उसने कहा—हे कुरुराज! आपके भ्रातृपुत्र अर्जुन ने उपर्युक्त वचन कहे जिनसे श्रीकृष्ण को बहुत आनन्द हुआ। (८८) स्वामी, समुद्र पूर्व में भी है और पश्चिम में भी बस इतने से ही भिन्नता हुई है, अन्यथा सब जल एक ही है, (८९) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन शरीर से ही जुदे-जुदे दिखाई देते हैं, अन्यथा इस संवाद के समय तो कुछ भेद नहीं जान पड़ता। (१५९०) यदि दर्पण से भी स्वच्छ दो वस्तुएँ एक-दूसरी के सन्मुख की जायें तो जैसे वे एक-दूसरी में अपना ही स्वरूप देखेंगी (९१) वैसे ही श्रीकृष्ण में अर्जुन, श्रीकृष्णसहित निज को देखने लगा तथा श्रीकृष्ण अर्जुन में अर्जुनसहित निज को देखने लगे। (९२) देव अपने स्वरूप में जहाँ निज को और अर्जुन को देखते हैं उसी भाग में अर्जुन भी दोनों को देखने लगा। (९३) द्वैतभाव है ही नहीं, इसलिए वे क्या करें—दोनों एकरूप ही रहे। (९४) फिर यदि भेद जाता जाय तो प्रश्न और उत्तर कैसे हो सकते हैं? तथा भेद बना रहे तो संवादसुख कैसे हो सकता है? (९५) अतः यद्यपि वे द्वैतरूप से बोलते थे तथापि संवाद-सुख का अनुभव लेते हुए द्वैत का नाश करते थे। ऐसा दोनों का सम्भाषण मैंने सुना। (९६) दो दर्पण घिस कर आमने-सामने रखे जायें तो कौन किसे देखता समझा जाय? (९७) अथवा दीपक के सामने दीपक रखिए तो कौन किसका प्रकाशक कहा जा सकता है? (९८) नहीं नहीं, सूर्य के सन्मुख और कोई सूर्य उदित हो तो प्रकाशक कौन है और प्रकाश्य कौन है? (९९) इसका निश्चय करने की चेष्टा करने में निश्चय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार वे दोनों संवाद करते हुए एकरूप हो गये थे। (१६००) स्वामी! दो ओर से जल के प्रवाह आ मिलें और उनका प्रतिबन्ध करने के लिए बीच में लवण डाला जाय तो वह भी जैसे क्षणभर में उसी रूप का हो जाता है, (१) उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ वह भी मुझे वैसा ही प्रतीत

छोड़ दी परन्तु आनन्द से बौराया हुआ वह फिर बोलने लगा। (८६) वह इस वेग में भूला हुआ था, इसी लिए धृतराष्ट्र से बोला अन्यथा न जानता था कि ये वचन धृतराष्ट्र के सुनने योग्य नहीं हैं। (८७)

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

उसने कहा—हे कुरुराज! आपके भ्रातृपुत्र अर्जुन ने उपयुक्त वचन कहे जिनसे श्रीकृष्ण को बहुत आनन्द हुआ। (८८) स्वामी, समुद्र पूर्व में भी है और पश्चिम में भी बस इतने से ही भिन्नता हुई है, अन्यथा सब जल एक ही है, (८९) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन शरीर से ही जुदे-जुदे दिखाई देते हैं, अन्यथा इस संवाद के समय तो कुछ भेद नहीं जान पड़ता। (१५९०) यदि दर्पण से भी स्वच्छ दो वस्तुएँ एक-दूसरी के सन्मुख की जायँ तो जैसे वे एक-दूसरी में अपना ही स्वरूप देखेंगी, (९१) वैसे ही श्रीकृष्ण में अर्जुन, श्रीकृष्णसहित निज को देखने लगा तथा श्रीकृष्ण अर्जुन में अर्जुनसहित, निज को देखने लगे। (९२) देव अपने स्वरूप में जहाँ निज को और अर्जुन को देखते हैं उसी भाग में अर्जुन भी दोनों को देखने लगा। (९३) द्वैतभाव है ही नहीं इसलिए वे क्या करें—दोनों एकरूप ही रहे। (९४) फिर यदि भेद चला जाय तो प्रश्न और उत्तर कैसे हो सकते हैं? तथा भेद बना रहे तो संवादसुख कैसे हो सकता है? (९५) अतः यद्यपि वे द्वैतरूप से बोलते थे तथापि संवाद-सुख का अनुभव लेते हुए द्वैत का नाश करते थे। ऐसा दोनों का सम्भाषण मैंने सुना। (९६) दो दर्पण घिस कर आमने-सामने रक्खे जायँ तो कौन किसे देखता समझा जाय? (९७) अथवा दीपक के सामने दीपक रखिए तो कौन किसका प्रकाशक कहा जा सकता है? (९८) नहीं नहीं सूर्य के सन्मुख और कोई सूर्य उदित हो तो प्रकाशक कौन है और प्रकाश्य कौन है? (९९) इसका निश्चय करने की चेष्टा करने में निश्चय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार वे दोनों संवाद करते हुए एकरूप हो गये थे। (१६००) स्वामी! दो ओर से जल के प्रवाह आ मिलें और उनका प्रतिबन्ध करने के लिए बीच में लवण डाला जाय तो वह भी जैसे क्षणभर में उसी रूप का हो जाता है, (१) उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ वह भी मुझे वैसा ही प्रतीत

पूर्णोद्गार है। (६३) जो इसी एक श्लोक से सम्पन्न हो जायगा वह सम्पूर्ण अविद्या को भली भाँति जीत लेगा। (६४) इस प्रकार गीता के सात सौ श्लोक मानों उसके पद [पैर] ही हैं जो स्वयं चल रहे हैं, अथवा इन्हें यह कहूँ कि गीतारूपी आकाश से गिरी हुई परमामृत की वर्षा कहूँ। (६५) अथवा, ये श्लोक मुझे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों आत्मारूपी राजा के सभा-मन्दिररूपी गीता के स्तम्भे हों (६६) अथवा गीता मानों सप्तशत मन्त्रों से पूजन करने योग्य देवी है जो मोहरूपी महिषासुर को मार कर आनन्दित हुई है। (६७) अतएव जो काया, वाचा और मन से इसकी सेवा करता है उसे यह स्वानन्द साम्राज्य का राजा बना देती है (६८) अथवा, श्रीकृष्णराज ने गीता के मिस से ऐसे श्लोक-रूपी सूर्य प्रकाशित किये हैं जो अविद्या का नाश करने में, अन्धकार का नाश करनेहारे सूर्य को सरामर मात करते हैं; (६९) अथवा संसार-मार्ग में थके हुए पथिकों की विश्रान्ति के लिए गीता मानों श्लोकाक्षर-रूपी द्राक्षलता से युक्त एक मण्डप बनाई गई है, (६९७०) अथवा, यह गीता श्रीकृष्ण नामक सरोवर में फैली हुई है, जिसके श्लोक-रूपी कमलों की सुगन्ध भाग्यवान् सन्तरूपी भ्रमर ग्रहण करते हैं; (७१) अथवा ये श्लोक नहीं—बड़े बड़े भाटों के समान गीता की महिमा वर्णन करनेहार कोई हैं; (७२) अथवा, सब शास्त्र गीतारूप नगर में इन श्लोकों की सुन्दर बाड़ी बनाकर उसमें बसने के लिए आये हैं; (७३) अथवा ये श्लोक नहीं, गीता ने अपने पति आत्मा को प्रेम से आलिंगन देने के लिए ये अपनी बाँहें फैलाई हैं (७४) अथवा ये गीतारूपी कमल के भृङ्ग हैं; या गीता-समुद्र की लहरें हैं, या श्रीहरि के गीतारूपी रथ के घोड़े हैं, (७५) अथवा अर्जुन-रूपी सिंहस्थ प्राप्त हुआ है इसलिए श्लोकरूपी सब तीर्थसमुदाय श्रीगीतारूपी गङ्गा के समीप प्राप्त हुए हैं (७६) अथवा, ये श्लोकमाला नहीं—चिन्तारहित पुरुषों के चित्त के लिए एक चिन्तामणि हैं या निर्विकल्पों के लिए मानों कल्पवृक्ष ही लगाए गये हैं। (७७) इस प्रकार ये सात सौ श्लोक हैं जो कि एक से एक बढ़कर हैं। अतः किसका विशेष बखान किया जाय? (७८) कामधेनु की ओर दृष्टि दे लेने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह पड़िया है और यह दुर्बल है, (७९) दीपक अगला या पिछला, सूर्य छोटा या बड़ा, अमृत का समुद्र गहरा या उथला—ऐसे कहा

वे मूर्तिमान् सच्चिदानन्द क्यों न हों ? (४६) तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण जिसके पिता और लक्ष्मी जिसकी माता है उसके अधीन स्वर्ग और मोक्ष दोनों पद हैं। (४७) अतएव वे लक्ष्मीकान्त जिस पक्ष में रहते हैं वहीं सब सिद्धियाँ आप ही आप उपस्थित होती हैं। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता। (४८) और मेघ समुद्र से उत्पन्न होता है पर उपयोग में उससे श्रेष्ठ होता है, वही सम्बन्ध आज अर्जुन और श्रीकृष्ण का हो रहा है। (४९) लोहे को सुवर्णत्व की दीक्षा देनेहारा गुरु पारस है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु जगत् के पोषण करने का व्यवहार सुवर्ण ही जानता है। (१६५०) इससे कोई यह न समझे कि गुरुत्व कुछ न्यून है। दीपरूप से अग्नि ही अपने प्रकाश को प्रकाशित करती है (५१) वैसे ही श्रीकृष्ण की शक्ति द्वारा ही अर्जुन श्रीकृष्ण से अधिक प्रतीत होता है। इस स्तुति से श्रीकृष्ण की महिमा का ही वर्णन होता है। (५२) पिता की यही इच्छा रहती है कि मेरी अपेक्षा मेरा पुत्र सब गुण-सम्पन्न और बढ़ कर निकले। श्रीकृष्ण की वह इच्छा सफल हो चुकी। (५३) बहुत क्या कहूँ, हे नृप! अर्जुन इस प्रकार श्रीकृष्ण की कृपा से युक्त हो रहा है। वह जिस ओर का पक्ष ले रहा है (५४) वही विजय का ठौर है, इसमें तुम्हें सन्देह ही क्यों है ? वहाँ विजय न हो तो विजय की विजयता वृथा हो जावेगी। (५५) अतः जहाँ लक्ष्मी वहीं श्रीमान् रहते हैं, वैसे ही जहाँ पाण्डुसुत अर्जुन न हो वहीं सम्पूर्ण विजय और वहीं अभ्युदय रहेगा। (५६) यदि आप व्यासजी की बात पर विश्वास रखते हों तो इन वचनों को निश्चय से सत्य मानिए। (५७) जहाँ श्रीपति श्रीकृष्ण हों वहीं भक्त-समुदाय रहता है, और वहीं सुख और कल्याण का लाभ होता है। (५८) ये वचन यदि अन्यथा हों तो मुझे श्रीव्यास का शिष्य न कहिए। इस प्रकार सञ्जय ने हाथ उठा कर गर्जना कर कहा। (५९) उसने सम्पूर्ण महाभारत का सार एक श्लोक में लाकर धृतराष्ट्र के हाथ पर रख दिया। (१६६०) जैसे अग्नि न जाने कितनी रहती है, परन्तु सूर्य की अनुपस्थिति की त्रुटि पूर्ण करने के लिए उसे बत्ती के अग्रभाग पर रख कर लाते हैं, (६१) वैसे ही वेद अनन्त हैं, वही सवा लाख श्लोक-युक्त महाभारत में प्रकट हैं, और महाभारत का सब रस गीता के सात सौ श्लोकों में भरा है। (६२) उन सात ही सौ श्लोकों का पूर्ण अभिप्राय इस अन्तिम श्लोक में कहा है जो कि व्यास-शिष्य-सञ्जय का

पूर्णोद्गार है। (६३) जो इसी एक श्लोक से सम्पन्न हो जायगा वह सम्पूर्ण अविद्या को भली भाँति जीत लेगा। (६४) इस प्रकार गीता के सात सौ श्लोक मानों उसके पद [पैर] ही हैं जो स्वयं चल रहे हैं, अथवा इन्हें पद कहें कि गीतारूपी आकाश से गिरी हुई परमामृत की वर्षा कहें! (६५) अथवा, ये श्लोक मुझे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों आत्मारूपी राजा के सभा-मन्दिररूपी गीता के खम्भे हों, (६६) अथवा गीता मानों सप्तशत मन्त्रों से पूजन करने योग्य देवी है जो मोहरूपी महिषासुर को मार कर आनन्दित हुई है। (६७) अतएव जो काया, वाचा और मन से इसकी सेवा करता है उसे यह स्वानन्द साम्राज्य का राजा बना देती है (६८) अथवा, श्रीकृष्णराज ने गीता के मिस से ऐसे श्लोक-रूपी सूर्य प्रकाशित किये हैं जो अविद्या का नाश करने में, अन्धकार का नाश करनेहारे सूर्य को लजाते हैं, (६९) अथवा, संसार-मार्ग में थके हुए पथिकों की विश्रान्ति के लिए गीता मानों श्लोकाक्षर-रूपी द्राक्षालता से युक्त एक मण्डप बनाई गई है, (१६७०) अथवा, यह गीता श्रीकृष्ण नामक सरोवर में फैली हुई है जिसके श्लोक-रूपी कमलों की सुगन्ध भाग्यवान् सन्तरूपी भ्रमर ग्रहण करते हैं; (७१) अथवा ये श्लोक नहीं—बड़े बड़े भाटों के समान गीता की महिमा वर्णन करनेहार कोइ हैं; (७२) अथवा, सब शास्त्र गीतारूप नगर में इन श्लोकों की सुन्दर वाड़ी बनाकर उसमें बसने के लिए आये हैं; (७३) अथवा ये श्लोक नहीं गीता ने अपने पति आत्मा को प्रेम से आलिङ्गन देने के लिए ये अपनी बाँहें फैलाई हैं; (७४) अथवा ये गीतारूपी कमल के भृङ्ग हैं; या गीता-समुद्र की लहरें हैं, या श्रीहरि के गीतारूपी रथ के घोड़े हैं; (७५) अथवा अर्जुनरूपी सिंहस्थ प्राप्त हुआ है, इसलिए श्लोकरूपी सब तीर्थसमुदाय श्रीगीतारूपी गङ्गा के समीप प्राप्त हुए हैं (७६) अथवा, ये श्लोकमाला नहीं—चिन्तारहित पुरुषों के चित्त के लिए एक चिन्तामणि हैं, किंवा निर्विकल्पों के लिए मानों कल्पवृक्ष ही लगाये गये हैं। (७७) इस प्रकार ये सात सौ श्लोक हैं जो कि एक से एक बढ़कर हैं। अतः किसका विस्तार वर्णन किया जाय? (७८) कामधेनु की ओर दृष्टि है जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह पहिया है और यह बुढ़िया है (७९) दीपक अगला या पिछला, सूर्य छोटा या बड़ा अमृत का समुद्र गहरा या उथला—ऐसा कहा

जा सकता है ? (१६८०) वैसे ही गीता के श्लोकों में भी यों नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथम है और यह अन्तिम। पारिजात का फूल क्या नया-पुराना कहा जा सकता है ? (८१) और श्लोक अनुरूप हैं, इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या है ? यहाँ वाच्य और वाचक का भेद भी नहीं है, (८२) क्योंकि इस प्रसिद्ध बात को हर कोई जानता है कि इस शास्त्र में एक श्रीकृष्ण ही वाच्य और वही वाचक हैं। (८३) इसमें जो लाभ अर्थ से होता है वही पाठ से भी होता है, अतः यह शास्त्र निश्चय से वाच्य और वाचक की एकता सिद्ध करता है। (८४) इसलिए ऐसी कोई बात नहीं बची जिसका मैं समर्थन करूँ। इस गीता को श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति समझो। (८५) शास्त्र जब वाच्य और अर्थप्राप्ति-द्वारा चरितार्थ होता है तब उसका शास्त्ररूप मिट जाता है। परन्तु गीता वैसा शास्त्र नहीं है। यह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है। (८६) देखिए, श्रीकृष्ण ने किस तरह अर्जुन को निमित्त बना, सब जगत् पर कृपा कर यह महानन्द सुलभ रूप से प्रकट किया ! (८७) जैसे करुणावान् चन्द्रमा, चकोर के निमित्त से, तीनों सन्तप्त भुवनों को शान्ति पहुँचाता है, (८८) अथवा जैसे शङ्कर ने गौतम के मिस से, कलिरूप कालज्वर से पीड़ित लोगों के हेतु गङ्गा का प्रवाह बहाया है (८९) वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गाय ने पार्थ को वत्स बना यह गीता-रूपी दूध सम्पूर्ण जगत् के लिए दे रक्खा है। (१६९०) इसमें यदि जीवभाव से महायोगी तो तद्रूप ही हो जाओगे, अथवा यदि पाठ के बहाने इससे जिह्वा लगाओगे (९१) तो भी [जैसे लोहे का एक अंग भी पारस का स्पर्श करे तो अन्य सब लोहा आप ही आप सोना बन जाता है (९२) वैसे ही पाठरूपी कटोरी में रख श्लोक का एक ही चरण ओठों से लगाया नहीं कि] शरीर में ब्रह्मत्व की पुष्टि भर जायगी (९३) अथवा, इसकी ओर टेढ़ा मुँह करके करवट लेने पर भी यदि ये श्लोक कान में आ पड़े तो भी वही फल होगा। (९४) क्योंकि जैसे कोई श्रीमान् दाता किसी को 'ना' नहीं कहता, वैसे ही गीता भी श्रवण करने से, पाठ करने से, या अर्थ करने से किसी को मोक्ष से कम कोई फल ही नहीं देती। (९५) इसलिए ज्ञानप्राप्ति के निमित्त गीता की ही सेवा करो। अन्य सब शास्त्रों का क्या करोगे ? (९६) श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ उसे श्रीव्यास ने हथेली में

लेने योग्य सुलभ कर दिया है। (६७) अत्यन्त प्रेम के साथ माता जब बालक को भोजन कराने बैठती है तो ऐसे कौर बनाती है कि वह खा सके, (६८) अथवा, जैसे पङ्खा निर्मित कर चतुर मनुष्य ने अपार वायु को भी अधीन कर लिया है, (६६) वैसे ही जो शब्द से प्राप्तव्य नहीं है उसी वेद को श्रीव्यास ने अनुष्टुप् छन्द में रचकर स्त्री शूद्र इत्यादि की बुद्धि में समाविष्ट होने योग्य बना दिया है। (१८००) स्वाती के जल से यदि मोती न बनते तो क्या वे सुन्दर स्त्रियों के शरीरों को सुशोभित कर सकते थे? (१) नादब्रह्म यदि बाद्य में न आ सकता तो क्या वह हमें गोचर हो सकता था? फूल उत्पन्न न होते तो सुगन्ध कैसे ली जा सकती? (२) पक्वान मधुर न होते तो वे रसना को कैसे भा सकते? दर्पण न हो तो क्या नेत्र निज को ही देख सकते हैं? (३) निराकार श्रीगुरु-मूर्ति ने यदि साकारता न स्वीकारी होती तो वे उपासकों की सेवा कैसे ग्रहण करते? (४) वैसे ही ब्रह्म [जो असंख्यात है] यदि सात सौ श्लोक-संख्यागत न होता तो संसार में उसकी प्राप्ति किसे हो सकती थी? (५) मेघ समुद्र का जल भर लाते हैं पर संसार उन्हीं की ओर दृष्टि लगाये रहता है, क्योंकि जो वस्तु अपरिमित है वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकती (६) वैसे ही यदि ये सुन्दर श्लोक न होते तो यह कैसे सम्भव हो सकता कि जो वस्तु वाचा से प्राप्तव्य नहीं है वह हमारे कानों को और मुख को प्राप्त हो जाती? (७) अतएव श्रीव्यास ने जो श्रीकृष्ण के सम्भाषण को ग्रंथ का आकार दिया यह उनका संसार पर बड़ा उपकार हुआ है। (८) और उसी को मैंने भी, श्रीव्यास के पद देख-देखकर, भाषा में श्रवण करने योग्य बना दिया है! (६) जहाँ व्यास आदि मुनियों की बुद्धियाँ शङ्कित हो व्याकुल होती हैं वहाँ मुझ जैसे एक रङ्क ने भी कुछ बकबक की है! (१०१०) परन्तु गीतारूपी ईश्वर अत्यन्त भोला है। वह व्यासोक्ति-रूपी पुष्पों की माला धारण करता है, तथापि मेरे दूर्वाङ्कुरों के लिए भी 'न' नहीं कहता। (११) क्षीरसमुद्र के तट पर पानी पीने के लिए हाथियों के समुदाय आते हैं, तथापि क्या वह मच्छर को कभी मना करता है? (१२) नूतन पङ्ख फूटे हुए परेवा उड़ नहीं सकते तथापि आकाश में ही स्थिर रहते हैं, और गरुड़ को पार करनेवाला जान भी उसी आकाश में उड़ता है (१३) राजहंस की मन्द गति संसार में उत्तम गिनी जाती

जा सकता है ? (१६८०) वैसे ही गीता के श्लोकों में भी यों नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथम है और यह अन्तिम। पारिजात का फूल क्या नया-पुराना कहा जा सकता है ? (८१) और श्लोक अनुक्रम हैं इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या है ? यहाँ वाच्य और वाचक का भेद भी नहीं है, (८२) क्योंकि इस प्रसिद्ध बात को हर कोई जानता है कि इस शास्त्र में एक श्रीकृष्ण ही वाच्य और वही वाचक हैं। (८३) इसमें जो लाभ अर्थ से होता है वही पाठ से भी होता है, अतः यह शास्त्र निश्चय से वाच्य और वाचक की एकता सिद्ध करता है। (८४) इसलिए ऐसी कोई बात नहीं रही जिसका मैं समर्थन करूँ। इस गीता को श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति समझो। (८५) शास्त्र जब वाच्य और अर्थप्राप्ति-द्वारा अदृश्य होता है तब उसका शास्त्ररूप मिट जाता है। परन्तु गीता वैसा शास्त्र नहीं है। यह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है। (८६) देखिए, श्रीकृष्ण ने किस तरह अर्जुन को निमित्त बना, सब जगत् पर दया कर, यह महानन्द सुलभ रूप से प्रकट किया ! (८७) जैसे कलानाथ चन्द्रमा, चकोर के निमित्त से, तीनों सन्तप्त भुवनों को शान्ति पहुँचाता है, (८८) अथवा जैसे शङ्कर ने गौतम के मिस से, कलिरूप कालज्वर से पीड़ित लोगों के हेतु गङ्गा का प्रवाह बहाया है (८९) वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गाय ने पार्थ को वत्स बना यह गीता-रूपी दूध सम्पूर्ण जगत् के लिए दे रक्खा है। (१६९०) इसमें यदि जी-जान से नहाओगे तो तद्रूप ही हो जाओगे, अथवा यदि पाठ के बहाने इससे जिह्वा लगाओगे (९१) तो भी [जैसे लोहे का एक अंश भी पारस का स्पर्श करे तो अन्य सब लोहा आप ही आप सोना बन जाता है (९२) वैसे ही पाठरूपी कटोरी में रख श्लोक का एक ही चरण ओठों से लगाया नहीं कि] शरीर में ब्रह्मत्व की पुष्टि भर जायगी (९३) अथवा, इसकी ओर टेढ़ा मुँह करके करवट लेने पर भी यदि ये श्लोक कान में आ पड़े तो भी यही फल होगा। (९४) क्योंकि जैसे कोई श्रीमान् दाता किसी को 'ना' नहीं कहता, वैसे ही गीता भी श्रवण करने से पाठ करने से, या अर्थ करने से किसी को मोक्ष से कम कोई फल ही नहीं देती। (९५) इसलिए ज्ञानप्राप्ति के निमित्त गीता की ही सेवा करो। अन्य सब शास्त्रों का क्या करोगे ? (९६) श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ उसे श्रीव्यास ने हथेली में

होने योग्य सुलभ कर दिया है। (९७) अत्यन्त प्रेम के साथ माता जब बालक को भोजन कराने बैठती है तो ऐसे कौर बनाती है कि वह खा सके, (९८) अथवा, जैसे पङ्खा निर्मित कर चतुर मनुष्य ने अपार वायु को भी अधीन कर लिया है, (९९) वैसे ही जो शब्द से प्राप्तव्य नहीं है उसी वेद को श्रीव्यास ने अनुष्टुप् छन्द में रचकर स्त्री शूद्र इत्यादि की बुद्धि में समाविष्ट होने योग्य बना दिया है। (१८००) स्वाती के जल से यदि मोती न बनते तो क्या वे सुन्दर स्त्रियों के शरीरों को सुशोभित कर सकते थे? (१) नादब्रह्म यदि बाद्य में न आ सकता तो क्या वह हमें गोचर हो सकता था? पुष्प उत्पन्न न होते तो सुगन्ध कैसे ली जा सकती? (२) पक्वान्न मधुर न होते तो वे रसना को कैसे भा सकते? दर्पण न हो तो क्या नेत्र निज को ही देख सकते हैं? (३) निराकार श्रीगुरु-मूर्ति ने यदि साकारता न स्वीकारी होती तो वे उपासकों की सेवा कैसे ग्रहण करते? (४) वैसे ही ब्रह्म [जो असंख्यात है] यदि सात सौ श्लोक-संख्यागत न होता तो संसार में उसकी प्राप्ति किसे हो सकती थी? (५) मेघ समुद्र का जल भर लाते हैं पर संसार उन्हीं की ओर दृष्टि लगाये रहता है, क्योंकि जो वस्तु अपरिमित है वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकती (६) वैसे ही यदि ये सुन्दर श्लोक न होते तो यह कैसे सम्भव हो सकता कि जो वस्तु वाचा से प्राप्तव्य नहीं है वह हमारे कानों को और मुख को प्राप्त हो जाती! (७) अतएव श्रीव्यास ने जो श्रीकृष्ण के सम्भाषण को ग्रंथ का आकार दिया यह उनका संसार पर बड़ा उपकार हुआ है। (८) और उसी को मैंने भी श्रीव्यास के पद देख-देखकर, भाषा में श्रवण करने योग्य बना दिया है! (९) जहाँ व्यास आदि मुनियों की बुद्धियाँ शङ्कित हो व्यवहृत होती हैं वहाँ मुझ जैसे एक रङ्क ने भी कुछ बकबक की है! (१८१०) परन्तु गीतारूपी ईश्वर अत्यन्त भोला है। वह व्यासोक्ति-रूपी पुष्पों की माला धारण करता है, तथापि मेरे दूर्वाङ्कुरों के लिए भी 'न' नहीं कहता। (११) क्षीरसमुद्र के तट पर पानी पीने के लिए हाथियों के समुदाय आते हैं, तथापि क्या वह मच्छर को कभी मना करता है? (१२) नूतन पङ्ख फूटे हुए पखेरू उड़ नहीं सकते तथापि आकाश में ही स्थिर रहते हैं, और गगन को पार करनेवाला गरुड़ भी उसी आकाश में रहता है (१३) राजहंस की मन्द गति संसार में उत्तम गिनी जाती

जा सकता है ? (१६८०) वैसे ही गीता के श्लोकों में भी यों नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथम है और यह अन्तिम। पारिजात के फूल क्या नया-पुराना कहा जा सकता है ? (८१) और श्लोक अनुष्टुप हैं इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या है ? यहाँ वाच्य और वाचक का भेद भी नहीं है, (८२) क्योंकि इस प्रसिद्ध बात को हर कोई जानता है कि इस शास्त्र में एक श्रीकृष्ण ही वाच्य और वही वाचक हैं। (८३) इसमें जो लाभ अर्थ से होता है वही पाठ से भी होता है, अतः यह शास्त्र निश्चय से वाच्य और वाचक की एकता सिद्ध करता है। (८४) इसलिए ऐसी कोई बात नहीं रही जिसका मैं समर्थन करूँ। इस गीता को श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति समझो। (८५) शास्त्र जब वाच्य और अर्थप्राप्ति-द्वारा कृतार्थ होता है तब उसका शास्त्ररूप मिट जाता है। परन्तु गीता वैसा शास्त्र नहीं है। यह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है। (८६) देखिए, श्रीकृष्ण ने किस तरह अर्जुन को निमित्त बना, सब जगत् पर दया कर, यह महानन्द सुलभ रूप से प्रकट किया! (८७) जैसे करुणावान् चन्द्रमा, चकोर के निमित्त से, तीनों सन्तप्त भुवनों को शान्ति पहुँचाता है, (८८) अथवा जैसे शङ्कर ने गौतम के मिस से, कलिकाल के ज्वर से पीड़ित लोगों के हेतु गङ्गा का प्रवाह बहाया है (८९) वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गाय ने पार्थ को वत्स बना यह गीतारूपी दूध सम्पूर्ण जगत् के लिए दे रक्खा है। (१६९०) इसमें यदि [illegible] से नहाओगे तो तद्रूप ही हो जाओगे, अथवा यदि पाठ के बहाने इससे जिह्वा लगाओगे (९१) तो भी [जैसे लोहे का एक अंश भी पारस का स्पर्श करे तो अवश्य सब लोहा आप ही आप सोना बन जाता है (९२) वैसे ही पाठरूपी कटोरी में इस श्लोक का एक ही चरण ओठों से लगाया नहीं कि] शरीर में ब्रह्मत्व की पुष्टि आ जायगी (९३) अथवा, इसकी ओर टेढ़ा मुँह करके करवट लेने पर भी यदि ये श्लोक कान में आ पड़े तो भी वही काम होगा। (९४) क्योंकि जैसे कोई श्रीमान् दाता किसी को 'ना' नहीं कहता, वैसे ही गीता भी श्रवण करने से, पाठ करने से, या अर्थ जानने से किसी को मोक्ष से कम कोई फल ही नहीं देती। (९५) इसलिए ज्ञानप्राप्ति के निमित्त गीता की ही सेवा करो। अन्य सब शास्त्रों का क्या करोगे? (९६) श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ उसे श्रीव्यास ने हथेली में

ऐसी बात ही क्या है? (१७१०) श्रीगुरु के नाम से पत्थर पर एक [एकलव्य नामक] कोली ने मिट्टी की ही मूर्ति बनाकर तीनों लोकों को अपनी कीर्ति से एक कर डाला था। (११) चन्दन के पड़ोस में रहनेहारे वृक्ष चन्दन की ही योग्यता के हो जाते हैं। वसिष्ठ का आश्रय पाकर कपड़े के टुकड़े ने भी सूर्य की बराबरी की थी। (१२) फिर मैं तो सचेतन हूँ, और श्रीगुरु जैसे मेरे स्वामी हैं जो दृष्टि-मात्र से ही अपना पद दे देते हैं। (१३) एक तो पहले ही दृष्टि उत्तम हो और उस पर सूर्य के प्रकाश का सहाय मिले, फिर दिखाई न दे ऐसा कैसे हो सकता है? (१४) अतः मेरे श्वासोच्छ्वास ही नित्य नूतन प्रबन्ध हो सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि श्रीगुरु-कृपा से क्या नहीं हो सकता? (१५) अतः मैंने गीता का अर्थ सब लोगों की दृष्टि को गोचर होने योग्य भाषा में किया है। (१६) यह भाषा भी यदि प्रेम से गाई जा सकती है, परन्तु गानेहारे की अपेक्षा होने के कारण यह कुछ अपूर्व नहीं है। (१७) अतः यदि गीता गाया जावे तो यह भाषा उस गीता को शोभा देती है, अथवा वैसे ही पढ़ो तो गीता को भी मात करती है। (१८) सुन्दर अङ्ग में अलङ्कार न पहने हों तो वह सादगी भी शोभा देती है, अथवा अलङ्कार पहने हों तब तो खूब ही शोभा होती है। (१९) अथवा जैसे मणियों का गुण है कि वे सोने को शोभा देते हैं, अथवा जैसे मोतियों की लड़ी अकेली भी स्वयं सुन्दर दिखाई देती है, (१७२०) अथवा जैसे वसन्त के आरम्भ की मोगरे की कलियाँ, गुँथी हुई हों या मुक्त हों, सुगन्ध में न्यून नहीं होतीं (२१) वैसा ही मैंने ओवी छन्द में यह प्रबन्ध ऐसा आनन्ददायक रचा है कि जो गीत में भी बहार देता है और गीत के बिना भी शोभा देता है। (२२) इसमें छोटे से बड़े लोगों तक सबके समझने योग्य, ब्रह्मरस के सुस्वाद से पूर्ण अक्षर भारी प्रबन्ध में गूँथे गये हैं। (२३) सुगन्ध के लिए जैसे चन्दन के वृक्ष में फूल लगने की बाट नहीं जोहनी पड़ती, (२४) वैसे ही यह प्रबन्ध, कान में पड़ते ही, समाधि प्राप्त करा देता है, फिर इसका व्याख्यान सुनने से क्या इसकी चाह न लग जावेगी? (२५) इसका पाठ करने के निमित्त से जो पाण्डित्य प्रकट होता है उसके सम्मुख अमृत भी मन्द हो तो कुछ [illegible] पड़ता। (२६) इस प्रकार यह प्रबन्ध आप ही ध्यान [illegible] का

है इसलिए क्या और किसी को चलना ही न चाहिए ? (१४) अपनी सामर्थ्य के अनुसार गगरी बहुत सा जल रख सकती है तो क्या चुल्लू में चुल्लू के परिमाण भर जल नहीं भरा जा सकता ? (१५) मशाल बड़ी होती है, अतः उसका प्रकाश भी बहुत होता है, परन्तु एक बत्ती भी अपने अनुरूप प्रकाश देती ही है या नहीं ? (१६) अजी, समुद्र में आकाश समुद्र विस्तार के अनुरूप प्रतिबिम्बित होता है, डबरे में डबरे के अनुरूप प्रतिबिम्बित होता है, पर होता है अवश्य (१७) वैसे ही यह बात युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ती कि व्यास इत्यादि महाज्ञानी इस ग्रन्थ पर विचार करते हैं इसलिए हम चुप हो रहें। (१८) जिस समुद्र में मन्दराचल के समान जलचर संचार करते हैं वहाँ उन जलचरों के सामने, क्या मछलियाँ तैरने के योग्य नहीं होतीं ? (१९) अरुण सूर्य के अत्यन्त पास रहनेवाला है इसलिए वह सूर्य को देखता है तो क्या पृथ्वी पर की चिउँटी उसे नहीं देख सकती ? (१५२०) अतएव इस अनुचित उक्ति का कुछ प्रयोजन नहीं है कि हम प्राकृत जनों के लिए भाषा में गीतार्थ करना मना है। (२१) बाप आगे चलता है उसी के पाँवों की ओर दृष्टि दे बालक चले तो क्या वह पाँव न चला सकेगा ? (२२) वैसे ही व्यासजी के पीछे पीछे भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य से मार्ग पूछकर चलता हुआ मैं यद्यपि अयोग्य हूँ तथापि इष्ट स्थल को न पहुँचूँगा तो कहाँ जाऊँगा ? (२३) और जिसके क्षमागुण के कारण पृथ्वी स्थावर-जङ्गम पदार्थों को धारण करती हुई नहीं थकती जिसके अमृत गुण के द्वारा चन्द्रमा संसार को शीतलता पहुँचाता है (२४) जिसके अङ्ग के तेज की प्राप्ति से सूर्य अन्धकार के परिणामों का नाश करता है, (२५) समुद्र ने जहाँ से जलता प्राप्त की है जल ने जहाँ से मधुरता प्राप्त की है और जिसके कारण मधुरता को सौन्दर्य प्राप्त है, (२६) पवन को जिसका बल है आकाश जिससे विस्तृत है और ज्ञान जिससे उज्ज्वल और चक्रवर्ती राजा के समान श्रेष्ठ हुआ है (२७) जिसके कारण वेदों को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई है, सुख जिससे उल्लसित होता है, अथवा सब जगत् ने जिसके कारण रूप धारण किया है (२८) वह सब पर उपकार करनेवाला समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे हृदय में भी प्रविष्ट हो व्यापार कर रहा है, (२९) तो फिर मैं आप ही आप संसार में भाषा में गीता कहने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसमें आश्चर्य

भी बात ही क्या है ? (१७३०) श्रीगुरु के नाम से पहाड़ पर एक [एकलव्य नामक] कोली ने मिट्टी की ही मूर्ति बनाकर तीनों लोकों को अपनी कीर्ति से एक कर डाला था। (३१) चन्दन के पड़ोस में रहनेहारे वृक्ष चन्दन की ही योग्यता के हो जाते हैं। वसिष्ठ का आश्रय पाकर उनके दुपट्टे ने भी सूर्य की बराबरी की थी। (३२) फिर मैं तो सचेतन हूँ, और श्रीगुरु जैसे मेरे स्वामी हैं जो दृष्टि-मात्र से ही अपना पद दे देते हैं। (३३) एक तो पहले ही दृष्टि उत्तम हो और उस पर सूर्य के प्रकाश का सहाय मिले, फिर दिखाई न दे ऐसा कैसे हो सकता है ? (३४) अत: मेरे श्वासोच्छ्वास ही नित्य नूतन प्रबन्ध हो सकते हैं। ज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीगुरु-कृपा से क्या नहीं हो सकता ? (३५) अत: मैंने गीता का अर्थ सब लोगों को दृष्टि को गोचर होने योग्य भाषा में किया है। (३६) यह भाषा की वाणी प्रेम से गाई जा सकती है, परन्तु गानेहारे की अपेक्षा होने के कारण वह कुछ अपूर्ण नहीं है। (३७) अत: यदि गीता गाना चाहो तो यह भाषा उस गीता को शोभा देती है, अथवा वैसे ही पढ़ो तो गीता को भी मात करती है। (३८) सुन्दर अङ्ग में अलङ्कार न पहने हों तो वह सादगी भी शोभा देती है, अथवा अलङ्कार पहने हों तब तो खूब ही शोभा होती है। (३९) अथवा जैसे मोतियों का गुण है कि वे सोने को शोभा देते हैं, अथवा जैसे मोतियों की लड़ी अलग भी स्वयं सुन्दर दिखाई देती है, (१७४०) अथवा जैसे वसन्त के आरम्भ की मोगरे की कलियाँ गुँथी हुई हों या मुक्त हों सुगन्ध में न्यून नहीं होतीं (४१) वैसा ही मैंने ओवी छन्द में यह प्रबन्ध ऐसा लाभदायक रचा है कि जो गीत में भी बहार देता है और गीत के बिना भी शोभा देता है। (४२) इसमें छोटों से लेकर बड़ों तक सबके समझने योग्य, ब्रह्मरस के सुस्वाद से युक्त अक्षर ओवी प्रबन्ध में गूँथे गये हैं। (४३) सुगन्ध के लिए जैसे चन्दन के वृक्ष में फूल लगने की बाट नहीं जोहनी पड़ती (४४) वैसे ही यह प्रबन्ध कान में पड़ते ही, समाधि प्राप्त करा देता है फिर इसका व्याख्यान सुनने से क्या इसकी चाट न लग जायेगी ? (४५) इसका पाठ करने के निमित्त से जो पाण्डित्य प्रकट होता है उसके सामने अमृत भी प्राप्त हो तो तुच्छ जान पड़ेगा। (४६) इस प्रकार यह प्रबन्ध आप ही आप कवित्व का

विश्रान्तिस्थान बन गया है, और इसके श्रवण ने मनन और निदिध्यासन को जीत लिया है। (४७) यह प्रबन्ध हर किसी को आत्मानन्दभोग की प्राप्ति करा देगा और श्रवण के द्वारा सब इन्द्रियों को तृप्त करेगा। (४८) चकोर अपनी शक्ति से चन्द्रमा का उपभोग लेने में प्रसिद्ध है, तथापि जैसे चाँदनी हर किसी को प्राप्त है। (४९) वैसे ही इस अध्यात्मशास्त्र से अन्तःकरण तो अधिकारियों का ही सुखी होगा परन्तु वाक्चातुर्य से प्राकृत जन भी सुखी होंगे। (१७५०) इस प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथ की महिमा है। यह ग्रन्थ नहीं, उन्हीं की कृपा का वैभव है। (५१) क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशङ्कर ने पार्वती के कानों में न जाने कब एक बार जो उपदेश किया (५२) वह क्षीरसमुद्र की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में जो मत्स्येन्द्रनाथ गुप्त थे उनके हाथ लगा। (५३) वे मत्स्येन्द्रनाथ सप्तशृङ्ग पर्वत पर चौरङ्गीनाथ से मिले जिनके कि हाथ-पाँव लूले थे। मिलते ही चौरङ्गीनाथ पूर्णाङ्ग हो गये। (५४) तदनन्तर अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उस मुद्रा का उपदेश गोरक्षनाथ को किया। (५५) उससे मानों उन्होंने योगरूप कमलिनी के सरोवर, विषयों का विध्वंस करनेहारे एक ही वीर सर्वेश्वर शङ्कर हैं उन्हीं को उस पद पर अभिषिक्त किया। (५६) श्रीशङ्कर से प्राप्त किया हुआ वह अद्वैतानन्द सुख फिर उससे सम्पूर्णतः श्रीगैनीनाथ ने सम्पादन किया। (५७) वे सब प्राणियों को कलिकाल से ग्रस्त देखकर दौड़ आये और उन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी (५८) कि आदिगुरु शङ्कर से लेकर शिष्य-परम्परानुसार हमें जो ज्ञान की निधि प्राप्त हुई है, (५९) उस सबको लेकर तुम दौड़ जाओ और कलि के ग्रसित होते हुए इन जीवों की सब प्रकार से शीघ्र रक्षा करो। (१७६०) श्रीनिवृत्तिनाथ पहले ही कृपालु थे उस पर गुरु की आज्ञा के वचन ऐसे हुए मानों वर्षाकाल में मेघ घिर आये हों। (६१) फिर पीड़ित जनों के प्रेम से गीतार्थ-निरूपण के मिस से उन्होंने जो शान्त रस की वर्षा की वही यह ग्रन्थ है। (६२) यहाँ मैं एक चातक रूप उस रस की इच्छा से बैठा हुआ था परन्तु इतने से ही मैं इस यश को प्राप्त हुआ हूँ, (६३) एवं मेरे स्वामी ने गुरुपरम्परा से प्राप्त जो ज्ञान समाधिधन था वही मुझे इस ग्रन्थ के द्वारा उपदेश कर दे दिया। (६४) अन्यथा मैं तो न

नहीं सीखा हूँ न पढ़ा हूँ और स्वामी की सेवा भी नहीं जानता फिर मुझको मन्थ रचने की योग्यता कैसे हो सकती है ? (६५) परन्तु यह सत्य जानो कि श्रीगुरुनाथ ने मेरा निमित्त कर इस प्रबन्ध के द्वारा संसार की रक्षा की है। (६६) तथापि पुरोहित की रीति से मैंने आपके सन्मुख जो कुछ थोड़ा-बहुत कहा हो उसे आप सन्तजन माता के समान क्षमा करें। (६७) शब्द की रचना कैसे की जाती है, सिद्धान्त कैसे स्थापित किया जाता है, अलङ्कार किसे कहते हैं, इत्यादि मैं कुछ नहीं जानता। (६८) परन्तु डोरी की गति के अनुसार जैसे कठपुतली नाचती है वैसे ही मेरे स्वामी ने जो कुछ बताया वही मैंने कहा है। (६९) इसलिए मैं इस मन्थ के गुण-दोषों के विषय में विशेष क्षमा नहीं माँगता क्योंकि साद्यन्त यह मन्थ मुझसे आचार्य ने ही कहलाया है। (१७७०) और आप सन्तों की सभा में जो कमी आ पड़े वह यदि पूर्ण न हुई तो मैं सप्रेम आप पर ही कोप करूँगा। (७१) पारस का स्पर्श होने पर भी यदि लोहे की लोहस्वरूपी निकृष्ट स्थिति न छूटे तो दोष किसका है ? (७२) नाले का काम इतना ही है कि वह गङ्गा से जा मिले परन्तु फिर उस पर भी यदि वह गङ्गारूप न हो तो उसका क्या कसूर ? (७३) अतः बड़े भाग्य से मुझे आप सन्तों के चरण प्राप्त हुए हैं, अब जगत् में मुझे किस बात की कमी है ? (७४) स्वामी ! मेरे स्वामी ने मुझे आप सन्तों का लाभ करा दिया है इससे मेरे सब मनोरथ परिपूर्ण हो चुके। (७५) देखिए, मुझे आप जैसा मैहर अर्थात् सर्वसाधन प्राप्त स्थान मिला इससे मन्थ रचने का मेरा हठ भली भाँति पूरा हुआ। (७६) स्वामी ! सम्पूर्ण पृथ्वीतल सोने का बनाया जा सकेगा, चिन्तामणियों के पर्वत बनाये जा सकेंगे (७७) सातों समुद्रों को अमृत से भर देना सुगम है, तारागणों को चन्द्र बना देना कुछ कठिन नहीं है, (७८) कल्पवृक्षों का बगीचा लगाना कुछ दुघट नहीं है, परन्तु गीतार्थ के मर्म की थाह नहीं की जा सकती। (७९) सब तरह से गूँगा होने पर भी मैंने जो भाषा में इसका ऐसा बयान कर दिया है कि जो सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखाई दे (१७८०) इतने बड़े मन्थसागर के पार उतरकर मैं जो कीर्तिरूपी विजय की पताका फहरा रहा हूँ, (८१) प्राकार और कलश-सहित गीतार्थरूपी मन्दिर की रचना कर उसमें जो मैं श्रीगुरुमूर्ति की पूजा कर सका हूँ, (८२)

विश्रान्तिस्थान बन गया है, और इसके श्रवण ने मनन और निदिध्यासन को जीत लिया है। (४७) यह प्रबन्ध हर किसी को आत्मानन्दभोग की प्राप्ति करा देगा और श्रवण के द्वारा सब इन्द्रियों को तृप्त करेगा। (४८) चकोर अपनी शक्ति से चन्द्रमा का उपभोग करने में प्रसिद्ध है, तथापि जैसे चाँदनी हर किसी को प्राप्त है। (४९) वैसे ही इस अध्यात्मशास्त्र से अन्तःकरण तो अधिकारियों का ही सुखी होगा परन्तु वाक्चातुर्य से प्राकृत जन भी सुखी होंगे। (१७५०) इस प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथ की महिमा है। यह ग्रन्थ नहीं, उन्हीं की कृपा का वैभव है। (५१) क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशङ्कर ने पार्वती के कानों में न जाने कब एक बार जो उपदेश किया (५२) वह क्षीरसमुद्र की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में जो मत्स्येन्द्रनाथ गुप्त थे उनके हाथ लगा। (५३) वे मत्स्येन्द्रनाथ सप्तशृङ्ग पर्वत पर चौरङ्गीनाथ से मिले जिनके कि हाथ-पाँव टूटे थे। मिलते ही चौरङ्गीनाथ पूर्णाङ्ग हो गये। (५४) तदनन्तर अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उस मुद्रा का उपदेश गोरक्षनाथ को किया। (५५) उससे मानों उन्होंने योगरूप कमलिनी के सरोवर, विषयों का विध्वंस करनेहारे एक ही वीर सर्वेश्वर शङ्कर हैं उन्हीं को उस पद पर अभिषिक्त किया। (५६) श्रीशङ्कर से प्राप्त किया हुआ वह अद्वैतानन्द सुख फिर उनसे सम्पूर्णतः श्रीगैनीनाथ ने सम्पादन किया। (५७) वे सब प्राणियों को कलि-काल से ग्रस्त देखकर दौड़ आये और उन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी (५८) कि आदिगुरु शङ्कर से लेकर शिष्य-परम्परानुसार हमें जो ज्ञान की निधि प्राप्त हुई है, (५९) उस सबको लेकर तुम दौड़ जाओ और कलि के वश होते हुए इन जीवों की सब प्रकार से शीघ्र रक्षा करो। (१७६०) श्रीनिवृत्तिनाथ पहले ही कृपालु थे उस पर गुरु की आज्ञा के वचन ऐसे हुए मानों वर्षाकाल में मेघ घिर आये हों। (६१) फिर पीड़ित जनों के प्रेम से गीतार्थ-निरूपण के मिस से उन्होंने जो शान्त रस की वर्षा की वही यह ग्रन्थ है। (६२) यहाँ मैं एक चातक इस रस की इच्छा से बैठा हुआ था परन्तु इतने से ही मैं इस यश को प्राप्त हुआ हूँ, (६३) एवं मेरे स्वामी ने गुरुपरम्परा से प्राप्त जो उनका समाधिधन था वही मुझे इस ग्रन्थ के द्वारा उपदेश कर दे दिया। (६४) अन्यथा मैं तो न

नहीं सीखा हूँ न पढ़ा हूँ और स्वामी की सेवा भी नहीं जानता फिर मुझको ग्रन्थ रचने की योग्यता कैसे हो सकती है? (६५) परन्तु यह सत्य जानो कि श्रीगुरुनाथ ने मेरा निमित्त कर इस प्रबन्ध के द्वारा संसार की रचा की है। (६६) तथापि पुरोहित की रीति से मैंने आपके सम्मुख जो कुछ थोड़ा-बहुत कहा हो उसे आप सम्पूर्ण माता के समान क्षमा करें। (६७) शब्द की रचना कैसे की जाती है, सिद्धान्त कैसे स्थापित किया जाता है, अलङ्कार किसे कहते हैं, इत्यादि मैं कुछ नहीं जानता। (६८) परन्तु डोरी की गति के अनुसार जैसे कठपुतली चलती है वैसे ही मेरे स्वामी ने जो कुछ बताया वही मैंने कहा है। (६९) इसलिए मैं इस ग्रन्थ के गुण-दोषों के विषय में विशेष क्षमा नहीं माँगता क्योंकि सचमुच यह ग्रन्थ मुझसे आचार्य ने ही कहलाया है। (१७००) और आप सन्तों की सभा में जो कमी आ पड़े वह यदि पूर्ण न हुई तो मैं सप्रेम आप पर ही कोप करूँगा। (७१) पारस का स्पर्श होने पर भी यदि लोहे की लोहस्वरूपी निकृष्ट स्थिति न छूटे तो दोष किसका है? (७२) नाले का काम इतना ही है कि वह गङ्गा से जा मिले, परन्तु फिर पर भी यदि वह गङ्गारूप न हो तो उसका क्या कसूर? (७३) अतः बड़े भाग्य से मुझे आप सन्तों के चरण प्राप्त हुए हैं, अब जगत् में मुझे किस बात की कमी है? (७४) स्वामी! मेरे स्वामी ने मुझे आप सन्तों का आश्रय करा दिया है इससे मेरे सब मनोरथ परिपूर्ण हो चुके। (७५) देखिए, मुझे आप जैसा नैहर अर्थात् सर्वसाधन प्राप्त स्थान मिला इससे ग्रन्थ रचने का मेरा हठ भली भाँति पूरा हुआ। (७६) स्वामी! सम्पूर्ण पृथ्वीतल सोने का बनाना या सकल चिन्तामणियों के पर्वत बनाये जा सकेंगे, (७७) सातों समुद्रों को अमृत से भर देना सुगम है, तारागणों को चन्द्र बना देना कुछ कठिन नहीं है, (७८) कल्पवृक्षों का बगीचा लगाना कुछ दुष्कर नहीं है, परन्तु गीतार्थ के मर्म की थाह नहीं की जा सकती। (७९) सब तरह से गूँगा होने पर भी मैंने जो भाषा में इसका ऐसा बयान कर दिया है कि जो सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखाई दे, (१८००) इतना बड़ा ग्रन्थसागर के पार उतरकर मैं जो कीर्तिरूपी विजय की पताका फहरा रहा हूँ, (८१) आकार और कलश-सहित गीतार्थरूपी मन्दिर की रचना कर उसमें मैं श्रीगुरुमूर्ति की पूजा कर रहा हूँ, (८२)

हो भगवद्गुरु का आसपास भजन किया करें, (१८०७) और विशेषतः जो इस लोक में इस ग्रन्थ पर ही जीवन धारण करते हैं उन्हें इस लोक का और परलोक का सुख प्राप्त हो। (१) इतना सुनकर श्रीगुरु ने कहा कि ठीक है, यह दानप्रसाद दिया जायगा। इस पर से ज्ञानदेव सुखी हुए। (२) कलियुग में महाराष्ट्र देश में श्रीगोदावरी के दक्षिण तीर पर (३) त्रिभुवन में पवित्र रूप पञ्चक्रोश क्षेत्र है, जहाँ जगत् के जीवन-सूत्र श्रीमोहनीराज हैं; (४) वहाँ यादव वंश को शोभा देनेहारा, सकल कलाओं में प्रवीण, न्याय का पालन करनेहारा, श्रीरामचन्द्र नामक राजा था। (५) वहाँ श्रीशङ्कर-परम्परोत्पन्न श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को भाषा के अलङ्कार पहनाये। (६) निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि इस प्रकार, महाभारतरूपी नगर में भीष्मनामक मन्दिर पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो उत्तम संवाद बयान किया गया है, (७) जो उपनिषदों का सार है, जो सब शास्त्रों का आकार है, परमहंसरूपी हंस जिस सरोवर का सेवन करते हैं (८) उसी गीता का कलश यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हो चुका। (९) उत्तरोत्तर काल में सब प्राणिगण इस ग्रन्थ की पुण्य-सम्पत्ति के द्वारा सब सुखों से परिपूर्ण हों। (१८१०) यह टीका ज्ञानेश्वर ने शक १२१२ में रची और इसे सच्चिदानन्द बाबा ने लिखा। (१८११)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः।

गीता-रूपी निष्कपटी माता को भूलकर जो बालक भूला घूम रहा था उसे उस माता की जो भेंट हो गई है वह सब आपकी ही बदौलत। (८३) मैं आप सज्जनों की कृपा की ओर दृष्टि देकर कह रहा हूँ। ज्ञानदेव कहते हैं कि आपके उपकार अल्प नहीं हैं। (८४) बहुत क्या कहूँ, आपने जो यह ग्रन्थ-सिद्धि का आनन्द दिखाया वह मानों मेरे सम्पूर्ण जन्मों का फल प्राप्त करा दिया है। (८५) मैंने जो जो आशायें आपसे की थीं उन सबको पूर्ण कर आपने मुझे बड़ा सुख दिया। (८६) हे स्वामी! मेरे लिए आपने जो यह ग्रन्थरूपी दूसरी सृष्टि ही रची है उस देख मैं विश्वामित्र की सृष्टि पर हँसता हूँ। (८७) क्योंकि वह नाश होनेवाली सृष्टि त्रिशंकु के लिए और ब्रह्मदेव को न्यून ठहराने के लिए बनाई गई थी। परन्तु यह रचना वैसी नहीं है। (८८) शङ्कर ने भी उपमन्यु के प्रेम के वश क्षीर-सागर की रचना की है परन्तु वह भी इसकी उपमा के योग्य नहीं है क्योंकि उसके गर्भ में विष है। (८९) यह सत्य है कि अन्धकाररूपी राक्षस से ग्रस्त चराचर की रक्षा करने के लिए सूर्य दौड़ आये परन्तु वे भी अत्यन्त पहुँचाते हुए रक्षा करते हैं। (१८९०) सन्तप्त जगत् के लिए चन्द्रमा अपनी चाँदनी अर्पण करता है परन्तु उस सकलङ्क चन्द्र के समान यह ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है? (९१) अतएव आप सन्तों ने संसार में मुझ पर जो यह ग्रन्थरूपी उपकार किया है वह निश्चय से निरुपम है। (९२) किम्बहुना यह ग्रन्थ क्या मानों आपका धर्म-कीर्तन ही पूर्ण हुआ है। इसमें मेरी ओर केवल आपकी सेवकाई ही शेष रही है। (९३) अब मेरे विश्वरूप गुरुदेव इस वाग्यज्ञ से सन्तुष्ट हों और सन्तोष के साथ मुझे यह प्रसाद दें (९४) कि दुष्टों की कुटिलता छूटे और उन्हें सत्कर्म में प्रेम उत्पन्न हो प्राणियों में परस्पर अन्तःकरणपूर्वक मित्रता रहे (९५) पापरूपी अन्धकार का नाश हो, संसार में स्वधर्मरूपी सूर्य प्रकाशित हो प्राणिमात्र की इच्छायें पूर्ण हों (९६) सतत मङ्गल की वर्षा करते हुए भगवद्भक्तों के समुदाय [जो मानों चलते हुए कल्पवृक्षों के समूह हैं सजीव चिन्तामणियों के गाँव हैं अथवा अमृत के बोलते हुए समुद्र हैं] प्राणियों को संसार में निरन्तर मिलते रहें। (९७-९८) जो कलङ्करहित चन्द्रमा हैं अथवा ताप-रहित सूर्य हैं उन सज्जनों से सब लोग सदा आप्यन्द रहें। (९९) बहुत क्या कहें, तीनों लोकों में सब लोग सब सुखों से पूर्ण

हो आदिपुरुष का अखण्ड भजन किया करें, (१८००) और विशेषतः जो इस लोक में इस ग्रन्थ पर ही जीवन धारण करते हैं उन्हें इस लोक का और परलोक का सुख प्राप्त हो। (१) इतना सुनकर श्रीगुरु ने कहा कि ठीक है, यह दानप्रसाद दिया जावेगा। इस वर से ज्ञानदेव सुखी हुए। (२) कलियुग में महाराष्ट्र देश में श्रीगोदावरी के दक्षिण तीर पर (३) त्रिभुवन में पवित्र रूप पञ्चक्रोश क्षेत्र है जहाँ जगत् के जीवन-सूत्र श्रीमोहनीराज हैं; (४) वहाँ यादव वंश को शोभा देनेहारा, सकल कलाओं में प्रवीण, न्याय का पालन करनेहारा, श्रीरामचन्द्र नामक राजा था। (५) वहाँ श्रीशङ्कर-परम्परोत्पन्न श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को भाषा के अलङ्कार पहनाये। (६) निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि इस प्रकार, महाभारतरूपी नगर में भीष्मनामक प्रसिद्ध पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो उत्तम संवाद वर्णन किया गया है, (७) जो उपनिषदों का सार है जो सब शास्त्रों का आकार है, परमहंसरूपी हंस जिस सरोवर का सेवन करते हैं (८) उसी गीता का कलश यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हो चुका। (९) उत्तरोत्तर काल में सब प्राणिमात्र इस ग्रन्थ की पुण्य-सम्पत्ति के द्वारा सब सुखों से परिपूर्ण हों। (१८१०) यह टीका ज्ञानेश्वर ने शक १२१२ में रची और इसे सच्चिदानन्द बाबा ने लिखा। (१८११)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः।

गीता-रूपी निष्कपटी माता को भूलकर जो बालक भूला घूम रहा था उसे उस माता की जो भेंट हो गई है वह सब आपकी ही पुण्योदय। (८३) मैं आप सज्जनों की कृति की ओर दृष्टि देकर कह रहा हूँ। ज्ञानदेव कहते हैं कि आपके उपकार अपार नहीं हैं। (८४) बहुत क्या कहूँ, आपने जो यह ग्रन्थ-सिद्धि का आनन्द दिखाया वह मानों मेरे सम्पूर्ण जन्मों का फल प्राप्त करा दिया है। (८५) मैंने जो-जो आशायें आपसे की थीं उन सबको पूर्ण कर आपने मुझे बड़ा सुख दिया। (८६) हे स्वामी! मेरे लिए आपने जो यह ग्रन्थरूपी दूसरी सृष्टि ही रची है उसे देख मैं विश्वामित्र की सृष्टि पर हँसता हूँ। (८७) क्योंकि वह नाश होनेवाली सृष्टि त्रिशंकु के लिए और ब्रह्मदेव को न्यून ठहराने के लिए बनाई गई थी। परन्तु यह रचना वैसी नहीं है। (८८) शङ्कर ने भी उपमन्यु के प्रेम के वश क्षीर-सागर की रचना की है परन्तु वह भी इसकी उपमा के योग्य नहीं है क्योंकि उसके गर्भ में विष है। (८९) यह सत्य है कि अन्धकाररूपी राक्षस से ग्रस्त चराचर की रक्षा करने के लिए सूर्य दौड़ आये परन्तु वे भी उष्णता पहुँचाते हुए रक्षा करते हैं। (१०९०) सन्तप्त जगत् के लिए चन्द्रमा अपनी चाँदनी खर्च करता है परन्तु उस सकलङ्क चन्द्र के समान यह ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है? (९१) अतएव आप सन्तों ने, संसार में मुझ पर जो यह ग्रन्थरूपी उपकार किया है वह निश्चय से निरुपम है। (९२) किम्बहुना, यह ग्रन्थ क्या मानों आपका धर्म कीर्तन ही पूर्ण हुआ है। इसमें मेरी ओर केवल आपकी सेवकाई ही शेष रही है। (९३) अब मेरे विश्वरूप गुरुदेव इस वाग्यज्ञ से सन्तुष्ट हों और सन्तोष के साथ मुझे यह प्रसाद दें (९४) कि दुष्टों की कुटिलता छूटे और उन्हें सत्कर्म में प्रेम उत्पन्न हो प्राणियों में परस्पर अन्तःकरणयुक्त मित्रता रहे, (९५) पापरूपी अन्धकार का नाश हो, संसार में स्वधर्मरूपी सूर्य प्रकाशित हो प्राणिमात्र की इच्छायें पूर्ण हों (९६) सकल मङ्गल की वर्षा करते हुए भगवज्जनों के समुदाय [जो मानों चलते हुए कल्पवृक्षों के समूह हैं जीवित चिन्तामणियों के गाँव हैं अथवा अमृत के बोलते हुए समुद्र हैं] प्राणियों को संसार में निरन्तर मिलते रहें। (९७-९८) जो कलङ्करहित चन्द्रमा हैं अथवा ताप-रहित सूर्य हैं उन सज्जनों से सब लोग सदा सम्बन्ध रक्खें। (९९) बहुत क्या कहें, तीनों लोकों में सब लोग सब सुखों से पूर्ण

आदिपुरुष का पदपद मनन किया करें, (१८००) और विशेषत जो लोक में इस ग्रन्थ पर ही जीवन धारण करते हैं उन्हें इस लोक का और परलोक का सुख प्राप्त हो। (१) इतना सुनकर श्रीगुरु ने कहा ठीक है, यह दानप्रसाद दिया जावेगा। इस वर से ज्ञानदेवी सुखी हुए। (२) कलियुग में महाराष्ट्र देश में श्रीगोदावरी के दक्षिण तीर पर त्रिभुवन में पवित्र रूप पञ्चक्रोश क्षेत्र है जहाँ जगत् का जीवन-सूत्र श्रीमोहनीराज हैं; (४) वहाँ यादव वंश को शोभा देनेवाला, सकल कलाओं में प्रवीण, न्याय का पालन करनेवाला, श्रीरामचन्द्र नामक राजा था। (५) वहाँ श्रीशङ्कर-सम्प्रदायोत्पन्न श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को भाषा के अलङ्कार पहनाये। (६) निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि इस प्रकार, महाभारतरूपी नगर में भीष्मनामक पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो उत्तम संवाद वर्णन किया है, (७) जो उपनिषदों का सार है जो सब शास्त्रों का आधार है, परमहंसरूपी हंस जिस सरोवर का सेवन करते हैं (८) उसी गीता का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हो चुका। (९) उत्तरोत्तर काल में भाविकगण इस ग्रन्थ को पुण्य-सम्पत्ति के द्वारा सब सुखों से सम्पूर्ण हों। (१८१०) यह टीका ज्ञानेश्वर ने शक १२१२ में रची और इसे सच्चिदानन्द बाबा ने लिखा। (१८११)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः।

श्रीशाके १५१२ में तारण नाम संवत्सर में जनार्दन महाराज के शिष्य एकनाथ ने गीता ज्ञानेश्वरी का संशोधन किया। (१) ग्रन्थ पहले से अतिशुद्ध था किन्तु पीछे से यह शुद्ध ग्रन्थ पाठ-भेदों के कारण असम्बद्ध हो गया था। उसका संशोधन कर ज्ञानेश्वरी शुद्ध की गई है। (२) मैं उन ज्ञानेश्वर महाराज को नमस्कार करता हूँ जिनकी गीता की यह अतिभावुक ग्रन्थार्थियों को ज्ञान-प्राप्ति हो जाती है। (३) बहुत काल के अनन्तर प्राप्त होनेवाले इस भाद्रपद मास के कपिला षष्ठी के उत्तम पर्व के समय, गोदावरी के तीर पैठन क्षेत्र में, यह लेखन-कार्य समाप्त हुआ। (४) जो कोई भाषा में ओवी* बना कर ज्ञानेश्वरी के पाठ में मिलाने की चेष्टा करेगा वह मानों अमृत की थाली में नरेली ही रक्खेगा। (५)

ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका टीका समाप्ता।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

समाप्त

---

*मराठी-वृत्त विशेष।